ीयोगवाशिष्ठ भाषा

थम भाग

मुक्षु, उत्पत्ति, स्थिति और उपशम प्रकरण]

नगर-नरेश की परम जिज्ञासु
बहनों के इस अपार संसार
हेतु कथा श्रवण प्रसंग से
प्रसादजी महाराज
रिंजनीजी-कृत

४ पुरुष
५ पुरुष
६ परमपु
७ पुरुषार्थो
८

त संस्करण

प्रकाशक

नवलकिशोर प्रेस
लखनऊ

गें
विलप
भगव
भूमिका
को
कथारम्भ ३
और
यान १७
सि ४७५
२४
२६
खनिषेध ... २८
दराश ... ४८४
४२
१६१
१६३
४४
४६
१६

[आठवीं बार सन् १९४१ ई० सर्वाधिकार सुरक्षित]

Printed by K. D. Seth, at the N. K. Press, Lucknow.

NEWAL KISHORE BOOK DEPOT, LUCKNOW. PRICE Rs.

ीयोगवाशिष्ठ भाषा

थम भाग

मुक्षु, उत्पत्ति, स्थिति और उपशम प्रकरण]

नगर-नरेश की परम जिज्ञासु
ों बहनों के इस अपार संसार
हेतु कथा श्रवण प्रसंग से
प्रसादजी महाराज
िरंजनीजी-कृत

✻

त संस्करण

प्रकाशक

नवलकिशोर प्रेस
लखनऊ

✻

[आठवीं बार सन् १९४१ ई० सर्वाधिकार सुरक्षित]

Printed by K. D. Seth, at the N. K. Press, Lucknow.

भूमिका
कथारम्भ ... २
और
ख्यान ... १७
र्षि ... ४७४
... २४
... २६
सुखनिषेध ... २८
दराश ... ४८४
... ४२
... ४४
४६
४ पुरुष
५ पुरुष
६ परमपु
७ पुरुषार्थो

NEWAL [illegible] BOOK DEPOT. LUCKNOW. PRICE Rs.

ोगवाशिष्ठ की अनुक्रमणिका।

प्रथम भाग।

भूमिका [illegible]

[illegible]थम वैर[illegible]

१ वैराग्यकथारम्भ ३
२ वैराग्य और [illegible] यात्रा [illegible]
३ विश्वामित्र[illegible] [illegible]
४ दशरथ[illegible] [illegible]
५ दशर[illegible]ख्यान १७
६ रामसमाज[illegible] ४७४
७ रामेण वैरा[illegible] ... २४
८ लक्ष्मीनैरा[illegible] ... २६
९ संसारसुखनिषेध ... २८
१० अहंकारदुराशा ... ४८४
११ चित्तदौरात्म्य ... ३२
[illegible]ष्णागारुडी ... [illegible]
[illegible]हनैरात्म्य ४६३
१४ वैराग्यबाल्यावस्था ४४
१५ युवागारुडी ... ४६
१६ स्त्रीदुराशा ५०
१७ जरावस्थानिरूपण ५३
१८ कालनिरूपण ... ५५
१९ कालविलास ... ५८
२० कालजुगुप्सा ... ५९
२१ कालविलास ... ६०
२२ सर्वपदार्थाभाव ... ६२
२३ जगद्विपर्यय ६५
२४ सर्वान्तप्रतिपादन... ६८
२५ वैराग्यप्रयोजन ... ६९
२६ अनन्यस्यागादर्शन... ७१

सर्गाङ्क विषय पृष्ठाङ्क

२७ सिद्धसमाज ७२
२८ मुनिसमाज ७३

द्वितीय मुमुक्षुप्रकरण।

१ मुनिशुकदेवनिर्वाण ७६
२ विश्वामित्रोपदेश ७[illegible]
३ असंख्यसृष्टिप्रतिपादन ८०
४ पुरुषार्थोपक्रम ... ८३
५ पुरुषार्थनिरूपण ... ८४
६ परमपुरुषार्थ ... ८७
७ पुरुषार्थोपमा ... ८९
८ परमपुरुषार्थ ... ९१
९ तथा ९३
१० वशिष्ठोपदेशगमन ९५
११ वशिष्ठोपदेश ... ९८
१२ तत्त्वज्ञमाहात्म्य ... १०३
१३ शमनिरूपण ... १०५
१४ विचारनिरूपण ... १११
१५ सन्तोषनिरूपण ... ११५
१६ साधुसंगनिरूपण ... ११७
१७ षट्प्रकरणविवरण ११९
१८ दृष्टान्तप्रमाण ... १२३
१९ आत्मप्राप्तिनिरूपण १२९

तृतीय उत्पत्तिप्रकरण।

१ बोधहेतु १३१
२ प्रथम सृष्टि १३४
३ बोधहेतु १३६
४ तथा १३९
५ प्रयत्नोपदेश १४४

सर्गाङ्क विषय पृष्ठाङ्क

६ दृश्यअसत्यप्रतिपादन १४६
७ सच्छास्त्रनिर्णय ... १४९
८ परमकारण १५०
९ परमात्मस्वरूप ... १५५
१० परमार्थरूप ... १५९
११ जगदुत्पत्ति १६१
१२ स्वयम्भुव-उत्पत्ति... १६३
१३ सर्वब्रह्मप्रतिपादन... १६५
१४ परमार्थप्रतिपादन... १७०
१५ विश्रान्तिनिरूपण १८४
१६ विज्ञानअभ्यास ... १८७
१७ लीलाविज्ञानदेहाकाशसमागमन... १९०
१८ लीलोपाख्यान आकाशगमन ... १९१
१९ तथा भूलोकगमन... १९२
२० तथा सिद्धिदर्शनहेतुकथन १९३
२१ तथा जन्मान्तर ... १९५
२२ तथा गिरिग्राम ... १९८
२३ पुनराकाश १९९
२४ ब्रह्माण्ड २०२
२५ लीलोपाख्याने गगननगरयुद्धप्रेक्षकान्वित २०३
२६ लीलोपाख्याने रणभूमि २०५
२७ तथा द्वन्द्वयुद्ध ... २०६
२८ तथा स्मृत्यनुभव ... २०७
२९ तथा भ्रान्तिविचार २१३
३० तथा स्वप्नपुरुष-

सर्गाङ्क विषय पृष्ठाङ्क
सत्यता २१८
३१ तथा अग्निदाह ... २२०
३२ तथा ,, ... २२१
३३ सत्यकामसंकल्प ... २२४
३४ विदूरथमरण ... २२५
३५ लीलोपाख्याने मृत्युमूर्च्छानन्तरप्रतिभा २२९
३६ तथा मण्डपाकाशगमन २३२
३७ मृत्युविचार २३५
३८ लीलोपाख्याने संसारभ्रम २४०
३९ मरणान्तरावस्था २४५
४० लीलोपाख्याने स्वप्ननिरूपण २४८
४१ जीवजीवन २५१
४२ लीलोपाख्याने निर्वाण २५४
४३ लीलोपाख्याने प्रयोजन २५५
४४ जगत्किञ्चन... ... २६१
४५ दैवशब्दार्थविचार... २६४
४६ बीजावतार २६६
४७ बीजांकुर २६७
४८ जीवविचार २७०
४९ संक्षिप्तउपशमयोग २७१
५० सत्योपदेश २७३
५१ विसूचिकाव्यवहार २७९
५२ सूचीशरीरलाभ ... २८१
५३ राक्षसी विचार ... २८५
५४ तथा ,, ... २८६
५५ राक्षसीप्रश्न २८८
५६ राक्षसीप्रश्नभेद ... २९१
५७ सूचिउपाख्याने परमार्थनिरूपण ... २९५
५८ राक्षसी सुहृदता ... ३०३
५९ सूच्याख्यानसमाप्ति ३०६

सर्गाङ्क विषय पृष्ठाङ्क
६० मनअंकुरोत्पत्तिकथन ३०७
६१ आदित्यसमागमन ३१०
६२ ऐन्दवसमाधि ... ३१२
६३ जगत्रचनानिर्वाण ३१५
६४ ऐन्दवनिश्चयकथन ३१६
६५ कृत्रिमइन्द्रवाक्य ... ३१७
६६ अहल्यानुरागसमाप्ति ३२०
६७ जीवक्रमोपदेश ... ३२१
६८ मनोमाहात्म्य ... ३२४
६९ वासनात्याग... ... ३२७
७० सर्वब्रह्मप्रतिपादन... ३२८
७१ कर्मपौरुषयोरैक्य ... ३२९
७२ मनःसंज्ञाविचार ... ३३२
७३ चिदाकाशमाहात्म्य ३३६
७४ चित्तोपाख्यान ... ३३८
७५ तथा समाप्ति ... ३४०
७६ चित्तचिकित्सा ... ३४२
७७ बालकाख्यायिका ... ३४५
७८ मननिर्वाणोपदेश... ३४७
७९ चित्तमाहात्म्य ... ३५१
८० इन्द्रजालोपाख्यान-नृपमोह ३५२
८१ राजप्रबोध ३५४
८२ चाण्डालीविवाह ... ३५५
८३ इन्द्रजालोपाख्यान-उपद्रव ३५७
८४ सांवरोपाख्यान-समाप्ति ३५९
८५ चित्तनिरूपण ... ३६०
८६ मनशक्तिरूपप्रतिपादन ३६५
८७ सुखोपदेश ३६९
८८ अविद्यावर्णन ... ३७१
८९ यथाकथितदोषपरिहारोपदेश ३७९
९० सुखदुःखभोक्तृत्वो-

प
६१ सा
व
६२ अ
६३ जा
६
दन ३९
थ-
रूपण ३९

चत स्थितिप्रकरण ।

करण ... ४०
३ उ पन्यास ४०
क्तता ... ४०
आ ४०
६ गमन ४०
राज ... ४०
७ भार्ग न... ... ४०
८ भार्गवोपाख्यान-
धजन्म ... ४१
९ भार्गवकलेवर ... ४१
कालवाक्य ४१
संसारावर्त ४१
१२ उत्पत्तिविस्तार ... ४२
१३ भृगुआश्वासन ... ४२
१४ भार्गवजन्मान्तर ... ४२
१५ शुक्रप्रथमजीवन ... ४२
१६ भार्गवजन्मान्तर ... ४२
१७ मनोराजसंमीलन ४२
१८ जीवपद ४३
१९ जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयारूप ४३
२० भार्गवोपाख्यान-समाप्ति ४३
२१ विज्ञानवाद ४३

... ४४३
... ४४६
... ४५०
२५ ... ४५२
२६ ... ४५४
२८ सुरासुरयु
२९ दामव्यालक पाख्याने असुरहनन
३० दामव्यालकट-जन्मान्तर ...
३१ निर्वाणोपदेश
३२ दामव्यालकट देशाचार ... ४६५
३३ दामव्यालकटोपाख्यान ४६९
३४ दामव्यालकटोपाख्यानसमाप्ति ४७४
३५ उपशमरूप ४७६
३६ चिदात्मरूप ४८१
३७ शान्तिउपदेशकरण ४८२
३८ मोक्षोपदेश ४८४
३९ सर्वैक्यताप्रतिपादन ४८७
४० ब्रह्मप्रतिपादन ... ४९१
४१ अविद्याकथन ... ४९३
४२ जीवतत्त्व ४९७
४३ जीवबीजसंस्था ... ५००
४४ संसारप्रतिपादन ... ५०२
४५ यथार्थ उपदेशयोग ५०६
४६ यथाभूतार्थबोधयोग ५१०
४७ जगत्सत्यासत्यनिर्णय ५१२
४८ दासुरोपाख्याने वनोपरुदन ५१८
४९ दासुरोपाख्याने अवलोकन ... ५२०
५० दासुरसुतबोधन ... ५२१

सर्गाङ्क विषय पृष्ठाङ्क
५१ स्वेतथवैभव ५२३
५२ संसारविचार ... ५२५
५३ दासुरोपाख्यानजगच्चिकित्सा... ... ५२८
५४ दासुरोपाख्यान-समाप्ति ५३२
५५ कर्त्तव्यविचार ... ५३३
५६ पूर्णस्वरूप ५३७
५७ कचगाथा ५४१
५८ कमलजाव्यवहार ... ५४२
५९ विचारपुरुषनिर्णय ५४६
६० मोक्षविचार ५४८
६१ मोक्षोपाय ५५

पञ्चम उपशमप्रकरण ।

१ पूर्वदिन ५५३
२ उपदेशानुसार ... ५५४
३ सभास्थान ५५७
४ राघववचन ५५८
५ प्रथम उपदेश ... ५६१
६ क्रमोपदेश ५६४
७ क्रमसूचना ५६६
८ सिद्धगीता ५६६
९ जनकविचार ५६८
१० जनकनिश्चय ... ५७३
११ चित्तानुशासन ... ५७६
१२ प्राज्ञमहिमा ५७७
१३ मननिर्वाण ५७९
१४ चित्तचैत्यरूप ... ५८८
१५ तृष्णानिरूपण ... ५९२
१६ तृष्णाचिकित्सोपदेश... ... ... ५९४
१७ तृष्णाउपदेश... ... ५९६
१८ जीवन्मुक्त ५९८
१९ पावनबोध ६०३
२० तथा ६०५
२१ तृष्णाचिकित्सोपदेश ६०८
२२ विरोचन ६१०

सर्गाङ्क विषय पृष्ठाङ्क
२३ बलिवृत्तान्तविरोचनगाथा ६१३
२४ बल्युपाख्याने चित्तचिकित्सोपदेश ... ६१५
२५ बलिचिन्तासिद्धान्तोपदेश ६१९
२६ बल्युपदेश ६२०
२७ बलिविश्रान्ति ... ६२१
२८ बलिविज्ञानप्राप्ति ६२३
२९ बल्युपाख्यानसमाप्ति ६२५
३० हिरण्यकशिपुवध... ६२८
३१ प्रह्लादविज्ञान ... ६३०
३२ प्रह्लादोपाख्यान-विविधव्यतिरेक ६३३
३३ प्रह्लादाष्टकानन्तर नारायणागमन... ६३५
३४ प्रह्लादोपदेश ६३६
३५ आत्मलाभचिन्तन ६४३
३६ प्रह्लादोपाख्याने संस्तवन ६४९
३७ दैत्यपुरीप्रभञ्जन ... ६५४
३८ भगवान् चित्तविवेक ६५५
३९ प्रह्लादोपाख्याने नारायणनोपन्यासयोग ६५६
४० प्रह्लादबोध ६५८
४१ प्रह्लादाभिषेक ... ६६०
४२ प्रह्लादव्यवस्था ... ६६२
४३ प्रह्लादविश्रान्ति ... ६६४
४४ गालवोपाख्यान-चाण्डालनाम ... ६६६
४५ राज्यप्रध्वंस ६६९
४६ गाधिबोधप्राप्ति ... ६७१
४७ राघवसेवन ६७९
४८ उद्दालकविचार ... ६८४
४९ उद्दालकविश्रान्ति... ६९०
५० उद्दालकनिर्वाण ... ६९५
५१ ध्यानविचार ६९७
५२ भेदनिराश ७०२

सर्गाङ्क विषय पृष्ठाङ्क
५३ सुरघवृत्तान्त आथद-बोपदेश ७०३
५४ सुरघवृत्तान्त ७०६
५५ सुरघवृत्तान्तसमाप्ति ७०८
५६ सुरघपरघसमागम ७०६
५७ समाधिनिश्चय ... ७१२
५८ सुरघपरघनिश्चय ... ७१४
५६ कारणोपदेश ७१६
६० भासविलासवृत्तान्त ७१६
६१ अन्तरप्रसंग ७२०
६२ अन्तरासंगविचार ... ७२२
६३ संशक्तविचार ७२५
६४ शान्तसमाचार-योगोपदेश ... ७२८
६५ संशक्तचिकित्सा ... ७२६
६६ संसारयोगोपदेश ... ७३२
६७ मोक्षस्वरूपोपदेश ... ७३७
६८ आत्मविचार ७४१
६६ नीरासपदमौनविचार ७४३
७० मुक्तामुक्तविचार ... ७५१
७१ संसारसागरयोगोपदेश ७५५
७२ जीवन्मुक्त ७५७
७३ जीवन्मुक्तज्ञानबन्ध ७५६
७४ सम्यक्ज्ञान ७६३
७५ चित्तउपशम ७६५
७६ चित्तशान्तिप्रतिपादन ७६८
७७ वीतवोपाख्याने चित्तानुशासन ७६६
७८ तथानुशासनयोगोपदेश ७७५
७६ तथा
८० वीत
८१ वीत
प
८२
न्ति-
ाति ... ...
८ द्धिलाभविचार ...
८६ ज्ञानविचार ... ...
जविचार ...
ाकरण ...
तोक्रमोचो-
पा ... ...

प्रथम भाग समाप्त।

Bhagwat Ashram Trust
LIBRARY
ACC. No... 811
New Delhi

श्रीपरमात्मने नमः।

भूमिका।

[illegible]भग[illegible] [illegible]च्चिदानन्दघन परमात्मा को धन्यवाद है कि जिसने संसार [illegible]को [illegible]करके अपने प्रकाश के लिये वेदान्त आदि विद्या बनाई, जिन[illegible]नेक प्रकार के शास्त्र और मत प्रकट किये हैं और जो अनेक प्रकार की वार्त्तायें संयुक्त हैं। कोई तो कर्म की प्रधानता मानते हैं, कोई ज्ञान क[illegible]ानते हैं और कोई कहते हैं कि उपासना ही मुक्ति का हेतु है [illegible]स पुस्तक में कर्म और ज्ञान दोनों की प्रधानता ली गई है [illegible]अगस्त्यजी महाराज ने श्रीमुख से वर्णन किया है कि न केवल कर्म ही मोक्ष का कारण है और न केवल ज्ञान ही से मोक्ष होता है बल्कि दोनों मिलकर ही मोक्ष की सिद्धि कर सकते हैं क्योंकि अन्तःकरण निर्मल हुए विना केवल ज्ञान से ही मुक्ति नहीं होती। कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है, फिर ज्ञान उत्पन्न होता है तब मुक्ति होती है। जैसे पक्षी आकाश में दोनों पंखों से उड़ता है वैसे ही मोक्षसाधन के लिये कर्म और ज्ञान दोनों ही आवश्यक हैं। इस पुस्तक में विशेष करके ज्ञानवार्त्ताविषयक श्रीपरमात्मारूप दशरथकुमार आनन्दकन्द श्रीरामचन्द्र और जगद्गुरु श्रीवशिष्ठजी का संवाद है। इसके धारण करने से मुक्ति होती है। मोक्षमार्ग के दिखाने को यह पुस्तक दीपकरूप है और ज्ञान और योग की तो स्वरूप ही है। इसके प्रतिवाक्य और प्रतिपद से बोध होकर अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। कलियुग के जीवों के उद्धार के निमित्त आदिकवि विद्वच्छिरोमणि वाल्मीकिजी ने इसको संस्कृतपद्य में निर्माण किया और इसके द्वारा संसारसागर के तरने के निमित्त आत्मज्ञानरूप परमात्मा को लखाया, ये बातें इस पुस्तक के पढ़ने-पढ़ाने से विदित होती हैं।

इस पुस्तक में छः प्रकरण हैं। प्रथम वैराग्य, द्वि[illegible] उत्पत्ति, चतुर्थ स्थिति, पंचम उपशम और षष्ठ निर्वाण। [illegible] सदृश ही विषय भी हैं।

अब इसके भाषान्तर होने का हाल वर्णन किया जाता [illegible] डेढ़सौ वर्ष के व्यतीत हुए कि पटियालानगरनरेश श्रीयुत [illegible] वीरेश की दो बहिनें विधवा हो गई थीं इसलिये उन्होंने स[illegible] निरंजनी से कहा कि श्रीयोगवाशिष्ठ जो अति ज्ञान[illegible] तो अच्छी बात हो ! निदान उन्होंने योगवाशिष्ठ [illegible] सुनाना स्वीकार किया और उन दोनों बहिनों ने दो गुप्त लेखक [illegible] दिये। ज्यों ज्यों पण्डितजी कथा कहते थे वे प्रत्यक्षर लिखते जाते थे। जब इस तरह कुछ समय में कथा पूर्ण हुई तो यह ग्रन्थ [illegible] तैयार हो गया इसमें कथा की रीति थी, कुछ उल्थे का प्रकार न था और पंजाबी शब्द मिले हुए थे। प्रथम यह ग्रन्थ ऐसा ही बम्बई नगर मे [illegible]गहन संवत् १६२२ में छपा। जब इसका इस भाँति प्रचार हुआ और ज्ञानियों को कुछ इसका सुख प्राप्त हुआ तो चारों ओर से यह इच्छा हुई कि यदि पंजाबी बोलियाँ और इबारत सुधारकर यह पुस्तक छापी जावे तो अति उत्तम हो। तथा च श्रीमान् मुंशी नवलकिशोरजी ने, वैकुण्ठवासी पंडित प्यारेलाल रुग्गू कश्मीरी को आज्ञा दी और उन्होंने बोलियाँ बदलकर और जहाँ तहाँ की इबारत सुधारकर उनकी आज्ञा का प्रतिपालन किया। आशा है कि पाठकगण इसे देखकर बहुत प्रसन्न होंगे।

श्री[illegible]त्मने नमः।

श्रीयोगवाशिष्ठ

प्रथम भाग

वैराग्य प्रकरण प्रारम्भ।

उस स[illegible]त्‌आनन्दरूप आत्मा को नमस्कार है जिससे सब भासते हैं और जिसमें [illegible] लीन और स्थित होते हैं एवम् जिससे ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय; द्रष्टा, दर्शन, दृश्य; और कर्त्ता, करण, कर्म सिद्ध होते हैं; जिस आनन्द के [illegible] कण से सम्पूर्ण विश्व आनन्दवान् है और जिस आनन्द से [illegible]जीव जीते हैं। अगस्त्यजी के शिष्य सुतीक्ष्ण के मन में एक संशय उत्पन्न हुआ तब वह उसके निवृत्त करने के अर्थ अगस्त्य मुनि के आश्रम में जाकर विधिसंयुक्त प्रणाम करके स्थित हुआ और नम्रतापूर्वक प्रश्न किया कि हे भगवन् ! आप सर्वतत्त्वज्ञ और सर्वशास्त्रों के ज्ञाता हो एक संशय मुझको है सो कृपा करके निवृत्त करो। मोक्ष का कारण कर्म है या ज्ञान ? अथवा दोनों ? इतना सुन अगस्त्यजी बोले कि हे ब्रह्मण्य ! केवल कर्म मोक्ष का कारण नहीं और केवल ज्ञान से भी मोक्ष प्राप्त नहीं होता; मोक्ष की प्राप्ति दोनों से ही होती है। कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है मोक्ष नहीं होता और अन्तःकरण की शुद्धि के विना केवल ज्ञान से भी मुक्ति नहीं होती; इससे दोनों से मोक्ष की सिद्धि होती है। कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है, फिर ज्ञान उपजता है और तब मोक्ष होता है। जैसे दोनों पङ्खों से पक्षी आकाशमार्ग में सुख से उड़ता है वैसे ही कर्म और ज्ञान दोनों से मोक्ष की प्राप्ति होती है। हे ब्रह्मण्य ! इसी आशय के अनुसार एक पुरातन इतिहास है वह तुम सुनो। अग्निवेष का पुत्र कारुणनाम ब्राह्मण गुरु के निकट जा षट्अंगों सहित चारों वेद अध्ययन करके गृह में आया और कर्म से रहित होकर तूष्णीं हो स्थित रहा अर्थात् संशययुक्त हो कर्मों से रहित हुआ। जब उसके

प्रमा
प्रमेय
प्रमा.

पिता ने देखा कि यह कर्मों से रहित होगया है तो उससे क [illegible] पुत्र ! तुम कर्म क्यों नहीं करते ? तुम कर्म के न करने से सिद्धत [illegible] कैसे प्राप्त होगे ? जिस कारण तुम कर्म से रहित हुए [illegible] ह [illegible] कहो ? कारण बोला हे पिता ! मुझको एक संशय उत्पन्न हु [illegible] कर्म से निवृत्त हुआ हूँ। वेद में एक ठौर तो कहा है कि [illegible] रहे तब तक कर्म अर्थात् अग्निहोत्रादिक करता रहे और [illegible] है कि न धन से मोक्ष होता है न कर्म से मोक्ष होता है [illegible] मोक्ष होता है और न केवल त्याग से ही मोक्ष होता [illegible] दोनों [illegible] क्या कर्त्तव्य है मुझको यही संशय है सो आप कृपा करके निवृत्त कर और बतलाओ कि क्या कर्त्तव्य है ? अगस्त्यजी बोले हे सुतीक्ष्ण ! ज कारण ने पिता से ऐसा कहा तब अग्निवेष बोले कि हे पुत्र ! एक कथ जो पहिले हुई है उसको सुनकर हृदय में धारण कर [illegible] तेरी इच्छ हो सो करना। एक काल में सुरुचि नामक अप्सरा, जो सम्पूर्ण अप्सराओं में उत्तम थी, हिमालय पर्वत के सुन्दर शिखर पर जहाँ कि देवता औ किन्नरगण, जिनके हृदय कामना से तृप्त थे, अप्सराओं के साथ क्रीड़ करते थे और जहाँ गङ्गाजी के पवित्र जल का प्रवाह लहर ले रहा था बैठी थी। उसने इन्द्र का एक दूत अन्तरिक्ष से चला आता देखा और ज निकट आया तो उससे पूछा; अहो सौभाग्य, देवदूत ! तुम देवगणों श्रेष्ठ हो; कहाँ से आये और अब कहाँ जाओगे सो कृपा करके कहो ? देव दूत बोला, हे सुभद्रे ! अरिष्टनेमि नामक एक धर्मात्मा राजर्षि ने अपने पुत्र को राज्य देकर वैराग्य लिया और सम्पूर्ण विषयों की अभिलाषा त्याग करके गन्धमादन पर्वत में जा तप करने लगा। उसी से मेरा एक कार्य था और उस कार्य के लिये मैं उसके पास गया था। अब इन्द्र के पास जिसका मैं दूत हूँ सम्पूर्ण वृत्तान्त निवेदन करने को जाता हूँ। अप्सरा ने पूछा हे भगवन् ! वह वृत्तान्त कौनसा है मुझसे कहो ? मुझको तुम अतिप्रिय हो यह जानकर पूछती हूँ। महापुरुषों से जो कोई प्रश्न करता है तो वे उद्वेगरहित होकर उत्तर देते हैं। देवदूत बोला, हे भद्रे ! वह वृत्तान्त मैं विस्तारपूर्वक तुमसे कहता हूँ मन लगाकर सुनो। जब उस

राजर्षि ने गन्धमादन पर्वत पर बड़ा तप किया तब देवताओं के राजा इन्द्र ने मुझको बुलाकर आज्ञा दी कि हे दूत ! तुम गन्धमादन पर्वत पर, जो नाना प्रकार की लताओं और वृक्षों से पूर्ण है, विमान, अप्सरा और नाना प्रकार की सामग्री एवम् गन्धर्व, यक्ष, सिद्ध, किन्नर, ताल, मृ[illegible]त्र संग ले जाकर राजा को विमान पर बैठाके यहाँ ले [illegible] वि[illegible] में विमान और सामग्रीसहित जहाँ राजा था आया और रा[illegible] कहा; हे राजन् ! तुम्हारे कारण विमान ले आया हूँ; इस पर आरूढ़ होकर तुम स्वर्ग को चलो और देवताओं के भोग भोगो। इतना सुन राजा ने कहा कि हे देवदूत ! प्रथम तुम स्वर्ग का वृत्तान्त मुझे सुनाओ कि तुम्हारे स्वर्ग में क्या-क्या दोष और गुण हैं तो उनको सुनके मैं हृदय में विचारूँ। पीछे जो मेरी इच्छा होगी तो चलूँगा। मैंने कहा कि हे राजन् ! स्वर्ग में बड़े-बड़े दिव्य भोग हैं। जीव बड़े पुण्य से स्वर्ग को पाता है। जो बड़े पुण्यवाले होते हैं वे स्वर्ग के उत्तम सुख को पाते हैं; जो मध्यम पुण्यवाले हैं वे स्वर्ग के मध्यम सुख को पाते हैं और जो कनिष्ठ पुण्यवाले हैं वे स्वर्ग के कनिष्ठ सुख को पाते हैं। जो गुण स्वर्ग में हैं वे तो तुमसे कहे, अब स्वर्ग के जो दोष हैं वे भी सुनो। हे राजन् ! जो आपसे ऊँचे बैठे दृष्ट आते हैं और उत्तम सुख भोगते हैं उनको देखकर ताप की उत्पत्ति होती है क्योंकि उनकी उत्कृष्टता सही नहीं जाती। जो कोई अपने समान सुख भोगते हैं उनको देखकर क्रोध उपजता है कि ये मेरे समान क्यों बैठे हैं और जो आपसे नीचे बैठे हैं उनको देखकर अभिमान उपजता है कि मैं इनसे श्रेष्ठ हूँ। एक और भी दोष है कि जब पुण्य क्षीण होते हैं तब जीव को उसी काल में मृत्युलोक में गिरा देते हैं, एक क्षण भी नहीं रहने देते। यही स्वर्ग में गुण और दोष हैं। हे भद्रे ! जब इस प्रकार मैंने राजा से कहा तो राजा बोला कि हे देवदूत ! उस स्वर्ग के योग्य हम नहीं हैं और हमको उसकी इच्छा भी नहीं है। जैसे सर्प अपनी त्वचा को पुरातन जानकर त्याग देता है वैसे ही हम उग्रतप करके यह देह त्याग देंगे। हे देवदूत ! तुम अपने विमान को जहाँ से लाये हो वहीं ले जाओ, हमारा

नमस्कार है। हे देवि! जब इसप्रकार राजा ने मुझसे कहा तब मैं विमान और अप्सरा आदि सबको लेकर स्वर्ग को गया और सम्पूर्ण वृत्तान्त इन्द्र से कहा। इन्द्र बहुत प्रसन्न हुआ और सुन्दर वाणी से मुझसे बोला कि हे दूत! तुम फिर जहाँ राजा है वहाँ [illegible]। वह संसार से उपराम हुआ है। उसको अब आत्मपद की [illegible] इसलिए तुम उसको अपने साथ वाल्मीकिजी के पास, जि[illegible] तत्त्व को आत्माकर जाना है, लेजाकर मेरा यह सन्देश [illegible] हे महाऋषे! इस राजा को तत्त्वबोध का उपदेश करना क्योंकि यह बोध का अधिकारी है। इसको स्वर्ग तथा और पदार्थों की भी इच्छा नहीं, इससे तुम इसको तत्त्वबोध का उपदेश करो और यह तत्त्वबोध को पाकर संसारदुःख से मुक्त हो। हे सुभद्रे! जब इसप्रकार देवराज ने मुझसे कहा तब मैं वहाँ से चलकर राजा के निकट आया और उससे कहा कि हे राजन्! तुम संसार समुद्र से मोक्ष होने के निमित्त वाल्मीकिजी के पास चलो; वे तुमको उपदेश करेंगे। उसको साथ लेकर मैं वाल्मीकिजी के स्थान पर आया और उस स्थान में राजा को बैठा और प्रणामकर इन्द्र का सन्देशा दिया। तब वाल्मीकिजी ने कहा, हे राजन्! कुशल तो है? राजा बोले; हे भगवन्! आप परमतत्त्वज्ञ और वेदान्त जाननेवालों में श्रेष्ठ हैं, मैं आपके दर्शन करके कृतार्थ हुआ और अब मुझको कुशलता प्राप्त हुई है। मैं आपसे पूछता हूँ कृपा करके उत्तर दीजिये कि संसारबन्धन से कैसे मुक्ति हो? इतना सुन वाल्मीकिजी बोले; हे राजन्! महारामायण औषध तुमसे कहता हूँ उसको सुनके उसका तात्पर्य हृदय में धारने का यत्न करना। जब तात्पर्य हृदय में धारोगे तब जीवन्मुक्त होकर बिचरोगे। हे राजन्! वह वशिष्ठजी और रामचन्द्रजी का संवाद है और उसमें मोक्ष का उपाय कहा है। उसको सुनकर जैसे रामचन्द्रजी अपने स्वभाव में स्थित हुए और जीवन्मुक्त होकर बिचरे हैं वैसे ही तुम भी बिचरोगे। राजा बोले, हे भगवन्! रामचन्द्रजी कौन थे, कैसे थे और कैसे होकर बिचरे सो कृपा करके कहो? वाल्मीकिजी बोले, हे राजन्! शाप के वश से सच्चिदानन्द विष्णुजी ने, जो अद्वैत ज्ञान से सम्पन्न हैं, अज्ञान को अङ्गीकर करके मनुष्य का शरीर धारण किया। इतना सुन राजा ने पूछा, हे भगवन्! चिदानन्द ही को शाप किस कारण हुआ और किसने दिया सो कहो? वाल्मीकिजी बोले, हे राजन्! एक काल में सनत्कुमार, जो निष्काम हैं, ब्रह्म[illegible] बैठे थे और त्रिलोक के पति विष्णु भगवान् भी वैकुण्ठ से उ[illegible]पुरी में आये। तब ब्रह्मासहित सर्वसभा उठकर खड़ी हुई और [illegible] भगवान् का पूजन किया, पर सनत्कुमार ने पूजन नहीं किया। इस बात को देखकर विष्णु भगवान् बोले कि हे सनत्कुमार! तुमको निष्कामता का अभिमान है इससे तुम काम से आतुर होगे और स्वामिकार्त्तिक तुम्हारा नाम होगा! सनत्कुमार बोले हे विष्णो! सर्वज्ञता का अभिमान तुमको भी है, इसलिये कुछ काल के लिये तुम्हारी सर्वज्ञता निवृत्त होकर अज्ञानता प्राप्त होगी। हे राजन्! एक तो यह शाप हुआ, दूसरा एक और भी शाप है, सुनो। एक काल में भृगु की स्त्री जाती रही थी। उसके वियोग से वह ऋषि क्रोधित हुआ था उसको देखकर विष्णुजी हँसे तब भृगु ब्राह्मण ने शाप दिया कि हे विष्णो! मेरी तुमने हँसी की है सो मेरी नाईं तुम भी स्त्री के वियोग से आतुर होगे। और एक दिवस देवशर्मा ब्राह्मण ने नरसिंह भगवान् को शाप दिया था सो भी सुनिये। एक दिन नरसिंह भगवान् गंगा के तीर पर गये और वहाँ देवशर्मा ब्राह्मण की स्त्री को देखकर नरसिंहजी भयानकरूप दिखाकर हँसे। निदान उनको देखकर ऋषि की स्त्री ने भय पाय प्राण छोड़ दिया। तब देवशर्मा ने शाप दिया कि तुमने, मेरी स्त्री का वियोग किया इससे तुम भी स्त्री का वियोग पावोगे। हे राजन्! सनत्कुमार, भृगु और देवशर्मा के शाप से विष्णु भगवान् ने मनुष्य का शरीर धारण किया और राजा दशरथ के घर में प्रकटे। हे राजन्! यह जो शरीर धारण किया और आगे जो वृत्तान्त हुआ सो सावधान होकर सुनो। अनुभवात्मक मेरा आत्मा जो त्रिलोकी अर्थात् स्वर्ग, मृत्यु और पाताल का प्रकाशकर्त्ता और भीतर बाहर आत्मतत्त्व से पूर्ण है उस सर्वात्मा को नमस्कार है। हे राजन्! यह शास्त्र जो आरम्भ किया है इसका विषय, प्रयोजन और

सम्बन्ध क्या है और अधिकारी कौन है सो सुनो। यह शास्त्र सत्-चित-आनन्दरूप अचिन्त्यचिन्मात्र आत्मा को जताता है यह तो विषय है, परमानन्द आत्मा की प्राप्ति और अनात्म अभिमान दुःख [illegible] निवृत्ति प्रयोजन है और ब्रह्मविद्या और मोक्ष उपाय से आत्मपद [illegible]पादन सम्बन्ध है जिसको यह निश्चय है कि मैं अद्वैत-ब्रह्म अनात[illegible] हुआ हूँ सो किसी प्रकार छूटूँ, वह न अति ज्ञानवान् है न मू[illegible] विकृति आत्मा यहाँ अधिकारी है। यह शास्त्र मोक्ष (परमान[illegible] प्राप्ति) करनेवाला है। जो पुरुष इसको विचारेगा वह ज्ञानवान् होकर फिर जन्म मृत्युरूप संसार में न आवेगा। हे राजन्! यह महारामायण पावन है। श्रवणमात्र से ही सब पाप का नाशकर्त्ता है जिसमें रामकथा है। यह मैंने प्रथम अपने शिष्य भारद्वाज को सुनाई थी। एक समय भारद्वाज चित्त को एकाग्र करके मेरे पास आया और मैंने उसको उपदेश किया था। वह उसको सुनकर वचनरूपी समुद्र से साररूपी रत्न निकाल और हृदय में धरकर एक समय सुमेरु पर्वत पर गया। वहाँ ब्रह्माजी बै थे, उसने उनको प्रणाम किया और उनके पास बैठकर यह कथा सुनाई तब ब्रह्माजी ने प्रसन्न होकर उससे कहा, हे पुत्र! कुछ वर माँग; मैं तु पर प्रसन्न हुआ हूँ! भारद्वाज ने, जिसका उदार आशय था, उनसे कहा हे भूत-भविष्य के ईश्वर! जो तुम प्रसन्न हुए हो, तो यह वर दो वि सम्पूर्ण जीव संसार-दुःख से मुक्त हों और परमपद पावें और उसी क उपाय भी कहो! ब्रह्माजी ने कहा हे पुत्र! तुम अपने गुरु वाल्मीकिज के पास जाओ! उसने आत्मबोध महारामायण शास्त्र का जो परमपाव और संसारसमुद्र के तरने का पुल है; आरम्भ किया है। उसको सुनक जीव महामोहजनक संसारसमुद्र से तरेंगे। निदान परमेष्ठी ब्रह्मा जिनकी सर्वभूतों के हित में प्रीति है आप ही भारद्वाज को साथ लेकर मे आश्रम में आये और मैंने भले प्रकार से उनका पूजन किया। उन्होंने मुझसे कहा, हे मुनियों में श्रेष्ठ वाल्मीकि! यह जो तुमने राम के स्व भाव के कथन का आरम्भ किया है इस उद्यम का त्याग न करना; इसक आदि से अन्त पर्यन्त समाप्ति करना; क्योंकि यह मोक्ष उपाय संसार

रूपी समुद्र के पार करने को जहाज है और इससे सब जीव कृतार्थ होंगे! इतना कहकर ब्रह्माजी, जैसे समुद्र से चक्र एक मुहूर्त्त पर्यन्त उठके फिर लीन हो [illegible] वैसे ही अन्तर्द्धान हो गये। तब मैंने भारद्वाज से कहा, हे पुत्र! [illegible] ने क्या कहा? भारद्वाज बोले हे भगवन्! ब्रह्माजी ने तुम[illegible] कहा कि हे मुनियों में श्रेष्ठ! यह जो तुमने राम के स्वभाव के क[illegible]द्यम किया है उसका त्याग न करना; इसे अन्तपर्यन्त समाप्ति क[illegible]योंकि; संसारसमुद्र के पार करने को यह कथा जहाज है और इससे अनेक जीव कृतार्थ होकर संसार-संकट से मुक्त होंगे। इतना कहकर फिर वाल्मीकिजी बोले हे राजन्! जब इस प्रकार ब्रह्माजी ने मुझसे कहा तब उनकी आज्ञानुसार मैंने ग्रन्थ बनाकर भारद्वाज को सुनाया। हे पुत्र! वशिष्ठजी के उपदेश को पाकर जिस प्रकार रामजी निश्शंक हो बिचरे हैं वैसे ही तुम भी बिचरो। तब उसने प्रश्न किया कि हे भगवन्! जिस प्रकार रामचन्द्रजी जीवन्मुक्त होकर बिचरे हैं वह आदि से क्रम करके मुझसे कहिये? वाल्मीकिजी बोले, हे भारद्वाज! रामचन्द्र, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता, कौशल्या, सुमित्रा और दशरथ ये आठ तो जीवन्मुक्त हुए हैं और आठ मन्त्री, अष्टगण, वशिष्ठ और वामदेव से आदि अष्टविंशति जीवन्मुक्त हो बिचरे हैं उनके नाम सुनो। रामजी से लेकर दशरथपर्यन्त आठ तो ये कृतार्थ होकर परम बोधवान् हुए हैं और १ कुन्तभासी, २ शतवर्धन, ३ सुखधाम, ४ विभीषण, ५ इन्द्रजित्, ६ हनुमान्, ७ वशिष्ठ और ८ वामदेव ये अष्टमन्त्री निश्शङ्क हो चेष्टा करते भये और सदा अद्वैतनिष्ठ हुए हैं। इनको कदाचित् स्वरूप से द्वैतभाव नहीं फुरा है। ये अनामय पद की स्थिति में तृप्त रहकर केवल चिन्मात्र शुद्धपद परमपावनता को प्राप्त हुए हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यकथारम्भवर्णनो नाम प्रथमस्सर्गः ॥ १ ॥

भारद्वाज ने पूछा हे भगवन्! जीवन्मुक्त की स्थिति कैसी है और रामजी कैसे जीवन्मुक्त हुए हैं वह आदि से अन्तपर्यन्त सब कहो? वाल्मीकिजी बोले, हे पुत्र! यह जगत् जो भासता है सो वास्तविक कुछ नहीं उत्पन्न हुआ; अविचार करके भासता है और विचार करने से

निवृत्त हो जाता है। जैसे आकाश में नीलता भासती है सो भ्रम ही है यदि विचार करके देखिए तो नीलता की प्रतीति दूर हो जाती वैसे ही अविचार से जगत् भासता है और विचार से ली[illegible]हो जात[illegible] है। हे शिष्य ! जब तक सृष्टि का अत्यन्त अभाव नहीं हो[illegible] तब तक परमपद की प्राप्ति नहीं होती। जब दृश्य का अत्यन्त अ[illegible] तब शुद्ध चिदाकाश आत्मसत्ता भासेगी। कोई इस दृश्य के[illegible] में अभाव कहते हैं परन्तु मैं तुमको तीनों कालों का अभाव क[illegible] हूँ जब इस शास्त्र को श्रद्धासंयुक्त आदि से अन्त तक सुनकर धारण क[illegible] तब भ्रान्ति निवृत्ति हो जावे और अव्याकृत पद की प्राप्ति हो। हे शिष्य संसार भ्रममात्र सिद्ध है। इसको भ्रममात्र जानकर विस्मरण करना यही मुक्ति है। जीव के बन्धन का कारण वासना है और वासना से ही भटकता फिरता है। जब वासना का क्षय हो जाय तब परमपद की प्राप्ति हो। वासना का एक पुतला है उसका नाम मन है। जैसे जल सरदी की दृढ़ जड़ता पाकर बरफ हो जाता है और फिर सूर्य के ताप से पिघलकर जल होता है तो केवल शुद्ध जल ही रहता है वैसे ही आत्मारूपी जल है, उसमें संसार की सत्यतारूपी जड़ता शीतलता है और उससे मनरूपी बरफ का पुतला हुआ है। जब ज्ञानरूपी सूर्य उदय होगा तब संसार की सत्यतारूपी जड़ता और शीतलता निवृत्त हो जावेगी। जब संसार की सत्यता और वासना निवृत्त हुई तब मन नष्ट हो जावेगा और जब मन नष्ट हुआ तो परम कल्याण हुआ। इससे इसके बन्धन का कारण वासना ही है और वासना के क्षय होने से मुक्ति है। वह वासना दो प्रकार की है—एक शुद्ध और दूसरी अशुद्ध। अशुद्ध वासना से अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान से अनात्मा जो देहादिक हैं उनमें अहंकार करता है और जब अनात्म में आत्म अभिमान हुआ, तब नाना प्रकार की वासना उपजती हैं जिससे घटीयंत्र की नाईं भ्रमता रहता है। हे साधो ! यह जो पञ्चभूत का शरीर तुम देखते हो सो सब वासनारूप है और वासना से ही खड़ा है। जैसे माला के दाने धागे के आश्रय से गुँथे होते हैं और जब धागा टूट जाता है तब न्यारे न्यारे हो जाते हैं

और नहीं ठहरते वैसे ही वासना के क्षय होने पर पञ्चभूत का शरीर नहीं रहता। इससे सब अनर्थों का कारण वासना ही है। शुद्ध वासना में जगत् का अत्यन्त अभाव निश्चय होता है। हे शिष्य ! अज्ञानी की वासना[illegible]का कारण होती है और ज्ञानी की वासना जन्म का कार[illegible]होती। जैसे कच्चा बीज उगता है और जो दग्ध हुआ है सो[illegible]वि[illegible]उगता वैसे ही अज्ञानी की वासना रससहित है इससे जन[illegible] कारण है और ज्ञानी की वासना रसरहित है वह जन्म का कारण नहीं। ज्ञानी की चेष्टा स्वाभाविक होती है। वह किसी गुण से मिलकर अपने में चेष्टा नहीं देखता। वह खाता, पीता, लेता, देता, बोलता, चलता एवम् और और व्यवहार करता है पर अन्तःकरण में सदा अद्वैत निश्चय को धरता है कदाचित् द्वैतभावना उसको नहीं फुरती। वह अपने स्वभाव में स्थित है इससे उसकी चेष्टा जन्म का कारण नहीं होती। जैसे कुम्हार के चक्र को जब तक घुमावे तब तक फिरता है और जब घुमाना छोड़ दे तब स्थीयमान गति से उतरते उतरते स्थिर रह जाता है वैसे ही जब तक अहङ्कारसहित वासना होती है तब तक जन्म पाता है और जब अहङ्कार से रहित हुआ तब फिर जन्म नहीं पाता। हे साधो ! इस अज्ञानरूपी वासना के नाश करने को एक ब्रह्मविद्या ही श्रेष्ठ उपाय है जो मोक्षउपायक शास्त्र है। यदि इसको त्यागकर और शास्त्ररूपी गर्त्त में गिरेगा तो कल्पपर्यन्त भी अकृत्रिम पद को न पावेगा। जो ब्रह्मविद्या का आश्रय करेगा वह सुख से आत्मपद को प्राप्त होगा। हे भारद्वाज ! यह मोक्षउपाय रामजी और वशिष्ठजी का संवाद है, यह विचारने योग्य है और बोध का परम कारण है। इसे आदि से अन्तपर्यन्त सुनो और जैसे रामजी जीवन्मुक्त हो बिचरे हैं सो भी सुनो। एक दिन रामजी अध्ययनशाला से विद्या पढ़के अपने गृह में आये और सम्पूर्ण दिन विचारसहित व्यतीत किया। फिर मन में तीर्थ ठाकुरद्वारे का संकल्प धरकर अपने पिता दशरथ के पास, जो अति प्रजापालक थे, आये और जैसे हंस सुंदर कमल को ग्रहण करे वैसे ही उन्होंने उनका चरण पकड़ा। जैसे कमल के फूल के नीचे कोमल तरैयाँ होती हैं और उन तरैयोंसहित कमल को

हंस पकड़ता है वैसे ही दशरथजी की अँगुलियों को उन्होंने ग्रहण किया और बोले हे पिता! मेरा चित्त तीर्थ और ठाकुरद्वारों के दर्शनों को चाहता है। आप आज्ञा कीजिये तो मैं दर्शन कर आऊँ। मैं [illegible]हारा पुत्र हूँ। आगे मैंने कभी नहीं कहा यह प्रार्थना अब ही की है इस[illegible] वचन मेरा न फेरना क्योंकि, ऐसा त्रिलोकी में कोई नहीं है कि जि[illegible]रथ इस घर से सिद्ध न हुआ हो इससे मुझको भी कृपाकर आज्ञा[illegible] इतना कहकर वाल्मीकिजी बोले, हे भारद्वाज! जिस समय इ[illegible]ार रामजी ने कहा तब वशिष्ठजी पास बैठे थे उन्होंने भी दशरथ से कहा, हे राजन्! इनका चित्त उठा है रामजी को आज्ञा दो कि तीर्थ कर आवें और इनके साथ सेना, धन, मन्त्री और ब्राह्मण भी दीजे कि विधिपूर्वक दर्शन करें तब महाराज दशरथ ने शुभ मुहूर्त्त दिखाकर रामजी को आज्ञा दी। जब वे चलने लगे तो पिता और माता के चरणों में पड़े और सबको कण्ठ लगाकर रुदन करने लगे। इस प्रकार सबसे मिलकर लक्ष्मण आदि भाई, मन्त्री और वशिष्ठ आदि ब्राह्मण जो विधि जाननेवाले थे बहुत सा धन और सेना साथ ली और दान पुण्य करते हुए गृह के बाहर निकले। उस समय वहाँ के लोगों और स्त्रियों ने रामजी के ऊपर फूलों और कलियों की माला की, जैसे बरफ बरसती है वैसी ही वर्षा की और रामजी की मूर्ति हृदय में धर ली। इसी प्रकार रामजी वहाँ से ब्राह्मणों और निर्धनों को दान देते गङ्गा, यमुना, सरस्वती आदि तीर्थों में विधिपूर्वक स्नानकर पृथ्वी के चारों ओर पर्यटन करते रहे। उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में दान किया और समुद्र के चारों ओर स्नान किया। सुमेरु और हिमालय पर्वत पर भी गये और शालग्राम, बद्री, केदार आदि में स्नान और दर्शन किये। ऐसे ही सब तीर्थस्नान, दान, तप, ध्यान और विधिसंयुक्त यात्रा करते करते एक वर्ष में अपने नगर में आये।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यतीर्थयात्रावर्णनं नाम द्वितीयस्सर्गः॥ २॥

वाल्मीकिजी बोले, हे भारद्वाज! जब रामजी यात्रा करके अपनी अयोध्यापुरी में आये तो नगरवासी पुरुष और स्त्रियों ने फूल और कली की वर्षा की, जयजय शब्द मुख से उच्चारने लगे और बड़े उत्साह को

प्राप्त भये जैसे इन्द्र का पुत्र स्वर्ग में आता है वैसे ही रामचन्द्रजी अपने घर में आये। रामजी ने पहिले राजा दशरथ और फिर वशिष्ठजी को प्रणाम किया और [illegible]ब सभा के लोगों से यथायोग्य मिलकर अन्तःपुर में आ कौशल्या[illegible]दि माताओं को प्रणाम किया और भाई, बन्धु आदि कुटुम्ब से मि[illegible]रद्वाज! इस प्रकार रामजी के आने का उत्साह सात दिन पर्य[illegible]वि[illegible] रहा। उस अन्तर में कोई मिलने आवे उससे मिलते और जो को[illegible] कुछ लेने आवे उनको दान पुण्य करते थे अनेक बाजे बजते थे और भाट आदि बन्दीजन स्तुति करते थे। तदनन्तर रामजी का यह आचरण हुआ कि प्रातःकाल उठके स्नान सन्ध्यादिक सत्कर्म कर भोजन करते और फिर भाई बन्धुओं से मिलकर अपने तीर्थ की कथा और देवद्वार के दर्शन की वार्त्ता करते थे। निदान इसी प्रकार उत्साह से दिन-रात बिताते थे। एक दिन रामजी प्रातःकाल उठके अपने पिता राजा दशरथ के निकट गये जिनका तेज चन्द्रमा के समान था। उस समय वशिष्ठादिक की सभा बैठी थी। वहाँ वशिष्ठजी के साथ कथा वार्त्ता की। राजा दशरथ ने उनसे कहा कि हे रामजी! तुम शिकार खेलने जाया करो। उस समय रामजी की अवस्था सोलह वर्ष से कई महीने कम थी। लक्ष्मण और शत्रुघ्न भाई साथ थे, पर भरतजी नाना के घर गये थे। निदान उन्हीं के साथ नित चर्चा हुलास कर और स्नान, सन्ध्यादिक नित्य कर्म और भोजन करके शिकार खेलने जाते थे। वहाँ जो जीवों को दुःख देनेवाले जानवर देखते उनको मारते और अन्य लोगों को प्रसन्न करते थे। दिन को शिकार खेलने जाते और रात्रि को बाजे निशान सहित अपने घर में आते थे। इसी प्रकार बहुत दिन बीते। एक दिन रामजी बाहर से अपने अन्तःपुर में आकर शोकसहित स्थित भये। हे भारद्वाज! राजकुमार अपनी सब चेष्टा और इन्द्रियों के रससंयुक्त विषयों को त्याग बैठे और उनका शरीर दुर्बल होकर मुख की कान्ति घट गई। जैसे कमल सूखकर पीतवर्ण हो जाता है वैसे ही रामजी का मुख पीला हो गया जैसे सूखे कमल पर भँवरे बैठे हों वैसे ही सूखे मुखकमल पर नेत्ररूपी भँवरे भासने लगे। जैसे शरत्काल में ताल निर्मल होता है वैसे

ही इच्छारूपी मल से रहित उनका चित्तरूपी ताल निर्मल हो गया और दिन पर दिन शरीर निर्बल होता गया। वह जहाँ बैठें वहीं चिन्तासंयुक्त बैठे रह जावें और हाथ पर चिबुक धरके बैठें। जब टहलुवे [illegible] स्त्री बहुत कहें कि हे प्रभो! यह स्नान सन्ध्या का समय हुआ है [illegible] उठो तब उठकर स्नानादिक करें अर्थात् जो कुछ खाने, पीने, बोलने [illegible] और पहिरने की क्रिया थी सो सब उन्हें विरस हो गई। तब लक्ष्मण [illegible] शत्रुघ्न भी रामजी को संशययुक्त देखके उसी प्रकार हो गये और राजा दशरथ यह वार्त्ता सुनके रामजी के पास आये तो क्या देखा कि रामजी महाकृश हो गये हैं। राजा ने इस चिन्ता से आतुर हो कि हाय हाय इनकी यह क्या दशा हुई रामजी को गोद में बैठाया और कोमल सुन्दर शब्दों से पूछने लगे कि हे पुत्र! तुमको क्या दुःख प्राप्त हुआ है जिससे तुम शोकवान् हुए हो? रामजी ने कहा कि हे पिता! हमको तो कोई दुःख नहीं! ऐसा कहकर चुप हो रहे। जब इसी प्रकार कुछ दिन बीते तो राजा और सब स्त्रियाँ बड़ी शोकवान् हुईं। राजा राजमन्त्रियों से मिलकर विचार करने लगे कि पुत्र का किसी ठौर विवाह करना चाहिये और यह भी विचार किया कि क्या कारण है जो मेरे पुत्र शोकवान् रहते हैं। तब उन्होंने वशिष्ठजी से पूछा कि हे मुनीश्वर! मेरे पुत्र शोकातुर क्यों रहते हैं? वशिष्ठजी ने कहा हे राजन्! जैसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश महाभूत अल्पकार्य में विकारवान् नहीं होते जब जगत् उत्पन्न और प्रलय होता है तब विकारवान् होते हैं वैसे ही महापुरुष भी अल्पकार्य से विकारवान् नहीं होते। हे राजन्! तुम शोक मत करो। रामजी किसी अर्थ के निमित्त शोकवान् हुए होंगे; पीछे इनको सुख मिलेगा। इतना कह वाल्मीकिजी बोले हे भारद्वाज! ऐसे ही वशिष्ठजी और राजा दशरथ विचार करते थे कि उसी काल में विश्वामित्र ने अपने यज्ञ के अर्थ राजा दशरथ के गृह पर आकर द्वारपाल से कहा कि राजा दशरथ से कहो कि "गाधि के पुत्र विश्वामित्र बाहर खड़े हैं"। द्वारपाल ने आकर राजा से कहा कि हे स्वामिन्! एक बड़े तपस्वी द्वार पर खड़े हैं और उन्होंने कहा है कि राजा दशरथ के पास जाके कहो कि

विश्वामित्र आये हैं। हे भारद्वाज! जब इस प्रकार द्वारपाल ने आकर कहा तब राजा, जो मण्डलेश्वरों सहित बैठा था और बड़ा तेजवान् था सुवर्ण [illegible] सिंहासन से उठ खड़ा हुआ और पैदल चला। राजा के एक ओर व[illegible] और दूसरी ओर वामदेवजी और सुभट की नाईं मण्डलेश्वरसम[illegible]करते चले और जहाँ से विश्वामित्र दृष्टि आये वहाँ से ही प्रणाम वि[illegible] लगे। पृथ्वी पर जहाँ राजा का शीश लगता था वहाँ पृथ्वी हीरे और मोती से सुन्दर हो जाती थी। इसी प्रकार शीश नवाते राजा चले। विश्वामित्रजी काँधे पर बड़ी बड़ी जटा धारण किये और अग्नि के समान प्रकाशमान परम शान्तस्वरूप हाथ में बाँस की तन्द्री लिये हुए थे। उनके चरणकमलों पर राजा इस भाँति गिरा जैसे सूर्यपदा शिवजी के चरणारविन्द में गिरे थे। और कहा हे प्रभो! मेरे बड़े भाग्य हैं जो आपका दर्शन हुआ। आज मुझे ऐसा आनन्द हुआ जो आदि अन्त और मध्य से रहित अविनाशी है। हे भगवन्! आज मेरे भाग्य उदय हुए और मैं भी धर्मात्माओं में गिना जाऊँगा क्योंकि आप मेरे कुशल निमित्त आये हैं। हे भगवन्! आपने बड़ी कृपा की जो दर्शन दिया। आप सबसे उत्कृष्ट दृष्टि आते हैं, क्योंकि आप में दो गुण हैं—एक तो यह कि आप क्षत्रिय हैं पर ब्राह्मण का स्वभाव आप में है और दूसरे यह कि शुभ गुणों से परिपूर्ण हैं। हे मुनीश्वर! ऐसी किसी की सामर्थ्य नहीं कि क्षत्रिय से ब्राह्मण हो। आपके दर्शन से मुझे अति लाभ हुआ। फिर वशिष्ठजी विश्वामित्रजी को कण्ठ लगके मिले और मण्डलेश्वरों ने बहुत प्रणाम किये। तदनन्तर राजा दशरथ विश्वामित्रजी को भीतर ले गये और सुन्दर सिंहासन पर बैठाकर विधिपूर्वक पूजा की और अर्घ्यपाद्यार्चन करके प्रदक्षिणा की। फिर वशिष्ठजी ने भी विश्वामित्रजी का पूजन किया और विश्वामित्रजी ने उनका पूजन किया। इसी प्रकार अन्योन्य पूजन कर यथायोग्य अपने अपने स्थानों पर बैठे। तब राजा दशरथ बोले हे भगवन्! हमारे बड़े भाग्य हुए जो आपका दर्शन हुआ। जैसे किसी को अमृत प्राप्त हो वा किसी का मरा हुआ बान्धव विमान पर चढ़के आकाश से आवे और उसके मिलने से

आनन्द हो वैसा आनन्द मुझे हुआ । हे मुनीश्वर ! जिस अर्थ के लिये आप आये हैं वह कृपा करके कहिये और अपना वह अर्थ पूर्ण हुआ जानिये । ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो मुझको दे[illegible] कठिन है, मेरे यहाँ सब कुछ विद्यमान है ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे विश्वामित्र[illegible] गमनवर्णनं नाम तृतीयस्सर्ग्गः ॥ ३ ॥

वाल्मीकिजी बोले हे भारद्वाज ! जब इसप्रकार राजा ने कहा तो मुनियों में शार्दूल विश्वामित्रजी ऐसे प्रसन्न हुए जैसे चन्द्रमा को देखकर क्षीरसागर उमड़ता है । उनके रोम खड़े हो आये और कहने लगे हे राजशार्दूल ! तुम धन्य हो ! ऐसे तुम क्यों न कहो । तुम्हारे में दो गुण हैं—एक तो यह कि तुम रघुवंशी हो और दूसरे यह कि वशिष्ठजी जैसे तुम्हारे गुरु हैं जिनकी आज्ञा में चलते हो । अब जो कुछ मेरा प्रयोजन है वह प्रकट करता हूँ । मैंने दशगात्र यज्ञ का आरम्भ किया है; जब यज्ञ करने लगता हूँ तब खर और दूषण निशाचर आकर विध्वंस कर जाते हैं और मांस, हाड़ और रुधिर डाल जाते हैं जिससे वह स्थान यज्ञ करनेयोग्य नहीं रहता और जब मैं और जगह जाता हूँ तो वहाँ भी वे उसी प्रकार अपवित्र कर जाते हैं इसलिये उनके नाश करने के लिये मैं तुम्हारे पास आया हूँ । कदाचित् यह कहिये कि तुम भी तो समर्थ हो, तो हे राजन् ! मैंने जिस यज्ञ का आरम्भ किया है उसका अङ्ग क्षमा है । जो मैं उनको शाप दूँ तो वह भस्म हो जावें पर शाप क्रोध बिना नहीं होता । जो मैं क्रोध करूँ तो यज्ञ निष्फल होता है और जो चुपकर रहूँ तो राक्षस अपवित्र वस्तु डाल जाते हैं । इससे अब मैं आपकी शरण आया हूँ । हे राजन् ! अपने पुत्र रामजी को मेरे साथ भेज दो, वह राक्षसों को मारें और मेरा यज्ञ सफल हो । यह चिन्ता तुम न करना कि मेरा पुत्र अभी बालक है । यह तो इन्द्र के समान शूरवीर है । जैसे सिंह के सम्मुख मृग का बच्चा नहीं ठहर सकता वैसे ही इसके सम्मुख राक्षस न ठहर सकेंगे । इसको मेरे साथ भेजने से तुम्हारा यश और धर्म दोनों रहेंगे और मेरा कार्य होगा इसमें सन्देह नहीं । हे राजन् ! ऐसा कार्य त्रिलोकी में कोई

नहीं जो रामजी न कर सकें इसीलिये मैं तुम्हारे पुत्र को लिये जाता हूँ । यह मेरे हाथ से रक्षित रहेगा और कोई विघ्न न होने दूँगा । जैसे तुम्हारे पुत्र हैं मैं और वशिष्ठजी जानते हैं । और ज्ञानवान् भी जो त्रिकालदर्शी हैं जानेंगे और किसी की सामर्थ्य नहीं जो इनको जानें । हे राजन् ! जो समय [illegible] कार्य होता है वह थोड़े ही परिश्रम से सिद्ध होता है और समय वि[illegible] बहुत परिश्रम करने से भी नहीं होता । खर और दूषण प्रबल दैत्य हैं मेरे यज्ञ को खण्डन करते हैं । जब रामजी जावेंगे तब वह भाग जावेंगे इनके आगे खड़े न रह सकेंगे । जैसे सूर्य के तेज से तारागण का प्रकाश क्षीण हो जाता है वैसे ही रामजी के दर्शन से वे स्थित न रहेंगे । इतना कहकर वाल्मीकिजी बोले हे भारद्वाज ! जब विश्वामित्रजी ने ऐसा कहा तब राजा दशरथ चुप होकर गिर पड़े और एक मुहूर्त्त पर्यन्त पड़े रहे ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे दशरथविषादो नाम चतुर्थस्सर्ग्गः ॥ ४ ॥

वाल्मीकिजी बोले हे भारद्वाज ! एक मुहूर्त्त उपरान्त राजा उठे और अधैर्य होकर बोले हे मुनीश्वर ! आपने क्या कहा ? रामजी तो अभी कुमार हैं । अभी तो उन्होंने शस्त्र और अस्त्रविद्या नहीं सीखी, बल्कि फूलों की शय्या पर शयन करनेवाले; अन्तःपुर में स्त्रियों के पास बैठनेवाले और बालकों के साथ खेलनेवाले हैं । उन्होंने कभी भी रणभूमि नहीं देखी और न भृकुटी चढ़ाके कभी युद्ध ही किया । वह दैत्यों से क्या युद्ध करेंगे ? कभी पत्थर और कमल का भी युद्ध हुआ है ? हे मुनीश्वर ! मैं तो बहुत वर्षों का हुआ हूँ । इस वृद्धावस्था में मेरे घर में चार पुत्र हुए हैं; उन चारों में रामजी अभी सोलह वर्ष के हुए हैं और मेरे प्राण हैं । उनके विना मैं एक क्षण भी नहीं रह सकता, जो तुम उनको ले जावोगे तो मेरे प्राण निकल जावेंगे । हे मुनीश्वर ! केवल मुझे ही उनका इतना स्नेह नहीं किन्तु लक्ष्मण, शत्रुघ्न, भरत और माताओं के भी प्राण हैं । जो तुम उनको ले जावोगे तो सब ही मर जावेंगे । जो तुम हमको रामजी के वियोग से मारने आये हो तो ले जावो । हे मुनीश्वर ! मेरे चित्त में तो रामजी पूर्ण हो रहे हैं उनको मैं आपके साथ कैसे दूँ ? मैं तो उनको देखकर प्रसन्न होता

हूँ। रामजी के वियोग से मेरे प्राण कैसे बचेंगे ? हे मुनीश्वर ! ऐसी प्रीति मुझे स्त्री, धन तथा और पदार्थों की नहीं जैसी रामजी की है। मैं आपके वचन सुनकर अति शोकवान् हुआ हूँ। मेरे बड़े अभाग्य उदय हुए जो आप इस निमित्त आये ! मैं रामजी को कदापि नहीं देख सकता। जो आप कहिये तो मैं एक अक्षौहिणी सेना, जो अति शूरवीर और शस्त्र अस्त्रविद्या से सम्पन्न हैं साथ लेकर चलूँ और उनको मारूँ, पर जो कुबेर का भाई और विश्रवा का पुत्र रावण हो तो उससे मैं युद्ध नहीं कर सकता। पहिले मैं बड़ा पराक्रमी था; ऐसा कोई त्रिलोकी में न था जो मेरे सामने आता, पर अब वृद्धावस्था प्राप्त होकर देह जर्जर हो गई है। हे मुनीश्वर ! मेरे बड़े अभाग्य हैं जो आप आये। मैं तो रावण से काँपता हूँ और केवल मैं ही नहीं बरन इन्द्र आदि देवता भी उससे काँपते और भय पाते हैं। किसकी सामर्थ्य है जो उससे युद्ध करे। इस काल में वह बड़ा शूरवीर है। जो मेरी ही उसके साथ युद्ध करने की सामर्थ्य नहीं तो राजकुमार रामजी की क्या सामर्थ्य है ? जिन रामजी को तुम लेने आये हो वह तो रोगी पड़े हैं। उनको ऐसी चिन्ता लगी है जिससे महाकृश हो गये हैं और अन्तःपुर में अकेले बैठे रहते हैं। खाना-पीना इत्यादि जो राजकुमारों की चेष्टा हैं वह भी सब उनको बिसर गई हैं और मैं नहीं जानता कि उनको क्या दुःख हुआ। जैसे पीतवर्ण कमल होता है वैसे ही उनका मुख हो गया है। उनको युद्ध की सामर्थ्य कहाँ है ? उन्होंने तो अपने स्थान से बाहर की पृथ्वी भी नहीं देखी है। हमारे प्राण वही हैं उनके वियोग से हम नहीं जी सकते ॥

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे दशरथोक्तिवर्णनन्नाम पञ्चमस्सर्गः ॥ ५ ॥

वाल्मीकिजी बोले कि जब इस प्रकार दशरथजी ने महादीन और अधैर्य होकर कहा तो विश्वामित्रजी क्रोध करके कहने लगे कि हे राजन् ! तुम अपने धर्म को स्मरण करो। तुमने कहा था कि तुम्हारा अर्थ सिद्ध करूँगा पर अब तुम अपने धर्म को त्यागते हो। जो तुम सिंहों के समान होकर मृगों की नाईं भागते हो तो भागो पर आग

रघुवंशी कुल में ऐसा कोई नहीं हुआ कि जिसने वचन फेरा हो। जो तुम करते हो सो करो हम चले जावेंगे परन्तु यह तुमको योग्य न था क्योंकि शून्य गृह से शून्य ही होकर जाता है। तुम बसते रहो और राज्य करते रहो जैसा कुछ होगा हम समझ लेंगे। इतना कहकर वाल्मीकिजी बोले कि जब इस प्रकार विश्वामित्रजी को क्रोध उत्पन्न हुआ तो पचास कोटि योजन तक पृथ्वी काँपने लगी और इन्द्रादिक देवता भयवान् हुए कि यह क्या हुआ ? तब वशिष्ठजी बोले हे राजन् ! इक्ष्वाकुकुल में सब परमार्थी हुए हैं और तुम अपना धर्म क्यों त्यागते हो ? मेरे सामने तुमने विश्वामित्रजी से कहा है कि तुम्हारा अर्थ पूरा करूँगा पर अब क्यों भागते हो। रामजी को तुम इनके साथ कर दो; यह तुम्हारे पुत्र की रक्षा करेंगे। इस पुरुष के सामने किसी का बल नहीं चलता यह साक्षात् ही काल की मूर्ति हैं जो तपस्वी कहिये तो भी इनके समान दूसरा नहीं है और शस्त्र और अस्त्रविद्या भी इनके सदृश कोई नहीं जानता क्योंकि दक्ष प्रजापति ने अपनी दो पुत्रियाँ जिनका नाम जया और सुभगा था विश्वामित्रजी को दी थीं जिन्होंने पाँच पाँच सौ पुत्र दैत्यों के मारने के लिये प्रकट किये। वे दोनों इनके सम्मुख मूर्ति धारण करके स्थित होती हैं इससे इनको कौन जीत सकता है? जिसके साथी विश्वामित्रजी हों उसको किसी का भय नहीं। आप इनके साथ अपना पुत्र निस्संशय होकर दो। किसी की सामर्थ्य नहीं कि इनके होते तुम्हारे पुत्र को कुछ कह सके। जैसे सूर्य के उदय से अन्धकार का अभाव हो जाता है वैसे ही इनकी दृष्टि से दुःख का अभाव हो जाता है। हे राजन् ! इनके साथ तुम्हारे पुत्र को कोई खेद न होगा। तुम इक्ष्वाकु के कुल में उत्पन्न हुए हो और दशरथ तुम्हारा नाम है; जो तुम ऐसे हो अपने धर्म में स्थित न रहे तो और जीवों से धर्म का पालन कैसे होगा ? जो कुछ श्रेष्ठ पुरुष चेष्टा करते हैं उनके अनुसार और जीव भी करते हैं। जो तुम अपने वचनों का पालन न करोगे तो और किसी से क्या होगा ? तुम्हारे कुल में अपने वचन से कोई नहीं फिरा इससे अपने धर्म का त्यागना योग्य नहीं। यदि तुम दैत्यों के भय से शोकवान् हो तो मत हो। कदाचित् मूर्तिधारी

काल आकर स्थित हो तो भी विश्वामित्र के होते तुम्हारे पुत्र को कुछ भय न होगा। तुम शोक मत करो और अपने पुत्र को इनके साथ कर दो। जो तुम अपना पुत्र न दोगे तो तुम्हारा दो प्रकार का धर्म नष्ट होगा—एक धर्म यह कि कूप, बावली और ताल जो बनाये हैं उनका पुण्य नष्ट हो जावेगा, दूसरे यह कि तप, व्रत, यज्ञ, दान, स्नानादि [illegible] क्रिया का फल भी नष्ट होकर तुम्हारा गृह अर्थहीन हो जावेगा। इससे मोह और शोक को छोड़ और धर्म को स्मरण करके रामजी को इनके साथ कर दो तो तुम्हारे सब कार्य सफल होंगे। हे राजन्! इस प्रकार जो तुम्हें करना था तो प्रथम ही विचार कर कहते क्योंकि विचार किये विना काम करने का परिणाम दुःख होता है। इतना कहकर वाल्मीकिजी बोले हे भारद्वाज! जब इस प्रकार वशिष्ठजी ने कहा तो राजा दशरथ धैर्यवान् हुए और भृत्यों में जो श्रेष्ठ भृत्य था उसको बुलाकर कहा हे महाबाहो! रामजी को ले आवो। उनके साथ जो चाकर बाहर आने जानेवाला और छल से रहित था राजा की आज्ञा लेकर रामजी के निकट गया और एक मुहूर्त्त पीछे आकर कहने लगा हे देव! रामजी तो बड़ी चिन्ता में बैठे हैं। जब मैंने रामजी से बारंबार कहा कि चलिये तब वे कहने लगे कि चलते हैं। ऐसे ही कह कह चुप हो रहते हैं। दूत का यह वचन सुन राजा ने कहा कि रामजी के मन्त्री और सब नौकरों को बुलावो और जब वे सब निकट आये तो राजा ने आदर और युक्तिपूर्वक कोमल और सुन्दर वचन मन्त्री से इस भाँति कहा कि हे रामजी के प्यारे! रामजी की क्या दशा है और ऐसी दशा क्योंकर हुई है सो सब क्रम से कहो? मन्त्री बोला हे देव! हम क्या कहें? हम अति चिन्ता से केवल आकार और प्राणसहित दीखते हैं किन्तु मृतक के समान हैं क्योंकि हमारे स्वामी रामजी बड़ी चिन्ता में हैं। हे राजन्! जिस दिन से रघुनाथजी तीर्थ करके आये हैं उस दिन से चिन्ता को प्राप्त हुए हैं। जब हम उत्तम भोजन और पान करने और पहिरने और देखने के पदार्थ ले जाते हैं तो उनको देखकर वे किसी प्रकार प्रसन्न नहीं होते। वे तो ऐसी चिन्ता में लीन हैं कि देखते भी नहीं और जो देखते हैं तो क्रोध करके सुखदायी पदार्थों का निरादर करते हैं। अन्तःपुर में उनकी माता नाना प्रकार के हीरे और मणि के भूषण देती हैं तो उनको भी डाल देते हैं अथवा किसी निर्धन को दे देते हैं; प्रसन्न किसी पदार्थ से नहीं होते। सुन्दर स्त्रियाँ नाना प्रकार के भूषणों सहित महामोह करनेवाली निकट आकर उनकी प्रसन्नता के निमित्त लीला और कटाक्ष करती हैं वे उनको भी विषवत् जानते हैं। जैसे पपीहा और किसी जल को नहीं पीता वैसे ही वे जब अन्तःपुर में जाते हैं तब उन स्त्रियों को देखकर क्रोधवान् होते हैं। हे राजन्! उनको कुछ भला नहीं लगता वे तो किसी बड़ी चिन्ता में मग्न हैं। तृप्त होकर भोजन नहीं करते क्षुधावन्त रहते हैं उन्हें न कुछ पहिरने और खाने पीने की इच्छा है, न राज्य की इच्छा है और न इन्द्रियों के किसी सुख की इच्छा है। वे तो उन्मत्त की नाईं बैठे रहते हैं और जब हम कोई सुखदायी पदार्थ फूलादिक ले जाते हैं तब क्रोध करते हैं। हम नहीं जानते कि क्या चिन्ता उनको हुई है जो एक कोठरी में पद्मासन लगाये हाथ पर मुख धरे बैठे रहते हैं। जो कोई बड़ा मन्त्री आकर पूछता है तो उससे कहते हैं कि "तुम जिसको सम्पदा मानते हो वह आपदा है और जिसको आपदा जानते हो वह आपदा नहीं है। संसार के नाना प्रकार के पदार्थ जो रमणीय जानते हो वे सब झूठे हैं पर इसी में सब डूबे हैं। ये सब मृगतृष्णा के जलवत् हैं; इनको सत्य जान मूर्ख हिरण दौड़ते और दुःख पाते हैं"। हे राजन्! वे कदाचित् बोलते हैं तो ऐसे बोलते हैं और कुछ उनको सुखदायी नहीं भासता। जो हम हँसी की वार्त्ता करते हैं तो वे हँसते भी नहीं। जिस पदार्थ को प्रीतिसंयुक्त लेते थे उस पदार्थ को अब डाल देते हैं और दिन पर दिन दुर्बल होते जाते हैं। जैसे मेघ की बुन्द से पर्वत चलायमान नहीं होते वैसे ही वे भी चलायमान नहीं होते, और जो बोलते हैं तो ऐसे कहते हैं कि न राज्य सत्य है, न भोग सत्य है, न यह जगत् सत्य है, न भ्राता सत्य हैं और न मित्र सत्य हैं। मिथ्या पदार्थों के निमित्त मूर्ख यत्न करते हैं। जिनको सब सत्य और सुखदायक जानते हैं वे बन्धन के कारण हैं। जो कोई राजा अथवा पण्डित इनके पास जाता है तो उनको

देखकर कहते हैं कि ये "पशु हैं–आशारूपी फाँसी से बँधे हुए हैं"। हे राजन्! जो कुछ भोग्य पदार्थ हैं उनको देखकर उनका चित्त प्रसन्न नहीं होता बल्कि देखकर क्रोधवान् होते हैं। जैसे पपीहा मारवाड़ में जावे तो मेघों की बुन्दों को नहीं देखता और खेदवान् होता है वैसे ही रामजी विषयों से खेदवान् होते हैं। इससे हम जानते हैं कि उनको परमपद पाने की इच्छा है परन्तु कदाचित् उनके मुखसे यह नहीं सुना। त्याग का भी अभिमान उन्हें कदाचित् नहीं है क्योंकि कभी गाते हैं और बोलते हैं तो कहते हैं 'हाय! हाय! मैं अनाथ मारा गया! अरे मूर्खो! तुम संसारसमुद्र में क्यों डूबते हो? यह संसार अनर्थ का कारण है। इसमें सुख कदापि नहीं है इससे छूटने का उपाय करो"। वह किसी के साथ बोलते नहीं और न हँसते हैं; किसी अति चिन्ता में डूबे हैं। वह किसी पदार्थ से आश्चर्यवान् भी नहीं होते। जो कोई कहे कि आकाश में बाग लगा है और उसमें फूल फूले हैं। उनको मैं ले आया; तो उसको सुनकर भी आश्चर्यवान् नहीं होते सब भ्रममात्र समझते हैं। उनको न किसी पदार्थ से हर्ष होता है न किसी से शोक होता है; किसी बड़ी चिन्ता में मग्न हैं पर उस चिन्ता के निवारण करने की किसी में सामर्थ्य नहीं देखते। हे राजन्! हमको यह चिन्ता लग रही है कि रामजी को खाने, पहिरने, बोलने और देखने की इच्छा नहीं रही। और न किसी कर्म की उनको इच्छा है ऐसा न हो कि कहीं मृतक हो जावें? जो कोई कहता है कि तुम चक्रवर्ती राजा हो; तुम्हारी बड़ी आयु हो और बड़ा सुख पावो तो उसके वचन सुनकर कठोर बोलते हैं। हे राजन्! केवल रामजी को ही ऐसी चिन्ता नहीं बरन लक्ष्मण और शत्रुघ्न को भी ऐसी ही चिन्ता लग रही है। जो कोई उनकी चिन्ता दूर करनेवाला हो तो करे, नहीं तो बड़ी चिन्ता में डूबे रहेंगे। हे राजन्! अब क्या कहते हो? तुम्हारे पुत्र सबसे विरक्त हो एक वस्त्र ओढ़े बैठे हैं। इससे अब तुम वही उपाय करो जिससे उनकी चिन्ता निवृत्त हो। इतना सुन विश्वामित्रजी बोले हे साधो! यदि रामजी ऐसे हैं तो हमारे पास लावो, हम उनका दुःख निवृत्त करेंगे। हे राजन्, दशरथ! तुम धन्य हो; जिनका पुत्र विवेक और वैराग्य को प्राप्त

हुआ है। हम तुम्हारे पुत्र को परम पद प्राप्त करावेंगे और अभी उनके सब दुःख मिट जावेंगे। हम और वशिष्ठादि एक युक्ति से उपदेश करेंगे उससे उनको आत्मपद की प्राप्ति होगी। तब वह दशा तुम्हारे पुत्र की होगी कि वह लोष्ट, पत्थर और सुवर्ण को समान जानेंगे। जो क्षत्रियों का प्राकृतिक आचार है सो वह करेंगे और हृदय से उदासीन रहेंगे इससे तुम्हारा कुल कृतार्थ होगा। तुम रामजी को शीघ्र बुलावो! इतना कहकर वाल्मीकिजी बोले हे भारद्वाज! ऐसे मुनीन्द्र के वचन सुनकर राजा दशरथ ने मन्त्री और नौकरों से कहा कि राम, लक्ष्मण और शत्रुघ्न को साथ ले आवो! जब मन्त्री और भृत्यों ने रामजी के पास जाकर कहा तो रामजी आये और राजा दशरथ, वशिष्ठजी और विश्वामित्र को देखा कि तीनों पर चमर हो रहे हैं और बड़े बड़े मण्डलेश्वर बैठे हैं। सबने रामजी को देखा कि उनका शरीर कृश हो रहा है। जैसे महादेवजी स्वामिकार्त्तिक को आते देखें वैसे ही राजा दशरथ ने रामजी को आते देखा। रामजी ने वहाँ आकर राजा दशरथजी के चरण पर मस्तक लगा प्रणाम किया और वैसे ही वशिष्ठजी, विश्वामित्र और सभा में जो बड़े बड़े ब्राह्मण बैठे थे उनको भी प्रणाम किया। जो बड़े बड़े मण्डलेश्वर बैठे थे उन्होंने उठकर रामजी को प्रणाम किया। राजा दशरथ ने रामजी को गोद में बैठाकर मस्तक चूमा और बहुत प्रेम से पुलकित हो रामजी से कहा हे पुत्र! केवल विरक्तता से परमपद की प्राप्ति नहीं होती। गुरु वशिष्ठजी के उपदेश की युक्ति से परम पद की प्राप्ति होगी। वशिष्ठजी बोले हे रामजी! तुम धन्य हो और बड़े शूर हो कि विषयरूपी शत्रु तुमने जीते हैं। विश्वामित्रजी बोले हे कमलनयन राम! अपने अन्तःकरण की चपलता को त्यागकर जो कुछ तुम्हारा आशय हो प्रकट कर कहो कि तुमको मोह कैसे हुआ, किस कारण हुआ और कितना है? एवं अब जो कुछ तुमको वाञ्छित हो सो भी कहो। हम तुमको उसी पद में प्राप्त करेंगे जिसमें कदाचित् दुःख न हो। जैसे आकाश को चूहा नहीं काट सकता वैसे ही तुमको कदाचित् पीड़ा न होगी। हे रामजी! हम तुम्हारे सम्पूर्ण दुःख नाश कर देंगे। तुम संशय मत करो जो कुछ तुम्हारा वृत्तान्त

हो सो हमसे कहो। इतना कहकर वाल्मीकिजी बोले हे भारद्वाज ! जैसे मेघ को देखकर मोर प्रसन्न होता है वैसे ही विश्वामित्र के वचन सुनकर रामजी प्रसन्न हुए और अपने हृदय में निश्चय किया कि अब मुझको अभीष्ट पद की प्राप्ति होगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठेवैराग्यप्रकरणे रामसमाजवर्णनोनाम षष्ठस्सर्गः॥६॥

श्रीरामजी बोले, हे भगवन् ! जो वृत्तान्त है सो तुम्हारे सम्मुख क्रम से कहता हूँ। मैं राजा दशरथ के घर में उत्पन्न होकर क्रम से बड़ा हुआ और चारों वेद पढ़कर ब्रह्मचर्यादि व्रत धारण किये; तदनन्तर घर में आया तो मेरे हृदय में विचार हुआ कि तीर्थाटन करूँ और देवद्वारों में जाकर देवों के दर्शन करूँ। निदान मैं पिता की आज्ञा लेकर तीर्थों में गया और गङ्गा आदि सम्पूर्ण तीर्थों में स्नान और शालग्राम और केदार आदि ठाकुरों के विधिसंयुक्त दर्शन करके यहाँ आया। फिर उत्साह हुआ तब यह विचार आया कि प्रातःकाल उठकर स्नान सन्ध्यादिक कर्म करके भोजन करता। जब इस प्रकार से कुछ दिन व्यतीत हुए तब मेरे हृदय में एक विचार उत्पन्न हुआ जो मेरे हृदय को खैंच ले गया। जैसे नदी के तट पर तृण बेल होती है उसको नदी का प्रवाह खींच ले जाता है वैसे ही मेरे हृदय में जो कुछ जगत् की आस्थारूपी बेल थी उसको विचाररूपी प्रवाह खींच ले गया। तब मैंने जाना कि राज्य करने से क्या है, भोग से क्या है और जगत् क्या है—सब भ्रममात्र हैं—इसकी वासना मूर्ख रखते हैं; यह स्थावर, जङ्गम जगत् सब मिथ्या है। हे मुनीश्वर ! जितने कुछ पदार्थ हैं वह सब मन से उत्पन्न होते हैं। सो मन ही भ्रममात्र है अनहोता मन दुःखदायी हुआ है। मन जो पदार्थों को सत्य जानकर दौड़ता है और सुखदायक जानता है सो मृगतृष्णा के जलवत् है। जैसे मृगतृष्णा के जल को देखकर मृग दौड़ते हैं और दौड़ते-दौड़ते थककर गिर पड़ते हैं तो भी उनको जल प्राप्त नहीं होता वैसे ही मूर्ख जीव पदार्थों को सुखदायी जानकर भोगने का यत्न करते हैं और शान्ति नहीं पाते। हे मुनीश्वर ! इन्द्रियों के भोग सर्पवत् हैं जिनका मारा हुआ जन्म मरण और जन्म से जन्मान्तर पाता है। भोग और जगत् सब भ्रममात्र

हैं उनमें जो आस्था करते हैं वह महामूर्ख हैं मैं विचार करके ऐसा जानता हूं कि सब आगमापायी हैं अर्थात् आते भी हैं और जाते भी हैं। इससे जिस पदार्थ का नाश न हो वही पदार्थ पाने योग्य है इसी कारण मैंने भोगों को त्याग दिया है। हे मुनीश्वर ! जितने सम्पदारूप पदार्थ भासते हैं वह सब आपदा हैं; इनमें रञ्चक भी सुख नहीं। जब इनका वियोग होता है तब कण्टक की नाईं मन में चुभते हैं। जब इन्द्रियों को भोग प्राप्त होते हैं तब जीव राग द्वेष से जलता है और जब नहीं प्राप्त होते तब तृष्णा से जलता है—इससे भोग दुःखरूप ही है। जैसे पत्थर की शिला में छिद्र नहीं होता वैसे ही भोगरूपी दुःख की शिला में सुखरूपी छिद्र नहीं होता। हे मुनीश्वर ! मैं विषय की तृष्णा में बहुत काल से जलता रहा हूं। जैसे हरे वृक्ष के छिद्र में अग्नि धरी हो तो धुवां हो थोड़ा थोड़ा जलता रहता है वैसे ही भोगरूपी अग्नि से मन जलता रहता है। विषयों में कुछ भी सुख नहीं है, दुःख बहुत हैं, इससे इनकी इच्छा करनी मूर्खता है। जैसे खाई के ऊपर तृण और पात होते हैं और उससे खाई आच्छादित हो जाती है उसको देख हरिण कूदकर दुःख पाता है वैसे ही मूर्ख भोग को सुखरूप जानकर भोगने की इच्छा करता है और जब भोगता है तब जन्म से जन्मान्तररूपी खाई में जा पड़ता है और दुःख पाता है। हे मुनीश्वर ! भोगरूपी चोर अज्ञानरूपी रात्रि में आत्मारूपी धन लूट ले जाता है, पर उसके वियोग से जीव महादीन रहता है। जिस भोग के निमित्त यह यत्न करता है वह दुःखरूप है। उससे शान्ति प्राप्त नहीं होती और जिस शरीर का अभिमान करके यह यत्न करता है वह शरीर क्षणभंगुर और असार है। जिस पुरुष को सदा भोग की इच्छा रहती है वह मूर्ख और जड़ है। उसका बोलना और चलना भी ऐसा है जैसे सूखे बांस के छिद्र में पवन जाता है और उसके वेग से शब्द होता है। जैसे थका हुआ मनुष्य मारवाड़ के मार्ग की इच्छा नहीं करता वैसे ही दुःख जानकर मैं भोग की इच्छा नहीं करता। लक्ष्मी भी परम अनर्थकारी है जब तक इसकी प्राप्ति नहीं होती तब तक उसके पाने का यत्न होता है और यह अनर्थ करके प्राप्त होती है जब लक्ष्मी प्राप्त हुई तब सब

सद्गुण अर्थात् शीलता, सन्तोष, धर्म, उदारता, कोमलता, वैराग्य, विचार, दयादिक का नाश कर देती है। जब ऐसे गुणों का नाश हुआ तब सुख कहाँ से हो, तब तो परम आपदा ही प्राप्त होती है। इसको परमदुःख का कारण जानकर मैंने त्याग दिया है। हे मुनीश्वर! इस जीव में गुण तब तक हैं जब तक लक्ष्मी नहीं प्राप्त हुई। जब लक्ष्मी की प्राप्ति हुई तब सब गुण नष्ट हो जाते हैं। जैसे वसन्त ऋतु की मञ्जरी तब तक हरी रहती है जब तक ज्येष्ठ आषाढ़ नहीं आता और जब ज्येष्ठ आषाढ़ आया तब मञ्जरी जल जाती है वैसे ही जब लक्ष्मी की प्राप्ति हुई तब शुभ गुण जल जाते हैं। मधुर वचन तभी तक बोलता है जब तक लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं है और जब लक्ष्मी की प्राप्ति हुई तब कोमलता का अभाव होकर कठोर हो जाता है। जैसे जल पतला तब तक रहता है जब तक शीतलता का संयोग नहीं हुआ और जब शीतलता का संयोग होता है तब बरफ़ होकर कठोर दुःखदायक हो जाता है; वैसे यह जीव लक्ष्मी से जड़ हो जाता है। हे मुनीश्वर! जो कुछ संपदा है वह आपदा का मूल है, क्योंकि जब लक्ष्मी की प्राप्ति होती है तब बड़े-बड़े सुख भोगता है और जब उसका अभाव होता है तब तृष्णा से जलता है और जन्म से जन्मान्तर पाता है। लक्ष्मी की इच्छा करना ही मूर्खता है। यह तो क्षणभंगुर है, इससे भोग उपजते और नष्ट होते हैं। जैसे जल से तरंग उपजते और मिट जाते हैं और जैसे बिजली स्थिर नहीं होती वैसे ही भोग भी स्थिर नहीं रहते। पुरुष में शुभ गुण तब तक हैं जब तक तृष्णा का स्पर्श नहीं और जब तृष्णा हुई तब शुभ गुणों का अभाव हो जाता है। जैसे दूध में मधुरता तब तक है जब तक उसे सर्प ने स्पर्श नहीं किया और जब सर्प ने स्पर्श किया तब वही दूध विषरूप हो जाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे रामेण वैराग्यवर्णनन्नाम सप्तमस्सर्गः॥७॥

श्रीरामजी बोले, हे मुनीश्वर! लक्ष्मी देखने मात्र ही सुन्दर है। जब इसकी प्राप्ति होती है तब सद्गुणों का नाश कर देती है। जैसे विष की बेल देखने मात्र ही सुन्दर होती है और स्पर्श करने से मार डालती है वैसे ही लक्ष्मी की प्राप्ति होने से जीव आत्मपद से वंचित हो महादीन

हो जाता है। जैसे किसी के घर में चिन्तामणि दबी हो तो उसको जब तक खोदकर वह नहीं लेता तब तक दरिद्री रहता है वैसे ही (अज्ञान से) ज्ञान विना महादीन हो रहता है और आत्मानन्द को नहीं पा सकता। आत्मानन्द में विघ्न करनेवाली लक्ष्मी है। इसकी प्राप्ति से जीव अन्धा हो जाता है। हे मुनीश्वर! जब दीपक प्रज्वलित होता है तब उसका बड़ा प्रकाश दृष्टि आता है और जब बुझ जाता है तब प्रकाश का अभाव हो जाता है पर काजल रह जाता है; वैसे ही जब लक्ष्मी की प्राप्ति होती है तब बड़े भोग भुगाती है और तृष्णारूपी काजल उससे उपजता रहता है और जब लक्ष्मी का अभाव होता है तब तृष्णा रूप वासना छोड़ जाती है। उस वासना (तृष्णा) से अनेक जन्म और मरण पाता है, कभी शान्ति नहीं पाता। हे मुनीश्वर! जब लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, तब शान्ति के उपजानेवाले गुणों का नाश करती है। जैसे जब तक पवन नहीं चलता तब तक मेघ रहता है और जब पवन चलता है तो मेघ का अभाव हो जाता है वैसे ही लक्ष्मीजी की प्राप्ति होने से गुणों का अभाव होता है और गर्व की उत्पत्ति होती है। हे मुनीश्वर! जो शूर होकर अपने मुख से अपनी बड़ाई न करे सो दुर्लभ है और सामर्थ्यवान् हो किसी की अवज्ञा न करे सब में समबुद्धि राखे सो भी दुर्लभ है वैसे ही लक्ष्मीवान् होकर शुभ गुण संयुक्त हो सो भी दुर्लभ है। हे मुनीश्वर! तृष्णारूपी सर्प के विष के बढ़ाने को लक्ष्मीरूपी दूध है उसे पीते, पवनरूपी भोग के आहार करते कभी नहीं अघाता। महामोहरूपी उन्मत्त हस्ती है उसके फिरने का स्थान पर्वत की अटवीरूपी लक्ष्मी है और सद्गुणरूप सूर्यमुखी कमल की लक्ष्मी रात्रि है और भोगरूपी चन्द्रमुखी कमलों की लक्ष्मी चन्द्रमा है और वैराग्यरूप कमलिनी का नाश करनेवाली लक्ष्मी बरफ़ है। और ज्ञानरूपी चन्द्रमा का आच्छादन करनेवाली लक्ष्मी राहु है और मोहरूप उलूक की लक्ष्मी मानो रात्रि है। दुःखरूप बिजली को लक्ष्मी आकाश है और तृणरूपी बेलि को बढ़ानेवाली लक्ष्मी मेघ है। तृष्णारूप तरङ्ग को लक्ष्मी समुद्र है, तृष्णारूप भँवर को लक्ष्मी कमलिनी है और जन्म के दुःखरूपी जल का यह लक्ष्मी

गड्ढा है। हे मुनीश्वर! देखने में यह सुन्दर लगती है। यह दुःख का कारण है। जैसे खड्ग की धार देखने में सुन्दर होती है और स्पर्श करने से नाश करती है वैसे ही यह लक्ष्मी विचाररूपी मेघ का नाश करने को वायु है। हे मुनीश्वर! यह मैंने विचार करके देखा है कि इसमें कुछ भी सुख नहीं। सन्तोषरूपी मेघ का नाश करनेवाली लक्ष्मी शरत्काल है। मनुष्य में गुण तब तक दृष्टि आते हैं जब तक लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं होती जब लक्ष्मी की प्राप्ति होती है तब शुभ गुण नष्ट हो जाते हैं। हे मुनीश्वर! लक्ष्मी को ऐसी दुःखदायक जानकर इसकी इच्छा मैंने त्याग दी है। यह भोग मिथ्या हैं जैसे बिजली प्रकट होकर छिप जाती है वैसे ही लक्ष्मी भी प्रकट होकर छिप जाती है। जैसे ही जल शीतलता से हिम होता है वैसे ही लक्ष्मी मनुष्य को जड़ सा बना देती है। इसको छलरूप जान कर मैंने त्याग दिया है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे लक्ष्मीनैराश्य-
वर्णनन्नामाष्टमस्सर्गः ॥ ८ ॥

रामजी बोले, हे मुनीश्वर! जैसे कमल पत्र के ऊपर जल की बूंदें नहीं ठहरतीं वैसे ही लक्ष्मी भी क्षणभंगुर है। जैसे जल से तरङ्ग होकर नष्ट होती हैं वैसे ही लक्ष्मी वृद्धि होकर नष्ट हो जाती है। हे मुनीश्वर! पवन को रोकना कठिन है पर उसे भी कोई रोकता है और आकाश का चूर्ण करना अति कठिन है उसे भी कोई चूर्ण कर डालता है और बिजली का रोकना अति कठिन है सो उसे भी कोई रोकता है, परन्तु लक्ष्मी को कोई स्थिर नहीं रख सकता। जैसे शश की सींगों से कोई मार नहीं सकता और आरसी के ऊपर जैसे मोती नहीं ठहरता, जैसे तरङ्ग की गाँठ नहीं पड़ती वैसे ही लक्ष्मी भी स्थिर नहीं रहती। लक्ष्मी बिजली की चमक सी है सो होती है और मिट भी जाती है। जो लक्ष्मी पाकर अमर होना चाहे उसे अति मूर्ख जानना और लक्ष्मी पाकर जो भोग की वाञ्छा करता है वह महा आपदा का पात्र है। उसका जीने से मरना श्रेष्ठ है। जीने की आशा मूर्ख करते हैं। जैसे स्त्री गर्भ की इच्छा अपने दुःख के निमित्त करती है वैसे ही जीने की आशा पुरुष

अपने नाश के निमित्त करते हैं। ज्ञानवान् पुरुष जिनकी परमपद में स्थिति है और उससे तृप्त हुए हैं। उनका जीना सुख के निमित्त है। उनके जीने से और के कार्य भी सिद्ध होते हैं। उनका जीना चिन्तामणि की नाईं श्रेष्ठ है। जिनको सदा भोग की इच्छा रहती है और आत्मपद से विमुख हैं उनका जीना किसी के सुख के निमित्त नहीं है वह मनुष्य नहीं गर्दभ है। जैसे वृक्ष पक्षी पशु का जीना है वैसे उनका भी जीना है। हे मुनीश्वर! जो पुरुष शास्त्र पढ़ता है और उसने पाने योग्य पद नहीं पाया तो शास्त्र उसको भाररूप है। जैसे और भार होता है वैसे ही पढ़ने का भी भार है और जो पढ़कर विवाद करते हैं और उसके सार को नहीं ग्रहण करते वह भी भार है। हे मुनीश्वर! यह मन आकाशरूप है। जो मन में शान्ति न आई तो मन भी उसको भार है और जो मनुष्य शरीर को पाकर उसका अभिमान नहीं त्यागता तो यह शरीर पाना भी उसका निष्फल है। इसका जीना तभी श्रेष्ठ है जब आत्मपद को पावे अन्यथा जीना व्यर्थ है। आत्मपद की प्राप्ति अभ्यास से होती है। जैसे जल पृथ्वी खोदने से निकलता है वैसे ही आत्मपद की प्राप्ति भी अभ्यास से होती है। जो आत्मपद से विमुख होकर आशा की फाँसी में फँसे हैं वे संसार में भटकते रहते हैं। हे मुनीश्वर! जैसे सागर में तरङ्ग अनेक उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं वैसे ही यह लक्ष्मी भी क्षणभंगुर है। इसको पाकर जो अभिमान करता है सो मूर्ख है। जैसे बिल्ली चूहे को पकड़ने के लिये पड़ी रहती है वैसे ही लक्ष्मी उनको नरक में डालने के लिये घर में पड़ी रहती है। जैसे अञ्जली में जल नहीं ठहरता वैसे ही लक्ष्मी भी नहीं ठहरती। ऐसी क्षणभंगुर लक्ष्मी और शरीर को पाकर जो भोग की तृष्णा करता है वह महामूर्ख है। वह मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ जीने की आशा करता है। जैसे सर्प के मुख में मूर्ख मेढक पड़कर मच्छर खाने की इच्छा करता है वैसे ही जो जीव मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ भोग की वाञ्छा करता है वह महामूर्ख है। जब युवा अवस्था नदी के प्रवाह की नाईं चली जाती है तब वृद्धावस्था आती है। उसमें महादुःख प्रकट होते हैं और

शरीर जर्जर हो जाता है और मरता है। निदान एक क्षण भी मृत्यु इसको नहीं बिसारती। जैसे कामी पुरुष को सुन्दर स्त्री मिलती है तो उसके देखने का त्याग नहीं करता वैसे ही मृत्यु मनुष्य को देखे विना नहीं रहती। हे मुनीश्वर! मूर्ख पुरुष का जीना दुःख के निमित्त है। जैसे वृद्ध मनुष्य का जीना दुःख का कारण है वैसे ही अज्ञानी का जीना दुःख का कारण है। उसके बहुत जीने से मरना श्रेष्ठ है। जिस पुरुष ने मनुष्यशरीर पाकर आत्मपद पाने का यत्न नहीं किया उसने अपना आप नाश किया और वह आत्महत्यारा है। हे मुनीश्वर! यह माया बहुत सुन्दर भासती है पर अन्त में नष्ट हो जाती है। जैसे काष्ठ को भीतर से घुन खा जाता है और बाहर से बहुत सुन्दर दीखता है वैसे ही यह जीव बाहर से सुन्दर दृष्टि आता है और भीतर से उसको तृष्णा खा जाती है। जो मनुष्य पदार्थ को सत्य और सुखरूप जानकर सुख के निमित्त आश्रय करता है वह सुखी नहीं होता है। जैसे कोई नदी में सर्प को पकड़ के पार उतरा चाहे तो पार नहीं उतर सकता, मूर्खता से डूबेहीगा, वैसे ही जो संसार के पदार्थों को सुखरूप जानकर आश्रय करता है सो सुख नहीं पाता, संसारसमुद्र में डूब जाता है। हे मुनीश्वर! यह संसार इन्द्रधनुष की नाईं है। जैसे इन्द्रधनुष बहुत रङ्ग का दृष्टि आता है पर उससे कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता वैसे ही यह संसार भ्रममात्र है, इसमें सुख की इच्छा रखनी व्यर्थ है। इस प्रकार जगत् को मैंने असत्‌रूप जानकर निर्वासनिक होने की इच्छा की है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे संसारसुखनिषेध-
वर्णनन्नामनवमस्सर्गः ॥ ९ ॥

श्रीरामजी बोले, हे मुनीश्वर! अहङ्कार अज्ञान से उदय हुआ है। यह महादुष्ट है और यही परम शत्रु है। इसने मुझको दबा डाला है पर मिथ्या है और सब दुःखों की खानि है। जब तक अहङ्कार है तब तक पीड़ा की उत्पत्ति का अभाव कदाचित् नहीं होता। हे मुनीश्वर! जो कुछ मैंने अहङ्कार से भजन और पुण्य किया, जो कुछ लिया दिया और जो कुछ किया वह सब व्यर्थ है। इससे परमार्थ की कुछ सिद्धि नहीं है।

जैसे राख में आहुति धरी व्यर्थ हो जाती है वैसे ही मैं इसे जानता हूँ। जितने दुःख हैं उनका बीज अहङ्कार है। जब इसका नाश हो तब कल्याण हो। इससे आप इसकी निवृत्ति का उपाय कहिए। हे मुनीश्वर! जो वस्तु सत्य है उसके त्याग करने में दुःख होता है और जो वस्तु नाशवान् है और भ्रम से दीखती है उसके त्याग करने में आनन्द है। शान्तिरूप चन्द्रमा के आच्छादन करने को अहङ्काररूपी राहु है। जब राहु चन्द्रमा को ग्रहण करता है तब उसकी शीतलता और प्रकाश ढक जाता है वैसे ही जब अहङ्कार बढ़ जाता है तब समता ढक जाती है। जब अहङ्काररूपी मेघ गरज के वर्षता है तब तृष्णारूपी कण्टकमञ्जरी बढ़ जाती है और कभी नहीं घटती। जब अहङ्कार का नाश हो तब तृष्णा का अभाव हो। जैसे जब तक मेघ है तब तक बिजली है; जब विवेकरूपी पवन चले तब अहङ्काररूपी मेघ का अभाव होकर तृष्णारूपी बिजली नष्ट हो जाती है और जैसे जब तक तेल और बाती है तब तक दीपक का प्रकाश है जब तेल बाती का नाश होता है तब दीपक का प्रकाश भी नष्ट हो जाता है वैसे ही जब अहङ्कार का नाश हो तब तृष्णा का भी नाश होता है। हे मुनीश्वर! परम दुःख का कारण अहङ्कार है। जब अहङ्कार का नाश हो तब दुःख का भी नाश हो जाय। हे मुनीश्वर! यह जो मैं राम हूँ सो नहीं और इच्छा भी कुछ नहीं, क्योंकि मैं नहीं तो इच्छा किसको हो? और इच्छा हो तो यही हो कि अहङ्कार से रहित पद की प्राप्ति हो। जैसे जनेन्द्र को अहङ्कार का उत्थान नहीं हुआ वैसा मैं होऊँ ऐसी मुझको इच्छा है। हे मुनीश्वर! जैसे कमल को बरफ़ नष्ट करता है वैसे ही अहङ्कार ज्ञान का नाश करता है। जैसे व्याध जाल से पक्षी को फँसाता है और उससे पक्षी दीन हो जाते हैं वैसे ही अहङ्काररूपी व्याध ने तृष्णारूपी जाल डालकर जीवों को फँसाया है उससे वह महादीन हो गये हैं। जैसे पक्षी अन्न के दाने सुखरूप जानकर चुगने आता है फिर चुगते चुगते जाल में फँस बन्धन से दीन हो जाता है वैसे ही यह जीव विषयभोग की इच्छा करने से तृष्णारूपी जाल में फँसकर महादीन हो जाता है। इससे हे मुनीश्वर! मुझसे

वही उपाय कहिये जिससे अहङ्कार का नाश हो। जब अहङ्कार का नाश होगा तब मैं परमसुखी हूँगा। जैसे विन्ध्याचल पर्वत के आश्रय से उन्मत्त हस्ती गर्जते हैं वैसे ही अहङ्काररूपी विन्ध्याचल पर्वत के आश्रय से मनरूपी उन्मत्त हस्ती नाना प्रकार के सङ्कल्प विकल्परूपी शब्द करता है। इससे आप वही उपाय कहिये जिससे अहङ्कार का नाश हो जो अकल्याण का मूल है। जैसे मेघ का नाश करनेवाला शरत्काल है वैसे ही वैराग्य का नाश करनेवाला अहङ्कार है। मोहादिक विकाररूप सर्पों के रहने का अहङ्काररूपी बिल है और वह कामी पुरुषों की नाईं है। जैसे कामी पुरुष काम को भोगता है और फूल की माला गले में डाल के प्रसन्न होता है वैसे ही तृष्णारूपी तागा है और मनरूपी फूल हैं सो तृष्णारूपी तागे के साथ गुहे हैं सो अहङ्काररूपी कामी पुरुष उनको गले में डालता है और प्रसन्न होता है। हे मुनीश्वर! आत्मारूपी सूर्य है उसका आवरण करनेवाला मेघरूपी अहङ्कार है। जब ज्ञानरूपी शरत्काल आता है तब अहङ्काररूपी मेघ का नाश हो जाता है और तृष्णारूपी तुषार का भी नाश होता है। हे मुनीश्वर! यह निश्चय कर मैंने देखा है कि जहाँ अहङ्कार है वहाँ सब आपदाएँ आकर प्राप्त होती हैं। जैसे समुद्र में सब नदी आकर प्राप्त होती हैं वैसे ही अहङ्कार से सब आपदाओं की प्राप्ति होती है। इससे आप वही उपाय कहिये जिससे अहङ्कार का नाश हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे अहङ्कारदुराशावर्णनन्नाम
दशमस्सर्गः ॥ १० ॥

श्रीरामजी बोले कि हे मुनीश्वर! मेरा चित्त काम, क्रोध, लोभ, मोह, तृष्णादिक दुःख से जर्जरीभूत हो गया है और महापुरुषों के गुण जो वैराग्य, विचार, धैर्य और सन्तोष हैं उनकी ओर नहीं जाता,—सर्वदा विषय की गरद में उड़ता है। जैसे मोर का पंख पवन में नहीं ठहरता वैसे ही यह चित्त सर्वदा भटकता फिरता है पर कुछ लाभ नहीं होता। जैसे श्वान द्वार द्वार पर भटकता फिरता है वैसे ही यह चित्त पदार्थों के पाने के निमित्त भटकता फिरता है पर प्राप्त कुछ नहीं होता और जो कुछ प्राप्त होता है उससे तृप्त नहीं होता बल्कि अन्तःकरण में तृष्णा बनी

रहती है। जैसे पिटारे में जल भरिये तो वह पूर्ण नहीं होता, क्योंकि छिद्रों से जल निकल जाता है और पिटारा शून्य का शून्य रहता है वैसे ही चित्त भोग और पदार्थों से संतुष्ट नहीं होता सदा तृष्णा ही रहती है। हे मुनीश्वर! यह चित्तरूपी महामोह का समुद्र है; उसमें तृष्णारूपी तरङ्ग उठती ही रहती हैं, कभी स्थिर नहीं होतीं। जैसे समुद्र में तीक्ष्ण तरङ्गों से तट के वृक्ष बह जाते हैं वैसे ही चित्तरूपी समुद्र में विषयी बह जाते हैं। वासनारूपी तरङ्ग के वेग से मेरा अचल स्वभाव चलायमान होगया है; इसलिये इस चित्त से मैं महा दीन हुआ हूँ। जैसे जाल में पड़ा हुआ पक्षी दीन हो जाता है वैसे ही चित्तरूप धीवर के वासनारूपी जाल में बँधा हुआ मैं दीन हो गया हूँ। जैसे मृग के समूह से भूली मृगी अकेली खेदवान् होती है वैसे ही मैं आत्मपद से भूला हुआ खेदवान् हुआ हूँ। हे मुनीश्वर! यह चित्त सदा क्षोभवान् रहता है, कभी स्थिर नहीं होता। जैसे क्षीरसमुद्र मन्दराचल से क्षोभवान् हुआ था वैसे ही यह चित्त सङ्कल्प विकल्प से खेद पाता है। जैसे पिंजरे में आया सिंह पिंजरे ही में फिरता है वैसे ही वासना में आया चित्त स्थिर नहीं होता। हे मुनीश्वर! जैसे भारी पवन से सूखा तृण दूर से दूर जा पड़ता है वैसे ही इस चित्तरूपी पवन ने मुझको आत्मानन्द से दूर फेंका है। जैसे सूखे तृण को अग्नि जलाती है वैसे ही मुझको चित्त जलाता है। जैसे अग्नि से धूम निकलता है वैसे ही चित्तरूपी अग्नि से तृष्णारूपी धूम निकलता है उससे मैं परम दुःख पाता हूँ। यह चित्त हंस नहीं बनता। जैसे राजहंस मिले हुए दूध और जल को भिन्न भिन्न करता है उसकी नाईं मैं अनात्मा से अज्ञान के कारण एक होगया हूँ, उसको भिन्न नहीं कर सकता और जब आत्मपद पाने का यत्न करता हूँ तब अज्ञान उसे प्राप्त नहीं करने देता। जैसे नदी का प्रवाह समुद्र में जाता है उसको पहाड़ सूधे नहीं चलने देता और समुद्र की ओर नहीं जाने देता वैसे ही मुझको चित्त आत्मा की ओर से रोकता है। वह परम शत्रु है। हे मुनीश्वर! वही उपाय कहिये जिससे चित्तरूपी शत्रु का नाश हो। जैसे मृतक शरीर को श्वान खाते हैं वैसे

ही तृष्णा मुझे खा रही है। आत्मा के ज्ञान बिना मैं मृतक समान हूँ। जैसे बालक अपनी परछाहीं को वैताल मानकर भय पाता है और जब विचार करने में समर्थ होता है तब वैताल का भय नहीं होता वैसे ही चित्तरूपी वैताल ने मेरा स्पर्श किया है उससे मैं भय पाता हूँ। इससे आप वही उपाय कहिये जिससे चित्तरूपी वैताल नष्ट हो जावे। हे मुनीश्वर! अज्ञान से मिथ्या वैताल चित्त में दृढ़ हो रहा है उसके नाश करने को मैं समर्थ नहीं हो सकता। अग्नि में बैठना, बड़े पर्वत के ऊपर जाना और वज्र का चूर्ण करना मैं सुगम मानता हूँ परन्तु चित्त का जीतना महाकठिन है। चित्त सदा ही चलायमान स्वभाववाला है। जैसे थम्भ से बाँधा हुआ वानर कभी स्थिर हो नहीं बैठता वैसे ही चित्त वासना के मारे कभी स्थिर नहीं होता। हे मुनीश्वर! बड़े समुद्र का पान कर जाना, अग्नि का भक्षण करना और सुमेरु का उल्लङ्घन करना सुगम है परन्तु चित्त का जीतना महाकठिन है जो सदा चलरूप है। जैसे समुद्र अपना द्रवी स्वभाव कदाचित् नहीं त्यागता, महाद्रवीभूत रहता है और उससे नाना प्रकार के तरङ्ग उठते हैं वैसे ही चित्त भी चञ्चल स्वभाव को कभी नहीं त्यागता और नाना प्रकार की वासना उपजती रहती हैं। चित्त बालक की नाईं चञ्चल है, सदा विषय की ओर धावता है; कहीं कहीं पदार्थ की प्राप्ति होती है परन्तु भीतर सदा चञ्चल रहता है। जैसे सूर्य के उदय होने से दिन होता है और अस्त होने से दिन का नाश होता है, वैसे ही चित्त के उदय होने से त्रिलोकी की उत्पत्ति है और चित्त के लीन होने से जगत् भी लीन हो जाता है। हे मुनीश्वर! चित्तरूपी समुद्र है, वासनारूपी जल है, उसमें छलरूपी सर्प है, जब जीव उसके निकट जाता है तब भोगरूपी सर्प उसको काटता है और तृष्णारूपी विष स्पर्श करता है उससे मरता है। हे मुनीश्वर! भोग को सुखरूप जानकर चित्त दौड़ता है पर वह भोग दुःख का कारण है। जैसे तृण से आच्छादित खाईं को देखकर मूर्ख मृग खाने दौड़ता है तो खाईं में गिरकर दुःख पाता है वैसे ही चित्तरूपी मृग भोग को सुखरूप जानकर भोगने लगता है तब तृष्णारूपी खाईं में गिर पड़ता है और जन्म जन्मान्तर में दुःख भोगता रहता

है। हे मुनीश्वर! यह चित्त कभी कभी बड़ा गम्भीर भी हो बैठता है। जैसे चील पक्षी आकाश में ऊँचे फिरता है पर जब पृथ्वी पर मांस देखता है तो वहाँ से पृथ्वी पर आकर मांस लेता है वैसे ही यह चित्त तब तक उदार है जब तक भोग नहीं देखता और जब विषय देखता है तब आसक्त हो विषय में गिर जाता है। यह चित्त वासनारूपी शय्या में सोया रहता है और आत्मपद की ओर नहीं जागता। मैं इस चित्त के जाल में पड़ गया हूँ। वह कैसा जाल है कि उसमें वासनारूपी सूत है, संसार की सत्यतारूपी गाँठ है और भोगरूपी चून है जिसको देखकर मैं फँसा हूँ और कभी पाताल में और कभी आकाश में वासनारूपी रस्सी से बँधा घटीयन्त्र की नाईं फिरता हूँ। इससे हे मुनीश्वर! तुम वही उपाय कहो जिससे चित्तरूपी शत्रु को जीतूँ। अब मुझको किसी भोग की इच्छा नहीं और जगत् की लक्ष्मी मुझको विरस भासती है। जैसे चन्द्रमा बादल की इच्छा नहीं करता पर चतुरमास में आच्छादित हो जाता है वैसे ही मैं भोग की इच्छा नहीं करता और जगत् की लक्ष्मी भी नहीं चाहता पर मेरा चित्त ही मेरा परमशत्रु है। महापुरुष जब इसके जीतने का यत्न करते हैं तब परमपद पाते हैं, इससे मुझे वही उपाय कहो जिससे मनको जीतूँ। जैसे पर्वत पर के वन पर्वत के आश्रय से रहते हैं वैसे ही सब दुःख इसके आश्रय से रहते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे चित्तदौरात्म्यवर्णनन्नामैकादशस्सर्गः ॥ ११ ॥

श्रीरामजी बोले कि हे ब्राह्मण! चेतनरूपी आकाश में तृष्णारूपी रात्रि आई है और उसमें काम, क्रोध, लोभ, मोहादिक उल्लू विचरते हैं। जब ज्ञानरूपी सूर्य उदय हो तब तृष्णारूपी रात्रि का अभाव हो जावे और जब रात्रि नष्ट हो तब मोहादिक उलूक भी नष्ट हों। जैसे जब सूर्य उदय होता है तब बरफ उष्ण हो पिघल जाता है वैसे ही सन्तोषरूपी रस को तृष्णारूपी उष्णता पिघला देती है। आत्मपद से शून्य चित्त भयानक वन है, उसमें तृष्णारूपी पिशाचिनी मोहादिक परिवार को अपने साथ लिये फिरती रहती है और प्रसन्न होती है। हे मुनीश्वर! चित्तरूपी पर्वत है उस-

के आश्रय तृष्णारूपी नदी का प्रवाह चलता है और नाना प्रकार के सङ्कल्परूपी तरङ्ग को फैलाता है। जैसे मेघ को देखकर मोर प्रसन्न होता है वैसे ही तृष्णारूपी मोर भोगरूपी मेघ को देखकर प्रसन्न होता है इससे सब दुःखों का मूल तृष्णा है। जब मैं किसी सन्तोषादि गुण का आश्रय करता हूँ तब तृष्णा उसको नष्ट कर देती है। जैसे सुन्दर सारङ्गी को चूहा काट डालता है वैसे ही सन्तोषादि गुणों को तृष्णा नष्ट करती है। हे मुनीश्वर! सबसे उत्कृष्ट पद में विराजने का मैं यत्न करता हूँ पर तृष्णा मुझे विराजने नहीं देती। जैसे जाल में फँसा हुआ पक्षी आकाश में उड़ने का यत्न करता है परन्तु उड़ नहीं सकता वैसे ही अनात्म से आत्मपद को प्राप्त नहीं हो सकता। स्त्री, पुरुष, पुत्र और कुटुम्ब का उसने जाल बिछाया है उसमें फँसा हूँ निकल नहीं सकता। और आशारूपी फाँसी में बँधा हुआ कभी ऊर्ध्व को जाता हूँ, कभी अधःपात होता हूँ, घटीयन्त्र की नाईं मेरी गति है। जैसे इन्द्र का धनुष मलिन मेघ में बड़ा और बहुत रङ्गों से भरा होता है परन्तु मध्य में शून्य है वैसे ही तृष्णा मलिन अन्तःकरण में होती है सो बढ़ी हुई है और सद्गुणों से रहित है। यह ऊपर से ही देखनेमात्र सुन्दर है परन्तु इससे कुछ कार्य नहीं सिद्ध होता। हे मुनीश्वर! तृष्णारूपी मेघ है उससे दुःखरूपी बूँदें निकलती हैं और तृष्णारूपी काली नागिन है उसका स्पर्श तो कोमल है परन्तु विष से पूर्ण है उसके डसने से मृतक हो जाता है। तृष्णारूपी बादल है सो आत्मरूपी सूर्य के आगे आवरण करता है। जब ज्ञानरूपी पवन चले तब तृष्णारूपी बादल का नाश होकर आत्मपद का साक्षात्कार हो। ज्ञानरूपी कमल को सङ्कोच करनेवाली तृष्णारूपी निशा है। उस तृष्णारूपी महाभयानक कालीरात्रि में बड़े धीरवान् भी भयभीत होते हैं और नयनवालों को भी अन्धा कर डालती है। जब यह आती है तब वैराग्य और अभ्यासरूपी नेत्र को अन्धा कर डालती है। अर्थात् सत्य असत्य विचारने नहीं देती। हे मुनीश्वर! तृष्णारूपी डाकिनी है वह सन्तोषादिक गुणों को मार डालती है। तृष्णारूपी कन्दरा है उसमें मोहरूपी उन्मत्त हाथी गर्जते हैं। तृष्णारूपी समुद्र है उसमें आपदारूपी नदी आकर प्रवेश करती है। इससे वही उपाय

मुझसे कहिये जिससे तृष्णारूपी दुःख से छूटूँ। हे मुनीश्वर! अग्नि और खड्ग के प्रहार और इन्द्र के वज्र से भी ऐसा दुःख नहीं होता जैसा दुःख तृष्णा से होता है सो तृष्णा के प्रहार से घायल हुआ मैं बड़े दुःख को पाता हूँ और तृष्णारूपी दीपक जलता है उसमें सन्तोषादिक पतङ्ग जल जाते हैं। जैसे जल में मछली रहती है सो जल में कंकड़ रेत आदि को देख मांस जानकर मुख में लेती है उससे उसका कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता वैसे ही तृष्णा भी जो कुछ पदार्थ देखती है उसके पास उड़ती है और तृप्ति किसी से नहीं होती। तृष्णारूपी एक पक्षिणी है सो इधर उधर उड़ जाती है और स्थिर कभी नहीं होती। तृष्णारूपी वानर है वह कभी किसी वृक्ष पर और कभी किसी के ऊपर जाता है स्थिर कभी नहीं होता। जो पदार्थ नहीं प्राप्त होता उसके निमित्त यत्न करता है और भोग से तृप्त कदाचित् नहीं होता। जैसे घृत की आहुति से अग्नि तृप्त नहीं होती वैसे ही जो पदार्थ प्राप्त योग्य नहीं है उसकी ओर भी तृष्णा दौड़ती है शान्ति नहीं पाती। हे मुनीश्वर! तृष्णारूपी उन्मत्त नदी है वह बहे हुए पुरुष को कहाँ से कहाँ ले जाती है। कभी तो पहाड़ के बाजू में ले जाती और कभी दिशा में ले जाती है। तृष्णारूपी नदी है उसमें वासनारूपी अनेक तरङ्ग उठते हैं कदाचित् मिटते नहीं। तृष्णारूपी नटिनी है और जगत्रूपी अखाड़ा उसने लगाया है उसको शिर ऊँचा कर देखती है और मूर्ख बड़े प्रसन्न होते हैं जैसे सूर्य के उदय होने से सूर्यमुखी कमल खिलकर ऊँचा होता है वैसे ही मूर्ख भी तृष्णा को देखकर प्रसन्न होता है। तृष्णारूपी वृद्ध स्त्री है जो पुरुष इसका त्याग करता है तो उसके पीछे लगी फिरती है कभी उसका त्याग नहीं करती। तृष्णारूपी डोर है उसके साथ जीवरूपी पशु बँधे हुए भ्रमते फिरते हैं। तृष्णा दुष्टिनी है जब शुभगुण देखती है तब उसको मार डालती है। उसके संयोग से मैं दीन होता हूँ। जैसे पपीहा मेघ को देखकर प्रसन्न होता है और बूँद ग्रहण करने लगता है और मेघ को जब पवन ले जाता है तब पपीहा दीन हो जाता है वैसे ही तृष्णा जब शुभ गुणों का नाश करती है तब मैं दीन हो जाता हूँ। हे मुनीश्वर! जैसे सूखे तृण को पवन उड़ाकर दूर से दूर

डालता है वैसे ही तृष्णारूपी पवन ने मुझको दूर से दूर डाल दिया है और आत्मपद से दूर पड़ा हूँ। हे मुनीश्वर ! जैसे भँवरा कमल के ऊपर और कभी नीचे बैठता है और कभी आसपास फिरता है स्थिर नहीं होता वैसे ही तृष्णारूपी भँवरा संसाररूपी कमल के नीचे ऊपर फिरता है कदाचित् नहीं ठहरता। जैसे मोती के बाँस से अनेक मोती निकलते हैं वैसे ही तृष्णारूपी बाँस से जगत्‌रूपी अनेक मोती निकलते हैं उससे लोभी का मन पूर्ण नहीं होता। तृष्णारूपी डब्बे में अनेक दुःखरूपी रत्न भरे हैं इससे आप वही उपाय कहिये जिससे तृष्णा निवृत्त हो। हे मुनीश्वर ! यह वैराग्य से निवृत्त होती है और किसी उपाय से नहीं निवृत्त होती। जैसे अन्धकार का प्रकाश से नाश होता है और किसी उपाय से नहीं होता वैसे ही तृष्णा का नाश और उपाय से नहीं होता। तृष्णारूपी हल गुणरूपी पृथ्वी को खोद डालता है और तृष्णारूपी बेलि गुणरूपी रस को पीती है। तृष्णारूपी धूलि है वह अन्तःकरणरूपी जल में उछल के मलीन करती है। हे मुनीश्वर ! जैसे वर्षाकाल में नदी बढ़ती है और फिर घट जाती है वैसे ही जब इष्ट भोगरूपी जल प्राप्त होता है तब हर्ष से बढ़ती है और जब वह जल घट जाता है तब सूख के क्षीण हो जाती है। हे मुनीश्वर ! इस तृष्णा ने मुझको दीन किया है। जैसे सूखे तृण को पवन उड़ा ले जाता है वैसे ही मुझको भी तृष्णा उड़ाती है। इससे आप वही उपाय कहिये जिससे तृष्णा का नाश होकर आत्मपद की प्राप्ति हो और दुःखों का नाश होकर आनन्द हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे तृष्णागारुडीवर्णनन्नाम
द्वादशस्सर्गः ॥ १२ ॥

श्रीरामजी बोले हे मुनीश्वर ! यह अमङ्गलरूप शरीर, जो जगत् में उत्पन्न हुआ है, बड़ा अभाग्यरूप है और सदा विकारवान् मांस मज्जा से पूर्ण और अपवित्र है। इससे कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता इसलिये इस विकाररूप शरीर की मैं इच्छा नहीं रखता। यह शरीर न अज्ञ है और न तज्ञ है—अर्थात् न जड़ है और न चैतन्य है। जैसे अग्नि के संयोग से लोहा अग्निवत् होता है सो जलाता भी है परन्तु आप नहीं जलता वैसे ही यह देह न जड़ है न चैतन्य है। जड़ इस कारण नहीं है कि इससे कार्य भी होता है और चैतन्य इस कारण नहीं कि इसको आपसे कुछ ज्ञान नहीं होता। इसलिये मध्यमभाव में है, क्योंकि चैतन्य आत्मा इसमें व्याप रहा है, पर आप तो अपवित्ररूप अस्थि, मांस, रुधिर, मूत्र और विष्ठा से पूर्ण और विकारवान् है। ऐसी देह दुःख का स्थान है। इष्ट के पाने से हर्षवान् और अनिष्ट के पाने से शोकवान् होती है, इससे ऐसे शरीर की मुझको इच्छा नहीं। यह अज्ञान से उपजती है। हे मुनीश्वर ! ऐसे अमङ्गलरूपी शरीर में जो अहंपन फुरता है सो दुःख का कारण है। यह संसार में स्थित होकर नाना प्रकार के शब्द करता है। जैसे कोठरी में बैठा हुआ बिलाव नाना प्रकार के शब्द करता है वैसे ही अहंकाररूपी बिलाव देह में बैठा हुआ अहं अहं करता है चुप कदाचित् नहीं रहता। हे मुनीश्वर ! जो किसी के निमित्त शब्द हो वही सुन्दर है अन्यथा सब शब्द व्यर्थ हैं। जैसे जय के निमित्त ढोल का शब्द सुन्दर होता है वैसे ही अहंकार से रहित जो पद है वही शोभनीय है और सब व्यर्थ हैं। शरीररूपी नौका भोगरूपी रेत में पड़ी है, इसलिये इसका पार होना कठिन है। जब वैराग्यरूपी जल बढ़े और प्रवाह हो और अभ्यासरूपी पतवार का बल लगे तब संसार के पाररूपी किनारे पर पहुँचे। शरीररूपी बेड़ा है जो संसाररूपी समुद्र और तृष्णारूपी जल में पड़ा है जिसका बड़ा प्रवाह है और भोगरूपी उसमें मगर हैं सो शरीररूपी बेड़े को पार नहीं लगने देते। जब शरीररूपी बेड़े को वैराग्यरूपी वायु और अभ्यासरूपी पतवार का बल लगे तब शरीररूपी बेड़ा पार हो। हे मुनीश्वर! जिस पुरुष ने उपाय करके ऐसे बेड़े को संसारसमुद्र से पार किया है वही सुखी हुआ है और जिसने नहीं किया वह परम आपदा को प्राप्त होता है वह उस बेड़े से उलटा डूबेगा क्योंकि उस शरीररूपी बेड़े का तृष्णारूपी छिद्र है उससे संसारसमुद्र में डूब जाता है और भोगरूपी मगर इसको खा लेता है। यही आश्चर्य है कि देह अपना आप नहीं और मनुष्य मूर्खता करके आपको देह मानता है और तृष्णारूपी छिद्र करके दुःख पाता है। शरीररूपी वृक्ष है। उसमें भुजारूपी शाखा, उँगली पत्र, जङ्घा स्तम्भ, मांसरूपी अन्दर

की भोगवासना उसकी जड़ और सुख दुःख इसके फल हैं। तृष्णारूपी घुन उस शरीररूपी वृक्ष को खाता रहता है। जब उसमें श्वेत फूल लगे तो नाश का समय आता है अर्थात् मृत्यु के निकटवर्ती होता है। शरीररूपी वृक्ष की भुजारूपी शाखा हैं और हाथ पाँव पत्र हैं। टखने इसके गुच्छे और दाँत फूल हैं; जंघा स्तम्भ है और कर्मजल से बढ़ जाता है। जैसे वृक्ष से जल चिकटा निकलता है वैसे ही जल शरीर के द्वारा निकलता रहता है। इसमें तृष्णारूपी विष से पूर्ण सर्पिणी रहती है। जो कामना के लिये इस वृक्ष का आश्रय लेता है तो तृष्णारूपी सर्पिणी उसको डसती है और उस विष से वह मर जाता है। हे मुनीश्वर! ऐसे अमङ्गलरूपी शरीर वृक्ष की इच्छा मुझको नहीं है। यह परम दुःख का कारण है। जब यह पुरुष अपने परिवार अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और इनमें जो अहंभाव है इसका त्याग करे तब मुक्ति हो अन्यथा मुक्ति नहीं होती। हे मुनीश्वर! जो श्रेष्ठ पुरुष हैं वे पवित्र स्थान में ही रहते हैं अपवित्र में नहीं रहते। वह अपवित्र स्थान यह देह है और इसमें रहनेवाला भी अपवित्र है। अस्थिरूपी इस घर में ईंटें हैं, रुधिर, मूत्र और विष्ठा का गारा लगा है और मांस की कहगिल की है। अहंकाररूपी इसमें श्वपच रहता है, तृष्णारूपी श्वपचिनी उसकी स्त्री और काम, क्रोध, मोह और लोभ इसके पुत्र हैं और आँतों और विष्ठादि से भरा हुआ है। ऐसे अपवित्र स्थान अमङ्गलरूपी शरीर को मैं अङ्गीकार नहीं करता। यह शरीर रहे चाहे न रहे इसके साथ अब मुझे कुछ प्रयोजन नहीं। हे मुनीश्वर! शरीररूपी बड़ा गृह है और उसमें इन्द्रियरूपी पशु हैं। जब कोई उस गृह में पैठता है तब बड़ी आपदा को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि जो इसमें अहंभाव करता है तो इन्द्रियरूपी पशु विषयरूपी सींगों से मारते हैं और तृष्णारूपी धूलि उसको मलीन करती है। हे मुनीश्वर! ऐसे शरीर को मैं अङ्गीकार नहीं करता जिसमें सदा कलह रहती है और ज्ञानरूपी सम्पदा प्रवेश नहीं होती। शरीररूपी गृह में तृष्णारूपी चण्डी स्त्री रहती है; वह इन्द्रियरूपी द्वार से देखती रहती और सदा कल्पना करती रहती है। उससे शम दमादिरूप सम्पदा का प्रवेश नहीं होता।

उस घर में एक सुषुप्तिरूप शय्या है जब उसके ऊपर वह विश्राम करता है तब वह कुछ सुख पाता है, परन्तु तृष्णा का परिवार अर्थात् काम, क्रोधादिक विश्राम नहीं करने देते। हे मुनीश्वर! ऐसे दुःख के मूल शरीररूपी गृह की इच्छा मैंने त्याग दी है। यह परम दुःख देनेवाला है, इसकी इच्छा मुझको नहीं। हे मुनीश्वर! शरीररूपी वृक्ष है उसमें तृष्णारूपी काकिनी आकर स्थित हुई है। जैसे काकिनी नीच पदार्थ के पास उड़ती है वैसे ही तृष्णा भोग आदिक मलिन पदार्थों के पास उड़ती है। तृष्णा बन्दरी की नाईं शरीररूपी वृक्ष को हिलाती है, स्थिर नहीं होने देती। जैसे उन्मत्त हाथी कीच में फँस जाता है तब निकल नहीं सकता और खेदवान् होता है वैसे ही अज्ञानरूपी मद से उन्मत्त हुआ जीव शरीररूपी कीच में फँसा है सो निकल नहीं सकता, पड़ा हुआ दुःख पाता है। ऐसा दुःख देनेवाला शरीर है उसको मैं अङ्गीकार नहीं करता। हे मुनीश्वर! यह शरीर अस्थि, मांस, रुधिर से पूर्ण अपवित्र है। जैसे हाथी के कान सदा हिलते हैं वैसे ही मृत्यु इसको हिलाती है। कुछ काल का विलम्ब है मृत्यु उसका ग्रास कर लेवेगी; इससे मैं इस शरीर को अङ्गीकार नहीं करता हूँ। यह शरीर कृतघ्न है। भोग भुगतता है और बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त करता है, परन्तु मृत्यु इससे सखापन नहीं करता। जीव इसको अकेला छोड़कर परलोक जाता है। जीव इसके सुख के निमित्त अनेक यत्न करता है, परन्तु संग में सदा नहीं रहता। ऐसे कृतघ्न शरीर को मैंने मन से त्याग दिया है। हे मुनीश्वर! और आश्चर्य देखिये कि यह इसी के लिये भोग करता है पर उसके साथ नहीं चलता। जैसे धूलि से मार्ग नहीं भासता वैसे ही यह जीव जब चलने लगता है तब शरीर से क्षोभवान् होता और वासनारूपी धूलिसंयुक्त चलता है परन्तु दीखता नहीं कि कहां गया। जब परलोक जाता है तब बड़ा कष्ट होता है, क्योंकि शरीर के साथ इसने स्पर्श किया है। हे मुनीश्वर! जैसे जल की बूँद पत्र के ऊपर क्षणमात्र रहती है वैसे ही शरीर भी क्षणभंग है। ऐसे शरीर में आस्था करनी मूर्खता है और ऐसे शरीर के ऊपर उपकार करना भी दुःख के निमित्त है सुख कुछ नहीं। धनाढ्य इस शरीर से बड़े भोग भोगते हैं और निर्धन थोड़े

भोग भोगते हैं, परन्तु जरा अवस्था और मृत्यु.दोनों को होती है, इसमें विषेषता कुछ नहीं। शरीर का उपकार करना और भोग भुगतना तृष्णा के कारण उलटा दुःख का कारण है। जैसे कोई नागिनि को घर में रखकर दूध पिलावे तो अन्त में वह उसे काटकर मारेगी वैसे ही जिस जीव ने तृष्णारूपी नागिनी के साथ मित्रता की है वह मरेगा, क्योंकि नाशवन्त है। इसके निमित्त भोग भुगतने का यत्न करना मूर्खता है। जैसे पवन का वेग आता और जाता है वैसे ही यह शरीर भी आता और जाता है, इससे प्रीति करना दुःख का कारण है। जैसे कोई विरला मृग मरुस्थल की आस्था त्यागता है और सब पड़े भ्रमते हैं वैसे ही सब जीव इसकी आस्था में बाँधे हुए हैं, इसका त्याग कोई विरले ही ने किया है। हे मुनीश्वर ! बिजली और दीपक का प्रकाश भी आता जाता दीखता है, परन्तु इस शरीर का आदि अन्त नहीं दीखता कि कहाँ से आता है और कहाँ जाता है। जैसे समुद्र में बुद्बुदे उपजते और मिट जाते हैं उसकी आस्था करने से कुछ लाभ नहीं वैसे ही यह शरीर है इसकी आस्था करना योग्य नहीं। यह अत्यन्त नाशरूप है स्थिर कदाचित् नहीं होता है। जैसे बिजली स्थिर नहीं होती वैसे ही शरीर भी स्थिर नहीं रहता इसलिए इसकी मैं आस्था नहीं करता। इसका अभिमान मैंने त्याग दिया है। जैसे कोई सूखे तृण को त्याग देता है वैसे ही मैंने अहंममता त्यागी है। हे मुनीश्वर! ऐसे शरीर को पुष्ट करना दुःख का निमित्त है। यह शरीर किसी अर्थ नहीं आता जलाने योग्य है। जैसे लकड़ी जलाने के सिवाय और काम में नहीं आती वैसे ही यह शरीर भी जड़ और गूँगा जलाने के अर्थ है। हे मुनीश्वर ! जिस पुरुष ने काष्ठरूपी शरीर को ज्ञानाग्नि से जलाया है उसका परम अर्थ सिद्ध हुआ है और जिसने नहीं जलाया उसने परम दुःख पाया है। हे मुनीश्वर ! न मैं शरीर हूँ, न मेरा शरीर है; न इसका मैं हूँ, न मेरा यह है; अब मुझको कामना कोई नहीं, मैं निराशी पुरुष हूँ और शरीर से मुझको कुछ प्रयोजन नहीं। इसलिये आप वही उपाय कहिये जिससे मैं परमपद पाऊँ। हे मुनीश्वर! जिस पुरुष ने शरीर का अभिमान त्यागा है वह परमानन्दरूप है और जिसको देह का अभिमान है वह परम दुखी है। जितने दुःख हैं वे शरीर के संयोग से होते हैं। मान-अपमान, जरा-मृत्यु, दम्भ-भ्रान्ति, मोह-शोक आदि सर्व विकार देह के संयोग से होते हैं जिनको देह में अभिमान है उनको धिक्कार है और सब आपदा भी उन्हीं को प्राप्त होती हैं। जैसे समुद्र में नदी प्रवेश करती है वैसे ही देहाभिमान में सर्व आपदा प्रवेश करती हैं। जिसको देह का अभिमान नहीं है वह मनुष्यों में उत्तम और वन्दना करने के योग्य है। ऐसे को मेरा भी नमस्कार है और सर्व सम्पदा भी उसी को प्राप्त होती हैं। जैसे मानसरोवर में सब हंस आकर रहते हैं वैसे ही जहाँ देहाभिमान नहीं रहा वहाँ सर्व सम्पदा आ रहती हैं। हे मुनीश्वर ! जैसे अपनी छाया में बालक वैताल कल्पता है और उससे भय पाता है पर जब उसको विचार की प्राप्ति होती है तब वैताल का अभाव हो जाता है वैसे ही अज्ञान से मुझको अहङ्काररूपी पिशाच ने शरीर में दृढ़ आस्था बताई है। इसलिए आप वही उपाय कहिये जिससे अहङ्काररूपी पिशाच का नाश हो और आस्थारूपी फाँसी टूटे। हे मुनीश्वर ! प्रथम मुझको अज्ञान से अहङ्काररूपी पिशाच का संयोग था; उसके अनन्तर शरीर में आस्था उपजी। जैसे बीज से प्रथम अंकुर होता है, फिर अंकुर से वृक्ष होता है वैसे ही अहङ्कार से शरीर की आस्था होती है। हे मुनीश्वर ! जैसे बालक छाया में वैताल देखकर दीनता को प्राप्त होता है वैसे ही अहङ्काररूपी पिशाच ने मुझको दीन किया है। वह अहङ्काररूपी पिशाच अविचार से सिद्ध है। जैसे प्रकाश से अन्धकार नाश हो जाता है वैसे ही विचार करने से अहङ्कार नष्ट हो जाता है। हे मुनीश्वर ! जिस शरीर में आस्था रक्खी है वह जल के प्रवाह की नाईं है, स्थिर नहीं होता। जैसे बिजली का चमकना स्थिर नहीं और गन्धर्व नगरी की आस्था व्यर्थ है वैसे ही शरीर की आस्था करना व्यर्थ है। हे मुनीश्वर ! जो शरीर की आस्था करके अहङ्कार करते हैं और जगत् के पदार्थों के निमित्त यत्न करते हैं वे महामूर्ख हैं। जैसे स्वप्न मिथ्या है वैसे ही यह जगत् मिथ्या है। जो उसको सत्य जानता है वह अपने बन्धन के निमित्त यत्न करता है। जैसे घुरान अर्थात् कुसवारी अपने बन्धन के निमित्त गुफा बनाती है और पतंग अपने नाश के निमित्त दीपक की इच्छा करता है वैसे ही अज्ञानी को

अपने देह का अभिमान और भोग की इच्छा अपने ही नाश के निमित्त है। हे मुनीश्वर! मैं तो इस शरीर को अङ्गीकार नहीं करता। इस शरीर का अभिमान परम दुःख देनेवाला है। जिसको देह का अभिमान नहीं रहा उसको भोग की इच्छा भी न रहेगी। इससे मैं निराश हूँ और मुझे परमपद की इच्छा है जिसके पाने से फिर संसारसमुद्र की प्राप्ति न हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे देहनैराश्य
वर्णनन्नाम त्रयोदशस्सर्गः ॥ १३ ॥

थ बाल्यावस्था

रामजी बोले, हे मुनीश्वर! इस जीव को संसारसमुद्र में जन्म पाकर प्रथम बाल अवस्था प्राप्त होती है वह भी परम दुःख का मूल है। उससे वह परम दीन हो जाता है और इतने अवगुण इसमें आ प्रवेश करते हैं अर्थात् अशक्तता, मूर्खता, इच्छा, चपलता, दीनता, दुःख, संताप इतने विकार इसको प्राप्त होते हैं। यह बाल्यावस्था महाविकारवान् है। बालक पदार्थ की ओर धावता है और एक वस्तु का ग्रहणकर दूसरी को चाहता है, स्थिर नहीं रहता, फिर और में लग जाता है। जैसे वानर स्थिर नहीं बैठता और जो किसी पर क्रोध करता है तो भीतर से जलता है। वह बड़ी बड़ी इच्छा करता है, पर उसकी प्राप्ति नहीं होती, सदा तृष्णा में रहता है और क्षण में भयभीत हो जाता है, शान्ति प्राप्त नहीं होती। जैसे कदली वन का हाथी जंजीर से बँधा हुआ दीन हो जाता है वैसे ही यह चैतन्य पुरुष बालक अवस्था से दीन हो जाता है। वह जो कुछ इच्छा करता है सो विचार विना है, उससे दुःख पाता है। यह मूढ़ गूँगी अवस्था है उससे कुछ सिद्धि नहीं होती और जो किसी पदार्थ की प्राप्ति होती है तो उसमें क्षणमात्र सुखी रहता है फिर तपने लगता है। जैसे तपती पृथ्वी पर जल डालिये तो एक क्षण शीतल होती है, फिर उसी प्रकार से तपती है वैसे ही वह भी तपता रहता है। जैसे रात्रि के अन्त में सूर्य उदय होता है उससे उलूकादि कष्टवान् होते हैं वैसे ही इस जीव को स्वरूप के अज्ञान से बाल्यावस्था में कष्ट होता है। हे मुनीश्वर! जो बालक अवस्था की संगति करता है वह भी मूर्ख है, क्योंकि यह विवेकरहित अवस्था है और सदा अपवित्र है और सदा पदार्थ की ओर धावती है। ऐसी मूढ़ और दीन अवस्था की मुझको इच्छा नहीं, इसमें जिस पदार्थ को देखता है उसकी ओर धावता है। जैसे कुत्ता क्षणक्षण में द्वार की ओर जाता है और अपमान पाता है वैसे ही बालक अपमान पाता है। बालक को माता, पिता, बान्धव, अपने से बड़े बालक और पशु-पक्षी का भी भय रहता है। हे मुनीश्वर! ऐसी दुःखरूपी अवस्था की मुझको इच्छा नहीं। जैसे स्त्री के नयन और नदी का प्रवाह चञ्चल है उससे भी मन और बालक चञ्चल हैं और सब चञ्चलता बालक से कनिष्ठ हैं। हे मुनीश्वर! जैसे वेश्या का चित्त एक पुरुष में नहीं ठहरता वैसे ही बालक का चित्त एक पदार्थ में नहीं ठहरता और उसको यह विचार भी नहीं होता कि इस पदार्थ से मेरा नाश होगा वा कल्याण होगा। बालक ऐसी ही व्यर्थ चेष्टा करता है, सदा दीन रहता है और सुख-दुःख की इच्छा से तपायमान रहता है। जैसे ज्येष्ठ-आषाढ़ में पृथ्वी तपायमान होती है वैसे ही बालक तपता रहता है शान्ति कदाचित् नहीं पाता। वह जब विद्या पढ़ने लगता है तब गुरु से ऐसा भयभीत होता है जैसे कोई यम को देखके भय पावे और जैसे गरुड़ को देख के सर्प डरे। जब शरीर में कोई कष्ट प्राप्त होता है तब भी वह बड़े दुःख को प्राप्त होता है और उस दुःख को निवारण नहीं कर सकता और सहने की भी सामर्थ्य नहीं होती; भीतर ही भीतर जलता है और मुख से कुछ बोल नहीं सकता। जैसे वृक्ष कुछ नहीं बोल सकता और जैसे पशु-पक्षी दुःख पाते हैं, न कुछ कह सकते हैं, न दुःख का निवारण कर सकते हैं, भीतर ही भीतर जलते हैं वैसे ही बालक भी गूँगा और मूढ़ होकर दुःख पाता है। हे मुनीश्वर! ऐसी बालक अवस्था की इच्छा करनेवाला मूर्ख है। यह तो परम दुःखरूप अवस्था है। इसमें विवेक और विचार भी कुछ नहीं होता। बालक खाने को पाता है और रुदन करता है। ऐसी अवगुणरूप अवस्था मुझको नहीं सुहाती। जैसे बिजली और जल के बुद्बुदे स्थिर नहीं रहते वैसे ही बालक भी कदाचित् स्थिर नहीं रहता। हे मुनीश्वर! यह महामूर्ख अवस्था है। इसमें कभी कहता है कि हे पिता! मुझको बरफ का टुकड़ा भून दे और कभी कहता है कि मुझको चन्द्रमा उतार दे। ये सब मूर्खता के वचन हैं। इससे ऐसी मूर्खावस्था को मैं

अङ्गीकार नहीं करता। जैसे दुःख का अनुभव बालक को होता है वह हमारे स्वप्न में भी नहीं आया। यह बाल्यावस्था अवगुण का भूषण है और अवगुण से शोभित है। ऐसी नीच अवस्था को मैं अङ्गीकार नहीं करता। इसमें गुण कोई भी नहीं है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यबाल्यावस्थावर्णनन्नाम चतुर्दशस्सर्गः॥ १४॥

गारुडी

रामजी बोले, हे मुनीश्वर! दुःखरूप बाल्यावस्था के अनन्तर युवावस्था आती है सो नीचे से ऊँचे चढ़ती है। वह भी उत्तम नहीं अधिक दुःखदायक है। जब युवावस्था आती है तब कामरूपी पिशाच आ लगता है। वह कामरूपी पिशाच युवावस्थारूपी गढ़े में आ स्थित होता है, चित्त को फिराता है और इच्छा पसारता है। जैसे सूर्य के उदय होने से सूर्यमुखी कमल खिल आता है और पंखुरियों को पसारता है वैसे ही युवावस्थारूपी सूर्य उदय होकर चित्तरूपी कमल और इच्छारूपी पंखुरी को पसारता है। फिर जैसे किसी को अग्नि के कुण्ड में डाल दिया हो और वह दुःख पावे वैसे ही काम के वश हुआ दुःख पाता है। हे मुनीश्वर! जो कुछ विकार हैं सो सब युवावस्था में प्राप्त होते हैं। जैसे धनवान् को देखके सब निर्धन धन की आशा करते हैं वैसे ही युवावस्था देखकर सब दोष इकट्ठे होते हैं। जो भोग को सुखरूप जानकर भोग की इच्छा करता है वह परम दुःख का कारण है। जैसे मद्य का घट भरा हुआ देखने मात्र सुन्दर लगता है परन्तु जब उसको पान करे तब उन्मत्त होकर दीन हो जाता है और निरादर पाता है वैसे ही भोग देखने मात्र सुन्दर भासते हैं, परन्तु जब इनको भोगता है तब तृष्णा से उन्मत्त और पराधीन हो जाता है। हे मुनीश्वर! यह काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहङ्कार आदि सब चोर युवारूपी रात्रि को देखकर लूटने लगते हैं और आत्मज्ञानरूपी धन को ले जाते हैं। उससे जीव दीन होता है। आत्मानन्द के वियोग से ही जीव दीन हुआ है। हे मुनीश्वर! ऐसी दुःख देनेवाली युवावस्था को मैं अङ्गीकार नहीं करता। शान्ति चित्त को स्थिर करने के लिये है पर युवावस्था में चित्त विषय की ओर धावता है जैसे बाण लक्ष्य की ओर जाता है। तब उसको विषय का संयोग

होता है और विषय की तृष्णा निवृत्त नहीं होती और तृष्णा के मारे जन्म से जन्मान्तर में दुःख पाता है। हे मुनीश्वर! ऐसी दुःखदायक युवावस्था की मुझको इच्छा नहीं है। हे मुनीश्वर! जैसे प्रलयकाल में सब दुःख आकर स्थिर होते हैं वैसे ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, चपलता इत्यादिक सब दोष युवावस्था में आ स्थिर होते हैं, जो सब बिजली की चमक से हैं, होके मिट जाते हैं। जैसे समुद्र में तरङ्ग होकर मिट जाते हैं वैसे ही यह क्षणभंगुर है और वैसे ही युवावस्था होके मिट जाती है। जैसे स्वप्न में कोई स्त्री विकार से छल जाती है वैसे ही अज्ञान से युवावस्था छल जाती है। हे मुनीश्वर! युवावस्था जीव की परम शत्रु है। जो पुरुष इस शत्रु के शस्त्र से बचे हैं वही धन्य हैं। इसके शस्त्र काम और क्रोध हैं जो इनसे छुटा वह वज्र के प्रहार से भी न छेदा जावेगा और जो इनसे बँधा हुआ है वह पशु है। हे मुनीश्वर! युवावस्था देखने में तो सुन्दर है परन्तु भीतर से तृष्णा से जर्जरीभूत है। जैसे वृक्ष देखने में तो सुन्दर हो पर भीतर से घुन लगा हुआ हो वैसे ही युवावस्था है जो भोगों के निमित्त यत्न करती है वे भोग आपातरमणीय हैं। कारण यह कि जब तक इन्द्रियों और विषय का संयोग है तब तक अविचार से भला लगता है और जब वियोग होता है तब दुःख होता है। इसलिए भोग करके मूर्ख प्रसन्न और उन्मत्त होते हैं उनको शान्ति नहीं होती। भीतर सदा तृष्णा रहती है और स्त्री में चित्त की आसक्ति रहती है। जब इष्ट बनिता का वियोग होता है तब उसको स्मरण करके जलता है। जैसे वन का वृक्ष अग्नि से जलता है वैसे ही युवावस्था में इष्ट के वियोग से जीव जलता है। जैसे उन्मत्त हस्ती जंजीर से बँधता तो स्थिर होता है कहीं जा नहीं सकता वैसे ही कामरूपी हस्ती को जंजीररूपी युवावस्था बन्धन करती है। युवावस्थारूपी नदी है उसमें इच्छारूपी तरङ्ग उठते हैं वे कदाचित् शान्ति नहीं पाते। हे मुनीश्वर! यह युवावस्था बड़ी दुष्ट है। बड़े बुद्धिमान्, निर्मल और प्रसन्न पुरुष की बुद्धि को भी मलिन कर डालती है। जैसे निर्मल जल की बड़ी नदी वर्षाकाल में मलिन हो जाती है वैसे ही युवावस्था में बुद्धि मलिन हो जाती है। हे मुनी-

श्वर! शरीररूपी वृक्ष है उसमें युवावस्थारूपी बेल प्रकट होती है सो पुष्ट होती जाती है तब चित्तरूपी भँवरा आ बैठता है और तृष्णारूपी उसकी सुगन्ध से उन्मत्त होता है, सब विचार भूल जाता है। जैसे जब प्रबल पवन चलता है तब सूखे पत्रों को उड़ा ले जाता है वैसे ही युवावस्था वैराग्य, सन्तोषादिक गुणों का अभाव करती है। दुःखरूपी कमल का युवावस्थारूपी सूर्य है, उसके उदय से सब दुःख प्रफुल्लित हो आते हैं। इससे सब दुःखों का मूल युवावस्था है। जैसे सूर्य के उदय से सूर्यमुखी कमल खिल आते हैं वैसे ही चित्तरूपी कमल संसाररूपी पँखुरी और सत्यतारूपी सुगन्ध से खिल आता है और तृष्णारूपी भँवरा उस पर आ बैठता और विषय की सुगन्ध लेता है। हे मुनीश्वर! संसाररूपी रात्रि है उसमें युवावस्थारूपी तारागण प्रकाशते हैं अर्थात् शरीर युवावस्था से सुशोभित होता है। जैसे धान के छोटे वृक्ष हरे तब तक रहते हैं जब तक उसमें फल नहीं आता। जब फल आता है तब वृक्ष सूखने लगते हैं और अन्न परिपक्व होता है वृक्ष की हरियाली नहीं रह सकती वैसे ही जब तक जवानी नहीं आती तब तक शरीर सुन्दर कोमल रहता है जब जवानी आती है तब शरीर क्रूर हो जाता है और फिर परिपक्व होकर क्षीण और वृद्ध होता है। इससे हे मुनीश्वर! ऐसी दुःख की मूलरूप युवावस्था की मुझको इच्छा नहीं। जैसे समुद्र बड़े जल से तरङ्गों को पसारता और उछालता है तो भी मर्यादा नहीं त्यागता, क्योंकि ईश्वर की आज्ञा मर्यादा में रहने की है और युवावस्था तो ऐसी है कि शास्त्र और लोक की मर्यादा मेटके चलती है और उसको अपना विचार नहीं रहता। जैसे अन्धकार में पदार्थ का ज्ञान नहीं होता वैसे ही युवावस्था में शुभाशुभ का विचार नहीं होता। जिसको विचार नहीं रहा उसको शान्ति कहाँ से हो; वह सदा व्याधि और ताप से जलता रहता है। जैसे जल के विना मच्छ को शान्ति नहीं होती वैसे ही विचार के विना पुरुष सदा जलता रहता है। जब युवावस्थारूप रात्रि आती है तब काम पिशाच आके गर्जता है और यही सङ्कल्प उटते हैं कि कोई कामी पुरुष आवे तो उसके साथ मैं यही चर्चा करूँ कि हे मित्र! वह स्त्री कैसी सुन्दर है और उसके कैसे कटाक्ष हैं। वह किस प्रकार मुझको प्राप्त हो? हे मुनीश्वर! इस इच्छा से वह सदा जलता ही रहता है। जैसे मरुस्थल की नदी को देख मृग दौड़ता है और जल की अप्राप्ति से जलता है वैसे ही कामी पुरुष विषय की वासना से जलता है और शान्ति नहीं पाता। हे मुनीश्वर! मनुष्यजन्म उत्तम है परन्तु जिनके अभाग्य हैं उनको विषय से आत्मपद की प्राप्ति नहीं होती। जैसे किसी को चिन्तामणि प्राप्त हो और वह उसका निरादर करे उसका गुन न जानकर डाल दे वैसे ही जिस पुरुष ने मनुष्यशरीर पाकर आत्मपद नहीं पाया वह बड़ा अभागी है और मूर्खता से अपने जन्म को व्यर्थ खो डालता है। वह युवावस्था में परम दुःख का क्षेत्र अपने निमित्त बोता है और मान, मोह, मद इत्यादि विकारों से पुरुषार्थ का नाश करता है। हे मुनीश्वर! युवावस्था ऐसे बड़े विकारों को प्राप्त करती है। जैसे नदी वायु से अनेक तरङ्ग पसारती है वैसे ही युवावस्था चित्त के अनेक कामों को उठाती है। जैसे पक्षी पंख से बहुत उड़ता है और जैसे सिंह भुजा के बल से पशु को मारने दौड़ता है वैसे ही चित्त युवावस्था से विक्षेप की ओर धावता है। हे मुनीश्वर! समुद्र का तरना कठिन है क्योंकि उसमें जल अथाह है उसका विस्तार भी बड़ा है और उसमें कच्छ मच्छ मगर भी बड़े बड़े जीव रहते हैं पर मैं उसका तरना भी सुगम मानता हूँ परन्तु युवावस्था का तरना महाकठिन है अर्थात् युवावस्था में निर्दोष रहना कठिन है। ऐसी सङ्कटवाली युवावस्था में जो चलायमान नहीं होते सो पुरुष धन्य हैं और बन्दना करने योग्य हैं। हे मुनीश्वर! यह युवावस्था चित्त को मलीन कर डालती है। जैसे जल की बावली के निकट राख और काँटे हों और पवन चलने से सब आ बावली में गिरें वैसे ही पवनरूपी युवावस्था दोषरूपी धूलि और काँटों को चित्तरूपी बावली में डालके मलीन कर देती है। ऐसे अवगुणों से पूर्ण युवावस्था की इच्छा मुझको नहीं है। युवावस्था मुझ पर यही कृपा कर कि तेरा दर्शन न हो। तेरा आना मैं दुःख का कारण मानता हूँ। जैसे पुत्र के मरण का सङ्कट पिता नहीं सह सकता और सुख का निमित्त नहीं देखता वैसे ही तेरा आना मैं सुख का निमित्त नहीं देखता। इससे मुझपर

दया कर कि अपना दर्शन न दे। हे मुनीश्वर! युवावस्था का तरना महाकठिन है। यौवनवान् नम्रतासंयुक्त नहीं होते और शास्त्र के गुण वैराग्य, विचार, संतोष और शान्ति इनसे भी सम्पन्न नहीं हैं। जैसे आकाश में वन होना आश्चर्य है वैसे ही युवावस्था में वैराग्य, विचार, शान्ति और संतोष होना भी बड़ा आश्चर्य है। इससे आप मुझसे वही उपाय कहिये जिससे युवावस्था के दुःख से मुक्ति होकर आत्मपद की प्राप्ति हो।

इतिश्रीयोगवाशिष्ठेवैराग्यप्रकरणेयुवागारुडीवर्णनन्नामपञ्चदशस्सर्गः १५॥

रामजी बोले, हे मुनीश्वर! जिस कामविलास के निमित्त पुरुष स्त्री की वाञ्छा करता है वह स्त्री अस्थि, मांस, रुधिर, मूत्र और विष्ठा से पूर्ण है और इन्हीं की पुतली बनी हुई है। जैसे यन्त्री की बनी पुतली तागे के द्वारा अनेक चेष्टा करती है वैसे ही यह अस्थि, मांसादिक की पुतली में कुछ और नहीं है। जो विचार से नहीं देखता उसको रमणीय दीखती है। जैसे पर्वत के शिखर दूर से सुन्दर और गङ्गमाला सहित भासते हैं और निकट से असार हैं—पत्थर ही पत्थर दिखते हैं वैसे ही स्त्री वस्त्र और भूषणों से सुन्दर भासती है। जो अङ्ग को भिन्न भिन्न विचार कर देखो तो सार कुछ नहीं। जैसे नागिनि के अङ्ग बहुत कोमल होते हैं परन्तु उसका स्पर्श करे तो काट के मार डालती है वैसे ही जो कोई स्त्री को स्पर्श करते हैं उनको वह नाश कर डालती है। जैसे विष की बेल देखने मात्र सुन्दर लगती है परन्तु स्पर्श करने से मार डालती है और जैसे हाथी को जंजीर से बाँधे तो जिस द्वार पै रहता है वहीं स्थिर रहता है वैसे ही अज्ञानी का चित्तरूपी हाथी कामरूपी जंजीर से बँधा हुआ स्त्रीरूपी एक स्थान में स्थिर रहता है वहाँ से कहीं जा नहीं सकता। जब हाथी को महावत अंकुश का प्रहार करता है तब वह बन्धन को तोड़के निकल जाता है वैसे ही इस चित्तरूपी मूर्ख हाथी को जब महावतरूपी गुरु उपदेशरूपी अंकुश का वारंवार प्रहार करता है तब निर्बन्ध होता है। हे मुनीश्वर! कामी पुरुष स्त्री की वाञ्छा अपने नाश के निमित्त करता है। जैसे कदलीवन का हाथी कागद की हथिनी देखकर और छल पाके बन्धन में आता है और उससे परम दुःख पाता है वैसे ही सब दुःखों का मूल स्त्री का सङ्ग है। हे मुनीश्वर! जैसे वन के दाह की अग्नि वन को जलाती है वैसे ही स्त्रीरूपी अग्नि उससे भी अधिक है, क्योंकि वह अग्नि तो स्पर्श करने से ही जलाती है परन्तु स्त्रीरूपी अग्नि स्मरणमात्र से जलाती है। जो सुख रमणीय दीखता है वह आपातरमणीय है; जब स्त्रीसुख का वियोग होता है तब मुरदे की नाईं हो जाता है। हे मुनीश्वर! यह तो अस्थि, मांस और रुधिर का पिंजरा है सो अग्नि में भस्म हो जायगा अथवा पशु-पत्ती के खाने का आहार होगा और प्राण आकाश में लीन हो जावेंगे। इससे इस स्त्री की इच्छा करनी मूर्खता है। जैसे अग्नि की ज्वाला के ऊपर श्यामता होती है वैसे ही स्त्री के शीश के ऊपर श्याम केश हैं और जैसे अग्नि के स्पर्श करने से जलता है वैसे ही स्त्री के स्पर्श करने से पुरुष जलता है, इससे जलना दोनों में तुल्य है। हे मुनीश्वर! युवावस्था को नष्ट करनेवाली स्त्रीरूपी अग्नि है। जो स्त्री की इच्छा करते हैं वह महामूर्ख और अज्ञानी हैं। वह स्त्री की इच्छा अपने नाश के निमित्त करते हैं। जैसे पतङ्ग अपने नाश के निमित्त दीपक की इच्छा करता है वैसे ही कामी पुरुष अपने नाश के निमित्त स्त्री की इच्छा करता है। हे मुनीश्वर! स्त्रीरूपी विष की बेल है, हाथ पाँव के अग्रभाग उसके पत्र हैं, भुजा डाली हैं, स्तनरूप गुच्छे हैं और नेत्र आदिक इन्द्रियाँ फूल हैं उस पर कामी पुरुषरूपी भँवरे आ बैठते हैं। कामरूपी धीवर ने स्त्रीरूपी जाल पसारा है उस पर कामी पुरुषरूपी पत्ती आ फँसते हैं। कामरूपी धीवर उनको फँसाकर परम कष्ट देता है। ऐसे दुःख को देनेवाली स्त्री की जो वाञ्छा करते हैं वह महामूर्ख हैं। हे मुनीश्वर! स्त्रीरूपी सर्पिणी है जब उसका फूत्कार निकलता है तब वैराग्यरूपी कमल जल जाते हैं और जब सर्पिणी डसती है तब विष चढ़ता है। स्त्रीरूपी सर्पिणी का चिन्तन करते ही भीतर से आप ही विष चढ़ जाता है। हे मुनीश्वर! जैसे व्याध छलकर मछली को फँसाता है वैसे ही कामी पुरुष छली के सदृश सुन्दर स्त्रीरूपी जाल देख के फँसता है और स्नेहरूपी तागे से बन्धन पाकर खिंचा चला जाता है, तब तृष्णारूपी छुरी से काम उसे मार डालता है। हे मुनीश्वर! ऐसे दुःख के देनेवाली स्त्री की मुझको

इच्छा नहीं । कामरूपी व्याध रागरूपी इन्द्रियों से जाल बिछा कामी पुरुषरूपी मृगों को आसक्त करडाला है । स्त्री की स्नेहरूपी डोरी है । उससे कामी पुरुषरूप बैल बँधा है और स्त्री के मुखरूपी चन्द्रमा को देखकर कामी पुरुषरूपी कमलिनी खिल आती हैं । जैसे चन्द्रमुखी कमल चन्द्रमा को देखकर प्रसन्न होते हैं और सूर्यमुखी नहीं होते वैसे ही कामी पुरुष भोग से प्रसन्न होते हैं और ज्ञानवान् प्रसन्न नहीं होते । जैसे नेवला सर्प को बिल से निकाल के मारता है वैसे ही कामी पुरुष को स्त्री आत्मानन्द में से निकाल के मार डालती है । पुरुष जब स्त्री के निकट जाता है तब वह उसको भस्म कर डालती है । जैसे सूखे तृण और घृत को अग्नि भस्म कर डालती है वैसे ही कामी पुरुष को स्त्रीरूपी नागिनि भस्म कर डालती है । हे मुनीश्वर ! स्त्रीरूपी रात्रि का स्नेहरूपी अन्धकार है और काम, क्रोधादिक उसमें उलूक और पिशाच हैं । हे मुनीश्वर ! जो स्त्रीरूपी खड्ग के प्रहार से युवारूपी संग्राम से बचा है वह पुरुष धन्य है; उसको मेरा नमस्कार है । स्त्री का संयोग परम दुःख का कारण है, इससे मुझको इसकी इच्छा नहीं । हे मुनीश्वर ! जो रोग होता है उसी के अनुसार जो औषध करता है तो रोग निवृत्त होता है और कुपथ्य से उसका प्रकोप होकर रोग बढ़ जाता है, इससे मेरे रोग के अनुसार औषध करो । मेरा रोग सुनिये कि जरा और मृत्यु मुझको बड़ा रोग है । उसके नाश की औषध मुझको दीजिये । स्त्री आदिक सब भोग तो रोग के वृद्धिकर्त्ता हैं । जैसे अग्नि में घृत डालिये तो बढ़ जाती है वैसे ही भोग से जरा मृत्यु आदि रोग बढ़ते हैं । इससे इस रोग की निवृत्ति की औषध करो, नहीं तो सबका त्याग कर मैं वन में जा रहूँगा । हे मुनीश्वर ! जिसके स्त्री है उसको भोग की इच्छा भी होती है और जिसके स्त्री नहीं होती उसको स्त्री की इच्छा भी नहीं । जिसने स्त्री का त्याग किया है उसने संसार का भी त्याग किया है और वही सुखी है। संसार का बीज स्त्री है इससे मुझको स्त्री की इच्छा नहीं । मुझको वही औषध दीजिये जिससे जरा मृत्यु आदि रोग की निवृत्ति हो ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठेवैराग्यप्रकरणे स्त्रीदुराशावर्णनंनामषोडशस्सर्गः॥ १६॥

श्रीरामजी बोले, हे मुनीश्वर ! बालक अवस्था तो महाजड़ और अशक्त है । जब युवावस्था आती है तब बाल्यावस्था का ग्रास कर लेती है और उसके अनन्तर जब वृद्धावस्था आती है तब शरीर जर्जरीभूत हो जाता है और बुद्धि क्षीण हो जाती है, फिर मृत्यु पाता है । हे मुनीश्वर ! इस प्रकार अज्ञानी का जीना व्यर्थ है कुछ अर्थ की सिद्धि नहीं । जैसे नदी के तट पर के वृक्ष जल के प्रवाह से जर्जरीभूत हो जाते हैं वैसे ही वृद्धावस्था में शरीर जर्जरीभूत हो जाता है। जैसे पवन से पत्र उड़ जाते हैं वैसे ही वृद्धावस्था में शरीर नाश पाता है । जितने कुछ रोग हैं वह सब वृद्धावस्था में आ प्राप्त होते हैं और शरीर कृश हो जाता है । उस समय स्त्री, पुत्रादिक भी सब वृद्ध का त्याग कर देते हैं । जैसे पके फल को वृक्ष त्याग देता है वैसे ही वृद्ध को कुटुम्ब त्याग देता है और जैसे बावले को देख के सब हँसके बोलते हैं कि इसकी बुद्धि जाती रही वैसे ही इसको भी देखके हँसते हैं । जैसे कमल का फूल बरफ पड़ने से जर्जरीभूत हो जाता है वैसे ही जरावस्था में पुरुष जर्जरीभाव को प्राप्त होता है शरीर कुबड़ा हो जाता है; केश श्वेत हो जाते हैं और शक्ति क्षीण हो जाती है । जैसे चिरकाल के बड़े वृक्ष में घुन लगता है वैसे ही इसमें कुछ शक्ति नहीं रहती । हे मुनीश्वर ! और भी सब कृत्य क्षीण हो जाती है परन्तु एक आसक्तिमात्र रहती है। जैसे बड़े वृक्ष पर उलूक आ रहते हैं वैसे ही इसमें क्रोध शक्ति आ रहती है और सब शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। हे मुनीश्वर ! जरावस्था दुःख का घर है। जब जरावस्था आती है तब सब दुःख इकट्ठे होते हैं उनसे पुरुष महादीन हो जाते हैं । युवावस्था में जो काम का बल रहता है सो भी जरा में क्षीण हो जाता है, इन्द्रियों की आसक्ति घट जाती है और उनकी चपलता का अभाव हो जाता है । जैसे पिता के निर्धन होने से पुत्र दीन हो जाता है वैसे ही शरीर के निर्बल होने से इन्द्रियाँ भी निर्बल हो जाती हैं। केवल एक तृष्णा बढ़ जाती है। हे मुनीश्वर ! जब जरारूपी रात्रि आती है तब खाँसीरूपी स्यार आकर शब्द करते हैं और आधिव्याधिरूपी उलूक आकर निवास करते हैं। हे मुनीश्वर ! ऐसी नीच वृद्धावस्था की मुझको इच्छा नहीं। जैसे फल से वृक्ष झुक जाता है वैसे ही बुढ़ापे से देह कुबड़ी हो जाती है ।

युवावस्था में स्त्री पुत्रादिक उसकी टहल करते थे पर वही सब उसको वृद्धावस्था में जैसे वृद्ध बैल को बैलवाला त्याग देता है वैसे ही त्याग देते हैं, देखके हँसते हैं और अपमान करते हैं। उनको वह तब ऊँट की नाईं भासता है। हे मुनीश्वर ! ऐसी नीच अवस्था की मुझको इच्छा नहीं। अब जो कुछ कर्त्तव्य हो मुझसे कहिये मैं करूँ ? इस शरीर की तीनों अवस्था में कोई सुखदायी नहीं, क्योंकि बाल्यावस्था महामूढ़ है, युवावस्था महाविकारवान् है और जरावस्था महादुःख का पात्र है। बाल्यावस्था को युवावस्था ग्रास कर लेती है; युवावस्था को जरावस्था ग्रास कर लेती है और जरावस्था को मृत्यु ग्रास कर लेती है। यह अवस्था सब अल्पकाल की हैं, इनके आश्रय से मुझको क्या सुख होगा ? इससे आप मुझे वही उपाय बताइये जिससे इस दुःख से मुक्त हो जाऊँ। हे मुनीश्वर! जब जरावस्था आती है तब मरना भी निकट आता है। जैसे सन्ध्या आने से रात्रि तत्काल आ जाती है और जो सन्ध्या के आने से दिन की इच्छा करते हैं वह मूर्ख हैं वैसे ही जरा के आने से जीने की आशा रखनी महामूर्खता है। हे मुनीश्वर ! जैसे बिल्ली चिन्तन करती है कि चूहा आवे तो पकड़ लूँ वैसे ही मृत्यु भी देखती है कि जरावस्था आवे तो मैं इसका ग्रास कर लूँ। हे मुनीश्वर ! यह परम नीच अवस्था है। यह जब आती है तब शरीर को जर्जरीभूत कर देती है; कँपाने लगती है और शरीर को निर्बल और क्रूर कर देती है। जैसे कमल पर बरफ की वर्षा हो और वह जर्जरीभूत हो जाय वैसे ही यह शरीर को जर्जरीभूत कर डालती है। जैसे वन में बाघ आकर शब्द करते हैं और मृग का नाश करते हैं वैसे ही खाँसीरूपी बाघ आकर मृगरूपी बल का नाश करते हैं। हे मुनीश्वर ! जब जरा आती है तब जैसे चन्द्रमा के उदय से कमलिनी खिल आती है वैसे ही मृत्यु प्रसन्न होती है। यह जरावस्था बड़ी दुष्टा है; इसने बड़े बड़े योधों को भी दीन कर दिया है। यद्यपि बड़े बड़े शूर संग्राम में शत्रुओं को जीतते हैं पर उनको भी जरा ने जीत लिया है। जो बड़े बड़े पर्वतों को चूर्ण कर डालते हैं उनको भी जरा पिशाचिनी ने महादीन कर दिया है। इस जरारूपी राक्षसी ने सबको दीन कर दिया है। यह सबको जीतनेवाली है। हे मुनीश्वर ! जैसे वृक्ष में अग्नि लगती और उसमें

से धूम निकलता है। वैसे ही शरीररूपी वृक्ष में से जरारूपी अग्नि लगकर तृष्णारूपी धुवाँ निकलता है। जैसे डिब्बे में बड़े रत्न रहते हैं। वैसे ही जरारूपी डिब्बे में दुःखरूपी अनेक रत्न रहते हैं। जरारूपी वसन्तऋतु है; उससे शरीररूपी वृक्ष दुःखरूपी रस से होता है। जैसे हाथी जंजीर से बँधा हुआ दीन हो जाता है वैसे ही जरारूपी जँजीर से बँधा पुरुष दीन हो जाता है। उसके सब अङ्ग शिथिल हो जाते हैं, बल क्षीण हो जाता है, इन्द्रियाँ भी निर्बल हो जाती हैं और शरीर जर्जरीभाव को प्राप्त होता है, परन्तु तृष्णा नहीं घटती वह तो नित्य बढ़ती ही चली जाती है। जैसे रात्रि आती है तब सूर्यवंशी कमल सब मुँद जाते हैं और पिशाचिनी आ विचरने लगती है और प्रसन्न होती है वैसे ही जरारूपी रात्रि के आने से सब शक्तिरूप कमल मुँद जाते हैं और तृष्णारूपी पिशाचिनी प्रसन्न होती है। हे मुनीश्वर ! जैसे गङ्गातट के वृक्ष गङ्गाजल के वेग से जर्जरीभूत हो जाते हैं वैसे ही जो यह आयुरूपी प्रवाह चलता है उसके वेग से शरीर जर्जरीभूत हो जाता है। जैसे मांस के टुकड़े को देख आकाश से उड़ती चील नीचे आकर ले जाती है वैसे ही जरावस्था में शरीररूपी मांस को काल ले जाता है हे मुनीश्वर ! यह तो काल का ग्रास बना हुआ है। जैसे वृक्ष को हाथी खा जाता है वैसे जरावाले शरीर को काल देख के खाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे जरावस्थानिरूपणं
नाम सप्तदशस्सर्गः ॥ १७ ॥

रामजी बोले कि हे मुनीश्वर ! संसाररूपी गढ़ा है उसमें अज्ञानी गिरा है, पर संसाररूपी गढ़ा तो अल्प है और अज्ञानी बड़ा हो गया है। संकल्प विकल्प की अधिकता से बढ़ा है। जो ज्ञानवान् पुरुष है वह संसार को मिथ्या जानता है और संसाररूपी जाल में नहीं फँसता और जो अज्ञानी पुरुष है वह संसार को सत्य जानकर उसकी आस्थारूपी जाल में फँसता है और भोग की वाञ्छा करता है। वह ऐसा है जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब देखकर बालक पकड़ने की इच्छा करता है वैसे ही अज्ञानी संसार को सत्य जानकर जगत् के पदार्थ की वाञ्छा करता

है कि यह मुझे प्राप्त हो और यह न हो। यह सब सुख नाशात्मक हैं अभिप्राय यह कि आते हैं और जाते हैं स्थिर नहीं रहते; इनको काल ग्रास करता है। जैसे पके अनार को चूहा खा जाता है वैसे ही सब पदार्थों को काल खाता है। हे मुनीश्वर! यह सब पदार्थ कालग्रसि हैं। जैसे नेवला सर्प को भक्षण कर जाता है वैसे ही बड़े बड़े बली सुमेरु ऐसे गम्भीर पुरुषों को काल ने ग्रसित किया है। जगत्रूपी एक गूलर का फल है; उसमें मज्जा ब्रह्मादिक हैं और उसका वन ब्रह्मरूप है। उस ब्रह्मरूप वन में जितने वन हैं सो सब इसका आहार हैं। यह काल सबको भक्षण कर जाता है। हे मुनीश्वर! यह काल बड़ा बलिष्ठ है; जो कुछ देखने में आता है सो सब इसने ग्रास कर लिया है। हमारे जो बड़े ब्रह्मादिक हैं उनका भी काल ग्रास कर जाता है तो और का क्या कहना है जैसे सिंह मृग का ग्रास कर लेता है। काल किसी से जाना नहीं जाता। क्षण, घरी, प्रहर, दिन, मास और वर्षादिक से जानिये सोई काल है और काल की मूर्ति प्रकट नहीं है। यह किसी को स्थिर नहीं होने देता। एक बेलि काल ने पसारी है उसकी त्वचा रात्रि है और फूल दिन है और जीवरूपी भौंरे उस पर आ बैठते हैं। हे मुनीश्वर! जगत्रूपी गूलर का फल है उसमें जीवरूपी बहुत मच्छर रहते हैं। जैसे तोता अनार का भक्षण करता है वैसे ही काल उस फल का भक्षण करता है। जगत्रूपी वृक्ष है; जीवरूपी उसके पत्र हैं और कालरूपी हस्ती उसका भक्षण कर जाता है। शुभ अशुभरूपी भैंसे को कालरूपी सिंह छेद छेद के खाता है। हे मुनीश्वर! यह काल महाक्रूर है; किसी पर दया नहीं करता; सबको खा जाता है। जैसे मृग सब कमलों को खा जाता है उससे कोई नहीं बचता वैसे ही काल भी सबको खाता है परन्तु एक कमल बचा है। उस कमल के शान्ति और मैत्री अंकुर हैं और चेतनामात्र प्रकाश है, इस कारण वह बचा है। कालरूपी मृग इस तक नहीं पहुँच सकता बल्कि इसमें प्राप्त हुआ काल भी लीन हो जाता है। जो कुछ प्रपञ्च हैं सो सब काल के मुख में हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, कुबेर आदि सब मूर्ति काल की धरी हुई हैं। यह उनको भी अन्तर्द्धान कर देता है। हे मुनीश्वर! उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय सब काल से होते हैं। अनेक बेर इसने महाकल्प का भी ग्रास किया है और अनेक बेर करेगा। काल को भोजन करने से तृप्ति कदाचित् नहीं होती और कदाचित् होनेवाली भी नहीं। जैसे अग्नि घृत की आहुति से तृप्त नहीं होता। वैसे ही जगत् और सब ब्रह्माण्ड का भोजन करके भी काल तृप्त नहीं होता इसका ऐसा स्वभाव है कि इन्द्र को दरिद्री कर देता है और दरिद्री को इन्द्र कर देता है; सुमेरु को राई बनाता है और राई को सुमेरु करता है। सबसे बड़े ऐश्वर्यवान् को नीच कर डालता है और सबसे नीच को ऊँच कर डालता है। बूँद को समुद्र कर डालता है और समुद्र को बूँद करता है। ऐसी शक्ति काल में है। यह जीवरूपी मच्छरों को शुभाशुभ कर्मरूपी छुरे से छेदता रहता है। कालकूप का चक्र जीवरूपी हँड़िया को शुभ-अशुभ कर्मरूपी रस्सी से बाँधकर फिराता है और जीवरूपी वृक्ष को रात्रि और दिनरूपी कुल्हाड़े से छेदता है। हे मुनीश्वर! जितना कुछ जगत् विलास भासता है काल सबको ग्रास कर लेगा। जीवरूपी रत्न का काल डब्बा है सो सबको अपने उदर में डालता जाता है। काल यों खेल करता है कि चन्द्र सूर्यरूपी गेंद को कभी ऊर्ध्व को उछालता है और कभी नीचे डालता है। जो महापुरुष है वह उत्पत्ति और प्रलय के पदार्थों में से किसी के साथ स्नेह नहीं करता और उसका काल भी नाश नहीं कर सकता। जैसे मुण्ड की माला महादेवजी गले में धारे हैं वैसे ही यह भी जीवों की माला गले में डालता है। हे मुनीश्वर! जो बड़े बड़े बलिष्ठ हैं उनको भी काल ग्रहण कर लेता है। जैसे समुद्र बड़ा है उसको बड़वानल पान कर लेता है और जैसे पवन भोजपत्र को उड़ाता है वैसे ही काल का भी बल है, किसी की सामर्थ्य नहीं जो इसके आगे स्थित रहे। हे मुनीश्वर! शान्तिगुण प्रधान देवता, रजोगुण प्रधान बड़े राजा और तमोगुण प्रधान दैत्य और राक्षस हैं उनमें किसी को सामर्थ्य नहीं जो इसके आगे स्थिर रहें। जैसे तौली में अन्न और जल भरके अग्नि पर चढ़ा देने से अन्न उछलता है और वह अन्न के दाने करछी से कभी ऊपर और कभी नीचे फिर जाते हैं वैसे ही जीवरूपी अन्न के दाने जगत्रूपी तौली में

पड़े हुए रागद्वेषरूपी अग्नि पर चढ़े हैं और कर्मरूपी करछी से कभी ऊपर जाते हैं और कभी नीचे आते हैं। हे मुनीश्वर! यह काल किसी को स्थिर नहीं होने देता यह महाकठोर है, दया किसी पर नहीं करता। इसका भय मुझको रहता है इससे वही उपाय मुझसे कहिये जिससे मैं काल से निर्भय हो जाऊँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे कालनिरूपणन्नामाष्टादशस्सर्गः॥ १८॥

श्रीरामजी बोले कि हे मुनीश्वर! यह काल बड़ा बलिष्ठ है। जैसे राजा के पुत्र शिकार खेलने जाते हैं तो वन में बड़े बड़े पशु-पक्षी उनसे दुःख पाते हैं वैसे ही यह संसाररूपी वन है उसमें प्राणीमात्र पशु-पक्षी हैं। जब कालरूपी राजपुत्र उसमें शिकार खेलने आता है तब सब जीव भय पाते हैं और जर्जरीभूत होते हैं और वह उनको मारता है। हे मुनीश्वर! यह काल महाभैरव है सबका ग्रास कर लेता है। प्रलय में सबका प्रलय कर डालता है और इसकी जो चण्डिका शक्ति है उसका बड़ा उदर है। वह कालिका सबका ग्रास करके पीछे नृत्य करती है। जैसे वन के मृग को सिंह और सिंहनी भोजन करके नृत्य करते हैं वैसे ही जगत्‌रूपी वन में जीवरूपी मृग को भोजन करके काल और कालिका नृत्य करते हैं। फिर इन्हीं से जगत् का प्रादुर्भाव होता है। नाना प्रकार के पदार्थों को रचते हैं और पृथ्वी, बगीचे, बावली आदि सब पदार्थ इन्हीं से उत्पन्न होते हैं। जीवों की उत्पत्ति भी इनसे होती है और एक समय में उनका नाश भी कर देती है। सुन्दर समुद्र रचके फिर उनमें अग्नि लगा देती है और सुन्दर कमल को बनाके फिर उसके ऊपर बरफ की वर्षा करती है। जहाँ बड़े बड़े स्थान बसते हैं उनको उजाड़ डालती है और फिर उजाड़ में बस्ती करती है और नाश भी करती है; किसी को स्थिर नहीं रहने देती। जैसे बाग में वानर आकर वृक्ष को ठहरने नहीं देता वैसे ही कालरूपी वानर किसी पदार्थ को स्थिर रहने नहीं देता। हे मुनीश्वर! इस प्रकार से सब पदार्थ काल से जर्जरीभूत होते हैं। उनका आश्रय मैं किस रीति से करूँ? मुझको तो यह सब नाशरूप भासते हैं, इससे अब मुझको किसी जगत् के पदार्थ की इच्छा नहीं।

इति श्रीयो० वै० कालविलासवर्णनन्नामैकोनविंशतितमस्सर्गः॥ १९॥

रामजी बोले कि हे मुनीश्वर! इस काल का महापराक्रम है। इसके तेज के सम्मुख कोई नहीं रह सकता। यह क्षण में ऊँच को नीच और नीच को ऊँच कर डालता है। उसका निवारण कोई नहीं कर सकता। सब उसी के भय से काँपते हैं। यह महाभैरव है सब विश्व का ग्रास कर लेता है। इसकी चण्डिकारूप शक्ति है, वह अति बलवान् है और नदीरूप है, उसका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। महाकालरूप काली है, उसका बड़ा भयानक आकार है। कालरूप जो रुद्र है उससे अभिन्नरूपी कालिका है, वह सबका पान करके पीछे भैरव और भैरवी नृत्य करते हैं। उस काल और कालिका का बड़ा आकार है। उसका आकाश शीश, पताल में चरण हैं और दशों दिशा भुजा हैं। सप्त समुद्र उसके हाथ में कङ्कण हैं; सम्पूर्ण पृथ्वीरूप उसके हाथ में पात्र है; और उस पर जो जीव हैं वह भोजन के योग्य हैं। हिमालय और सुमेरु पर्वत दोनों कानों में कुण्डल हैं; चन्द्रमा और सूर्य उसके दोनों लोचन हैं और सब तारागण उसके मस्तक में बिन्दु हैं। काल के हाथ में त्रिशूल और मूसल आदि शस्त्र हैं और कालिका के हाथ में ताँतरूपी फाँसी है, उससे जीवों को मारती है। ऐसी कालिकादेवी सब जीवों का ग्रास करके महाभैरव के आगे नृत्य करती है, अट्टाट्ट शब्द करती है और जीवों को भोजन करके उनकी मुण्डमाला गले में धारण करती है। भैरव के सम्मुख रहने की किसी में शक्ति नहीं, जहाँ उजाड़ है वहाँ क्षण में बस्ती कर डालता है और जहाँ बस्ती है वहाँ क्षण में उजाड़ करता है। इसी से उसका नाम देव कहते हैं। वह बड़े बड़े पदार्थों को उत्पन्न और नष्ट करता है, स्थिर किसी को नहीं रहने देता, इससे इसका नाम कृतान्त है और नित्यरूप भी यही है, क्योंकि इसका परिणाम अनित्य है इसी से इसका नाम कर्म है। जब अभावरूपी धनुष हाथ में धरता है तो उससे रागद्वेषरूपी बाण चलाता है और उस बाण से जर्जरीभूत करके नाश करता है। जैसे बालक मृत्तिका की सेना बनाता है और उठाकर नष्ट भी कर देता है वैसे ही काल को उपजाने और नष्ट करने में कुछ यत्न नहीं करना पड़ता। हे मुनीश्वर! कालरूपी धीवर है और उसने क्रियारूपी जाल पसारा है।

उसमें जीवरूपी पक्षी फँसते हैं सो फँसे हुए शान्ति नहीं पाते। हे मुनीश्वर! यह तो सब नाशरूप पदार्थ हैं इनमें आश्रय किसका करूँ कि जिसमें सुख हो। यह तो स्थावर जङ्गम जगत् सब काल के मुख में है, यह सब नाशरूप मुझको दृष्टि आता है, इससे जो निर्भय पद हो सो मुझसे कहिए।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे कालजुगुप्सावर्णनन्नामविंशतितमस्सर्गः ॥ २० ॥

श्रीरामजी बोले कि हे मुनीश्वर! जितने पदार्थ भासते हैं वह सब नाशरूप हैं तो मैं किसकी इच्छा करूँ और किसका आश्रय करूँ? इनकी इच्छा करनी मूर्खता है। जितनी चेष्टा अज्ञानी करता है वह सब दुःख के निमित्त है और जीने में अर्थ की सिद्धि कुछ नहीं है, क्योंकि बालक अवस्था में मूढ़ता रहती है, कुछ विचार नहीं रहता। जब युवावस्था आती है तब मूर्खता से विषय को सेवता है और मान मोहादि विकारों से मोहा जाता है, उसमें कुछ विचार नहीं होता और स्थिर भी नहीं रहता, दीन का दीन रह के विषय की तृष्णा करता है, शान्ति नहीं पाता। हे मुनीश्वर! आयुष्य महाचञ्चल है और मृत्यु तो निकट है उसमें अन्यथा भाव नहीं होता। हे मुनीश्वर! जितने भोग हैं वे रोग हैं, जिसको सम्पदा जानते हैं वह आपदा है, जिसको सत्य कहते हैं वह असत्यरूप है, जिन स्त्री, पुत्रादिकों को मित्र जानते हैं वह सब बन्धन के कर्त्ता हैं और इन्द्रियाँ महाशत्रुरूप हैं। वह सब मृगतृष्णा के जलवत् हैं, यह देह विकाररूप है, मन महाचञ्चल और सदा अशान्तरूप है और अहङ्कार महानीच है, इसने ही दीनता को प्राप्त किया है। इससे जितने पदार्थ इसको सुखदायक भासते हैं वह सब दुःख के देनेवाले हैं, इससे कदाचित् शान्ति नहीं होती। इसी कारण मुझको इनकी इच्छा नहीं। यद्यपि यह देखनेमात्र सुन्दर भासते हैं, पर इनमें सुख कुछ नहीं और स्थिर न रहेंगे। जैसे समुद्र में नाना प्रकार के तरङ्ग भासते हैं, पर वह सब बड़वाग्नि से नाश होते हैं वैसे ही यह पदार्थ भी नष्ट हो जाते हैं। मैं अपनी आयु में कैसे आस्था करूँ? हे मुनीश्वर! बड़े समुद्र, सुमेरु, राक्षस, दैत्य, देवता, सिद्ध, गन्धर्व, पृथ्वी, अग्नि, पवन, यम, कुबेर, वरुण, इन्द्र, ध्रुव, चन्द्रमा और बड़े ईश्वर जगत् के कर्त्ता, ब्रह्मा,

विष्णु, रुद्र और काल जो सबको भक्षण करता है, काल की स्त्री, सब का आधार आकाश और जितना जगत् है यह सब नष्ट हो जावेंगे तो हमारी कौन गिनती है। हम किसकी आस्था करें और किसका आश्रय करें? यह सब जगत् भ्रममात्र है; अज्ञानी की इसमें आस्था होती है और हमारी नहीं, क्योंकि जगत् भ्रम से उत्पन्न हुआ है। मैं इतना जानता हूँ कि संसार में जीव को इतना दुःखी अहङ्कार ने किया है। हे मुनीश्वर! यह जीव अपने परमशत्रु अहङ्कार से भटकता फिरता है। जैसे रस्सी से बँधे हुए पतङ्ग कभी ऊर्ध्व और कभी नीचे जाते हैं, स्थिर कभी नहीं रहते वैसे ही जीव अहङ्कार से कभी ऊर्ध्व और कभी अधो जाता है स्थिर कभी नहीं होता। जैसे अश्व जुते हुए रथ के ऊपर बैठकर सूर्य आकाशमार्ग में फिरता है वैसे ही यह जीव भ्रमता है, स्थिर कदाचित् नहीं होता। हे मुनीश्वर! यह जीव परमार्थ सत्य स्वरूप से भूला हुआ भटकता है, अज्ञान से संसार में आस्था करता है और भोग को सुखरूप जानकर उसमें तृष्णा करता है। पर जिसको सुखरूप जानता है वह रोगसमान है और विष से पूर्ण सर्प जीव का नाश करनेवाला है जिसको सत्य जानता है वह असत्य है। सब काल के मुख में ग्रसे हुए हैं। हे मुनीश्वर! विचार के विना जीव अपना नाश आप ही करता है, क्योंकि इसका कल्याण करनेवाला बोध है। जब सत्य विचार बोध के शरण जाय तो कल्याण हो। जितने पदार्थ हैं वह स्थिर नहीं रहते। इनको सत्य जानना दुःख के निमित्त है। हे मुनीश्वर! जब तृष्णा आती है तब आनन्द और धैर्य को नष्ट कर देती है। जैसे वायु मेघ का नाश कर डालता है वैसे ही तृष्णा ज्ञान का नाश कर डालती है। इससे मुझे वही उपाय कहिए जिससे जगत् का भ्रम मिट जावे और अविनाशी पद की प्राप्ति हो। इस भ्रमरूप जगत् की आस्था मैं नहीं देखता। इससे जैसी इच्छा हो वैसा करें, परन्तु जो सुख दुःख इसको होने हैं वह अवश्य होंगे कभी न मिटेंगे। चाहे पहाड़ की कन्दरा में बैठे, चाहे कोट में परन्तु जो होने को है वह अवश्य होगा। इस निमित्त यत्न करना मूर्खता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे कालविलासवर्णनन्नामैकविंशतितमस्सर्गः ॥ २१ ॥

रामजी बोले कि हे मुनीश्वर! यह जो नाना प्रकार के सुन्दर पदार्थ भासते हैं वह सब नाशरूप हैं, इनकी आस्था मूर्ख करते हैं। यह तो मन की कल्पना से रचे हुए हैं, उनमें से मैं किसकी आस्था करूँ? हे मुनीश्वर! अज्ञानी जीव का जीना व्यर्थ है, क्योंकि जीने से उनका कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता। जब कुमार अवस्था होती है तब बुद्धि मूढ़ होती है, उसमें कुछ विचार नहीं होता। जब युवावस्था आती है तब काम क्रोधादिक विकार उत्पन्न होते हैं ये सदा ढाँपे रहते हैं। जैसे जाल में पक्षी बँध जाता है और आकाशमार्ग को देख भी नहीं सकता वैसे ही काम क्रोधादिक से ढँका हुआ जीव विचारमार्ग को नहीं देख सकता। जब वृद्धावस्था आती है तब शरीर जर्जरीभूत और महादीन हो जाता है और जीव शरीर को त्याग देता है। जैसे कमल के ऊपर बरफ पड़ती है तब उसको भँवरा त्याग देता है वैसे ही शरीररूपी कमल को जरा का स्पर्श होता है तब जीवरूपी भँवरा त्याग देता है। हे मुनीश्वर! यह शरीर तब तक सुन्दर है जब तक वृद्धावस्था नहीं प्राप्त होती। जैसे चन्द्रमा का प्रकाश जब तक राहु दैत्य ने आवरण नहीं किया तब तक रहता है; जब राहु दैत्य आवरण करता है तब प्रकाश नहीं रहता; वैसे ही जरावस्था के आने से युवावस्था की सुन्दरता जाती रहती है। हे मुनीश्वर! जरा के आने से शरीर कृश हो जाता है, जैसे वर्षाकाल में नदी बढ़ जाती है वैसे ही जरावस्था में तृष्णा बढ़ जाती है और जिस पदार्थ की तृष्णा करता है वह पदार्थ भी दुःखरूप है, इसलिये तृष्णा करके आप ही दुःख पाता है। हे मुनीश्वर! तृष्णारूपी समुद्र में चित्तरूपी बेड़ा पड़ा है और रागद्वेषरूपी मच्छों से कभी ऊर्ध्व को जाता है और कभी नीचे आता है, स्थिर कदाचित् नहीं रहता। हे मुनीश्वर! कामरूपी वृक्ष में तृष्णारूप लता और विषयरूपी फूल हैं; जब जीवरूपी भँवरा उसके ऊपर बैठता है तब विषयरूपी बेल से मृतक हो जाता है। हे मुनीश्वर! तृष्णारूपी एक बड़ी नदी है उसमें राग-द्वेषादिक बड़े बड़े मच्छ रहते हैं। उस नदी में पड़े हुए जीव दुःख पाते हैं। जिस संसार की इच्छा करता है वह नाशरूप है। हे मुनीश्वर! तरङ्गों के समूह के रणरूपी समुद्र को तरजानेवाले को भी मैं शूर नहीं मानता, परन्तु जो इन्द्रियरूपी समुद्र में मनोवृत्तिरूपी तरङ्ग उठते हैं उस समुद्र के तरजानेवाले को मैं शूर मानता हूँ। ऐसी क्रिया अज्ञानी जीव आरम्भ करते हैं कि जिसके परिणाम में दुःख हो। जिसके परिणाम में सुख है उसका आरम्भ वे नहीं करते और काम के अर्थ की धारणा करते हैं। ऐसे आरम्भ से शरीर की शान्ति के पीछे भी सुख की प्राप्ति नहीं होती। वे कामना करके सदा जलते रहते हैं। जो अनात्मपदार्थ की तृष्णा करते हैं उनको शान्ति कैसे प्राप्त हो? हे मुनीश्वर! तृष्णारूपी नदी में बड़ा प्रवाह है; उसके किनारे पर वैराग्य और सन्तोष दो वृक्ष खड़े हैं, सो तृष्णा नदी के प्रवाह से दोनों का नाश होता है। हे मुनीश्वर! तृष्णा बड़ी चंचल है, किसी को स्थिर नहीं होने देती। मोहरूपी एक वृक्ष है उसके चारों ओर स्त्रीरूपी बेल है सो विष से पूर्ण है। उस पर चित्तरूपी भँवरा आ बैठता है तब स्पर्शमात्र से नाश होता है। जैसे मोर का पुच्छ हिलता रहता है वैसे ही अज्ञानी का चित्त चंचल रहता है, इसलिये वह मनुष्य पशु के समान है। जैसे पशु दिन को जंगल में जा आहार करते और चलते फिरते हैं और रात्रि को घर में आय खूँटे से बाँधे जाते हैं वैसे ही मूर्ख मनुष्य भी दिन को घर छोड़ के व्यवहार में फिरते हैं और रात्रि को आ अपने घर में स्थिर होते हैं। पर इससे परमार्थ की कुछ सिद्धि नहीं होती, वे अपना जीवन वृथा गँवाते हैं। बाल्यावस्था में तो शून्य रहता है और युवावस्था में काम से उन्मत्त होता है। उस काम से चित्तरूपी उन्मत्त हस्ती स्त्रीरूपी कन्दरा में जा स्थित होता है, पर वह भी क्षणभंगुर है। फिर वृद्धावस्था आती है उससे शरीर कृश हो जाता है। जैसे बरफ से कमल जर्जरीभाव को प्राप्त होता है वैसे ही जरा से शरीर जर्जरीभाव को प्राप्त होता है और सब अङ्ग क्षीण हो जाते हैं, पर एक तृष्णा बढ़ जाती है। हे मुनीश्वर! यह जीव मनुष्यरूपी पर्वत पर आ आकाश के फूलरूपी जगत् के पदार्थों की इच्छा करता है सो नीचे गिर राग-द्वेषरूपी कण्टक के वृक्ष में जा पड़ेगा। हे मुनीश्वर! जितने जगत् के पदार्थ हैं वह सब आकाश के फूल की नाईं नाशवान् हैं। इनमें आस्था करनी मूर्खता है। यह तो शब्दमात्र हैं।

इनसे अर्थ कुछ सिद्ध नहीं होता। जो ज्ञानवान् पुरुष हैं उनको विषय-भोग की इच्छा नहीं रहती, क्योंकि आत्मा के प्रकाश से वे इनको मिथ्या जानते हैं। हे मुनीश्वर ! ऐसे ज्ञानवान् दुर्विज्ञेय पुरुष हमको तो स्वप्न में भी नहीं भासते। ऐसे विरक्तात्मा दुर्लभ हैं कि जिनको भोग की इच्छा नहीं और सर्वदा ब्रह्म की स्थिति में भासते हैं। ऐसे पुरुषों को संसार की कुछ इच्छा नहीं रहती, क्योंकि यह पदार्थ नाशरूप हैं। हे मुनीश्वर ! जैसे पर्वत को जिस ओर देखिये पत्थरों से, पृथ्वी मृत्तिका से, वृक्ष काष्ठ से और समुद्र जल से पूर्ण दृष्टि आते हैं वैसे ही शरीर अस्थि-मांस से पूर्ण भासता है। ये सब पदार्थ पञ्चतत्त्व से पूर्ण और नाशरूप हैं। ऐसा जानकर ज्ञानी किसी की इच्छा नहीं करता। हे मुनीश्वर ! यह जगत् सब नाशरूप है, देखते ही देखते नष्ट हो जाता है, मैं उसमें किस का आश्रय करके सुख पाऊँ ? जब युगों की सहस्र चौकड़ी व्यतीत होती हैं तब ब्रह्मा का एक दिन होता है। उस दिन के क्षय होने से सब जगत् का प्रलय होता है और ब्रह्मा भी काल पाकर नष्ट हो जाता है। ब्रह्मा भी जितने हो गये हैं उनकी संख्या नहीं हो सकती, असंख्य ब्रह्मा नष्ट हो गये हैं तो हम सरीखों की क्या वार्त्ता है। हम किसी भोग की वासना नहीं करते, क्योंकि सब चलरूप हैं, स्थिर रहने के नहीं, सब नाशरूप हैं, इसलिए इनकी आस्था मूर्ख करते हैं, इनके साथ हमको कुछ प्रयोजन नहीं। जैसे मरुस्थल को देख मृग जलपान करने को दौड़ता और शान्ति नहीं पाता वैसे ही मूर्ख जीव जगत् के पदार्थों को सत्य मानकर तृष्णा करता है, परन्तु शान्ति नहीं पाता, क्योंकि सब असाररूप हैं। स्त्री, पुत्र और कलत्र जब तक शरीर नष्ट नहीं होता तभी तक भासते हैं, जब शरीर नष्ट हो जायगा तो जाना न जावेगा कि कहाँ गये और कहाँ से आये थे। जैसे तेल और बत्ती से दीपक बड़ा प्रकाशवान् दृष्टि आता है, जब बुझ जाता है तब जाना नहीं जाता कि कहाँ गया वैसे ही बत्तीरूप बान्धव हैं और उसमें स्नेहरूपी तेल है उससे जो शरीर भासता है सो प्रकाश है। जब शरीररूपी दीपक का प्रकाश बुझ जाता है तब जाना नहीं जाता कि कहाँ गया। हे मुनीश्वर ! बन्धु का मिलाप ऐसा है जैसे कोई तीर्थयात्रा को सङ्ग चला जाता हो सो सब एक क्षण वृक्ष की छाया के नीचे बैठते हैं फिर न्यारे न्यारे हो जाते हैं। जैसे उस यात्रा में स्नेह करना मूर्खता है वैसे ही इनमें भी स्नेह करना मूर्खता है। हे मुनीश्वर ! अहं ममता व[illegible] रस्सी के साथ बाँधे हुए घटीयन्त्र की नाईं सब जीव भ्रमते फिरते हैं, उनको शान्ति कदाचित् नहीं होती। यह देखनेमात्र तो चेतन दृष्टि आता है, परन्तु पशु और बन्दर इनसे श्रेष्ठ हैं जिनकी सम्मति देह और इन्द्रियों के साथ बँधी हुई है और आगमापायी हैं उनको आत्मपद की प्राप्ति कठिन है। जैसे पवन से वृक्ष के पात टूट के उड़ जाते हैं फिर उनको वृक्ष के साथ लगना कठिन है वैसे ही जो देहादिक से बाँधे हुए हैं उनको आत्मपद का पाना कठिन है। हे मुनीश्वर! जब आत्मपद से विमुख होता है तब जगत् को भ्रम देखता है और जब आत्मपद की ओर आता है तब संसार इसको बड़ा विरस लगता है। ऐसा पदार्थ जगत् में कोई नहीं जो स्थिर रहे, जो कुछ पदार्थ हैं सो नाश को प्राप्त होते हैं। इससे मैं किसकी आस्था करूँ और किसका आश्रय करूँ सब तो नाशवन्त भासते हैं? वह पदार्थ मुझसे कहिये जिसका नाश न हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे सर्वपदार्थाभाववर्णनन्नाम
द्वाविंशतितमस्सर्गः ॥ २२ ॥

श्रीरामजी बोले कि हे मुनीश्वर ! जितना स्थावर जङ्गम जगत् दीखता है वह सब नाशरूप है, कुछ भी स्थिर न रहेगा। जो खाईं थी वह जल से पूर्ण हो गई है और जो बड़े जल से भरे हुए समुद्र दीखते थे वे खाईं-रूप हो गये; जो सुन्दर बड़े बागीचे थे वे आकाश की नाईं शून्य हो गये और जो शून्य स्थान थे वे सुन्दर वृक्ष होकर वन में दृष्टि आते हैं। जहाँ बस्ती थी वहाँ उजाड़ हो गई और जहाँ उजाड़ थी वहाँ बस्ती हो गई। जहाँ गढ़े थे वहाँ पर्वत हो गये और जहाँ बड़े पर्वत थे वहाँ समान पृथ्वी हो गई। हे मुनीश्वर ! इस प्रकार पदार्थ देखते देखते विपर्यय हो जाते हैं, स्थिर नहीं रहते तो फिर मैं किसका आश्रय करूँ और किसके पाने का यत्न करूँ ? ये पदार्थ तो सब नाशरूप हैं। जो बड़े बड़े ऐश्वर्य्य से सम्पन्न और बड़े कर्त्तव्य करते और बड़े वीर्यवान् तेजवान् हुए हैं वे भी मरणमात्र

हो गये हैं तो हम सरीखों की क्या वार्त्ता है? सब नाश होते हैं तो हमें भी घड़ी पल में चला जाना है। हे मुनीश्वर! ये पदार्थ बड़े चञ्चलरूप हैं एकरस कदाचित् नहीं रहते। एक क्षण में कुछ हो जाते और दूसरे क्षण में कुछ हो जाते हैं। एक क्षण में दरिद्री हो जाते और दूसरे क्षण में सम्दावान् हो जाते हैं। एक क्षण में जीते दृष्टि आते हैं और दूसरे क्षण में मर जाते हैं, और एक क्षण में फिर जी उठते हैं। इस संसार की स्थिरता कभी नहीं होती। ज्ञानवान् इसकी आस्था नहीं करते। एक क्षण में समुद्र के प्रवाह के ठिकाने मरुस्थल हो जाते हैं और मरुस्थल में जल के प्रवाह हो जाते हैं। हे मुनीश्वर! इस जगत् का आभास स्थिर नहीं रहता। जैसे बालक का चित्त स्थिर नहीं रहता वैसे ही जगत् का पदार्थ एक भी स्थिर नहीं रहता। जैसे नट नाना प्रकार के स्वाँग धरता है वैसे ही जगत् के पदार्थ और लक्ष्मी एकरस नहीं रहती। कभी पुरुष स्त्री हो जाता और कभी स्त्री पुरुष हो जाती है, कभी मनुष्य पशु हो जाता और कभी पशु मनुष्य हो जाता है, स्थावर का जङ्गम हो जाता है और जङ्गम का स्थावर हो जाता है, मनुष्य का देवता हो जाता और देवता का मनुष्य हो जाता है। इसी प्रकार घटीयन्त्र की नाईं जगत् की लक्ष्मी स्थिर नहीं रहती, कभी ऊर्ध्व को जाती है और कभी अधः को जाती है, स्थिर कभी नहीं रहती, सदा भटकती रहती है। हे मुनीश्वर! जितने पदार्थ दृष्टि आते हैं वे सब नष्ट हो जावेंगे, किसी भाँति स्थिर न रहेंगे। ये सब नदियाँ बड़वाग्नि में लय हो जावेंगी और जितने पदार्थ हैं वे सब अभावरूपी बड़वाग्नि को प्राप्त होंगे। बड़े बड़े बलिष्ठ भी मेरे देखते ही देखते लीन हो गये हैं। जो बड़े बड़े सुन्दर स्थान थे वे शून्य हो गये और सुन्दर ताल और बगीचे जो मनुष्यों से परिपूर्ण थे शून्य हो गये। मरुस्थल की भूमि सुन्दर हो गई और घट के पट हो गये हैं। वर के शाप हो जाते हैं और शाप के वर हो जाते हैं। इसी प्रकार हे विप्र! जो जगत् दृष्टि आता है वह कभी सम्पत्तिमान् और कभी आपत्तिमान् दृष्टि में आता है और महाचपल है। हे मुनीश्वर! ऐसे सब अस्थिररूप पदार्थों का विचार विना मैं कैसे आश्रय करूँ और किसकी इच्छा करूँ सब तो नाशरूप हैं? ये जो सूर्य प्रकाशयुक्त दृष्टि आते हैं वे भी अन्धकाररूप हो जावेंगे। अमृत से पूर्ण चन्द्रमा भी शून्य हो जायगा और सुमेरु आदिक पर्वत, सब लोक, मनुष्य, देवता, यक्ष और राक्षस सब नष्ट होंगे। इससे हे मुनीश्वर! और किसी का क्या कहना ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र जगत् के ईश्वर भी शून्य हो जायँगे। जो कुछ जगत् दृष्टि आता है और स्त्री, पुत्र, बान्धव, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज से युक्त नाना प्रकार के जो जीव भासते हैं वे सब नाशरूप हैं, फिर मैं किस पदार्थ का आश्रय करूँ और किसकी इच्छा करूँ? हे मुनीश्वर! जो पुरुष दीर्घदर्शी है उसको तो सब पदार्थ विरस हो गये, वह किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करता, क्योंकि उसे तो सब पदार्थ नाशरूप भासते हैं और वह अपनी आयु को बिजली के चमत्कारवत् देखता है। जिसको अपनी आयु की प्रतीति होती है सो किसी की इच्छा नहीं करता। जैसे किसी को बलिदान के अर्थ पालते हैं तो वह खाने पीने और भोगने की इच्छा नहीं करता वैसे ही जिसको अपना मरना सम्मुख भासता है उसको भी किसी पदार्थ की इच्छा नहीं रहती। ये सब पदार्थ आप ही नाशरूप हैं तो हम किसका आश्रय करके सुखी हों। जैसे कोई पुरुष समुद्र में मच्छ का आश्रय करके कहे कि मैं इस पर बैठकर समुद्र के पार जाऊँगा और सुखी होऊँगा तो वह मूर्खता से डूब ही मरेगा वैसे ही जिस पुरुष ने इन पदार्थों का आश्रय लिया है और उन्हें अपने सुख के निमित्त जानता है वह नष्ट होगा। हे मुनीश्वर! जो पुरुष जगत् को चितवता रहता है उसको यह जगत् रमणीय भासता है और जो रमणीय जानकर नाना प्रकार के कर्म करता है और नाना प्रकार के सङ्कल्प करके जगत् में भटकता है, उसी को यह भटकाता है। जैसे पवन से धूलि कभी ऊँचे और कभी नीचे आती है स्थिर नहीं रहती वैसे ही यह जीव भटकता फिरता है स्थिर कभी नहीं रहता और जिस पदार्थ की इच्छा करता है वह सब काल का ग्रास है। इन्धनरूपी जगत् वन में कालरूपी अग्नि लगी है उसने सबको ग्रास लिया है। जो इन पदार्थों की इच्छा करते हैं वे महामूर्ख हैं। जिनको आत्मविचार की प्राप्ति है उनको यह जगत् भ्रमरूप भासता है। और जिसको आत्मविचार की प्राप्ति नहीं

है उसको यह जगत् रमणीय भासता है। जगत् तो देखते ही देखते नष्ट हो जाता है। इस स्वप्न पुरी की नाईं संसार की मैं कैसे इच्छा करूँ यह तो दुःख का निमित्त है? जैसे विष मिली मिठाई खानेवाले मृत्यु पाते हैं वैसे ही विषय भोगनेवाले नष्ट होते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे जगद्विपर्ययवर्णनन्नाम त्रयोविंशतितमस्सर्गः ॥ २३ ॥

श्रीरामजी बोले, हे मुनीश्वर! इस संसार में भोगरूपी अग्नि लगी है उससे सब जलते हैं। जैसे ताल में हाथी के पाँव से कमल नष्ट हो जाता है वैसे ही भोग से मनुष्य दीन हो जाते हैं, जैसे वायु से मेघ नष्ट हो जाता है वैसे ही काम, क्रोध और दुराचार से शुभ गुण नष्ट हो जाते हैं। जैसे भटकटैया के पत्ते और फल में काँटे हो जाते हैं वैसे ही विषयों की वासनारूपी कण्टक आ लगते हैं। हे मुनीश्वर! यह सब जगत् नाशरूप है, कोई पदार्थ स्थिर नहीं। वासनारूपी जल और इन्द्रियरूपी गाँठ है उसमें पुरुष काल से ग्रसा है वह बड़े दुःख पावेगा। हे मुनीश्वर! वासनारूपी सूत में जीवरूपी मोती पिरोये हुए हैं और मनरूपी नट आय पिरोय कर चैतन्यरूपी आत्मा के गले में डालता है। जब वासनारूपी तागा टूट पड़ता है तब यह सब भ्रम भी निवृत्त हो जाता है। हे मुनीश्वर! इस जीव को भोग की इच्छा ही बन्धन का कारण है उसी से यह भटकता है और शान्ति नहीं पाता। इससे मुझको किसी भोग की इच्छा नहीं, न राज्य की ही इच्छा है और न घर की न वन की इच्छा है, न मरने का दुःख ही मानता हूँ और न जीने का सुख मानता हूँ। मुझे किसी पदार्थ का सुख नहीं, सुख तो आत्मज्ञान से होता है, अन्यथा किसी पदार्थ से नहीं होता। जैसे सूर्य के उदय हुये विना अन्धकार का नाश नहीं होता वैसे ही आत्मज्ञान के विना संसार के दुःख का नाश नहीं होता। इससे आप वही उपाय कहिये जिससे मोह का नाश हो और मैं सुखी होऊँ। हे मुनीश्वर! भोग के भोगनेवाले अहङ्कार को मैंने त्याग दिया, फिर भोग की इच्छा कैसे हो? हे मुनीश्वर! विषयरूप सर्प ने जिसका स्पर्श किया उसका नाश हो जाता है। सर्प जिसको काटता है वह एक ही बेर उसको मार डालता है, पर विषयरूपी सर्प जिसको काटता है वह अनेक जन्मपर्यन्त मारता ही चला जाता है। इससे परम दुःख का कारण विषयभोग ही है और परम विष है। हे मुनीश्वर! आरे से अङ्ग का कटाना और वज्र से शरीर का चूर्ण होना मैं सहूँगा, परन्तु विषय का भोगना मुझसे किसी प्रकार सहा नहीं जाता। यह तो मुझको दुःखदायक ही दृष्टि आता है। इससे वही मुझसे कहिये जिससे मेरे हृदय से अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश हो और जो न कहोगे तो मैं अपनी छाती पर धैर्यरूपी शिला धरके बैठा रहूँगा, परन्तु भोग की इच्छा न करूँगा। हे मुनीश्वर! जितने पदार्थ हैं वे सब नाशरूप हैं। जैसे बिजली का चमत्कार होके छिप जाता है और अञ्जलि में जल नहीं ठहरता वैसे ही विषयभोग और आयु नष्ट हो जाते हैं—ठहरते नहीं। जैसे काँटे से मछली दुःख पाती है वैसे ही भोग की तृष्णा से जीव दुःख पाते हैं। इससे मुझे किसी पदार्थ की इच्छा नहीं। जैसे कोई मरीचिका के जल को सत्य जान जलपान की इच्छा करे और दौड़े, पर जल नहीं पाता है। इससे मैं किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करता हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे सर्वान्तप्रतिपादनन्नाम चतुर्विंशतितमस्सर्गः ॥ २४ ॥

श्रीरामजी बोले कि हे मुनीश्वर! संसाररूपी गढ़े और मोहरूपी कीच में मूर्ख का मन गिर जाता है उससे वह दुःख ही पाता है, शान्तिवान् कभी नहीं होता। जब जरावस्था आती है तब जैसे पुरातन वृक्ष के पत्र पवन से हिलते हैं वैसे ही अङ्ग हिलते हैं और तृष्णा बढ़ जाती है। जैसे नीम का वृक्ष ज्यों ज्यों वृद्ध होता है त्यों त्यों कटुता बढ़ती है तैसे ही तृष्णा बढ़ती है। हे मुनीश्वर! जिस पुरुष ने देह इन्द्रियादिकों का आश्रय अपने सुख निमित्त लिया है वह मूर्ख संसाररूपी अन्धकूप में गिरता है और निकल नहीं सकता। अज्ञानी का चित्त भोग का त्याग कदाचित् नहीं करता, हे मुनीश्वर! जगत् के पदार्थों से मेरी बुद्धि मलीन हो गई है। जैसे वर्षाकाल में नदी मलीन होती है और जैसे मार्गशीर्ष मास में मञ्जरी सूख जाती है वैसे ही जगत् की शोभा देखते-देखते मेरी बुद्धि विरस हो गई है। जैसे जगत् का पदार्थ मूर्ख को रमणीय भासता है और जैसे पानी का

गढ़ा तृण से आच्छादित होता है और मृग का बालक उस तृण को रमणीय जानकर खाने जाता है तो गिर जाता है वैसे ही यह मूर्ख जीव भोगों को रमणीय जान भोगों में गिर पड़ता है, फिर महादुःख पाता है। हे मुनीश्वर ! जगत् के पदार्थों से मेरी बुद्धि चञ्चल हो गई है, इससे वही उपा कहिये जिससे मेरी बुद्धि पर्वत की नाईं निश्चल हो और परमानन्द जो निर्भय निराकार है और जिसके पाने से किसी पद की इच्छा नहीं रहती उसे पाऊँ। हे मुनीश्वर ! ऐसे पद से मेरी बुद्धि शून्य है, इससे मैं शान्तिमान् नहीं होता। यह संसार और संसार के कर्म मोहरूप हैं, इसमें पड़े हुए शान्ति नहीं पाते। जनकादिक शान्तिमान् संसार में रहे हुए कमल की नाईं निर्लेप रहते हैं। उनकी क्या समझ है कृपा करके कहिए और आप ऐसे सन्त जन विषय भोगते दृष्टि आते और जगत् की सब चेष्टा करते हैं पर निर्लेप कैसे रहते हैं वह युक्ति कहिये। यह बुद्धि जैसे ताल में हाथी प्रवेश करता है और पानी मलीन हो जाता है वैसे ही मोह से मलीन हो जाती है। इससे वही उपाय कहिये जिससे बुद्धि निर्मल हो। यह बुद्धि स्थिर कभी नहीं रहती। जैसे कुल्हाड़े का कटा वृक्ष मूल से स्थिर नहीं होता वैसे ही वासना से कटी बुद्धि स्थिर नहीं रहती। हे मुनीश्वर ! संसाररूपी विसूचिका मुझको लगी है इससे वही उपाय कहिये जिससे दृश्य का नाश हो—इसने मुझको बड़ा दुःख दिया है। आत्मज्ञान कब प्रकाश होगा जिसके उदय से मोहरूपी अन्धकार का नाश हो ? हे मुनीश्वर ! जैसे बादल से चन्द्रमा आच्छादित हो जाता है वैसे ही बुद्धि की मलीनता से मैं आच्छादित हुआ हूँ। इससे वही उपाय कहिये जिससे आवरण दूर हो और आत्मानन्द जो नित्य है प्राप्त हो। इसके पाने से फिर कुछ पाने की आवश्यकता नहीं रहती और इससे सम्पूर्ण दुःख नष्ट हो जाते हैं। अन्तःकरण शीतल हो जाता है। ऐसे पद की प्राप्ति का उपाय मुझसे कहिये। हे मुनीश्वर ! आत्मज्ञानरूपी चन्द्रमा की मुझको इच्छा है; जिसके प्रकाश से बुद्धिरूपी कमलिनी खिल जाती है और जिसकी अमृतरूपी किरणों से वृत्ति तृप्त होती है। हे मुनीश्वर ! अब मुझको गृह में रहने की इच्छा नहीं

और वन में जाने की भी इच्छा नहीं। मुझको तो उसी पद की इच्छा है जिसे पाकर अन्तःकरण शान्त हो जाय।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे वैराग्यप्रयोजन-
वर्णनन्नाम पञ्चविंशतितमस्सर्गः ॥ २५ ॥

श्रीरामजी बोले कि हे मुनीश्वर ! जो जीने की आस्था करते हैं वे मूर्ख हैं। जैसे कमल पत्र पर जल की बूँद नहीं ठहरती वैसे ही आयु भी क्षणभंगुर है। जैसे वर्षाकाल में दादुर बोलते हैं और उनका चञ्चल कट सदा फड़कता रहता है वैसे ही आयु क्षण क्षण में चञ्चल हो जाती है। जैसे शिवजी के मस्तक में चन्द्रमा की रेखा छोटी सी है वैसे ही यह शरीर है। हे मुनीश्वर ! जिसको इसमें आस्था है वह महामूर्ख है—यह तो काल का ग्रास है। जैसे बिल्ली चूहे को पकड़ लेती है वैसे ही सबको काल पकड़ लेता है। जैसे बिल्ली चूहे को सँभलने नहीं देती वैसे ही काल सबको अचानक ग्रहण कर लेता है। और किसी को नहीं भासता। हे मुनीश्वर ! जब अज्ञानरूपी मेघ गर्जता है तब लोभरूपी मोर प्रसन्न होकर नृत्य करता है। जब अज्ञानरूपी मेघ वर्षा करता है तब दुःखरूपी मञ्जरी बढ़ने लगती है, लोभरूपी बिजली क्षण-क्षण में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती है और तृष्णारूपी जाल में फँसे हुए जीवरूपी पक्षी पड़े दुःख पाते हैं—शान्ति की प्राप्ति नहीं होती। हे मुनीश्वर ! यह जगत्‌रूपी बड़ा रोग लगा है उसके निवारण करने का कौन सा उपाय है ? जो पाने योग्य है और जिससे भ्रमरूपी रोग निवृत्त हो वह उपाय कहिये। यह जगत् मूर्ख को रमणीय दीखता है। ऐसे पदार्थ पृथ्वी, आकाश, देवलोक और पाताल में भी नहीं जो ज्ञानवान् को रमणीय दीखें। ज्ञानवान् को सब भ्रमरूप भासता है और अज्ञानी जगत् में आस्था करता है। हे मुनीश्वर ! चन्द्रमा में जो कलङ्क है उससे सुन्दरता नहीं रहती। जब कलङ्क दूर हो जाय तब सुन्दर लगे वैसे ही मेरे चित्तरूपी चन्द्रमा में कामरूपी कलङ्क लगा है इससे वह उज्ज्वल नहीं भासता। आप वही उपाय कहिये जिससे कलङ्क दूर हो। हे मुनीश्वर ! यह चित्त बहुत चञ्चल है, स्थिर कदाचित् नहीं होता। जैसे अग्नि में डाल दिया पारा उड़ जाता

है वैसे ही चित्त भी स्थिर नहीं होता, विषय की ओर सदा धावता है। इससे आप वही उपाय कहिये जिससे चित्त स्थिर हो। संसाररूपी वन में भोगरूपी सर्प रहते हैं और जीव को काटते हैं उनसे बचने का उपाय कहिये। जितनी क्रिया हैं वे राग-द्वेष के साथ मिली हुई हैं, इससे व उपाय कहिये जिससे राग-द्वेष का प्रवेश न हो और संसारसमुद्र में पड़के तृष्णारूपी जल का स्पर्श न हो। और ऐसा उपाय भी कहिये जिससे राग-द्वेष का स्पर्श न हो। मन में जो मननरूपी सत्ता है वह युक्ति से दूर होती है, अन्यथा दूर नहीं होती। उसकी निवृत्ति के अर्थ आप मुझसे युक्ति कहिये और आगे जिसको जिस प्रकार निवृत्ति हुई है और जिस प्रकार आपके अन्तःकरण में शीतलता हुई है वह कहिये। हे मुनीश्वर! जैसे आप जानते हैं सो कहिये और जो आपने ही वह युक्ति नहीं पाई तब मैं तो कुछ नहीं जानता। मैं सब त्यागकर निरहंकार हो रहूँगा और जब तक वह युक्ति मुझको न प्राप्त होगी तब तक मैं भोजन, जलपान और स्नानादिक क्रिया और किसी सम्पदा और आपदा का कार्य न करूँगा, निरहङ्कार होऊँगा। यह न मेरी देह है, न मैं देह हूँ, सब त्याग करके बैठा रहूँगा। जैसे कागज़ के ऊपर मूर्ति चित्रित होती है वैसे ही हो रहूँगा। श्वास आते जाते आप ही क्षीण हो जायँगे। जैसे तेल विना दीपक बुझ जाता है वैसे ही अनर्थवान् देह निर्वाण हो जायगा तब महाशान्ति पाऊँगा। इतना कहकर बाल्मीकिजी बोले, हे भारद्वाज! ऐसे कहकर रामजी चुप हो रहे। जैसे बड़े मेघ को देखके मोर शब्द करके चुप हो जाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे अनन्यत्यागदर्शनन्नाम षड्विंशतितमस्सर्गः ॥ २६ ॥

इतना कहकर बाल्मीकिजी बोले, हे पुत्र! जब इस प्रकार रघुवंशरूपी आकाश के रामचन्द्ररूपी चन्द्रमा बोले तब सब मौन हो गये और सबके रोम खड़े हो गये, मानो रोम भी खड़े होकर रामजी के वचन सुनते हैं और सभा में जितने बैठे थे वे सब निर्वासनारूपी अमृत के समुद्र में मग्न हो गये। वशिष्ठ, वामदेव, विश्वामित्र आदि जो मुनीश्वर थे और दृष्टि

आदिक मन्त्री, राजा दशरथ और मण्डलेश्वर, चाकर, नौकर और माता कौशल्या आदिक सब मौन हो गये—अर्थात् अचल हो गये। पिंजड़े में जो तोते और बगीचे में पशु आदि थे, जो पक्षी आलय में बैठे थे वे भी सुनकर मौन हो गये। आकाश के पक्षी जो निकट थे वे भी स्थिर हो गये और आकाश में देव, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर और किन्नर भी आके सुनने और फूलों की वर्षा करने तथा सब धन्य धन्य शब्द करने लगे। उस समय फूलों की ऐसी वर्षा हुई मानो बरफ़ की वर्षा होती है, और क्षीरसमुद्र के तरङ्ग उछलते आते थे मानो मोती की माला की वृष्टि होने लगी। जैसे माखन के पिंड उड़ते हों इस प्रकार आधी घड़ी पर्यन्त फूलों की वर्षा हुई और बड़ी सुगन्ध फैली। फूलों पर भँवरे फिरने लगे और बड़ा विलास उस काल में हुआ। सब "नमोनमः" शब्द करने लगे और देव बोले हे कमलनयन, रघुवंशी! आकाश में चन्द्रमारूप तुम धन्य हो। तुमने बड़े श्रेष्ठ स्थान देखे हैं और बहुत प्रकार के वचन सुने हैं। जैसे तुमने वचन कहे हैं वैसे हमने कभी नहीं सुने। यह वचन सुनके हमारा जो देवतों का अभिमान था सो सब निवृत्त हो गया और अमृतरूपी वचन सुनकर हमारी बुद्धि पूर्ण हो गई। हे रामजी! जैसे वचन तुमने कहे हैं ऐसे बृहस्पति भी नहीं कह सकते। तुम्हारे वचन परमानन्द के करनेवाले हैं इससे तुम धन्य हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे सिद्धसमाजवर्णनन्नाम सप्तविंशतितमस्सर्गः ॥ २७ ॥

बाल्मीकिजी बोले हे भारद्वाज! सिद्ध ऐसे वचन कहके विचारने लगे कि रघुवंश का कुल पूजने योग्य है जिसमें रामजी ने बड़े उदार वचन मुनीश्वर के सम्मुख कहे हैं। अब जो मुनीश्वर उत्तर देंगे वह भी सुनना चाहिये। जैसे फूल के ऊपर भँवरा स्थिर होता है वैसे ही व्यास, नारद, पुलह, पुलस्त्य आदि सब साधु सभा में स्थित हुए तब वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि मुनीश्वर उठ खड़े हुए और उनकी पूजा करने लगे। पहिले राजा दशरथ ने पूजा की और फिर नाना प्रकार से सबने उनकी पूजा की और यथायोग्य आसन के ऊपर बैठे। उनमें नारदजी हाथ में बहुत

सुन्दर वीणा लिये और श्याममूर्त्ति व्यासजी नाना प्रकार के रंग से रञ्जित वस्त्र पहिने हुए मानो तारागणों में महाश्यामघटा आई है विराजमान थे। ऐसे ही दुर्वासा, वामदेव, पुलह, पुलस्त्य, बृहस्पति के पिता आङ्गिरा, भृगु और मैं भी वहाँ था और ब्रह्मर्षि, राजर्षि, देवर्षि, देवता मुनीश्वर सब आके उस सभा में स्थित हुए। किसी की बड़ी जटा, कोई मुकुट पहिरे, कोई रुद्राक्ष की माला और कोई मोती की माला पहिने थे, किसी के कण्ठ में रत्न की माला और हाथ में कमण्डलु और मृगछाला, किसी के महासुन्दर वस्त्र, किसी की कटिपै कोपीन और किसी की कटिपै सुवर्ण की ज़ंजीर थी। ऐसे बड़े बड़े तपस्वी जो वहाँ आके बैठे थे उनमें कोई राजसी और कोई सात्त्विकी स्वभाव के थे और सब विद्वान् वेद पढ़नेवाले प्राप्त हुए। कोई सूर्यवत्, कोई चन्द्रमावत्, कोई तारावत्, कोई रत्नवत् प्रकाशमान और पुरुषार्थ पर यत्न करनेवाले यथायोग्य आसन पर स्थित हुए। मोहनीमूर्त्ति और दीन स्वभाववाले रामजी भी हाथ जोड़के सभा में बैठे और उनकी सब पूजाकर कहने लगे कि हे रामजी! तुम धन्य हो। नारद सबके सम्मुख कहने लगे कि हे रामजी! तुमने बड़े विवेक और वैराग्य के वचन कहे जो सबको प्यारे लगे और सबके कल्याण करनेवाले और परम बोध के कारण हैं। हे रामजी! तुम बड़े बुद्धिमान् और उदारात्मा दृष्टि आते हो और महावाक्य का अर्थ तुमसे प्रकट होता है। ऐसे उज्ज्वलपात्र साधु और अनन्त तपस्वियों में कोई बिरला होता है। जितने मनुष्य हैं वे सब पशु से दृष्टि आते हैं, क्योंकि जिसको संसारसमुद्र के पार होने की इच्छा है और जो पुरुषार्थ पर यत्न करता है वही मनुष्य है। हे साधो! वृक्ष तो बहुत होते हैं परन्तु चन्दन का वृक्ष कोई होता है वैसे ही शरीरधारी बहुत हैं परन्तु ऐसा विद्वान् कोई बिरला ही होता है और सब अस्थि मांस रुधिर के पुतले से मिले हुए भटकते फिरते हैं। जैसे यन्त्र की पुतली होती है वैसे ही अज्ञानी जीव हैं। हाथी तो बहुत हैं परन्तु बिरले के मस्तक से मोती निकलता है वैसे ही मनुष्य तो बहुत हैं; परन्तु पुरुषार्थ पर यत्न करनेवाला कोई बिरला ही होता है। जैसे वृक्ष बहुतेरे हैं परन्तु लवङ्ग का वृक्ष कोई बिरला ही होता

है वैसे ही मनुष्य बहुत हैं, परन्तु ऐसा कोई बिरला ही होता है। ऐसे पात्र से थोड़ा अर्थ कहा भी बहुत हो जाता है। जैसे तेल की बुंद थोड़े ही जल में डालिये तो फैल जाती है वैसे ही थोड़े वचन तुम्हारे हिये में हुत होते हैं। तुम्हारी बुद्धि बहुत विशेष है और दीपक सी प्रकाशवाली और बोध का परम पात्र है। कहनेमात्र से ही तुमको शीघ्र ज्ञान होवेगा और जो हमारे सामने तुमको ज्ञान न हो तो जानना कि हम सब मूर्ख बैठे हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे मुनिसमाजवर्णनन्नामाष्टाविंशतितमस्सर्गः ॥ २८ ॥

समाप्तमिदं वैराग्यप्रकरणम् ॥

श्रीपरमात्मने नमः ।

श्रीयोगवाशिष्ठ

द्वितीय मुमुक्षु प्रकरण प्रारम्भ ।

वाल्मीकिजी बोले, हे साधो ! ये वचन परमानन्दरूप हैं और कल्याण के कर्त्ता हैं । इनमें सुनने की प्रीति तब उपजती है जब अनेक जन्म के बड़े पुण्य इकट्ठे होते हैं । जैसे कल्पवृक्ष के फल को बड़े पुण्य से पाते हैं वैसे ही जिसके बड़े पुण्यकर्म इकट्ठे होते हैं उसकी प्रीति इन वचनों के सुनने में होती है—अन्यथा नहीं होती । ये वचन परमबोध के कारण हैं । वैराग्यप्रकरण के एकसहस्र पाँचसौ श्लोक हैं । हे भारद्वाज ! इस प्रकार जब नारदजी ने कहा तब विश्वामित्र बोले कि हे ज्ञानवानों में श्रेष्ठ, रामजी ! जितना कुछ जानने योग्य था सो तुमने जाना है इससे अब तुम्हें जानना और नहीं रहा, पर उसमें विश्राम पाने के लिये कुछ मार्जन करना है । जैसे अशुद्ध आदर्श की मलिनता दूर करने से मुख स्पष्ट भासता है वैसे ही कुछ उपदेश की तुमको अपेक्षा है । हे रामजी ! आपही के सदृश भगवान् व्यासजी के पुत्र शुकदेवजी हुए हैं । वह भी बड़े बुद्धिमान् थे, उन्होंने जो जानने योग्य था सो जाना था, पर विश्राम के निमित्त उनको भी अपेक्षा थी सो विश्राम को पाकर शान्त हुए थे । इतना सुन रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! शुकजी कैसे बुद्धिमान् और ज्ञानवान् थे और कैसी विश्राम की अपेक्षा उनको थी और फिर कैसे उन्होंने विश्राम पाया सो कृपा करके कहो ? विश्वामित्रजी बोले, हे रामजी ! अञ्जन के पर्वत के समान और सूर्य के सदृश प्रकाशवान् भगवान् व्यासजी स्वर्ण के सिंहासन पर राजा दशरथ के यहाँ बैठे थे । उनके पुत्र शुकजी सब शास्त्रों के वेत्ता थे । और सत्य को सत्य और असत्य को असत्य जानते थे । उन्होंने शान्ति और परमानन्दरूप आत्मा में विश्राम न पाया तब उनको विकल्प उठा कि जिसको मैंने जाना है सो न होगा । क्योंकि मुझको आनन्द नहीं भासता । यह संशय करके एककाल में व्यासजी जो सुमेरु पर्वत की कन्दरा में

बैठे थे तिनके निकट आकर कहने लगे, हे भगवन् ! यह संसार सब भ्रमात्मक कहाँ से हुआ है; इसकी निवृत्ति कैसे होगी और आगे कभी सकी निवृत्ति हुई है सो कहो ? हे रामजी ! जब इस प्रकार शुकजी ने हा तब विद्वद्वेदशिरोमणि वेदव्यासजी ने तत्काल उपदेश किया । शुकजी ने कहा, हे भगवन् ! जो कुछ तुम कहते हो वह तो मैं आगे से ही जानता हूँ, इससे मुझको शान्ति नहीं होती । हे रामजी ! तब सर्वज्ञ वेदव्यासजी विचार करने लगे कि इसको मेरे वचन से शान्ति प्राप्त न होगी, क्योंकि पिता पुत्र का सम्बन्ध है । ऐसा विचार करके व्यासजी कहने लगे, हे पुत्र ! मैं सर्वतत्त्वज्ञ नहीं, तुम राजा जनक के निकट जाओ, वे सर्वतत्त्वज्ञ और शान्तात्मा हैं, उनसे तुम्हारा मोह निवृत्त होगा । तब शुकदेवजी वहाँ से चलकर मिथिला नगरी में आये और राजा जनक के द्वार पर स्थित हुए । द्वारपाल ने जाकर जनकजी से कहा कि व्यासजी के पुत्र शुकजी खड़े हैं । राजा ने जाना कि इनको जिज्ञासा है । इसलिए कहा कि खड़े रहने दो । इसी प्रकार फिर द्वारपाल ने जा कहा और सात दिन उन्हें खड़े ही बीत गये । तब राजा ने फिर पूछा कि शुकजी खड़े हैं कि चले गये । द्वारपाल ने कहा, खड़े हैं । राजा ने कहा आगे ले आओ । तब वे उनको आगे ले आये । उस दरवाज़े पर भी वे सात दिन खड़े रहे । फिर राजा ने पूछा कि शुकजी हैं ? द्वारपाल ने कहा कि हाँ खड़े हैं । राजा ने कहा कि अन्तःपुर में ले आओ और नाना प्रकार के भोग भुगताओ । तब वे उन्हें अन्तःपुर में ले गये । वहाँ स्त्रियों के पास भी वे सात दिन तक खड़े रहे । फिर राजा ने द्वारपाल से पूछा कि उसकी अब कैसी दशा है और आगे कैसी दशा थी ? द्वारपाल ने कहा कि आगे वे निरादर से न शोकवान् हुए थे और न अब भोग से प्रसन्न हुए, वे तो इष्ट अनिष्ट में समान हैं । जैसे मन्द पवन से मेरु चलायमान नहीं होता वैसे ही यह बड़े भोग व निरादर से चलायमान नहीं हुए । जैसे पपीहे को मेघ के जल विना नदी और ताल आदि के जल की इच्छा नहीं होती वैसे ही उसको भी किसी पदार्थ की इच्छा नहीं है । तब राजा ने कहा उन्हें यहाँ ले आओ । जब शुकजी आये तब राजा जनक ने उठके खड़े

हो प्रणाम किया। फिर जब दोनों बैठ गये तब राजा ने कहा कि हे मुनीश्वर! तुम किस निमित्त आये हो, तुमको क्या वाञ्छा है सो कहो उसकी प्राप्ति मैं कर देऊँ? श्रीशुकजी बोले हे गुरो! यह संसार का आडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ और कैसे शान्त होगा सो तुम कहो? इतना क विश्वामित्रजी बोले हे रामजी! जब इस प्रकार शुकदेवजी ने कहा तब जनक ने यथाशास्त्र उपदेश जो कुछ व्यास ने किया था सोई कहा। यह सुन शुकजी ने कहा कि भगवन्! जो कुछ तुम कहते हो सोई मेरे पिता भी कहते थे, सोई शास्त्र भी कहता है और विचार से मैं भी ऐसा ही जानता हूँ कि यह संसार अपने चित्त से उत्पन्न होता है और चित्त के निर्वेद होने से भ्रम की निवृत्ति होती है, पर मुझको विश्राम नहीं प्राप्त होता है? जनकजी बोले, हे मुनीश्वर! जो कुछ मैंने कहा और जो तुम जानते हो इससे पृथक् उपाय न जानना और न कहना ही है। यह संसार चित्त के संवेदन से हुआ है, जब चित्त फुरने से रहित होता है तब भ्रम निवृत्त हो जाता है। आत्मतत्त्व नित्य शुद्ध, परमानन्दस्वरूप केवल चैतन्य है, जब उसका अभ्यास करोगे तब तुम विश्राम पावोगे। तुम अधिकारी हो, क्योंकि तुम्हारा यत्न आत्मा की ओर है, दृश्य की ओर नहीं, इससे तुम बड़े उदारात्मा हो। हे मुनीश्वर! तुम मुझको व्यासजी से अधिक जान मेरे पास आये हो, पर तुम मुझसे भी अधिक हो, क्योंकि हमारी चेष्टा तो बाहर से दृष्टि आती है और तुम्हारी चेष्टा बाहर से कुछ भी नहीं, पर भीतर से हमारी भी इच्छा नहीं है। इतना कह विश्वामित्रजी बोले, हे रामजी! जब इस प्रकार राजा जनक ने कहा तब शुकजी ने निःसङ्ग निष्प्रयत्न और निर्भय होकर सुमेरु पर्वत की कन्दरा में जाय दशसहस्र वर्ष तक निर्विकल्प समाधि की। जैसे तेल विना दीपक निर्वाण हो जाता है वैसे ही वे भी निर्वाण हो गये। जैसे समुद्र में बुन्द लीन हो जाती है और जैसे सूर्य का प्रकाश सन्ध्याकाल में सूर्य के पास लीन हो जाता है वैसे ही कलनारूप कलङ्क को त्यागकर वे ब्रह्मपद को प्राप्त हुए।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे मुनिशुकनिर्वाणवर्णनन्नाम प्रथमस्सर्गः ॥ १ ॥

विश्वामित्रजी बोले, हे राजा दशरथ! जैसे शुकजी शुद्धबुद्धिवाले थे वैसे ही रामजी भी हैं। जैसे शान्ति के निमित्त उनको कुछ मार्जन कर्त्तव्य था वैसे ही रामजी को भी विश्राम के निमित्त कुछ मार्जन चाहिये, योंकि आवरण करनेवाले जो भोग हैं उनसे इनकी इच्छा निवृत्त हुई है और जो कुछ जानने योग्य था सो जाना है। अब हम कोई ऐसी युक्ति करेंगे जिससे इनको विश्राम होगा। जैसे शुकजी को थोड़े से मार्जन से शान्ति की प्राप्ति हुई थी वैसे ही इनको भी होगी। हे राजन्! जैसे ज्ञानवान् को आध्यात्मिक आदि दुःख स्पर्श नहीं करते वैसे ही रामजी को भी भोग की इच्छा नहीं स्पर्श करती। भोग की इच्छा सबको दीन करती है इसी का नाम बन्धन है और भोग की वासना का क्षय करना ही मोक्ष है। ज्यों ज्यों भोग की इच्छा करता है त्यों त्यों लघु होता जाता है और ज्यों ज्यों भोग वासना क्षय होती है त्यों त्यों गरिष्ठ होता है। जब तक आत्मानन्द का प्रकाश नहीं होता तब तक विषय की वासना दूर नहीं होती और जब आत्मानन्द प्राप्त होता है तब विषयवासना कोई नहीं रहती। जैसे मरुस्थल में बेल नहीं उत्पन्न होती वैसे ही ज्ञानवान् को विषयवासना की उत्पत्ति नहीं होती। हे साधो! ज्ञानवान् किसी फल की इच्छा से विषय भोग का त्याग नहीं करता, स्वभाव से ही उसकी विषयवासना चली जाती है। जैसे सूर्य के उदय होने से अन्धकार का अभाव हो जाता है वैसे ही रामजी को अब किसी भोग पदार्थ की इच्छा नहीं रही। अब तो वे विदितवेद हुए हैं अतः विश्राम की इच्छा रखते हैं इससे जो कहो वही करूँ जिससे वे विश्रामवान् हों। हे राजन्! भगवान् वशिष्ठजी की युक्ति से ये शान्त होंगे और आगे से वही रघुवंशकुल के गुरु हैं। इनके उपदेश द्वारा आगे भी रघुवंशी ज्ञानवान् हुए हैं। ये सर्वज्ञ और साक्षिरूप हैं और त्रिकालज्ञ और ज्ञान के सूर्य हैं। इनके उपदेश से रामजी आत्मपद को प्राप्त होंगे। हे वशिष्ठजी! जब हमारा तुम्हारा विरोध हुआ था और ब्रह्माजी ने मन्दराचल पर्वत पर, जो ऋषीश्वरों और अनेक वृक्षों से पूर्ण था, संसारवासना के नाश, हमारे तुम्हारे विरोध की शान्ति और

अन्य जीवों के कल्याणनिमित्त जो उपदेश किया था वह तुमको स्मरण है? अब वही उपदेश तुम रामजी को करो, क्योंकि ये भी निर्मल ज्ञानपात्र हैं। ज्ञान, विज्ञान और निर्मलयुक्ति वही है जो शुद्धपात्र में अर्पण हो और पात्र विना उपदेश नहीं सोहता। जिसमें शिष्यभाव औ विरक्तता न हो ऐसे अपात्र मूर्ख को उपदेश करना व्यर्थ है। कदाचित् विरक्त हो और शिष्यभावना नहीं तो भी उपदेश न करना चाहिये। दोनों से सम्पन्न को ही उपदेश करना चाहिये। पात्र विना उपदेश व्यर्थ है अर्थात् अपवित्र हो जाता है। जैसे गऊ का दूध महापवित्र है पर श्वान की त्वचा में डारिये तो अपवित्र हो जाता है वैसे ही अपात्र को उपदेश करना व्यर्थ है। हे मुनीश्वर! जो शिष्य वैराग्य से सम्पन्न और उदार आत्मा है वह तुम्हारे उपदेश के योग्य है और तुम वीतराग और भय क्रोध से रहित परम शान्तरूप हो, इसलिये तुम्हारे उपदेश के पात्र रामजी हैं। इतना कहकर बाल्मीकिजी बोले कि जब इस प्रकार विश्वामित्रजी ने कहा तब नारद और व्यासादिक ने साधु साधु कहा अर्थात् भला भला कहा कि ऐसे ही यथार्थ है। उस समय राजा दशरथ के पास बहुत प्रकार के साधु बैठे थे। ब्रह्माजी के पुत्र वशिष्ठजी ने कहा कि हे मुनीश्वर! जो कुछ तुमने आज्ञा की है वह हमने मानी। ऐसी किसी की सामर्थ्य नहीं कि सन्त की आज्ञा निवारण करे। हे साधो! राजा दशरथ के जितने पुत्र हैं उन सबके हृदय में जो अज्ञानरूपी तम है वह मैं ज्ञानरूपी सूर्य से ऐसे निवारण करूँगा जैसे सूर्य के प्रकाश से अन्धकार दूर होता है। हे मुनीश्वर! जो कुछ ब्रह्माजी ने उपदेश किया था वह मुझको अखण्ड स्मरण है मैं वही उपदेश करूँगा जिससे रामजी निःसंशय होंगे। इतना कहकर बाल्मीकिजी बोले कि इस प्रकार वशिष्ठजी विश्वामित्र से कह रामजी से मोक्ष का उपाय कहने लगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे मुनिविश्वामित्रोपदेशो नाम द्वितीयस्सर्गः ॥ २ ॥

बशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ब्रह्माजी ने मुझको जीवों के कल्याण के निमित्त उपदेश किया था वह मुझे भले प्रकार स्मरण है और वही अब मैं तुमसे कहता हूँ। इतना सुन श्रीरामजी ने पूछा, हे भगवन्! कुछ प्रश्न करने का अवसर आया है। एक संशय मुझको है सो दूर करो। ोक्ष उपाय जो संहिता कहते हो सो तो तुम सब कहोगे परन्तु यह जो तुमने कहा कि शुकदेवजी विदेहमुक्त हो गये तो भगवान् व्यासजी जो र्वज्ञ थे सो विदेहमुक्त क्यों न हुए! वशिष्ठजी बोले कि हे रामजी! जैसे ूर्य के किरण के साथ त्रसरेणु उड़ती देख पड़ती हैं और उनकी संख्या नहीं हो सकती वैसेही परमसूर्य के संवेदनरूपी किरण में त्रिलोकीरूपी असंख्य त्रसरेणु हैं अनन्त होकर मिट जाते हैं और अनन्त होते हैं। अनन्त त्रिलोकी ब्रह्म समुद्र में हैं उनकी संख्या कुछ नहीं। श्रीरामजी ने पूछा, हे भगवन्! पीछे जो व्यतीत हो गये हैं और आगे जो होंगे उनकी कितनी संख्या है? वर्त्तमान को तो मैं जानता हूँ। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! अनन्त कोटि त्रिलोकी के गण उपजे हैं और मिट गये हैं। कितने ही होते हैं और कितने ही होवेंगे। इनकी कुछ संख्या नहीं है, क्योंकि जीव असंख्य हैं और जीव जीव प्रति अपनी अपनी सृष्टि है। जब ये जीव मृतक हो जाते हैं तब उसी स्थान में अपने अन्तवाहक संकल्परूपी पुर में इनको अपना बन्धन भासता है और उसी स्थान में परलोक भास आता है। पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश पञ्चभूत भासते हैं और नाना प्रकार की वासना के अनुसार अपनी अपनी सृष्टि भास आती है। फिर जब वहाँ से मृतक होता है तब वहीं फिर सृष्टि भास आती है। नाम रूप संयुक्त वहीं जाग्रत् सत्य होकर भास आती है। फिर जब वहाँ से मरता है तब इस पञ्चभूत सृष्टि का अभाव हो जाता है। और दूसरी भासती है और वहाँ के जो जीव होते हैं उनको भी इसी प्रकार अनुभव होता है। इसी प्रकार एक एक जीव की सृष्टि होती है और मिट जाती है। इनकी संख्या कुछ नहीं। तब ब्रह्मा की सृष्टि की संख्या कैसे हो? जैसे मनुष्य घूमता है और उसको सर्व पदार्थ भ्रमते दृष्टि आते हैं; जैसे नाव में बैठे हुए नदी के वृक्ष चलते दृष्टि आते हैं; जैसे नेत्र के दोष से आकाश में मोती की माला दृष्टि आती है और जैसे स्वप्न में सृष्टि भासती है वैसे ही जीव को भ्रम से यह लोक परलोक भासता है। वास्तव में जगत् कुछ उपजा ही नहीं, एक अद्वैत परमात्म-

तत्त्व अपने आप में स्थित है उसमें द्वैतभ्रम अविद्या से भासता है। जैसे बालक को अपनी परछाहीं में वैताल भासता है और भय पाता है वैसे ही अज्ञानी को अपनी कल्पना जगत्‌रूप होकर भासती है। हे रामजी! व्यासजी को बत्तीस आकार से मैंने देखा है। उनमें दश एक आका और क्रिया और निश्चयरूप हैं; दश अर्ध समान हुए हैं और बार आकार क्रिया और चेष्टा में विलक्षण हुए हैं। जैसे समुद्र में तरङ्गें होती हैं तो उनमें कई सम और कई विलक्षण उपजती हैं वैसे ही व्यास हुए हैं। सम जो दश हुए हैं उनमें दशवें व्यास यही हैं और आगे भी आठ बेर यही होंगे और महाभारत कहेंगे। नवीं बेर ब्रह्मा होकर विदेह मुक्त होंगे। हम और बाल्मीकि, भृगु और बृहस्पति का पिता अङ्गिरा इत्यादि भी विदेह मुक्त होवेंगे। हे रामजी! एक सम होते हैं और एक विलक्षण होते हैं। मनुष्य, देवता, तिर्यगादिक जीव कई बेर समान होते और कितने बेर विलक्षण होते हैं। कितने जीव समान आकार आगे से कुल क्रिया सहित होते हैं और कितने संकल्प से उड़ते फिरते हैं। आना, जाना, जीना, मरना, स्वप्नभ्रम की भाँति दीखता है पर वास्तव में न कोई आता है, न जाता है, न जन्मता है, न मरता है। यह भ्रम अज्ञान से भासता है, विचार करने से कुछ नहीं भासता। जैसे कदली का खंभ बड़ा पुष्ट दीखता है, पर यदि खोलके देखो तो कुछ सार नहीं निकलता वैसे ही जगत् भ्रम अविचार से सिद्ध है; विचार करने से कुछ नहीं भासता। हे रामजी! जो पुरुष आत्मसत्ता में जगा है उसको द्वैतभ्रम नहीं भासता। वह आत्मदर्शी, सदा शान्त आत्मा परमानन्दस्वरूप और इच्छा से रहित है। जैसे जीवन्मुक्त को कोई चला नहीं सकता वैसे ही व्यासदेवजी को सदेहमुक्ति और विदेहमुक्ति की कुछ इच्छा नहीं, वे तो सदा अद्वैतरूप हैं। हे रामजी! जीवन्मुक्त को सर्वत्र सर्वात्मा पूर्ण भासता है। वह तो स्वरूप, सार, शान्तिरूप अमृत से पूर्ण और निर्वाण में स्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे असंख्यसृष्टि-
प्रतिपादनन्नाम तृतीयस्सर्गः ॥ ३ ॥

इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति में कुछ भेद नहीं है। जैसे जल स्थिर है तो भी जल है और तरङ्ग है तो भी जल है वैसे ही जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति में कुछ भेद नहीं है। हे रामजी! जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति का अनुभव तुमको प्रत्यक्ष नहीं भासता, क्योंकि स्वसंवेद है और उनमें जो भेद भासता है सो असम्यक्‌दर्शी को भासता है ज्ञानवान् को भेद नहीं भासता। हे मननकर्त्ताओं में श्रेष्ठ रामजी! जैसे वायु स्पन्दरूप होती है तो भी वायु है और निस्स्पन्द होती है तो भी वायु है, निश्चय करके कुछ भेद नहीं, पर और जीव को स्पन्द होती है तो भासती और निस्स्पन्द होती है तो नहीं भासती वैसे ही ज्ञानवान् पुरुष को जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति में कुछ भेद नहीं, वह सदा अद्वैत निश्चयवाला और इच्छा से रहित है। जब जीव को उसका शरीर भासता है तब जीवन्मुक्ति कहते हैं और जब शरीर अदृश्य होता है तब विदेहमुक्ति कहते हैं, पर उसको दोनों तुल्य हैं। हे रामजी! अब प्रकृत प्रसंग को जो श्रवण का भूषण है सुनिये। जो कुछ सिद्ध होता है सो अपने पुरुषार्थ से सिद्ध होता है। पुरुषार्थ विना कुछ सिद्ध नहीं होता। लोग जो कहते हैं कि दैव करेगा सो होगा यह मूर्खता है। चन्द्रमा जो हृदय को शीतल और उल्लासकर्त्ता भासता है इसमें यह शीतलता पुरुषार्थ से हुई है। हे रामजी! जिस अर्थ की प्रार्थना और यत्न करे और उससे फिरे नहीं तो अवश्य पाता है। पुरुषप्रयत्न किसका नाम है सो सुनिये। सन्तजन और सत्यशास्त्र के उपदेशरूप उपाय से उसके अनुसार चित्त का विचरना पुरुषार्थ (प्रयत्न) है और उससे इतर जो चेष्टा है उसका नाम उन्मत्त चेष्टा है। जिस निमित्त यत्न करता है सोई पाता है। एक जीव पुरुषार्थ (प्रयत्न) करके इन्द्र की पदवी पाकर त्रिलोकी का पति हो सिंहासन पर आरूढ़ हुआ है। हे रामचन्द्र! आत्मतत्त्व जो चैतन्य संवित है सो संवेदन रूप होकर फुरती है और सोई अपने पुरुषार्थ से ब्रह्मा के पद को प्राप्त हुई है। इसलिए देखो जिसको कुछ सिद्धता प्राप्त हुई है सो अपने पुरुषार्थ से ही हुई है। केवल चैतन्य आत्मतत्त्व है। उसमें चित्तसंवेदन स्पन्दरूप है। यह चित्त संवेदन ही अपने पुरुषार्थ से

चैतन्यात्मा।

गरुड़ पर आरूढ़ होकर विष्णुरूप होता है और पुरुषोत्तम कहाता है और यही चित्तसंवेदन अपने पुरुषाथ से रुद्ररूप हो अर्द्धाङ्ग में पार्वती, मस्तक में चन्द्रमा और नीलकण्ठ परमशान्तिरूप को धारण करता है इससे जो कुछ सिद्ध होता है सो पुरुषार्थ से ही होता है। हे रामजी! पुरुषार्थ से सुमेरु का चूर्ण किया चाहे तो वह भी कर सकता है। यदि पूर्व दिन में दुष्कृत किया हो और अगले दिन में सुकृत करे तो दुष्कृत दूर हो जाता है। जो अपने हाथ से चरणामृत भी ले नहीं सकता वह यदि पुरुषार्थ करे तो वही पृथ्वी को खण्ड खण्ड करने को समर्थ होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे पुरुषार्थोपक्रमोनाम चतुर्थस्सर्गः॥ ४॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! चित्त जो कुछ वाञ्छा करता है और शास्त्र के अनुसार पुरुषार्थ नहीं करता सो सुख न पावेगा, क्योंकि उसकी उन्मत्त चेष्टा है। पौरुष भी दो प्रकार का है—एक शास्त्र के अनुसार और दूसरा शास्त्रविरुद्ध। जो शास्त्र को त्याग करके अपनी इच्छा के अनुसार विचरता है सो सिद्धता न पावेगा और जो शास्त्र के अनुसार पुरुषार्थ करेगा वह सिद्धता को प्राप्त होगा, कदाचित् दुःख न पावेगा। अनुभव से स्मरण होता है और स्मरण से अनुभव होता है, यह दोनों इसही से होते हैं। दैव तो कुछ न हुआ। हे रामजी! और दैव कोई नहीं, इसका किया ही इसको प्राप्त होता है, परन्तु जो बलिष्ठ होता है उसी के अनुसार विचरता है। जिसके पूर्व के संस्कार बली होते हैं उसी की जय होती है और जो विद्यमान पुरुषार्थ बली होता है तब उसको जीत लेता है। जैसे एक पुरुष के दो पुत्र हैं तो वह उन दोनों को लड़ाता है पर दोनों में से जो बली होता है उसी की जय होती है, परन्तु दोनों उसी के हैं वैसे ही दोनों कर्म इसके हैं जिसका पूर्व का संस्कार बली होता है उसी की जय होती है। हे रामजी! यह जीव जो सत्संग करता है और सत्शास्त्र को भी विचारता है पर फिर भी पक्षी के समान जो संसार वृक्ष की ओर उड़ता है तो पूर्व का संस्कार बली है उससे स्थिर नहीं हो सकता। ऐसा जानकर पुरुष प्रयत्न का त्याग न करे। पूर्व के संस्कार से अन्यथा नहीं होता, परन्तु-पूर्व का संस्कार बली भी हो। और सत्संग करे और सत्शास्त्र का ी दृढ़ अभ्यास हो तो पूर्व के संस्कार को पुरुष प्रयत्न से जीत लेता है। जैसे पूर्व के संस्कार से दुष्कृत किया है और आगे सुकृत करे तो पिछले का अभाव हो जाता है सो पुरुष प्रयत्न से ही होता है। पुरुषार्थ क्या है और उससे क्या सिद्ध होता है सो श्रवण करिये। ज्ञानवान् जो सन्त हैं और सत्शास्त्र जो ब्रह्मविद्या है उसके अनुसार प्रयत्न करने का नाम पुरुषार्थ है और पुरुषार्थ से पानेयोग्य आत्मा है जिससे संसारसमुद्र से पार होता है। हे रामजी! जो कुछ सिद्ध होता है सो अपने पुरुषार्थ से ही सिद्ध होता है—दूसरा कोई दैव नहीं। जो शास्त्र के अनुसार पुरुषार्थ को त्यागकर कहता है कि जो कुछ करेगा सो दैव करेगा वह मनुष्य नहीं गर्दभ है उसका संग करना दुःख का कारण है। मनुष्य को प्रथम तो यह करना चाहिये कि अपने वर्णाश्रम के शुभ आचारों को ग्रहण करे और अशुभ का त्याग करे। फिर सन्तों का संग और सत्शास्त्रों का विचारना और उनको विचारकर अपने गुण दोष को भी विचार करना चाहिये कि दिन और रात्रि में क्या शुभ और अशुभ किया है। आगे फिर गुण और दोषों का भी साक्षीभूत होकर जो सन्तोष, धैर्य, विराग, विचार और अभ्यास आदि गुण हैं उनको बढ़ावे और जो दोष हों उनका त्याग करे। जब ऐसे पुरुषार्थ को अङ्गीकार करेगा तब परमानन्दरूप आत्मतत्त्व को पावेगा। इससे हे रामजी! जैसे वन का मृग घास, तृण और पत्तों को रसीला जानके खाता है वैसे ही स्त्री, पुत्र, बान्धव, धनादि में मग्न न होना चाहिये। इनसे विरक्त होना और दाँतों से दाँतों को चबाकर संसारसमुद्र के पार होने का यत्न करना चाहिये। जैसे केसरी सिंह बल करके पिंजरे में से निकल जाता है वैसे ही निकल जाने का नाम पुरुषार्थ है। हे रामजी! जिसको कुछ सिद्धता की प्राप्ति हुई है उसे पुरुषार्थ से ही हुई है, पुरुषार्थ विना नहीं होती जैसे प्रकाश विना किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता। जिस पुरुष ने अपना पुरुषार्थ त्याग दिया है और दैव के आश्रय हो यह समझता है कि हमारा दैव कल्याण करेगा वह कभी सिद्ध न होगा। जैसे पत्थर से तेल निकाला चाहे तो नहीं निकलता वैसे ही उसका कल्याण दैव से न होगा। इसलिये हे रामजी!

तुम दैव का आश्रय त्यागकर अपने पुरुषार्थ का आश्रय करो। जिसने अपना पुरुषार्थ त्यागा है उसको सुन्दर कान्ति और लक्ष्मी त्याग जाती है। जैसे वसन्त ऋतु की मञ्जरी वसन्त ऋतु के जाने से विरस हो जाती है वैसे ही उनकी कान्ति लघु हो जाती है। जिस पुरुष ने ऐसा निश्चय किया है कि हमारा पालनेवाला दैव है वह पुरुष ऐसा है जैसे कोई अपनी भुजा को सर्प जान भय खाके दौड़ता है और भय पाता है। पुरुषार्थ यह है कि सन्त का संग और सत्शास्त्रों का विचार करके उनके अनुसार विचरे। जो उनको त्याग के अपनी इच्छा के अनुसार विचरते हैं सो सुख और सिद्धता न पावेंगे और जो शास्त्र के अनुसार विचरते हैं वह इस लोक और परलोक में सुख और सिद्धता पावेंगे। इससे संसाररूपी जाल में न गिरना चाहिये। पुरुषार्थ वही है कि सन्तजनों का संग करना और बोधरूपी कलम और विचाररूपी स्याही से सत्शास्त्रों के अर्थ हृदयरूपी पत्र पर लिखना। जब ऐसे पुरुषार्थ करके लिखोगे तब संसाररूपी जाल में न गिरोगे। हे रामजी! जैसे यह पहले नियत हुआ है कि जो पट है सो पट है; जो घट है सो घट ही है; जो घट है सो पट नहीं और जो पट है सो घट नहीं वैसे ही यह भी नियत हुआ है कि अपने पुरुषार्थ विना परमपद की प्राप्ति नहीं होती। हे रामजी! जो सन्तों की संगति करता है और सत्शास्त्र भी विचारता है पर उनके अर्थ में पुरुषार्थ नहीं करता उसको सिद्धता नहीं प्राप्त होती। जैसे कोई अमृत के निकट बैठा हो तो पान किये विना अमर नहीं होता वैसे ही अभ्यास किये विना अमर नहीं होता और सिद्धता भी प्राप्त नहीं होती। हे रामजी! अज्ञानी जीव अपना जन्म व्यर्थ खोते हैं। जब बालक होते हैं तब मूढ़ अवस्था में लीन रहते हैं युवावस्था में विकार को सेवते हैं और जरा में जर्जरीभूत होते हैं। इसी प्रकार जीवन व्यर्थ खोते हैं और जो अपना पुरुषार्थ त्याग करके दैव का आश्रय लेते हैं सो अपने हन्ता होते हैं वह सुख न पावेंगे हे रामजी! जो पुरुष व्यवहार और परमार्थ में आलसी होके और परमार्थ को त्याग के मूढ़ हो रहे हैं सो दीन होकर पशुओं के सदृश दुःख को प्राप्त हुए हैं। यह मैंने विचार करके देखा है। इससे तुम पुरुषार्थ का आश्रय करो और सत्संग और सत्शास्त्ररूपी आदर्श के द्वारा अपने गुण और दोष को देखके दोष का त्याग करो और शास्त्रों के सिद्धान्तों पर अभ्यास करो। जब दृढ़ अभ्यास करोगे तब शीघ्र ही आनन्दवान् होगे। इतना कहकर बाल्मीकिजी बोले कि जब इस प्रकार वशिष्ठजी ने कहा तब सायंकाल का समय हुआ तो सब सभा स्नान के निमित्त उठ खड़ी हुई और परस्पर नमस्कार करके अपने अपने घर को गये और सूर्य की किरणों के निकलते ही सब आ फिर स्थिर भये।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे पुरुषार्थवर्णनन्नाम-
पञ्चमस्सर्गः ॥ ५ ॥

25/6

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इसका जो पूर्व का किया पुरुषार्थ है उसी का नाम दैव है और दैव कोई नहीं। जब यह सत्संग और सत्शास्त्र का विचार पुरुषार्थ से करे तब पूर्व के संस्कार को जीत लेता है। जिस इष्ट पुरुष के पाने का यह शास्त्र द्वारा यत्न करेगा उसको अवश्यमेव अपने पुरुषार्थ से पावेगा अन्यथा कुछ नहीं होता, न हुआ है और न होगा। पूर्व जो कोई पाप किया होता है उसका जब फल दुःख पाता है तो मूर्ख कहता है कि हा दैव, हा दैव, हा कष्ट, हा कष्ट। हे रामजी! इसका जो पूर्व का पुरुषार्थ है उसी का नाम दैव है और दैव कोई नहीं। जो कोई दैव कल्पते हैं सो मूर्ख हैं। जो पूर्व के जन्म में सुकृत कर आया है वही सुकृत सुख होके दिखाई देता है और जिसका पूर्व का सुकृत बली होता है उसी की जय होती है। जो पूर्व का दुष्कृत बली होता है और शुभ का पुरुषार्थ करता है और सत्संग और सत्शास्त्र को भी विचारता, सुनता और करता है तो पूर्व के संस्कार को जीत लेता है। जैसे पहिले दिन पाप किया हो और दूसरे दिन बड़ा पुण्य करे तो पूर्व का पाप निवृत्त हो जाता है वैसे ही जब यहाँ दृढ़ पुरुषाथ करे तो पूर्व के संस्कार को जीत लेता है। इससे जो कुछ सिद्ध होता है सो पुरुषार्थ से ही सिद्ध होता है। एकत्रभाव से प्रयत्न करने का नाम पुरुषार्थ है। जो एकत्रभाव से यत्न करेगा उसको अवश्यमेव प्राप्त होगा और जो पुरुष और दैव को जानके अपना पुरुषार्थ त्याग बैठेगा सो दुःख पाकर शान्तिमान् कभी न

होगा। हे रामजी ! मिथ्या देव के अर्थ को त्यागके तुम अपने पुरुषार्थ को अङ्गीकार करो। सन्तजनों और सत्शास्त्रों के वचनों और युक्तिसहित यत्न और अभ्यास करके आत्मपद को प्राप्त होने का नाम पुरुषार्थ है। जैसे प्रकाश से पदार्थ का ज्ञान होता है वैसे ही पुरुषार्थ से आत्मपद की प्राप्ति होती है। जो पूर्वकर्मानुसार बड़ा पापी होता है तो यहाँ दृढ़ पुरुषार्थ करने से उसको जीत लेता है। जैसे बड़े मेघ को पवन नाश करता है और जैसे वर्ष दिन के पके खेत को बरफ नाश कर देती है वैसे ही पुरुष का पूर्वसंस्कार प्रयत्न से नष्ट होता है। हे रामजी ! श्रेष्ठ पुरुष वही है जिसने सत्संग और सत्शास्त्र द्वारा बुद्धि को तीक्ष्ण करके संसार-समुद्र से तरने का पुरुषार्थ किया है। जिसने सत्संग और सत्शास्त्र द्वारा बुद्धि तीक्ष्ण नहीं की और पुरुषार्थ को त्याग बैठा है वह पुरुष नीच से नीच गति को पावेगा। जो श्रेष्ठ पुरुष हैं वे अपने पुरुषार्थ से परमानन्द पद को पावेंगे, जिसके पाने से फिर दुःखी न होंगे। जो देखने में दीन होता है वह भी सत्संगति और सत्शास्त्र के अनुसार पुरुषार्थ करता है तो उत्तम पदवी को प्राप्त होता दीखता है। हे रामजी ! जिस पुरुष ने पुरुष प्रयत्न किया है उसको सब सम्पदा आ प्राप्त होती हैं और परमानन्द से पूर्ण रहता है। जैसे समुद्र रत्न से पूर्ण है वैसे ही वह भी परमानन्द से पूर्ण होता है। इससे जो श्रेष्ठ पुरुष हैं वे अपने पुरुषार्थ द्वारा संसार के बन्धन से निकल जाते हैं जैसे केसरी सिंह अपने बल से पिंजरे में से निकल जाता है। हे रामजी ! यह पुरुष और कुछ न करे तो यह तो अवश्य करे कि अपने वर्णाश्रम के अनुसार विचरे और साथ ही पुरुषार्थ करे। जब सन्त और सत्यशास्त्र के आश्रय होके उसके अनुसार पुरुषार्थ करेगा तब सब बन्धनों से मुक्त होगा। जिस पुरुष ने अपने पुरुषार्थ का त्याग किया है और किसी और दैव को मानके कहता है कि वह मेरा कल्याण करेगा सो जन्ममरण को प्राप्त होकर शान्तिमान् कभी न होगा। हे रामजी ! इस जीव को संसाररूपी विसूचिका रोग लगा है। उसको दूर करने का उपाय मैं कहता हूँ। सन्तजनों और सत्शास्त्रों के अर्थ में दृढ़ भावना करके जो कुछ सुना है उसका वारंवार अभ्यास करके और

सब कल्पना त्यागके एकान्त होकर उसका चिन्तन करे तब परमपद की प्राप्ति होगी और द्वैतभ्रम निवृत्त होकर अद्वैतरूप भासेगा। इसी का नाम पुरुषार्थ है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे परमपुरुषार्थ वर्णनन्नाम षष्ठस्सर्गः ॥ ६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! पुरुषार्थ विना इसको आध्यात्मिक आदि ताप आ प्राप्त होते हैं उससे शान्ति नहीं पाता। तुम भी रोगी न होना, अपने पुरुषार्थ द्वारा जन्ममरण के बन्धन से मुक्त होना, कोई दैव मुक्ति नहीं करेगा। अपने पुरुषार्थ ही द्वारा संसारबन्धन से मुक्त होता है। जिस पुरुष ने अपने पुरुषार्थ का त्याग किया है और किसी और दैव को मानकर उसके आश्रित हुआ है उसके धर्म, अर्थ और काम सभी नष्ट हो जाते हैं और नीच से नीच गति को प्राप्त होता है। हे रामजी ! शुद्ध चैतन्य जो इसका अपना आप वास्तवरूप है उसके आश्रय जो आदि चित्त संवेदन स्फूर्ति है सो अहं ममत्व संवेदन होके फुरने लगती है। इन्द्रियाँ भी अहंता से स्फूर्ति हैं जब यह स्फुरना सन्तों और शास्त्रों के अनुसार हो तब पुरुष परम शुद्धता को प्राप्त होता है और जो शास्त्र के अनुसार न हो तो वासना के अनुसार भाव अभावरूप भ्रमजाल में पड़ा घटीयन्त्र की नाईं भटककर शान्तिमान् कभी नहीं होता। हे रामजी ! जिस किसी को सिद्धता प्राप्त हुई है अपने पुरुषार्थ से ही हुई है। विना पुरुषार्थ सिद्धता को प्राप्त न होगा। जब किसी पदार्थ को ग्रहण करना होता है तो भुजा पसारे से ही ग्रहण करना होता है और जो किसी देश को जाना चाहे तो चलने से ही पहुँचता है अन्यथा नहीं। इससे पुरुषार्थ विना कुछ सिद्ध नहीं होता। जो कहता है कि जो दैव करेगा सो होगा वह मूर्ख है। हे रामजी ! दैव कोई नहीं है। इस पुरुषार्थ का ही नाम दैव है। यह दैव शब्द मूर्खों का प्रचार किया हुआ है कि जब किसी कष्ट से दुःख पाते हैं तो कहते हैं कि दैव का किया है। पर कोई दैव नहीं है। हे रामचन्द्रजी! जो अपना पुरुषार्थ त्यागके दैव के आश्रय हो रहेगा वह कभी सिद्धता को न प्राप्त होगा, क्योंकि अपने पुरुषार्थ विना सिद्धता किसी को प्राप्त नहीं होती। जब बृहस्पति ने दृढ़ पुरुषार्थ किया तब सर्वदेवताओं के

राजा इन्द्र के गुरु हुए और शुक्रजी अपने पुरुषार्थ द्वारा सब दैत्यों के गुरु हुए हैं । जो समान जीव हैं उनमें जिस पुरुष ने प्रयत्न किया है सो पुरुष उत्तम हुआ है । जिसको जितनी सिद्धता प्राप्त हुई है अपने पुरुषार्थ से ही हुई है । जिस पुरुष ने सन्तों और शास्त्रों के अनुसार पुरुषार्थ नहीं किया उसका बड़ा राज्य, प्रजा, धन और विभूति मेरे देखते ही देखते क्षीण हो गई और नरक में गया है । जिससे कुछ अर्थ सिद्ध हो उसका नाम पुरुषार्थ है और जिससे अनर्थ की प्राप्ति हो उसका नाम अपुरुषार्थ है । हे रामजी ! मनुष्य को सत्शास्त्रों और सन्तसंग से शुभ गुणों को पुष्ट करके दया, धैर्य, सन्तोष और वैराग्य का अभ्यास करना चाहिये । जैसे बड़े ताल से मेघ पुष्ट होता है और फिर वर्षा करके ताल को पुष्ट करता है वैसे ही शुभ गुणों से बुद्धि पुष्ट होती है और शुद्ध बुद्धि से शुभ गुण पुष्ट होते हैं । हे रामजी ! जो बालक अवस्था से अभ्यास किये होता है उसको सिद्धता प्राप्त होती है अर्थात् दृढ़ अभ्यास विना सिद्धता प्राप्त नहीं होती । जो किसी देश अथवा तीर्थ को जाना चाहे तो मार्ग में निरालस होके चला जावे तभी जा पहुँचेगा । जब भोजन करेगा तभी क्षुधा निवृत्त होगी—अन्यथा न होगी । जब मुख में जिह्वा शुद्ध होगी तभी पाठ स्पष्ट होगा—गूँगे से पाठ नहीं होता । इसलिये जो कुछ कार्य सिद्ध होता है सो अपने पुरुषार्थ से ही सिद्ध होता है;चुप हो रहने से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता । यहाँ सब गुरु बैठे हैं इनसे पूछ देखो; आगे जो तुम्हारी इच्छा है सो करो और जो मुझसे पूछो तो मैं सब शास्त्रों का सिद्धान्त कहता हूँ जिससे सिद्धता को प्राप्त होगे । हे रामजी ! सन्तों अर्थात् ज्ञानवान् पुरुषों और सत्शास्त्रों अर्थात् ब्रह्मविद्या के अनुसार संवेदन, मन और इन्द्रियों का विचार रखना और जो इनसे विरुद्ध हों उनको न करना । इससे तुमको संसार का राग-द्वेष स्पर्श न करेगा और सबसे निर्लेप रहोगे । जैसे जल से कमल निर्लेप रहता है वैसे ही तुम भी निर्लेप रहोगे । हे रामजी ! जिस पुरुष से शान्ति प्राप्ति हो उसकी भली प्रकार सेवा करनी चाहिये, क्योंकि उसका बड़ा उपकार है कि संसार-समुद्र से निकाल लेता है । हे रामजी ! सन्तजन और सत्शास्त्र भी वही

हैं जिनके विचार और संगति से संसार से चित्त उसकी ओर हो और मोक्ष का उपाय वही है जिससे और सब कल्पना को त्यागके अपने पुरुषार्थ को अङ्गीकार करे जिससे जन्ममरण का भय निवृत्त हो जावे । हे ामजी ! जिस वस्तु की जीव वाञ्छा करता है और उसके निमित्त दृढ़ पुरुषार्थ करता है तो अवश्यमेव वह उसको पाता है । बड़े तेज और विभूति से सम्पन्न जो तुमको दृष्टि आता और सुना जाता है वह अपने पुरुषार्थ से ही हुआ है और जो महानिकृष्ट सर्प, कीट आदिक तुमको दृष्टि आते हैं उन्होंने अपने पुरुषार्थ का त्याग किया है तभी ऐसे हुए हैं । हे रामजी ! अपने पुरुषार्थ का आश्रय करो नहीं तो सर्प, कीटादिक नीच योनि को प्राप्त होगे । जिस पुरुष ने अपना पुरुषार्थ त्यागा और किसी दैव का आश्रय लिया है वह महामूर्ख है, क्योंकि यह वार्ता व्यवहार में भी प्रसिद्ध है कि अपने उद्यम किये विना किसी पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती तो परमार्थ की प्राप्ति कैसे हो । इससे परमपद पाने के निमित्त दैव को त्यागकर सन्तजनों और सत्शास्त्रों के अनुसार यत्न करो तब जो दुःख हैं वे दूर होवेंगे । हे रामजी ! जनार्दन विष्णुजी अवतार धारण करके दैत्यों को मारते हैं और अन्य चेष्टा भी करते हैं परन्तु उनको पाप का स्पर्श नहीं होता, क्योंकि वे अपने पुरुषार्थ से ही अक्षयपद को प्राप्त हुए हैं । इससे तुम भी पुरुषार्थ का आश्रय करो और संसारसमुद्र से तर जावो ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणेपुरुषार्थोपमावर्णनन्नाम
सप्तमस्सर्गः ॥ ७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह जो शब्द है कि "दैव हमारी रक्षा करेगा" सो किसी मूर्ख की कल्पना है । हमको तो दैव का आकार कोई दृष्टि नहीं आता और न कोई दैव का काल ही जान पड़ता है और न दैव कुछ करता ही है । मूर्ख लोग दैव दैव कहते हैं, पर दैव कोई नहीं है, इसका पूर्व का कर्म ही दैव है । हे रामजी ! जिस पुरुष ने अपने पुरुषार्थ का त्याग किया है और दैवपरायण हुआ है कि वह हमारा कल्याण करेगा वह मूर्ख है, क्योंकि अग्नि में जापड़े और दैव निकाल ले तब जानिये कि कोई दैव भी है, पर सो तो नहीं होता । स्नान, दान, भोजन

आदिक त्याग करके चुप हो बैठे और आप ही दैव कर जावे सो भी किये विना नहीं होता इससे दैव कोई नहीं, अपना पुरुषार्थ ही कल्याणकर्त्ता है। हे रामजी! जीव का किया कुछ नहीं होता और दैव ही करनेवाला होता तो शास्त्र और गुरु का उपदेश भी न होता। इससे स्पष्ट है कि सत्शास्त्र के उपदेश से अपने पुरुषार्थ द्वारा इसको वाञ्छित पदवी प्राप्त होती है इससे और जो कोई दैव शब्द है सो व्यर्थ है। इस भ्रम को त्याग करके सन्तों और शास्त्रों के अनुसार पुरुषार्थ करे तब दुःख से मुक्त होगा। हे रामजी! और दैव कोई नहीं है, इसका पुरुषार्थ जो स्पन्द है सोई दैव है। हे रामजी! जो कोई और दैव करनेवाला होता तो जब जीव शरीर को त्यागता है और शरीर नष्ट हो जाता है—कुछ क्रिया नहीं होती, क्योंकि चेष्टा करनेवाला त्याग जाता है तब भी शरीर से चेष्टा कराता सो तो चेष्टा कुछ नहीं होती, इससे जाना जाता है कि दैव शब्द व्यर्थ है। हे रामजी! पुरुषार्थ की वार्त्ता अज्ञानी जीव को भी प्रत्यक्ष है कि अपने पुरुषार्थ विना कुछ नहीं होता। गोपाल भी जानता है कि मैं गौओं को न चराऊँ तो भूखी ही रहेंगी! इससे वह और दैव के आश्रय नहीं बैठ रहता, आपही चरा ले आता है। हे रामजी! दैव की कल्पना भ्रम से करते हैं। हमको तो दैव कोई दृष्टि नहीं आता और हाथ, पाँव, शरीर भी दैव का कोई दृष्टि नहीं आता। अपने पुरुषार्थ से ही सिद्धता दृष्टि आती है। जो कोई आकार से रहित दैव कल्पिये तो भी नहीं बनता, क्योंकि निराकार और साकार का संयोग कैसे हो। हे रामजी! दैव कोई नहीं है केवल अपना पुरुषार्थ ही दैवरूप है। जो राजा ऋद्धिसिद्धिसंयुक्त भासता है सो भी अपने पुरुषार्थ से हुआ है। हे रामजी! ये जो विश्वामित्र हैं, इन्होंने दैव शब्द दूर ही से त्याग दिया है। ये भी अपने पुरुषार्थ से ही क्षत्रिय से ब्राह्मण हुए हैं और भी जो बड़े बड़े विभूतिमान् हुए हैं सो भी अपने पुरुषार्थ से ही दृष्टि आते हैं। हे रामजी! जो दैव पढ़े विना पण्डित करे तो जानिये कि दैव ने किया, पर पढ़े विना तो पण्डित नहीं होता। जो अज्ञानी से ज्ञानवान् होते हैं सो भी अपने पुरुषार्थ से ही होते हैं। इससे दैव कोई नहीं। मिथ्या भ्रम को त्यागकर

सन्तजनों और सत्शास्त्रों के अनुसार संसारसमुद्र तरने का प्रयत्न करो। तुम्हारे पुरुषार्थ विना दैव कोई नहीं। जो और दैव होता तो बहुत बेर क्रियावाला भी अपनी क्रिया को त्यागके सो रहता कि दैव आप ही करेगा, पर ऐसे तो कोई नहीं करता। इससे अपने पुरुषार्थ विना कुछ सिद्ध नहीं होता। जो कुछ इसका किया न होता तो पाप करनेवाले नरक न जाते और पुण्य करनेवाले स्वर्ग न जाते, परन्तु पाप करनेवाले नरक में जाते हैं और पुण्य करनेवाले स्वर्ग में जाते हैं, इससे जो कुछ प्राप्त होता है सो अपने पुरुषार्थ से ही होता है। हे रामजी! जो कोई ऐसा कहे कि कोई दैव करता है तो उसका शिर काटिये जो वह दैव के आश्रय जीता रहे तो जानिये कि कोई दैव है, पर सो तो जीता कोई भी नहीं। इससे दैव शब्द को मिथ्याभ्रम जानके सन्तजनों और सत्शास्त्रों के अनुसार अपने पुरुषार्थ से आत्मपद में स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे परमपुरुषार्थवर्णनन्नामाष्टमस्सर्गः ॥ ८ ॥

इतना सुनकर रामजी ने पूछा, हे भगवन्, सर्वधर्म के वेत्ता! आप कहते हैं कि दैव कोई नहीं, परन्तु इस लोक में प्रसिद्ध है कि ब्रह्मा भी दैव है और दैव का किया सब कुछ होता है। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मैं तुमको इसलिये कहता हूँ कि तुम्हारा भ्रम निवृत्त हो जावे। अपने ही किये हुए शुभ अथवा अशुभ कर्म का फल अवश्यमेव भोगना होता है, उसे दैव कहो वा पुरुषार्थ कहो और दैव कोई नहीं। कर्ता, क्रिया, कर्म आदिक में तो दैव कोई नहीं और न कोई दैव का स्थान ही है और न रूप ही है तो और दैव क्या कहिये। हे रामजी! मूर्खों के परचाने के निमित्त दैव शब्द कहा है। जैसे आकाश शून्य है वैसे दैव भी शून्य है। फिर रामजी बोले, हे भगवन्, सर्वधर्म के वेत्ता! तुम कहते हो कि और दैव कोई नहीं और आकाश की नाईं शून्य है सो तुम्हारे कहने से भी दैव सिद्ध होता है। तुम कहते हो कि इसके पुरुषार्थ का नाम दैव है और जगत् में भी दैव शब्द प्रसिद्ध है। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मैं इसलिये तुमको कहता हूँ कि जिससे दैव शब्द तुम्हारे हृदय से उठ जावे।

दैव नाम अपने पुरुषार्थ का है, पुरुषार्थ कर्म का नाम है और कर्म नाम वासना का है। वासना मन से होती है और मनरूपी पुरुष जिसकी वासना करता है सोई उसको प्राप्त होता है। जो गाँव के प्राप्त होने की वासना करता है सो गाँव को प्राप्त होता है और जो घाट की वासना करता सो घाट को प्राप्त होता है। इससे और दैव कोई नहीं। पूर्व का जो शुभ अथवा अशुभ दृढ़ पुरुषार्थ किया है उसका परिणाम सुख दुःख अवश्य होता है और उसी का नाम दैव है। हे रामजी! तुम विचार करके देखो कि अपना पुरुषार्थ कर्म से भिन्न नहीं है तो सुख दुःख देनेवाला और लेनेवाला कोई दैव नहीं हुआ। जीव जो पाप की वासना और शास्त्रविरुद्ध कर्म करता है सो क्यों करता है? पूर्व के दृढ़ पुरुषार्थ कर्म से ही पाप करता है। जो पूर्व का पुण्यकर्म किया होता तो शुभमार्ग में विचरता। फिर रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जो पूर्व की दृढ़ वासना के अनुसार यह विचरता है तो मैं क्या करूँ? मुझको पूर्व की वासना ने दीन किया है अब मुझको क्या करना चाहिए? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जो कुछ पूर्व की वासना दृढ़ हो रही है उसके अनुसार जीव विचरता है पर जो श्रेष्ठ मनुष्य है सो अपने पुरुषार्थ से पूर्व के मलिन संस्कारों को शुद्ध करता है तो उसके मल दूर हो जाते हैं। जब तुम सत्शास्त्रों और ज्ञानवानों के वचनों के अनुसार दृढ़ पुरुषार्थ करोगे तब मलिन वासना दूर हो जावेगी। हे रामजी! पूर्व के मलिन और शुभ संस्कारों को कैसे जानिये सो सुनो। जो चित्त विषय और शास्त्रविरुद्ध मार्ग की ओर जावे और शुभ की ओर न जावे तो जानिये कि कोई पूर्व का कर्म मलीन है और जो सन्तजनों और सत्शास्त्रों के अनुसार चेष्टा करे और संसारमार्ग से विरक्त हो तो जानिये कि पूर्व का शुभ कर्म है। इससे हे रामजी! तुमको दोनों से सिद्धता है कि पूर्व का संस्कार शुद्ध है इससे तुम्हारा चित्त सत्संग और सत्शास्त्रों के वचनों को ग्रहण करके शीघ्र ही आत्मपद को प्राप्त होगा और जो तुम्हारा चित्त शुभमार्ग में स्थिर नहीं हो सकता तो दृढ़ पुरुषार्थ करके संसारसमुद्र से पार हो। हे रामजी! तुम चैतन्य

हो, जड़ तो नहीं हो, अपने पुरुषार्थ का आश्रय करो और मेरा भी यही आशीर्वाद है कि तुम्हारा चित्त शीघ्र ही शुद्ध आचरण और ब्रह्मविद्या के सिद्धान्तसार में स्थित हो। हे रामजी! श्रेष्ठ पुरुष भी वही है जिसका पूर्व का संस्कार यद्यपि मलीन भी था, परन्तु संतों और सत्शास्त्रों के अनुसार दृढ़ पुरुषार्थ करके सिद्धता को प्राप्त हुआ है और मूर्ख जीव वह है जिसने अपना पुरुषार्थ त्याग दिया है जिससे संसार से मुक्त नहीं होता। पूर्व का जो कोई पापकर्म किया होता है उसकी मलिनता से पाप में धावता है और अपने पुरुषार्थ के त्यागने से अन्धा होकर विशेष धावता है। जो श्रेष्ठ पुरुष है उसको यह करना चाहिए कि प्रथम तो पाँचों इन्द्रियों को वश करे फिर शास्त्र के अनुसार उनको बर्त्तावे और शुभ वासना दृढ़ करे, अशुभ का त्याग करे। यद्यपि त्यागनीय दोनों वासना हैं पर प्रथम शुभ वासना को इकट्ठी करे फिर अशुभ का त्याग करे। जब शुद्ध वासना करके कषाय परिपक्व होगा अर्थात् अन्तःकरण जब शुद्ध होगा तब सन्तों और सत्शास्त्रों के सिद्धान्त का विचार उत्पन्न होगा और उससे तुमको आत्मज्ञान की प्राप्ति होगी। उस ज्ञान के द्वारा आत्मसाक्षात्कार होगा, फिर क्रिया और ज्ञान का भी त्याग हो जावेगा और केवल शुद्ध अद्वैतरूप अपना आप शेष भासेगा। इससे हे रामजी! और सब कल्पना का त्यागकर सन्तजनों और सत्शास्त्रों के अनुसार पुरुषार्थ करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे परमपुरुषार्थवर्णनन्नाम
नवमस्सर्गः ॥ ९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मेरे वचनों को ग्रहण करो। यह वचन बान्धव के समान हैं अर्थात् तुम्हारे परम मित्र होंगे और दुःख से तुम्हारी रक्षा करेंगे। हे रामजी! यह जो मोक्ष उपाय तुमसे कहता हूँ उसके अनुसार तुम पुरुषार्थ करो तब तुम्हारा परम अर्थ सिद्ध होगा। यह चित्त जो संसार के भोग की ओर जाता है उस भोगरूपी खाईं में चित्त को गिरने मत दो। भोग के बिसर जाने के त्याग दो हैं। वह त्याग तुम्हारा परम मित्र होगा और त्याग भी ऐसा करो कि फिर उसका ग्रहण न हो। हे

रामजी! यह मोक्ष उपाय संहिता है इसे चित्त को एकाग्र करके सुनो इससे परमानन्द की प्राप्ति होगी। प्रथम शम और दम को धारण करो सम्पूर्ण संसार की वासना त्याग करके उदारता से तृप्त रहने का नाम शम है और बाह्य इन्द्रियों के वश करने को दम कहते हैं। जब प्रथम इनको धारण करोगे तब परमतत्त्व का विचार आप ही उत्पन्न होगा और विचार से विवेक द्वारा परमपद की प्राप्ति होगी। जिस पद को पाकर फिर कदाचित् दुःख न होगा और अविनाशी सुख तुमको प्राप्त होगा। इसलिये इस मोक्ष उपाय संहिता के अनुसार पुरुषार्थ करो तब आत्मपद को प्राप्त होगे। पूर्व जो कुछ ब्रह्माजी ने हमको उपदेश किया है सो मैं तुमसे कहता हूँ। इतना सुनकर रामजी बोले, हे मुनीश्वर! आपको जो ब्रह्माजी ने उपदेश किया था सो किस कारण किया था और कैसे तुमने धारण किया था सो कहो? वशिष्ठजी बोले हे रामचन्द्रजी! शुद्ध चिदाकाश एक है और अनन्त, अविनाशी, परमानन्दरूप, चिदानन्द-स्वरूप-ब्रह्म है उसमें संवेदन स्पन्दरूप होता है वही विष्णु होकर स्थित हुआ है। वे विष्णुजी स्पन्द और निस्स्पन्द में एकरस हैं, कदाचित् अन्यथाभाव को नहीं प्राप्त होते। जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजते हैं वैसे ही शुद्ध चिदाकाश से स्पन्द करके विष्णु उत्पन्न हुए हैं। उन विष्णुजी के स्वर्णवत् नाभिकमल से ब्रह्माजी प्रकट हुए। उन ब्रह्माजी ने ऋषि और मुनीश्वरों सहित स्थावर जंगम प्रजा उत्पन्न की और उस मनोराज से जगत् को उत्पन्न किया। उस जगत् के कोण में जो जम्बूद्वीप भरतखण्ड है उसमें मनुष्य को दुःख से आतुर देख उनके करुणा उपजी जैसे पुत्र को देखकर पिता के करुणा उपजती है। तब उनके सुख के निमित्त तप उत्पन्न किया कि वे सुखी हों और आज्ञा की कि तप करो। तब वे तप करने लगे और उस तप करने से स्वर्गादिक को प्राप्त होने लगे। पर उन सुखों को भोगकर वे फिर गिरे और दुःखी हुए तब ब्रह्माजी ने ऐसे देखकर सत्यवाक् रूप धर्म को प्रतिपादन किया और उनके सुख के निमित्त आज्ञा की। उस धर्म के प्रतिपादन से भी लोगों को सुख प्राप्त होने लगा और वहाँ भी कुछ काल सुख भोग कर फिर गिरे और दुःखी के दुःखी रहे। फिर ब्रह्माजी ने दान तीर्थादिक पुण्य क्रिया उत्पन्न करके उनको आज्ञा दी कि इनके सेवने से तुम सुखी रहोगे। जब वे जीव उनको सेवने लगे तब बड़े पुण्यलोक में प्राप्त होकर उनके सुख भोगने लगे और फिर कुछ काल अपने कर्म के अनुसार भोग भोगकर गिरे। जब उन्होंने तृष्णा की तो बहुत दुःखी भये और दुःखकर आतुर हुए। उस समय ब्रह्माजी ने देखा कि यह जीवन और मरण के दुःख से महादीन होते हैं इससे वह उपाय कीजिये जिससे उनका दुःख निवृत्त हो। हे रामचन्द्रजी! ब्रह्माजी ने विचारा कि इनका दुःख आत्मज्ञान विना निवृत्त नहीं होगा इससे आत्मज्ञान को उत्पन्न कीजिये जिससे ये सुखी होवें। इस प्रकार विचार कर वे आत्मतत्त्व का ध्यान करने लगे। उस ध्यान के करने से शुद्ध तत्त्वज्ञान की मूर्ति होकर मैं प्रकट हुआ। मैं भी ब्रह्माजी के समान हूँ जैसे उनके हाथ में कमण्डलु है वैसे मेरे हाथ में भी है, जैसे उनके कण्ठ में रुद्राक्ष की माला है वैसे मेरे कण्ठ में भी है और जैसे उनके ऊपर मृगछाला है वैसे ही मेरे ऊपर भी है। मेरा शुद्ध ज्ञानस्वरूप है और मुझको जगत् कुछ नहीं भासता और भासता है तो स्वप्न की नाईं भासता है। तब ब्रह्माजी ने विचार किया कि इसको मैंने जीवों के कल्याण के निमित्त उत्पन्न किया है, पर यह तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है और अज्ञानमार्ग का उपदेश तब हो जब कुछ प्रश्नोत्तर हो और तभी सत्य मिथ्या का विचार होवे। हे रामजी! तब जीवों के कल्याण के निमित्त ब्रह्माजी ने मुझको गोद में बैठाया और शीश पर हाथ फेरा। तब तो जैसे चन्द्रमा की किरण से शीतलता होती है वैसे ही मैं उससे शीतल हो गया। फिर ब्रह्माजी ने मुझको जैसे हंस को हंस कहे वैसे कहा, हे पुत्र! जीवों के कल्याण के निमित्त तुम एक मुहूर्त पर्यन्त अज्ञान को अङ्गीकार करो। जो श्रेष्ठ पुरुष हैं सो औरों के निमित्त भी अङ्गीकार करते आये हैं। जैसे चन्द्रमा बहुत निर्मल है परन्तु श्यामता को अङ्गीकार किये हैं वैसे ही तुम भी एक मुहूर्त अज्ञान को अङ्गीकार करो। हे रामजी! इस प्रकार मुझको कहकर ब्रह्माजी ने शाप दिया कि तू अज्ञानी होगा। तब मैंने ब्रह्माजी की आज्ञा मानी और शाप को

अंगीकार किया और मेरा जो शुद्ध आत्मतत्त्व अपना आप था सो अन्य की नाईं हो गया । मेरी स्वभावसत्ता मुझको विस्मरण हो गई और मेरा मन जाग आया । तब भाव अभावरूप जगत् मुझको भासने लगा और अपने को मैं वशिष्ठ और ब्रह्माजी का पुत्र जानने लगा और नाना प्रकार के पदार्थ सहित जगत् जानकर उनकी ओर चञ्चल होने लगा । फिर मैंने संसारजाल को दुःखरूप जानकर ब्रह्माजी से पूछा, हे भगवन् ! यह संसार कैसे उत्पन्न हुआ ? और कैसे लीन होता है ? हे रामजी ! जब मैंने इस प्रकार पिता ब्रह्माजी से प्रश्न किया तो उन्होंने भली प्रकार मुझको उपदेश किया उससे मेरा अज्ञान नष्ट हो गया । जैसे सूर्य के उदय होने से तम निवृत्त हो जाता है और जैसे आदर्श को मार्जन करने से शुद्ध हो जाता है वैसे ही मैं भी शुद्ध हुआ । हे रामजी ! उस उपदेश से मैं ब्रह्माजी से भी अधिक हो गया । उस समय मुझको परमेष्ठी ब्रह्माजी ने आज्ञा की कि हे पुत्र ! जम्बूद्वीप भरतखण्ड में तुमको अष्ट प्रजापति का अधिकार है वहाँ जाकर जीवों को उपदेश करो । जिसको संसार के सुख की इच्छा हो उसको कर्ममार्ग का उपदेश करना जिससे वे स्वर्गादिक सुख भोगें और जो संसार से विरक्त हो और आत्मपद की इच्छा रखता हो उसको ज्ञान उपदेश करना । हे रामजी ! इस प्रकार मेरा उपदेश और उत्पत्ति हुई और इस प्रकार मेरा आना हुआ ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे वशिष्ठोपदेशगमनन्नाम दशमस्सर्गः ॥ १० ॥

इतना सुनकर रामजी बोले, हे भगवन् ! उस ज्ञान की उत्पत्ति से अनन्त जीवों की शुद्धि कैसे हुई सो कृपाकर कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जो शुद्ध आत्मतत्त्व है उसका स्वभावरूप संवेदन-स्फूर्त्ति है; वह ब्रह्मारूप होकर स्थित हुई है । जैसे समुद्र अपनी द्रवता से तरङ्गरूप होता है वैसे ही ब्रह्माजी हुए हैं । उन्होंने सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करके तीनों काल उत्पन्न किये । जब कुछ काल व्यतीत हुआ तो कलियुग आया उससे जीवों की बुद्धि मलीन हो गई और पाप में विचर कर शास्त्र-वेद की आज्ञा उल्लङ्घन करने लगे । जब इस प्रकार धर्म की मर्यादा छिप गई और पाप प्रकट हुआ तो जितनी कुछ राजधर्म की मर्यादा थी सो भी सब नष्ट हो गई और अपनी इच्छा के अनुसार जीव विचरकर कष्ट पाने लगे । उनको देखकर ब्रह्माजी के करुणा उपजी और दया करके मुझसे, सनत्कुमार से और नारद से बोले कि हे पुत्रो ! तुम भूलोक में जाकर जीवों को शुद्ध उपदेश कर धर्म की मर्यादा स्थापन करो । जिस जीव को भोग की इच्छा हो उसको कर्मकाण्ड और जप, तप, स्नान, संध्या, यज्ञादिक का उपदेश करना और जो संसार से विरक्त हुए हों और मुमुक्षु हों और जिन्हें परमपद पाने की इच्छा हो उनको ब्रह्मविद्या का उपदेश करना । यह आज्ञा देकर हमको भूमिलोक में भेजा । तब हम सब ऋषीश्वर इकट्ठे होकर विचारने लगे कि जगत् की मर्यादा किस प्रकार हो और जीव शुभमार्ग में कैसे विचरें ? तब हमने यह विचार किया कि प्रथम राज्य का स्थापन करो कि उसकी आज्ञानुसार जीव विचरें । निदान प्रथम दण्डकर्त्ता राज्य स्थापन किया । जिन राजों के बड़े वीर्यवान्, तेजवान् और उदार आत्मा थे उनको भी हमने अध्यात्मविद्या का उपदेश किया जिससे वे परमपद को प्राप्त हुए और परमानन्दरूप अविनाशीपद ब्रह्मविद्या के उपदेश से उनको प्राप्त हुआ तब वे सुखी हुए । इस कारण ब्रह्मविद्या का नाम राजविद्या है । तब हमने वेद, शास्त्र, श्रुति और पुराणों से धर्म की मर्यादा स्थापन कर जप, तप, यज्ञ, दान, स्नान आदिक क्रिया प्रकट की और उपदेश किया कि जीव इसके सेवन से सुखी होगा । तब सब फल को पाकर उसको सेवने लगे, पर उनमें कोई बिरले निरहङ्कार हृदय की शुद्धता के निमित्त सेवन करते थे । हे रामजी ! जो मूर्ख थे सो कामना के निमित्त मन में फूल के कर्म करते थे और घटीयन्त्र की नाईं भटककर कभी ऊर्ध्व और कभी नीचे को जाते थे । जो निष्काम कर्म करते थे उनका हृदय शुद्ध होता था और ब्रह्मविद्या के अधिकारी होते थे । उस उपदेश द्वारा आत्मपद की प्राप्ति कर कितने तो जीवन्मुक्त हुए और कई राजा विदित वेद सिद्ध हुए सो राज्य की परम्परा चलाय हमारे उपदेश द्वारा ज्ञानी हुए । राजा दशरथ भी ज्ञानवान् हुए और तुम भी इसी दशा को प्राप्त हुए हो ।

जैसे तुम विरक्त हुए हो वैसे ही आगे भी स्वाभाविक विरक्त हुए हैं सो स्वभाव से ही तुम शुद्ध हो इसी कारण तुम श्रेष्ठ हो। जो कोई अनिष्ट दुःख प्राप्त होता है उससे विरक्तता उपजती है सो तुमको नहीं हुई, तुम्हें तो सब इन्द्रियों के विषय विद्यमान होने पर वैराग्य हुआ है, इससे तुम श्रेष्ठ हो। हे रामजी! मसान आदिक कष्ट के स्थानों को देखके तो सबको वैराग्य उपजता है कि कुछ नहीं, मर जाना है, पर उनमें जो कोई श्रेष्ठ पुरुष होता है सो वैराग्य को दृढ़ रखता है और मूर्ख है सो फिर विषय में आसक्त होता है। इससे जिनको अकारण वैराग्य उपजता है सो श्रेष्ठ हैं। हे रामजी! जो श्रेष्ठ पुरुष हैं सो अपने वैराग्य और अभ्यास के बल से संसारबन्धन से मुक्त हो जाते हैं। जैसे हस्ती बन्धन को तोड़के अपने बल से निकल जाता है और सुखी होता है वैसे ही वैराग्य अभ्यास के बल से बन्धन से ज्ञानी मुक्त होते हैं। हे रामजी! यह संसार बड़ा अनर्थरूप है। जिस पुरुष ने अपने पुरुषार्थ से इस बन्धन को नहीं तोड़ा उसको राग-द्वेषरूपी अग्नि जलाती है और जिस पुरुष ने अपने पुरुषार्थ से शास्त्र और गुरु के प्रमाण व युक्ति से ज्ञान को सिद्ध किया है वह उस पद को प्राप्त हुआ है। जैसे वर्षाकाल में बहुत वर्षा के होने से वन को दावानल नहीं जला सकता वैसे ही ज्ञानी को आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ताप कष्ट नहीं दे सकते। हे रामजी! जिन श्रेष्ठ पुरुषों ने संसार को विरस जानकर त्याग दिया है उनको संसार के पदार्थ गिरा नहीं सकते और जो मूर्ख हैं उनको गिरा देते हैं। जैसे तीक्ष्ण पवन के वेग से वृक्ष गिर जाते हैं परन्तु कल्पवृक्ष नहीं गिरता वैसे ही हे रामजी! श्रेष्ठ पुरुष वही है जो संसार को विरस जानकर केवल आत्मतत्त्व की इच्छा करके परायण हो। उसी को ब्रह्मविद्या का अधिकार है और वही उत्तम पुरुष है। हे रामजी! तुम भी वैसे ही उज्ज्वल पात्र हो। जैसे कोमल पृथ्वी में बीज बोते हैं वैसे ही तुमको मैं उपदेश करता हूँ। जिसको भोग की इच्छा है और संसार की ओर यत्न करता है सो पशुवत् है। श्रेष्ठ पुरुष वही है जिसको संसार तरने का पुरुषार्थ होता है। हे रामजी! प्रश्न उससे कीजिये जिससे जानिये कि

यह प्रश्न के उत्तर देने में समर्थ है और जिसको उत्तर देने की सामर्थ्य न हो उससे कदाचित् प्रश्न न करना। उत्तर देने को समर्थ हो और उसके वचन में भावना न हो तब भी प्रश्न न करे, क्योंकि दम्भ से प्रश्न करने में पाप होता है। गुरु भी उन्हीं को उपदेश करता है जो संसार से विरक्त हों और जिनको केवल आत्मपरायण होने की श्रद्धा और आस्तिकभाव हो। हे रामजी! जो गुरु और शिष्य दोनों उत्तम होते हैं तो वचन शोभते हैं। तुम उपदेश के शुद्धपात्र हो। जितने शिष्य के गुण शास्त्र में वर्णन किये हैं, सो सब तुममें पाये जाते हैं और मैं भी उपदेश करने में समर्थ हूँ, इससे कार्य शीघ्र होगा। हे रामजी! शुभ गुणों से तुम्हारी बुद्धि निर्मल हो रही है, इसलिये मेरा सिद्धान्त का सार वचन तुम्हारे हृदय में प्रवेश करेगा। जैसे उज्ज्वल वस्त्र में केशर का रङ्ग शीघ्र चढ़ जाता है वैसे ही तुम्हारे निर्मल चित्त को उपदेश का रङ्ग लगेगा। जैसे सूर्य के उदय से सूर्यमुखी कमल खिलता है वैसे ही तुम्हारी बुद्धि शुभ गुणों से खिल आई है। हे रामजी! जो कुछ शास्त्र का सिद्धान्त आत्मतत्त्व मैं तुमसे कहता हूँ उसमें तुम्हारी बुद्धि शीघ्र ही प्रवेश करेगी। जैसे निर्मल जल में सूर्य की कान्ति प्रवेश करती है वैसे ही तुम्हारी बुद्धि आत्मतत्त्व में शुद्धता से प्रवेश करेगी। हे रामजी! मैं तुम्हारे आगे हाथ जोड़के प्रार्थना करता हूँ कि जो कुछ मैं तुमको उपदेश करता हूँ उसमें ऐसी आस्तिकभावना कीजियेगा कि इन वचनों से मेरा कल्याण होगा। जो तुमको धारणा न हो तो प्रश्न मत करना। जिस शिष्य को गुरु के वचन में आस्तिक भावना होती है उसका शीघ्र ही कल्याण होता है। अब जिससे तुमको आत्मपद प्राप्त हो सो मैं कहता हूँ। प्रथम जो अज्ञानी जीव में असत्य बुद्धि है उसका संग त्याग करो और मोक्षद्वार के चारों द्वारपालों से मित्रभावना करो। जब उनसे मित्रभाव होगा तब वह मोक्षद्वार में पहुँचा देंगे और तभी तुमको आत्मदर्शन होवेगा। उन द्वारपालों के नाम सुनो—शम, सन्तोष, विचार और सत्सङ्ग यह चारों द्वारपाल हैं। जिस पुरुष ने इनको वश में किया है उसको यह शीघ्र ही मोक्षरूपी द्वार के अन्दर

कर देते हैं। हे रामजी! जो चारों वश में न हों तो तीन को ही वश में करो, अथवा दो ही को वश कर लो अथवा एक को वश करो। जो एक भी वश में होगा तो चारों ही वश में हो जायँगे। इन चारों का परस्पर स्नेह है। जहाँ एक आता है वहाँ चारों आके रहते हैं। जिन पुरुषों ने इनसे स्नेह किया है सो सुखी हुए हैं और जिसने इनका त्याग किया है सो दुःखी हैं। हे रामजी! यदि प्राण का त्याग हो तो भी एक साधन को तो बल से वश करना चाहिये। एक के वश करने से चारों ही वशीभूत होंगे। तुम्हारी बुद्धि में शुभ गुणों ने आके निवास किया है। जैसे सूर्य में सब प्रकाश आ जाते हैं वैसे ही सन्तों और शास्त्रों ने जो निर्मल गुण कहे हैं सो सब तुम में पाये जाते हैं। हे रामजी! तुम मेरे वचनों के वैसे अधिकारी हुए हो जैसे तन्त्री के सुनने को अंदोरा (स्पष्ट सुननेवाला) अधिकारी होता है। चन्द्रमा के उदय से जैसे चन्द्रवंशी कमल खिल आते हैं वैसे ही शुभ गुणों से तुम्हारी बुद्धि खिल आई है। हे रामजी! सत्सङ्ग और सत्शास्त्र द्वारा बुद्धि को तीक्ष्ण करने से शीघ्र ही आत्मतत्त्व में प्रवेश होता है। इससे श्रेष्ठ पुरुष वही है जिसने संसार को विरस जानके त्याग दिया है और सन्तों और सत्शास्त्रों के वचनों द्वारा आत्मपद पाने का यत्न करता है। वह अविनाशी पद को प्राप्त होता है। जो शुभ मार्ग त्याग करके संसार की ओर लगा है वह महामूर्ख जड़ है। जैसे शीतलता से जल बर्फ हो जाता है वैसे ही अज्ञानी मूर्खता से दृढ़ आत्ममार्ग से जड़ हो जाता है। हे रामजी! अज्ञानी के हृदयरूपी बिल में दुराशारूपी सर्प रहता है, इससे वह कदाचित् शान्ति नहीं पाता और कभी आनन्द से प्रफुल्लित नहीं होता। वह वैसे ही आशा से सदा संकुचित रहता है जैसे अग्नि में मांस सकुच जाता है। हे रामजी! आत्मपद के साक्षात्कार में विशेष आवरण आशा ही है। जैसे सूर्य के आगे मेघ का आवरण होता है वैसे ही आत्मतत्त्व के आगे दुराशा आवरण है। जब आशारूपी आवरण दूर हो तब आत्मपद का साक्षात्कार होवे। हे रामजी! आशा तब दूर हो जब सन्तों की संगति और सत्शास्त्रों का विचार हो। हे रामजी! संसाररूपी एक बड़ा वृक्ष है सो बोधरूपी खड्ग से छेदा जा सकता है।

जब सत्संग और सत्शास्त्र से बुद्धिरूपी खड्ग तीक्ष्ण हो तब संसाररूपी भ्रम का वृक्ष नष्ट हो जाता है। जब शुभ गुण होते हैं तब आत्मज्ञान आके विराजता है। जहाँ कमल होते हैं वहाँ भौंरे भी आके स्थित होते हैं। शुभ गुणों में आत्मज्ञान रहता है। हे रामजी! शुभगुणरूप पवन से जब इच्छारूपी मेघ निवृत्त होता है तब आत्मारूपी चन्द्रमा का साक्षात्कार होता है। जैसे चन्द्रमा के उदय होने से आकाश शोभा देता है वैसे ही आत्मा के साक्षात्कार होने से तुम्हारी बुद्धि खिलेगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे वशिष्ठोपदेशो नामैकादशस्सर्गः ॥ ११ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तुम मेरे वचनों के अधिकारी हो मूर्ख मेरे वचनों के अधिकारी नहीं, क्योंकि जप, तप, वैराग्य, विचार, सन्तोष आदि जिज्ञासु के शुभ गुण जो शास्त्रों और सन्तजनों ने कहे हैं उनसे तुम सम्पन्न हो और जितने गुरु के गुण शास्त्र में वर्णन किये हैं सो सब मुझमें हैं। जैसे रत्न से समुद्र सम्पन्न है वैसे ही गुणों से मैं सम्पन्न हूँ। इससे तुम मेरे वचनों को रजो और तमो आदि गुणों का त्याग कर शुद्ध सात्त्विकवान् होकर सुनो। हे रामजी! जैसे चन्द्रमा के उदय होने से चन्द्रकान्तमणि द्रवीभूत होती है और उसमें से अमृत निकलता है पर पत्थर की शिला में से नहीं निकलता वैसे ही जो जिज्ञासु होता है उसी को परमार्थ का वचन लगता है, अज्ञानी को नहीं लगता। जैसे निर्मल चन्द्रमुखी कमलिनी हो पर चन्द्रमा न हो तो वह प्रफुल्लित नहीं होती वैसे ही जो शिष्य शुद्ध पात्र हो और उपदेश करनेवाला ज्ञानवान् न हो तो उसको आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता। इसलिये तुम मोक्ष के पात्र हो और मैं भी परम गुरु हूँ। मेरे उपदेश से तुम्हारा अज्ञान नष्ट हो जावेगा। अब मैं मोक्ष का उपाय कहता हूँ; यदि तुम उसको भले प्रकार विचारोगे तो जैसे महाप्रलय के सूर्य से मन्दराचल पर्वत जल जाता है वैसे ही तुम्हारे मलीन मन की वृत्ति का अभाव हो जावेगा। इससे हे रामजी! वैराग्य और अभ्यास के बल से इस मन को अपने में लीन कर शान्तात्मा हो। तुमने बाल्यावस्था से अभ्यास कर रक्खा है इससे मन को

उपशम करके आत्मपद को प्राप्त होगे। हे रामजी ! जिन्होंने सत्सङ्ग और सत्शास्त्रों द्वारा आत्मपद पाया है सो सुखी हुए हैं, फिर उनको दुःख नहीं लगा, क्योंकि दुःख देहाभिमान से होता है सो देह का अभिमान तो तुमने त्याग ही दिया है। जिसने देह का अभिमान त्याग दिया है और देह को आत्मता से फिर ग्रहण नहीं करता सो सुखी रहता है। हे रामजी ! जिसने आत्मिक बल (विचार) द्वारा आत्मपद प्राप्त किया है वह अकृत्रिम आनन्द से सदा पूर्ण है और सब जगत् उसको आनन्दरूप भासता है। जो असम्यग्दर्शी हैं उनको जगत् अनर्थरूप भासता है। हे रामजी ! यह संसाररूप सर्प अज्ञानियों के हृदय में दृढ़ हो गया है वह योगरूपी गारुड़ी मन्त्र करके नष्ट हो जाता है, अन्यथा नहीं नष्ट होता। सर्प के विष से एक जन्म में मरता है और संसरणरूपी विष से अनेक जन्म पाकर मरता चला जाता है—कदाचित् शान्तिमान् नहीं होता। हे रामजी ! जिस पुरुष ने सत्संग और सत्शास्त्र के वचन द्वारा आत्मपद को पाया है वह आनन्दित हुआ है उसको भीतर बाहर सब जगत् आनन्दरूप भासता है और सब क्रिया करने में उसे आनन्द विलास है। जिसने सत्सङ्ग और सत्शास्त्रों का विचार त्यागा है और संसार के सम्मुख है उसको अनर्थरूप संसार दुःख देता है। कोई सर्प के दंश से दुःखी होते हैं, कोई शस्त्र से घायल होते हैं, कितने अग्नि में पड़े की नाईं जलते हैं, कितने रस्सी के साथ बँधे होते हैं और कितने अन्धकूप में गिर के कष्ट पाते हैं। हे रामजी ! जिन पुरुषों ने सत्सङ्ग और सत्शास्त्रों द्वारा आत्मपद को नहीं पाया उनको नरकरूप अग्नि में जलना, चक्की में पीसा जाना, पाषाण की वर्षा से चूर्ण होना, कोल्हू में पेरा जाना और शस्त्र से काटा जाना इत्यादि जो बड़े-बड़े कष्ट हैं प्राप्त होते हैं। हे रामजी ! ऐसा दुःख कोई नहीं जो इस जीव को प्राप्त नहीं होता; आत्मा के प्रमाद से सब दुःख होते हैं। जिन पदार्थों को यह रमणीय जानता है सो चक्र की नाईं चञ्चल हैं, कभी स्थिर नहीं रहते। सत्मार्ग को त्यागकर जो इनकी इच्छा करते हैं सो महादुःख को प्राप्त होते हैं और उनका दुःख इसलिए नष्ट नहीं होता कि वह ज्ञान के निमित्त

पुरुषार्थ नहीं करते। जो पुरुष संसार को निरस जानकर पुरुषार्थ की ओर दृढ़ हुआ है उसको आत्मपद की प्राप्ति होती है। हे रामजी ! जिस पुरुष को आत्मपद की प्राप्ति हुई है उसको फिर दुःख नहीं होता। अज्ञानी को संसार दुःखरूप है और ज्ञानी को सब जगत् आनन्दरूप है—उसको कुछ भ्रम नहीं रहता। हे रामजी ! ज्ञानवान् में नाना प्रकार की चेष्टा भी दृष्टि आती हैं तो भी वह सदा शान्त और आनन्दरूप है। संसार का दुःख उसको स्पर्श नहीं कर सकता, क्योंकि उसने ज्ञानरूपी कवच पहिना है। हे रामजी ! ज्ञानवान् को भी दुःख होता है बड़े-बड़े ब्रह्मर्षि और राजर्षि बहुत ज्ञानवान् हुए हैं। वे भी दुःख को प्राप्त होते रहे हैं परन्तु वे दुःख से आतुर नहीं होते थे वे सदा आनन्दरूप हैं। जैसे ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि नाना प्रकार की चेष्टा करते जीवों को दृष्टि आते हैं पर अन्तर से वे सदा शान्तरूप हैं, उनको कर्ता का कुछ अभिमान नहीं। हे रामजी ! अज्ञानरूपी मेघ से उत्पन्न मोहरूपी कुहड़ों का वृत्त ज्ञानरूपी शरत्काल से नष्ट हो जाता है। इससे स्वसत्ता को प्राप्त होता है और सदा आनन्द से पूर्ण रहता है। वह जो कुछ क्रिया करता है सो उसको विलासरूप है, सब जगत् आनन्दरूप है। शरीररूपी रथ और इन्द्रियरूपी अश्व हैं। मनरूपी रस्से से उन अश्वों को खींचते हैं। बुद्धिरूपी रथ भी वही है जिस रथ में वह पुरुष बैठा है और इन्द्रियरूपी अश्व उसको खोटे मार्ग में डालते हैं। ज्ञानवान् के इन्द्रियरूपी अश्व ऐसे हैं कि जहाँ जाते हैं वहाँ आनन्दरूप हैं, किसी ठौर में खेद नहीं पाते, सब क्रिया में उनको विलास है और सर्वदा आनन्द से तृप्त रहते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे तत्त्वज्ञमाहात्म्यं
नाम द्वादशस्सर्गः ॥ १२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इसी दृष्टि का आश्रय करो कि तुम्हारा हृदय पुष्ट हो, फिर संसार के इष्ट अनिष्ट से चलायमान न होगा। जिस पुरुष को इस प्रकार आत्मपद की प्राप्ति हुई है सो आनन्दित हुआ है। वह न शोक करता है, न याचना करता है और हेयोपादेय से भी रहित परम शान्तिरूप, अमृत से पूर्ण हो रहा है। वह पुरुष नाना प्रकार की

चेष्टा करता दृष्टि आता है, परन्तु वास्तव में कुछ नहीं करता। जहाँ उसके मन की वृत्ति जाती है वहाँ आत्मसत्ता भासती है। जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा अमृत से पूर्ण रहता है वैसे ही ज्ञानवान् परमानन्द से पूर्ण रहता है। हे रामजी ! यह जो मैंने तुमसे अमृतरूपी वृत्ति कही है इसको तब जानोगे जब तुमको ब्रह्म का साक्षात्कार होगा। जैसे चन्द्रमा के मण्डल में ताप नहीं होता वैसे ही आत्मज्ञान की प्राप्ति होने से सब दुःख नष्ट हो जाते हैं। अज्ञानी को कभी शान्ति नहीं होती; वह जो कुछ क्रिया करता है उसमें दुःख पाता है। जैसे कीकर के वृक्ष में कण्टकों की ही उत्पत्ति होती है वैसे ही अज्ञानी को दुःखों की ही उत्पत्ति होती है। हे रामजी ! इस जीव को मूर्खता और अज्ञानता से बड़े दुःख प्राप्त होते हैं जिनके समान और दुःख नहीं। यदि आत्मतत्त्व की जिज्ञासा में हाथ में ठीकरा ले चाण्डाल के घर से भिक्षा ग्रहण करे वह भी श्रेष्ठ है, पर मूर्खता से जीना व्यर्थ है। उस मूर्खता के दूर करने को मैं मोक्ष उपाय कहता हूँ। यह मोक्ष उपाय परमबोध का कारण है। इसके लिये कुछ संस्कृत बुद्धि भी होनी चाहिए जिससे पद पदार्थ का बोध हो और मोक्षउपाय शास्त्र को विचारे तो उसकी मूर्खता नष्ट होकर आत्मपद की प्राप्ति होगी। नाना प्रकार के दृष्टान्तों सहित जैसा आत्मबोध का कारण यह शास्त्र है वैसा कोई शास्त्र त्रिलोकी में नहीं। इसे जब विचारोगे तब परमानन्द को पावोगे। यह शास्त्र अज्ञान तिमिर के नाश करने को ज्ञानरूपी शलाका है। जैसे अन्धकार को सूर्य नष्ट करता है वैसे ही अज्ञान को इस शास्त्र का विचार नष्ट करता है। हे रामजी ! जिस प्रकार इस जीव का कल्याण है सो सुनिये। जब ज्ञानवान् गुरु सत्शास्त्रों का उपदेश करे और शिष्य अपने अनुभव से ज्ञान पावे अर्थात् गुरु, अपना अनुभव और शास्त्र जब ये तीनों इकट्ठे मिलें तब कल्याण होता है। जब तक अकृत्रिम आनन्द न मिले तब तक दृढ़ अभ्यास करे। उस अकृत्रिम आनन्द को प्राप्त करनेवाला मैं गुरु हूँ। जीवमात्र का मैं परम मित्र हूँ। हमारी संगति जीव को आनन्द प्राप्त करानेवाली है। इसलिए जो कुछ मैं कहता हूँ सो तुम करो। संसार के क्षणमात्र के भोगों को त्याग करो।

क्योंकि विषय के परिणाम में अनन्त दुःख हैं और हमसे ज्ञानवानों का संग करो। हमारे वचनों के विचार से तुम्हारे सब दुःख नष्ट हो जावेंगे। जिस पुरुष ने हमारे साथ प्रीति की है उसको हमने आनन्द की प्राप्ति, जिससे ब्रह्मादिक आनन्दित हुए हैं; करा दी है। ज्ञानवान् आनन्दित हुए हैं और निर्दुःख पद को प्राप्त हुए हैं। हे रामजी ! आत्मा का प्रमाद जीव को दीन करता है। जिसने सन्तों और शास्त्रों के विचार द्वारा दृश्य को अदृश्य जाना है वह निर्भय हुआ है। अज्ञानी का हृदयकमल तब तक सकुचा रहता है जब तक तृष्णारूपी रात्रि नष्ट नहीं हो जाती और हृदयकमल आनन्द से नहीं खिल आता। हे रामजी ! जिस पुरुष ने परमार्थ मार्ग को त्याग दिया है और संसार के खान पान आदि भोगों में मग्न हुआ है उसको तुम मेढक जानो, जो कीच में पड़ा शब्द करता है। हे रामजी ! यह संसार बड़ा आपदा का समुद्र है। इसमें जो कोई श्रेष्ठ पुरुष है वह सत्संग और सत्शास्त्र के विचार से इस समुद्र को उलंघ जाता है और परमानन्द निर्भयपद को जो आदि, अन्त और मध्य से रहित है प्राप्त होता है और जो संसारसमुद्र के सम्मुख हुआ है वह दुःख से दुःख को प्राप्त होता है और कष्ट से कष्ट नरक को प्राप्त होता है। जैसे विष को विष जान उसका पान करता है और वह विष उसको नाश करता है वैसे ही जो पुरुष संसार को असत्य जानकर फिर संसार की ओर यत्न करता है सो मृत्यु को प्राप्त होता है। हे रामजी ! जो पुरुष आत्मपद से विमुख है पर उसे कल्याणरूप जानता है और उसके अभ्यास का त्यागकर संसार की ओर धावता है वह वैसे ही नष्ट होगा और जन्म मरण को पावेगा जैसे किसी के घर में अग्नि लगे और वह तृण के घर और तृण ही की शय्या में शयन करे तो वह नष्ट होगा। जो संसार के पदार्थों में सुख मानते हैं वे सुख बिजली की चमक से हैं जो होके मिट जाते हैं—स्थिर नहीं रहते। संसार का दुःख आगमापायी है। हे रामजी ! यह संसार अविचार से भासता है और विचार करने से लीन हो जाता है। यदि विचार करने से लीन न होता तो तुमको उपदेश करने का काम नहीं था। इसी कारण पुरुषार्थ चाहिए—

जैसे हाथ में दीपक हो और अन्धा होकर कूप में गिरे सो मूर्खता है वै ही संसार भ्रम के निवारणवाले गुरु और शास्त्र विद्यमान हैं जो उनक शरण न आवे वह मूर्ख है। हे रामजी! जिस पुरुष ने सन्त की संग और सत्शास्त्र के विचार द्वारा आत्मपद को पाया है सो पुरुष केवल कैवल्यभाव को प्राप्त हुआ है अर्थात् शुद्ध चैतन्य को प्राप्त हुआ है और संसार भ्रम उनका निवृत्त हो गया है। हे रामजी! यह संसार मन के संसरने से उपजा है। जीव का कल्याण बान्धव, धन, प्रजा, तीर्थ, देव द्वार और ऐश्वर्य से नहीं होता, केवल एक मन के जीतने से कल्याण होता है। हे रामजी! जिसको ज्ञान परमपद रसायन कहते हैं; जिसके पाने से जीव का नाश न हो और जिसमें सर्वसुख की पूर्णता हो इसका साधन समता और संतोष है। इनसे ज्ञान उत्पन्न होता है। आत्मज्ञानरूपी एक वृक्ष है उसका फूल शान्ति है और स्थिति फल है जिस पुरुष को यह ज्ञान प्राप्त हुआ है सो शान्तिमान् होकर निर्लेप रहता है। उसको संसार का भावाभावरूप स्पर्श नहीं होता जैसे आकाश में सूर्य उदय होने से जगत् की क्रिया होती है और जब वह अदृश्य होता है तब जगत् की क्रिया भी लीन हो जाती है; और जैसे उस क्रिया के होने और न होने में आकाश ज्यों का त्यों है वैसे ही ज्ञानवान् सदा निर्लेप है उस आत्मज्ञान की उत्पत्ति का उपाय यह मेरा श्रेष्ठ शास्त्र है। हे रामजी! जो पुरुष इस मोक्षोपाय शास्त्र को श्रद्धासंयुक्त पढ़े अथवा सुने तो उसी दिन से वह मोक्ष का भागी हो। मोक्ष के चार द्वारपाल हैं सो मैं तुमसे कहता हूँ। जब इनमें से एक भी अपने वश हो तब मोक्षद्वार में शीघ्र ही प्रवेश होगा। उन चारों के नाम सुनिये। हे रामजी! शम जीव के परम विश्राम का कारण है। यह संसार जो दीखता है सो मरुस्थल की नदीवत् है इसको देखकर मूर्ख अज्ञानी सुखरूप जल जानकर मृग के समान दौड़ता है। शान्ति को नहीं प्राप्त होता। जब शमरूपी मेघ की वर्षा हो तब सुखी हो। हे रामजी! शम ही परमआनन्द, परमपद और शिवपद है। जिस पुरुष ने शम पाया है सो संसारसमुद्र से पार हुआ है। उसके शत्रु भी मित्र हो जाते हैं। हे रामजी! जैसे चन्द्र उदय होता है तब अमृत की कणा फूटती हैं और शीतलता होती है वैसे ही जिसके हृदय में शमरूपी चन्द्रमा उदय होता है उसके सब ताप मिट जाते हैं और परम शान्तिमान् होता है। हे रामजी! शम देवता के अमृत समान कोई अमृत नहीं, शम से परम शोभा की प्राप्ति होती है। जैसे पूर्णमासी के चन्द्रमा की कान्ति परम उज्ज्वल होती है वैसे ही शम को पाके जीव की उज्ज्वल कान्ति होती है। जैसे विष्णु के दो हृदय हैं—एक तो अपने शरीर में और दूसरा सन्तों में है वैसे ही जीव के भी दो हृदय होते हैं एक अपने शरीर में और दूसरा शम में। जैसा आनन्द शमवान् को होता है वैसा अमृत पीने से भी नहीं होता। हे रामजी! कोई प्राण से प्रिय अन्तर्धान होकर फिर प्राप्त हो तो जैसा आनन्द होता है उस आनन्द से भी अधिक आनन्द शमवान् को होता है। उसके दर्शन से जैसा आनन्द होता है ऐसा आनन्द राजा, मन्त्री और सुन्दर स्त्री को भी नहीं। हे रामजी! जिस पुरुष को शम की प्राप्ति हुई है वह वन्दना करने और पूजने योग्य है। जिसको शम की प्राप्ति हुई है उसको उद्वेग नहीं होता और अन्य लोगों से भी उद्वेग नहीं पाता। उसकी क्रिया और वचन अमृत की नाईं मीठे और चन्द्रमा की किरण के समान शीतल और सबको हृदयाराम हैं। हे रामजी! जैसे बालक माता को पाके आनन्दित होता है वैसे ही जिसको शम की प्राप्ति हुई है उसके संग से जीव अधिक आनन्दवान् होता है। जैसे किसी का बान्धव मुवा हुआ फिर आवे और उसको आनन्द प्राप्त हो उससे भी अधिक आनन्द शमसम्पन्न पुरुष को होता है। हे रामजी! ऐसा आनन्द चक्रवर्ती और त्रिलोकी का राज्य पाने से भी नहीं होता। जिसको शम की प्राप्ति हुई है उसके शत्रु भी मित्र हो जाते हैं; उसको सर्प और सिंह का भय नहीं रहता बल्कि किसी का भी भय नहीं रहता, वह सदा निर्भय शान्तरूप रहता है। हे रामजी! जो कोई कष्ट प्राप्त हो और काल की अग्नि भी आ लगे तो भी वह चलायमान नहीं होता—सदा शान्तरूप रहता है। जैसे शीतल चाँदनी चंद्रमा में स्थित है वैसे ही जो कुछ शुभ गुण और संपदा है सब शमवान् के हृदय में आ स्थित

होती हैं। हे रामजी! जो पुरुष आध्यात्मिकादि ताप से जलता है उसके हृदय में कदाचित् शाम की प्राप्ति हो तो सब ताप मिट जाते हैं। जैसे त पृथ्वी वर्षा से शीतल हो जाती है वैसे ही उसका हृदय शीतल हो जाता है। जिसको शम की प्राप्ति हुई है सो सब क्रिया में आनन्दरूप है-उसको कोई दुःख नहीं स्पर्श करता। जैसे वज्र और शिला को बाण नहीं वेध सकता वैसे ही जिस पुरुष ने शमरूपी कवच पहिना है उसको आध्यात्मिकादि ताप वेध नहीं सकते—वह सर्वदा शीतलरूप रहता है। हे रामजी! तपस्वी, पण्डित, याज्ञिक और धनाढ्य पूजा में मान करने योग्य हैं, परन्तु जिसको शम की प्राप्ति हुई है सो सबसे उत्तम और सबके पूजने योग्य है। उसके मन की वृत्ति आत्मतत्त्व को ग्रहण करती है और सब क्रिया में सोहती है। जिस पुरुष को शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध क्रिया के विषयों के इष्ट अनिष्ट में राग-द्वेष नहीं होता उसको शान्तात्मा कहते हैं। हे रामजी! जो संसार के रमणीय पदार्थ में बध्यमान नहीं होता और आत्मानन्द से पूर्ण है उसको शान्तिमान् कहते हैं। उसको संसार के शुभ अशुभ का मलिनपना नहीं लगता वह तो सदा निर्लेप रहता है। जैसे आकाश सब पदार्थों से निर्लेप है वैसे ही शान्तिमान् सदा निर्लेप रहता है। हे रामजी! ऐसा पुरुष इष्ट विषय की प्राप्ति में हर्षवान् नहीं होता और अनिष्ट की प्राप्ति में शोकवान् नहीं होता। वह अन्तःकरण से सदा शान्त रहता है और उसको कोई दुःख स्पर्श नहीं करता; वह अपने आपमें सदा परमानन्दरूप रहता है। जैसे सूर्य के उदय होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है वैसे ही शान्ति के पाने से सब दुःख नष्ट होकर सदा निर्विकार रहता है। हे रामजी! वह पुरुष सब चेष्टा करते दृष्टि आता है परन्तु सदा निर्गुणरूप है, कोई क्रिया उसको स्पर्श नहीं करती। जैसे जल में कमल निर्लेप रहता है वैसे ही शान्तिमान् सदा निर्लेप रहता है। हे रामजी! जो पुरुष बड़ी राज्य-सम्पदा और बड़ी आपदा को पाकर ज्यों का त्यों अलग रहता है उसे शान्तिमान् कहिये। हे रामजी! जो पुरुष शान्ति से रहित है उसका चित्त क्षण क्षण राग-द्वेष से तपता है और जिसको शान्ति की

प्राप्ति हुई है सो भीतर बाहर शीतल और सदा एक रस है। जैसे हिमालय सदा शीतल रहता है वैसे ही वह सदा शीतल रहता है। उसके मुख की कान्ति बहुत सुन्दर हो जाती है। जैसे निष्कलङ्क चन्द्रमा है वैसे ही शान्तिमान् निष्कलङ्क रहता है। हे रामजी! जिसको शान्ति प्राप्त हुई है सो परम आनन्दित हुआ है और उसी को परम लाभ प्राप्त होता है। ज्ञानी इसी को परम पद कहते हैं। जिसको पुरुषार्थ करना है उसको शान्ति की प्राप्ति करनी चाहिए। हे रामजी! जैसे मैंने कहा है उस क्रम से शान्ति का ग्रहण करो तब संसारसमुद्र के पार पहुँचोगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे शमनिरूपणंनाम त्रयोदशस्सर्गः॥१३॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! अब विचार का निरूपण सुनिये। जब हृदय शुद्ध होता है तब विचार होता है और शास्त्रार्थ के विचार द्वारा बुद्धि तीक्ष्ण होती है। हे रामजी! अज्ञानवन में आपदारूपी बेलि की उत्पत्ति होती है उसको विचाररूपी खड्ग से जब काटोगे तब शान्त-आत्मा होगे। मोहरूपी हस्ती जीव के हृदयकमल का खण्ड खण्ड कर डालता है—अभिप्राय यह है कि इष्ट अनिष्ट पदार्थ में राग द्वेष से छेदा जाता है। जब विचाररूपी सिंह प्रकटे तब मोहरूपी हस्ती का नाश कर शान्तात्मा होगे। हे रामजी! जिसको कुछ सिद्धता प्राप्त हुई है उसे विचार और पुरुषार्थ से ही हुई है। जब प्रथम राजा विचारकर पुरुषार्थ करता है तब उसी से राज्य को प्राप्त होता है। प्रथम बल, दूसरे बुद्धि, तीसरे तेज, चतुर्थ पदार्थ का आगमन और पञ्चम पदार्थ की प्राप्ति इन पाँचों की प्राप्ति विचार से होती है अर्थात् इन्द्रियों का जीतना, बुद्धि आत्माव्यापिनी और तेज, पदार्थ का आगमन इनकी प्राप्ति विचार से होती है। हे रामजी! जिस पुरुष ने विचार का आश्रय लिया है वह विचार की दृढ़ता से जिसकी वाञ्छा करता है उसको पाता है। इससे विचार इसका परम मित्र है। विचारवान् पुरुष आपदा में नहीं फँसता। जैसे तुम्बी जल में नहीं डूबती वैसे ही वह आपदा में नहीं डूबता। हे रामजी! वह जो कुछ करता है विचारसंयुक्त करता है और विचारसंयुक्त ही देता लेता है। उसकी सब क्रिया सिद्धता का कारण होती है और

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष विचार की दृढ़ता से ही सिद्ध होते हैं। विचाररूपी कल्पवृक्ष में जिसका अभ्यास होता है सोई पदार्थों की सिद्धि को पाता है। हे रामजी ! शुद्ध ब्रह्म का विचार ग्रहण करके आत्मज्ञान को प्राप्त हो जाओ। जैसे दीपक से पदार्थ का ज्ञान होता है वैसे ही पुरुष विचार से सत्य असत्य को जानता है। जो असत्य को त्यागकर सत्य की ओर यत्न करता है उसीको विचारवान् कहते हैं। हे रामजी ! संसाररूपी समुद्र में आपदा की तरङ्गें उठती हैं। विचारवान् पुरुष उनके भाव अभाव में कष्टवान् नहीं होता। जो कुछ क्रिया विचारसंयुक्त होती है उसका परिणाम सुख है और जो विचार विना चेष्टा होती है उससे दुःख प्राप्त होता है। हे रामजी ! अविचाररूप कण्टक के वृक्ष से दुःख के बड़े कण्टक उत्पन्न होते हैं। अविचाररूपी रात्रि में तृष्णारूपी पिशाचिनी विचरती है और जब विचाररूपी सूर्य उदय होता है तब अविचाररूपी रात्रि और तृष्णारूपी पिशाचिनी नष्ट हो जाती है। हे रामजी ! हमारा यही आशीर्वाद है कि तुम्हारे हृदय से अविचाररूपी रात्रि नष्ट हो जाय। विचाररूपी सूर्य से अविचारित संसार दुःख का नाश होता है। जैसे बालक अविचार से अपनी परछाहीं को वैताल कल्प के भय पाता है और विचार करने से भय नष्ट हो जाता है वैसे ही अविचार से संसार दुःख देता है और सत्शास्त्र द्वारा युक्तिकर विचार करने से संसार का भय नष्ट हो जाता है। हे रामजी ! जहाँ विचार है वहाँ दुःख नहीं है। जैसे जहाँ प्रकाश है वहाँ अन्धकार नहीं होता और जहाँ प्रकाश नहीं वहाँ अन्धकार रहता है वैसे ही जहाँ विचार है वहाँ संसारभय नहीं है और जहाँ विचार नहीं वहाँ संसारभय रहता है। जहाँ आत्मविचार उत्पन्न होता है वहाँ सुख के देनेवाले शुभगुण स्थित होते हैं। जैसे मणिसरोवर में कमल की उत्पत्ति होती है वैसे ही विचार में शुभ गुणों की उत्पत्ति होती है। जहाँ विचार नहीं है वहाँ ही दुःख का आगमन होता है। हे रामजी! जो कुछ अविचार से क्रिया करते हैं सो दुःख का कारण होती है। जैसे चूहा बिल को खोदके मृत्तिका निकालता है वह जहाँ इकट्ठी होती है वहाँ बेलि की उत्पत्ति होती है वैसे ही अविचार से जीव मृत्तिकारूपी पापक्रिया को इकट्ठी करता है और उससे आपदारूपी बेलि उत्पन्न होती है। अविचाररूपी घुन के खाये सूखे वृक्ष से सुखरूपी फल नहीं निकलते। अविचार उसका नाम है जिसमें शुभ और शास्त्रानुसार क्रिया न हो। हे रामजी! विवेकरूपी राजा है और विचाररूपी उसकी ध्वजा है जहाँ विवेकरूपी राजा आता है वहाँ विचाररूपी ध्वजा भी उसके साथ फिरती है और जहाँ विचाररूपी ध्वजा आती है वहाँ विवेकरूपी राजा भी आता है। जो पुरुष विचार से सम्पन्न है सो पूजने योग्य है। जैसे द्वितीया के चन्द्रमा को सब नमस्कार करते हैं वैसे ही विचारवान् को सब नमस्कार करते हैं। हे रामजी ! हमारे देखते देखते अल्पबुद्धि भी विचार की दृढ़ता से मोक्षपद को प्राप्त हुए हैं। इससे विचार सबका परम मित्र है। जैसे हिमालय पर्वत भीतर बाहर से शीतल रहता है वैसे ही वह भी शीतल रहता है। देखो विचार से जीव ऐसे पद को प्राप्त होता है जो नित्य, स्वच्छ, अनन्त और परमानन्दरूप है। उसको पाकर फिर उसके त्याग की इच्छा नहीं होती और न और के ग्रहण की ही इच्छा होती है। उसको इष्ट अनिष्ट सब समान हैं। जैसे तरङ्ग के होने और लीन होने में समुद्र समान रहता है वैसे ही विवेकी पुरुष को इष्ट अनिष्ट में समता रहती है और संसारभ्रम मिट जाता है। आधाराधेय से रहित केवल अद्वैत तत्त्व उसको प्राप्त होता है। हे रामजी ! यह जगत् अपने मन के मोह से उपजता है और अविचार से दुःखदायी दीखता है। जैसे अविचार से बालक को वैताल भासता है वैसे ही इसको जगत् भासता है। जब ब्रह्मविचार की प्राप्ति हो तब जगत् का भ्रम नष्ट हो जावे। हे रामजी ! जिसके हृदय में विचार होता है उसको समता की उत्पत्ति होती है। जैसे बीज से अंकुर निकल आता है वैसे ही विचार से समता हो आती है और विचारवान् पुरुष जिसकी ओर देखता है उस ओर आनन्द दृष्टि आता है, दुःख नहीं भासता। जैसे सूर्य को अन्धकार नहीं दृष्टि आता वैसे ही विचारवान् को दुःख नहीं दृष्टि आता। जहाँ अविचार है वहाँ दुःख है, जहाँ विचार है वहाँ सुख है। जैसे अन्धकार के अभाव से वैताल के भय का अभाव हो जाता है वैसे ही विचार से दुःख का अभाव हो जाता है। हे

रामजी ! संसाररूपी दीर्घरोग के नष्ट करने को विचार बड़ी औषध है। जैसी पौर्णमासी के चन्द्रमा की उज्ज्वल कान्ति होती है वैसे ही विचारवान् के मुख की उज्ज्वल कान्ति होती है। हे रामजी ! विचार से ही परम पद की प्राप्ति होती है। जिससे अर्थ सिद्ध हो उसका नाम विचार है और जिससे अनर्थ सिद्ध हो उसका नाम अविचार है। जो अविचाररूपी मदिरा पान करता है वह उन्मत्त हो जाता है। उससे शुभ विचार कोई नहीं होता और शास्त्र के अनुसार क्रिया भी उससे नहीं होती। हे रामजी ! इच्छारूपी रोग विचाररूपी औषध से निवृत्त होता है। जिस पुरुष ने विचार द्वारा परमार्थसत्ता का आश्रय लिया है सो परम शान्त हो जाता है और हेयोपादेयबुद्धि उसकी नहीं रहती वह सब दृश्य को साक्षीभूत होकर देखता है और संसार के भाव अभाव में ज्यों का त्यों रहता है। वह उदय अस्त से रहित निस्संगरूप है। जैसे समुद्र जल से पूर्ण है वैसे ही विचारवान् आत्मतत्त्व से पूर्ण है। जैसे अन्धकूप में पड़ा हुआ हाथ के बल से निकलता है वैसे ही संसाररूपी अन्धकूप में गिरा हुआ विचार के आश्रय होकर विचारवान् ही निकलने को समर्थ होता है। हे रामजी ! राजा को जो कोई कष्ट प्राप्त होता है तो वह विचार करके यत्न करता है तब कष्ट निवृत्त हो जाता है। इससे तुम विचार कर देखो कि जो किसी को कष्ट प्राप्त होता है तो विचार से ही मिटता है। तुम भी विचार का आश्रय करके सिद्धि को प्राप्त हो। वह विचार इस प्रकार प्राप्त होता है कि वेद और वेदान्त के सिद्धान्त को श्रवण कर पाठ करे और भले प्रकार विचारे तब विचार की दृढ़ता से आत्मतत्त्व को प्राप्त होगा। जैसे प्रकाश से पदार्थ का ज्ञान होता है वैसे ही गुरु और शास्त्र के वचनों से तत्त्वज्ञान होता है। जैसे प्रकाश में अन्धे को पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती वैसे ही गुरु, शास्त्र और विचार से जो शून्य हो उसको आत्मपद की प्राप्ति नहीं होती। हे रामजी ! जो विचाररूपी नेत्र से सम्पन्न हैं सोई देखते हैं और जो विचाररूपी नेत्र से रहित हैं वे अन्धे हैं। हे रामजी ! ऐसा विचार करे कि "मैं कौन हूँ ?" "यह जगत् क्या है ?" "इसकी उत्पत्ति कैसे हुई" और "लीन कैसे होता है ?" इस प्रकार सन्तों और शास्त्रों के अनुसार विचार करके सत्य को सत्य और असत्य को असत्य जान जिसको असत्य जाने उसका त्याग करे और सत्य में स्थित हो। इसी का नाम विचार है। इस विचार से आत्मपद की प्राप्ति होती है। हे रामजी ! विचाररूपी दिव्यदृष्टि जिसको प्राप्त हुई है उसको सब पदार्थों का ज्ञान होता है और विचार से ही आत्मपद की प्राप्ति होती है, जिसके पाने से परिपूर्ण हो जाता है और फिर शुभ अशुभ संसार में चलायमान नहीं होता—ज्यों का त्यों रहता है। जब तक प्रारब्ध का वेग होता है तब तक शरीर की चेष्टा होती है और जब तक अपनी इच्छा होती है तब तक शरीर की चेष्टा करता है, फिर शरीर को त्यागकर केवल शुद्धरूप हो जाता है। इससे हे रामजी ! ब्रह्मविचार का आश्रय करके संसारसमुद्र को तर जाओ। इतना रुदन रोगी और कष्टवान् पुरुष भी नहीं करता जितना विचाररहित पुरुष करता है। हे रामजी ! जो पुरुष विचार से शून्य है उसको सब आपदा आ प्राप्त होती हैं। जैसे सब नदी स्वभाव से ही समुद्र में प्रवेश करती हैं वैसे ही अविचार से सब आपदायें प्रवेश करती हैं। हे रामजी ! कीच का कीट, गर्त्त का कण्टक और अँधेरे बिल में सर्प होना भला है परन्तु विचार से रहित होना तुच्छ है। जो पुरुष विचार से रहित होकर भोग में दौड़ता है वह श्वान है। हे रामजी ! विचार से रहित पुरुष बड़ा कष्ट पाता है। इससे एकक्षण भी विचार रहित नहीं रहना। विचार से दृढ़ होकर निर्भय रहना। "मैं कौन हूँ" और "दृश्य क्या है ?" ऐसा विचार करके और सत्यरूप आत्मा को जानकर दृश्य का त्याग करना। हे रामजी ! जो पुरुष विचारवान् है सो संसार के भोग में नहीं गिरता, सत्य में ही स्थित होता है। जब विचार स्थित होता है तब तत्त्वज्ञान होता है और जब तत्त्वज्ञान से विश्राम होता है तब विश्राम से चित्त का उपशम होकर दुःख नष्ट होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे विचारनिरूपणन्नाम चतुर्दशस्सर्गः १४॥

वशिष्ठजी बोले, हे अविचार शत्रु के नाशकर्त्ता, रामजी ! जिस पुरुष को सन्तोष प्राप्त हुआ है वह परमानन्दित होकर त्रिलोकी के ऐश्वर्य को

तृण की नाईं तुच्छ जानता है। हे रामजी! जो आनन्द अमृत के पान से और त्रिलोक के राज्य से नहीं होता वह आनन्द सन्तोषवान् को होता है। हे रामजी! इच्छारूपी रात्रि हृदयरूपी कमल को सकुचा देती है; जब सन्तोषरूपी सूर्य उदय होता है तब इच्छारूपी रात्रि का अभाव हो जाता है। जैसे क्षीरसमुद्र उज्ज्वलता से शोभायमान है वैसे ही संतोषवान् की कान्ति सुशोभित होती है। हे रामजी! त्रिलोकी के राजा की भी इच्छा निवृत्त न हुई तो वह दरिद्री है और जो निर्धन सन्तोषवान् है सो सबका ईश्वर है। सन्तोष उसी का नाम है जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा न करे और प्राप्त भी हो तो इष्ट अनिष्ट में राग-द्वेष न करे। सन्तोषवान् सदा आनन्दपुरुष है और आत्मास्थिति से तृप्त हुआ है उसको और इच्छा कुछ नहीं। संतोष से उसका हृदय प्रफुल्लित हुआ है। जैसे सूर्य के उदय होने से सूर्यमुखी कमल प्रफुल्लित होता है वैसे ही संतोषवान् प्रफुल्लित हो जाता है। जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा नहीं करता और जो अनिच्छित प्राप्त हुई को यथाशास्त्र क्रम से ग्रहण करता है उसका नाम संतोषवान् है जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा अमृत से पूर्ण होता है वैसे ही संतोषवान् का हृदय संतोष से पूर्ण होता है। जो सन्तोष से रहित है उसके हृदयरूपी वन में सदा दुःख और चिन्तारूपी फूल फल उत्पन्न होते हैं। हे रामजी! जिसका चित्त सन्तोष से रहित है उसको नाना प्रकार की इच्छा समुद्र की नाना प्रकार की तरंगों के समान उपजती हैं। सन्तुष्टात्मा परम आनन्दित है। उसको जगत् के पदार्थों में हेयोपादेय बुद्धि नहीं होती। हे रामजी! जैसा आनन्द संतोषवान् को होता है वैसा आनन्द अष्टसिद्धि के ऐश्वर्य और अमृत पान करने से भी नहीं होता। संतोषवान् सदा शान्तरूप और निर्मल रहता है। इच्छारूपी धूलि सर्वदा उड़ती रहती है सो सन्तोषरूपी वर्षा से शान्त हो जाती है, इस कारण संतोषवान् निर्मल है। हे रामजी! जैसे आम का परिपक्व फल सुन्दर होता है और सबको प्यारा लगता है वैसे ही संतोषवान् पुरुष सबको प्यारा लगता है और स्तुति करने के योग्य है। जिस पुरुष को संतोष प्राप्त हुआ है उसको परम लाभ हुआ है। हे रामजी! जहाँ संतोष है वहाँ इच्छा नहीं रहती और सन्तोषवान् भोगों से दीन नहीं होता। वह उदारात्मा सर्वदा आनन्द से तृप्त रहता है। जैसे मेघ पवन के आने से नष्ट हो जाता है वैसे ही सन्तोष के आने से इच्छा नष्ट हो जाती है। जो संतोषवान् पुरुष है उसको देवता और ऋषीश्वर सब नमस्कार करते और धन्य धन्य कहते हैं। हे रामजी! जब सन्तोष करोगे तब परम शोभा पावोगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे सन्तोषनिरूपणन्नामपञ्चदशस्सर्गः १५॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जितने दान और तीर्थादिक साधन हैं उनसे आत्मपद की प्राप्ति नहीं होती; आत्मपद की प्राप्ति साधुसङ्ग से ही होती है। साधुसङ्गरूपी एक वृक्ष है और उसका फल आत्मज्ञान है। जिस पुरुष ने फल की इच्छा की है सो अनुभवरूपी फल को पाता है। जो पुरुष आत्मानन्द से रहित है सो सत्सङ्ग करके आत्मानन्द से पूर्ण होता है, जो अज्ञान से मृत्यु पाता है सो सन्त के सङ्ग से ज्ञान पाकर अमर होता है और जो आपदा से दुःखी है सो सन्त के सङ्ग से सम्पदा पाता है। आपदारूपी कमल का नाश करनेवाली सत्सङ्गरूपी बरफ की वर्षा है। सत्सङ्ग से ही आत्मबुद्धि प्राप्त होती है जिससे मृत्यु नहीं होती और सब दुःखों से छूटकर परमानन्द को प्राप्त होता है। हे रामजी! सन्त की संगति से हृदय में ज्ञानरूपी दीपक जलता है जिससे अज्ञानरूपी तम नष्ट हो जाता है और बड़े बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त होता है। फिर उसे किसी भोग्य पदार्थ की इच्छा नहीं रहती और बोधवान् हो के सबसे उत्तम पद में विराजता है जैसे कल्पवृक्ष के निकट जाने से वाञ्छित फल की प्राप्ति होती है वैसे ही संसारसमुद्र के पार उतारनेवाले सन्तजन हैं। जैसे धीवर नौका से पार लगाता है वैसे ही सन्तजन युक्ति से संसारसमुद्र से पार करते हैं। हे रामजी! मोहरूपी मेघ का नाश करनेवाला सन्त का सङ्ग पवन है। जिसको अनात्म देहादिक से स्नेह नष्ट हुआ है और शुद्ध आत्मा में जिसकी स्थिति है वह उससे तृप्त हुआ है। फिर संसार के इष्ट अनिष्ट में उसकी बुद्धि चलायमान नहीं होती, वह सदा समताभाव में स्थित रहता है। सन्तजन संसारसमुद्र के पार उतारने में पुल के समान

हैं और आपदारूपी बेलि को जड़ समेत नष्ट करनेवाले हैं। हे रामजी सन्तजन प्रकाशरूप हैं, उनके सङ्ग से पदार्थों की प्राप्ति होती है। जो अपने पुरुषार्थरूपी नेत्र से हीन हैं उनको पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती जिस पुरुष ने सत्सङ्ग का त्याग किया है वह नरकरूपी अग्नि में लकड़ी की नाईं जरेगा और जिस पुरुष ने सत्सङ्ग किया है उसको नरक की अग्नि का नाश करनेवाला सत्सङ्गरूपी मेघ है। हे रामजी ! जिसने सत्सङ्गरूपी गङ्गा का स्नान किया है उसको फिर तप दान आदिक साधनों से प्रयोजन नहीं रहता। वह सत्संग से ही परम गति को प्राप्त होगा इससे और सब उपायों को त्यागकर सत्सङ्ग को ही खोजना चाहिये। जैसे निर्धन मनुष्य चिन्तामणि आदिक धन को खोजता है वैसे ही मुमुक्षु सत्सङ्ग को खोजता है। जो अध्यात्मकादि तीनों ताप से जलता है उसको शीतल करनेवाला सत्सङ्ग ही है। जैसे तपी हुई पृथ्वी मेघ से शीतल होती है वैसे ही हृदय सत्सङ्ग से शीतल होता है। हे रामजी ! मोहरूपी वृक्ष का नाश करनेवाला सत्सङ्गरूपी कुल्हाड़ा है। सत्सङ्ग से ही मनुष्य अविनाशी पद को प्राप्त होता है। जिस पद के पाने से और कुछ पाने की इच्छा नहीं रहती। इससे सबसे उत्तम सत्सङ्ग ही है। जैसे सब अप्सराओं से लक्ष्मी उत्तम हैं, वैसे ही सत्सङ्गकर्त्ता सबसे उत्तम है। इससे अपने कल्याण के निमित्त सत्सङ्ग करना ही तुमको योग्य है। हे रामजी ! ये जो चारों मोक्ष के द्वारपाल हैं उनका वृत्तान्त तुमसे कहा। जिस पुरुष ने इनके साथ प्रीति की है, वह शीघ्र आत्मपद को प्राप्त होगा और जो इनकी सेवा नहीं करते सो मोक्ष को न प्राप्त होंगे। हे रामजी ! इन चारों में से एक भी जहाँ आता है, वहाँ तीनों और भी आ जाते हैं। जैसे जहाँ समुद्र रहता है, वहाँ सब नदी आ जाती हैं वैसे ही जहाँ शम आता है वहाँ सन्तोष, विचार और सत्सङ्ग ये तीनों भी आ जाते हैं और जहाँ साधुसङ्गम होता है वहाँ सन्तोष, विचार और शम ये तीनों आ जाते हैं। जहाँ कल्पवृक्ष रहता है वहाँ सब पदार्थ स्थित होते हैं। जैसे पूर्णमासी के चन्द्रमा में गुण कला सब इकट्ठी हो जाती हैं वैसे ही जहाँ सन्तोष आता है वहाँ और तीनों भी आते हैं और जहाँ विचार

आता है वहाँ सन्तोष, उपशम और सत्सङ्ग भी आ रहते हैं। जैसे श्रेष्ठ मन्त्री से राज्यलक्ष्मी आ स्थित होती है वैसे ही जहाँ विचार होता है वहाँ और भी तीनों आते हैं। इससे हे रामजी ! जहाँ ये चारों इकट्ठे होते हैं उसे परम श्रेष्ठ जानना। हे रामजी ! यदि ये चारों न हों तो एक का तो अवश्य आश्रय करना। जब एक आवेगा तब चारों आ स्थित होंगे। मोक्ष की प्राप्ति के ये चार परम साधन हैं और किसी उपाय से मुक्ति न होगी। श्लोक "सन्तोषः परमो लाभः सत्सङ्गः परमं धनम्। विचारः परमं ज्ञानं शमं च परमं सुखम् ॥" हे रामजी ! ये परम कल्याणकर्त्ता हैं। जो इन चारों से सम्पन्न है उसकी ब्रह्मादिक स्तुति करते हैं। इससे दन्त को दन्त लगा इनका आश्रय करके मन को वश करो। हे रामजी ! मनरूपी हस्ती विचाररूपी अंकुश से वश होता है। मनरूपी वन में वासनारूपी नदी चलती है उसके शुभ अशुभ दो किनारे हैं। पुरुषार्थ करना यह है कि अशुभ की ओर से मन को रोक के शुभ की ओर चलाना। जब अन्तर्मुख आत्मा के सम्मुख वृत्ति का प्रवाह होगा तब तुम परमपद को प्राप्त होगे। हे रामजी ! प्रथम तो पुरुषार्थ करना यही है कि अविचाररूपी उँचाई को दूर करे। जब अविचाररूपी बेंट दूर होगा तब आप ही प्रवाह चलेगा। हे रामजी ! दृश्य की ओर जो प्रवाह चलता है सो बन्धन का कारण है। जब आत्मा की ओर अन्तर्मुख प्रवाह हो तब मोक्ष का कारण हो जाय। आगे जो तुम्हारी इच्छा हो सो करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे साधुसङ्गनिरूपण न्नाम
षोडशस्सर्गः ॥ १६ ॥

वशिष्ठजी बोले हे रामजी ! ये मेरे वचन परम पावन हैं। विचारवान् शुद्ध अधिकारी को ये परम बोध के कारण हैं ! शुद्ध पात्र पुरुष इन वचनों को पाके सोहते हैं और वचन भी उनको पाके शोभा पाते हैं। जैसे शरद् काल में मेघ के अभाव से चन्द्रमा और आकाश शोभा देते हैं वैसे ही शुद्धपात्र में ये वचन शोभते हैं और जिज्ञासु निर्मल वचनों की महिमा सुनके प्रसन्न होता है। हे रामजी ! तुम परम पात्र हो और मेरे वचन अति उत्तम हैं। यह महारामायण मोक्षोपायक शास्त्र आत्म-

बोध का परम कारण है। इसमें परम पावन वाक्य की सिद्धता और युक्ति युक्तार्थवाक्य हैं और नाना प्रकार के दृष्टान्त कहे हैं। जिसके बहुत जन्म के पुण्य इकट्ठे होते हैं उसको कल्पवृक्ष मिलता है और फल से झुक पड़ता है तब उसको यह शास्त्र श्रवण होता है। नीच को इसका श्रवण प्राप्त नहीं होता और न उसकी वृत्ति इसके श्रवण में आती है। जैसे धर्मात्मा राजा की इच्छा न्यायशास्त्र के सुनने में होती है और पापात्मा की नहीं होती वैसे ही पुण्यवान् की इच्छा इसके सुनने में होती है। और अधर्मी की इच्छा नहीं होती। जो कोई इस मोक्षोपायक रामायण का आदि से अन्त पर्यन्त अध्ययन करेगा अथवा निष्काम सन्त के मुख से श्रद्धायुक्त सुनकर एकत्र भाव होकर विचारेगा उसका संसारभ्रम निवृत्त हो जावेगा। जैसे रस्सी के जानने से सर्प का भ्रम दूर हो जाता है वैसे ही अद्वैतात्मा तत्त्व के जानने से उसका संसारभ्रम नष्ट हो जावेगा। इस मोक्षोपायक शास्त्र के बत्तीस सहस्र श्लोक और षट्प्रकरण हैं। पहिला वैराग्य प्रकरण वैराग्य का परम कारण है। हे रामजी! जैसे मरुस्थल में वृक्ष नहीं होता और कदाचित् बड़ी वर्षा हो तो वहाँ भी वृक्ष होता है वैसे ही अज्ञानी का हृदय मरुस्थल की नाईं है उसमें वैराग्य वृक्ष नहीं होता, पर जो इस शास्त्र की बड़ी वर्षा हो तो वैराग्य वृक्ष उसमें उत्पन्न होता है। इस वैराग्य प्रकरण के एक सहस्र पाँच सौ श्लोक हैं। उसके अनन्तर मुमुक्षु व्यवहार प्रकरण है, उसके परम निर्मल वचन हैं। जैसे मलीन मणि मार्जन करने से उज्ज्वल हो जाती है वैसे ही इन वचनों से मुमुक्षु का हृदय निर्मल होता है और विचार के बल से आत्मपद पाने को समर्थ होता है। इसके एक सहस्र श्लोक हैं। इसके अनन्तर उत्पत्ति प्रकरण के पाँच सहस्र श्लोक हैं। उसमें बड़ी सुन्दर कथा दृष्टान्तों सहित कही हैं जिनके विचार से जगत् की उत्पत्ति का भाव मन से चला जाता है—अर्थात् इस जगत् का अत्यन्त अभाव जान पड़ता है। हे रामजी! इस जगत् में जो मनुष्य, देवता, दैत्य, पर्वत, नदी आदि और स्वर्गलोक, पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश आदि स्थावर जङ्गम अज्ञान से भासते हैं इनकी उत्पत्ति

1500

1000

5000

कैसे हुई? जैसे रस्सी में सर्प, सीप में रूपा, सूर्य की किरणों में जल, आकाश में तरुवरे और दूसरा चन्द्रमा; गन्धर्वनगर और मनोराज की सृष्टि भासती है और जैसे समुद्र में तरङ्ग, आकाश में नीलता और नौका में बैठने से किनारे के वृक्ष और पर्वत चलते दृष्टि आते हैं एवम् जैसे बादल के चलने से चन्द्रमा धावता दीखता है, स्तम्भ में पुतली भासती हैं और भविष्यत् नगर से आदि ले असत्य पदार्थ सत्य भासते हैं वैसे ही सब जगत् है। अज्ञान से अर्थाकार भासता है और अज्ञान से ही इसकी उत्पत्ति दीखती है और ज्ञान से लीन हो जाता है। जैसे निद्रा में स्वप्न सृष्टि की उत्पत्ति होती है और जागने से निवृत्त हो जाती है वैसे ही अविद्या से जगत् की उत्पत्ति होती है और सम्यक् ज्ञान से निवृत्त हो जाती है वह अविद्या कुछ वस्तु ही नहीं है। सर्व ब्रह्म, जो चिदाकाशरूप शुद्ध, अनन्त और परमानन्दस्वरूप है उससे न जगत् उपजता है और न लीन होता है—ज्यों का त्यों आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। उसमें जगत् ऐसा है जैसे भीत में चित्र होता है वा जैसे स्तम्भ में पुतलियाँ होती हैं जो हुए विना भासती हैं वैसे ही यह सृष्टि मन में है वास्तव में कुछ बनी नहीं—सब आकाशरूप है। जब चित्तसंवेदन स्पन्दरूप होता है तब नाना प्रकार का जगत् होके भासता है और जब निस्स्पन्द होता है तब मिट जाता है। इस प्रकार से जगत् की उत्पत्ति कही है। उसके अनन्तर स्थिति प्रकरण है, उसमें जगत् की स्थिति कही है। जैसे इन्द्र के धनुष में अविचार से रङ्ग है और जैसे सूर्य की किरणों में जल और रस्सी में सर्प भासता है और वह सब सम्यक् दृष्टि से निवृत्त होता है वैसे ही अज्ञान से जगत् की प्रतीति होती है केवल मनोराज से ही जगत् रच लेता है—कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। यह जगत् संकल्पमात्र है। जैसे जब तक मनोराज है तब तक वह नगर होता है जब मनोराज का अभाव हुआ तब नगर का भी अभाव हो जाता है वैसे ही जब तक अज्ञान है तब तक जगत् की उत्पत्ति होती है, जब संकल्प का लय होता है तब जगत् का भी अभाव हो जाता है। जैसे ब्रह्माजी के दश पुत्रों की सृष्टि संकल्प से हुई थी वैसे ही यह

3000
5000
5500

जगत् भी है। कोई पदार्थ अर्थरूप नहीं। हे रामजी! इस प्रकार स्थिति प्रकरण कहा है। उसके तीन सहस्र श्लोक हैं; उनके विचारने से जगत् की सत्यता जाती रहती है। उसके अनन्तर उपशम प्रकरण है उसके पाँच सहस्र श्लोक हैं। जैसे स्वप्न से जागने पर वासना जाती रहती है वैसे ही इसके विचार से अहं त्वमादिक वासना लीन हो जाती है, क्योंकि उसके निश्चय में जगत् नहीं रहता। जैसे एक पुरुष सोया है उसको स्वप्न में जगत् भासता है और उसके निकट जो जाग्रत् पुरुष है उसको स्वप्न का जगत् आकाशरूप है तो जब आकाशरूप हुआ तब वासना कैसे रहे और जब वासना नष्ट हुई तब मन का उपशम हो जाता है। तब देखने मात्र उसकी सब चेष्टा होती है और मन में पदार्थों की इच्छा नहीं होती। जैसे अग्नि की मूर्ति देखनेमात्र होती है, अर्थाकार नहीं होती, वैसे ही उसकी चेष्टा होती है। हे रामजी! जैसे तेल से रहित दीपक निर्वाण हो जाता है वैसे ही इच्छा से रहित मन निर्वाण होता है। उसके अनन्तर निर्वाण प्रकरण है। उसमें परम निर्वाण वचन कहे हैं। अज्ञान से चित्त और चित्त का सम्बन्ध है, विचार करने से निर्वाण हो जाता है। जैसे शरद्काल में मेघ के अभाव से शुद्ध आकाश होता है वैसे ही विचार से जीव निर्मल होता है। हे रामजी! अहंकार पिशाच विचार से नष्ट होता है और जितनी कुछ इच्छा फुरती है सो निर्वाण हो जाती है। जैसे पत्थर की शिला फुरने से रहित होती है वैसे ही ज्ञानवान् इच्छा से रहित होता है तब जितनी कुछ उसकी जगत् की यात्रा है सो हो चुकती है और जो कुछ करना है सो कर चुकता है। हे रामजी! शरीर होते भी वह पुरुष अशरीरी हो जाता है। नाना प्रकार का जगत् उसको नहीं भासता; जगत् की नेति से वह रहित होता है और अहं त्वमादिक तमरूप जगत् उसको नहीं भासता। जैसे सूर्य को अन्धकार दृष्टि नहीं आता वैसे ही उसको जगत् दृष्टि में नहीं आता और बड़े पद को प्राप्त होता है। जैसे सुमेरु पर्वत के किसी कोने में कमल होता है और उस पर भँवरे स्थित रहते हैं वैसे ही ब्रह्म के किसी कोने में जगत् तुषाररूप है और जीवरूपी भँवरे उस पर स्थित हैं। वह पुरुष अचिन्त्य चिन्मात्र

है; रूप अवलोकन और मनस्कार उसका आकाशरूप हो जाता है। वह उस पद को प्राप्त होता है जिस पद की उपमा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र भी नहीं कह सकते।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे षट्प्रकरणविवरणन्नामसप्तदशस्सर्गः १७

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ये परम उत्तम वाक्य हैं। इनको विचारनेवाला उत्तम पद को प्राप्त होता है। जैसे उत्तम खेत में उत्तम बीज बोने से उत्तम फल की उत्पत्ति होती है वैसे ही इनका विचारनेवाला उत्तम पद को प्राप्त होता है। ये वाक्य युक्तिपूर्वक हैं; कदाचित् युक्ति से रहित वाक्यार्थ भी हों तो उनका त्याग करना चाहिये और युक्तिपूर्वक वाक्य अङ्गीकार करना चाहिये। हे रामजी! जो ब्रह्मा के भी वचन युक्ति से रहित हों तो उनको भी सूखे तृण के समान त्याग देना चाहिये और यदि बालक के वचन युक्तिपूर्वक हों तो उनको अङ्गीकार करना चाहिये। जैसे पिता के कूप का खारी जल हो तो उसे त्यागकर निकट के मिष्टकूप के जल को पान करते हैं वैसे ही बड़े और छोटे का विचार न करके युक्तिपूर्वक वचन अङ्गीकार करना चाहिये। हे रामजी! मेरे वचन सब युक्ति पूर्वक और बोध के परम कारण हैं। जो पुरुष एकाग्र होके इस शास्त्र को आदि से अन्त पर्यन्त पढ़ेगा अथवा पण्डित से श्रवण करके विचारेगा तब उसकी बुद्धि संस्कारित होगी। जब पहिले वैराग्यप्रकरण को विचारोगे तब वैराग्य उपजेगा। जितने जगत् के रमणीय भोग पदार्थ हैं उनको विरस जानकर किसी पदार्थ की वाञ्छा न करोगे। जब भोग में वैराग्य होता है तब शान्तिरूप आत्मतत्त्व में प्रतीति होती है और जब विचार से बुद्धि संस्कारित होगी तब शास्त्र का सिद्धान्त बुद्धि में स्थित होगा। जैसे शरद्काल में बादल के अभाव से आकाश सब ओर से स्वच्छ हो जाता है वैसे ही संसार के विकार छूटकर बुद्धि निर्मल होगी और फिर आधिव्याधि की पीड़ा न होगी। हे रामजी! ज्यों २ विचार दृढ़ होगा त्यों त्यों शान्तात्मा होगे। इससे जितने संसार के यत्न हैं उनको त्याग इस शास्त्र के वारंवार विचार से चैतन्य सत्ता उदय होगी और मोहादिक विकार की सत्ता नष्ट होगी।

जैसे ज्यों २ सूर्य उदय होता है त्यों २ अन्धकार नष्ट होता है वैसे ही विकार नष्ट होंगे। तब उस पद की प्राप्ति होगी जिसके पाने से संसार के क्षोभ मिट जायँगे। जैसे शरद्काल में मेघ नष्ट हो जाता है वैसे ही संसार के क्षोभ मिट जाते हैं। हे रामजी! जिस पुरुष ने कवच पहना हो उसको बाण नहीं बेध सकते वैसे ही ज्ञानवान् पुरुष को संसार के राग द्वेष नहीं बेध सकते। उसको भोग की भी इच्छा नहीं रहती और जब विषय भोग आते हैं तब उनको विषय जानके बुद्धि ग्रहण नहीं करती। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने अन्तःपुर से बाहर नहीं निकलती वैसे ही उसकी बुद्धि भीतर से बाहर नहीं निकलती। हे रामजी! बाहर से तो वह भी प्राकृतिक मनुष्यों के समान दृष्टि आते हैं और जो कुछ अनिच्छित प्राप्त होते हैं उनको भुगतता हुआ दृष्टि में आता है पर अन्तर से उसको राग द्वेष नहीं फुरता। हे रामजी! जो कुछ जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का क्षोभ है वह ज्ञानवान् को नष्ट नहीं कर सकता। जैसे चित्र की बेलि को आंधी नहीं चला सकती वैसे ही उसको जगत् का दुःख नहीं चला सकता। वह संसार की ओर से जड़ हो जाता है और वृक्ष के समान गम्भीर, पर्वत की नाईं स्थिर और चन्द्रमा के सदृश शीतल हो जाता है। हे रामजी! वह आत्मज्ञान से ऐसे पद को प्राप्त होता है जिसके पाने से और कुछ पाने योग्य नहीं रहता। आत्मज्ञान का कारण यह मोक्षोपाय शास्त्र है। इसमें नाना प्रकार के दृष्टान्त कहे हैं। जो वस्तु अपरिच्छिन्न हो और देखने में न आवे और उसका न्याय देखने में हो तो उसको उपमा से विधिपूर्वक समझाने का नाम दृष्टान्त है। हे रामजी! यह जगत् कार्य और कारण से रहित है तो आत्मा और जगत् की एकता कैसे हो इससे मैं जो दृष्टान्त कहूँगा उसका एक अंश अङ्गीकार करना, सब देश अङ्गीकार न करना। हे रामजी! कार्य-कारण की कल्पना मूर्खों ने की है। उसके मिटाने के लिये मैं स्वप्न दृष्टान्त कहता हूँ, उसके समझने से तेरे मन का संशय नष्ट हो जावेगा। दृग और दृश्य का भेद मूर्ख को भासता है। उसके दूर करने के अर्थ मैं स्वप्न दृष्टान्त कहूँगा जिसके विचारने से मिथ्याविभाग कल्पना का अभाव होता है। हे रामजी! ऐसी कल्पना का नाशकर्त्ता यह मेरा मोक्षउपाय शास्त्र है। जो पुरुष आदि से अन्त-पर्यन्त इसे विचारेगा सो पूर्ण संस्कारी होगा। जो पद पदार्थ को जाननेवाला हो और दृश्य को वारंवार विचारे तो उसका दृश्य भ्रम नष्ट होगा। इस शास्त्र के विचार में किसी तीर्थ, तप, दान आदिक की अपेक्षा नहीं है। जहाँ स्थान हो वहाँ बैठे और जैसा भोजन गृह में हो वैसा करे और वारंवार इसका विचार करे तो अज्ञान नष्ट होकर आत्मपद की प्राप्ति होवेगी। हे रामजी! यह शास्त्र प्रकाशरूप है। जैसे अन्धकार में पदार्थ नहीं दीखता और दीपक के प्रकाश से चक्षुसहित दीखता है वैसे शास्त्ररूपी दीपक विचाररूपी नेत्रसहित हो तो आत्मपद की प्राप्ति हो। हे रामजी! आत्मज्ञान विचार विना वर और शाप से प्राप्त नहीं होता। जब विचार करके दृढ़ अभ्यास कीजिये तब प्राप्त होता है इससे इस मोक्षपावन शास्त्र के विचार से जगद्भ्रम नष्ट हो जावेगा और जगत् को देखते २ जगत् भाव मिट जावेगा। जैसे लिखी हुई सर्प की मूर्ति से विना विचार भ्रम होता है और जब विचारकर देखिये तब सर्पभ्रम मिट जाता है वैसे ही यह जगद्भ्रम विचार करने से नष्ट हो जाता है और जन्म-मरण का भय भी नहीं रहता। हे रामजी! जन्म-मरण का भय भी बड़ा दुःख है, परन्तु इस शास्त्र के विचार से वह भी नष्ट हो जाता है। जिन्होंने इसका विचार त्यागा है वह माता के गर्भ में कीट होकर भी कष्ट से न छूटेंगे और विचारवान् पुरुष आत्मपद को प्राप्त होंगे। जो श्रेष्ठ ज्ञानी है उसको अनन्त सृष्टि अपना ही रूप भासती है, कोई पदार्थ आत्मा से भिन्न नहीं भासता। जैसे जिसको जल का ज्ञान है उसको लहर और आवर्त्त सब जलरूप ही भासती है वैसे ही ज्ञानवान् को सब आत्मरूप ही भासता है और वह इन्द्रियों के इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में इच्छा द्वेष नहीं करता, सदा एकरस मन के संकल्प से रहित शान्तरूप होता है। जैसे मन्दराचल पर्वत के निकलने से क्षीरसमुद्र शान्त हुआ है वैसे ही संकल्प विकल्प रहित मनुष्य शान्तिरूप होता है। हे रामजी! और तेज दाहक होता है परन्तु ज्ञान का तेज जिस घट में उदय होता है सो शीतल और शान्तिरूप हो जाता है और फिर उसमें संसार का

विकार कोई नहीं रहता। जैसे कलियुग में शिखावाला तारा उदय होता है और कलियुग के अभाव में नहीं उदय होता वैसे ही ज्ञानवान् के चित्त में विकार उत्पन्न नहीं होता। हे रामजी! संसार भ्रम आत्मा के प्रमाद से उत्पन्न होता है, पर आत्मज्ञान होने से वह यत्न के विना ही शान्त हो जाता है। फूल और पत्र के काटने में भी कुछ यत्न होता है परन्तु आत्मा के पाने में कुछ यत्न नहीं होता, क्योंकि बोधरूप को बोध ही से जानता है। हे रामजी! जो जाननेमात्र ज्ञानस्वरूप है उसमें स्थित होने का क्या यत्न है। आत्मा शुद्ध और अद्वैतरूप है और जगद्भ्रममात्र है। जिसकी सत्यता पूर्वापर विचार से न पाइये उसको भ्रममात्र जानिये और पूर्वापर विचार से जो स्थिर रहे उसको सत्यरूप जानिये। इस जगत् की सत्यता आदि अन्त में नहीं है। इससे स्वप्नवत् है। जैसे स्वप्न आदि अन्त में कुछ नहीं होता वैसे ही जाग्रत् भी आदि अन्त में नहीं है, इससे जाग्रत् और स्वप्न दोनों तुल्य हैं। हे रामजी! यह वार्त्ता बालक भी जानता है कि जिसकी आदि अन्त में सत्यता न पाइये सो स्वप्नवत् है। जिसका आदि भी न हो और अन्त भी न रहे उसका मध्य भी असत्य जानिये। उसका दृष्टान्त यह है कि संकल्प पुरीवत्, ध्यान नगर की नाईं, स्वप्न पुरी की नाईं, वर और शाप से जो उपजता है उसकी नाईं और ओषधी से उपजे की नाईं, इन पदार्थों की सत्यता न आदि में होती है और न अन्त में होती है और मध्य में जो भासता है सो भी भ्रममात्र है वैसे ही यह जगत् अकारण है और कार्य कारण भाव सम्बन्ध से भासता है तो कार्य-कारण से कार्यरूप जगत् हुआ, पर आत्मसत्ता अकारण है। जगत् साकार और आत्मा निराकार है। इस जगत् का दृष्टान्त जो आत्मा में देंगे उसका तुमको एक अंश ग्रहण करना चाहिये। जैसे स्वप्न की सृष्टि का पूर्व अपर भाव आत्मा है, क्योंकि अकारण है और मध्यभाव का दृष्टान्त नहीं मिलता क्योंकि उपमेय अकारण है तो उसका इसके समान दृष्टान्त क्योंकर हो। इससे अपने बोध के अर्थ दृष्टान्त का एक अंश ग्रहण करना। हे रामजी! जो विचारवान् पुरुष हैं सो गुरु और शास्त्र के वचन सुनके सुखबोध के अर्थ दृष्टान्त का एक अंश ग्रहण

करते हैं तो उनको आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है, क्योंकि वे सारग्राहक होते हैं और जो अपने बोध के अर्थ दृष्टान्त का एक अंश ग्रहण नहीं करते और वाद करते हैं उनको आत्मतत्त्व की प्राप्ति नहीं होती। इससे दृष्टान्त का एक अंश सारभूत ग्रहण करके दृष्टान्त के सर्वभाव से न मिलाना चाहिये और पृथक् को देखकर तर्क न करना चाहिए। जैसे अन्धकार में पदार्थ पड़ा हो तो दीपक के प्रकाश से देख लेते हैं, क्योंकि दीपक के साथ प्रयोजन है, ऐसा नहीं कहते कि दीपक किसका है और तेलबत्ती कैसी है और किस स्थान की है वैसे ही दृष्टान्त का एक अंश आत्मबोध के निमित्त अङ्गीकार करना। हे रामजी! जिसके वाक्य से अर्थ सिद्ध हो और जो अनुभव को प्रकट करे वह वचन अङ्गीकार करना और जिससे वाक्यार्थ सिद्ध न हो उसका त्याग करना। जो पुरुष अपने बोध के निमित्त वचन को ग्रहण करता है वही श्रेष्ठ है और जो वाद के निमित्त ग्रहण करता है वह मूर्ख है। जो कोई अभिमान को लेकर ग्रहण करता है वह हस्ती के समान अपने शिर पर मिट्टी डालता है—उसका अर्थ सिद्ध नहीं होता और जो अपने बोध के निमित्त वचन को ग्रहण करके विचारपूर्वक उसका अभ्यास करता है उसका आत्मा शान्त होता है। हे रामजी! आत्मपद पाने के निमित्त अवश्यमेव अभ्यास चाहिये। जब शम, विचार, संतोष और सन्त समागम से बोध को प्राप्त हो तब परम पद को पाता है। हे रामजी! जो कोई दृष्टान्त देता है वह एक देश लेकर कहता है, सर्वमुख कहने से अखण्डता का अभाव हो जाता है। सर्वमुख दृष्टान्त मुख्य को जानिये वह सत्यरूप होता है। ऐसे तो नहीं होता कि आत्मा तो सत्यरूप, कार्य कारण से रहित, शुद्ध और चैतन्य है उसके बताने के लिये कार्य कारण जगत् का दृष्टान्त कैसे दीजिये जो कोई जगत् का दृष्टान्त देता है वह केवल एक अंश लेके कहता है और बुद्धिमान् भी दृष्टान्त के एक अंश को ग्रहण करते हैं। श्रेष्ठ पुरुष अपने बोध के निमित्त सार को ही ग्रहण करते हैं। जैसे क्षुधार्थी को चावलपाक प्राप्त हो तो भोजन करने का प्रयोजन है वैसे ही जिज्ञासु को भी यही चाहिये कि अपने बोध के

निमित्त सार को ग्रहण करके वाद न करे, क्योंकि उसकी उत्पत्ति और स्थिति का वाद करना व्यर्थ है। हे रामजी! वाक्य वही है जो अनुभव को प्रकट करे और जो अनुभव को प्रकट न करे उसका त्याग करना चाहिये। कदाचित् स्त्री का वाक्य आत्मअनुभव को प्रत्यक्ष करनेवाला हो तो उसको भी ग्रहण करना चाहिये और जो परमगुरु के तथा वेदवाक्य भी हों और अनुभव को प्रकट न करें तो उनका त्याग करना चाहिये। जब तक विश्राम न पावे तब तक विचार करना चाहिये। विश्राम का नाम तुरीयपद है। जैसे मन्दराचल पर्वत के क्षोभ से क्षीरसमुद्र शान्त हुआ था वैसे ही विश्राम की प्राप्ति होने से अक्षय शान्ति होती है। हे रामजी! तुरीयपद संयुक्त पुरुष को श्रुति-स्मृति उक्त कर्मों के करने से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और न करने से कुछ प्रत्यवाय नहीं होता। वह सदेह हो चाहे विदेह हो गृहस्थ हो चाहे विरक्त हो उसको कुछ नहीं करना है। वह पुरुष संसारसमुद्र से पार ही है। हे रामजी! उपमेय की उपमा एक अंश से ग्रहण कर जानता है तब बोध की प्राप्ति होती है और बोध के विना मुक्ति को प्राप्त नहीं होता, वह केवल व्यर्थ वाद करता है। हे रामजी! जिसके घट में शुद्धि स्वरूप आत्मसत्ता विराजमान है वह जो उसको त्यागकर और विकल्प उठाता है तो वह चोग तुच्छ और मूर्ख है। हे रामजी! प्रत्यक्ष प्रमाण मानने योग्य है, क्योंकि अनुमान और अर्थापत्ति आदि प्रमाणों से उसकी सत्ता ही प्रकट होती है। जैसे सब नदियों का अधिष्ठान समुद्र है वैसे ही सब प्रमाणों का अधिष्ठान प्रत्यक्ष प्रमाण है। वह प्रत्यक्ष क्या है सो सुनिये। हे रामजी! चक्षुजन्य ज्ञान संवित संवेदन है, जो उस चक्षु से विद्यमान होता है उसका नाम प्रत्यक्ष प्रमाण है। उन प्रमाणों को विषय करनेवाला जीव है। अपने वास्तवस्वरूप के अज्ञान से अनात्मारूपी दृश्य बना है। उसमें अहंकृति से अभिमान हुआ है और अभिमान ही से सब दृश्य होता है उससे हेयोपादेय बुद्धि होती है जिससे राग-द्वेष करके जलता है और आपको कर्त्ता मानकर बहिर्मुख हुआ भटकता है। हे रामजी! जब विचार करके संवेदन अन्तर्मुखी हो तब आत्मपद प्रत्यक्ष होकर निज भाव को प्राप्त होता है और फिर प्रच्छिन्नभाव नहीं रहता, शुद्ध शान्ति को प्राप्त होता है। जैसे स्वप्न से जगकर स्वप्न का शरीर और दृश्यभ्रम नष्ट हो जाता है वैसे ही आत्मा के प्रत्यक्ष होने से सब भ्रम मिट जाता है और शुद्ध आत्मसत्ता भासती है। हे रामजी! यह दृश्य और द्रष्टा मिथ्या है। जो द्रष्टा है सो दृश्य होता है और जो दृश्य है सो द्रष्टा होता है—यह भ्रम मिथ्या आकाशरूप है। जैसे पवन में स्पन्दशक्ति रहती है वैसे ही आत्मा में संवेदन रहती है। जब संवेदन स्पन्दरूप होती है तब दृश्यरूप होके स्थित होती है। जैसे स्वप्न में अनुभवसत्ता दृश्य रूप होके स्थित होती है वैसे ही यह दृश्य है। सब आत्मसत्ता ही है, ऐसा विचार करके आत्मपद को प्राप्त हो जावो और जो ऐसा विचार करके आत्मपद को प्राप्त न हो सको तो अहङ्कार का जो उल्लेख फुरता है उसका अभाव करो। पीछे जो शेष रहेगा सो शुद्धबोध आत्मसत्ता है। जब तुम शुद्धबोध को प्राप्त होगे तब ऐसी चेष्टा होगी जैसे यंत्र की पुतली संवेदन विना चेष्टा करती है वैसे ही देहरूपी पुतली का चलानेवाला मनरूपी संवेदन है, उसके विना पड़ी रहेगी और अहङ्कार का अभाव होगा। इससे यत्न करके उस पद के पाने का अभ्यास करो जो नित्य, शुद्ध और शान्तरूप है। हे रामजी! "दैव" शब्द को त्यागकर अपना पुरुषार्थ करो और आत्मपद को प्राप्त हो। जो कोई पुरुषार्थ में शूरमा है सो आत्मपद को प्राप्त होता है और जो नीचे पुरुषार्थ का आश्रय करता है सो संसारसमुद्र में डूबता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे दृष्टान्तप्रमाणंनामाष्टादशस्सर्गः॥ १८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब सत्सङ्ग करके मनुष्य शुद्धबुद्धि करे तब आत्मपद पाने को समर्थ होता है। प्रथम सत्सङ्ग यह है कि जिसकी चेष्टा शास्त्र के अनुसार हो उसका संग करे और उसके गुणों को हृदय में धरे। फिर महापुरुषों के शम और संतोषादिक गुणों का आश्रय करे। शम संतोषादिक से ज्ञान उपजता है। जैसे मेघ से अन्न उपजता है। अन्न से जगत् होता है और जगत् से मेघ होता है वैसे ही शम, संतोष और शमादिकगुण और आत्मज्ञान परस्पर सहकारी होते हैं। शमादिक गुणों से ज्ञान उपजता है और आत्मज्ञान करने से शमा-

दिक गुण स्थित होते हैं। जैसे बड़े ताल से मेघ और मेघ से ताल पुष्ट होता है वैसे ही शमादिक गुणों से आत्मज्ञान होता है और आत्मज्ञान से शमादि गुण पुष्ट होते हैं। ऐसा विचार करके शम सन्तोषादिक गुणों का अभ्यास करो तब शीघ्र ही आत्मतत्त्व को प्राप्त होगे । हे रामजी ! ज्ञानवान् पुरुष को शमादिक गुण स्वाभाविक प्राप्त होते हैं और जिज्ञासु को अभ्यास करने से प्राप्त होते हैं। जैसे धान्य की रक्षा जब स्त्री करती है और ऊँचे शब्द से पक्षियों को उड़ाती है तब फल को पाती है और उससे पुष्ट होती है वैसे ही शम संतोषादिक के पालने से आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है। हे रामजी ! इस मोक्ष उपाय शास्त्र को आदि से लेकर अन्त पर्यन्त विचारे तो भ्रान्ति निवृत्ति होके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सर्व पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। यह शास्त्र मोक्ष उपाय का परम कारण है। जो शुद्ध बुद्धिमान् पुरुष इसको विचारेगा उसको शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति होगी। इससे इस मोक्ष उपाय शास्त्र का भले प्रकार अभ्यास करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे आत्मप्राप्तिवर्णनन्नामैकोनविंशतितमस्सर्गः ॥ १९ ॥

समाप्तमिदं मुमुक्षुप्रकरणं द्वितीयम् ॥

श्रीपरमात्मने नमः ।

श्रीयोगवाशिष्ठ

तृतीय उत्पत्ति प्रकरण प्रारम्भ ।

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! ब्रह्म और ब्रह्मवेत्ता में "तुम" "इदं" "सः" इत्यादिक सर्व शब्द आत्मसत्ता के आश्रय स्फुरते हैं। जैसे स्वप्न में सब अनुभव सत्ता में शब्द होते हैं वैसे ही यह भी जानो और जो उसमें यह विकल्प होते हैं कि "जगत् क्या है" "कैसे उत्पन्न हुआ है" "और किसका है" इत्यादिक चोगचञ्चु हैं। हे रामजी ! यह सब जगत् ब्रह्मरूप है यहाँ स्वप्न का दृष्टान्त विचार लेना चाहिये ! इसके पहिले मुमुक्षुप्रकरण मैंने तुमसे कहा है अब क्रम से उत्पत्ति प्रकरण कहता हूँ सो सुनिये—जो ज्ञान वस्तुस्वभाव है। हे रामजी ! जो पदार्थ उपजता है वही बढ़ता, घटता, बन्ध, मोक्ष और नीच, ऊँच होता है और जो उपजता न हो उसका बढ़ना, घटना, बन्ध, मोक्ष और नीच, ऊँच होना भी नहीं होता। हे रामजी ! स्थावर-जंगम जो कुछ जगत् दीखता है सो सब आकाशरूप है। द्रष्टा का जो दृश्य के साथ संयोग है इसी का नाम बन्धन है और उसी संयोग के निवृत्त होने का नाम मोक्ष है। उसकी निवृत्ति का उपाय मैं कहता हूँ। देहरूपी जगत् चिन्मात्ररूप है और कुछ उपजा नहीं, जो उपजा भासता है सो ऐसा है जैसे सुषुप्ति में स्वप्न। जैसे स्वप्न में सुषुप्ति होती है वैसे ही जगत् का प्रलय होता है और जो प्रलय में शेष रहता है उसकी संज्ञा व्यवहार के निमित्त कहते हैं। नित्य, सत्य, ब्रह्म, आत्मा, सच्चिदानन्द इत्यादिक जिसके नाम रक्खे हैं वह सबका अपना आप है। चेतनता से उसका नाम जीव हुआ है और शब्द अर्थों को ग्रहण करने लगा है। हे रामजी ! चैतन्य में जो स्पन्दता हुई है सो संकल्प विकल्परूपी मन होकर स्थित हुआ है। उसके संसरने से देश, काल, नदियाँ, पर्वत, स्थावर और जंगमरूप जगत् हुआ

है। जैसे सुषुप्ति से स्वप्न हो वैसे ही जगत् हुआ है। उसको कोई अविद्या, कोई जगत्, कोई माया, कोई सङ्कल्प और कोई दृश्य कहते हैं; वास्तव में सब ब्रह्मस्वरूप है—इतर कुछ नहीं। जैसे स्वर्ण से भूषण बनता है तो भूषण स्वर्णरूप है; स्वर्ण से इतर भूषण कुछ वस्तु नहीं है वैसे ही जगत् और ब्रह्म में कुछ भेद नहीं है। भेद तो तब हो जब जगत् उपजा हो; जो उपजा ही नहीं तो भेद कैसे भासे और जो भेद भासता है सो मृगतृष्णा के जलवत् है—अर्थात् जैसे मृगतृष्णा की नदी के तरङ्ग भासते हैं पर वहाँ सूर्य की किरणें ही जल के समान भासती हैं, जल का नाम भी नहीं, वैसे ही आत्मा में जगत् भासता है। चैतन्य के अणु अणु प्रति सृष्टि आभासरूप है कुछ उपजी नहीं। अद्वैतसत्ता सर्वदा अपने आप में स्थित है, फिर उसमें जन्म, मरण और बन्ध, मोक्ष कैसे हो? जितनी कल्पना बन्ध-मोक्ष आदि भासती है सो वास्तविक कुछ नहीं है, आत्मा के अज्ञान से भासती है। हे रामजी! जगत् उपजा नहीं, अपनी कल्पना ही जगत्रूप होकर भासती है और प्रमाद से सत् हो रही है निवृत्त होना कठिन है। अनियत और नियत शब्द जो कहे हैं सो भावना मात्र हैं, ऐसे वचनों से तो जगत् दूर नहीं होता। हे रामजी! अर्थयुक्त वचनों के विना दृश्यभ्रम नहीं निवृत्त होता। जो तर्कों करके और तप, तीर्थ, दान, स्नान, ध्यानादिक करके जगत् के भ्रम को निवृत्त करना चाहे वह मूर्ख है। इस प्रकार से तो और भी दृढ़ होता है। क्योंकि जहाँ जावेगा वहाँ देश, काल और क्रिया सहित नित्य पञ्चभौतिक सृष्टि ही दृष्टि आवेगी और कुछ दृष्टि न आवेगा, इससे इसका नाश न होगा और जो जगत् से उपराम होकर समाधि लगा के बैठेगा तब भी चिरकाल में उतरेगा और फिर भी जगत् का शब्द और अर्थ भास आवेगा। जो फिर भी अनर्थरूप संसार भासा तो समाधि का क्या सुख हुआ? क्योंकि जब तक समाधि में रहेगा तभी तक वह सुख रहेगा। निदान इन उपायों से जगत् निवृत्त नहीं होता। जैसे कमल के डोड़े में बीज होता है और जब तक उस बीज का नाश नहीं होता तब तक फिर उत्पन्न होता रहता है और जैसे वृक्ष के पात तोड़िये तो भी बीज का नाश नहीं होता वैसे ही तप, दानादिकों से जगत् निवृत्त नहीं होता और तभी तक अज्ञानरूपी बीज भी नष्ट नहीं होता। जब अज्ञानरूपी बीज नष्ट होगा तब जगत्रूपी वृक्ष का अभाव हो जावेगा। और उपाय करना मानों पत्तों का तोड़ना है। इन उपायों से अक्षय पद और अक्षय समाधि नहीं प्राप्त होती। हे रामजी! ऐसी समाधि तो किसी को नहीं प्राप्त होती कि शिला के समान हो जावे। मैं सब स्थान देख रहा हूँ कदाचित् ऐसे भी समाधि हो तो भी संसारसत्ता निवृत्त न होगी, क्योंकि अज्ञानरूपी बीज निवृत्त नहीं हुआ। समाधि ऐसी है जैसे जाग्रत् से सुषुप्ति होती है, क्योंकि अज्ञानरूपी वासना के कारण सुषुप्ति से फिर जाग्रत् आती है वैसे ही अज्ञानरूपी वासना से समाधि से भी जाग जाता है क्योंकि उसको वासना खैंच ले आती है। हे रामजी! तप, समाधि आदिकों से संसारभ्रम निवृत्त नहीं होता। जैसे कांजी से क्षुधा किसी की निवृत्त नहीं होती वैसे ही तप और समाधि से चित्त की वृत्ति एकाग्र होती है, परन्तु संसार निवृत्त नहीं होता। जब तक चित्त समाधि में लगा रहता है तब तक सुख होता है और जब उत्थान होता है तब फिर नाना प्रकार के शब्दों और अर्थों से युक्त संसार भासता है। हे रामजी! अज्ञान से जगत् भासता है और विचार से निवृत्त होता है। जैसे बालक को अपनी अज्ञानता से परछाहीं में वैताल की कल्पना होती है और ज्ञान से निवृत्त होती है वैसे ही यह जगत् अविचार से भासता है और विचार से निवृत्त होता है। हे रामजी! वास्तव में जगत् उपजा नहीं—असत्रूप है। जो स्वरूप से उपजा होता तो निवृत्त न होता पर यह तो विचार से निवृत्त होता है इससे जाना जाता है कि कुछ नहीं बना। जो वस्तु सत्य होती है उसकी निवृत्ति नहीं होती और जो असत् है सो थिर नहीं रहती। हे रामजी! सत्स्वरूप आत्मा का अभाव कदाचित् नहीं होता और असत्रूप जगत् स्थिर नहीं होता। जगत् आत्मा में आभासरूप है आरम्भ और परिणाम से कुछ उपजा नहीं। जहाँ चैतन्य नहीं होता वहाँ सृष्टि भी नहीं होती, क्योंकि सृष्टि आभासरूप है। आत्मा आदर्शरूप है उसमें अनन्त सृष्टियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं।

आदर्श में प्रतिबिम्ब भी तब होता है जब दूसरा निकट होता है, प आत्मा के निकट दूसरा और कोई प्रतिबिम्ब नहीं होता, क्योंकि आभास रूप है। एक ही आत्मसत्ता चैत्यता से द्वैत की नाइ होकर भासती है पर कुछ बना नहीं। जैसे फूल में सुगन्ध होती है, तिलों में तेल होत है और अग्नि में उष्णता होती है और जैसे मनोराज की सृष्टि होती है वैसे ही आत्मा में जगत् है। जैसे मनोराज से मनोराज की सृ भिन्न नहीं होती वैसे ही यह जगत् आत्मा से भिन्न नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे बोधहेतुवर्णनन्नाम प्रथमस्सर्गः ॥ १ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! एक आकाशज आख्यान जो श्रवण का भूषण और बोध का कारण है उसको सुनिये। आकाशज नामक एक ब्राह्मण शुद्धचिदंश से उत्पन्न हुए। वह धर्मनिष्ठ सदा आत्मा में स्थित रहते थे, भले प्रकार प्रजा का पालन करते थे और चिरंजीवी थे। तब मृत्यु विचार करने लगी कि मैं अविनाशी हूँ और जो जीव उपजते हैं उनको मारती हूँ, परन्तु इस ब्राह्मण को मैं नहीं मार सकती। जैसे खड्ग की धार पत्थर पर चलाने से कुण्ठित हो जाती है वैसे ही मेरी शक्ति इस ब्राह्मण पर कुण्ठित हो गई है। हे रामजी! ऐसा विचारकर मृत्यु ब्राह्मण को भोजन करने के निमित्त उठी और जैसे श्रेष्ठ पुरुष अपने आचार कर्म को नहीं त्याग करते वैसे ही मृत्यु भी अपने कर्मों को विचार कर चली। जब ब्राह्मण के गृह में मृत्यु ने प्रवेश किया तो जैसे प्रलय काल में महातेजसंयुक्त अग्नि सब पदार्थों को जलाने लगती है वैसे ही अग्नि इसके जलाने को उड़ी और आगे दौड़ के जहाँ ब्राह्मण बैठा था अन्तःपुर में जाकर पकड़ने लगी। पर जैसे बड़ा बलवान् पुरुष भी और के संकल्परूप पुरुष को नहीं पकड़ सकता वैसे ही मृत्यु ब्राह्मण को न पकड़ सकी। तब उसने धर्मराज के गृह में जाकर कहा, हे भगवन्! जो कोई उपजा है उसको मैं अवश्य भोजन करती हूँ, परन्तु एक ब्राह्मण जो आकाश से उपजा है उसको मैं वश में नहीं कर सकी! यह क्या कारण है? यम बोले, हे मृत्यो! तुम किसी को नहीं मार सकतीं, जो कोई मरता है वह अपने कर्मों से मरता है। जो कोई कर्मों का कर्त्ता है उसके मारने को तुम भी समर्थ हो, पर जिसका कोई कर्म नहीं उसके मारने को तुम समर्थ नहीं हो। इससे तुम जाकर उस ब्राह्मण के कर्म खोजो, जब कर्म पावोगी तब उसके मारने को समर्थ होगी—अन्यथा समर्थ न होगी। हे रामजी! जब इस प्रकार यम ने कहा तब कर्म खोजने के निमित्त मृत्यु चली। कर्म वासना का नाम है। वहाँ जाकर ब्राह्मण के कर्मों को ढूँढ़ने लगी और दशों दिशा में ताल, समुद्र, बगीचे और द्वीप से द्वीपान्तर इत्यादिक सब स्थान देखती फ़िरी, परन्तु ब्राह्मण के कर्मों की प्रतिभा कहीं न पाई। हे रामजी! मृत्यु बड़ी बलवन्त है, परन्तु उस ब्राह्मण के कर्मों को उसने न पाया तब फिर धर्मराज के पास गई—जो सम्पूर्ण संशयों को नाश करनेवाले और ज्ञानस्वरूप हैं—और उनसे कहने लगी, हे संशयों के नाशकर्त्ता! इस ब्राह्मण के कर्म मुझको कहीं नहीं दृष्टि आते, मैंने बहुत प्रकार से ढूँढ़ा। जो शरीरधारी हैं सो सब कर्म-संयुक्त हैं पर इसका तो कर्म कोई भी नहीं है इसका क्या कारण है? यम बोले, हे मृत्यो! इस ब्राह्मण की उत्पत्ति शुद्ध चिदाकाश से हुई है जहाँ कोई कारण न था। जो कारण विना भासता है सो ईश्वररूप है। हे मृत्यो! शुद्ध आकाश से जो इसकी उत्पत्ति हुई है तो यह भी वही रूप है। यह ब्राह्मण भी शुद्ध चिदाकाशरूप है और इसका चेतन ही वपु है। इसका कर्म कोई नहीं और न कोई क्रिया है। अपने स्वरूप से आप ही इसका होना हुआ है, इस कारण इसका नाम स्वयम्भू है और सदा अपने आपमें स्थित है। इसको जगत् कुछ नहीं भासता—सदा अद्वैत रूप है। मृत्यु बोली, हे भगवन्! जो यह आकाशस्वरूप है तो साकाररूप क्यों दृष्टि आता है? यमजी बोले, हे मृत्यो! यह सदा निराकार चैतन्य वपु है और इसके साथ आकार और अहंभाव भी नहीं है, इससे इसका नाश कैसे हो। यह तो अहं त्वं जानता ही नहीं और जगत् का निश्चय भी इसको नहीं है। यह ब्राह्मण अचेत चिन्मात्र है, जिसके मन में पदार्थों का सद्भाव होता है उसका नाश भी होता है और जिसको जगत् भासता ही नहीं उसका नाश कैसे हो? हे मृत्यो! जो कोई बड़ा बलिष्ठ भी हो और सैकड़ों जंजीरें भी हों तो भी आकाश को

बाँध न सकेगा। वैसे ही ब्राह्मण आकाशरूप है इसका नाश कैसे हो! इससे इसके नाश करने का उद्यम त्यागकर देहधारियों को जाकर मारो--यह तुमसे न मरेगा। हे रामजी! यह सुनकर मृत्यु आश्चर्यवत हो अपने गृह लौट आई! रामजी बोले, हे भगवन्! यह तो हमारे बड़े पितामह ब्रह्मा की वार्त्ता तुमने कही है। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह वार्त्ता तो मैंने ब्रह्मा की कही है, परन्तु मृत्यु और यम के विवाद निमित्त यह कथा मैंने तुमको सुनाई है। इस प्रकार जब बहुत काल व्यतीत होकर कल्प का अन्त हुआ तब मृत्यु सब भूतों को भोजनकर फिर ब्रह्मा को भोजन करने गई। जैसे किसी का काम हो और यदि एक बार सिद्ध न हुआ तो वह उसे छोड़ नहीं देता फिर उद्यम करता है वैसे ही मृत्यु भी ब्रह्मा के सम्मुख गई। तब धर्मराज ने कहा, हे मृत्यो! यह ब्रह्मा है। यह आकाशरूप है और आकाश ही इसका शरीर है। आकाश के पकड़ने को तुम कैसे समर्थ होगी? यह तो पञ्चभूत के शरीर से रहित है। जैसे संकल्प पुरुष होता है तो उसका आकाश ही वपु होता है वैसे ही यह आकाशरूप आदि, अन्त, मध्य और अहं त्वं के उल्लेख से रहित और अचेत चिन्मात्र है इसके मारने को तू कैसे समर्थ होगी? यह जो इसका वपु भासता है सो ऐसा है जैसे शिल्पी के मन में स्तम्भ की पुतली होती है पर वह कुछ हुई नहीं वैसे ही स्वरूप से इतर इसका होना नहीं है। यह तो ब्रह्मस्वरूप है, हमारे तुम्हारे मन में इसकी प्रतिभा हुई है, यह तो निर्वपु है। जो पुरुष देहवन्त होता है उसको ग्रहण करना सुगम होता है और वन्ध्या के पुत्र के ग्रहण में श्रम होता है क्योंकि निर्वपु है वैसे यह भी निर्वपु है। इसके मारने की कल्पना को त्याग देहधारियों को जाकर मारो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठेउत्पत्तिप्रकरणे प्रथमसृष्टिवर्णनन्नामद्वितीयस्सर्गः॥ २॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! शुद्ध चिन्मात्र सत्ता ऐसी सूक्ष्म है कि उसमें आकाश भी पर्वत के समान स्थूल है। उस चिन्मात्र में जो अहं अस्मि चैत्योन्मुखत्व हुआ है उसने अपने साथ देह को देखा। पर वह देह भी आकाशरूप है। हे रामजी! शुद्ध चिन्मात्र में चैत्य का उल्लेख किसी कारण से नहीं हुआ, स्वतः स्वाभाविक ही ऐसा उल्लेख आय फुरा है उसी का नाम स्वयम्भू ब्रह्मा है। उस ब्रह्मा को सदा ब्रह्म ही का निश्चय है। ब्रह्मा और ब्रह्म में कुछ भेद नहीं है। जैसे समुद्र और तरङ्ग में, आकाश और शून्यता में और फूल और सुगंध में कुछ भेद नहीं होता वैसे ही ब्रह्मा और ब्रह्म में भेद नहीं। जैसे जल द्रवता के कारण तरङ्गरूप होकर भासता है वैसे ही आत्मसत्ता चैतन्यता से ब्रह्मा होकर भासती है। ब्रह्मा दूसरी वस्तु नहीं, सदा चैतन्य आकाश है और पृथ्वी आदिक तत्त्वों से रहित है। हे रामजी! न कोई इसका कारण है और न कोई कर्म है। रामजी बोले, हे भगवन्! आपने कहा कि ब्रह्माजी का वपु पृथ्वी आदि तत्त्वों से रहित है और सङ्कल्पमात्र है तो इसका कारण स्मृतिरूप संस्कार क्यों न हुआ। जैसे हमको और जीवों की स्मृति है वैसे ही ब्रह्मा को भी होनी चाहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! स्मृति संस्कार उसी का कारण होता है जो आगे भी देखा हो। जो पदार्थ आगे देखा होता है उसकी स्मृति संस्कार से होती है और जो देखा नहीं होता उसकी स्मृति नहीं होती। ब्रह्माजी अद्वैत, अज और आदि, मध्य, अन्त से रहित हैं, उनकी स्मृति कारण कैसे हो? वह तो शुद्ध बोधरूप है और आत्मतत्त्व ही ब्रह्मारूप होकर स्थित हुआ है। अपने आपसे जो इसका होना हुआ है इसी से इसका नाम स्वयम्भू है। शुद्धबोध में चैत्य का उल्लेख हुआ है—अर्थात् चित् चैतन्य स्वरूप का नाम है। अपना चित् संवित् ही कारण है और दूसरा कोई कारण नहीं—सदा निराकार और संकल्परूप इसका शरीर है और पृथ्वी आदिक भूतों से शुद्ध अन्तवाहक वपु है। रामजी बोले, हे मुनीश्वर! जितने जीव हैं उनके दो दो शरीर हैं—एक अन्तवाहक और दूसरा आधिभौतिक। ब्रह्मा का एक ही अन्तवाहक शरीर कैसे है, यह वार्त्ता स्पष्ट कर कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जो सकारणरूप जीव हैं उनके दो दो शरीर हैं, पर ब्रह्माजी अकारण हैं इस कारण उनका एक अन्तवाहक ही शरीर है। हे रामजी! सुनिये, अन्य जीवों का कारण ब्रह्मा हैं इस कारण यह जीव दोनों देहों को धरते हैं और ब्रह्माजी का कारण

कोई नहीं यह अपने आप ही उपजे हैं इनका नाम स्वयम्भू है। आ में जो इनका प्रादुर्भाव हुआ है सो अन्तवाहक शरीर है। इनको अ स्वरूप का विस्मरण नहीं हुआ सदा अपने वास्तवस्वरूप में स्थित इससे अन्तवाहक हैं और दृश्य को अपना संकल्पमात्र जानते जिनको दृश्य में दृढ़ प्रतीति हुई है उनको आधिभौतिक कहते हैं। जै आधिभौतिक जड़ता से जल की बरफ होती है वैसे ही दृश्य की दृढ़ से आधिभौतिक होते हैं। हे रामजी! जितना जगत् तुमको दृष्टि आ है सो सब आकाशरूप है, पृथ्वी आदिक भूतों से नहीं हुआ केव भ्रम से आधिभौतिक भासते हैं। जैसे स्वप्ननगर आकाशरूप होता किसी कारण से नहीं उपजता और न किसी पृथ्वी आदिक तत्त्वों उपजता है केवल आकाशरूप है और निद्रादोष से आधिभौतिक होक भासता है, वैसे ही यह जाग्रत् जगत् भी अज्ञान से आधिभौतिक आका भासता है। जैसे अज्ञान से स्वप्न अर्थाकार भासता है वैसे ही जगत् अज्ञा से अर्थाकार भासता है। हे रामजी! यह सम्पूर्ण जगत् संकल्पमात्र और कुछ बना नहीं। जैसे मनोराज के पर्वत आकाशरूप होते हैं वै ही जगत् भी आकाशरूप है। वास्तव में कुछ बना नहीं, सब पुरुष के संकल्प हैं और मन से उपजे हैं। जैसे बीज से देशकाल के संयोग से अंकुर निकलता है वैसे ही सब दृश्य मन से उपजता है। वह मनरूपी ब्रह्मा है और ब्रह्मादि मनरूप हैं। उनके संकल्प में जो सम्पूर्ण जगत स्थित है वह सब आकाशरूप है—आधिभौतिक कोई नहीं। हे रामजी! आधिभौतिक जो आत्मा में भासता है सो भ्रान्तिमात्र है। जैसे बालक को परछाहीं में वैताल भासता है वैसे ही अज्ञानी को जो आधिभौतिक भासते हैं सो भ्रान्तिमात्र है—वास्तव में कुछ नहीं है। हे रामजी! जितने जीव हैं वे सब अन्तवाहक हैं, परन्तु अज्ञानी को अन्तवाहकता निवृत्त होकर आधिभौतिकता दृढ़ हो गई है। जो ज्ञानवान् पुरुष हैं सो अन्तवाहकरूप ही हैं। हे रामजी! जिन पुरुषों को प्रमाद नहीं हुआ वे सदा आत्मा में स्थित और अन्तवाहकरूप हैं और सब जगत् आकाशरूप है। जैसे संकल्प पुरुष, गन्धर्वनगर और स्वप्नपुर होते हैं वैसे ही यह जगत् है, जैसे शिल्पी कल्पता है कि इस थम्भ में इतनी पुतलियाँ हैं सो पुतलियाँ उपजी नहीं थम्भा ज्यों का त्यों स्थित है पुतली का सद्भाव केवल शिल्पी के मन में होता है वैसे ही सब विश्व मन में स्थित है, उसका स्वरूप कुछ नहीं बना। जैसे तरङ्ग ही जलरूप और जल ही तरङ्गरूप है वैसे ही दृश्य भी मनरूप है और मन ही दृश्यरूप है। हे रामजी! जब तक मन का सद्भाव है तब तक दृश्य है—दृश्य का बीज मन है। जैसे कमल का सद्भाव उसके बीज में होता है और उससे कमल के डोड़े की उत्पत्ति होती है वैसे ही जगत् का बीज मन है—सब जगत् मन से उत्पन्न होता है। हे रामजी! जब तुमको स्वप्न आता है तब तुम्हारा ही चित्त दृश्य को चेतता जाता है और तो कोई कारण नहीं होता वैसे ही यह जगत् भी जानना। यह तुम्हारे अनुभव की वार्त्ता कही है, क्योंकि यह तुमको नित अनुभव होता है। हे रामजी! मन ही जगत् का कारण है और कोई नहीं। जब मन उपशम होगा तब दृश्यभ्रम मिट जावेगा। जब तक मन उपशम नहीं होता तब तक दृश्यभ्रम भी निवृत्त नहीं होता और जब तक दृश्य निवृत्त नहीं होता तब तक शुद्ध बोध नहीं होता एवम् जब तक शुद्ध बोध नहीं होता तब तक आत्मानन्द नहीं होता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे बोधहेतुवर्णनन्नाम तृतीयस्सर्गः ॥ ३ ॥

इतना कहकर वाल्मीकिजी बोले कि इस प्रकार मुनिशार्दूल वशिष्ठजी कहकर तूष्णी हुए और सर्व श्रोता वशिष्ठजी के वचनों को सुनके और उनके अर्थ में स्थित हो इन्द्रियों की चपलता को त्याग वृत्ति को स्थित करते भये। तरङ्गों के वेग स्थिर हो गये, पिंजरों में जो तोते थे सो भी सुनकर तूष्णी हो गये, ललना जो चपल थीं सो भी उस काल में अपनी चपलता को त्याग करती भईं और वन के पशु पक्षी जो निकट थे सो भी सुनकर तूष्णी हुए। निदान मध्याह्न का समय हुआ तब राजा के बड़े भृत्यों ने कहा, हे राजन्! अब स्नान-सन्ध्या का समय हुआ उठकर स्नान-सन्ध्या कीजिये। तब वशिष्ठजी बोले, हे राजन्! अब जो कुछ कहना था सो हम कह चुके, कल फिर कुछ कहेंगे। राजा ने कहा बहुत अच्छा और उठकर अर्घ्य पाद्य नैवेद्य से वशिष्ठजी का पूजन

किया और और जो ब्रह्मर्षि थे उनकी भी यथायोग्य पूजा की। त वशिष्ठजी उठ खड़े हुए और परस्पर नमस्कार कर अपने-अपने स्थान को चले। आकाशचारी आकाश को, पृथ्वी पर रहनेवाले ब्रह्मर्षि औ राजर्षि पृथ्वी पर, पातालवासी पाताल को और सूर्य भगवान् दिन रा की कल्पना को त्यागकर स्थिर हो रहे और मन्द मन्द पवन सुगन्ध सहित चलने लगी मानों पवन भी कृतार्थ होने आया है। इतने में सू अस्त होकर और ठौर में प्रकाशने लगे, क्योंकि सन्त जन सब ठौर में प्रकाशते हैं। इतने में रात्रि हुई तो तारागण प्रकट हो गये और अमृत की किरणों को धारण किये चन्द्रमा उदय हुआ। उस समय अन्धकार का अभाव हो गया और राजा का द्वार भी चन्द्रमा की किरणों से शीतल हो गया—मानो वशिष्ठजी के वचनों को सुनकर इनकी तप्तता मिट गई। निदान सब श्रोताओं ने विचारपूर्वक रात्रि को व्यतीत किया, जब सूर्य की किरण निकली तो अन्धकार नष्ट हो गया—जैसे सन्तों के वचनों से अज्ञानी के हृदय का तम नष्ट होता है—और सब जगत् की क्रिया प्रकट हो आई तब खेचर, भूचर और पाताल के वासी सब श्रोता स्नान-सन्ध्याकर अपने-अपने स्थानों में आये और परस्पर नमस्कार कर पूर्व के प्रसंग को उठाकर रामजी सहित बोले, हे भगवन्! ऐसे मन का रूप क्या है? जिससे कि संसाररूपी दुःखों की मञ्जरी बढ़ती है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस मन का रूप कुछ देखने में नहीं आता। यह मन नाममात्र है। वास्तव में इसका रूप कुछ नहीं है और आकाश की नाईं शून्य है। हे रामजी! मन आत्मा में कुछ नहीं उपजा। जैसे सूर्य में तेज, वायु में स्पन्द, जल में तरङ्ग, सुवर्ण में भूषण, मरीचिका में जल है और आकाश में दूसरा चन्द्रमा है वैसे ही मन भी आत्मा में कुछ वास्तव नहीं है। हे रामजी! यह आश्चर्य है कि वास्तव में कुछ उपजा नहीं, पर आकाश की नाईं सब घटों में बर्त्तता है और सम्पूर्ण जगत् मन से भासता है। असत्‌रूपी जगत् जिससे भासता है उसी का नाम मन है। हे रामजी! आत्मा शुद्ध और अद्वैत है, द्वैतरूप जगत् जिसमें भासता है उसका नाम मन है और संकल्प विकल्प जो फुरता है वह

मन का रूप है। जहाँ जहाँ संकल्प फुरता है वहाँ वहाँ मन है जैसे जहाँ जहाँ तरङ्ग फुरते हैं वहाँ वहाँ जल है वैसे ही जहाँ जहाँ संकल्प फुरता है वहाँ वहाँ मन है। मन के और भी नाम हैं—स्मृति, अविद्या, मलीनता और तम ये सब इसी के नाम ज्ञानवान् पुरुष जानते हैं। हे रामजी! जितना जगज्जाल भासता है सो सब मन से उत्पन्न हुआ है और सब दृश्य मनरूप हैं, क्योंकि मन का रचा हुआ है वास्तव में कुछ नहीं है। हे रामजी! मनरूपी देह का नाम अन्तवाहक शरीर है वह संकल्परूप सब जीवों का आदि वपु है। उस संकल्प में जो दृढ़ आभास हुआ है उससे आधिभौतिक भासने लगा है और आदि स्वरूप का प्रमाद हुआ है। हे रामजी! यह जगत् सब संकल्परूप है और स्वरूप के प्रमाद से पिण्डाकार भासता है। जैसे स्वप्नदेह का आकार आकाशरूप है उसमें पृथ्वी आदि तत्त्वों का अभाव होता है परन्तु अज्ञान से आधिभौतिकता भासती है सो मन ही का संसरना है वैसे ही यह जगत् है, मन के फुरने से भासता है। हे रामजी! जहाँ मन है वहाँ दृश्य है और जहाँ दृश्य है वहाँ मन है। जब मन नष्ट हो तब दृश्य भी नष्ट हो। शुद्ध बोधमात्र में जो दृश्य भासता है सोई मन है। जब तक दृश्य भासता है तब तक मुक्त न होगा, जब दृश्यभ्रम नष्ट होगा तब शुद्धबोध प्राप्त होगा। हे रामजी! "द्रष्टा, दर्शन, दृश्य" यह त्रिपुटी मन से भासती है। जैसे स्वप्न में त्रिपुटी भासती है और जब जाग उठा तब त्रिपुटी का अभाव हो जाता है और आप ही भासता है वैसे ही आत्मसत्ता में जागे हुए को अपना आप अद्वैत ही भासता है। जब तक शुद्धबोध नहीं प्राप्त हुआ तब तक दृश्यभ्रम निवृत्त नहीं होता। वह बाह्य देखता है तो भी सृष्टि ही दृष्टि आती है, अन्तर देखेगा तो भी सृष्टि ही दृष्टि आती है और उसको सत्य जानकर राग-द्वेष कल्पना उठती है। जब मन आत्मपद को प्राप्त होता है तब दृश्यभ्रम निवृत्त हो जाता है। जैसे जब वायु की स्पन्दता मिटती है तब वृक्ष के पत्रों का हिलना भी मिट जाता है। इससे मनरूपी दृश्य ही बन्धन का कारण है। रामजी बोले, हे भगवन्! यह दृश्यरूपी विसूचिका रोग है, उसकी निवृत्ति कैसे हो सो कृपा करके कहो? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! संसाररूपी वैताल

जिसको लगा है उसकी निवृत्ति इस प्रकार होती है कि प्रथम तो विच करके जगत् का स्वरूप जानो, उसके अनन्तर जब आत्मपद में विश्रा होगी तब तुम सर्व आत्मा होगे। हे रामजी! दृश्यभ्रम जो तुमको भासत है उसको मैं उत्तर ग्रन्थ से निवृत्त करूँगा, इसमें सन्देह नहीं। सुनि यह दृश्य मन से उपजा है और इसका सद्भाव मन में ही हुआ है जैसे कमल का उपजना कमल के बीज में है वैसे ही संसार का उपजना स्मृति से होता है। वह स्मृति अनुभव आकाश में होती है। हे रामजी! स्मृति उस पदार्थ की होती है जिसका अनुभव पहिले होता है। जितना कुछ जगत् तुमको भासता है सो संकल्प रूप है—कोई पदार्थ सत्रूप नहीं। जो वस्तु असत्रूप है उसकी स्थिरता नहीं होती और जो वस्तु सत्रूप है उसका अभाव कदाचित् नहीं होता। जितना कुछ प्रपञ्च भासता है सो असत्रूप है मन के चिन्तन से उत्पन्न हुआ है। जब मन फुरने से रहित हो तब जगत् भ्रम निवृत्त होता है। हे रामजी! पृथ्वी, पर्वत आदिक जगत् असत्रूप न होते तो मुक्त भी कोई न होता। मुक्त तो दृश्यभ्रम से होता है, जो दृश्यभ्रम नष्ट न होता तो मुक्त भी कोई न होता; पर ब्रह्मर्षि, राजर्षि, देवता इत्यादिक बहुतेरे मुक्त हुए हैं, इस कारण कहता हूँ कि दृश्य असत्यरूप मन के संकल्प में स्थित है। हे रामजी! एक मन को स्थिरकर देखो, फिर अहं त्वं आदिक जगत् तुमको कुछ न भासेगा। चित्तरूपी आदर्श में संकल्परूपी दृश्य मलीनता है। जब मलीनता दूर होगी तब आत्मा का साक्षात्कार होगा। हे रामजी! यह दृश्यभ्रम मिथ्या उदय हुआ है। जैसे गन्धर्व नगर और स्वप्नपुर वैसे ही यह जगत् भी है। जैसे शुद्ध आदर्श में पर्वत का प्रतिबिम्ब होता है वैसे ही चित्तरूपी आदर्श में यह दृश्य प्रतिबिम्ब है। मुकुर में जो पर्वत का प्रतिबिम्ब होता है सो आकाशरूप है उसमें कुछ पर्वत का सद्भाव नहीं वैसे ही आत्मा में जगत् का सद्भाव नहीं। जैसे बालक को भ्रम से परछाहीं में पिशाचबुद्धि होती है वैसे ही अज्ञानी को जगत् भासता है—वास्तव में जगत् कुछ नहीं है। हे रामजी! न कुछ मन उपजा है और न कुछ जगत् उपजा है—दोनों असत्रूप हैं। जैसे आकाश

में दूसरा चन्द्रमा भासता है वैसे ही आत्मा में जगत् भासता है। जैसे आकाश अपनी शून्यता से और समुद्र जल से पूर्ण है वैसे ही ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित और पूर्ण है और उसमें जगत् का अत्यन्त अभाव है। इतना सुन रामजी ने पूछा, हे भगवन्! यह तुम्हारे वचन ऐसे हैं जैसे कहिये कि बन्ध्या के पुत्र ने पर्वत चूर्ण किया, शशे के शृंग अति सुन्दर हैं, रेत में तेल निकलता है और पत्थर की शिला नृत्य करती वा मूर्त्ति का मेघ गर्जता और पत्थर की पुतलियाँ गान करती हैं। तुम कहते हो कि दृश्य कुछ उपजा ही नहीं और है ही नहीं और मुझको ये जरा, मृत्यु आदिक विकारों सहित प्रत्यक्ष भासते हैं इससे मेरे मन में तुम्हारे वचनों का सद्भाव नहीं स्थित होता। कदाचित् तुम्हारे निश्चय में इसी प्रकार है तो अपना निश्चय मुझको भी बतलाइये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! हमारे वचन यथार्थ हैं। हमने असत् कदाचित् नहीं कहा! तुम विचार के देखो यह जगत् आडम्बर, विना कारण हुआ है। जब महाप्रलय होता है तब शुद्धचैतन्य संवित् रह जाता है और उसमें कार्य कारण कोई कल्पना नहीं रहती, उसमें फिर यह जगत् कारण विना फुरता है। जैसे सुषुप्ति में स्वप्नसृष्टि फुर आती है और जैसे स्वप्नसृष्टि अकारण है वैसे ही यह सृष्टि भी अकारण है। हे रामजी! जिसका समवायकारण और निमित्तकारण न हो और प्रत्यक्ष भासे उसे जानिये कि भ्रान्तिरूप है। जैसे तुमको नित्य स्वप्न का अनुभव होता है और उसमें नाना प्रकार के पदार्थ कार्य कारण सहित भासते हैं पर कारण विना हैं वैसे ही यह जगत् भी कारण विना है। इससे आदि कारण विना ही जगत् उपजा है। जैसे गन्धर्वनगर, संकल्पपुर और आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है वैसे ही यह जगत् भासता है—कोई पदार्थ सत् नहीं। जैसे स्वप्न में राजमहल और नाना प्रकार के पदार्थ भासते हैं सो किसी कारण से तो नहीं उपजे केवल आकाशरूप मन के संसरने से सब भासते हैं वैसे ही यह जगत् चित्त के संसरने से भासता है। जैसे स्वप्न में और स्वप्ना भासता है और फिर उसमें और स्वप्ना भासता है वैसे यह जगत् भासता है और वैसे ही जाग्रत् जगज्जाल मन की कल्पना से

भासता है। हे रामजी ! चलना, दौड़ना, देना, लेना, बोलना, सुन सूँघना इत्यादिक विषय और रागद्वेषादिक विकार सब मन के फुरने होते हैं—आत्मा में कोई विकार नहीं।जब मन उपशम होता है तब कल्पना निवृत्त हो जाती हैं इससे संसार का कारण मन ही है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे बोधहेतुवर्णनन्नाम चतुर्थस्सर्गः ॥ ४

रामजी बोले, हे भगवन् ! मन का रूप क्या है ? वह तो मायामय इसका होना जिससे है सो कौन पद है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी जब महाप्रलय होता है तब सब जगत् का अभाव हो जाता है और पी जो शेष रहता है सो सत्‌रूप है। सर्ग के आदि में भी सत्‌रूप होता उसका नाश कदाचित् नहीं होता, वह सदा प्रकाशरूप परमदेव, शु परमात्मतत्त्व, अज, अविनाशी और अद्वैत है। उसको वाणी नहीं क सकती। वही पद जीवन्मुक्त पाता है। हे रामजी ! आत्म आदिक श कल्पित हैं; स्वाभाविक कोई शब्द नहीं प्रवर्तता। शिष्य को बता के लिये शास्त्रकारों ने देव के बहुत नाम कल्पे हैं। मुख्य तो दे को "पुरुष" कहते हैं। वेदान्तवादी उसी को "ब्रह्म" कहते और विज्ञान वादी उसी को विज्ञान से "बोध" कहते हैं। कोई कहते हैं कि "निर्मल रूप" है। शून्यवादी कहते हैं "शून्य" ही शेष रहता है। कोई कहते "प्रकाशरूप" है जिसके प्रकाश से सूर्यादिक प्रकाशते हैं। एक उसको "वक्ता" कहते हैं कि आदिवेद का "वक्ता" वही है और स्मृतिकर्त्ता कहते हैं कि सब कुछ वह स्मृति से करनेवाला है और सब कुछ उसकी इच्छा से हुआ है, इससे सबका कर्त्ता सर्व "आत्मा" है। हे रामजी ! इसी तरह अनेक नाम शास्त्रकारों ने कहे हैं। इन सबका अधिष्ठान परमदेव है और अस्ति आदि षड्विकारों से रहित शुद्ध, चैतन्य और सूर्यवत् प्रकाशरूप है। वही देव सब जगत् में पूर्ण हो रहा है। हे रामजी ! आत्मारूपी सूर्य है और ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादिक उसकी किरणें हैं। ब्रह्मरूपी समुद्र में जगत रूपी तरंग बुद्बुदे उत्पन्न होकर लीन होते हैं और सब पदार्थ उस आत्मा के प्रकाश से प्रकाशते हैं। जैसे दीपक अपने आपसे प्रकाशता है और दूसरों को भी प्रकाश देता है वैसे ही आत्मा अपने प्रकाश से प्रकाशता

है और सबको सत्ता देनेवाला है। हे रामजी ! वृक्ष आत्मसत्ता से उपजता है, आकाश में शून्यता उसी की है और अग्नि में उष्णता, जल में द्रवता और पवन में स्पर्श उसी की है। निदान सब पदार्थों की सत्ता वही है। मोरों के पङ्खों में रङ्ग आत्मसत्ता से ही हुआ है; पत्थर में मूँगा और पत्थरों में जड़ता उसी की है। और स्थावर-जंगम जगत् का अधिष्ठानरूप वही ब्रह्म है। हे रामजी ! आत्मरूपी चन्द्रमा की किरणों से ब्रह्माण्डरूपी त्रसरेणु उत्पन्न होती है। वह चन्द्रमा शीतलता और अमृत से पूर्ण है। ब्रह्मरूपी मेघ है उससे जीवरूपी बूँदें टपकती हैं। जैसे बिजली का प्रकाश होता है और छिप जाता है वैसे ही जगत् प्रकट होता है और छिप जाता है। सबका अधिष्ठान आत्मसत्ता और वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध और परमानन्दरूप है। सब सत्य असत्यरूप पदार्थ उसी आत्मसत्ता से होते हैं। हे रामजी ! उस देव की सत्ता से जड़पुर्यष्टक चैतन्य होकर चेष्टा करती है। जैसे चुम्बक पत्थर की सत्ता से लोहा चेष्टा करता है वैसे ही चैतन्यरूपी चुम्बक मणि से देह चेष्टा करती है। वह आत्मा नित्य चैतन्य और सबका कर्त्ता है, उसका कर्त्ता और कोई नहीं। वह सबसे अभेदरूप समानसत्ता है और उदय अस्त से रहित है। हे रामजी ! जो पुरुष उस देव का साक्षात् करता है उसकी सब क्रिया नष्ट हो जाती हैं और चिद्‌जड़ ग्रन्थि छिद जाती हैं और केवल बोधरूप होते हैं। जब स्वभावसत्ता में मन स्थित होता है तब मृत्यु को सम्मुख देखकर भी विह्वल नहीं होता। इतना कहकर फिर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! वह देव किसी स्थान में नहीं रहता और कहीं दूर भी नहीं है, वह तो अपने आप ही में स्थित है। हे रामजी ! घटघट में वह देव है पर अज्ञानी को दूर भासता है। स्नान, दान, तप आदि से वह प्राप्त नहीं होता केवल ज्ञान से ही प्राप्त होता है—कर्त्तव्य से प्राप्त नहीं होता। जैसे मृगतृष्णा की नदी भासती है वह कर्त्तव्यता से निवृत्त नहीं होती, केवल ज्ञातव्य से ही निवृत्त होती है वैसे ही जगत् की निवृत्ति आत्मज्ञान से ही होती है। हे रामजी ! कर्त्तव्य भी वही है जो ज्ञातव्यरूप है—अर्थात् यह कि जिससे ज्ञातव्यस्वरूप की प्राप्ति होती है। रामजी बोले, हे भगवन् ! जिस

देव के जानने से पुरुष फिर जन्म-मरण को नहीं प्राप्त होता वह क रहता है और किस तप और क्लेश से उसकी प्राप्ति होती है ? वशिष्ठ बोले, हे रामजी ! किसी तप से उस देव की प्राप्ति नहीं होती केवल अप पौरुष और प्रयत्न से ही उसकी प्राप्ति होती है । जितना कुछ राग, द्वे काम, क्रोध, मत्सर और अभिमान सहित तप है वह निष्फल दम्भ है।इन आत्मपद की प्राप्ति नहीं होती । हे रामजी ! इसकी परम औषध सत्सं और सत्शास्त्रों का विचार है जिससे दृश्यरूपी विसूचिका निवृत्त होत है। प्रथम इसका आचार भी शास्त्र और लौकिक अविरुद्ध हो अर्था शास्त्रों के अनुसार हो और भोगरूपी गढ़े में न गिरे। दूसरे संतोष संयु यथालाभ संतुष्ट होकर अनिच्छित भोगों को प्राप्त हो और जो शा अविरुद्ध हो उसको ग्रहण करे और विरुद्ध हो उसका त्याग करे—इनसे दीन न हो। ऐसे उदारात्मा को शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति होती है हे रामजी ! आत्मपद पाने का कारण सत्संग और सत्शास्त्र है। सन्त वह है जिसको सब लोग श्रेष्ठ कहते हैं और सत्शास्त्र वही है जिस में ब्रह्म निरूपण हो। जब ऐसे सन्तों का संग और सत्शास्त्रों का विचार हो तो शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति होती है। जब मनुष्य श्रुति विचार द्वारा अपने परम स्वभाव में स्थित होता है तब ब्रह्मा विष्णु और रुद्र भी उस पर दया करते हैं और कहते हैं कि यह पुरुष परब्रह्म हुआ है। हे रामजी ! सन्तों का संग और सत्शास्त्रों का विचार निर्मल करता और दृश्यरूप मैल का नाश करता है। जैसे निर्मली रेत से जल का मैल दूर होता है वैसे ही यह पुरुष निर्मल और चैतन्य होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठेउत्पत्तिप्रकरणेप्रयत्नोपदेशोनामपञ्चमस्सर्गः ॥ ५ ॥

इतना सुन रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! वह देव जो तुमने कहा कि जिसके जानने से संसार-बन्धन से मुक्त होता है कहाँ स्थित है और किस प्रकार मनुष्य उसको पाता है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! वह देव दूर नहीं शरीर में ही स्थित है। नित्य, चिन्मात्र सबमें पूर्ण और सर्व विश्व से रहित है। चन्द्रमा को मस्तक में धरनेवाले सदाशिव, ब्रह्माजी और विष्णु और इन्द्रादिक सब चिन्मात्ररूप हैं। बल्कि सब जगत् चिन्मात्र

रूप है। रामजी बोले, हे भगवन् ! यह तो अज्ञान बालक भी कहते हैं कि आत्मा चिन्मात्र है; तुम्हारे उपदेश से क्या सिद्ध हुआ ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस विश्व के चेतन जानने से तुम संसारसमुद्र को नहीं लँघ सकते इस चेतन का नाम संसार है। यह चेतन जीव है, संसार-नामरूप है इससे जरामरणरूप तरङ्ग उत्पन्न होते हैं क्योंकि अहं से दुःख पाता है। हे रामजी ! चैतन्य होकर जो चेतता है सो अनर्थ का कारण है और चेतन से रहित जो चैतन्य है वह परमात्मा है। उस परमात्मा को जानकर मुक्ति होती है तब चेतनता मिट जाती है। हे रामजी ! परमात्मा के जानने से हृदय की चिद्जड़ ग्रन्थि टूट पड़ती है अर्थात् अहं मम नष्ट हो जाते हैं, सब संशय छेदे जाते हैं और सब कर्म क्षीण हो जाते हैं। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! चित्त चैतन्योन्मुख होता है तब आगे दृश्य स्पष्ट भासता है, इसके होते चित्त के रोकने को क्योंकर समर्थ होता है और दृश्य किस प्रकार निवृत्त होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! दृश्यसंयोगी चेतन जीव है, वह जन्मरूपी जंगल में भटकता भटकता थक जाता है। चैतन्य को जो चेतन अर्थात् चिदाभास जीवरूप प्रकाशी कहते हैं सो पंडित भी मूर्ख हैं। यह तो संसारी जीव है इसके जानने से कैसे मुक्ति हो। मुक्ति परमात्मा के जानने से होती है और सब दुःख नाश होते हैं। जैसे विसूचिका रोग उत्तम औषध से ही निवृत्त होता है वैसे ही परमात्मा के जानने से मुक्ति होती है। रामजी ने यह पूछा, हे भगवन् ! परमात्मा का क्या रूप है जिसके जानने से जीव मोहरूपी समुद्र को तरता है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! देश से देशान्तर को दूर जो संवित् निमेष में जाता है उसके मध्य जो ज्ञानसंवित् है सो परमात्मा का रूप है और जहाँ संसार का अत्यन्त अभाव होता है उसके पीछे जो बोधमात्र शेष रहता है वह परमात्मा का रूप है। हे रामजी ! वह चिदाकाश जहाँ द्रष्टा दर्शन दृश्य का अभाव होता है वही परमात्मा का रूप है और जो अशून्य है और शून्य की नाईं स्थित है और जिसमें सृष्टि का समूह शून्य है ऐसी अद्वैत सत्ता परमात्मा का रूप है। हे रामजी ! महाचैतन्यरूप बड़े पर्वत की नाईं जो चैतन्य स्थित

है और अजड़ है पर जड़ के समान स्थित है वह परमात्मा का रूप और जो सबके भीतर बाहर स्थित है और सबको प्रकाशता है सो प मात्मा का रूप है। हे रामजी ! जैसे सूर्य प्रकाशरूप और आका शून्यरूप है वैसे ही यह जगत् आत्मरूप है। रामजी ने पूछा, हे भगवन जो सब परमात्मा ही है तो क्यों नहीं भासता और जो सब जगत भास है इसका निर्वाण कैसे हो ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह जगत् अ से उत्पन्न हुआ है—वास्तव में कुछ नहीं है। जैसे आकाश में नील भासती है वैसे ही आत्मा में जगत् भासता है। जब जगत् का अत्यन अभाव जानोगे तब परमात्मा का साक्षात्कार होगा और किसी उपा से न होगा। जब दृश्य का अत्यन्त अभाव करोगे तब दृश्य उसी प्रका स्थित रहेगा, पर तुमको परमार्थ सत्ता ही भासेगी। हे रामजी ! चित्तरूपी आदर्श दृश्य के प्रतिबिम्ब विना कदाचित् नहीं रहता। जब तक दृश्य का अत्यन्त अभाव नहीं होता तब तक परम बोध का साक्षात्कार नहीं होता। इतना सुनकर रामजी ने फिर पूछा कि हे भगवन् ! यह दृश्य जाल आडम्बर मन में कैसे स्थित हुआ है ? जैसे सरसों के दानों में सुमेरु का आना आश्चर्य है वैसे ही जगत् का मन में आना भी आश्चर्य है। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! एक दिन तुम वेदधर्म की प्रवृत्ति सहित सकाम यज्ञ योगादिक त्रिगुण से रहित होकर स्थित हो और सत्संग और सत्शास्त्रपरायण हो तब मैं एक ही क्षण में दृश्यरूपी मैल दूर करूँगा। जैसे सूर्य की किरणों के जाने से जल का अभाव हो जाता है वैसे ही तुम्हारे भ्रम का अभाव हो जावेगा। जब दृश्य का अभाव हुआ तब द्रष्टा भी शान्त होवेगा और जब दोनों का अभाव हुआ तब पीछे शुद्ध आत्मसत्ता ही भासेगी। हे रामजी ! जब तक द्रष्टा है तब तक दृश्य है और जब तक दृश्य है तब तक द्रष्टा है। जैसे एक की अपेक्षा से दो होते हैं—दो हैं तो एक है और एक है तब दो भी हैं—एक न हो तब दो कहाँ से हों—वैसे ही एक के अभाव से दोनों का अभाव होता है। द्रष्टा की अपेक्षा से ही दृश्य और दृश्य की अपेक्षा करके द्रष्टा है। एक के अभाव से दोनों का अभाव हो जाता है। हे रामजी ! अहंता से आदि लेकर जो दृश्य है सो सब दूर करूँगा। हे रामजी ! अनात्मा से आदि लेके जो दृश्य है वही मैल है। इससे रहित होकर चित्तरूपी दर्पण निर्मल होगा। जो पदार्थ असत् है उसका कदाचित् भाव नहीं होता और जो पदार्थ सत् है सो असत् नहीं होगा। जो वास्तव में सत् न हो उसका मार्जन करना क्या कठिन है; हे रामजी ! यह जगत् आदि से उत्पन्न नहीं हुआ। जो कुछ दृश्य भासता है वह भ्रान्तिमात्र है। जगत् निर्मल ब्रह्म चैतन्य ही है। जैसे सुवर्ण से भूषण होता है तो वह सुवर्ण भूषण से भिन्न नहीं वैसे ही जगत् और ब्रह्म में कुछ भेद नहीं। हे रामजी ! दृश्यरूपी मलके मार्जन के लिये मैं बहुत प्रकार की युक्ति तुमसे विस्तारपूर्वक कहूँगा उससे तुमको अद्वैत सत्ता का भान होगा। यह जगत् जो तुमको भासता है वह किसी के द्वारा नहीं उपजा। जैसे मरुस्थल की नदी भासती है और आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है वैसे ही यह जगत् विना कारण भासता है। जैसे मरुस्थल में जल नहीं, जैसे बन्ध्या का पुत्र नहीं और जैसे आकाश में वृक्ष नहीं वैसे ही यह जगत् है। जो कुछ देखते हो वह निरामय ब्रह्म है। यह वाक्य तुमको केवल वाणीमात्र नहीं कहे किन्तु युक्तिपूर्वक कहे हैं। हे रामजी ! गुरु की कही युक्ति को जो मूर्खता से त्याग करते हैं उनको सिद्धान्त नहीं प्राप्त होता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे दृश्यअसत्य
प्रतिपादनंनाम षष्ठस्सर्गः ॥ ६ ॥

इतना सुन रामजी ने पूछा, हे मुनीश्वर! वह युक्ति कौन है और कैसे प्राप्त होती है जिसके धारण करने से पुरुष आत्मपद को प्राप्त होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! मिथ्या ज्ञान से जो विसूचिकारूपी जगत् बहुत काल का दृढ़ हो रहा है वह विचाररूपी मन्त्र से शान्त होता है। हे रामजी ! बोध की सिद्धता के लिए मैं तुमसे एक आख्यान कहता हूँ उसको सुनके तुम मुक्तात्मा होंगे और जो अर्द्धप्रबुद्ध होकर तुम उठ जाओगे तब तिर्यगादिक योनि को प्राप्त होगे। हे रामजी ! जिस अर्थ के पाने की जीव इच्छा करता है उसके पाने के अनुसार यत्न भी

करे और थककर फिरे नहीं तो अवश्य उसको पाता है, इससे सत्संगी और सत्शास्त्रपरायण हो जब तुम इनके अर्थ में दृढ़ अभ्यास करो तब कुछ दिनों में परमपद पावोगे । फिर रामजी ने पूछा, हे भगवन् आत्मबोध का कारण कौन शास्त्र है और शास्त्रों में श्रेष्ठ कौन है कि उसके जानने से शोक न रहे ? वशिष्ठजी बोले, हे महामते, रामजी ! महाबोध का कारण शास्त्रों में परमशास्त्र यह महारामायण है । इसमें बड़े-बड़े इतिहास हैं जिनसे परमबोध की प्राप्ति होती है । हे रामजी ! सब इतिहासों का सार मैं तुमसे कहता हूँ जिसको समझकर जीवन्मुक्त हो तुमको जगत् न भासेगा, जैसे स्वप्न में जागे हुए को स्वप्न के पदार्थ भासते हैं । जो कुछ सिद्धान्त है उन सबका सिद्धान्त इसमें है और जो इसमें नहीं वह और में भी नहीं है इसको बुद्धिमान् सब शास्त्र विज्ञान भण्डार जानते हैं । हे रामजी ! जो पुरुष श्रद्धासंयुक्त इसको सुने और नित्य सुनके विचारेगा उसकी बुद्धि उदार होकर परमबोध को प्राप्त होगी इसमें संशय नहीं । जिसको इस शास्त्र में रुचि नहीं है वह पापात्मा है उसको चाहिये कि प्रथम और शास्त्रों को विचारे उसके अनन्तर इसको विचारे तो जीवन्मुक्त होगा । जैसे उत्तम औषध से रोग शीघ्र ही निवृत्त होता है वैसे ही इस शास्त्र के सुनने और विचारने से शीघ्र ही अज्ञान नष्ट होकर आत्मपद प्राप्त होगा । हे रामजी ! आत्मपद की प्राप्ति वर और शाप से नहीं होती जब विचार रूप अभ्यास करे तो आत्मज्ञान प्राप्त होता है । हे रामजी ! दान देने, तपस्या करने और वेद के पढ़ने से भी आत्मपद की प्राप्ति नहीं होती, केवल आत्मविचार से ही होती है । संसारभ्रम भी अन्यथा नष्ट नहीं होता ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सच्छास्त्रनिर्णयोनाम सप्तमस्सर्गः॥ ७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जिस पुरुष के चित्त और प्राणों की चेष्टा और परस्पर बोधन आत्मा का है और जो आत्मा को कहता भी है; आत्मा से तोषवान् भी है और आत्मा ही में रमता भी है ऐसा ज्ञाननिष्ठ जीवन्मुक्त होकर फिर विदेहमुक्त होता है । रामजी बोले, हे मुनीश्वर ! जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त का क्या लक्षण है कि उस दृष्टि को लेकर मैं भी वैसे ही विचरूँ ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जो पुरुष सब जगत् के व्यवहार करता है और जिसके हृदय में द्वैतभ्रम शान्त हुआ है वह जीवन्मुक्त है; जो शुभ क्रिया करता है और हृदय से आकाश की नाईं निर्लेप रहता है वह जीवन्मुक्त है; जो पुरुष संसार की दशा से सुषुप्त होकर स्वरूप में जाग्रत् हुआ है और जिसका जगत्भ्रम निवृत्त हुआ है वह जीवन्मुक्त है । हे रामजी ! इष्ट की प्राप्ति में जिसकी कान्ति नहीं बढ़ती और अनिष्ट की प्राप्ति में न्यून नहीं होती वह पुरुष जीवन्मुक्त है और जो पुरुष सब व्यवहार करता है और हृदय से द्वेष रहित शीतल रहता है वह जीवन्मुक्त है । हे रामजी ! जो पुरुष रागद्वेषादिक संयुक्त दृष्टि आता है; इष्ट में रागवान् दिखता है और अनिष्ट में द्वेषवान् दृष्टि आता है पर हृदय से सदा शान्तरूप है वह जीवन्मुक्त है । जिस पुरुष को अहं ममता का अभाव है और जिसकी बुद्धि किसी में लेपायमान नहीं होती वह कर्म करे अथवा न करे परन्तु जीवन्मुक्त है । हे रामजी ! जिस पुरुष को मान, अपमान, भय और क्रोध में कोई विकार नहीं उपजता और आकाश की नाईं शून्य हो गया है वह जीवन्मुक्त है । जो पुरुष भोक्ता भी हृदय से अभोक्ता है और सचित्त दृष्टि आता है पर अचित्त है वह जीवन्मुक्त है । जिस पुरुष से कोई दुःखी नहीं होता और लोगों से वह दुःखी नहीं होता और राग, द्वेष, भय और क्रोध से रहित है वह जीवन्मुक्त है । हे रामजी ! जो पुरुष चित्त के फुरने से जगत् की उत्पत्ति जानता है और चित्त के अफुर होने से जगत् का प्रलय जानता है और सबमें समबुद्धि है वह जीवन्मुक्त है । जो पुरुष भोगों से जीता दृष्टि आता है और मृतक की नाईं स्थित और चेष्टा करता दृष्टि आता है, पर वास्तव में पर्वत के सदृश अचल है वह जीवन्मुक्त है । हे रामजी ! जो पुरुष व्यवहार करता दृष्टि आता है और जिसके हृदय में इष्ट अनिष्ट विकार कोई नहीं है वह जीवन्मुक्त है । जिस पुरुष को सब जगत् आकाशरूप दीखता है और जिसकी निर्वासनिक बुद्धि हुई है वह जीवन्मुक्त है, क्योंकि वह सदा आत्मस्वभाव में स्थित है और सब जगत् को ब्रह्मस्वरूप जानता है ।

इतना सुनकर रामजी बोले, हे भगवन्! जीवन्मुक्त की तो तुमने कठि गति कही। इष्ट अनिष्ट में सम और शीतल बुद्धि कैसे होती है वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इष्ट अनिष्टरूपी जगत् अज्ञानी को भासता है और ज्ञानी को सब आकाशरूप भासता है उसे राग द्वेष किसी में नहीं होता। औरों की दृष्टि में वह चेष्टा करता दृष्टि आता है, परन्तु जग की वार्त्ता से सुषुप्त है। हे रामजी ! जीवन्मुक्त कुछ काल रहकर जब शरी को त्यागता है तब ब्रह्मपद को प्राप्त होता है। जैसे पवन स्पन्द को त्यागकर निस्पन्द होता है वैसे ही वह जीवन्मुक्तपद को त्यागकर विदेह मुक्त होता है। तब वह सूर्य होकर तपता है, ब्रह्मा होकर सृष्टि उत्पन्न करता है, विष्णु होकर प्रतिपालन करता है, रुद्र होके संहार करता है, पृथ्वी होके सब भूतों को धरता और ओषधि अन्नादिकों को उत्पन्न करता है, पर्वत होके पृथ्वी को रखता है, जल होके रस देता है, अग्नि होके उष्णता को धारता है, पवन होके पदार्थों को सुखाता है, चन्द्रमा होके ओषधियों को पुष्ट करता है, आकाश होके सब पदार्थों को ठौर देता है, मेघ होके वर्षा करता है और स्थावर जंगम जितना कुछ जगत् है सबमें आत्मा होके स्थित होता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! विदेह मुक्त शरीर को धारण कर क्षोभवान् होकर जगत् में आता है तो त्रैलोकी का भ्रम क्यों नहीं मिटता ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जगत् आडम्बर अज्ञानी के हृदय में स्थित है और ज्ञानवान् को सब चिदाकाशरूप है। विदेहमुक्त वही रूप होता है जहाँ उदय अस्त की कल्पना कोई नहीं केवल शुद्ध बोधमात्र है। हे रामजी ! यह जगत् आदि से उपजा नहीं केवल अज्ञान से भासता है। मैं तुम और सब जगत् आकाशरूप हैं। जैसे आकाश में नीलता और दूसरा चन्द्रमा भासते हैं। और जैसे मरुस्थल में जल भासता है वैसे ही आत्मा में जगत् भासता है। हे रामजी ! जैसे स्वर्ण में भूषण कुछ उपजा नहीं और जैसे समुद्र में तरङ्ग होती हैं वैसे ही आत्मा में जगत् उपजा नहीं। यह सब जगज्जाल मन के फुरने से भासता है, स्वरूप से कुछ नहीं बना। ज्ञानी को सदा यही निश्चय रहता है, फिर जगत् का क्षोभ उसको कैसे भासे ? हे रामजी ! यह भी मैंने तुम्हारे जाननेमात्र को कहा है, नहीं तो जगत् कहाँ है जगत् का तो अत्यन्त अभाव है। इतना सुन रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! जगत् के अत्यन्त अभाव हुए विना आत्मबोध की प्राप्ति नहीं होती। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! दृश्य द्रष्टा का मिथ्याभ्रम उदय हुआ है। जब दोनों में से एक का अभाव हो तब दोनों का अभाव हो और जब दोनों का अभाव हो तब शुद्ध बोधमात्र शेष रहे। जिस प्रकार जगत् का अत्यन्त अभाव हो वह युक्ति मैं तुमसे कहता हूँ। हे रामजी ! चिरकाल का जो जगत् दृढ़ हो रहा है वह मिथ्याज्ञान विसूचिका है। वह विचाररूपी मन्त्र से निवृत्त होता है। जैसे पर्वत पर चढ़ना और उतरना शनैः शनैः होता है वैसे ही अविद्धकभ्रम चिरकाल का दृढ़ हो रहा है, विचार करके क्रम से उसकी निवृत्ति होती है। जगत् के अत्यन्त अभाव हुए विना आत्मबोध नहीं होता। उसके अत्यन्त अभाव के निमित्त मैं युक्ति कहता हूँ, उसके समझने से जगत्भ्रम नष्ट होगा और जीवन्मुक्त होकर तुम विचरोगे। हे रामजी ! बन्धन से वही बँधता है जो उपजा हो और मुक्त भी वही होता है जो उपजा हो। यह जगत् जो तुमको भासता है वह उपजा नहीं। जैसे मरुस्थल में नदी भासती है वह भी उपजी नहीं है भ्रम से भासती है वैसे ही आत्मा में जगत् भासता है पर उपजा नहीं। जैसे अर्द्ध मीलित नेत्र पुरुष को आकाश में तरुवरे भासते हैं वैसे ही भ्रम से जगत् भासता है। हे रामजी ! जब महाप्रलय होता है तब स्थावर, जंगम, देवता, किन्नर, दैत्य, मनुष्य, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादिक जगत् का अभाव होता है। इसके अनन्तर जो रहता है सो इन्द्रियग्राहक सत्ता नहीं और असत्य भी नहीं और न शून्य, न प्रकाश, न अन्धकार, न द्रष्टा, न दृश्य, न केवल, न अकेवल, न चेतन, न जड़, न ज्ञान, न अज्ञान, न साकार, न निराकार, न किञ्चन और न अकिञ्चन ही है। वह तो सर्वशब्दों से रहित है उसमें वाणी की गम नहीं और जो है तो चेतन से रहित चैतन्य आत्मतत्त्वमात्र है जिसमें अहं त्वं की कोई कल्पना नहीं। ऐसे शेष रहता है और पूर्ण, अपूर्ण, आदि, मध्य, अन्त से रहित है। सोई सत्ता जगतूरूप होकर भासती है और कुछ जगत् बना

नहीं। जैसे मरीचिका में जल भासता है वैसे ही आत्मा में जगत् भासत है। हे रामजी ! जब चित्तशक्ति स्पन्दरूप हो भासती है तब जगदाका भासता है और जब निस्पन्द होती है तब जगत् का अभाव होता है, प आत्मसत्ता सदा एक रस रहती है। जैसे वायु स्पन्दरूप होता है ता भासता है और निस्पन्दरूप नहीं भासता परन्तु वायु एकही है वैसे ही जब चित्त संवेदनस्पन्दरूप होता है तब जगत् होकर भासता है और जब निस्पन्दरूप होता है तब जगत् मिट जाता है। हे रामजी ! चेतन तब जाना जाता है जब संवेदन स्पन्दरूप होता है। जैसे सुगन्ध का ग्रहण आधार से होता है और आधाररूप द्रव्य के विना सुगन्ध का ग्रहण नहीं होता। जैसे वस्त्र श्वेत होता है तब रङ्ग को ग्रहण करता है अन्यथा रङ्ग नहीं चढ़ता वैसे ही आत्मा का जानना स्पन्द से होता है, स्पन्द के विना जानने की कल्पना भी नहीं होती। जैसे आकाश में शून्यता और अग्नि में उष्णता भासती है वैसे ही आत्मा में जगत भासता है—वह अनन्यरूप है। जैसे जल द्रवता से तरङ्गरूप होके भासता है वैसे ही आत्मसत्ता जगत्रूप होके भासती है। वह आकाशवत् शुद्ध है और श्रवण, चक्षु, नासिका, त्वचा, देह और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से रहित है और सब ओर से श्रवण करता, बोलता, सूँघता, स्पर्श करता और रस लेता भी आप ही है। आत्मरूपी सूर्य की किरणों में जलरूपी त्रिलोकी फुरती भासती है। जैसे जल में चक्र आवृत फुरते भासते सो जल से इतर कुछ नहीं, जलरूप ही हैं वैसे ही जगत आत्मा से भिन्न नहीं आत्मरूप ही है। आत्म ही जगत्रूप होकर भासता है। जिह्वा नहीं पर बोलता है; अभोक्ता है पर भोक्ता होके भासता है; अफुर है पर फुरता भासता है; अद्वैत है पर द्वैतरूप होकर भासता है और निराकार है पर साकाररूप होके भासता है। हे रामजी ! आत्मसत्ता सब शब्दों से अतीत है पर वही सब शब्दों को धारती है और द्रष्टा होके भासती है, इतर कुछ है नहीं। कई सृष्टि समान होती हैं और कई विलक्षण होती हैं परन्तु स्वरूप से कुछ भिन्न नहीं सदा आत्म रूप हैं। जैसे सुवर्ण में भूषण समान आकार भी होते और विलक्षण भी

होते हैं और कङ्कण से आदि लेके जो भूषण हैं सो सुवर्ण से इतर नहीं होते—सुवर्णरूप ही हैं वैसे ही जगत् आत्मस्वरूप है और शुद्ध आकाश से भी निर्मल बोधमात्र है। हे रामजी ! जब तुम उसमें स्थित होगे तब जगत्भ्रम मिट जावेगा। जगत् वास्तव में कुछ नहीं है सदा ज्यों का त्यों अपने आपमें स्थित है; केवल मन के फुरने से ही जगत् भासता है मन के फुरने से रहित होने पर सब कल्पना मिट जाती हैं और आत्मसत्ता ज्यों की त्यों भासती है। वह सत्ता ज्यों की त्यों ही है और सबका अधिष्ठानरूप है। यह सब जगत् उसी से हुआ है और वही रूप है। सबका कारण आत्मसत्ता है और उसका कारण कोई नहीं। अकारण, अद्वैत, अजर, अमर और सब कल्पना से रहित शुद्ध चिन्मात्ररूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे परमकारणवर्णनन्नामाष्टमस्सर्गः॥ ८॥

इतना सुनकर रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! जब महाप्रलय होता है और सब पदार्थ नष्ट हो जाते हैं उसके पीछे जो रहता है उसे शून्य कहिये वा प्रकाश कहिये, क्योंकि तम तो है नहीं; चेतन है अथवा जीव है; मन है वा बुद्धि है; सत्, असत्; किञ्चन, अकिञ्चन इनमें कोई तो होवेगा; आप कैसे कहते हैं कि वाणी की गम नहीं ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह तुमने बड़ा प्रश्न किया है। इस भ्रम को मैं विना यत्न नाश करूँगा। जैसे सूर्य के उदय से अन्धकार नष्ट हो जाता है वैसे ही तुम्हारे संशय का नाश होगा। हे रामजी ! जब महाप्रलय होता है तब सम्पूर्ण दृश्य का अभाव हो जाता है पीछे जो शेष रहता है सो शून्य नहीं, क्योंकि दृश्याभास उसमें सदा रहता है और वास्तव में कुछ हुआ नहीं। जैसे थम्भ में शिल्पी पुतलियाँ कल्पता है कि इतनी पुतलियाँ इस थम्भ से निकलेंगी सो उस थम्भ में ही शिल्पी कल्पता है जो थम्भ न हो तो शिल्पी पुतलियाँ किसमें कल्पता ? वैसे ही आत्मरूपी थम्भे में मनरूपी शिल्पी जगत्रूपी पुतलियाँ कल्पता है; जो आत्मा न हो तो पुतलियाँ किसमें कल्पे। जैसे थम्भे में पुतलियाँ थम्भारूप हैं वैसे ही सब जगत् ब्रह्मरूप है—ब्रह्म से इतर जगत् का होना नहीं। जैसे पुतलियों का सद्भाव और असद्भाव थम्भ

में है, क्योंकि अधिष्ठानरूप थम्भा है–थम्भे विना पुतलियाँ नहीं होतीं, वैसे ही जगत् आत्मा के विना नहीं होता। हे रामजी ! सद्भाव हो जाता है वह सत् से होता है असत् से नहीं और असद्भाव सिद्ध होता है वह सत् ही में होता है असत् में नहीं होता। इससे सत् शून्य नहीं, जो शून्य होता तो किसमें भासता जैसे सोम जल में तरङ्ग का सद्भाव और असद्भाव भी होता है। असद्भाव इस कारण होता है कि तरङ्ग भिन्न कुछ नहीं और सद्भाव इस कारण से होता है कि जल ही में तरङ्ग होता है वैसे ही जगत् का सद्भाव असद्भाव आत्मा में होता है शून्य में नहीं। जैसे सोम जल में कहनेमात्र को तरङ्ग हैं, नहीं तो जल ही है, वैसे ही जगत् कहनेमात्र को है, हुआ कुछ नहीं–एक सत्ता ही है। और शून्य और अशून्य भी नहीं, क्योंकि शून्य और अशून्य ये दोनों शब्द उसमें कल्पित हैं। शून्य उसको कहते हैं जो सद्भाव से रहित अभावरूप हो और अशून्य उसको कहते हैं जो विद्यमान हो। पर आत्मसत्ता इन दोनों से रहित है। अशून्य भी शून्य का प्रतियोगी है जो शून्य नहीं तो अशून्य कहाँ से हो। ये दोनों ही अभावमात्र हैं। हे रामजी ! यह सूर्य, तारा, दीपक आदि भौतिक प्रकाश भी वहाँ नहीं, क्योंकि प्रकाश अन्धकार का विरोधी है। जो यह प्रकाश होता तो अन्धकार सिद्ध न होता। इससे वहाँ प्रकाश भी नहीं है और तम भी नहीं है, क्योंकि सूर्यादिक जिससे प्रकाशते हैं वह तम कैसे हो ? आत्मा के प्रकाश विना सूर्यादिक भी तमरूप हैं। इससे वह न शून्य है, न अशून्य है, न प्रकाश है, न तम है, केवल आत्मतत्त्वमात्र है। जैसे थम्भ में पुतलियाँ कुछ हैं नहीं वैसे ही आत्मा में जगत् कुछ हुआ नहीं। जैसे बेलि और बेलि की मज्जा में कुछ भेद नहीं वैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं और जैसे जल और तरङ्ग में, मृत्तिका और घट में कुछ भेद नहीं वैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं, नाममात्र भेद है। हे रामजी ! जल और मृत्तिका का जो दृष्टान्त दिया है ऐसा भी आत्मा में नहीं। जैसे जल में तरङ्ग होता है और मृत्तिका में घट होता है सो भी परिणामरूप होता है। आत्मा में जगत् भान नहीं है और जो मानसिक है तो आकाशरूप है। इससे जगत् कुछ भिन्न नहीं है रूप, अवलोकन मनस्कार जो कुछ भासता है वह सब आकाशरूप है। आत्मसत्ता ही चित्त के फुरने से जगत्रूप हो भासती है–जगत् कुछ दूसरी वस्तु नहीं। जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होता है वैसे ही आत्मा में जगत् भासता है। हे रामजी ! थम्भे में जो शिल्पकार पुतलियाँ कल्पता है सो भी नहीं होती और यहाँ कल्पनेवाला भी बीच की पुतली है वह भी होने विना भासती है। हे रामजी ! जिससे यह जगत् भासता है उसको शून्य कैसे कहिये और जो कहिये कि चेतन है तो भी नहीं, क्योंकि चेतन भी तब होता है जब चित्तकला फुरती है, जहाँ फुरना न हो वहाँ चेतनता कैसे रहे ? जैसे जब कोई मिरच को खाता है तब उसकी तिखाई भासती है, खाये विना नहीं भासती। वैसे ही चैतन्य जानना भी स्पन्दकला में होता है, आत्मा में जानना भी नहीं होता ! चैतन्यता से रहित चिन्मात्र अक्षय सुषुप्तिरूप है उसको जो तुरीय कहता है वह ज्ञेय ज्ञानवान् से गम्य है। हे रामजी ! जो पुरुष उसमें स्थित हुआ है उसको संसाररूपी सर्प नहीं डस सकता, वह अचैत्य चिन्मात्र होता है और जिसकी आत्मा में स्थिति नहीं होती उसको दृश्यरूपी सर्प डसता है। आत्मसत्ता में तो कुछ द्वैत नहीं हुआ आत्मसत्ता तो आकाश से भी स्वच्छ है। इनका द्रष्टा, दर्शन, दृश्य स्वतः अनुभवसत्ता आत्मा का रूप है और वह अभ्यास करने से प्राप्त होती है। हे रामजी ! उसमें द्वैतकल्पना कुछ नहीं है। वह अद्वैतमात्र है वह न द्रष्टा है, न जीव है, न कोई विकार और न स्थूल, न सूक्ष्म है–एक शुद्ध अद्वैतरूप अपने आपमें स्थित है जो यह चैत्य का फुरना ही आदि में नहीं हुआ तो चेतनकला रूप जीव कैसे हो और जो जीव ही नहीं तो बुद्धि कैसे हो ? जो बुद्धि ही नहीं तो मन और इन्द्रियाँ कैसे हों; जो इन्द्रियाँ नहीं तो देह कैसे हो और जो देह न हो तो जगत् कैसे हो ? हे रामजी ! आत्मसत्ता में सब कल्पना मिट जाती हैं; उसमें कुछ कहना नहीं बनता वह तो पूर्ण, अपूर्ण, सत्, असत् से न्यारा है भाव और अभाव का कभी उसमें कोई विकार नहीं; आदि, मध्य, अन्त की कल्पना

भी कोई नहीं वह तो अजर, अमर, आनन्द, अनन्त, चित्स्वरूप, अचै चिन्मात्र और अवाक्यपद है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, आकाश से अधिक शून्य और स्थूल से भी स्थूल एक अद्वैत और अनन्त चि है। इतना सुन रामजी ने पूछा, हे भगवन्! यह अचिन्त्य, चिन्मा और परमार्थसत्ता जो आपने कही उसका रूप बोध के निमित्त मुझ फिर कहो। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब महाप्रलय होता है त सब जगत् नष्ट हो जाता है, पर ब्रह्मसत्ता शेष रहती है उसका रूप कहता हूँ। मनरूपी ब्रह्मा है मन की वृत्ति जो प्रवृत होती है वह ए प्रमाण; दूसरी विपर्यय; तीसरी विकल्प; चौथी अभाव और पाँचव स्मरण है। प्रमाणवृत्ति तीन प्रकार की हैं–एक प्रत्यक्ष; दूसरी अनुमा जैसे धुवाँ से अग्नि जानना और तीसरी शब्दरूप ये तीनों प्रमाणवृ आप्तकामिका हैं। द्वितीय विपर्यय वृत्ति है–विपरीत भाव से तृती विकल्पवृत्ति है चेतन ईश्वररूप है और साक्षी पुरुषरूप है अर्थात् जैसे सी पड़ी हो और उसमें संशय वृत्ति चाँदी की या सीपी की भासे तो उसक नाम विकल्प है। चतुर्थ निद्रा–अभाव वृत्ति है और पञ्चम स्मरणवृ है। यही पाँचों वृत्ति हैं और इनका अभिमानी मन है जब तीनों शरी का अभिमानी अहंकार नाश हो तब पीछे जो रहता है सो निश्चल सत्ता अनन्त आत्मा है। मैं असत् नहीं कहता हूँ। हे रामजी! जाग्र के अभाव होने पर जब तक सुषुप्ति नहीं आती वह रूप परमात्मा का है। अंगुष्ठ को जो शीत उष्ण का स्पर्श होता है उसको अनुभव करने वाली परमात्मसत्ता है जिसमें द्रष्टा, दर्शन और दृश्य उपजता है और फिर लीन होता है वह परमात्मा का रूप है। उस सत्ता में चेतनता भी नहीं है। हे रामजी! जिसमें चेतन अर्थात् जीव और जड़ अर्थात् देहादिक दोनों नहीं हैं वह अचैत्य चिन्मात्र परमात्मारूप है। जो सब व्यवहार होते हैं उनके अन्तर आकाशरूप है–कोई क्षोभ नहीं ऐसी सत्ता परमात्मा का रूप है। वह शून्य है परन्तु शून्यता से रहित है। हे रामजी! जिसमें द्रष्टा, दर्शन और दृश्य तीनों प्रतिबिम्बित हैं और आकाररूप हैं–ऐसी सत्ता परमात्मा का रूप है। जो स्थावर में स्थावरभाव और चेतन में चेतन

भाव से व्याप रहा है और मन बुद्धि इन्द्रियाँ जिसको नहीं पा सकतीं ऐसी सत्ता परमात्मा का रूप है। हे रामजी! ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का जहाँ अभाव हो जाता है उसके पीछे जो शेष रहता है और जिसमें कोई विकल्प नहीं ऐसी अचेत चिन्मात्रसत्ता परमात्मा का रूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे परमात्मस्वरूपवर्ण-
नन्नाम नवमस्सर्गः ॥ ९ ॥

इतना सुन रामजी बोले, हे भगवन्! यह दृश्य जो स्पष्ट भासता है सो महाप्रलय में कहा जाता है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! बन्ध्या स्त्री का पुत्र कहाँ से आता है और कहाँ जाता है और आकाश का वन कहाँ से आता और कहाँ जाता है? जैसे आकाश का वन है वैसे ही यह जगत् है। फिर रामजी नें पूछा, हे मुनीश्वर! बन्ध्या का पुत्र और आकाश का वन तो तीनों काल में नहीं होता, शब्दमात्र है और उपजा कुछ नहीं पर यह जगत् तो स्पष्ट भासता है बन्ध्या के पुत्र के समान कैसे हो? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जैसे बन्ध्या का पुत्र और आकाश का वन उपजा नहीं वैसे ही यह जगत् भी उपजा नहीं। जैसे सङ्कल्पपुर होता है और जैसे स्वप्न नगर प्रत्यक्ष भासता है और आकाशरूप है, इनमें से कोई पदार्थ सत् नहीं वैसे ही यह जगत् भी आकाशरूप है और कुछ उपजा नहीं। जैसे जल और तरङ्ग में, काजल और श्यामता में, अग्नि और उष्णता में, चन्द्रमा और शीतलता में, वायु और स्पन्द में, आकाश और शून्यता में भेद नहीं वैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं–सदा अपने स्वभाव में स्थित है। हे रामजी! जगत् कुछ बना नहीं, आत्मसत्ता ही अपने आप में स्थित है और उसमें अज्ञान से जगत् भासता है। जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा, मरुस्थल में जल और आकाश में तरुवरे भासते हैं वैसे ही आत्मा में अज्ञान से जगत् भासता है। इतना सुन फिर रामजी ने पूछा, हे भगवन्! दृश्य के अत्यन्त अभाव विना बोध की प्राप्ति नहीं होती और जगत् स्पष्टरूप भासता है। द्रष्टा और दृश्य जो मन से उदय हुए हैं सो भ्रम से हुए हैं। जो एक है तो दोनों भी हैं और जब दोनों में

एक का अभाव हो तो दोनों मुक्त हों, क्योंकि जहाँ द्रष्टा है वहाँ दृ
भी है और जहाँ दृश्य है वहाँ द्रष्टा भी है। जैसे शुद्ध आदर्श के विना प्रति
बिम्ब नहीं होता वैसे ही द्रष्टा भी दृश्य के विना नहीं रहता और दृ
द्रष्टा के विना नहीं। हे मुनीश्वर! दोनों में एक नष्ट हो तो दोनों निवा
हों इससे वही युक्ति कहो जिससे दृश्य का अत्यन्त अभाव होकर आत्म
बोध प्राप्त हो। कोई ऐसा भी कहते हैं कि दृश्य आगे था अब नष्ट हु
है तो उसको भी संसारभाव देखावेगा और जिसको विद्यमान न
भासता और उसके अन्तर सद्भाव है तो फिर संसार देखेगा। जैसे सू
बीज में वृक्ष का सद्भाव होता है वैसे ही स्मृति फिर संसार को दिखावे
और आप कहते हैं कि जगत् का अत्यन्त अभाव होता है और जग
का कारण कोई नहीं—आभासमात्र है—और उपजा कुछ नहीं ? हे मुनी
श्वर! जिसका अत्यन्त अभाव होता है वह वस्तु वास्तव में नहीं होती
और जो है ही नहीं तो बन्धन किसको हुआ तब तो सब मुक्तस्वरू
हुए पर जगत् तो प्रत्यक्ष भासता है ? इससे आप वही युक्ति क
जिससे जगत् का अत्यन्त अभाव हो। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी
दृश्य के अत्यन्त अभाव के निमित्त मैं एक कथा सुनाता हूँ; जिसक
अर्थ निश्चयकर समझने से दृश्य शान्त होकर फिर संसार कदाचि
न उपजेगा। जैसे समुद्र में धूलि नहीं उड़ती वैसे ही तुम्हारे हृदय
संसार न रहेगा। हे रामजी! यह जगत् जो तुमको भासता है
अकारणरूप है, इसका कारण कोई नहीं। हे रामजी! जिसका कारण
कोई न हो और भासे उसको जानिये कि भ्रममात्र है—उपजा कुछ नहीं।
जैसे स्वप्न में सृष्टि भासती है वह किसी कारण से नहीं उपजी केवल
संवित्‌रूप है वैसे ही सर्ग आदि कारण से नहीं उपजा केवल आभास
रूप है—परमात्मा में कुछ नहीं। हे रामजी! जो पदार्थ कारण विना
भासे तो जिसमें वह भासता है वही वस्तु उसका अधिष्ठानरूप है।
जैसे तुमको स्वप्न में स्वप्न का नगर होकर भासता है पर वहाँ तो को
पदार्थ नहीं केवल आभासरूप है और संवित् ज्ञान ही चैतन्यता से
नगर होकर भासता है, वैसे ही विश्व अकारण आभास आत्मसत्ता

होके भासता है। जैसे जल में द्रवता; वायु में स्पन्द; जल में रस और तेज में प्रकाश है वैसे ही आत्मा में चित्तसंवेदन है। जब चित्तसंवेदन स्पन्दरूप होता है तब जगत्‌रूप होकर भासता है—जगत् कोई वस्तु नहीं है। हे रामजी! जैसे और तत्त्वों के अणु और ठौर भी पाये जाते हैं और आकाश के अणु और ठौर नहीं पाये जाते, क्योंकि आकाश शून्यरूप है वैसे ही आत्मा से इतर इस जगत् का भाव कहीं नहीं पाते, क्योंकि यह आभासरूप है और किसी कारण से नहीं उपजा। कदाचित् कहो कि पृथ्वी आदिक तत्त्वों से जगत् उपजा है तो ऐसे कहना भी असम्भव है। जैसे छाया से धूप नहीं उपजती वैसे ही तत्त्वों से जगत् नहीं उपजता, क्योंकि आदि आप ही नहीं उपजे तो कारण किसके हों ? इससे ब्रह्मसत्ता सर्वदा अपने आपमें स्थित है। हे रामजी! आत्मसत्ता जगत् का कारण नहीं, क्योंकि वह अभूत और अजड़रूप है सो भौतिक और जड़ का कारण कैसे हो ? जैसे धूप परछाहीं का कारण नहीं वैसे ही आत्मसत्ता जगत् का कारण नहीं। इससे जगत् कुछ हुआ नहीं वही सत्ता जगत्‌रूप होकर भासती है। जैसे स्वर्ण भूषणरूप होता है और भूषण कुछ उपजा नहीं वैसे ही ब्रह्मसत्ता जगत्‌रूप होकर भासती है। जैसे अनुभव संवित् स्वप्न नगररूप हो भासता है वैसे ही यह सृष्टि किञ्चनरूप है दूसरी वस्तु नहीं। ब्रह्मसत्ता सदा अपने आपमें स्थित है और जितना कुछ जगत् स्थावर जंगमरूप भासता है वह आकाशरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे परमार्थरूपवर्णनन्नाम
दशमस्सर्गः ॥ १० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! आत्मसत्ता नित्य, शुद्ध, अजर, अमर और सदा अपने आपमें स्थित है। उसमें जिस प्रकार सृष्टि उदय हुई है वह सुनिये। उसके जानने से जगत् कल्पना मिट जावेगी। हे रामजी! भाव-अभाव; ग्रहण-त्याग; स्थूल-सूक्ष्म; जन्म-मरण आदि पदार्थों से जीव छेदा जाता है उससे तुम मुक्त होगे। जैसे चूहे सुमेरु पर्वत को चूर्ण नहीं कर सकते वैसे ही तुमको संसार के भाव अभाव पदार्थ

चूर्ण न कर सकेंगे। हे रामजी! आदि शुद्ध देव अचेत चिन्मात्र है, उ
चैत्यभाव सदा रहता है, क्योंकि वह चैतन्यरूप है। जैसे वायु में स्प
शक्ति सदा रहती है वैसे ही चिन्मात्र में चैत्य का फुरना रहकर “अह
स्मि” भाव को प्राप्त हुआ है। इस कारण उसका नाम चैतन्य है।
रामजी ! जब तक चैतन्य–संवित् अपने स्वरूप के ठौर नहीं आता
तक इसका नाम जीव है और सङ्कल्प का नाम बीज चित्-संवित्
उसी से सर्वभूतजाति उत्पन्न हुई है। इससे सबका जीव चित्-सं
है। जब जीव संवित् चैत्य को चेतता है तब प्रथम शून्य होकर उस
शब्दगुण होता है। उस आदि शब्दतन्मात्रा से पद, वाक्य और प्रमा
सहित वेद उत्पन्न हुए। जितना कुछ जगत् में शब्द है उसका बी
तन्मात्रा है। जिससे वायु स्पर्श होता है। फिर रूपतन्मात्रा हुई, उस
सूर्य, अग्नि आदि प्रकाश हुए। फिर रसतन्मात्रा हुई जिससे जल हु
और सब जलों का बीज वही है। फिर गन्ध तन्मात्रा हुई जिससे संपू
पृथ्वी हुई और सब पृथ्वी का बीज वही है। हे रामजी ! इसी प्रक
पाँचों भूत हुए हैं फिर पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश से जग
हुआ है सो भूत पञ्चीकृत और अपञ्चीकृत है। यह भूत शुद्ध चिदाका
रूप नहीं, क्योंकि सङ्कल्प मैलयुक्त हुए हैं। इस प्रकार चिद्अणु
सृष्टि भासी है। जैसे वटबीज में से वट का विस्तार होता है वैसे
चिद्अणु में सृष्टि है। कहीं क्षण में युग और कहीं युग में क्षण भास
है। चिद्अणु में अनन्त सृष्टि फुरती हैं। जब चित्-संवित् चैत्योन्मु
होता है तब अनेक सृष्टि होकर भासती हैं और जब चित्-संवित् आत्म
की ओर आता है तब आत्मा के साक्षात्कार होने से सब सृष्टि पिण्डा
कार होती है अर्थात् सब आत्मरूप होती है। इससे इस जगत् के बी
सूक्ष्मभूत हैं और इनका बीज चिद्अणु है। हे रामजी ! जैसा बी
होता है वैसा ही वृक्ष होता है। इससे सब जगत् चिदाकाशरूप है
संकल्प से यह जगत् आडम्बर होता है और संकल्प के मिटे से सब चिदा
काश होता है। जैसे संकल्प आकाशरूप है वैसे ही जगत् भी आका
रूप है; आत्मा अनुभव आकाशरूप है जिससे क्षण में अनेक

होते हैं। जैसे संकल्पनगर और स्वप्नपुर होता है वैसे ही यह जगत् है। हे रामजी ! इस जगत् का मूल पञ्चभूत है जिसका बीज संवित् और स्वरूप चिदाकाश है। इसी से सब जगत् चिदाकाश है, द्वैत और कुछ नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे जगदुत्पत्तिवर्णनन्ना-
मैकादशस्सर्गः ॥ ११ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! परब्रह्म सम, शान्त, स्वच्छ, अनन्त, चिन्मात्र और सर्वदाकाल अपने आपमें स्थित है। उसमें सम–असम-रूप जगत् उत्पन्न हुआ है। सम अर्थात् सजातीयरूप और असम अर्थात् भेदरूप कैसे हुए सो भी सुनिये। प्रथम तो उसमें चैत्य का फुरना हुआ है; उसका नाम जीव हुआ और उसने दृश्य को चेता उससे तन्मात्र, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध उपजे। उन्हीं से पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश पञ्चभूतरूपी वृक्ष हुआ और उस वृक्ष में ब्रह्माण्डरूपी फल लगा। इससे जगत् का कारण पञ्च-तन्मात्रा हुई हैं और तन्मात्रा का बीज आदि संवित् आकाश है और इसी से सर्व जगत् ब्रह्मरूप हुआ। हे रामजी ! जैसा बीज होता है वैसा ही फल होता है। इसका बीज परब्रह्म है तो यह भी परब्रह्म हुआ। जो आदि अचेत चिन्मात्र स्वरूप परमाकाश है और जिस चैतन्य संवित् में जगत् भासता है वह जीवाकाश है। वह भी शुद्ध निर्मल है, क्योंकि वह पृथ्वी आदि भूतों से रहित है। हे रामजी! यह जगत् जो तुमको भासता है सो सब चिदाकाशरूप है और वास्तव में द्वैत कुछ नहीं बना। यह मैंने तुमसे ब्रह्माकाश और जीवाकाश कहा। अब जिससे इसको शरीर ग्रहण हुआ सो सुनिये। हे रामजी ! शुद्ध चिन्मात्र में जो चैत्योन्मुखत्व “अहं अस्मि” हुआ और उस अहंभाव से आपको जीव अणु जानने लगा। अपना वास्तव स्वरूप अन्य भाव की नाईं होकर जीव अणु में जो अहंभाव दृढ़ हुआ उसी का नाम अहंकार हुआ। उस अहंकार की दृढ़ता से निश्चयात्मक बुद्धि हुई और उससे सङ्कल्परूपी मन हुआ। जब मन इसकी ओर संसरने लगा तब सुनने की इच्छा की इससे श्रवण इन्द्रिय प्रकट हुई; जब रूप देखने की इच्छा

की तब चक्षु इन्द्रिय प्रकट हुई; जब स्पर्श की इच्छा की तो
इन्द्रिय प्रकट हुई और जब रस लेने की इच्छा की तो जिह्वा
प्रकट हुई। इसी प्रकार से देह इन्द्रियाँ चेतता से भासीं और उनमें
जीव अहंप्रतीति करने लगा। हे रामजी! जैसे दर्पण में पर्वत
प्रतिबिम्ब होता है वह पर्वत से बाह्य है वैसे ही देह और इन्द्रियाँ
श्य हैं पर अपने में भासी हैं इससे उनमें अहंप्रतीति होती है।
कूप में मनुष्य आपको देखे वैसे ही देह में आपको देखता है जैसे
रत्न होता है वैसे ही देह में आपको देखता है। वही चिद्‌अणु
साथ मिलकर दृश्य को रचता है। उस अहं से ही क्रिया भासने
जैसे स्वप्न में दौड़े और जैसे स्थित में स्पन्द होती है वैसे ही आत्मा
जो स्पन्दक्रिया हुई वह चित्त-संवित् से ही हुई है और उसी का
स्वयम्भू ब्रह्मा हुआ। जैसे संकल्प से दूसरा चन्द्रमा भासता है वैसे
मनोमय जगत् भासता है। जैसे शश के शृङ्ग होते हैं वैसे ही यह
है। कुछ उपजा नहीं केवल चित्त के स्पन्द में जगत् फुरता है।
जैसे चित्त फुरता गया वैसे-वैसे देश, काल, द्रव्य, स्थावर, जङ्गम,
की मर्यादा हुई। इससे सब जगत् संकल्परूप है, संकल्प से इतर
का आकार कुछ नहीं। जब संकल्प फुरता है तब आगे जगत्
भासता है और जब संकल्प निस्पन्द होता है तब दृश्य का अभाव
है। हे रामजी! इस प्रकार से यह ब्रह्मा निर्वाण हो फिर और उपजते
इससे सब संकल्पमात्र ही हैं। जैसे नटवा नाना प्रकार के पट के
करके बाहर निकल आता है वैसे ही देखो यह सब मायामात्र है।
रामजी! जब चित्त की ओर संसरता है तब दृश्य का अन्त नहीं
और जब अन्तर्मुख होता है तब सब जगत् आत्मरूप होता है।
के निस्पन्द होने से एक क्षण में जगत् निवृत्त होता है, क्योंकि संक
रूप ही है। इससे यह जगत् आकाशरूप है उपजा कुछ नहीं
आत्मसत्ता ज्यों की त्यों अपने आप में स्थित है। जैसे स्वप्न में
और नदियाँ भ्रम से दीखते हैं वैसे ही यह जगत् भी भ्रम से भासता
जैसे स्वप्न में आपको मुआ देखता है सो भ्रममात्र है वैसे ही यह

भ्रममात्र है। हे रामजी! यह स्थावर, जङ्गम जगत् सब चिदाकाश है। हमको तो सदा चिदाकाश ही भासता है। आदि विराट्‌रूप में ब्रह्मा भी वास्तव में कुछ उपजे नहीं तो जगत् कैसे उपजा। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार के देश काल और व्यवहार दृष्टि आते हैं सो अकारणरूप हैं, उपजे कुछ नहीं और आभासमात्र हैं, वैसे ही यह जगत् आभासमात्र है। कार्य-कारण भासते हैं तो भी अकारण है। हे रामजी! हमको जगत् ऐसा भासता है जैसे स्वप्न से जागे मनुष्य को भासता है। जो वस्तु अकारण भासी है सो भ्रान्तिमात्र है। जो किसी कारण द्वारा जगत् नहीं उपजा तो स्वप्नवत् है। जैसे संकल्पपुर और गन्धर्वनगर भासते हैं वैसे ही यह जगत् भी जानो। आदि विराट् आत्मा अन्तवाहकरूप है और वह पृथ्वी आदि तत्त्वों से रहित आकाशरूप है तो यह जगत् आधिभौतिक कैसे हो। सब आकाशरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे स्वयम्भूउत्पत्तिवर्णनन्नाम
द्वादशस्सर्गः ॥ १२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह दृश्य मिथ्या असत्‌रूप है। जो है सो निरामय ब्रह्म है। वह ब्रह्माकाश ही जीव की नाईं हुआ है। जैसे समुद्र द्रवता से तरङ्गरूप होता है वैसे ही ब्रह्म जीवरूप होता है। आदिसंवित् स्पन्दरूप ब्रह्मा हुआ है और उस ब्रह्मा से आगे जीव हुए हैं। जैसे एक दीपक से बहुत दीपक होते हैं और जैसे एक संकल्प से बहुत संकल्प होते हैं वैसे ही एक आदिजीव से बहुत जीव हुए हैं। जैसे थम्भे में शिल्पी पुतलियाँ कल्पता है पर वह पुतलियाँ शिल्पी के मन में होती हैं, थम्भा ज्यों का त्यों ही स्थित है वैसे ही सब पदार्थ आत्मा में मन कल्पै है, वास्तव में आत्मा ज्यों का त्यों ब्रह्म है। उन पुतलियों में बड़ी पुतली ब्रह्म है और छोटी पुतली जीव है। जैसे वास्तव में थम्भा है, पुतली कोई नहीं उपजी; वैसे ही वास्तव में आत्मसत्ता है जगत् कुछ उपजा नहीं; संकल्प से भासता है और संकल्प के मिटने से जगत्कल्पना मिट जाती है। इतना सुन रामजी ने पूछा, हे भगवन्! एक जीव से जो बहुत जीव हुए हैं तो क्या वे पर्वत में पाषाण की नाईं उपजते हैं वा

कोई जीवों की खानि है ? जिससे इस प्रकार इतने जीव उत्पन्न आते हैं; अथवा मेघ की बूँदों वा अग्नि से विस्फुलिङ्गों की नाईं उप हैं सो कृपाकर कहिये ? और एक जीव कौन है जिससे सम्पूर्ण ज उपजते हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! न एक जीव है और न अने हैं। तेरे ये वचन ऐसे हैं जैसे कोई कहे कि मैंने शश के शृङ्ग उड़ते दे हैं। एक जीव भी तो नहीं उपजा मैं अनेक कैसे कहूँ ? शुद्ध अ अद्वैत आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। वह अनन्त आत्मा उसमें भेद की कोई कल्पना नहीं है। हे रामजी ! जो कुछ जगत् तुम भासता है सो सब आकाशरूप है कोई पदार्थ उपजा नहीं, केव संकल्प के फुरने ही से जगत् भासता है। जीवशब्द और उसका अ आत्मा में कोई नहीं उपजा, यह कल्पना भ्रम से भासती है। आत्म सत्ता ही जगत् की नाईं भासती है, उसमें न एक जीव है और न अने जीव हैं। हे रामजी ! आदि विराट् आत्मा आकाशरूप है, उससे जग उपजा है। मैं तुमको क्या कहूँ ? जगत् विराट्रूप है, विराट् जीव है और जीव आकाशरूप है, फिर और जगत् क्या रहा और जी क्या हुआ ? सब चिदाकाशरूप है। ये जितने जीव भासते हैं वे स ब्रह्मस्वरूप हैं, द्वैत कुछ नहीं और न इनमें कुछ भेद है। रामजी पूछा, हे मुनीश्वर ! आप कहते हैं कि आदि जीव कोई नहीं तो इ जीवों का पालनेवाला कौन है ? वह नियामक कौन है जिसकी आ में ये विचरते हैं ? जो कोई हुआ ही नहीं तो ये सर्वज्ञ और अल्प क्योंकर होते हैं और एक में कैसे हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी जिसको तुम आदि जीव कहते हो वह ब्रह्मरूप है। वह नित्य, शुद्ध और अनन्त शक्तिमान् अपने आपमें स्थित है उसमें जगत् कल्पना कोई नहीं। हे रामजी ! जो शुद्ध चिदाकाश अनन्तशक्ति में आदि चि किञ्चन हुआ है वही शुद्ध चिदाकाश ब्रह्मसत्ता जीव की नाईं भासने लगी है। स्पन्दद्वारा हुए की नाईं भासती है। पर अपने स्वरूप से इत कुछ हुआ नहीं। चैतन्य-संवित् आदि स्पन्द से (विराट्) ब्रह्मारूप होकर स्थित हुआ है और उसने संकल्प करके जगत् रचा है। उसी ने

शुभ अशुभ कर्म रचे हैं और उसी ने नीति रची है—अर्थात् यह शुभ है और यह अशुभ है; वही आदि नीति महाप्रलय पर्यन्त ज्यों की त्यों चली जाती है। हे रामजी ! वह अनन्त शक्तिमान् देव जिससे आदि फुरना हुआ है वैसे ही स्थित है। जो आदि शक्ति फुरी है वह वैसे ही है—जो अल्पज्ञ फुरा है सो अल्पज्ञ ही है। हे रामजी ! संसार के पदार्थों में नीतिशक्ति प्रधान है, उसके लँघने को कोई भी समर्थ नहीं है। जैसे रची है वैसे ही महाप्रलय पर्यन्त रहती है। हे रामजी ! आदि-नित्य-विराट्पुरुष अन्तवाहकरूप पृथ्वी आदि तत्त्वों से रहित है और यह जगत् भी अन्तवाहकरूप पृथ्वी आदि तत्त्वों से नहीं उपजा—सब संकल्परूप है। जैसे मनोराज का नगर शून्य होता है वैसे ही यह जगत् शून्य है। हे रामजी ! इस सर्ग का निमित्त कारण और समवाय कारण कोई नहीं। जो पदार्थ निमित्त कारण और समवाय कारण विना दृष्टि आवे उसे भ्रममात्र जानिये, वह उपजा नहीं। जो पदार्थ उपजता है वह इन्हीं दोनों कारणों से उपजता है, पर वह जगत् का कारण इनमें से कोई नहीं। ब्रह्मसत्ता नित्य, शुद्ध और अद्वैत सत्ता है उसमें कार्य कारण की कल्पना कैसे हो ? हे रामजी ! यह जगत् अकारण है केवल भ्रान्ति से भासता है। जब तुमको आत्मविचार उपजेगा तब दृश्य भ्रम मिट जावेगा। जैसे दीपक हाथ में लेकर अन्धकार को देखिये तो कुछ दृष्टि नहीं आता वैसे ही जो विचार करके देखोगे तो जगत् भ्रम मिट जावेगा। जगत् भ्रम मन के फुरने से ही उदय हुआ है, इससे संकल्पमात्र है। इसका अधिष्ठान ब्रह्म है, सब नामरूप उस ब्रह्मसत्ता में कल्पित हैं और षट्विकार भी उसी ब्रह्मसत्ता में फुरे हैं पर सबसे रहित और शुद्ध चिदाकाशरूप है और जगत् भी वही रूप है। जैसे समुद्र में द्रवता से तरङ्ग, बुद्बुदे और फेन भासते हैं वैसे ही आत्मसत्ता में चित्त के फुरने से जगत् भासता है। जैसे आदि चित्त में पदार्थसत्ता दृढ़ हुई है, वैसे ही स्थित है और आत्मा के साथ अभेद है, इतर कुछ नहीं, सब चिदाकाश है। इच्छा, देवता, समुद्र, पर्वत ये सब आकाशरूप हैं। हे रामजी ! हमको सदा चिदाकाशरूप ही भासता है

और आत्मसत्ता ही मन, बुद्धि, पर्वत, कन्दरा, सब जगत् होकर भास है। जब चैत्योन्मुखत्व होता है तब जगत् भासता है। जैसे वायु स्पन् रूप होती है तो भासती है और निस्पन्दरूप होती है तो नहीं भास वैसे ही जब चित्तसंवेदन स्पन्दरूप होता है तो जगत् भासता है औ जब चित्तसंवेदन स्फुरणरूप होता है तो जगत् कल्पना मिट जाती है हे रामजी! चिन्मात्र में जो चैत्यभाव हुआ है इसी का नाम जगत् जब चैत्य से रहित हुआ तो जगत् मिट जाता है। जब जगत् ही रहा तो भेदकल्पना कहाँ रही? इससे न कोई कार्य है, न कारण और न जगत् है—सब भ्रममात्र कल्पना है। शुद्ध चिन्मात्र अपने आ में स्थित है। हे रामजी! शुद्ध चिन्मात्र में चित्त सदा किञ्चन रहता है। जैसे मिरचों के बीज में तीक्ष्णता सदा रहती है, परन्तु जब को खाता है तब तीक्ष्णता भासती है, अन्यथा नहीं भासती, वैसे ही ज चित्त संवेदन चैत्योन्मुखत्व होता है तब जीव को जगत् भासता है औ संवेदन से रहित जीव को जगत्‌कल्पना नहीं भासती। हे रामजी जब संवेदन के साथ परिच्छिन्न संकल्प मिलता है तब जीव होता और जब इससे रहित होता है तो शुद्धचिदात्मा ब्रह्म होता है। जिस पुरुष की सब कल्पना मिट गई हैं और जिसको शुद्ध निर्विकार ब्रह्मसत्ता का साक्षात्कार हुआ है वह पुरुष संसारभ्रम से मुक्त हुआ है। हे रामजी! यह सब जगत् आत्मा का आभासरूप है। वह आत्मा अछेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, नित्य, शुद्ध, सर्वगत स्थाणु की नाईं अचल है अतः सब जगत् चिदाकाशरूप है। हमको तो सदा ऐसे ही भासता है पर अज्ञानी वाद विवाद किया करते हैं। हमको वाद विवाद कोई नहीं, क्योंकि हमारा सब भ्रम नष्ट हो गया है। हे रामजी! यह सब जगत् ब्रह्मरूप है और द्वैत कुछ नहीं। जिसको यह निश्चय हो गया है उसको सब अङ्ग अपना स्वरूप ही है तो निराकार और निर्वपुसत्ता के अंग अपना स्वरूप क्यों न हों। यह सब प्रपञ्च चिदाकाशरूप है परन्तु अज्ञानी को भिन्न भिन्न और जन्म मरण आदि विकार भासते हैं और ज्ञानवान् को सब आत्मरूप ही भासते हैं। पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश सब आत्मा के आश्रय फुरते

हैं और चित्तशक्ति ही ऐसे होकर भासती है। जैसे वसन्तऋतु आती है तो रसाशक्ति से वृक्ष और बेलें सब प्रफुल्लित होकर भासती हैं वैसे ही चित्तशक्ति की स्पन्दता ही जगत्‌रूप होकर भासती है। हे रामजी! जैसे वायु स्पन्दता से भासती है वैसे ही जगत् फुरने से भासता है वैसे ही चित्तसंवित् जगत्‌रूप होकर भासता है फुरने से ही जगत् है और कोई वस्तु नहीं है, इसी से जगत् कुछ नहीं है। जैसे समुद्र तरङ्गरूप हो भासता है, वैसे ही आत्मा जगत्‌रूप हो भासता है। इससे जगत्‌दृश्यभाव जे भासता है पर संवित् से कुछ नहीं। वायु जड़ है और आत्मा चैतन्य है और जल भी परिणाम से तरङ्गरूप होता है, आत्मा अच्युत और निराकार है। हे रामजी! चैतन्यरूप रत्न है और जगत् उसका चमत्कार है अथवा चैतन्यरूपी अग्नि में जगत्‌रूपी उष्णता है। हे रामजी! चैतन्य प्रकाश ही भौतिक प्रकाशरूप होकर भासता है, इससे जगत् है, और वास्तव से नहीं। चैतन्य सत्ता ही शून्य आकाशरूप होकर भासती है। इस भाव से जगत् है वास्तव नहीं हुआ। इससे जगत् कुछ नहीं चेतनसत्ता ही पृथ्वीरूप होकर भासती है, दृष्टि में आता है इससे जगत् है पर आत्मसत्ता से इतर कुछ नहीं हुआ। चैतन्य रूप घन अन्धकार में जगत्‌रूपी कृष्णता है, अथवा चैतन्यरूपी काजल का पहाड़ है और जगत्‌रूपी उसका प्रमाणु भ्रम है और चैतन्यरूपी सूर्य में जगत्‌रूपी दिन है, आत्मरूपी समुद्र में जगत्‌रूपी तरङ्ग है, आत्मरूपी कुसुम में जगत्‌रूपी सुगन्ध है, आत्मरूपी बरफ में शुक्लता और शीतलतारूपी जगत् है, आत्मरूपी बेलि में जगत्‌रूपी फूल है, आत्मरूपी स्वर्ण में जगत्‌रूपी भूषण है, आत्मरूपी पर्वत में जगत्‌रूपी जड़ सघनता है, आत्मरूपी अग्नि में जगत्‌रूपी प्रकाश है, आत्मरूपी आकाश में जगत्‌रूपी शून्यता है, आत्मरूपी ईख में जगत्‌रूपी मधुरता है, आत्मरूपी दूध में जगत्‌रूपी घृत है, आत्मरूपी मधु में जगत्‌रूपी मधुरता है अथवा आत्मरूपी सूर्य में जगत्‌रूपी जलाभास है और नहीं है। हे रामजी! इस प्रकार देखो कि जो सर्व, ब्रह्म, नित्य, शुद्ध, परमानन्दस्वरूप है वह सर्वदा अपने आप में स्थित है—भेद कल्पना कोई नहीं।

जैसे जल द्रवता से तरङ्गरूप होके भासता है वैसे ही ब्रह्मसत्ता जगत् होके भासती है। न कोई उपजता है और न कोई नष्ट होता है। हे रामजी आदि जो चित्तशक्ति स्पन्दरूप है वह विराट्रूप ब्रह्मा वास्तव चिदाकाशरूप है, आत्मसत्ता से इतरभाव को नहीं प्राप्त हुआ। जै पत्र के ऊपर लकीरें होती हैं सो पत्र से भिन्न वस्तु नहीं पत्ररूप ही हैं वै ही ब्रह्म में जगत् है कुछ इतर नहीं है, बल्कि पत्र के ऊपर लकीरें आकार हैं पर ब्रह्म में जगत् कोई आकार नहीं। सब आकाशरूप म से फुरता है, जगत् कुछ हुआ नहीं। जैसे शिला में शिल्पी पुतलि कल्पता है वैसे ही आत्मा में मन ने जगत् कल्पना की है। वास्तव कुछ हुआ नहीं शिला वज्र की नाईं दृढ़ है और सब जगत् को धरि रहा है और आकाश की नाईं विस्ताररूप होकर शान्तरूप है। निदान हुआ कुछ नहीं जो कुछ है सो परब्रह्मरूप है और जो ब्रह्म ही है तो कल्पना कैसे हो? इतना कहकर वाल्मीकिजी बोले कि इस प्रकार जब मुनि शार्दूल वशिष्ठजी ने कहा तब सायंकाल का समय हुआ और सब सभ परस्पर नमस्कार करके अपने-अपने आश्रम को गई। फिर सूर्य की किरणों के निकलते ही सब अपने-अपने स्थानों पर आ बैठे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सर्वब्रह्मप्रति-
पादनन्नाम त्रयोदशस्सर्गः॥ १३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! आत्मा में कुछ उपजा नहीं भ्रम से भास रहा है। जैसे आकाश में भ्रम से तरुवरे और मुक्तमाला भासती हैं वै ही अज्ञान से आत्मा में जगत् भासता है। जैसे थम्भे की पुतलि शिल्पी के मन में भासती हैं कि इतनी पुतलियाँ इस थम्भे में हैं सो पुतलियाँ कोई नहीं, क्योंकि किसी कारण से नहीं उपजीं वैसे ही चेतनरूपी थम्भे में मनरूपी शिल्पी त्रिलोकीरूपी पुतलियाँ कल्पता है परन्तु किसी कारण से नहीं उपजीं—ब्रह्मसत्ता ज्यों की त्यों ही स्थित है जैसे सोमजल में त्रिकाल तरङ्गों का अभाव होता है इसी प्रकार जगत् का होना कुछ नहीं, चित्त के फुरने से ही जगत् भासता है। जैसे सूर्य की किरणें झरोखों में आती हैं और उसमें सूक्ष्म त्रसरेणु होते हैं उनसे भी

चिद्अणु सूक्ष्म हैं। जैसे त्रसरेणु से सुमेरु पर्वत स्थूल है वैसे ही चिद्अणु से त्रसरेणु स्थूल है। ऐसे सूक्ष्म चिद्अणु से यह जगत् फुरता है सो वह आकाशरूप है, कुछ उपजा नहीं, फुरने से भासता है। हे रामजी! आकाश, पर्वत, समुद्र, पृथ्वी आदि जो कुछ जगत् भासता है सो कुछ उपजा नहीं तो और पदार्थ कहाँ उपजे हों? निदान सब आकाशरूप हैं वास्तव में कुछ उपजा नहीं और जो कुछ अनुभव में होता है वह भी असत् है। जैसे स्वप्नसृष्टि अनुभव से होती है वह उपजी नहीं, असत्रूप है वैसे ही यह जगत् भी असत्रूप है। शुद्ध निर्विकार सत्ता अपने आप में स्थित है। उस सत्ता को त्याग करके जो अवयव अवयवी के विकल्प उठाते हैं उनको धिक्कार है। यह सब आकाशरूप है और आधिभौतिक जगत् जो भासता है सो गन्धर्वनगर और स्वप्नसृष्टिवत् है। हे रामजी! पर्वतों सहित जो यह जगत् भासता है सो रत्तीमात्र भी नहीं। जैसे स्वप्न के पर्वत जाग्रत् की रत्तीभर भी नहीं होते, क्योंकि कुछ हुए नहीं, वैसे ही यह जगत् आत्मरूप है और भ्रान्ति करके भासता है। जैसे संकल्प का मेघ सूक्ष्म होता है वैसे ही यह जगत् आत्मा में तुच्छ है। जैसे शशे के शृङ्ग असत् होते हैं वैसे ही यह जगत् असत् है और जैसे मृगतृष्णा की नदी असत् होती है वैसे ही यह जगत् असत् है। असम्यक् ज्ञान से ही भासती है और विचार करने से शान्त हो जाती है। जब शुद्ध चैतन्यसत्ता में चित्तसंवेदन होता है तब वही संवेदन जगत्रूप होकर भासता है परन्तु जगत् हुआ कुछ नहीं। जैसे समुद्र अपनी द्रवता के स्वभाव से तरङ्गरूप हो भासता है परन्तु तरङ्ग कुछ और वस्तु नहीं है जलरूप ही है वैसे ही ब्रह्मसत्ता जगत्रूप होकर फुरती है। सो जगत् कोई भिन्न पदार्थ नहीं है ब्रह्मसत्ता ही किञ्चन द्वारा ऐसे भासती है। जैसा बीज होता है वैसा ही अंकुर निकलता है, इसलिए जैसी आत्मसत्ता है वैसे ही जगत् है दूसरी वस्तु कोई नहीं आत्मसत्ता अपने आपमें ही स्थित है पर चित्तसंवेदन के स्पन्द से जगत्रूप होता है। हे रामजी! इसीपर मण्डप आख्यान तुमको सुनाता हूँ, वह श्रवण का भूषण है और उसके समझने से सब संशय मिट जावेंगे

और विश्राम प्राप्त होगा । इतना सुन रामजी बोले, हे भगवन् ! मेरे बो की वृद्धि के निमित्त मण्डपाख्यान जिस विधि से हुआ है सो संक्षे से कहो । वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस पृथ्वी में एक महातेजवा राजा पद्म हुआ था । वह लक्ष्मीवान्, सन्तानवान्, मर्यादा के धारनेवाला अतिसतोगुणी और दोषों का नाशकर्त्ता एवं प्रजापालक, शत्रुनाश और मित्रप्रिय था और सम्पूर्ण राजसी और सात्त्विकी गुणों से सम्प मानो कुल का भूषण था । लीला नाम उसकी स्त्री बहुत सुन्दरी औ पतिव्रता थी । मानो लक्ष्मी ने अवतार लिया था । उसके साथ राजा कभी बाग़ों और तालों और कभी कदम्बवृक्षों और कल्पवृक्षों में जाया करता था, कभी सुन्दर सुन्दर स्थानों में जाके क्रीड़ा करता था; कभी बरफ का मन्दिर बनवाके उसमें रहता था और कभी रत्नमणि के जड़े हुए स्थानों में शय्या बिछवाके विश्राम करता था । निदान इसी प्रकार दोनों दूर और निकट के ठाकुरद्वारों और तीर्थों में जाके क्रीड़ा करते और राजसी और सात्त्विकी स्थानों में बिचरते थे । वे दोनों परस्पर श्लोक भी बनाते थे एक पद कहे दूसरा उसको श्लोक करके उत्तर दे और श्लोक भी ऐसे पढ़ें कि पढ़ने में तो संस्कृत परन्तु समझने में सुगम हो । इसी प्रकार दोनों का परस्पर अति स्नेह था । एक समय रानी ने विचार किया कि राजा मुझको अपने प्राणों की नाईं प्यारे और बहुत सुन्दर हैं इसलिये कोई ऐसा यत्न, यज्ञ वा तप-दान करूँ कि किसी प्रकार इसकी सदा युवावस्था रहे और अजर अमर हो इसका और मेरा कदाचित् वियोग न हो । ऐसा विचार कर उसने ब्राह्मणों, ऋषीश्वरों और मुनीश्वरों से पूछा कि हे विप्रो ! नर किस प्रकार अजर-अमर होता है ? जिस प्रकार होता हो सो हमसे कहो ? विप्र बोले, हे देवि ! जप, तप आदि से सिद्धता प्राप्त होती है परन्तु अमर नहीं होता।सब जगत् नाशरूप है इस शरीर से कोई स्थिर नहीं रहता । हे रामजी ! इस प्रकार ब्राह्मणों से सुन और भर्त्ता के वियोग से डरकर रानी विचार करने लगी कि भर्त्ता से मैं प्रथम मरूँ तो मेरे बड़े भाग हों और सुखवान् होऊं और जो यह प्रथम मृतक हो तो वही उपाय करूँ जिससे राजा का जीव मेरे अन्तःपुर में ही रहे

बाह्य न जावे—और मैं दर्शन करती रहूँ । इससे मैं सरस्वती की सेवा करूँ । हे रामजी! ऐसा विचार कर शास्त्रानुसार तपरूप सरस्वती का पूजन करने लगी । निदान तीन रात्र और दिनपर्यन्त निराहार रह चतुर्थदिन में व्रतपारण करे और देवतों, ब्राह्मणों, पण्डितों, गुरु और ज्ञानियों की पूजा करके स्नान, दान, तप, ध्यान नित्यप्रति कीर्त्तन करे पर जिस प्रकार आगे रहती थी उसी प्रकार रहे भर्त्ता को न जनावे । इसी प्रकार नेमसंयुक्त क्लेश से रहित तप करने लगी । जब तीन सौ दिन व्यतीत हुए तब प्रीतियुक्त हो सरस्वती की पूजा की और वागीश्वरी ने प्रसन्न होकर दर्शन दिया और कहा, हे पुत्रि ! तूने भर्त्ता के निमित्त निरन्तर तप किया है, इससे मैं प्रसन्न हुई, जो वर तुझे अभीष्ट हो सो माँग । लीला बोली, हे देवि ! तेरी जय हो ! मैं अनाथ तेरी शरण हूँ मेरी रक्षा करो । इस जन्म को जरारूपी अग्नि जो बहुत प्रकार से जलाती है उसके शान्त करने को तुम चन्द्रमा हो और हृदय के तम नाश करने को तुम सूर्य हो । हे माता ! मुझको दो वर दो—एक यह कि जब मेरा भर्त्ता मृतक हो तब उसका पुर्यष्टक बाह्य न जावे अन्तःपुर ही में रहे और दूसरा यह कि जब मेरी इच्छा तुम्हारे दर्शन की हो तब तुम दर्शन दो । सरस्वती ने कहा ऐसा ही होगा । हे रामजी ! ऐसा वरदान देकर, जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजके लीन होते हैं वैसे ही देवी अन्तर्धान होगई और लीला वरदान पाकर बहुत प्रसन्न हुई । कालरूपी चक्र में क्षणरूपी आरे लगे हुए हैं और उसकी तीनसौ साठ कीलें हैं वह चक्र वर्ष पर्यन्त फिरकर फिर उसी ठौर आता है । ऐसे कालचक्र के वेग से राजा पद्म रणभूमि में घायल होकर घर में आकर मृतक हो गया । पुर्यष्टक के निकलने से राजा का शरीर कुम्हिला गया और रानी उसके मरने से बहुत शोकवान् हुई । जैसे कमलिनी जल विना कुम्हिला जाती है वैसे ही उसके मुख की कान्ति दूर होगई और विलाप करने लगी । कभी ऊँचे स्वर से रुदन करे और कभी चुप रह जावे । जैसे चकवे के वियोग से चकवी शोकवान् होती है और जैसे सर्प की फुत्कार लगने से कोई मूर्च्छित होता है वैसे ही राजा के वियोग से लीला मूर्च्छित

होगई और व्याकुल होके प्राण त्यागने लगी। तब सरस्वतीजी ने द करके आकाशवाणी की कि हे सुन्दरि! तेरा भर्त्ता जो मृतक हुआ इसको तू सब ओर से फूलों से ढाँप कर रख, तुझको फिर भर्त्ता की प्रा होवेगी और यह फूल न कुम्हिलावेंगे। तेरे भर्त्ता की ऐसी अवस्था जैसे आकाश की निर्मल कान्ति है और वह तेरे ही मन्दिर में है कह गया नहीं। हे रामजी! इस प्रकार कृपा करके जब देवी ने वचन क तो जैसे जल विना मछली तड़पती हुई मेघ की वर्षा से कुछ शान्तिमा होती है वैसे ही लीला कुछ शान्तिमान् हुई। फिर जैसे धन हो औ कृपणता से धन का सुख न होवे वैसे ही वचनों से उसे कुछ शान्ति हुई और भर्त्ता के दर्शन विना जब पूर्ण शान्ति न हुई तब उसने ऊपर नीचे फूलों से भर्त्ता को ढाँपा और उसके पास आप शोकवान् होकर बैठी रुदन करने लगी। फिर देवी की आराधना की तो अर्द्धरात्रि के समय देवीजी आ प्राप्त हुई और कहा, हे सुन्दरि! तैंने मेरा स्मरण किस निमित्त किया है और तू शोक किस कारण करती है। यह तो स जगत् भ्रान्तिमात्र है। जैसे मृगतृष्णा की नदी होती है वैसे ही यह जगत् है। अहं त्वं इदं से ले आदिक जो जगत् भासता है सो सब कल्पनामात्र है और भ्रम करके भासता है। आत्मा में हुआ कुछ नहीं तुम किसका शोक करती हो। लीला बोली हे परमेश्वरि! मेरा भर्त्ता कहाँ स्थित है और उसने क्या रूप धारण किया है? उसको मुझे मिलाओ, उसके विना मैं अपना जीना नहीं देख सकती। देवी बोली, हे लीले! आकाश तीन हैं—एक भूताकाश, दूसरा चित्ताकाश और तीसरा चिदाकाश। भूताकाश चित्ताकाश के आश्रय है और चित्ताकाश चिदाकाश के आश्रय है तेरा भर्त्ता अब भूताकाश को त्यागकर चित्ता काश को गया है। चित्ताकाश चिदाकाश के आश्रय स्थित है इससे जब तू चिदाकाश में स्थित होगी तब सब ब्रह्मांड तुझको भासेगा। सब उसी में प्रतिबिम्बित होते हैं वहाँ तुझको भर्त्ता का और जगत् का दर्शन होगा। हे लीले! देश से क्षण में संवित् देशान्तर को जाता है उसके मध्य जो अनुभव आकाश है वह चिदाकाश है। जब तू संकल्प को त्याग दे

तो उससे जो शेष रहेगा सो चिदाकाश है। हे लीले! यहाँ जो जीव बिचरते हैं सो पृथ्वी के आश्रय हैं और पृथ्वी आकाश के आश्रय है, इससे ये सब जीव जो बिचरते हैं सो भूताकाश के आश्रय बिचरते हैं और चित्त जिसके आश्रय से एक क्षण में देश देशान्तर भटकता है सो चिदाकाश है। हे लीले! जब दृश्य का अत्यन्त अभाव होता है तब परमपद की प्राप्ति होती है सो चिरकाल के अभ्यास से होती है और मेरा यह वर है कि तुझको शीघ्र ही प्राप्त हो। हे रामजी! जब इस प्रकार कहकर ईश्वरी अन्तर्धान हो गई तब लीला रानी निर्विकल्प समाधि में स्थित हुई और देह का अहङ्कार त्याग कर चित्त सहित पक्षी के समान अपने गृह से उड़कर एक क्षण में आकाश को पहुँची जो नित्य शुद्ध, अनन्त, आत्मा, परमशान्तिरूप और सबका अधिष्ठान है उसमें जाकर भर्त्ता को देखा। रानी स्पन्दकल्पना ले गई थी उससे अपने भर्त्ता को वहाँ देखा और बहुत मण्डलेश्वर भी सिंहासनों पर बैठे देखे। एक बड़े सिंहासन पर बैठे अपने भर्त्ता को भी देखा जिसके चारों ओर जय जय शब्द होता था। उसने वहाँ बड़े सुन्दर मन्दिर देखे और देखा कि राजा के पूर्व दिशा में अनेक ब्राह्मण, ऋषीश्वर और मुनीश्वर बैठे हैं और बड़ी ध्वनि से पाठ करते हैं। दक्षिणदिशा में अनेक सुन्दरी स्त्रियाँ नाना प्रकार के भूषणों सहित बैठी हुई हैं। उत्तरदिशा में हस्ती, घोड़े, रथ, प्यादे और चारों प्रकार की अनन्त सेना देखी और पश्चिम में मण्डलेश्वर देखे। चारों दिशा में मण्डलेश्वर आदि उस जीव के आश्रय विराजते देखके आश्चर्य में हुई। फिर नगर और प्रजा देखी कि सब अपने व्यवहार में स्थित हैं और राजा की सभा में जा बैठी पर रानी सबको देखती थी और रानी को कोई न देखता था। जैसे और के संकल्पपुर को और नहीं देख सकता वैसे ही रानी को कोई देख न सके। तब रानी ने उसका अन्तःपुर देखा जहाँ ठाकुरद्वारे बने हुए देवताओं की पूजा होती थी। वहाँ की गन्ध, धूप और पवन त्रिलोकी को मग्न करती थी और राजा का यश चन्द्रमा की नाईं प्रकाशित था। इतने में पूर्वदिशा से हरकारे ने आके कहा कि हे राजन्! पूर्व दिशा में और किसी राजा का क्षोभ हुआ। फिर उत्तर दिशा से हर-

कारे ने आ कहा कि हे राजन् ! उत्तर दिशा में और राजा का क्षोभ हु
है और तुम्हारे मण्डलेश्वर युद्ध करते हैं। इसी प्रकार दक्षिण दिशा
ओर से भी हरकारा आया और उसने भी कहा कि और राजा का
हुआ है और पश्चिम दिशा से हरकारा आया उसने कहा कि प
दिशा में भी क्षोभ हुआ है। एक और हरकारा आया उसने कहा
सुमेरु पर्वत पर जो देवतों और सिद्धों के रहने के स्थान हैं वहाँ
हुआ है और अस्ताचल पर्वत क्षोभ हुआ है। तब जैसे बड़े मेघ
वैसे ही राजा की आज्ञा से बहुत सी सेना आई। रानी ने बहुत से म
नन्द आदिक टहलुये, ऋषीश्वर और मुनीश्वर वहाँ देखे। जितने
थे वे सब सुन्दर और वर्षा से रहित श्वेतबादरों की नाईं श्वेतवस्त्र
देखे और बड़े वेदपाठी ब्राह्मण देखे जिनके शब्द से नगारे के शब्द
सूक्ष्म भासते थे। हे रामजी ! इस प्रकार ऋषीश्वर, मन्त्री, टहलुये
बालक उसमें देखे, सो पूर्व और अपूर्व दोनों देखती भई और आश्च
वान् हो चित्त में यह शङ्का उपजी कि मेरा भर्त्ता ही मुआ है वा
नगर मृतक हुआ है जो ये सब परलोक में आये हैं। तब क्या
कि मध्याह्न का सूर्य शीश पर उदित है और राजा सुन्दर षोड़श
का प्रथम की जरावस्था को त्याग कर नूतन शरीर को धारे बैठा
ऐसे आश्चर्य को देख के रानी फिर अपने गृह में आई। उस
आधीरात्रि का समय था अपनी सहेलियों को सोई हुई देख जगाया
कहा जिस सिंहासन पर मेरा भर्त्ता बैठता था उसको साफ़ करो
उसके ऊपर बैठूँगी और जिस प्रकार उसके निकट मन्त्री और
आन बैठते थे उसी प्रकार आवें। इतना सुनकर सहेलियों ने जा
मन्त्री से कहा और मन्त्री ने सबको जगाय और सिंहासन झड़वा
मेघ की नाईं जल की वर्षा की। सिंहासन पर और उसके आस
वस्त्र बिछाये और मशालें जलाकर बड़ा प्रकाश किया। जैसे अगस्त्यमु
ने समुद्र को पान किया था वैसे ही अन्धकार को प्रकाश ने जब पान
लिया तब मन्त्री, टहलुये, पण्डित, ऋषीश्वर, ज्ञानवान् जितने कुछ रा
के पास आते थे वे सब सिंहासन के निकट आकर बैठे और इतने

आये मानो प्रलयकाल में समुद्र का क्षोभ हुआ है और जल से पूर्ण प्रलय हुई सृष्टि मानो पुनः उत्पन्न हुई है। लीला इस प्रकार मन्त्री, टहलुये, पण्डित और बालकों को भर्त्ता विना देख बड़े आश्चर्य को प्राप्त हुई कि एक आदर्श को अन्तर बाहर दोनों ओर देखती है। इस प्रकार देखके हृदय की वार्त्ता किसी को न बताई और भीतर आकर कहने लगी कि बड़ा आश्चर्य है, ईश्वर की माया जानी नहीं जाती कि यह क्या है। इस प्रकार आश्चर्यमान होकर उसने सरस्वतीजी की आराधना की और सरस्वती कुमारी कन्या का रूप धरके आन प्राप्त हुई। तब लीला ने कहा, हे भगवति ! मैं बारम्बार पूछती हूँ तुम उद्वेगवान् न होना, बड़ों का यह स्वभाव होता है कि जो शिष्य बारम्बार पूछे तो भी खेदवान् नहीं होते। अब मैं पूछती हूँ कि यह जगत् क्या है और वह जगत् क्या है ? दोनों में कृत्रिम कौन है और अकृत्रिम कौन है ? देवी बोली, हे लीले ! तूने पूछा कि कृत्रिम कौन है और अकृत्रिम कौन है सो मैं पीछे तुझसे कहूँगी। लीला बोली, हे देवि ! जहाँ तुम हम बैठे हैं वह अकृत्रिम है और वह जो मेरे भर्त्ता का स्वर्ग है सो कृत्रिम है, क्योंकि सूर्यस्थान में वह सृष्टि हुई है। देवी बोली, हे लीले ! जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। जो कारण सत् होता है तो कार्य भी सत् होता है और सत् से असत् नहीं होता और असत् से सत् भी नहीं होता और न कारण से अन्य कार्य होता है। इससे जैसे यह जगत् है वैसा ही वह जगत् भी है। इतना सुन फिर लीला ने पूछा, हे देवि ! कारण से अन्य कार्यसत्ता होती है, क्योंकि मृत्तिका जल के उठाने में समर्थ नहीं और जब मृत्तिका का घट बनता है तब जल को उठाता है तो कारण से अन्य कार्य की भी सत्ता हुई। देवी बोली, हे लीले ! कारण से अन्य कार्य की सत्ता तब होती है जब सहायकारी भिन्न होता है। जहाँ सहायकारी नहीं होता वहाँ कारण से अन्य कार्य की सत्ता नहीं होती। तेरे भर्त्ता की सृष्टि भी कारण विना भासी है। उसका जीव पुर्यष्टक आकाशरूप था, वहाँ न कोई समवायकारण था, और न निमित्त कारण था इससे उसको कृत्रिम कैसे कहिये ? जो किसी

का किया हो तो कृत्रिम हो पर वह तो आकाशरूप पृथ्वी आदिक त से रहित है। जो समवाय कारण ही न हो तो उसका निमित्त कारण हो। इससे तेरे भर्त्ता का सर्ग अकारण है। लीला ने पूछा, हे दे उस सर्ग की जो संस्काररूप स्मृति है सो कारण क्यों न हो? देवी बो हे लीले! स्मृति तो कोई वस्तु नहीं है। स्मृति आकाशरूप है। स संकल्प का नाम है सो वह भी संकल्प आकाशरूप है और कोई व नहीं वह मनोराजरूप है इससे उसकी सत्ता भी कुछ नहीं है के आभासरूप है। लीला बोली, हे महेश्वरि! यदि वह संकल्पमात्र आका रूप है तो जहाँ हम तुम बैठे हैं वह भी वही है तो दोनों तुल्य है देवी बोली, हे लीले! जैसा तुम कहती हो वैसा ही है। अहं, त्वं, इ यह, वह सम्पूर्ण जगत् आकाशरूप है और भ्रान्तिमात्र भासता है। उप कुछ नहीं सब आकाशमात्र है और स्वरूप से इनका कुछ सद्भाव न होता। जो पदार्थ सत्य न हो उसकी स्मृति कैसे सत् हो? लीला बो हे देवि! अमूर्त्ति मेरा भर्त्ता था सो मूर्त्तिवत् हुआ और उसको ज भासने लगा सो कैसे भासा? उसका स्मृति कारण है वा किसी अ प्रकार से, यह मेरे दृश्यभ्रम निवृत्ति के निमित्त मुझको वही रूप कह देवी बोली, हे लीले! यह और वह सर्ग दोनों भ्रमरूप हैं। जो यह स हो तो इसकी स्मृति भी सत् हो पर यह जगत् असत्रूप है। जैसे य भ्रम तुमको भासा है सो सुनो। एक महाचिदाकाश है जिसका कि चिद्अणु है और उसके किसी अंश में जगत्रूपी वृक्ष है। सुमेरु उ वृक्ष का थम्भ है, सप्तलोक डाली हैं, आकाश शाखें हैं, सप्तसमुद्र उस रस है और तीनों लोक फल हैं। सिद्ध, गन्धर्व, देवता, मनुष्य अ दैत्यरूप मच्छर उसमें रहते हैं और तारागण उसके फूल हैं। उसी वृक्ष किसी छिद्र में एक देश है और उसमें एक पर्वत है जिसके नीचे ए नगर बसता है। वहाँ एक नदी का प्रवाह चलता है और वशिष्ठ ना एक ब्राह्मण जो बड़ा धार्मिक था वहाँ सदा अग्निहोत्र करता था। ध विद्या, पराक्रम और कर्मों में वशिष्ठजी ऋषीश्वरों के समान था पर ज्ञान में भेद था। जैसा खेचर वशिष्ठ का ज्ञान है वैसा भूचर वशिष्ठ क

ज्ञान न था। उसकी स्त्री का नाम अरुन्धती था। वह पतिव्रता और चन्द्रमा के समान सुन्दरी थी और उसी अरुन्धती के समान विद्या, कर्म, कान्ति, धन, चेष्टा और पराक्रम उसका भी था और चैतन्यता अर्थात् ज्ञान और सब लक्षण एक समान थे। वह आकाश की अरुन्धती थी और यह भूमि की अरुन्धती थी। एक काल में वशिष्ठ ब्राह्मण पर्वत के शिखर पर बैठा था। वह स्थान सुन्दर हरे तृणों से शोभायमान था। एक दिन एक अति सुन्दर राजा नाना प्रकार के भूषणों से भूषित परिवार सहित उस पर्वत के निकट शिकार खेलने के निमित्त चला जाता था। उसके शीश पर दिव्य चमर होता ऐसा शोभा देता था मानो चन्द्रमा की किरणें प्रसर रही हैं और शिर पर अनेक प्रकार के छत्रों की छाया मानो रूपे का आकाश विदित होता था। रत्नमणि के भूषण पहिरे हुए मण्डलेश्वर उसके साथ थे और हस्ती, घोड़े, रथ और पैदल चारों प्रकार की सेना जो आगे चली जाती थी उनकी धूलि बादल होकर स्थित हुई। निदान नौबत नगारे बजते हुए राजा की सवारी जाती देखके वशिष्ठ ब्राह्मण मन में चिन्तवन करने लगा कि राजा को बड़ा सुख प्राप्त होता है, क्योंकि सब सौभाग्य से राजा सम्पन्न होता है। इस प्रकार राज्य मुझको भी प्राप्त हो। तब तो वह यह इच्छा करने लगा कि मैं कब दिशाओं को जीतूँगा और मेरे यश से कब दशोंदिशा पूर्ण होंगी। ऐसे छत्र मेरे शिरपर कब ढुरेंगे और चारों प्रकार की सेना मेरे आगे कब चलेगी। सुन्दर मन्दिरों में सुन्दरी स्त्रियों के साथ मैं कब विलास करूँगा और मन्द मन्द शीतल पवन सुगन्धता के साथ कब स्पर्श होगा। हे लीले! जब इस प्रकार ब्राह्मण ने संकल्प को धारण किया और जो अपने स्वकर्म थे सो भी करता रहा कि इतने ही में उसको जरावस्था प्राप्त हुई। जैसे कमल के ऊपर बरफ पड़ता है तो कुम्हिला जाता है वैसे ही ब्राह्मण का शरीर कुम्हिला गया और मृत्यु का समय निकट आया। जब उसकी स्त्री भर्त्ता की मृत्यु निकट देखके कष्टवान् हुई तो उसने मेरी आराधना, जैसे तूने की है, की और भर्त्ता की अजर अमरता को दुर्लभ जानके मुझसे वर माँगा कि हे देवि! मुझको यह वर दे कि

जब मेरा भर्त्ता मृतक हो तब इसका जीव बाह्य न जावे। तब कहा ऐसा ही होगा। हे लीले! जब बहुत काल व्यतीत हुआ ब्राह्मण मृतक हुआ पर उसका जीव मन्दिर में ही रहा। जैसे मन्दि आकाश रहता है वैसे ही मन्दिर में रहा। हे लीले! जब वह आका रूप हो गया तब उसकी पुर्यष्टक में जो राजा का दृढ़ संकल्प था इसलि जैसे बीज से अंकुर निकल आता है वैसे ही वह संकल्प आन और उससे वह अपने को त्रिलोकी का राजा और परम-सौभाग्यसम्प देखने लगा कि दशों दिशा मेरे यश से पूर्ण हो रही हैं; मानो यश चन्द्रमा की यह पूर्णमासी है। जैसे प्रकाश अन्धकार को नाश कर है वैसे ही वह शत्रुरूपी अन्धकार का नाशकर्त्ता प्रकाश हुआ औ ब्राह्मणों के चरणों का सिंहासन हुआ अर्थात् ब्राह्मणों को बहुत पूज लगा। निदान अर्थियों को कल्पवृक्ष और स्त्रियों को कामदेव इत्यादि जो सात्त्विकी और राजसी गुण हैं उनसे सम्पन्न हुआ। पर उसकी उसको मृतक देख के बहुत शोकवान् हुई। जैसे जेठ आषाढ़ की म सूख जाती है वैसे ही वह सूख गई और शरीर को छोड़के अन्तवाह शरीर से अपने भर्त्ता को वैसे ही जा मिली जैसे नदी समुद्र को मिलती है और ब्राह्मण के पुत्र धनसंयुक्त अपने गृह में रहे। उस ब्राह्मण मृतक हुए अब आठ दिन हुए हैं कि वही वशिष्ठ ब्राह्मण तेरा भर्त्ता राजा पद्म हुआ। अरुन्धती उसकी स्त्री तू लीला हुई। जितना कुछ आकाश, पर्वत समुद्र, पृथ्वी और त्रिलोकी है सो वशिष्ठ ब्राह्मण के अन्तःपुर में एक कोने स्थित है। वहाँ तुमको आठ दिन व्यतीत हुए हैं और अभी सूतक भी नहीं गया पर यहाँ तुमने साठसहस्र वर्ष राज्य करके नाना प्रकार के सुन्दर भोग भोगे हैं। हे लीले! जिस प्रकार तूने जन्म लिया है सो मैंने सब कहा है। वह क्या है? सब भ्रममात्र है। जितना कुछ जगत् तुझको भासता है सो आभासमात्र है संकल्प से फुरता है वास्तव से कुछ नहीं है। हे लीले! जो यह जगत् सत् न हुआ तो इसकी स्मृति कैसे सत्य हो। तुम हम और सब उसी ब्राह्मण के मन्दिर में स्थित हैं। लीला बोली, हे देवि! तुम्हारे वचन को मैं असत् कैसे कहूँ? पर जो तुम कहती हो कि उस ब्राह्मण

का जीव अपने गृह में ही रहा; वहाँ हम तुम बैठे हैं और देश देशान्तर, पर्वत, समुद्र, लोक और लोकपालक सब जगत् उसी ही गृह में हैं तो वह उसमें समाते कैसे हैं? ये वचन तुम्हारे ऐसे हैं जैसे कोई कहे कि सरसों के दाने में उन्मत्त हाथी बाँधे हुए हैं; सिंहों के साथ मच्छर युद्ध करते हैं; कमल के डोड़े में सुमेरु पर्वत आया है; कमल पर बैठकर भ्रमर रस पान कर गया और स्वप्न में मेघ गर्जता है, चित्रामणि के मोर नाचते हैं और जाग्रत् की मूर्त्ति के ऊपर लिखा हुआ मोर मेघ को गर्जता देखके नृत्य करता है। जैसे ये सब असम्भव वार्त्ता हैं वैसे ही तुम्हारा कहना मुझको असम्भव भासता है। देवी बोली, हे लीले! यह मैंने तुझसे झूठ नहीं कहा। हमारा कहना कदाचित् असत् नहीं, क्योंकि यह आदि परमात्मा की नीति है कि महापुरुष असत् नहीं कहते। हम तो धर्म के प्रतिपादन करनेवाली हैं; जहाँ धर्म की हानि होती है वहाँ हम धर्म प्रतिपादन करती हैं और जो हम धर्म का प्रतिपादन न करें तो धर्म को और कैसे मानें। हे लीले! जैसे सोये हुए के स्वप्न में त्रिलोकी भास आती है सो अन्तःकरण में ही होती है और स्वप्न से जाग्रत् होती है वैसे ही मरना भी जान। जब जहाँ मृतक होता है वहीं जीव पुर्यष्टक आकाश रूप हो जाता है और फिर वासना के अनुसार उसको जगत् भासि आता है। जैसे स्वप्न में जगत् भास आता है वह क्या रूप है? आकाश रूप ही है वैसे ही इसको भी जान। हे लीले! यह सब जगत् तेरे उसी अन्तःपुर में है, क्योंकि जगत् चित्ताकाश में स्थित है। जैसे आदर्श में प्रतिबिम्ब होता है वैसे ही चित्त में जगत् है और आकाश रूप है, इससे जो चित्त अन्तःपुर में हुआ तो जगत् भी हुआ। हे लीले! यह जगत् जो तुझको भासता है सो आकाशरूप है। जैसे स्वप्न और संकल्पनगर और कथा के अर्थ भासते हैं वैसे ही यह जगत् भी है और जैसे मृगतृष्णा का जल भासता है वैसे ही यह जगत् भी जान। हे लीले! वास्तव में कोई पदार्थ उपजा नहीं भ्रम से सब भासते हैं। जैसे स्वप्न में स्वप्नान्तर फिर उससे और स्वप्ना दीखता है वैसे ही तुमको भी यह सृष्टि भ्रम से भासी है। हे लीले! यह जगत् आत्मरूप

है। जहाँ चिद्अणु है वहाँ जगत् भी है परन्तु क्या रूप है, आभास है। जैसे वह आकाशरूप है वैसे ही यह जगत् भी आकाशरूप है जिस प्रकार यह चेतता है उस प्रकार हो भासता है इससे संकल्पमात्र है जैसे स्वप्नपुर भासता है और जैसे संकल्पनगर होता है वैसे ही यह ज है। जैसे मरुस्थल की नदी के तरङ्ग भासते हैं वैसे ही यह जगत् भास है। इससे इसकी कल्पना त्याग दो। इतना सुन फिर लीला ने पू हे देवि! उस वशिष्ठ ब्राह्मण को मरे आठ दिन बीते हैं और हमको य साठ सहस्र वर्ष बीते हैं यह वार्त्ता कैसे सत् जानिये? थोड़े काल बड़ा काल कैसे हुआ? देवी बोली, हे लीले! जैसे थोड़े देश में ब देश आते हैं वैसे ही थोड़े काल में बहुत काल भी आता है। अहन्ता ममता आदिक जितना कुछ जगत् है सो आभासमात्र है उसे क्रम सुन। जब जीव मृतक होता है तब मूर्च्छा होती है और फिर मूर्च्छा चैतन्यता फुर आती है, उसमें यह भासता है कि यह आधार है त यह आधेय है; यह मेरा हाथ है; यह मेरा शरीर है; यह मेरा पिता है; इसक में पुत्र हूँ; अब इतने वर्ष का मैं हुआ; ये मेरे बान्धव हैं; इनके सा में स्नेह करता हूँ; यह मेरा गृह है और यह मेरा कुल चिरकाल क चला आता है। मरने के अनन्तर इतने क्रम को देखता है। हे लीले! जिस प्रकार वह देखता है वैसे ही यह भी जान। एक क्षण में और का और भासने लगता है। यह जगत् चैतन्य का किञ्चन है। जैसे चेतन संवित में चैत्यता होती है वैसे ही यह जगत् भी भासता है और जैसे स्वप्न में द्रष्टा, दर्शन, दृश्य तीनों भासते हैं वैसे ही आत्मसत्ता में यह जगत् किञ्चन होता है और भ्रम से भासता है, वास्तव में नानात्व कुछ हुआ नहीं। जैसे स्वप्न में कारण विना नाना प्रकार का जगत् भासता है वैसे ही पर- लोक में नाना प्रकार का जगत् कारण विना ही भासता है सो आकाश रूप है और मन के भ्रम से भासता है वैसे ही यह जगत् भी मन के भ्रम से भासता है। स्वप्न जगत्, परलोक जगत् और जाग्रत् जगत् में भेद कुछ नहीं। जैसे वह भ्रममात्र है वैसे ही यह भ्रममात्र है—वास्तव में कुछ उपजा नहीं। जैसे समुद्र में तरङ्ग कुछ वास्तव नहीं वैसे ही आत्मा

में जगत् कुछ वास्तव नहीं, असत् ही सत् की नाईं भासता है। किसी कारण से उपजा नहीं इस कारण अविनाशी है। हे लीले! जैसे चैत्योन्मुखत्व हुए चेतन आकाशरूप भासता है वैसे ही चैत्यता में चेतन आकाश है, क्योंकि कुछ हुआ नहीं। जैसे समुद्र में तरङ्ग होता है तो वह तरङ्ग कुछ जल से इतर है नहीं, जल ही है, वैसे ही आत्मा में जगत् कुछ इतर नहीं, बल्कि जल में तरङ्ग की नाईं भी आत्मा में जगत् नहीं। जैसे शश के शृङ्ग असत् हैं वैसे ही जगत् असत् है—कुछ उपजा नहीं। हे लीले! जब जीव मृतक होता है तब उसको देश, काल, क्रिया, उत्पत्ति, नाश, कुटुम्ब, शरीर, वर्ष आदिक नानारूप भासते हैं पर वे सब आभास रूप हैं। जिस प्रकार क्षण २ में इतने भास आते हैं वैसे ही कारण विना यह जगत् भासित है तो दृश्य और द्रष्टा भी कोई न हुआ। देश, काल, क्रिया, द्रव्य, इन्द्रियाँ, प्राण, मन और बुद्धि सब भ्रम से भासते हैं। आत्मा उपाधि से रहित आकाशरूप है और उसके प्रमाद से जगत्भ्रम उदय हुआ है। हे लीले! भ्रम में क्या नहीं होता? जैसे एक रात्रि में हरिश्चन्द्र को द्वादशवर्ष भ्रम से भासे थे वैसे ही यहाँ भी थोड़े काल में बहुत काल भासा है। दो अवस्था में और का और भासता है। स्वप्न में और का और भासता है और उन्मत्तता से भी और का और भासता है। अभोक्ता आपको भोक्ता मानता है और भ्रम से उत्साह और शोक को इकट्ठा देखता है। किसी को उत्साह होता है और स्वप्न में मृतकभाव शोक को देखता है। बिछुड़ा हुआ स्वप्न में मिला देखता है और जो मिला है सो आपको बिछुड़ा जानता है। काल और है। भ्रम करके और काल देखता है। इससे देखो यह सब भ्रमरूप है। जैसे भ्रम से यह भासता है, वैसे ही यह जगत् भी भ्रम से भासता है परन्तु ब्रह्म से इतर कुछ नहीं। इससे न बन्ध है और न मोक्ष है। जैसे मिरच में तीक्ष्णता है वैसे ही आत्मा में जगत् है। जैसे थम्भे में पुतलियाँ होती हैं वैसे ही आत्मा में जगत् है और जैसे थम्भे में पुतलियाँ कुछ हुई नहीं ज्यों का त्यों है और शिल्पी के मन में पुतलियाँ हैं वैसे ही ब्रह्म में जगत् है नहीं, पर मनरूपी शिल्पी ने जगत्रूपी पुतलियाँ कल्पी हैं। आत्मसत्ता

ज्यों की त्यों नित्य, शुद्ध, अज, अमर अपने आपमें स्थित है

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे मण्डपाख्याने परमार्थप्रतिपादन
नाम चतुर्दशस्सर्गः ॥ १४ ॥

देवी बोली, हे लीले ! जब जीव को मृत्यु से मूर्च्छा होती है त शीघ्र ही उसको फिर कुछ जन्म और देश, काल, क्रिया, द्रव्य और अपन परिवार आदि नाना प्रकार का जगत् भास आता है पर वास्तव में कु नहीं–स्मृति भी असत् है। एक स्मृति अनुभव से होती है और एक स्मृति अनुभव विना भी होती है पर दोनों स्मृति मिथ्या हैं। जैसे स्वप्न में अपना देह देखता है तो वह अनुभव असत् है, क्योंकि वह कुछ अपने मरने की स्मृति से नहीं भासा और उस मरण की स्मृति भी असत् है। स्वप्न में कोई पदार्थ देखा तो जाग्रत् में उसको स्मरण करना भी असत् है, क्योंकि वास्तव में कुछ हुआ नहीं। इससे यह जगत् अकारणरूप है और जो है सो चिदाकाश ब्रह्मरूप है। न कुछ विदूरथ की सृष्टि सत् है और न यह सृष्टि सत् है–सब संकल्पमात्र है। इतना सुन लीला ने पूछा, हे देवि ! जो यह सृष्टि भ्रममात्र है तो वह जो विदूरथ की सृष्टि है सो इस सृष्टि के संस्कार से हुई है और यह सृष्टि उस ब्राह्मण और ब्राह्मणी की स्मृति संस्कार से हुई है तो ब्राह्मण और ब्राह्मणी की सृष्टि किसकी स्मृति से हुई है। देवी बोली, हे लीले ! वह जो वशिष्ठ ब्राह्मण की सृष्टि है सो ब्राह्मण के संकल्प से हुई है और ब्राह्मण ब्रह्मा में फुरा है, परन्तु वास्तव में ब्रह्मा भी कुछ नहीं हुआ तो उसकी सृष्टि क्या कहूँ। यह जितनी कुछ सृष्टि है सो उसी ब्राह्मण के मन्दिर में है, वास्तव से कुछ हुई नहीं सब संकल्परूप है और मन के फुरने से भासती है। जैसे जैसे संकल्प फुरता है वैसे ही वैसे होकर भासता है। यह सृष्टि जो तेरे भर्त्ता को भासि आई है वह दृढ़ संकल्प से भासि आई है। थोड़े काल में बहुत भ्रम होकर भासता है। लीला ने पूछा, हे देवि ! जहाँ ब्राह्मण को मृतक हुए आठ दिन व्यतीत हुए हैं उस सृष्टि को हम किस प्रकार देखें ? देवी बोली, हे लीले ! जब तू योगाभ्यास करे तब देखे। अभ्यास विना देखने की सामर्थ्य न होगी, क्योंकि वह सृष्टि चिदाकाश में

फुरती है। जब तू चिदाकाश में अभ्यास करके प्राप्त होगी तब तुझ को सब सृष्टि भासि आवेगी। वह जो सृष्टि है सो और के संकल्प में है जब उसके संकल्प में प्रवेश करे तो उसकी सृष्टि भासे, अन्यथा नहीं भासती। जैसे एक के स्वप्न को दूसरा नहीं जान सकता वैसे ही और की सृष्टि नहीं भासती। जब तू अन्तवाहकरूप हो तब वह सृष्टि देखे। जब तक आधिभौतिक स्थूल पञ्चतत्त्वों के शरीर में अभ्यास है तब तक उसको न देख सकेगी, क्योंकि निराकार को निराकार ग्रहण करता है आकार नहीं ग्रहण कर सकता। इससे यह आधिभौतिक देह भ्रम है, इसको त्यागकर चिदाकाश में स्थित हो। जैसे पक्षी आलय को त्यागकर आकाश में उड़ता है और जहाँ इच्छा होती है वहाँ चला जाता है वैसे ही चित्त को एकाग्र करके स्थूल शरीर को त्याग दे और योग अभ्यास कर आत्मसत्ता में स्थित हो। जब आधिभौतिक को त्यागकर अभ्यास के बल से चिदाकाश में स्थित होगी तब आवरण से रहित होगी और फिर जहाँ इच्छा करेगी वहाँ चली जावेगी और जो कुछ देखा चाहेगी वह देखेगी। हे लीले ! हम सदा उस चिदाकाश में स्थित हैं। हमारा वपु चिदाकाश है इस कारण हमको कोई आवरण रोक नहीं सकता, हमसे उदारों की सदा स्वरूप में स्थिति है और हम सदा निरावरण हैं कोई कार्य हमको आवरण नहीं कर सकता, हम स्वइच्छित हैं–जहाँ जाया चाहें वहाँ जाते हैं और सदा अन्तवाहक रूप हैं। तू जब तक आधिभौतिकरूप है तब तक वह सृष्टि तुझको नहीं भासती और तू वहाँ जा भी नहीं सकती। हे लीले ! अपना ही संकल्प सृष्टि है। उसमें जब तक चित्त की वृत्ति लगी है उस काल में यह अपना शरीर ही नहीं भासता तो और का कैसे भासे ? जब तुझको अन्तवाहकता का दृढ़ अभ्यास हो और आधिभौतिक स्थूल शरीर की ओर से वैराग्य हो तब आधिभौतिकता मिट जावेगी, क्योंकि आगे ही सब सृष्टि अन्तवाहकरूप है, पर संकल्प की दृढ़ता से आधिभौतिक भासती है। जैसे जल दृढ़ शीतलता से बरफरूप हो जाता है वैसे ही अन्तवाहकता से आधिभौतिक हो जाते हैं–प्रमादरूप संकल्प वास्तव में

कुछ हुआ नहीं। जब वही संकल्प उलट कर सूक्ष्म अन्तवाहक की आता है तब आधिभौतिकता मिट जाती है और अन्तवाहकता उदय होती है। जब इस प्रकार तुझको निरावरणरूप उदय होगा देखने में और जानने में कुछ यत्न न होगा। साकार से निराकार ग्रहण नहीं कर सकता। निराकार की एकता निराकार से ही होती है अन्यथा नहीं होती। जब तू अन्तवाहकरूप होगी तब उसकी संक सृष्टि में तेरा प्रवेश होगा। हे लीले! यह जगत् संकल्परूप भ्रममात्र है वास्तव में कुछ हुआ नहीं, एक अद्वैत आत्मसत्ता अपने आपमें स्थि है और द्वैत कुछ है नहीं। लीला बोली, हे देवि! जो एक अद्वैत आत्म सत्ता है तो कलना यह दूसरी वस्तु क्या है सो कहो? देवी बोली, लीले! जैसे स्वर्ण में भूषण कुछ वस्तु नहीं, जैसे सीपी में रूपा दूस वस्तु कुछ नहीं और जैसे रस्सी में सर्प दूसरी वस्तु नहीं वैसे ही कलन भी कुछ दूसरी वस्तु नहीं है एक अद्वैत आत्मसत्ता ज्यों की त्यों स्थि है; उसमें नानात्व भासता है पर वह भ्रममात्र है—वास्तव में अपन आप एक अनुभवसत्ता है। इतना सुन फिर लीला ने पूछा, हे देवि जो एक अनुभवसत्ता और मेरा अपना आप है तो मैं इतना का क्यों भ्रमती रही? देवी बोली, हे लीले! तू अविचाररूप भ्रम से भ्रमत रही है। विचार करने से भ्रम शान्त हो जाता है। भ्रम और विचार दोनों तेरे ही स्वरूप हैं और तुझसे ही उपजे हैं। जब तुझको अपन विचार होगा तब भ्रम निवृत्त हो जावेगा। जैसे दीपक के प्रकाश अन्धकार नष्ट हो जाता है वैसे ही विचार से द्वैतभ्रम नष्ट हो जावेगा और जैसे रस्सी के जाने से सर्पभ्रम नष्ट हो जाता है और सीप के जा से रूपे का भ्रम नष्ट हो जाता है वैसे ही आत्मा के जाने से आधिभौति भ्रम शान्त हो जावेगा। जब दृश्य का अत्यन्ताभाव जान के दृढ़ वैराग्य करिये और आत्मस्वरूप का दृढ़ अभ्यास हो तब आत्मा का साक्षात्का होकर भ्रम शान्त हो जाता है और इसी से कल्याण होता है। हे लीले जब दृश्य जगत् से वैराग्य होता है तब वासना क्षय हो जाती है औ शान्ति प्राप्त होती है। हे लीले! तू आत्मसत्ता का अभ्यास कर तो तेर

जगत्भ्रम शान्त हो जावेगा। भ्रम भी कुछ वस्तु नहीं है, क्योंकि देह आदिक भ्रम भी कुछ हुआ नहीं। जैसे रस्सी के जाने से साँप का अभाव विदित होता है वैसे ही आत्मा के जाने से देहादिकों का अत्यन्त अभाव हो जाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे विश्रान्तिवर्णनन्नाम
पञ्चदशस्सर्गः ॥ १५ ॥

देवी बोली, हे लीले! जितने कुछ शरीर तुझको भासते हैं सो सब स्वप्नपुर की नाईं हैं। जैसे स्वप्न में शरीर भासता है, पर जब निज स्वरूप में स्मृति होती है तब स्वप्न का शरीर सत्य नहीं भासता। जैसे संकल्प के त्यागने से संकल्परूप शरीर नहीं भासता वैसे ही बोधकाल में यह शरीर भी नहीं भासता। जैसे मनोराज के त्यागने से मनोराज का शरीर नहीं भासता वैसे ही यह शरीर भी नहीं भासता। जब स्वरूप का ज्ञान होगा तब यह भी वास्तव न भासेगा। जैसे स्वरूप के स्मरण होने पर स्वप्न शरीर शान्त होता है वैसे ही वासना के शान्त होने पर जाग्रत् शरीर भी शान्त हो जाता है। जैसे स्वप्न का देह जागने से असत् होता है वैसे ही जाग्रत् शरीर की भावना त्यागने से यह भी असत् भासता है। इसके नष्ट होने पर अन्तवाहक देह उदय होवेगा। जैसे स्वप्न में राग द्वेष होता है और जब पदार्थों की वासना बोध से निर्बीज होती है तब उनसे मुक्त होता है वैसे ही जिस पुरुष की वासना जाग्रत् पदार्थों में नष्ट हुई है सो पुरुष जीवन्मुक्त पद को प्राप्त होता है। और यदि उसमें फिर भी वासना दृष्ट आवे तो वह वासना भी निर्वासना है। जो सर्व कल्पनाओं से रहित है उसका नाम सत्तासामान्य है। हे लीले! जिस पुरुष ने वासना रोकी है और ज्ञाननिद्रा से आवर्या हुआ है उसको सुषुप्तिरूप जान। उसकी वासना सुषुप्ति है और जिसकी वासना प्रकट है और जाग्रत्रूप से विचरता है उसको अधिक मोह से आवर्या जानिये। जो पुरुष चेष्टा करता दृष्टि आता है और जिसकी अन्तःकरण की वासना नष्ट हुई है उसको तुरीया जान। हे लीले! जो पुरुष प्रत्यक्ष चेष्टा करता है और अन्तःकरण की वासना से रहित है वह जीवन्मुक्त है। जिस

पुरुष का चित्त सत्पद को प्राप्त हुआ है उसको जगत् की वासना
हो जाती है और जो वासना फुरती भासती है तो भी सत्य जान
नहीं फुरती। जब शरीर की वासना नष्ट होती है तब आधिभौतिक
नष्ट हो जाती है और अन्तवाहकता आन प्राप्त होती है। जैसे
की पुतली सूर्य के तेज मे जलरूप हो जाती है वैसे ही आधिभौतिक
क्षीण होकर अन्तवाहकता प्राप्त होती है। जब अन्तवाहकता प्राप्त हो
है तब शरीर आभासमय चित्तरूप होता है और अपने जन्मान्तर
व्यतीत सृष्टि का सब ज्ञान हो आता है। तब वह जहाँ जाने की इ
करता है वहाँ जा प्राप्त होता है और यदि किसी सिद्ध के मिल
अथवा किसी के देखने की इच्छा करे सो सब कुछ सिद्ध होता
परन्तु अन्तवाहक विना शक्ति नहीं होती। जब इस देह से तेरा अहंभा
उठेगा तब सब जगत् तुझको प्रत्यक्ष भासेगा। हे लीले ! जब आ
भौतिक शरीर की वासना नष्ट होती है तब अन्तवाहक देह होती
और जब अन्तवाहक में वृत्ति स्थित होती है तब और के संकल्प
सृष्टि भासती है। इससे तू वासना घटाने का यत्न कर। जब वासना न
होगी तब तू जीवन्मुक्त पद को प्राप्त होगी। हे लीले ! जब तक तुझको पू
बोध नहीं प्राप्त होता तब तक तू अपनी इस देह को यहाँ स्थापन कर वह सृ
चल कर देख। जैसे अन्तवाहक शरीर से मांसमय स्थूल देह का व्यवहार न
सिद्ध होता वैसे ही स्थूल देह से सूक्ष्म कार्य नहीं होता। इससे तू अन्तवाह
शरीर का अभ्यास कर। जब अभ्यास करेगी तब वह सृष्टि देखने
समर्थ होगी। हे लीले ! जैसे अनुभव में स्थिति होती है सो मैंने तुझ
कही। यह वार्त्ता बालक भी जानते हैं कि यह वर और शाप की ना
नहीं है। जब अपना आप ही अभ्यास करेगी तब बोध की प्राप्ति होगी।
लीले ! सब जगत् अन्तवाहकरूप है अर्थात् संकल्परूप और अबोध
है। संकल्प के अभ्यास से आधिभौतिक उत्पन्न हुआ है, इससे संसा
की वासना दृढ़ हुई है और जन्म मरण आदि विकार चित्त में भास
हैं। जीव न मरता है और न जन्मता है। जैसे स्वप्न में जन्म मर
भासते हैं और जैसे संकल्प से भ्रम भासता है वैसे ही जन्म मरण

से भासता है। जब तुम आत्मपद का अभ्यास करोगी तब यह विकार मिट जावेगा और आत्मपद की प्राप्ति होगी। लीला ने पूछा, हे देवि ! तुमने मुझसे परम निर्मल उपदेश किया है जिसके जानने से दृश्य विसूचिका निवृत्त होती है, पर वह अभ्यास क्या है, बोध का साधन कैसे होता है, अभ्यास पुष्ट कैसे होता है और पुष्ट होने से फल क्या होता है ? देवी बोली, हे लीले ! जो कुछ कोई करता है सो अभ्यास विना सिद्ध नहीं होता। सबका साधक अभ्यास है। इससे तू ब्रह्म का अभ्यास कर। हे लीले ! चित्त में आत्मपद की चिन्तना, कथन, परस्पर बोध, प्राणों की चेष्टा और आत्मपद के मनन को ब्रह्माभ्यास कहते हैं। बुद्धिमान् चिन्तना किसको कहते हैं सो भी सुन। शास्त्र और गुरु से जो महावाक्य श्रवण किये हैं उनको युक्तिपूर्वक विचारना और कथन करना चिन्तना कहाता है। शिष्यों को उपदेश करना, परस्पर बोध करना और निर्णय करके निश्चय करना, इन तीनों के परायण रहने को बुद्धिमान् ब्रह्म अभ्यास कहते हैं। जिन पुरुषों के पाप अन्त को प्राप्त हुए हैं और पुण्य बचे हैं वे रागद्वेष से मुक्त हुए हैं, उनको तू ब्रह्मसेवक जान। हे लीले ! जिन पुरुषों को रात्रिदिन अध्यात्म शास्त्र के चिन्तन में व्यतीत होते हैं और वासना को नहीं प्राप्त होते उनको ब्रह्माभ्यासी जान—वे ब्रह्माभ्यास में स्थित हैं। हे लीले ! जिनकी भोगवासना क्षीण हुई है और संसार के अभाव की भावना करते हैं वे विरक्तचित्त महात्मा पुरुष भव्यमूर्ति शीघ्र ही आत्मपद को प्राप्त होते हैं और जिनकी बुद्धि वैराग्यरूपी रङ्ग से रँगी है और आत्मानन्द की ओर वृत्ति धावती है ऐसे उदार आत्माओं को ब्रह्माभ्यासी कहते हैं। हे लीले ! जिन पुरुषों ने जगत् का अत्यन्त अभाव जाना है कि यह आदि से उत्पन्न नहीं हुआ और दृश्य को असत् जानके त्यागते हैं, परमतत्त्व को सत्य जानते हैं और इस युक्ति से अभ्यास करते हैं वे ब्रह्माभ्यासी कहाते हैं। जिस पुरुष को दृश्य की असम्भवता का बोध हुआ है और इस बुद्धि का भी जो अभाव करके परमात्मपद में प्राप्ति करते हैं सो ब्रह्माभ्यासी कहाते हैं। हे लीले ! दृश्य के अभाव जाने विना राग और द्वेष निवृत्त नहीं होते।

रागद्वेष बुद्धि इस लोक में दुःखों को प्राप्त करती है और जिसको दृ की असम्भव बुद्धि प्राप्त हुई है उसको ज्ञेय अर्थात् परमात्मतत्त्व का प्राप्त होता है। जब उस पद में दृढ़ अभ्यास होता है तब परमा निर्वाण पद को प्राप्त होता है और जो जगत् के अभाव के निमित्त करता है वह प्राकृत है। हे लीले! बोध का साधन अभ्यास है, अभ्या शास्त्र से होता है, प्रयत्न से पुष्ट होता है और पुष्ट होने से आत्मतत्त्व प्राप्ति होती है। हे लीले! जिनको ब्रह्माभ्यासी वा ब्रह्म के सेवक क हैं वे तीन प्रकार के हैं—एक उत्तम, दूसरे मध्यम और तीसरे प्राकृत। उ अभ्यासी वह है जिसको बोधकला उत्पन्न हुई है और दृश्य का असम्भ बोध हुआ है। जिसको दृश्य का असम्भव बोध हुआ है पर बोधक नहीं उपजी और वह उसके अभ्यास में है वह मध्यम है। जिसको दृ का असम्भव बोध नहीं हुआ और सदा यही हृदय में रहता है दृश्य का असम्भव हो यह प्राकृत है। इससे जिस प्रकार मैंने तुम अभ्यास कहा है वैसे ही अभ्यास करने से तू परमपद को प्राप्त होगी इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जैसे अज्ञानरूपी निद्रा जीव शयन कर रहा है, उससे जगत् को नाना प्रकार का देखता वैसे ही अविद्यारूपी निद्रा में विवेकरूपी वचनों के जल की वर्षा क जब देवी ने लीला को जगाया तब उसकी अज्ञानरूपी निद्रा ऐसे न हो गई जैसे शरत्काल में मेघ का कुहड़ा नष्ट हो जाता है। बाल्मीकि बोले, जब इस प्रकार मुनीश्वर ने कहा तो सायंकाल का सम हुआ और सर्व सभा परस्पर नमस्कार करके स्नान को गई और उ सूर्य की किरणें उदय हुईं तब फिर सब आ स्थित हुए।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे विज्ञानाभ्यासवर्णनन्नाम
षोडशस्सर्गः ॥ १६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार अर्द्धरात्रि के समय देवी औ लीला का संवाद हुआ। उस समय सब लोग और सहेलियाँ बाहर प सोती थीं और लीला का भर्त्ता फूलों में दबा हुआ था। उसके पास दि वस्त्र पहिरे हुए चन्द्रमा की कान्ति के समान सुन्दर देवियाँ सब क

नाओं को त्यागके और अङ्गों को संकोचकर ऐसी समाधि में स्थित भईं मानों रत्न के थम्भे से पुतलियाँ उत्कीर्ण किये स्थित हैं। अन्तःपुर भी उनके प्रकाश से प्रकाशमान हुआ और वे ऐसी शोभा देती थीं मानों काग़ज़ के ऊपर मूर्तियाँ लिखी हैं। इस प्रकार सब दृश्य कलना को त्याग के वे निर्विकल्प समाधि में स्थित हुईं। जैसे कल्पवृक्ष की लता दूसरी ऋतु के आने से अगले रस को त्याग के दूसरी ऋतु के रस को अङ्गीकार करती है वैसे ही वे सब दृश्यभ्रम को त्याग के आत्मतत्त्व में स्थित हुईं और अहंसत्ता से आदि लेकर उनका दृश्यभ्रम शान्त होगया। दृश्यरूपी पिशाच के शान्त होने पर जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है; वैसे ही वे निर्मलभाव को प्राप्त हुईं। हे रामजी! यह जगत् शश के शृङ्ग की नाईं असत् है। जो आदि न हो, अन्त भी न रहे और वर्त्तमान में दृष्टि आवे वह असत् जानिये। जैसे मृगतृष्णा का जल असत्य है वैसे ही यह जगत् भी असत्य है। ऐसे जब स्वभावसत्ता उनके हृदय में स्थित हुई तब अन्य सृष्टि के देखने का जो संकल्प था सो आन फुरा। उस फुरने से वे आकाशरूप देह से चिदाकाश में उड़ीं और सूर्य और चन्द्रमा के मण्डलों को लंघकर दूर से दूर जाकर अनन्त योजनपर्यन्त स्थान लाँघे। फिर भूतों की सृष्टि देखी उसमें प्रवेश किया।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलाविज्ञानदेहाकाशसमागमनन्नाम सप्तदशस्सर्गः ॥ १७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार परस्पर हाथ पकड़कर वे दूर से दूर गईं, मानों एक ही आसन पर दोनों चली जाती हैं। जहाँ मेघों के स्थान और अग्नि और पवन के वेग नदियों की नाईं चलते थे और जहाँ निर्मल आकाश था वहाँ से भी आगे गईं। कहीं चन्द्रमा और सूर्य का प्रकाश ही न था और कहीं चन्द्रमा और सूर्य प्रकाशमान थे; कहीं देवता विमानों पर आरूढ़ थे; कहीं सिद्ध उड़ते थे और कहीं विद्याधर, किन्नर और गन्धर्व गान करते थे। कहीं सृष्टि उत्पन्न होती; कहीं प्रलय होती और कहीं शिखाधारी तारे उपद्रव करते उदय हुए थे। कहीं प्राणी अपने व्यवहार में लगे हुए; कहीं अनेक महापुरुष ध्यान में स्थित;

कहीं हस्ति, पशु-पक्षी और दैत्य-डाकिनी विचरते और योगि
लीला करती थीं। कहीं अन्धे गूँगे रहते थे, कहीं गीध पक्षी; सिंह
घोड़े के मुखवाले गण विचरते और कहीं वरुण, कुबेर, इन्द्र, यमा
लोकपाल बैठे थे। कहीं बड़े पर्वत सुमेरु, मन्दराचल आदिक सि
कहीं अनेक योजन पर्यन्त वृक्ष ही चले जाते; कहीं अनेक यो
पर्यन्त अविनाशी प्रकाश; कहीं अनेक योजन पर्यन्त अविनाशी अ
कार; कहीं जल से पूर्ण स्थान; कहीं सुन्दर पर्वतों पर गङ्गा के प्र
चले जाते और कहीं सुन्दर बगीचे, बावड़ी, ताल और उनमें कमल
हुए थे। कहीं भूत भविष्यत् होता, कहीं कल्पवृक्षों के वन, कहीं अन
चिन्तामणि; कहीं शून्य स्थान; कहीं देवता और दैत्यों के बड़े
होते और नक्षत्रचक्र फिरते और कहीं प्रलय होता था। कहीं दे
विमानों में फिरते; कहीं स्वामिकार्तिक के रक्खे हुए मोरों के स
विचरते; कहीं कुक्कुट आदि पक्षी विद्याधरों के वाहन विचरते और
यम के वाहन महिषों के समूह विचरते थे। कहीं पाषाण संयुक्त प
कहीं भैरव के गण नृत्य करते; कहीं विद्युत् चमकती; कहीं कल्पत
कहीं मन्द मन्द शीतल पवन सुगन्ध समेत चलता और कहीं प
रत्न और मणि शोभते थे। निदान इसी प्रकार अनेक जगज्जाल
देवियों ने देखे। जीवरूपी मच्छड़ त्रिलोकरूपी गूलर के फलों में दे
इसके अनन्तर उन्होंने भूमण्डल को देखके महीतल में प्रवेश किया

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने आकाशगमनवर्णनन्नामाष्टादशस्सर्गः ॥ १८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तब देवियों ने भूतल ग्राम में आ
ब्रह्माण्ड खप्पर में प्रवेश किया। वह ब्रह्माण्ड त्रिलोकरूपी कमल है औ
उसकी अष्ट पखुड़ियाँ हैं। उसमें पर्वतरूपी डोड़ा है; चेतनता सुगन्ध
और नदियाँ समुद्र अम्बुकण हैं। जब रात्रिरूपी भँवरे उस पर आन वि
जते हैं तब वे कमल सकुचाय जाते हैं वे पातालरूपी कीचड़ में ल
हैं; पत्ररूपी मनुष्य देवता हैं; दैत्य राक्षस उसके कण्टक हैं और डो
उसकी शेषनाग है। जब वह हिलता है तब भूचाल होता है और दि

कर से प्रकाशता है। इसका विस्तार इस प्रकार है कि एक लाख योजन जम्बूद्वीप है और उसके परे दुगुना खारा समुद्र है। जैसे हाथ का कङ्कण होता है वैसे ही उस जल से वह द्वीप आवरण किया है। उससे आगे दुगुना शाकद्वीप है और उससे दुगुने क्षीरसमुद्र से वेष्टित है। उसके आगे उससे दुगुनी पृथ्वी है जिसका नाम कुशद्वीप है और उससे दूने घृत के समुद्र से वेष्टित है। उसके आगे उससे दूनी पृथ्वी का नाम क्रौंचद्वीप है वह अपने से दूने दधि के समुद्र से वेष्टित है। फिर शाल्मलीद्वीप है और उससे दूना मधु का समुद्र उसके चारों ओर है। फिर प्लक्षद्वीप है तिससे दूना इक्षुरस का समुद्र है। फिर उससे दूना पुष्करद्वीप है और उससे दूना मीठे जल का समुद्र उसे घेरे है। इस प्रकार सप्त समुद्र हैं। उससे परे दशकोटि योजन कञ्चन की पृथ्वी प्रकाशमान है और उससे आगे लोकालोक पर्वत हैं और उन पर बड़ा शून्य वन है। उससे परे एक बड़ा समुद्र है। समुद्र से परे दशगुणी अग्नि है; अग्नि से परे दशगुणी वायु है; वायु से परे दशगुणा आकाश है और आकाश से परे लक्ष योजन पर्यन्त घनरूप ब्रह्माण्ड का कन्ध है। उसको देख के दोनों फिर आईं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने भूलोकगमनवर्णनन्नामैकोनविंशस्सर्गः ॥ १९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! वहाँ से फिर के उन्होंने वशिष्ठ ब्राह्मण और अरुन्धती का मण्डल, ग्राम और नगर को देखा कि शोभा जाती रही है। जैसे कमलों पर धूल की वर्षा हो और कमल की शोभा जाती रहे; जैसे वन को अग्नि लगे और वन की लक्ष्मी जाती रहे; जैसे अगस्त्यमुनि ने समुद्र को पान कर लिया था और समुद्र की शोभा जाती रही थी; जैसे तेल और बाती के पूर्ण होने से दीपक के प्रकाश का अभाव हो जाता है और जैसे वायु के चलने से मेघ का अभाव होता है वैसे ही ग्राम की शोभा का अभाव देखा। जो कुछ प्रथम शोभा थी सो सब नष्ट हो गई थी और दासियाँ रुदन करती थीं। तब लीला रानी को जिसने चिरकाल तप और ज्ञान का अभ्यास किया था, यह इच्छा उपजी

कि मुझे और देवी को मेरे बान्धव देखें। तब लीला के सत्सं
से उसके बान्धवों ने उनको देखकर कहा कि यह वनदेवी गौरी
लक्ष्मी आई हैं इनको नमस्कार करना चाहिए। वशिष्ठ के बड़े
ज्येष्ठशर्मा ने फूलों से दोनों के चरण पूजे और कहा, हे देवि! तुम्
जय हो। यहाँ मेरे पिता और माता थे, अब वह दोनों काल के वश
को गये हैं इससे हम बहुत शोकवान् हुए हैं। हमको त्रैलोक शून्य भा
हैं और हम सब रुदन करते हैं। वृक्षों पर जो पक्षी रहते थे सो
उनको मृतक देख के वन को चले गये; पर्वत की कन्दरा से प
मानों रुदन करता आता है; और नदी जो वेग से आती है और त
उछलते हैं मानों वह भी रुदन करते हैं। कमलों पर जो जल के क
मानों कमलों के नयनों से रुदन करके जल चलता है और दिशा
जो उष्ण पवन आता है मानों दिशा भी उष्ण श्वासें छोड़ती है,
देवियो! हम सब शोक को प्राप्त हुए हैं। तुम कृपा करके हमारा श
निवृत्त करो, क्योंकि महापुरुषों का समागम निष्फल नहीं होता
उनका शरीर परोपकार के निमित्त है। हे रामजी! जब इस प्रकार
शर्मा ने कहा तब लीला ने कृपा करके उसके शिर पर हाथ रक्खा
उसके हाथ रखते ही उसका सब ताप नष्ट हो गया। और जैसे
आषाढ़ के दिनों में तपी हुई पृथ्वी मेघ की वर्षा होने से शीतल हो जा
है वैसे ही उसका अन्तःकरण शीतल हुआ। जो वहाँ के निर्धन थे
उनके दर्शन करने से लक्ष्मीवान् होकर शान्ति को प्राप्त हुए और शो
नष्ट हो गया और सूखे वृक्ष सफल हो गये। इतना सुन रामजी बो
हे भगवन्! लीला ने अपने ज्येष्ठशर्मा को मातारूप होकर दर्शन
न दिया, इसका कारण मुझसे कहो? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी!
आत्मसत्ता में जो स्पन्द संवेदन हुई है सो संवेदन भूतों का पिण्डा
हो भासती है और वास्तव में आकाशरूप है भ्रान्ति से पृथ्वी आदि
भूत भासते हैं। जैसे बालक को छाया में भ्रम से वैताल भासता है
ही संवेदन के फुरने से पृथिव्यादिक भूत भासते हैं। जैसे स्वप्न में
से पिण्डाकार भासते हैं और जागने पर आकाशरूप भासते हैं

भ्रम के नष्ट होने पर पृथ्वी आदि भूत आकाशरूप भासते हैं। जैसे स्वप्न के नगर स्वप्नकाल में अर्थाकार भासते हैं और अग्नि जलाती है पर जागने से सब शून्य हो जाती है वैसे ही अज्ञान के निवृत्त होने से यह जगत् आकाशरूप हो जाता है। जैसे मूर्च्छा में नाना प्रकार के नगर; परलोक जगत; आकाश में तरुवरे और मुक्तमाला और नौका पर बैठे तट के वृक्ष चलते भासते हैं वैसे ही यह जगत् भ्रम से अज्ञानी को भासता है और ज्ञानवान् को सब चिदाकाश भासता है—जगत् की कल्पना कोई नहीं फुरती। इससे लीला उसको पुत्रभाव और अपने को माताभाव कैसे देखती। उसका अहं और ममभाव नष्ट हो गया था। जैसे सूर्य के उदय होने से अन्धकार नष्ट होता है वैसे ही लीला का अज्ञानभ्रम नष्ट हो गया था और सब जगत् उसको चिदाकाश भासता था। इस कारण वह अपने को माताभाव न जानती भई। जो उसमें कुछ ममत्व होता तो उसको माताभाव से देखती, परन्तु उसको यह अहं ममभाव न था इस कारण देवीरूप में दिखाया और शिर पर हाथ इसलिये रक्खा कि सन्तों का दयालु स्वभाव है। माता पुत्र की कल्पना उसमें कुछ न थी। केवल आत्मारूप जगत् उसको भासता था।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने सिद्धदर्शनहेतुकथनन्नाम विंशतितमस्सर्गः ॥ २० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! फिर वहाँ से देवी और लीला दोनों अन्तर्धान हो गईं। तब वहाँ के लोग कहने लगे कि वनदेवियों ने हमारे ऊपर बड़ी कृपा करके हमारे दुःख नाश किये और अन्तर्धान हो गईं। हे रामजी! तब दोनों आकाश में आकाशरूप अन्तर्धान हुईं और परस्पर संवाद करने लगीं। जैसे स्वप्न में संवाद होता है वैसे ही उनका परस्पर संवाद हुआ। देवी ने कहा, हे लीले! जो कुछ जानना था सो तूने जाना और जो कुछ देखना था सो भी देखा—यह सब ब्रह्म की शक्ति है। और जो कुछ पूछना हो सो पूछो। लीला बोली, हे देवि! मैं अपने भर्त्ता विदूरथ के पास गई तो उसने मुझे क्यों न देखा और मेरी इच्छा से ज्येष्ठशर्मा आदि ने मुझे क्यों देखा इसका कारण कहो?

देवी बोली, हे लीले ! तब तेरा द्वैतभ्रम नष्ट न हुआ था और अभ करके अद्वैत को न प्राप्त हुई थी। जैसे धूप में छाया का सुख अनुभव होता वैसे ही तुझको अद्वैत का अनुभव न था। हे लीले! ऋतु का फल मधुर होता है। जैसे ज्येष्ठ आषाढ़ विदित हो और नहीं आई वैसे ही तू थी—अर्थात् संसारमार्ग को लंघी थी पर आ तत्त्व को न प्राप्त हुई थी इससे आत्मशक्ति तुझको न प्रत्यक्ष हुई आगे तेरा सत्संकल्प न था और अब तू सत्संकल्प हुई है। अब सत्संकल्प किया है कि तुझको ज्येष्ठशर्मा देखे इसी से वे सब तुझ देखते भये। अब तू विदूरथ के निकट जावेगी तो तेरे साथ ऐसा व्यवहार होगा। लीला बोली; हे देवि ! इस मण्डप आकाश में भर्त्ता वशिष्ठ ब्राह्मण हुआ और फिर जब मृतक हुआ तब इसी मण्डप आकाश में उसको पृथ्वी लोक फुरि आया, जिससे पद्म राजा उसने चिरकाल पर्यन्त चारों द्वीपों का राज्य किया और जब फिर मृत हुआ तब इसी मण्डप आकाश में उसको जगत् भासित होकर पृथ्वीप हुआ उसका नाम विदूरथ हुआ। हे देवि ! इसी मण्डप आकाश जर्जरीभाव और जन्म मरण हुआ और अनन्त ब्रह्माण्ड इसमें स्थित है जैसे सम्पुट में सरसों के अनेक दाने होते हैं वैसे ही इसमें सब ब्रह्मा मुझको समीप ही भासते हैं और भर्त्ता की सृष्टि भी मुझको अब प्रत्य भासती है अब जो कुछ तुम आज्ञा करो सो मैं करूँ। देवी बोली, भूतल अरुन्धती ! तेरे जन्म तो बहुत हुए हैं और अनेक तेरे भर्त्ता हु हैं पर उन सबमें यह भर्त्ता इस मण्डप में है। एक वशिष्ठ ब्राह्मण था मृतक हो उसका शरीर तो भस्म हो गया है और फिर पद्म राजा हुआ उसका शव तेरे मण्डप में पड़ा है और तीसरा भर्त्ता संसारमण्डप है वसुधापति हुआ वह संसारसमुद्र में भोगरूपी कलोल कर व्याकुल है वह राज में चतुर हुआ है पर आत्मपद से विमुख हुआ है। अज्ञान जानता था कि मैं राजा हूँ; मेरी आज्ञा सबके ऊपर चलती है और बड़े भोगों का भोगनेवाला और सिद्ध बलवान् हूँ। हे लीले ! व संकल्प विकल्परूपी रस्सी से बाँधा हुआ है। अब तू किस भर्त्ता के पा

चलती है। जहाँ तेरी इच्छा हो वहाँ मैं तुझको ले जाऊँ। जैसे सुगन्ध को वायु ले जाता है वैसे ही मैं तुझको ले जाऊँगी। हे लीले ! जिस संसारमण्डल को तू समीप कहती है सो वह चिदाकाश की अपेक्षा से समीप भासता है और सृष्टि की अपेक्षा से अनन्त कोटि योजनों का भेद है। इसका वपु आकाशरूप है। ऐसी अनन्त सृष्टि पड़ी फुरती है। समुद्र और मन्दराचल पर्वत आदिक अनन्त हैं उनके परमाणु में अनन्त सृष्टि चिदाकाश के आश्रय फुरती है। चिद्अणु में रुचि के अनुसार सृष्टि बड़े आरम्भ से दृष्टि आती है और बड़े स्थूल गिरि पृथ्वी दृष्टि आते हैं पर विचारकर तौलिये तो एक चावल के समान भी नहीं होते। हे लीले ! नाना प्रकार के रत्नों से परिपूर्ण पर्वत भी दृष्टि आते हैं पर आकाशरूप हैं। जैसे स्वप्न में चैतन्य का किञ्चन नाना प्रकार का जगत् दृष्टि आता है वैसे ही यह जगत् चैतन्य का किञ्चन है। पृथ्वी आदि तत्त्वों से कुछ उपजा नहीं। हे लीले ! आत्मसत्ता ज्यों की त्यों अपने आप में स्थित है। जैसे नदी में नाना प्रकार के तरङ्ग उपजते हैं और लीन भी होते हैं वैसे ही आत्मा में जगज्जाल उपजता और नष्ट भी हो जाता है, पर आत्मसत्ता इनके उपजने और लीन होने में एक रस है। यह सब केवल आभासरूप है वास्तव कुछ नहीं। लीला बोली, हे मातः ! अब मुझको पूर्व की सब स्मृति हुई है। प्रथम मैंने ब्रह्मा से राजसी जन्म पाया और उससे आदि लेकर नाना प्रकार के जो अष्टशत जन्म पाये हैं वे सब मुझको प्रत्यक्ष भासते हैं। प्रथम जो चिदाकाश से मेरा जन्म हुआ उसमें मैं विद्याधर की स्त्री भई और उस जन्म के कर्म से भूतल में आकर मैं दुःखी हुई। फिर पक्षिणी भई और जाल में फँसी और उसके अनन्तर भीलिनी होकर कदम्ब वन में विचरने लगी। फिर वनलता भई; वहाँ गुच्छे मेरे स्तन और पत्र मेरे हाथ थे। जिसकी पर्णकुटी में मैं लता थी वह ऋषीश्वर मुझको हाथ से स्पर्श किया करता था इससे मैं मृतक होकर उसके गृह में पुत्री हुई। वहाँ जो मुझसे कर्म हो सो पुरुष ही का कर्म हो इससे मैं बड़ी लक्ष्मी से सम्पन्न राजा हुई। वहाँ मुझसे दुष्टकर्म हुए इससे मैं कुष्ठरोगग्रासित बन्दरी होकर आठ वर्ष वहाँ

रही। फिर मैं बैल हुई; मुझको किसी दुष्ट ने खेती के हल में जोड़ा
उससे मैंने दुःख पाया। फिर मैं भ्रमरी भई और कमलों पर जा
सुगन्ध लेती थी। फिर मृगी होकर चिर पर्यन्त वन में विचरी। फिर
देश का राजा भई और सौ वर्ष पर्यन्त वहाँ सुख भोगे और फिर क
का जन्म लेकर, राजहंस का जन्म लिया। इसी प्रकार मैंने अ
जन्मों को धारण करके बड़े कष्ट पाये। हे देवि! आठसौ जन्म पाक
संसारसमुद्र में वासना से घटीयन्त्र की नाईं भ्रमी हूँ। अब मैंने नि
किया है कि आत्मज्ञान विना जन्मों का अन्त कदाचित् नहीं होता
तुम्हारी कृपा से अब मैंने निःसंकल्प पद को पाया।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने जन्मान्तरवर्णन
न्नाम एकविंशतितमस्सर्गः ॥ २१ ॥

इतनी कथा सुन रामजी ने पूछा, हे भगवन्! वज्रसार की नाईं
ब्रह्माण्ड खप्पर जिसका अनन्त कोटि योजन पर्यन्त विस्तार था
ये दोनों कैसे लंघती गईं? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! वज्रसार ब्रह्मा
खप्पर कहाँ है और वहाँ तक कौन गया है? न कोई वज्रसार ब्रह्माण्ड
और न कोई लाँघ गया है सब आकाशरूप है। उसी पर्वत के ग्राम
जिसमें वशिष्ठ ब्राह्मण का गृह था उसी मण्डप आकाशरूप सृष्टि का
अनुभव करता भया। हे रामजी! जब वशिष्ठ ब्राह्मण मृतक भया
उसी मण्डपाकाश के कोने में अपने को चारों ओर समुद्र पर्यन्त पृ
का राजा जानने लगा कि मैं राजा पद्म हूँ और अरुन्धती को ली
करके देखा कि यह मेरी स्त्री है। फिर वह मृतक हुआ तो उसको
आकाशमण्डप में और जगत् का अनुभव हुआ और उसने अपने
राजा विदूरथ जाना। इससे तुम देखो कि कहाँ गया और क्या रूप
उसी मण्डप आकाश में तो उसको सृष्टि का अनुभव हुआ; इससे
सृष्टि है वह उसी वशिष्ठ के चित्त में स्थित है। तब ज्ञप्तिरूप देवी की
से अपने ही देहाकाश में लीला अन्तवाहक देह से जो आकाशरूप
उड़ी और ब्रह्माण्ड को लाँघ के फिर उसी गृह में आई। जैसे स्वप्न
स्वप्नान्तर को प्राप्त हो वैसे ही देख आई। पर वह गई कहाँ और

कहाँ? एक ही स्थान में रहकर एक सृष्टि से अन्य सृष्टि को देखा। इनको ब्रह्माण्ड के लंघजाने में कुछ यत्न नहीं, क्योंकि उनका शरीर अन्तवाहक रूप है। हे रामजी! जैसे मन से जहाँ लंघना चाहे वहाँ लंघ जाता है वैसे ही वह प्रत्यक्ष लंघी है। वह सत्यसंकल्परूप है और वस्तु से कहे तो कुछ नहीं। हे रामजी! जैसे स्वप्न की सृष्टि नाना प्रकार के व्यवहारोंसहित बड़ी गम्भीर भासती है पर आभासमात्र है वैसे ही यह जगत् देखते हैं पर न कोई ब्रह्माण्ड है न कोई जगत् है और न कोई भींत है केवल चैतन्यमात्र का किञ्चन है और बना कुछ नहीं। जैसे चित्तसंवेदन फुरता है वैसे ही आभास हो भासता है। केवल वासनामात्र ही जगत् है, पृथ्वी आदिक भूत कोई उपजा नहीं—निरावरण ज्ञान आकाश अनन्तरूप स्थित है। जैसे स्पन्द और निष्पन्द दोनों रूप पवन ही हैं वैसे ही स्फुर और अफुररूप आत्मा ही ज्यों का त्यों है और शान्त सर्वरूप चिदाकाश है। जब चित्त किञ्चन होता है तब आप ही जगत्रूप हो भासता है—दूसरा कुछ नहीं। जिन पुरुषों ने आत्मा को जाना है उनको जगत् आकाश से भी शून्य भासता है और जिन्होंने नहीं जाना उनको जगत् वज्रसार की नाईं दृढ़ भासता है। जैसे स्वप्न में नगर भासते हैं वैसे ही यह जगत् है। जैसे मरुस्थल में जल और सुवर्ण में भूषण भासते हैं वैसे ही आत्मा में जगत् भासता है। हे रामजी! इस प्रकार देवी और लीला ने संकल्प से नाना प्रकार के स्थानों को देखा जहाँ झरनों से जल चला आता था; बावली और सुन्दर ताल और बगीचे देखे जहाँ पक्षी शब्द करते थे और सुन्दर मेघ पवनसंयुक्त देखे मानों स्वर्ग यहीं था।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने गिरिग्राम-
वर्णनन्नाम द्वाविंशतितमस्सर्गः ॥ २२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार देखके वे दोनों शीतलचित्त ग्राम में वास करती भईं और चिरकाल जो आत्म अभ्यास किया था उससे शुद्ध ज्ञानरूप और त्रिकालज्ञान से सम्पन्न हुईं। उससे उन्हें पूर्व की स्मृति हुई और जो कुछ अरुन्धती के शरीर से किया था सो देवी से

कहा कि हे देवि ! तुम्हारी कृपा से अब मुझको पूर्व की स्मृति जो कुछ इस देश में मैंने किया था सो प्रकट भासता है कि यहाँ ब्राह्मणी थी, उसका शरीर वृद्ध था और नाड़ियाँ दीखती थीं और भ को बहुत प्यारी और पुत्रों की माता थी वह मैं ही हूँ। हे देवि ! मैं यहाँ दे और ब्राह्मणों की पूजा करती थी, यहाँ दूध रखती, यहाँ अन्नादिकों बासन रखती थी यहाँ मेरे पुत्र, पुत्रियाँ, दामाद और दौहित्र बैठते थे; य मैं बैठती थी और भृत्यों को कहती थी कि शीघ्र ही कार्य करो। हे दे यहाँ मैं रसोई करती थी और मेरा भर्त्ता शाक और गोबर ले आता था और सर्व मर्यादा कहता था। ये वृक्ष मेरे लगाये हुए हैं, कुछ फल मैं इनसे लिये हैं और कुछ रहे हैं वे ये हैं। यहाँ मैं जलपान करती थी हे देवि ! मेरा भर्त्ता सब कर्मों में शुद्ध था पर आत्मस्वरूप से शून्य था सब कर्म मुझको स्मरण होते हैं। यहाँ मेरा पुत्र ज्येष्ठशर्मा गृह में हव करता है। यह बेल मेरे गृह में विस्तरी है और सुन्दर फूल लगे हैं। इन गुच्छे छत्रों की नाईं हैं और झरोखे बेल से आवरे हुए हैं। यह मेरा मण्ड आकाश है, इसमें मेरे भर्त्ता का जीव आकाश है। देवी बोली, हे लीले इस शरीर के नाभिकमल से दश अंगुल ऊर्ध्व हृदयाकाश है, सो अंगुष्ठ मात्र हृदय है, उसमें उसका संवित् आकाश है। उसमें जो राजसी वासना थी उससे उसको चारों समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का राज्य फुर आया कि "मैं राजा हूँ"। यहाँ उसे आठ दिन मृतक हुए बीते हैं और यहाँ चिरकाल राज्य का अनुभव करता है। हे देवि ! इस प्रकार थोड़े काल में बहुत काल अनुभव होता है और हमारे ही मण्डप में वह सब पड़ा है। उसकी पुर्यष्टक में जगत् फुरता है उसमें ही राजा विदूरथ है। इस राज्य के संकल्प से उसकी संवित् इसी मण्डप आकाश में स्थित है जैसे आकाश में गन्ध को लेके पवन स्थित हो वैसे ही उसकी चेतन संवित् संकल्प को लेकर इसी मण्डपाकाश में स्थित है। उसकी संवित इस मण्डप आकाश में है उस राजा की सृष्टि मुझको कोटि योजन पर्यन्त भासती है। यदि मैं पर्वत और मेघ अनेक योजन पर्यन्त लंघती जाऊँ तब भर्त्ता के निकट प्राप्त होऊँ और चिदाकाश की अपेक्षा से अपने पास ही भासती है। अब व्यवहारदृष्टि से वह कोटि योजन पर्यन्त है इससे चलो जहाँ मेरा भर्त्ता राजा विदूरथ है वह स्थान दूर है तो भी निश्चय से समीप है। इतना कह वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रकार कहकर वे दोनों, जैसे खड्ग की धारा श्याम होती है, जैसे विष्णुजी का अङ्ग श्याम है, जैसे काजर श्याम होता और जैसे भ्रमरे की पीठ श्याम होती है वैसे ही श्याम मण्डपाकाश में पखेरू के समान अन्तवाहक शरीर से उड़ीं और मेघों और बड़े वायु के स्थान; सूर्य, चन्द्रमा और ब्रह्मलोक पर्यन्त देवतों के स्थानों को लंघकर इस प्रकार दूर से दूर गईं और शून्य आकाश में ऊर्ध्व जाके ऊर्ध्व को देखती भईं कि सूर्य और चन्द्रमा आदि कोई नहीं भासता। तब लीला ने कहा, हे देवि ! इतना सूर्य आदि का प्रकाश था वह कहाँ गया ? यहाँ तो महाअन्धकार है; ऐसा अन्धकार है कि मानों सृष्टि में ग्रहण होता है। देवी बोली, हे लीले ! हम महाआकाश में आई हैं। यहाँ अन्धकार का स्थान है, सूर्य आदि कैसे भासें ? जैसे अन्धकूप में त्रसरेणु नहीं भासते वैसे ही यहाँ सूर्य चन्द्रमा नहीं भासते। हम बहुत ऊर्ध्व को आई हैं। लीला ने पूछा, हे देवि ! बड़ा आश्चर्य है कि हम दूर से दूर आई हैं जहाँ सूर्यादिकों का प्रकाश भी नहीं भासता इससे आगे अब कहाँ जाना है ? देवी बोली, हे लीले ! इसके आगे ब्रह्माण्ड कपाट आवेगा। वह बड़ा वज्रसार है और अनन्त कोटि योजन पर्यन्त उसका विस्तार है और उसकी धूलि की कणिका भी इन्द्र के वज्रसमान हैं। इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रकार देवी कहती ही थी कि आगे महावज्रसार ब्रह्माण्ड कपाट आया और अनन्त कोटि योजन पर्यन्त उसका विस्तार देखकर उसको भी वे लाँघ गईं पर उन्हें कुछ भी क्लेश न भया, क्योंकि जैसा किसी को निश्चय होता है वैसा ही अनुभव होता है। वह निरावरण आकाशरूप देवियाँ ब्रह्माण्ड कपाट को लाँघ गईं। उसके परे दशगुणा जल का आवरण; उसके परे दशगुणा अग्नितत्त्व; उसके परे दशगुणा वायु; उसके परे दशगुणा आकाश और उसके परे परमाकाश है। उसका आदि, मध्य और अन्त कोई नहीं। जैसे बन्ध्या के पुत्र की कथा की चेष्टा

का आदि अन्त कोई नहीं होता वैसे ही परम आकाश है; वह नित्य, और अनन्तरूप है और अपने आपमें स्थित है। उसका अन्त लेने यदि सदाशिव मनरूपी वेग से और विष्णुजी गरुड़ पर आरूढ़ होके पर्यन्त धावें तो भी उसका अन्त न पावें और पवन अन्त लिया चाहे वह भी न पावे। वह तो आदि, मध्य और अन्त कलना से रहि बोधमात्र है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे पुनराकाशवर्णनन्नाम त्रयो-
विंशतितमस्सर्गः ॥ २३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब वे पृथ्वी, अप, तेज आदिक आवर को लाँघ गईं तब परमआकाश उनको भासित हुआ। उसमें उनको की कणिका और सूर्य के त्रसरेणु के समान ब्रह्माण्ड भासे। वह मह शून्य को धारनेवाला परम आकाश है और चिद्अणु जिसमें सृष्टि फुर है वह ऐसा महासमुद्र है कि कोई उसमें अधः को जाता है और ऊर्ध्व को जाता है कोई तिर्यक् गति को पाता है। हे रामजी! संवित् में जैसा जैसा स्पन्द फुरता है वैसा ही वैसा आकार हो भास है; वास्तव में न कोई अधः है, न कोई ऊर्ध्व है, न कोई आता है न कोई जाता है केवल आत्मसत्ता अपने आपमें ज्यों की त्यों स्थि है। फुरने से जगत् भासता है और उत्पन्न होकर फिर नष्ट होता है। बालक का संकल्प उपज के नष्ट हो जाता है वैसे ही चैतन्य संवित् जगत् फुरके नष्ट हो जाता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! अधः ऊर्ध्व क्या होते हैं, तिर्यक् क्यों भासते हैं और यहाँ क्या स्थित है मुझसे कहो? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! परमाकाश-सत्ता आवर से रहित शुद्ध बोधरूप है। उसमें जगत् ऐसे भासता है जैसे आका में भ्रान्ति से तरुवरे भासते हैं, उसमें अधः और ऊर्ध्व कल्पनामात्र जैसे हलों के बेंटके चौगिर्द चींटियाँ फिरती हैं और उनको मन में ऊर्ध्व भासता है सो उनके मन में अधः ऊर्ध्व की कल्पना हुई है। रामजी! यह जगत् आत्मा का आभासरूप है। जैसे मन्दराचल पर्व के ऊपर हस्तियों के समूह विचरते हैं वैसे ही आत्मा में अनेक जग

फुरते हैं; जैसे मन्दराचल पर्वत के आगे हस्ती हो वैसे ही ब्रह्म के आगे जगत् है और वास्तव में सब ब्रह्मरूप है। कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण सब ब्रह्म ही हैं और ये जगत् ब्रह्मसमुद्र के तरङ्ग हैं। उन जगत् ब्रह्माण्डों को देवियों ने देखा। जैसे ब्रह्माण्ड उन्होंने देखे हैं वे सुनिये। कई सृष्टि तो उन्होंने उत्पन्न होती देखीं और कई प्रलय होती देखीं। कितनों के उपजने का आरम्भ देखा जैसे नूतन अंकुर निकलता है; कहीं जल ही जल है, कहीं अन्धकार ही है—प्रकाश नहीं; कहीं सब व्यवहार संयुक्त हैं और कहीं वेदशास्त्र के अपूर्व कर्म हैं। कहीं आदि ईश्वर ब्रह्मा हैं उनसे सब सृष्टि हुई है; कहीं आदि ईश्वर विष्णु हैं उनसे सब सृष्टि हुई है और कहीं आदि ईश्वर सदाशिव हैं। इसी प्रकार कहीं और प्रजापति से उपजते हैं; कहीं नाथ को कोई नहीं मानते सब अनीश्वरवादी हैं; कहीं तिर्यक् ही जीव रहते हैं; कहीं देवता ही रहते हैं और कहीं मनुष्य ही रहते हैं। कहीं बड़े आरम्भ करके सम्पन्न हैं और कहीं शून्यरूप हैं। हे रामजी! इसी प्रकार उन्होंने अनेक सृष्टि चिदाकाश में उत्पन्न होती देखीं जिनकी संख्या करने को कोई समर्थ नहीं, चिदात्मा में आभासरूप फुरती हैं और जैसी फुरना होती हैं उसके अनुसार फुरती हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे ब्रह्माण्डवर्णनन्नाम चतु-
र्विंशतितमस्सर्गः ॥ २४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार दोनों देवियाँ राजा के जगत् में आकर अपने मण्डप स्थानों को देखती भईं। जैसे सोया हुआ जाग के देखता है वैसे ही जब अपने मण्डप में उन्होंने प्रवेश किया तब क्या देखा कि राजा का शव फूलों में ढाँपा हुआ पड़ा है। अर्द्धरात्रि का समय है; सब लोग गृह में सोये हुए हैं और राजा पद्म के शव के पास लीला का शरीर पड़ा है। और अन्तःपुर में धूप, चन्दन, कपूर और अगर की सुगन्ध भरी है। तब वे विचारने लगीं कि वहाँ चलें जहाँ राजा राज्य करता है। उसकी पुर्यष्टक में विदूरथ का अनुभव हुआ था, उस संकल्प के अनुसार विदूरथ की सृष्टि देखने को देवी के साथ लीला

चली और अन्तवाहक शरीर से आकाशमार्ग को उड़ीं। जाते ज
ब्रह्माण्ड की बाट को लाँघ गईं तब विदूरथ के संकल्प में जगत् को दे
जैसे तालाब में सेवार होती है वैसे ही उन्होंने जगत् को देखा। सप्तद्वी
नवखण्ड, सुमेरुपर्वत, द्वीपादिक सब रचना देखीं और उसमें जम्बूद्वी
और भरतखण्ड और उसमें विदूरथ राजा का मण्डपस्थान देखती भ
वहाँ उन्होंने राजा सिद्ध को भी देखा कि राजा विदूरथ की पृथ्वी
कुछ हद उसके भाइयों ने दबाई थी और उसके लिये सेना भेजी। रा
विदूरथ ने भी सुन के सेना भेजी और दोनों सेना मिलके युद्ध कर
लगीं। फिर उन्होंने देखा कि त्रिलोकी युद्ध का कौतुक देखने को आ
है; देवता विमानों पर आरूढ़ और सिद्ध, चारण, गन्धर्व और विद्या
शास्त्रों को छोड़के देखने को स्थित भये हैं। विद्याधरी और अप्सरा
आई हैं कि जो शूरमा युद्ध में प्राणों को त्यागेंगे हम उनको स्वर्ग
ले जावेंगी। रक्त और मांसभोजन करने को भूत, राक्षस, पिशाच, योगि
नियाँ भी आन स्थित भई हैं। हे रामजी! शूर पुरुष तो स्वर्ग के भूष
हैं और अक्षयस्वर्ग को भोगेंगे और जिनका मरना धर्मपक्ष से संग्राम
होगा वह भी स्वर्ग को जावेंगे। इतना सुन रामजी ने पूछा, हे भगवन्
शूरमा किसको कहते हैं और जो युद्ध करके स्वर्ग को नहीं प्राप्त होते
कौन हैं? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जो शास्त्रयुक्ति से युद्ध नहीं कर
और अनर्थरूपी अर्थ के निमित्त युद्ध करते हैं सो नरक को प्राप्त होते
और जो धर्म, गौ, ब्राह्मण, मित्र, शरणागत और प्रजा के पालन
निमित्त युद्ध करते हैं वे स्वर्ग के भूषण हैं। वे ही शूरमा कहाते हैं औ
मरके स्वर्ग में जाते हैं और स्वर्ग में उनका यश बहुत होता है। जो
पुरुष धर्म के अर्थ युद्ध करते हैं वे अवश्य स्वर्गलोक को प्राप्त होते
और जो अधर्म से युद्ध करते हैं वे मृतक हो नरक को प्राप्त होते हैं।
रामजी! जो पुरुष कहते हैं कि संग्राम में मरे सब स्वर्ग को प्राप्त होते हैं
मूर्ख हैं। स्वर्ग को वही जाते हैं जिनका मरना धर्म के अर्थ हुआ है।
जो किसी भोग के अर्थ युद्ध करते हैं सो नरक को ही प्राप्त होते हैं।

इति श्रीयो० लीलो० गगननगरयुद्धवर्णनन्नाम पञ्चविंशतितमस्सर्गः॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! दोनों देवियों ने रणसंग्राम में क्या देखा कि एक महाशून्य वन है उसमें जैसे दो बड़े समुद्र उछलकर परस्पर मिलने लगें वैसे ही दोनों सेना जुड़ी हैं। तब उन्होंने क्या देखा कि सब योधा आन स्थित हुए हैं और मच्छव्यूह गरुड़व्यूह और चक्रव्यूह भिन्न २ भाग करके दोनों सेना के योधा एक २ होकर युद्ध करने लगे हैं। प्रथम परस्पर देख एक ने कहा कि यह बाण चलावे और दूसरे ने कहा कि नहीं तू चला; उसने कहा नहीं तुही प्रथम चला। निदान सब स्थिर हो रहे, मानों चित्र लिख छोड़े हैं। इसके अनन्तर दोनों सेना के और योधा आये मानों प्रलयकाल के मेघ उछले हैं उनके आने से एक २ योधा की मर्यादा दूर हो गई सब इकट्ठे युद्ध करने लगे और बड़े शस्त्रों के प्रवाह के प्रहार करने लगे। कहीं खड्गों के प्रहार चलते थे और कहीं कुल्हाड़े, त्रिशूल, भाले, बरछियाँ, कटारी, छूरी, चक्र, गदादिक शस्त्र बड़े शब्द करके चलाने लगे। जैसे वर्षाकाल में मेघ वर्षा करते हैं वैसे ही शस्त्रों की वर्षा होने लगी। हे रामजी! प्रलयकाल के जितने उपद्रव थे सो सब इकट्ठे हुए। योधा युद्ध की ओर आये और कायर भाग गये। निदान ऐसा संग्राम हुआ कि अनेकों योधाओं के शिर काटे गये और उनके हस्ती घोड़े मृत्यु को प्राप्त हुए। जैसे कमल के फूल काटे जाते हैं वैसे ही उनके शीश काटे जाते थे। तब दोनों सेनाओं के राजा चिन्ता करने लगे कि क्या होगा। हे रामजी! इस युद्ध में रुधिर की नदियाँ चलीं, उनमें प्राणी बहते जाते थे और बड़े शब्द करते थे जिनके आगे मेघों के शब्द भी तुच्छ भासते थे। हे रामजी! दोनों देवियाँ संकल्प के विमान कल्प के आकाश में स्थित हुईं तो क्या देखा कि ऐसा युद्ध हुआ है जैसे महाप्रलय में समुद्र एकरूप हो जाते हैं। और बिजली की नाईं शस्त्रों का चमत्कार होता था। जो शूरवीर हैं उनके रक्त की जो बूँदियाँ पृथ्वी पर पड़ती हैं उन बूँदों में जितने मृत्तिका के कणके लगे होते हैं उतने ही वर्ष वे स्वर्ग को भोगेंगे। जो शूरमा युद्ध में मृतक होते थे उनको विद्याधरियाँ स्वर्ग को ले जाती थीं और देवगण स्तुति करते थे कि ये शूरमा स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं और अक्षय अर्थात्

चिरकाल स्वर्ग भोगेंगे । हे रामजी ! स्वर्गलोक के भोग मन में चि करके शूरमा हर्षवान् होते थे और युद्ध में नाना प्रकार के शस्त्र च और सहन करते थे और फिर युद्ध के सम्मुख धीरज धरके स्थित होते जैसे सुमेरु पर्वत धैर्यवान् और अचल स्थित है उससे भी अधिक वे वान् थे। संग्राम में योधा ऐसे चूर्ण होते थे जैसे कोई वस्तु उखली में होती है परन्तु फिर सम्मुख होते और बड़े हाहाकार शब्द करते थे। ह से हस्ती परस्पर युद्ध करते शब्द करते थे। हे रामजी ! इसी प्रकार अ जीव नाश को प्राप्त हुए । जो शूरमा मरते थे उनको विद्याधरियाँ स्व को ले जाती थीं। निदान परस्पर बड़े युद्ध हुए। खड्गवाले खड्गवाले से त्रिशूलवाले त्रिशूलवाले से युद्ध करते थे। जैसा-जैसा शस्त्र किसी के हो वैसे ही उसके साथ युद्ध करें और जब शस्त्र पूर्ण हो जावें तो के साथ युद्ध करें। इसी प्रकार दशों दिशा युद्ध से परिपूर्ण हुईं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे लीलोपाख्याने रणभूमिवर्णनन्नाम षड्विंशतितमस्सर्गः ॥ २६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जब इस प्रकार बड़ा युद्ध हुआ गङ्गाजी के समान शूरमों के रुधिर का तीक्ष्ण प्रवाह चला और प्रवाह में हस्ती, घोड़े, मनुष्य, रथ सब बहे जाते थे और सेना ना को प्राप्त होती जाती थी । हे रामजी ! उस समय बड़ा क्षोभ हुआ और राक्षस, पिशाचादिक तामसी जीव मांस भोजन और रुधिर पान करते आनन्दित होते थे । जैसे मन्दराचल पर्वत क्षीरसमुद्र को क्षोभ हुआ था वैसे ही युद्धसंग्राम में योद्धाओं का क्षो हुआ और रुधिर का समुद्र चला । उसमें हस्ती, घोड़े, रथ और शूर तरङ्गों की नाईं उछलते दृष्टि आते थे। रथवालों से रथवाले; घोड़ेवा से घोड़ेवाले; हस्तीवाले से हस्तीवाले और प्यादे से प्यादे युद्ध क थे। हे रामजी ! जैसे प्रलयकाल की अग्नि में जीव जलते हैं वैसे ही योद्धा रणभूमि में आवें सो नाश को प्राप्त हों । जैसे दीपक में पत प्रवेश करता है और जैसे समुद्र में नदियाँ प्रवेश करती हैं वैसे ही रणभू में दशों दिशा के योद्धा प्रवेश करते थे। किसी का शीश काटा जा

और धड़ युद्ध करे; किसी की भुजा काटी जावें और किसी के ऊपर रथ चले जावें और हस्ती, घोड़े, उलट-उलट पड़ें और नाश हो जावें। हे रामजी ! दोनों राजाओं की सहायता के निमित्त पूर्वदिशा, काशी, मद्रास, भीला, मालव, सकला, कवटा, किरात, म्लेच्छ, पारसी, काश्मीर, तुरक, पञ्जाब, हिमालय पर्वत, सुमेरु पर्वत इत्यादि के अनेक देशपाल, जिनके बड़े भुजदण्ड, बड़े केश और बड़े भयानकरूप थे, युद्ध के निमित्त आये। बड़ी ग्रीवावाले, एकटँगे, एकाचल, एकाक्ष, घोड़े के मुखवाले, श्वान के मुखवाले और सुमेरु और कैलास के राजा और जितने कुछ पृथ्वी के राजा थे सो सब आये। जैसे महाप्रलय के समुद्र उछलते हैं और दिशा स्थान जल से पूर्ण होते हैं वैसे ही सेना से सब स्थान पूर्ण हुए और दोनों ओर से युद्ध करने लगे। चक्रवाले चक्रवाले से और खड्ग, कुल्हाड़े, त्रिशूल, छुरी, कटारी, बरछी, गदा, बाणादिक शस्त्रों से परस्पर युद्ध करने लगे। एक कहे कि प्रथम मैं जाता हूँ, दूसरा कहे कि मैं प्रथम जाता हूँ। हे रामजी ! उस काल में ऐसा युद्ध होने लगा कि कहने में नहीं आता। दौड़ दौड़ के योद्धा रण में जावें और मृत्यु को प्राप्त हों। जैसे अग्नि में घृत की आहुति भस्म होती है वैसे ही रण में योद्धा नाश को प्राप्त होते थे। ऐसा युद्ध हुआ कि रुधिर का समुद्र चला, उसमें हस्ती, घोड़े, रथ और मनुष्य तृणों की नाईं बहते थे और सम्पूर्ण पृथ्वी रक्तमय हो गई। जैसे आँधी से फल, फूल और वृक्ष गिरते हैं वैसे ही पृथ्वी पर कट-कट शब्द करते शिर गिरते थे। हे रामजी ! जो उस काल में युद्ध हुआ वह कहा नहीं जाता। सहस्रमुख शेषनाग भी उस युद्ध के कर्मों को सम्पूर्ण वर्णन न कर सकेंगे तब और कौन कहेगा। मैंने वह संक्षेप से कुछ सुनाया है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे लीलोपाख्याने द्वन्द्वयुद्धवर्णनन्नाम
सप्तविंशतितमस्सर्गः ॥ २७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जब इस प्रकार युद्ध हुआ तो सूर्य अस्त हुआ मानों उसकी किरणें भी शस्त्रों के प्रहार से अस्तता को प्राप्त हुईं। तब विदूरथ ने सेनापति और मन्त्री को बुलाकर कहा कि हे मन्त्रियो !

अब युद्ध को शान्त करो, क्योंकि सूर्य अस्त हुआ है और योद्धा सब युद्ध करके थके हैं। रात्रि को सब आराम करें दिन को फिर यु करेंगे। इससे आज्ञा फेरो कि अब युद्ध शान्त हो। तब मन्त्री ने दो सेना के मध्य में ऊँचे चढ़के वस्त्र फेरा कि अब युद्ध को शान्त क दिन को फिर युद्ध करेंगे। निदान दोनों सेनाओं ने युद्ध का त्या किया और अपनी-अपनी सेना में नौबत नगारे बजाने लगे और रा विदूरथ भी अपने गृह में आ स्थित हुआ। जैसे शरत्काल में मेघों रहित आकाश निर्मल होता है वैसे ही रण में संग्राम शान्त हुआ। रा को राक्षस, पिशाच, गीदड़, भेड़िये और डाकिनी मांस का भोजन क और रुधिर पान करने लगे। कितनों के शिर और अङ्ग काटे गये, जीते थे और पड़े हाय २ करते थे। वे निशाचरों को देखके डरने ल और कितने लोगों ने भाई और मित्रों को देखा। हे रामजी! तब रा विदूरथ ने स्वर्ण के मन्दिर में फूलों सहित चन्द्रमा की नाईं शीतल औ सुन्दर शय्या पर सब किवाड़ चढ़ा के विश्राम किया और मन्त्रियों साथ विचार किया कि प्रातःकाल उठके ऐसे करेंगे। ऐसे विचार क राजा ने शयन किया पर एक मुहूर्त्त पर्यन्त सोया और फिर चिन्ता जग उठा। इधर इन दोनों देवियों ने आकाश से उतर के; जैसे सन्ध्या काल में कमल के मुख मूँदते हैं और उनमें वायु प्रवेश कर जाता वैसे ही मन्दिरों में सूक्ष्मरूप से प्रवेश किया। इतना सुन रामजी पूछा, हे भगवन्! शरीर से परमाणु के रन्ध्र में देवियों ने कैसे प्रवे किया, वह तो कमल के तन्तु और बाल के अग्र से भी सूक्ष्म होते हैं वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! भ्रान्ति से जो आधिभौतिक शरीर हुआ उस आधिभौतिक शरीर से सूक्ष्मरन्ध्र में प्रवेश कोई नहीं कर सकता, परन्तु मनरूपी शरीर को कोई नहीं रोक सकता। हे रामजी! देवी और लील का अन्तवाहक शरीर था उससे सूक्ष्म परमाणु के मार्ग से उनक प्रवेश करने में कुछ विचार न हुआ। जो उनका आधिभौतिक शरी होता तो यत्न भी होता। जहाँ आधिभौतिक न हो वहाँ यत्न की श कैसे हो? हे रामजी! और भी सब शरीर चित्तरूपी हैं पर जैसा नि

अनुभव संवित् में होता है तैसे ही सिद्धता होती है अन्यथा नहीं होती। जिसके निश्चय में ये शरीरादिक आकाशरूप हैं उसको आधिभौतिकता का अनुभव नहीं होता और जिसके निश्चय में आधिभौतिकता दृढ़ हो रही है उसको अन्तवाहकता का अनुभव नहीं होता। जिस पुरुष को पूर्वार्ध का अनुभव नहीं उसको उत्तरार्ध में गमन नहीं होता—जैसे वायु का चलना ऊर्ध्व को नहीं होता, तिरछा स्पर्श होता है, अग्नि का चलना अधः को नहीं होता और जल का ऊर्ध्व को नहीं होता। जैसे आदि चेतन संवित् में प्रवृत्ति हुई है वैसे ही अब तक स्थित है। इससे जिसको अन्तवाहक शक्ति उदय हुई है उसको आधिभौतिकता नहीं रहती और जिसको आधिभौतिकता दृढ़ है उसको अन्तवाहक शक्ति उदय नहीं होती। हे रामजी! जो पुरुष छाया में बैठा हो उसको धूप का अनुभव नहीं होता और जो धूप में बैठा है उसको छाया का अनुभव नहीं होता। अनुभव उसी का होता है जिसकी चित्त में दृढ़ता होती है अन्यथा किसी को कदाचित् नहीं होता। हे रामजी! जैसा दृढ़ भाव चित्तसंवित् में होता है तो जब तक और प्रतीति नहीं होती तब तक वैसे ही सिद्धता होती है। जैसे रस्सी में भ्रम से सर्प भासता है और मनुष्य भय से कंपायमान होता है, सो कंपना भी तब तक है जब तक सर्प का अनुभव अन्यथा नहीं होता; जब रस्सी का अनुभव उदय होता है तब सर्पभ्रम नष्ट होता है वैसे ही जैसा अनुभव चित्तसंवित् में दृढ़ होता है उसी का अनुभव होता है। यह वार्त्ता बालक भी जानता है कि जैसी जैसी चित्त की भावना होती है वैसा ही रूप भासता है। निश्चय और हो और अनुभव और प्रकार हो ऐसा कदाचित् नहीं होता। हे रामजी! जिनको ये आकार स्वप्न संकल्पपुर की नाईं हुए हैं सो आकाशरूप हैं। जिनको ऐसा निश्चय हो उनको कोई रोक नहीं सकता। औरों का भी चित्तमात्र शरीर है पर जैसा जैसा संवेदन दृढ़ हुआ है वैसा ही वैसा आपको जानता है। हे रामजी! आदि में सब कुछ आत्मा से स्वाभाविक उपजा है सो अकारणरूप है और पीछे प्रमाद से द्वैतकार्य कारणरूप होके स्थित हुआ है। हे रामजी! आकाश तीन हैं—एक चिदाकाश; दूसरा चित्ताकाश

और तीसरा भूताकाश है।उनमें वास्तव एक चिदाकाश है और भ करके भिन्न २ कल्पना हुई हैं। आदि शुद्ध अचेत, चिन्मात्र चिदा में जो संवेदन फुरा है उसका नाम चित्ताकाश है और उसी में यह स जगत् हुआ है। हे रामजी! चित्तरूपी शरीर सर्वगत होकर स्थित है।जैसा जैसा उसमें स्पन्द होता है वैसा ही वैसा होके भासता है। जि कुछ पदार्थ हैं उन सबों में व्याप रहा है; त्रसरेणु के अन्तर भी सूक्ष्म से स्थित हुआ और आकाश के अन्तर भी व्याप रहा है। पत्र फल से होते हैं; जल में तरङ्ग होके स्थित हुआ है; पर्वत के भीतर फुरता, मेघ होके भी यही वर्षता और जल से बरफ भी यह चि होता है। अनन्त आकाश परमाणुरूप भीतर बाहर सर्वजगत् में है। जितना जगत् है वह चित्तरूप ही है और वास्तव में आत्मा से अ रूप है। जैसे समुद्र और तरङ्ग में कुछ भेद नहीं वैसे ही आत्मा चित्त में कुछ भेद नहीं। जिस पुरुष को ऐसे अखण्डसत्ता आत्मा अनुभव हुआ है और जिसका सर्ग के आदि में चित्त ही शरीर है आधिभौतिकता को नहीं प्राप्त हुआ वह महाआकाशरूप है, उसका का स्वभाव स्मरण रहा है इस कारण उसका अन्तवाहक शरीर है रामजी! जिस पुरुष को अन्तवाहकता में अहंप्रत्यय है उसको सब ज संकल्पमात्र भासता है वह जहाँ जाने की इच्छा करता है वहाँ जा है। उसको कोई आवरण नहीं रोक सकता। जिसको आधिभौति में निश्चय है उसको अन्तवाहक शक्ति नहीं होती। हे रामजी! स अन्तवाहकरूप हैं और भ्रम से अनहोता आधिभौतिक देखते हैं। मरुस्थल में जल भासता है और जैसे स्वप्न में बन्ध्या के पुत्र का स होता है वैसे ही आधिभौतिक जगत् भासता है। जैसे जल शीतल से बरफ हो जाता है वैसे ही जीव प्रमाद से अन्तवाहक से आधिभौ शरीर होता है। इतना सुन रामजी ने पूछा, हे भगवन्! चित्त में हैं; कैसे होता है और कैसे नहीं होता; यह जगत् कैसे चित्तरू और क्षण में अन्यथा कैसे हो जाता है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी एक एक जीवप्रति चित्त होता है। जैसा जैसा चित्त है वैसी ही

शक्ति है। चित्त में जगत् भ्रम होता है, क्षण में कल्प और सम्पूर्ण जगत् उदय हो आता है और क्षण में सम्पूर्ण लय होता है। किसी को निमेष में कल्प हो आता है और किसी को क्रम से भासता है सो मन लगाकर सुनिये। हे रामजी! जब मरने की मूर्च्छा होती है तो उस महाप्रलयरूप मृत्यु मूर्च्छा के अनन्तर नाना प्रकार का जगत् फुर आता है जैसे स्वप्न में सृष्टि फुर आती है और जैसे संकल्प का पुर भासता है वैसे ही मृत्यु मूर्च्छा के अनन्तर सृष्टि भासती है। जैसे महाप्रलय के अनन्तर आदि विराट्रूप ब्रह्मा होता है वैसे ही मृत्यु के अनन्तर इसका अनुभव होता है। यह भी विराट् होता है, क्योंकि इसका मनरूपी शरीर होता है। रामजी बोले, हे भगवन्! मृत्यु के अनन्तर जो सृष्टि होती है वह स्मृति से होती है, स्मृति विना नहीं होती, इसलिये मृत्यु के अनन्तर जो सृष्टि हुई तो सकारणरूप हुई? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब महाप्रलय होता है तब हरि हरादिक सबही विदेहमुक्त होते हैं। फिर स्मृति का सम्भव कैसे हो? हमसे आदि ले जो बोध आत्मा हैं जब विदेह मुक्त हुए हैं तब स्मृति कैसे सम्भव हो? अब के जो जीव हैं उनका जन्म-मरण स्मृति कारण से होता है, क्योंकि मोक्ष नहीं होता–मोक्ष का उनको अभाव है। हे रामजी! जब जीव मरते हैं तब उन्हें मृत्यु-मूर्च्छा होती है, पर कैवल्यभाव में स्थित नहीं होते; मूर्च्छा से उनका संवित् आकाशरूप होता है उससे फिर चित्तसंवेदन फुर आता है। तब उन्हें क्रम करके जगत् फुर आता है, पर जब बोध होता है तब तन्मात्रा और काल, क्रिया, भाव, अभाव, स्थावर-जङ्गम जगत् सब आकाशरूप हो जाता है। जिनका संवेदन दृश्य की ओर धावता है उनको मृत्यु-मूर्च्छा के अनन्तर अज्ञान संवेदन फुरता है उससे उन्हें शरीर और इन्द्रियाँ भास आती हैं। वह अन्तवाहक शरीर है परन्तु चिरकाल की प्राप्ति करके आधिभौतिक हो भासता है। तब देश, काल, क्रिया, आधार, आधेय उदय होकर स्थित होते हैं। जैसे वायु स्पन्द और निस्पन्दरूप है, पर जब स्पन्द होता है तब भासता है और निस्पन्द होने से नहीं भासता वैसे ही संवेदन

से जब जगत् भासता है तब जानता है कि मैं यहाँ उपजा हूँ स्वप्न में अङ्गना के स्पर्श का अनुभव होता है वह मिथ्या है वै भ्रम से जो आपको उपजा देखता है वह भी मिथ्या है। हे राम जहाँ यह जीव मृतक होता है वहीं जगत्भ्रम देखता है। वास् जीव भी आकाशरूप है और जगत् भी आकाशरूप है। अज्ञा जीव आपको उपजा मानता है और नाना जगत्भ्रम देखता है यह नगर है, यह पर्वत है, ये सूर्य और चन्द्रमा हैं, ये तारा और जरा-मरण, आधि-व्याधि सङ्कट से व्याकुल होता है। वह अभाव, भय, स्थूल, सूक्ष्म, चर-अचर, पृथ्वी, नादियाँ, पर्वत, भूत-भा वर्त्तमान; क्षय-अक्षय और भूमि को भी देखता है और समझता मैं उपजा हूँ, मैं अमुक का पुत्र हूँ, यह मेरा कुल है, यह मेरी माता मेरे बांधव हैं, इतना धन हमको प्राप्त हुआ है इत्यादि अनेक वा जालों में दुःखी होता है और कहता है कि यह सुकृत है और दुष्कृत है; प्रथम मैं बालक था; अब मेरी यह अवस्था हुई और यह वर्ण है इत्यादि अनेक जगत् कल्पना हरएक जीव को उदय होती हे रामजी! संसाररूपी एक वृक्ष उगा है; चित्तरूपी उसका बीज तारागण उसके फूल हैं और चञ्चल मेघ पत्र हैं। जङ्गम जीव, म देवता, दैत्यादिक पक्षी उस पर बैठनेवाले हैं और रात्रि उसके ऊपर है; समुद्र उसकी तलावड़ी है; पर्वत उसमें शिलचट्टे हैं और अनुभ अंकुर हैं। जहाँ जीव मरता है वहीं क्षण में ये सब देखता है। प्रकार एक २ जीव को अनेक जगत् भासते हैं। हे रामजी! कि कोटि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, पवन और सूर्यादिक हुए हैं। जहाँ है वहीं ये होते हैं इससे चिद्अणु में अनेक सृष्टि हैं, जीव भी अ हुए हैं और उन्हीं में सुमेरु, मण्डल, द्वीप और लोक भी बहुते हैं। जो चिद्अणु में ही सृष्टि का अन्त नहीं तो परब्रह्म में अन्त से आवे? वास्तव में है नहीं; जैसे पर्वत की दीवार में शिल्पी पुतलि कल्पे तो कुछ है नहीं वैसे ही जगत् चिदाकाश में नहीं है केवल भ मात्र ही है। हे रामजी! मनन और स्मरण भी चिदाकाशरूप है

दाकाश में मनन और स्मरण है। जैसे तरङ्ग भी जलरूप हैं और जल में होते हैं; जल से इतर तरङ्ग कुछ वस्तु नहीं हैं; वैसे ही मनन और मरण भी चिदाकाशरूप जानो। हे रामजी! दृश्य कुछ भिन्न वस्तु नहीं ; द्रष्टा ही दृश्य की नाईं होकर भासता है। जैसे मनाकाश नाना कार हो भासता है वैसे ही चिदाकाश का प्रकाश नाना प्रकार जगत् होकर सता है। यह विश्व सब चिदाकाशरूप है। हमको तो ऐसे ही भासता है पर तुमको अर्थाकाररूप भासता है, इसी कारण कहा है कि लीला और सरस्वती आकाशरूप, सर्वज्ञ स्वच्छरूप और निराकार थीं। वे जहाँ हती थीं तहाँ जाय प्राप्त होती थीं और जैसी इच्छा करती थीं वैसी सिद्धि होती थी, क्योंकि जिसको चिदाकाश का अनुभव हुआ है उसको कोई रोक नहीं सकता। सर्वरूप होके जो स्थित हुआ उसे गृह में प्रवेश करना क्या आश्चर्य है। वह तो अन्तवाहकरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने स्मृत्यनुभववर्णनन्नामाष्टाविंशतितमस्सर्गः ॥ २८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब दोनों देवियाँ जिनकी चन्द्रमा के समान कान्ति थी राजा के अन्तःपुर में संकल्प से प्रवेशकर सिंहासन पर स्थित हुईं तो बड़ा प्रकाश अन्तःपुर में हुआ और शीतलता से व्याधि-ताप शान्त हुआ। जैसे नन्दनवन होता है वैसे ही अन्तःपुर होगया और जैसे प्रातःकाल में सूर्य का प्रकाश होता है वैसे ही देवियों के प्रकाश से अन्तःपुर पूर्ण हुआ; मानों देवियों के प्रकाश से राजा पर अमृत की सींचना हुई। तब राजा ने देखा कि मानों सुमेरु के शृङ्ग से दो चन्द्रमा उदय हुए हैं। ऐसे देखके वह विस्मय को प्राप्त हुआ और चिन्तना की कि ये देवियाँ हैं। इसलिये, जैसे शेषनाग की शय्या से विष्णु भगवान् उठते हैं वैसे ही उसने उठके और वस्त्रों को एक ओर करके हाथों में पुष्प लिये और हाथ जोड़के देवियों के चरणों पर चढ़ाये और माथा टेक के पद्मासन बाँध पृथ्वी पर बैठ गया और कहने लगा, हे देवियो! तुम्हारी जय हो। तुम जन्म दुःख ताप के शान्त करनेवाले चन्द्रमा हो और अपूर्व सूर्य हो—अर्थात् पूर्व सूर्य के प्रकाश से बाह्यतम नष्ट

होता है और तुम्हारे प्रकाश से अन्तर अज्ञानतम भी नष्ट होता इससे अपूर्व सूर्य हो। इसके अनन्तर देवी ने मन्त्री को जो राजा के नदी के तट के फलों के वृक्षों के समान सोया था जन्म और कुल कहावने के निमित्त संकल्प से जगाया और मन्त्री उठके फूलों से दे का पूजन कर राजा के समीप जा बैठ गया। तब सरस्वती कहने ल हे राजन्! तू कौन है, किसका पुत्र है और कब तूने जन्म लिया हे रामजी! जब इस प्रकार देवी ने पूछा तब मन्त्री, जो निकट बैठा बोला, हे देवि! तुम्हारी कृपा से राजा का जन्म और कुल मैं कहता इक्ष्वाकुकुल में एक राजा हुआ था जिसके कमल की नाईं नेत्र थे वह श्रीमान् था, उसका नाम कुन्दरथ था। निदान उसका पुत्र बु हुआ; बुधरथ के सिंधुरथ हुआ; उसका पुत्र महारथ हुआ; महारथ पुत्र विष्णुरथ हुआ; उसका पुत्र कलारथ हुआ; कलारथ का पुत्र स हुआ; सयरथ का पुत्र नभरथ हुआ और उस नभरथ के बड़े करके यह विदूरथ पुत्र हुआ। जैसे क्षीरसमुद्र से चन्द्रमा निकला वैसे ही सुमित्रा माता से यह उपजा है। जैसे गौरीजी से स्वामिका उत्पन्न हुए हैं वैसे ही यह सुमित्रा से उत्पन्न हुए हैं। हे देवि! इस प्र तो हमारे राजा का जन्म हुआ है। जब यह दश वर्ष का हुआ तब इसको राज्य देकर आप वन को चला गया और उस दिन से इसने की मर्यादा से पृथ्वी की पालना की और बड़े पुण्य किये हैं। उ पुण्यों का फल तुम्हारा दर्शन अब इसको हुआ है। हे देवि! तुम्हारे दर्शन के निमित्त बहुत वर्षों तप करते हैं उनको भी तुम्हारा द पाना कठिन है, इससे इसके बड़े पुण्य हैं कि तुम्हारा दर्शन प्राप्त हु हे रामजी! इस प्रकार कहके जब मन्त्री तूष्णी हुआ तब देवीजी कृपा करके राजा विदूरथ के शीश पर हाथ रखकर कहा, हे राजन्! अपने पूर्वजन्म को विवेकदृष्टि करके देखो कि तुम कौन हो? देवी हाथ रखने से राजा के हृदय का अज्ञानतम निवृत्त हो गया; हृदय प्र क्षित हुआ और देवी के प्रसाद से राजा को पूर्व की स्मृति फुर आ लीला और पद्म का सम्पूर्ण वृत्तान्त स्मरण करके कहने लगा हे देवि

बड़ा अचरज है कि यह जगत् मन से रचा है। यह मैंने तुम्हारे प्रसाद से जाना कि मैं राजा पद्म था और लीला मेरी स्त्री थी। मुझको मृतक हुए एक दिन ऐसे में भासा और यहाँ मैं सौ वर्ष का हुआ हूँ सो अब तक भ्रम से मैंने नहीं जाना; अब प्रत्यक्ष जानता हूँ। सौ वर्षों में जो अनेक कार्य मैंने किये हैं वह सब मुझको स्मरण होते हैं और अपने प्रपितामह और अपनी बाल्यावस्था व यौवन अवस्था, मित्र और बान्धव भी स्मरण आते हैं—यह बड़ा आश्चर्य हुआ है। सरस्वती बोली, हे राजन्! जब जीव मृतक होते हैं तब उनको बड़ी मूर्च्छा होती है। उस मूर्च्छा के अनन्तर और-और लोक भास आते हैं और एक मुहूर्त्त में वर्षों का अनुभव होता है। जैसे स्वप्न में एक मुहूर्त्त में अनेक वर्षों का अनुभव होता है, वैसे ही तुझको मृत्यु-मूर्च्छा के अनन्तर यह लोक भ्रम भासा है। हे राजन्! जहाँ तुम पद्म राजा थे उस गृह में मृतक हुए तुमको एक मुहूर्त्त बीता है और यहाँ तुमको बहुतेरे वर्षों का अनुभव हुआ है। इससे भी जो पिछला वृत्तान्त है वह सुनिये। हे राजन्! पहाड़ के ऊपर एक ग्राम था उसमें एक वशिष्ठ ब्राह्मण रहता था और अरुन्धती उसकी स्त्री थी। वह दोनों मन्दिर में रहते थे। अरुन्धती ने मुझसे वर लिया कि जब मेरा भर्त्ता मृतक हो तब उसका जीव इसी मण्डपाकाश में रहे। निदान जब वह मृतक हुआ तब उसकी पुर्यष्टक उसी मन्दिर में रही, पर उसके संवित् में राजा की दृढ़ वासना थी इसलिये उस मण्डपाकाश में उसको पद्म राजा की सृष्टि फुर आई और अरुन्धती उसकी स्त्री लीला होकर उसको प्राप्त हुई। राजा पद्म का मण्डप उस ब्राह्मण के मण्डपाकाश में स्थित हुआ और फिर उस मण्डप में जब तू राजा पद्म मृतक हुआ तब तेरे संवित् में नाना प्रकार के आरम्भसंयुक्त यह जगत् फुर आया। हे राजन्! यह तेरा जगत् पद्म राजा के हृदय में फुर आया है और पद्म राजा के मण्डपाकाश में स्थित है। पद्म राजा का जगत् उस वशिष्ठ ब्राह्मण के मण्डपाकाश में स्थित है और वही वशिष्ठ ब्राह्मण तुम विदूरथ राजा हुए हो। हे राजन्! यह सब जगत् प्रतिभामात्र है और मन की कल्पना से भासता है—उपजा कुछ नहीं। इतना सुन विदूरथ बोले, बड़ा आश्चर्य

है कि जैसे मेरा यह जन्म भ्रमरूप हुआ वैसे ही इक्ष्वाकु का कुल
मेरे माता-पिता सब भ्रमरूप हुए हैं। उसमें मैं जन्म लेके बालक
और जब दश वर्ष का था तब पिता ने मुझको राज्य देके वनवास
फिर मैंने दिग्विजय करके प्रजा की पालना की और शत वर्षों का
अनुभव होता है। फिर मुझको दारुण अवस्था युद्ध की इच्छा हुई
युद्ध करके रात्रि को मैं गृह में आया। अब तुम दोनों देवियाँ मेरे
में आई और मैंने तुम्हारी पूजा की। तब तुम दोनों में से एक देवी
कृपा करके मेरे शीश पर हाथ रक्खा है उसी से मुझको ज्ञान प्रकाश
है। जैसे सूर्य के प्रकाश से कमल प्रफुल्लित होता है वैसे ही मेरा
देवी के प्रकाश से प्रफुल्लित हुआ है। इनकी कृपा से मैं कृतकृत्य
और अब मेरा सब सन्ताप नष्ट होकर निर्वाण, समता, सुख और
पद को प्राप्त हुआ हूँ। सरस्वती बोली, हे राजन्! जो कुछ
भासा है वह भ्रममात्र है और नाना प्रकार के व्यवहार और
भी भ्रममात्र हैं, क्योंकि वहाँ तुझको मृतक हुए अभी एक मुहूर्त्त
हुआ है और इसी अनन्तर में उसी मण्डपआकाश में तुझको यह
भासा। पद्म राजा की वह सृष्टि ब्राह्मण के मण्डप में स्थित है और
तुझको नदियाँ, पर्वत, समुद्र, पृथ्वी आदिक भूत सम्पूर्ण जगत्
आये हैं। हे राजन्! मृत्यु-मूर्च्छा के अनन्तर कभी वही जगत्
है, कभी और प्रकार भासता है और कभी पूर्व-अपूर्व भी भासता
यह केवल मन की कल्पना है, पर वास्तव में असत्‌रूप है और
से सत् की नाईं भासता है। जैसे एक मुहूर्त्त शयन करके स्वप्न में
तेरे वर्षों का क्रम देखता है वैसे ही जगत् का अनुभव होता है।
संकल्पपुर में अपना जीना, मरना और गन्धर्वनगर भ्रममात्र होता
जैसे नौका में बैठे हुए मनुष्य को तट के वृक्ष चलते हुए भासते
भ्रमण करने से पर्वत, पृथ्वी और मन्दिर भ्रमते भासते हैं और
अपना शिर कटा भासता है वैसे ही यह जगत् भ्रम से भासता है
राजन्! अज्ञान से तुझको मिथ्या कल्पना उपजी है; वास्तव में
मृतक हुआ और न तूने जन्म लिया, तेरा अपना आप जो शुद्ध

शान्तिरूप आत्मपद है उसी में स्थित है। नाना प्रकार का जगत् अज्ञान से भासता है और सम्यक् ज्ञान से सर्वात्मसत्ता भासती है। आत्मसत्ता ही जगत् की नाईं भासती है। जैसे बड़ी मणि की किरणें नाना प्रकार हो भासती हैं सो वह मणि से भिन्न नहीं; वैसे ही आत्मसत्ता का किञ्चन आकाशरूप जगत् भासता है। गिरि और ग्राम किञ्चनरूप हो जितना जगत् विस्तार तुमको भासता है वह लीला और पद्म राजा के मण्डपाकाश में स्थित है और लीला और पद्म की राजधानी उस वशिष्ठ ब्राह्मण के मण्डपाकाश में स्थित है। हे राजन्! यह जगत् वशिष्ठ ब्राह्मण के हृदय मण्डपाकाश में फुरता है। वह मण्डपाकाश जो आकाश में स्थित है उसमें न पृथ्वी है न पर्वत हैं। न मेघ हैं, न समुद्र है और न कोई मुमुक्षु है। केवल शून्य शून्य स्थित है और न कोई जगत् है, न कोई देखनेवाला है—यह सब भ्रान्तिमात्र है। हे राजन्! यह सब तेरे उस मण्डपाकाश में फुरते हैं। विदूरथ बोले, हे देवि! जो ऐसा ही है तो यह मेरे भृत्य भी अपने आत्म में सत् हैं वा असत् हैं कृपा कर कहिये? देवी बोली, हे राजन्! विदित वेद जो पुरुष है वह शुद्ध बोधरूप है। उसको कुछ भी जगत् सत्यरूप नहीं भासता, सब चिदाकाशरूप ही भासता है। जैसे भ्रम निवृत्त होने पर रस्सी में सर्प नहीं भासता वैसे ही जिन पुरुषों को आत्मबोध हुआ है और जिनका जगत्भ्रम निवृत्त हुआ है उनको जगत् सत् नहीं भासता। जैसे सूर्य की किरणों में जल को असत् जाने तो फिर जलसत्ता नहीं भासती वैसे ही जिनको आत्मबोध हुआ है और जगत् को असत् जानते हैं उनको सत् नहीं भासता। हे राजन्! जैसे स्वप्न में कोई भ्रम से अपना शीश कटा देखे और जागने पर स्वप्न का मरना नहीं देखता वैसे ही ज्ञानवान् को जगत् सत् नहीं भासता। जैसे स्वप्न का मरना भ्रम से देखता है वैसे ही अज्ञानी को जगत् सत् भासता है। परन्तु वास्तव में कुछ नहीं, शुद्ध बोध में जगत् भ्रम भासता है। जैसे शरत्काल में मेघ से रहित शुद्ध आकाश होता है वैसे ही शुद्धबोधवालों को अहं त्वं आदि व्यर्थ शब्द का अभाव होता है। हे राजन्! तुम और तुम्हारे भृत्य इत्यादि जो यह सृष्टि है वह सब

आत्मा में फुरे हैं और वास्तव में कुछ नहीं हुआ । केवल आत्म अपने आपमें स्थित है और भ्रम से और कुछ भासता है, पर शुद्धवि घनरूप ही उसका शेष रहता है । इतना कहकर बाल्मीकिजी बोले इस प्रकार जब देवी और विदूरथ का संवाद वशिष्ठजी ने रामजी कहा तब सूर्य अस्त होकर सायंकाल का समय हुआ और सब स परस्पर नमस्कार करके स्नान को गई। जब रात्रि बीत गई सूर्य किरणों के निकलते ही सब अपने २ स्थानों पर आके बैठे ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे लीलोपाख्याने भ्रान्तिविचारो नामैकोनत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ २९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जो पुरुष अबोध हैं अर्थात् परमपद स्थित नहीं हुए उनको जगत् वज्रसार की नाईं दृढ़ है । जैसे मूर्ख बाल को अपनी परछाहीं में बैताल भासता है वैसे ही अज्ञानी को असत् जगत् सत् हो भासता है और जैसे मरुस्थल में मृग को असत्रूप ज भास सत्य हो भासता है; स्वप्ने में क्रिया अर्थभ्रम करके भासते हैं; जिस सुवर्णबुद्धि नहीं होती उसको भूषणबुद्धि सत् भासती है और जैसे ने दूषण से आकाश में मुक्तमाला भासती हैं वैसे ही असम्यक्दर्शी असत्रूप जगत् सत् हो भासता है । हे रामजी ! यह जगत् दीर्घकाल स्वप्ना है; अहन्ता से दृढ़ जाग्रत्रूप हो भासता है और वास्तव में कु उपजा नहीं । परमचिदाकाश सर्वदा शान्ति और अचिन्त्य चिन्मात्रस्वरूप सर्वशक्ति सर्व आत्मा ही है; जहाँ जैसा स्पन्द फुरता है वैसा जगत् होकर भासता है । जैसे स्वप्नसृष्टि भासती है वह स्वप्नभ्रम चिद काश में स्थित है । उस चिदाकाश में एक स्वप्नपुर फुरता है और व द्रष्टा हो दृश्य को देखता है । वह द्रष्टा और दृश्य दोनों चेतन संवित् आभासरूप हैं वैसे ही यह जगत् भी आभासरूप है । हे रामजी ! स की आदि जो शुद्ध आत्मसत्ता थी उसमें आदि संवेदन स्पन्द हुआ है वही ब्रह्माजी हैं और उसी के संकल्प में यह संपूर्ण जगत् स्थित है । य सम्पूर्ण जगत् स्वप्न की नाईं है; उस स्वप्नरूप में तुम्हारा सद्भाव हु है । जैसे तुम हो वैसे ही और भी हैं । जैसे स्वप्न में स्वप्ननर को औ

स्वप्न हो और जैसे स्वप्ननगर वास्तव सत् नहीं होता वैसे ही यह जगत् भी जो दृष्टि आता है भ्रममात्र है । जैसे स्वप्न में असत् ही सत् होके भासता है वैसे ही यह भी अहं त्वं आदि भासते हैं और जैसे स्वप्न में सब कर्म होते हैं वैसे ही यह भी जानो । इतना सुन रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! स्वप्न से जब मनुष्य जागता है तब स्वप्न के पदार्थ उसे असत्रूप हो भासते हैं, पर ये तो ज्यों के त्यों रहते हैं और जब देखिये तब ऐसे ही हैं, फिर आप जाग्रत् और स्वप्न को कैसे समान कहते हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जैसा स्वप्न है वैसा ही जाग्रत् है; स्वप्न और जाग्रत् में कुछ भेद नहीं । स्वप्न को भी असत् तब जानता है जब जागता है; जब तक जागता नहीं तब तक असत् नहीं जानता वैसे ही मनुष्य भी जब तक आत्मपद में नहीं जागता तब तक असत् नहीं भासता और जब आत्मपद में जागता है तब यह जगत् भी असत्रूप भासता है । हे रामजी ! यह जगत् असत्रूप है और भ्रम से सत् की नाईं भासता है । जैसे स्वप्न की स्त्री असत्रूप होती है और उसको पुरुष सत्रूप जानता है वैसे ही यह जगत् भी असत्रूप सत् हो दिखाई देता है । केवल आभासरूप जगत् है और आत्मसत्ता सर्वत्र सर्वदा अद्वैतरूप है, जहाँ जैसा चिन्तता है वहाँ वैसा ही होके भासता है । जैसे डिब्बे में अनेक रत्न होते हैं उसमें जिसको चाहता है लेता है, वैसे ही सर्वगत चिदाकाश है, जहाँ जैसा चिन्तता है वहाँ वैसा हो भासता है । हे रामजी ! अब पूर्व का प्रसङ्ग सुनो । जब देवी ने विदूरथ पर अमृत के समान ज्ञानवचनों की वर्षा की तब उसके हृदय में विवेकरूप सुन्दर अंकुर उत्पन्न हुआ । तब सरस्वती ने कहा, हे राजन् ! जो कुछ कहना था वह मैं तुझसे कह चुकी । अब तुम रणसंग्राम में मृतक होगे यह मैं जानती हूँ । अब हम जाती हैं, लीलादि को देखाने के लिये हम आई थीं सो सब दिखा चुकीं । इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जब इस प्रकार मधुरवाणी से सरस्वती ने कहा तब बुद्धिमान् राजा विदूरथ बोला । हे देवि ! बड़ों का दर्शन निरर्थक नहीं होता वह तो महाफल देनेवाला है । हे देवि ! जो अर्थी मेरे पास आता है उसे मैं

निरर्थक नहीं जाने देता और सबका अर्थ पूरा करता हूँ। तुम साक्षात् ईश्वरी हो इसलिए मुझे यह वर दो कि देह को त्याग कर लोकान्तर में पद्म के शव में प्राप्त होऊँ और मेरे मन्त्री और लीला मेरे साथ हों। हे देवि ! जो भक्त शरण में प्राप्त होता है उसको बड़े लो त्याग नहीं करते, बल्कि उसके सब अर्थ सिद्ध करते हैं। सरस्वती बोली, राजन्! ऐसा ही होगा। तू पद्मराजा के शरीर में प्राप्त होगा और बोधसहि निश्शङ्क होकर राज्य करेगा। हमारी आराधना किसी को व्यर्थ नहीं होती जैसी कामना करके कोई हमको सेवता है वैसे ही फल को प्राप्त होता है

इति श्रीयोगवाशिष्ठ उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने स्वप्नपुरुषसत्यता
वर्णनन्नाम त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३० ॥

सरस्वती बोली, हे राजन् ! अब तुम रण में मृतक होके पूर्व के प राजा के शरीर में प्राप्त होगे और यह तुम्हारी भार्या और मन्त्री भी तुम वहाँ प्राप्त होंगे। हे राजन् ! तुम ऐसे चले जावोगे जैसे वायु चली जा है। जैसे अश्व और खर, मृग और ऊँट हाथी का संग नहीं करते वैसे ह तुम्हारा हमारा क्या संग है—इससे हम जाती हैं। इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जब इस प्रकार देवी ने कहा तब एक पुरुष ने आक कहा, हे राजन् ! जैसे प्रलयकाल में मन्दराचल और अस्ताचल आ पर्वत वायु से उड़ते हैं वैसे ही शत्रु चले आते हैं और चक्र गदा आ शस्त्रों की वर्षा करते हैं। जैसे महाप्रलय में सब स्थान जल से पूर्ण ह जाते हैं वैसे ही सेना से सब स्थान पूर्ण हुए हैं और उन्होंने अग्नि भ लगाई है उससे स्थान जलने लगे हैं। वे शब्द करते हैं और नदी क प्रवाह की नाईं बाण चले आते हैं। अग्नि ऐसी लगी है जैसे महाप्रल की बड़वाग्नि समुद्र को सोखती है। तब दोनों देवियाँ और राजा औ मन्त्री ऊँचे चढ़ के और झरोखे में बैठ के क्या देखने लगे कि जै प्रलयकाल में मेघ चले आते हैं वैसे ही सेना चली है और जै प्रलय की अग्नि से दिशा पूर्ण होती हैं वैसे ही अग्नि की ज्वाला स सब दिशा पूर्ण हुई हैं और उससे ऐसी चिनगारियाँ उड़ती हैं मा तारागण गिरते हैं और अङ्गारों की वर्षा होती है उससे जीव जलते है

सुन्दर स्त्रियाँ जो नाना प्रकार के भूषणों से पूर्ण थीं वह तृणों की नाईं अग्नि में जलती हैं और पुरुषों की देह और वस्त्र भी जलते हैं। सब हाय-हाय शब्द करते हैं और जलते-जलते बांधव, पुत्र और स्त्रियों को ढूँढ़ते हैं। हे रामजी ! यह आश्चर्य देखो कि ऐसे स्नेह से जीव बाँधे हुए हैं कि मृत्युकाल में भी स्नेह नहीं त्याग सकते, पर सेना के लोग दूसरे लोगों को मार के स्त्रियों को ले जाते हैं। हे रामजी ! उस काल रणभूमि में चहुँओर शब्द छा गया; कोई कहता था हाय पिता; कोई कहता था हाय माता; हाय भाई; हाय पुत्र; हाय स्त्री। घोड़े, गौ, बैल, ऊँट आदि पशु इकट्ठे मिल गये और अग्नि की ज्वाला वृद्धि होती जाती है और बड़ा क्षोभ उदय हुआ। जैसे महाप्रलय की अग्नि होती है वैसे ही सब स्थान अग्नि से पूर्ण हुए और उनमें अनेक जीव और स्थान दग्ध होने लगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने अग्निदाह-
वर्णनन्नामैकत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३१ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रकार राजा नगर को देखता था कि लीला सहेलियों सहित अपने दूसरे स्थान से जहाँ राजा विदूरथ था आई। उसके महासुन्दर भूषण कुछ टूटे हुए और कुछ शिथिल थे। एक सहेली ने कहा, हे राजन् ! तुम्हारे अन्तःपुर में जो स्त्रियाँ थीं उन्हें शत्रु ले गये हैं, पर इस लीला रानी को हम बड़े यत्न से चुराकर ले आई हैं; और दूसरे लोगों को उन शत्रुओं ने बड़ा कष्ट दिया है। तुम्हारे द्वारे पर जो सेना बैठी है उसको भी वह चूर्ण करते हैं और समस्त नगर को जलाकर लूट लिया है। हे रामजी ! जब इस प्रकार सहेली ने राजा से कहा तब राजा ने सरस्वतीजी से कहा, हे देवीजी ! यह लीला तुम्हारी शरण आई है और तुम्हारे चरणकमलों की भ्रमरी है; इसकी रक्षा करो, और मैं अब युद्ध करने जाता हूँ। जब इस प्रकार कहकर राजा क्रोध संयुक्त युद्ध करने को रण की ओर मत्त हाथी के समान चला तब देवी के साथ जो प्रथम लीला थी उसने क्या देखा कि उस लीला का अपनी ही मूर्ति सा सुन्दर आकार है। जैसे आरसी में प्रतिबिम्ब होता है वैसे ही

देखके कहने लगी, हे देवि ! इसमें मैं क्योंकर प्राप्त हुई ? जब मैं प्रथम
थी तब तो मुझको मन्त्री, टहलुये और अनेक पुरवासी दीखते थे
वह संशय मैंने तुमसे निवृत्त किया था; फिर अब मैं इस प्रकार
आन स्थित हुई ? यह दृश्यरूप कैसा आदर्श है जिसके भीतर बाहर
बिम्ब होता है ? यह मन्त्री और टहलुये और मेरा यह स्वरूप क्या है
दृश्यभाव हो क्योंकर भासता है ? मेरा यह संशय दूर करो। देवी बो
हे लीले ! जैसे चित्तसंवित् में स्पन्द फुरता है वैसे ही तत्काल सि
होता है। जिस अर्थ को चिन्तन करनेवाला चित्तसंवित् शरीर को त्याग
है उसी अर्थ को प्राप्त होता है और उसी क्षण में देश, काल और पद
की दीर्घता होती है। जैसे स्वप्न सृष्टि फुर आती है वैसे ही परलोक
भास आती है। हे लीले ! जब तेरा भर्त्ता मृतक होने लगा था तब तु
में और मन्त्रियों में इसका बहुत स्नेह था इससे वही रूप सत् हो
अपनी वासना के अनुसार उसे भासा है जैसे सङ्कल्पपुर और स्वप्न
भासती है वैसे ही यह "देश, काल और पदार्थ" भासे हैं। हे लील
जो कोई असत् पदार्थ सत् रूप होकर भासते हैं वह अज्ञानकाल में
भासते हैं, ज्ञानकाल में सब तुल्य हो जाते हैं, न्यूनाधिक कोई न
रहता; जाग्रत् में स्वप्न मिथ्या भासता और स्वप्न में जाग्रत का अभाव
जाता है। जाग्रत् शरीर मृतक में नष्ट हो जाता है; मृतक जन्म में अस
हो जाता है और मृतक में जन्म असत् हो जाता है। हे लीले ! जब इ
प्रकार इनको विचारकर देखिये तो सब अवस्था भ्रान्तिमात्र हैं, वास्त
में कोई सत्य नहीं। हे लीले ! सर्ग से आदि महाप्रलय पर्यन्त कुछ न
हुआ। सदा ज्यों की त्यों ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है; जग
आभासमात्र है और अज्ञान से भासता है। जैसे आकाश में तरुवरे भास
हैं वैसे ही आत्मा में जगत् भ्रम से भासता है और वास्तव में कुछ भी न
है। जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजकर लीन होते हैं वैसे ही आत्मा में जगत् उप
कर लीन होते हैं। इससे 'अहं' 'त्वं' आदि शब्द भ्रान्तिमात्र हैं।
लीले ! यह जगत् मृगतृष्णा के जलवत् है। इसमें आस्था करनी अज्ञा
नता है और भ्रान्ति भी कुछ वस्तु नहीं। जैसे घनतम में यक्ष भासता

है पर वह यक्ष कोई वस्तु नहीं है, ब्रह्मसत्ता ज्यों की त्यों है, वैसे ही भ्रान्ति भी कुछ वस्तु नहीं। जन्म, मृत्यु और मोह सब असत्रूप हैं। 'अहं' 'त्वं' आदि जितने शब्द हैं उनका महाप्रलय में अभाव हो जाता है, उसके पीछे जो शुद्ध शान्तरूप है अबभी वही जान कि ज्यों की त्यों ब्रह्मसत्ता है। हे लीले ! यह जो पृथ्वी आदि भूत भासते हैं सोभी संवित्रूप हैं, क्योंकि जब चित्तसंवित् स्पन्दरूप होता है तब यह जगत् होके भासता है और इसी कारण संवित्रूप है। हे लीले ! जीवरूपी समुद्र में जगत्रूप तरङ्ग उत्पन्न होते हैं और लीन भी होते हैं, पर वास्तव में जलरूप हैं और कुछ नहीं। जैसे अग्नि में उष्णता होती है वैसे ही जीव में सर्ग है। जो ज्ञानवान् है उसको सर्वात्मा भासता है और अज्ञानी को भिन्न भिन्न कल्पना होती है। हे लीले ! जैसे सूर्य की किरणों में त्रसरेणु भासते हैं, पवन में स्पन्द होता है और उसमें सुगन्ध होती है सो सब निराकार हैं वैसे ही जगत् भी आत्मा में निर्वपु है। भाव-अभाव; ग्रहण-त्याग; सूक्ष्म-स्थूल; चर-अचर इत्यादि सब ब्रह्म में आभास हैं। हे लीले ! यह जगत् जो साकाररूप भासता है सो आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे वृक्ष के अङ्ग पत्र, फल, टासरूप हो भासते हैं वैसे ही ब्रह्मसत्ता ही जगत्रूप होकर भासती है और कुछ नहीं। जैसे चेतन संवित् में जैसा स्पन्द फुरता है वैसे ही होकर भासता है, पर वह आकाशरूप संवित् ज्यों की त्यों है, उसमें और कल्पना भ्रममात्र है। हे लीले ! यह जो जगत् भासता है वह न सत् है और न असत् है। जैसे रस्सी में भ्रम से सर्प भासता है वैसे ही आत्मा में जगत् भासता है। जिसको असम्यक्ज्ञान होता है उसको रस्सी में सर्प भासता है तो वह असत् न हुआ और जिसको सम्यक् बोध होता है उसको सर्प सत् नहीं। ऐसे ही अज्ञान से जगत् असत् नहीं भासता और आत्मज्ञान होने से सत् नहीं भासता, क्योंकि कुछ वस्तु नहीं है। हे लीले ! जैसे जिसके अन्तःकरण में स्पन्द फुरता है उसका वह अनुभव करता है। जब यह जीव मृतक होता है तब इसको एक क्षण में जगत् फुर आता है। किसी को अपूर्वरूप फुर आता है; किसी को पूर्वरूप फुर आता है और किसी को पूर्व अपूर्व मिश्रित

फुर आता है। इस कारण तेरे भर्ता को भी वही मन्त्री, स्त्री और वासना के अनुसार फुर आये हैं, क्योंकि आत्मा सर्वत्ररूप है, जैसा इसमें तीव्र स्पन्द फुरता है वैसा ही होकर भासता है। हे लीले! अपने मनोराज में जो प्रतिभा उदय हो आती है वह सत्‌रूप हो भा है वैसे ही यह जो लीला तेरे सम्मुख बैठी है सो यही हुई है और भर्ता की जो तेरे में तीव्र वासना थी इससे उसको तेरा प्रतिबिम्ब होकर यह लीला प्राप्त हुई और तेरा सा शील, आचार, कुल, वपु इ प्रतिबिम्बित हुआ है। हे लीले! सर्वगत संवित् आकाश है। जै जैसा उसमें फुरना होता है वैसा ही वैसा चिद्रूप आदर्श में प्रति भासता है। इस सब जगत् का चेतन दर्पण में प्रतिबिम्ब होता वास्तव में तू और मैं, जगत्, आकाश, भवन, पृथ्वी, राजा आदि आत्मरूप हैं। आत्मा ही जगत्‌रूप हो भासता है। जैसे बेलि से भिन्न नहीं वैसे ही यह जगत् ब्रह्मस्वरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने अग्निदाहवर्णन
न्नाम द्वात्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३२ ॥

देवी बोली, हे लीले! तेरा भर्त्ता राजा विदूरथ रण में संग्राम क शरीर त्यागेगा और उसी अन्तःपुर में प्राप्त होकर राज्य करेगा। इत कहकर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब इस प्रकार देवी ने कहा विदूरथ के पुरवाली लीला ने हाथ जोड़ के देवी को प्रणाम किया कहा, हे देवि! भगवति! मैंने ज्ञप्तिरूप का नित्य पूजन किया उसने स्वप्न में मुझको दर्शन दिया। जैसे वह ईश्वरी थी वैसे ही तुम मुझको दृष्टि आती हो। इससे मुझपर कृपा करके मनवाञ्छित फल तब देवी अपने भक्त पर प्रसन्न होकर बोली, हे लीले! तूने अनन्य हो मेरी भक्ति की है और उससे तेरा शरीर भी जीर्ण हो गया है अब तुझपर प्रसन्न हूँ जो कुछ तुझको वाञ्छित हो वह वर माँग। लील बोली, हे भगवति! जब मेरा भर्त्ता रण में देह त्याग दे तो मैं इसी श से उसकी भार्या होऊँ। देवी बोली, तूने भावना सहित भली प्र पुण्यादिकों से निर्विघ्न मेरी सेवा की है इससे ऐसा ही होगा। तब

लीला ने कहा, हे देवि! तुम तो सत्यसंकल्प, सत्यकाम और ब्रह्मस्वरूप हो, मुझको उसी शरीर से तुम विदूरथ के गृह में वशिष्ठ ब्राह्मण की सृष्टि में मुझे क्यों न ले गई? देवी बोली, हे लीले! मैं किसी का कुछ नहीं करती। सब जीवों के संकल्पमात्र देह हैं और मैं ज्ञप्तिरूप हूँ। एक एक जीव के अन्तर चैतन्यमात्र देवता होकर मैं स्थित हूँ; जो जो जीव जैसी २ भावना करता है वैसी ही वैसी उसको सिद्धता होती है। हे लीले! जब तूने मेरा आराधन किया था तब तूने यह प्रार्थना की थी कि मेरे भर्त्ता का जीव इसी आकाशमण्डप में रहे और मुझको ज्ञान की भी प्राप्ति हो। उसी के अनुसार मैंने तुझको ज्ञान का उपदेश दिया और तुझको ज्ञान प्राप्त हुआ। इसी निमित्त उसने पूजन किया था इससे उसको यही प्राप्त हुआ है कि देहसहित भर्त्ता के साथ जावेगी। जैसा २ चित्त संवित् में स्पन्द दृढ़ होता है वैसी ही वैसी सिद्धता होती है। हे लीले! जो तप करते हैं उनकी दृढ़ता से चिदात्मा ही देवतारूप होके फल को देते हैं। जैसे जैसे संकल्प की तीव्रता किसी को होती है चैतन्य संवित् से उसको वैसा ही फल प्राप्त होता है। चित्तसंवित् से भिन्न किसी से किसी को कदाचित् कुछ फल नहीं प्राप्त होता। आत्मा सर्वगत और सर्व के अन्तःकरण में स्थित है। जैसे उसमें चैत्यता होती है उसको वैसा ही शुभाशुभ भाव प्राप्त होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सत्यकामसंकल्पवर्णन-
न्नाम त्रयस्त्रिंशस्सर्गः ॥ ३३ ॥

रामजी बोले, हे भगवन्! राजा विदूरथ जब देवी से कहकर संग्राम में गया तो उसने वहाँ क्या किया? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब राजा गृह से निकला तो तारों में चन्द्रमा के सदृश सम्पूर्ण सेना से सुशोभित हुआ और रथ पर आरूढ़ होकर सभासहित संग्राम में आया। वह रथ मोती और मणियों से पूर्ण था और उसमें आठ घोड़े लगे थे जो वायु से भी तीक्ष्ण चलते थे और उसमें पाँच ध्वजा थीं। उस रथपर आरूढ़ हो राजा इस भाँति संग्राम में आया जैसे सुमेरु पर्वत पक्षों से समुद्र में जा पड़े। तब जैसे प्रलयकाल में समुद्र इकट्ठे हो जाते हैं वैसे ही दोनों सेना इकट्ठी हो गई और बड़ा युद्ध होने लगा और मेघों की नाईं

योधों के शब्द होने लगे। जैसे मेघ से बूँदों की वर्षा होती है
अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं वैसे ही शस्त्रों की वर्षा होने ल
जैसे प्रलयकाल की बड़वानल अग्नि होती है वैसे ही शस्त्रों से अ
निकलती थी और उन शस्त्रों से अनेक जीव मरे। इस प्रकार जब
युद्ध होने लगा तब विदूरथ की सेना कुछ निर्बल हुई और ऊर्ध्व मे
दोनों लीला देवी की दिव्यदृष्टि से देखती थीं उन्होंने कहा, हे दे
तुम तो सर्वशक्तिमान् हो और हमारे पर तुम्हारी दया भी है हमारे भ
की जय क्यों नहीं होती इसका कारण कहो? देवी बोली, हे ली
विदूरथ के शत्रु राजा सिद्ध ने जय के निमित्त चिरकाल पर्यन्त मेरी
की है और तुम्हारे भर्त्ता ने जय के निमित्त पूजा नहीं की, मोक्ष के नि
की है इससे जीत सिद्ध राजा की होगी और तेरे भर्त्ता को मोक्ष
प्राप्ति होगी। हे लीले! जिस जिस निमित्त कोई हमारी सेवा करता है
उसको वैसा ही फल देती हैं। इससे राजा सिद्ध विदूरथ को जीतकर रा
करेगा। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! फिर सेना को सब देखने
और दोनों राजों का परस्पर तीव्र युद्ध होने लगा। दोनों राजों ने
बाण चलाये मानों दोनों विष्णु हो खड़े हैं। विदूरथ ने एक
चलाया उसके सहस्र हो गये और उसके आगे जाकर लाख हो गये
परस्पर युद्ध करते-करते टुकड़े-टुकड़े होके गिर पड़े। ऐसे दूर से दूर
चले जाते थे कि जैसे निर्वाण किया दीपक नहीं भासता। तब रा
सिद्ध ने मोहरूपी अस्त्र चलाया और उसके आने से विदूरथ के
सब सेना मोहित हुई। जैसे उन्मत्तता से कुछ सुधि नहीं रहती वैसे
उनको कुछ सुधि न रही और परस्पर देखते ही रह गये मानों चित्र लि
हैं। तब राजा विदूरथ को भी मोह का आवेश होने लगा तो उसने प्रबो
रूपी शस्त्र चलाया उससे सबका मोह छूट गया और जैसे सूर्य के उद
होने से सूर्यमुखी कमल प्रफुल्लित हो आते हैं वैसे ही सबके हृदय प्र
ल्लित हो गये। तब सिद्ध राजा ने नागास्त्र बाण चलाया उससे अने
ऐसे नाग निकल आये मानों पर्वत उड़े आते हैं। निदान सब दि
नागों से पूर्ण हो गईं और उनके मुख से विष और अग्नि की ज्वा

निकली जिससे विदूरथ की सेना ने बहुत कष्ट पाया तब राजा विदूरथ ने गरुड़ास्त्र चलाया उससे अनेक गरुड़ प्रकट हुए और जैसे सूर्य के उदय होने से अन्धकार नष्ट हो जाता है वैसे ही सर्प नष्ट हुए और नागों को नष्ट करके गरुड़ भी अन्तर्धान हो गये। जैसे संकल्प के त्यागने से संकल्पसृष्टि का अभाव हो जाता है वैसे ही गरुड़ अन्तर्धान हो गये और जैसे स्वप्न से जागे हुए को स्वप्ननगर का अभाव हो जाता है वैसे ही गरुड़ों का अभाव हो गया। फिर जब कोई बाण सिद्ध चलावे तो विदूरथ उसको नष्ट करे जैसे सूर्य तम को नष्ट करे और उसने बाणों की बड़ी वर्षा की उससे सिद्ध भी क्षोभ को प्राप्त हुआ। तब पिछली लीला ने झरोखे से देखके देवीजी से कहा हे देवि! अब मेरे भर्त्ता की जय होती है। देवी सुनके मुसकराईं पर मुख से कुछ न कह हृदय में विचारा कि जीव का चित्त बहुत चञ्चल है, ऐसे देखते ही थे कि सूर्य उदय हुए–मानों सूर्य भी युद्ध का कौतुक देखने आये हैं–और सिद्ध ने तमरूप अस्त्र चलाया जिससे सर्वदिशा श्याम हो गईं और कुछ भी न भासित होता था–मानों काजल की समष्टिता इकट्ठी हुई है। तब विदूरथ ने सूर्यसा प्रकाशरूपी अस्त्र चलाया जिससे सर्व तम नष्ट हो गया। जैसे शरद्काल में सब घटा नष्ट हो जाती हैं, केवल शुद्ध आकाश ही रहता है, जैसे आत्मज्ञान से लोभादिक का ज्ञानी को अभाव हो जाता है और जैसे लोभरूपी काजल के निवृत्त होने से ज्ञानवान् की बुद्धि निर्मल होती है वैसे ही प्रकाश से तम नष्ट हो गया और सब दिशा निर्मल हुईं। जैसे अगस्त्यमुनि समुद्र को पान कर गये थे वैसे ही प्रकाश तम का पान कर गया। तब सिद्ध ने वैतालरूपी अस्त्र चलाया जिससे विदूरथ की सेना मोहित हो गई और उसमें से महाविकराल और परछाहीं समान मूर्ति धारण किये ऐसे श्यामरूप वैताल भासने लगे, जो ग्रहण न किये जावें और जीव के भीतर प्रवेश कर जावें। जिनके रहने का स्थान शून्य मन्दिर, कीचड़ और पर्वत हैं, शस्त्र से निकलकर विदूरथ की सेना को दुःख देने लगे। पिशाच वह होते हैं जिनकी शास्त्रोक्त क्रिया नहीं होती और जो मरके भूत, पिशाच और वैताल

होते हैं और राग, द्वेष, तृष्णा और भूख से जलते रहते हैं। उनका को बड़ा सरदार विदूरथ के निकट आने लगा तब विदूरथ ने रूपका नाम अस्त्र चलाया और उससे महाभयानकरूप बड़े नख, केश, जिह्वा, उद और होठसहित नग्नरूप भैरव प्रकट होकर वैतालों को भोजन कर और खप्पर में रक्त भरकर पीने और नृत्य करने लगे और सबको दुः देने लगे। तब सिद्ध ने क्रोध करके राक्षसरूपी अस्त्र चलाया जिस एक कोटि भयानकरूप और काले राक्षस पाताल और दिशाओं स निकले जिनकी जिह्वा निकली हुई और ऐसा चमत्कार करते थे जैसे श्याम मेघ में बिजली चमत्कार करती है। वे जिसको देखें उसको मुख में डाल के ले जावें। उनको देखके विदूरथ की सेना बहुत डर गई, क्योंकि जिसके सम्मुख वे हँसके देखें वह भय से मर जावे। तब राजा विदूरथ ने अपनी सेना को कष्टवान् देख विष्णुअस्त्र चलाया जिससे सब राक्षस नष्ट हो गये। फिर राजा सिद्ध ने अग्नि नामक अस्त्र चलाया जिससे सम्पूर्ण दिशाओं में अग्नि फैल गई और लोग जलने लगे। तब राजा विदूरथ ने वरुणरूपी बाण चलाया जिससे जैसे सन्तों के सङ्ग से अज्ञानी के तीनों ताप मिट जाते हैं वैसे ही अग्नि का ताप मिट गया। जल से सब स्थान पूर्ण हो गये और सिद्ध की बहुत सेना जल में बह गई। तब सिद्ध ने शोषणमय अस्त्र चलाया जिससे सब जल सूख गया पर कहीं २ कीचड़ रह गई। उसने फिर तेजोमय बाण चलाया जिससे कीचड़ भी सूख गई और विदूरथ की सेना गरमी से व्याकुल होकर ऐसी तपने लगी जैसे मूर्ख का हृदय क्रोध से जलता है। तब विदूरथ ने मेघ नामक अस्त्र चलाया जिससे मेघ वर्षने लगे और शीतल मन्द २ वायु चलने लगा। जैसे आत्मा की ओर आये जीव का संसरना घटता जाता है वैसे ही विदूरथ की सेना शीतल हुई। फिर सिद्ध ने वायुरूपी अस्त्र चलाया जिससे सूखे पत्र की नाईं विदूरथ फिरने लगा। तब विदूरथ ने पहाड़रूपी अस्त्र चलाया जिससे पहाड़ों की वर्षा होने लगी और वायु का मार्ग रुक गया और वायु के क्षोभ मिट जाने से सब पदार्थ स्थिरभूत हो गये। जैसे संवेदन से रहित चित्त शान्त होता है वैसे ही सब शान्त

हो गये। जब पहाड़ उड़ २ के सिद्ध की सेना पर पड़े तब सिद्ध ने वज्ररूप अस्त्र चलाया जिससे पर्वत नष्ट हुए। जब इस प्रकार वज्र वर्षे तब विदूरथ ने ब्रह्म अस्त्र चलाया जिससे वज्र नष्ट हुए और ब्रह्म अस्त्र अन्तर्धान हो गये। हे रामजी! इस प्रकार परस्पर इनका युद्ध होता था। जो अस्त्र सिद्ध चलावे उसको विदूरथ विदारण करे और जो विदूरथ चलावे उसको सिद्ध विदारण कर डाले। निदान विदूरथ राजा ने एक ऐसा अस्त्र चलाया कि राजा सिद्ध का रथ चूर्ण हो गया और घोड़े भी सब चौपट कर डाले। तब सिद्ध राजा ने रथ से उतर ऐसा अस्त्र चलाया कि विदूरथ का रथ और घोड़े नष्ट हुए और दोनों ढाल और तरवार लेकर युद्ध करने लगे। फिर दोनों के रथवाहक और रथ ले आये, उसके ऊपर दोनों आरूढ़ होकर युद्ध करने लगे। विदूरथ ने सिद्ध पर एक बरछी चलाई जो उसके हृदय में लगी और रुधिर चला। तब उसको देख लीला ने देवी से कहा, हे देवि! मेरे भर्त्ता की जय हुई है। हे रामजी! इस प्रकार लीला कहती ही थी कि सिद्ध ने बरछी चलाई सो विदूरथ के हृदय में लगी और उसको देख के विदूरथ की लीला शोकवान होकर कहने लगी, हे देवि! मेरा भर्त्ता मरता है; दुष्ट सिद्ध ने बड़ा कष्ट दिया है। हे रामजी! फिर सिद्ध ने एक ऐसा खड्ग चलाया कि जिससे विदूरथ के पाँव कट गये और घोड़े भी काटे गये पर तो भी विदूरथ युद्ध करता रहा। फिर सिद्ध ने विदूरथ के शिर पर खड्ग का प्रहार किया तो वह मूर्च्छा खाके गिर पड़ा। ऐसे देखके उसके सारथी रथ को गृह में ले आने लगे तो सिद्ध उसके पीछे दौड़ा कि मैं इसका शीश ले आऊँ, परन्तु पकड़ न सका। जैसे अग्नि में मच्छर प्रवेश नहीं कर सकता वैसे ही देवी के प्रभाव से विदूरथ को वह न पकड़ सका।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे विदूरथमरणवर्णनन्नाम
चतुस्त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तब सारथी राजा को गृह में ले आया तो स्त्रियाँ, मन्त्री, बान्धव और कुटुम्बी रुदन करने लगे और बड़े शब्द होने लगे। सिद्ध की सेना लूटने लगी। हाथी, घोड़े स्वामी बिना फिरते

थे। फिर ढिंढोरा फिराया गया कि राजा सिद्ध की विजय हुई। निदा सब ओर से शान्ति हुई। सिद्ध राजा के ऊपर छत्र होने लगा और स पृथ्वी का राजा वही हुआ। जैसे क्षीरसमुद्र से मन्दराचल निकल शान्त हुआ वैसे ही सब ओर शान्ति हुई। हे रामजी! जब राज विदूरथ गृह में आया तब उसकी और दूसरी लीला को देखके प्रबु लीला कहने लगी, हे देवि! यह लीला इस शरीर से वहाँ क्योंकर ज प्राप्त होगी? यह तो भर्त्ता को ऐसे देखके मृतकरूप हो गई है और राजा भी मृत्यु के निकट पड़ा है केवल कुछ श्वास आते जाते हैं। देवी बोली हे लीले! यह जितने आरम्भ तू देखती है कि युद्ध हुआ और नान प्रकार का जगत् है सो सब भ्रान्तिमात्र है और तेरा भर्त्ता जो पद्म था उसका हृदय जो मण्डपाकाश में था वहीं यह सम्पूर्ण जगत् स्थित है पद्म का मण्डपाकाश वशिष्ठ ब्राह्मण के मण्डपाकाश में स्थित है और वशिष्ठ ब्राह्मण का मण्डपाकाश चिदाकाश के आश्रय स्थित है। हे लीले! यह सम्पूर्ण जगत् वशिष्ठ ब्राह्मण की पुर्यष्टक में स्थित है सो आकाश में ही आकाश स्थित है। किञ्चन है इससे सम्पूर्ण जगत् फुरता है, पर वास्तव में किञ्चन भी कुछ वस्तु नहीं आत्मसत्ता ही अपने आप में स्थित है। उस आत्मसत्ता में 'अहं' 'त्वं' जगत् भ्रम से भासता है, कुछ उपजा नहीं। हे लीले! उस वशिष्ठ ब्राह्मण के मण्डपाकाश में नाना प्रकार के स्थान हैं और उनमें प्राणी आते जाते और नाना व्यवहार करते भासते हैं। जैसे स्वप्नसृष्टि में नाना प्रकार के आरम्भ भासते हैं सो असत्रूप हैं वैसे ही यह जगत् भी असत्रूप है। हे लीले! न यह द्रष्टा है और न आगे दृश्य है; सब भ्रमरूप हैं। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य त्रिपुटी व्यवहार में है। जो दृश्य नहीं तो द्रष्टा कैसे हो? सब असत्रूप है। इनसे रहित जो परमपद है वह उदय-अस्त से रहित, नित्य, अज, शुद्ध अविनाशी और अद्वैतरूप अपने आप में स्थित है। जब उसको जानता है तब दृश्य भ्रम नष्ट हो जाता है। हे लीले! दृश्य भ्रम से भासता है। वास्तव में न कुछ उपजा है और न उपजेगा। जितने सुमेरु आदिक पर्वत जाल और पृथ्वी आदिक तत्त्व भासते हैं वे सब आकाशरूप हैं

जैसे स्वप्न सृष्टि प्रत्यक्ष भासती है परन्तु वास्तव में कुछ नहीं वैसे ही इस जगत् को भी जानो। हे लीले! जीव जीव प्रति अपनी अपनी सृष्टि है परन्तु उसमें सार कुछ नहीं। जैसे केले के थम्भे में सार कुछ नहीं निकलता वैसे ही इस सृष्टि में विचार करने से सार कुछ नहीं निकलता—चित्तसंवेदन के फुरने से भासती है। हे लीले! तेरे भर्त्ता पद्म की जो सृष्टि है सो वशिष्ठ ब्राह्मण के मण्डपाकाश में स्थित है अर्थात् विदूरथ का जगत् पद्म के हृदय में स्थित है वहाँ तेरा शरीर पड़ा है और राजा पद्म का भी शव पड़ा है। हे लीले! तेरे भर्त्ता पद्म की सृष्टि हमको प्रादेशमात्र है। उस प्रादेशमात्र में अंगुष्ठ प्रमाण हृदयकमल है; उसमें तेरे भर्त्ता का जीवाकाश है और उसी में यह जगत् फुरता है सो प्रादेशमात्र भी है और दूर से दूर कोटि योजन पर्यन्त है। मार्ग में वज्रसार की नाईं तत्त्वों का आवरण है उसको लाँघ के तेरे भर्त्ता की सृष्टि है। जहाँ वह शव पड़ा है उसके पास यह लीला जाय प्राप्त हुई है। लीला ने पूछा, हे देवि! ऐसे मार्ग को लाँघ के वह क्षण में कैसे प्राप्त हुई और जिस शरीर से जाना था वह शरीर तो यहीं पड़ा है वह किस रूप से वहाँ गई और वहाँ के लोगों ने उसको देखके कैसे जाना है सो संक्षेप से कहो? देवी बोली, हे लीले! इस लीला के वृत्तान्त की महिमा ऐसी है जिसके धारे से यह जगत्भ्रम निवृत्त हो जाता है। उसे मैं संक्षेप से कहती हूँ। हे लीले! जो कुछ जगत् भासता है वह सब भ्रममात्र है। यह भ्रमरूप जगत् पद्म के हृदय में फुरता है। उसमें विदूरथ का जन्म भी भ्रममात्र है; लीला का प्राप्त होना भी भ्रम है; संग्राम भी भ्रमरूप है; विदूरथ का मरना भी भ्रमरूप है और उसके भ्रमरूप जगत् में तुम हम बैठे हैं। लीला, तू भी और राजा भी भ्रमरूप है और मैं सर्वात्मा हूँ—मुझको सदा यही निश्चय रहता है। हे लीले! जब तेरा भर्त्ता मृतक होने लगा था तब तुझसे उसका स्नेह बहुत था, इसलिये तू महासुन्दर भूषण पहिने हुए वासना के अनुसार उसको प्राप्त हुई। हे लीले! जब जीव मृतक होता है तब प्रथम उसका अन्तवाहक शरीर होता है; फिर वासना से आधिभौतिक होता है। उसी के अनुसार तेरा भर्त्ता जब मृतक हुआ तब प्रथम उसका अन्तवाहक शरीर था, उस

से आधिभौतिक हो गया और जब आधिभौतिक हुआ तब प्रथम उसके जन्म भी हुआ और मरण भी हुआ । जब तेरा भर्त्ता मृतक हुआ तब उसको अपना जन्म और कुल, लीला का जन्म, माता, पिता और लीला के साथ विवाह भास आये। जैसे तू पद्म को भास आई थी वैसे ही वह सब विदूरथ को भास आये। हे लीले ! ब्रह्म सर्वात्मा है; जैसा जैसा उसमें तीव्र स्पन्द होता है वैसे ही सिद्ध होता है । मैं ज्ञप्तिरूप चैतन्य शक्ति हूँ, मुझको जैसी इच्छा करके लोग पूजते हैं वैसे ही फल की प्राप्ति होती है । हे लीले ! जैसी जैसी इच्छा करके कोई हमको पूजता है उसको वैसे ही सिद्धता प्राप्त होती है । लीला ने जो मुझसे वर माँगा था कि मैं विधवा न होऊँ और इसी शरीर से भर्त्ता के निकट जाऊँ और मैंने कहा था कि ऐसे ही होगा इसलिये मृत्यु-मूर्च्छा के अनन्तर उसको अपना शरीर भास आया और अपने शरीर सहित जहाँ तेरे भर्त्ता पद्म का शव पड़ा था वहाँ मण्डप में वैसे ही शरीर से उसके निकट जा प्राप्त हुई है, हे लीले ! उसको यह निश्चय रहा कि मैं उसी शरीर से आई हूँ ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने मृत्युमूर्च्छानन्तरप्रतिमावर्णनं नाम पञ्चत्रिंशतितमस्सर्गः ॥ ३५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जिस प्रकार वह लीला पद्म राजा के मण्डप में जा प्राप्त हुई है वह सुनिये। जब वह लीला मृत्यु-मूर्च्छा को प्राप्त हुई तो उसके अनन्तर उसको पूर्व के शरीर की नाईं वासना के अनुसार अपना शरीर भास आया और उसने जाना कि मैं देवी का वर पाके उसी शरीर से आई हूँ। वह अन्तवाहक शरीर से आकाश में पक्षी की नाईं उड़ती जाती थी, तब उसको अपने आगे एक कन्या दृष्टि आई। उससे लीला ने कहा, हे देवि ! तू कौन है ? देवी ने कहा मैं ज्ञप्ति देवी की पुत्री हूँ और तुझे पहुँचाने के लिये आई हूँ। लीला ने कहा, हे देवीजी ! मुझे मेरे भर्त्ता के पास ले चलो। हे रामजी ! तब वह कन्या आगे और लीला पीछे हो दोनों आकाश में उड़ीं और चिरकाल पर्यन्त आकाश में उड़ती गईं। पहले मेघों के स्थान मिले, फिर वायु के स्थान मिले, फिर सूर्य का मण्डल और तारामण्डल मिला, फिर और लोकपालों के स्थान, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के लोक आये। इन सबको लाँघ महा वज्रसार की नाईं ब्रह्माण्ड कपाट आया उसको भी लाँघ गईं। जैसे कुम्भ में बरफ़ डालिये तो उसकी शीतलता बाहर प्रकट होती है वैसे ही वह ब्रह्माण्ड से बाह्य निकल गईं। उस ब्रह्माण्ड से दशगुणा जल तत्त्व आया; इसी प्रकार वह अग्नि, वायु और आकाशतत्त्व आवरण को भी लाँघ गईं। उसके आगे महाचैतन्य आकाश आया उसका अन्त कहीं नहीं—वह आदि, अन्त और मध्य से रहित है। हे रामजी ! जो कोटिकल्प पर्यन्त गरुड़ उड़ते जावें तो भी उसका अन्त न पावें; ऐसे परमाकाश में वह गईं और वहाँ इनको कोटि ब्रह्माण्ड दृष्टि आये। जैसे वन में अनेक वृक्षों के फल होते हैं और परस्पर नहीं जानते वैसे ही वह सृष्टि आपको न जानती थी फिर एक ब्रह्माण्डरूपी फल में दोनों प्रवेश कर गईं जैसे चींटियाँ फल के मुखमार्ग में प्रवेश कर जाती हैं। उसमें फिर उन्होंने ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र सहित त्रिलोकी देखी। उनके भी लोक लाँघ गईं और उनके नीचे और लोकपालों के स्थान लाँघे। फिर वे चन्द्रमा, तारा, वायु और मेघमण्डलों को लाँघ के उतरीं और राजा के नगर और उस मण्डपाकाश में जहाँ पद्म राजा का शव फूलों से ढँपा पड़ा था प्रवेश कर गईं। इसके अनन्तर वह कुमारी इस भाँति अन्तर्धान हो गई जैसे कोई मायावी पदार्थ हो और अन्तर्द्धान हो जावे। लीला पद्म के पास बैठ गईं और मन में विचारने लगी कि यह मेरा भर्त्ता है। वहाँ इसने संग्राम किया था, अब शूरमा की गति को प्राप्त हुआ है और इस परलोक में आयके सोया है। उसके पास मैं भी अपने शरीर से देवीजी के वर से स्थान प्राप्त हुई हूँ, मेरे ऐसा अब कोई नहीं और मैं बड़े आनन्द को प्राप्त हुई हूँ। हे रामजी ! ऐसे विचार के पास एक चमर पड़ा था उसको हाथ में लेके भर्त्ता के लिये हिलाने लगी। जैसे चन्द्रमा किरणों सहित शोभा पाता है वैसे ही उसके उठाने से वह चमर शोभा पाने लगा। देवी से लीला ने पूछा, हे देवि ! यह राजा तो मृतक होता है। इसके श्वास अब थोड़े से रहे हैं जब यहाँ से मृतक होके पद्म के शरीर में जावेगा तब राजा के जागे हुए मन्त्री और नौकर कैसा जानेंगे ? देवी बोली, हे

लीले ! तब मन्त्री और नौकर जो होवेंगे उनको द्वैतकलना कुछ न भासेगी कि यह क्या आश्चर्य हुआ है। इस वृत्तान्त को तू, मैं और अपूर्व लीला जानेगी और कोई न जानेगा, क्योंकि इसके संकल्प को और कोई कैसे जाने ? लीला ने फिर पूछा, हे देवि ! अपूर्व लीला जो वहाँ जाय प्राप्त हुई थी उसका शरीर तो यहाँ पड़ा है और तुम्हारा उसको वर भी था तो फिर इस देह के साथ वह क्यों न प्राप्त हुई ? देवी बोली, हे लीले ! छाया कभी धूप में नहीं जाती और सच झूठ भी कभी इकट्ठा नहीं होते यह आदि नीति है। जैसे जैसे आदि नीति हुई है वैसे ही होता है–अन्यथा नहीं होता। हे लीले ! जो परछाहीं में वैताल कल्पना मिटी तो परछाहीं और वैताल इकट्ठे नहीं होते वैसे ही भ्रमरूप जगत् का शरीर उस जगत् में नहीं जाता और दूसरे के संकल्प में दूसरा अपने शरीर से नहीं जा सकता, क्योंकि वह और शरीर है और यह और शरीर है; वैसे ही राजा के जगत् दर्पण में लीला के संकल्प का शरीर नहीं प्राप्त हुआ। मेरे वर से वह सूक्ष्म देह से प्राप्त हुई। जब उसको मृत्यु-मूर्च्छा प्राप्त हुई तब उसको उसका सा ही अपना शरीर भी भास आया। उसका शरीर संकल्प में स्थित था सो अपना संकल्प वह साथ ले गई है इससे अपने उसी शरीर से वह गई है। उसने आपको ऐसे जाना कि मैं वही लीला हूँ। हे लीले ! आत्मसत्ता सर्वात्मरूप है। जैसी जैसी भावना उसमें दृढ़ होती है वैसा ही वैसा रूप हो जाता है। जिसको यह निश्चय हुआ है कि मैं पञ्चभौतिकरूप हूँ उसको ऐसे ही दृढ़ होता है कि मैं उड़ नहीं सकता। हे लीले! यह लीला तो अविदित वेद थी अर्थात् अज्ञानसहित थी और उसका आधिभौतिक भ्रम नहीं निवृत्त हुआ था, परन्तु मेरा वर था इस कारण उसको मृत्यु-मूर्च्छा के अनन्तर यह भास आया कि मैं देवी के वर से चली जाऊँगी। इस वासना की दृढ़ता से वह प्राप्त हुई है। हे लीले ! यह जगत् भ्रान्तिमात्र है। जैसे भ्रम से जेवरी में सर्प भासता है वैसे ही आत्मा में भी भ्रम से जगत् भासता है। सब जगत् आत्मा में आभासरूप है। सबका अधिष्ठान आत्मसत्ता अपने ही अज्ञान से दूर भासता है। हे लीले ! ज्ञानवान् पुरुष सदा शान्तरूप और आत्मानन्द से तृप्त रहते हैं, पर अज्ञानी शान्ति कैसे पावें ? जैसे जिसको ताप चढ़ा होता है उसका अन्तःकरण जलता है और तृषा भी बहुत लगती है वैसे ही जिसको अज्ञानरूपी ताप चढ़ा हुआ है उसका अन्तर राग-द्वेष से जलता है और विषयों की तृष्णारूपी तृषा भी बहुत होती है। जिसका अज्ञानरूपी तम नष्ट हुआ है उसका अन्तर राग-द्वेषादिक से नहीं जलता और उसकी विषय की तृष्णा भी नष्ट हो जाती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे मण्डपाकाशगमनवर्णनन्नाम षट्त्रिंशत्तमस्सर्गः ३६

देवी बोली, हे लीले ! जो पुरुष अविदितवेद है अर्थात् जिसने जानने योग्य पद नहीं जाना वह बड़ा पुण्यवान् भी हो तो भी उसको अन्तवाहकता नहीं प्राप्त होती। अन्तवाहक शरीर भी झूठ है, क्योंकि संकल्परूप है। इससे जितना जगत् तुझको भासता है वह कुछ उपजा नहीं; शुद्ध चिदाकाश सत्ता अपने आपमें स्थित है। फिर लीला ने पूछा, हे देवि ! जो यह सब जगत् संकल्पमात्र है तो भाव और अभाव रूप पदार्थ कैसे होते हैं ? अग्नि उष्णरूप है, पृथ्वी स्थिररूप है, बरफ शीतल है, आकाश की सत्ता है, काल की सत्ता है, कोई स्थूल है, कोई सूक्ष्म पदार्थ है, ग्रहण, त्याग, जन्म, मरण होता है; और मृतक हुआ फिर जन्मता है इत्यादिक सत्ता कैसे भासती हैं ? देवी बोली, हे लीले ! जब महाप्रलय होता है तब सब पदार्थ अभाव को प्राप्त होते हैं और काल की सत्ता भी नष्ट हो जाती है। उसके पीछे अनन्त चिदाकाश; सब कलनाओं से रहित और बोधमात्र ब्रह्मसत्ता ही रहती है। उस चैतन्यमात्रसत्ता से जब चित्तसंवित् होती है तब चैतन्यसंवित् में आपको तेज अणु जानता है। जैसे स्वप्न में कोई आपको पक्षीरूप उड़ता देखे वैसे ही देखता है। उससे स्थूलता होती है; वही स्थूलता ब्रह्माण्डरूप होती है उससे तेज अणु आपको ब्रह्मारूप जानता है। फिर ब्रह्मारूप होकर जगत् को रचता है। जैसे जैसे ब्रह्मा चेतता जाता है वैसे ही वैसे स्थूल रूप होता जाता है। आदि रचना ने जैसा निश्चय किया है कि 'यह ऐसे हो' और 'इतने काल रहे' उसका नाम नीति है। जैसे आदि रचना नियत की है वह ज्यों की त्यों होती है; उसके निवारण करने

को किसी की सामर्थ्य नहीं वास्तव में आदि ब्रह्मा भी अकारणरूप हैं अर्थात् कुछ उपजा नहीं तो जगत् का उपजना मैं कैसे कहूँ ? हे लीले! कोई स्वरूप से नहीं उपजा परन्तु चेतन संवेदन के फुरने से जगत् आकार होके भासता है। उसमें जैसे निश्चय है वैसे ही स्थित है। अग्नि उष्ण ही है; बर्फ शीतल ही है और पृथ्वी स्थितरूप ही है। जैसे उपजे हैं वैसे ही स्थित हैं। हे लीले ! जो चेतन है उस पर यह नीति है कि वह उपदेश का अधिकारी है और जो जड़ है उसमें वही जड़ता स्वभाव है। जो आदि चित्संवित् में आकाश का फुरना हुआ तो आकाशरूप होकर ही स्थित हुआ। जब काल का स्पन्द फुरता है तब वही चेतन संवित् कालरूप होकर स्थित होता है; जब वायु का फुरना होता है तब वही संवित् वायुरूप होकर स्थित होता है। इसी प्रकार अग्नि, जल, पृथ्वी नानारूप होकर स्थित हुए हैं। स्थूल, सूक्ष्म रूप होकर चेतन संवित् ही स्थित हो रहा है। जैसे स्वप्न में चेतन संवित् ही पर्वत वृक्षरूप होकर स्थित होता है वैसे ही चेतन संवित् जगत् रूप होकर स्थित हुआ है। हे लीले ! जैसे आदि नीति ने पदार्थों के संकल्परूप धारे हैं वैसे ही स्थित हैं उसके निवारण करने की किसी की सामर्थ्य नहीं, क्योंकि चेतन का तीव्र अभ्यास हुआ है। जब यही संवित् उलटकर और प्रकार स्पन्द हो तब और ही प्रकार हो; अन्यथा नहीं होता। हे लीले ! यह जगत् सत् नहीं। जैसे संकल्पनगर भ्रमसिद्ध है और जैसे स्वप्नपुरुष और ध्याननगर असत्रूप होता है वैसे ही यह जगत् भी असत्रूप है और अज्ञान से सत् की नाईं भासता है। जैसे स्वप्न सृष्टि के आदि में सन्मात्रसत्ता होती है और उस सन्मात्रसत्ता का आभास किंचित् स्वप्नसृष्टि का कारण होता है वैसे ही यह जाग्रत् जगत् के आदि सन्मात्रसत्ता होती है और उससे किञ्चन अकारणरूप यह जगत् होता है। हे लीले ! यह जगत् वास्तव में कुछ उपजा नहीं ; असत् ही सत् की नाईं होकर भासता है। जैसे स्वप्न की अग्नि स्वप्न में असत् ही सत्रूप हो भासती है वैसे ही अज्ञान से यह असत् जगत् सत् भासता है और जन्म, मृत्यु और कर्मों का फल होता है सो तू श्रवण कर। हे लीले!

बड़ा और छोटा जो होता है सो देश काल और द्रव्य से होता है। एक बाल्यावस्था में मृतक होते हैं और एक यौवन अवस्था में मृतक होते हैं जिनकी देश काल और द्रव्य की चेष्टा यथाशास्त्र होती है उसकी गति भी शास्त्र के अनुसार होती है और जो चेष्टा शास्त्र के विरुद्ध होती है तो आयु भी वैसी ही होती है। एक क्रिया ऐसी है जिससे आयु वृद्धि होती है और एक क्रिया से घट जाती है। इसी प्रकार देश, काल, क्रिया, द्रव्य, आयु के घटाने बढ़ानेवाली हैं। उनमें जीवों के शरीर बड़ी सूक्ष्म अवस्था में स्थित हैं। यह आदि नीति रची है। युगों की मर्यादा जैसे है वैसे ही है। एक सौ दिव्य वर्ष कलियुग के; दो सौ दिव्य वर्ष द्वापर के; तीन सौ त्रेता के और चार सौ सतयुग के—यह दिव्य वर्ष हैं। लौकिक वर्षों के अनुसार चारलाख बत्तीस हजार वर्ष कलियुग है; आठलाख चौंसठ हजार वर्ष द्वापरयुग है; बारह लाख छानबे हजार वर्ष त्रेता है और सत्रह लाख अट्ठाइस हजार वर्ष सतयुग है। इस प्रकार युगों की मर्यादा है जिनमें जीव अपने कर्मों के फल से आयु भोगते हैं। हे लीले ! जो पाप करनेवाले हैं वह मृतक होते हैं और उनको मृत्युकाल में भी बड़ा कष्ट होता है। फिर लीला ने पूछा, हे देवि ! मृतक होने पर सुख और दुःख कैसे होते हैं और कैसे उन्हें भोगते हैं? देवी बोली, हे लीले! जीव की तीन प्रकार की मृत्यु होती है—एक मूर्ख की, दूसरी धारणाभ्यासी की और तीसरी ज्ञानवान् की। उनका भिन्न २ वृत्तान्त सुनो। हे लीले ! जो धारणाभ्यासी हैं वह मूर्ख भी नहीं और ज्ञानवान् भी नहीं ; वह जिस इष्टदेवता की धारणा करते हैं शरीर को त्यागके उसी देवता के लोक को प्राप्त होते हैं और जो ब्रह्माभ्यासी हैं पर उनको पूर्ण दशा नहीं प्राप्त हुई उनका सुख से शरीर छूटता है। जैसे सुषुप्ति हो जाती है वैसे ही धारणाभ्यासीः शरीर त्यागता है और फिर उसे भोगकर आत्मतत्त्व को प्राप्त होता है। ज्ञानवान् का शरीर भी सुख से छूटता है; उसको भी यत्न कुछ नहीं होता और उस ज्ञानी के प्राण भी वहीं लीन होते हैं और यह विदेहमुक्त होता है। जब मूर्ख की मृत्यु होने लगती है तो उसे बड़ा कष्ट होता है। मूर्ख वही है जिसकी अज्ञानियों की

संगति है; जो शास्त्रों के अनुसार नहीं विचरता और सदा विषयों की ओर धावता और पापाचार करता है। ऐसे पुरुष को शरीर त्यागने में बड़ा कष्ट होता है। हे लीले! जब मनुष्य मृतक होने लगता है तब पदार्थों से आसक्तिबुद्धि जो बँधी थी उससे वियोग होने लगता है और कण्ठ रुक जाता है; नेत्र फट जाते हैं और शरीर की कान्ति ऐसी विरूप हो जाती है जैसे कमल का फूल कटा हुआ कुम्हिला जाता है। अङ्ग टूटने लगते हैं और प्राण नाड़ियों से निकलते हैं। जिन अङ्गों से तदात्म सम्बन्ध हुआ था और पदार्थों में बहुत स्नेह था उनसे वियोग होने लगता है इससे बड़ा कष्ट होता है। जैसे किसी को अग्नि के कुण्ड में डालने से कष्ट होता है वैसे ही उसको भी कष्ट होता है। सब पदार्थ भ्रम से भासते हैं; पृथ्वी आकाशरूप और आकाश पृथ्वीरूप भासते हैं। निदान महाविपर्यय दशा में प्राप्त होता है और चित्त की चेतनता घटती जाती है। ज्यों ज्यों चित्त की चेतनता घटती जाती है त्यों त्यों पदार्थ के ज्ञान से अन्धा हो जाता है। जैसे सायंकाल में सूर्य अस्त होता है तो भ्रान्तिमान् नेत्र को दिशा का ज्ञान नहीं रहता वैसे ही इसको पदार्थों का ज्ञान नहीं रहता और कष्ट का अनुभव करता है। जैसे आकाश से गिरता है और पाषाण में पीसा जाता है, जैसे अन्ध कूप में गिरता है और कोल्हू में पेरा जाता है, जैसे रथ से गिरता है और गले में फाँसी डालके खींचा जाता है; और जैसे वायु से तरङ्गों में उछलता और बड़वाग्नि में जलता कष्ट पाता है वैसे ही मूर्ख मृत्युकाल में कष्ट पाता है। जब पुर्यष्टक का वियोग होता है तब मूर्च्छा से जड़सा हो जाता है और शरीर अखण्डित पड़ा रहता है। लीला ने पूछा, हे देवि! जब जीव मृतक होने लगता है तब इसको मूर्च्छा कैसे होती है? शरीर तो अखण्डित पड़ा रहता है, कष्ट कैसे पाता है? देवी बोली, हे लीले! जो कुछ जीव ने अहंकारभाव को लेकर कर्म किये हैं वे सब इकट्ठे होते जाते हैं और समय पाके प्रकट होते हैं जैसे बोया बीज समय पाके फल देता है वैसे ही उसको कर्मवासनासहित फल ज्ञान प्रकट होता है। जब इस प्रकार शरीर छूटने लगता है तब शरीर

की तादात्म्यता और पदार्थों के स्नेह के वियोग से इसको कष्ट होता है। प्राण अपान की जो कला है और जिसके आश्रय शरीर होता है सो टूटने लगता है। जिन स्थानों में प्राण फुरते थे उन स्थानों और नाड़ियों से निकल जाते हैं और जिन स्थानों से निकलते हैं वहाँ फिर प्रवेश नहीं करते। जब नाड़ियाँ जर्जरीभूत हो जाती हैं और सब स्थानों को प्राण त्याग जाते हैं तब यह पुर्यष्टक शरीर को त्याग निर्वाण होता है। जैसे दीपक निर्वाण हो जाता है और पत्थर की शिला जड़ीभूत होती है वैसे ही पुर्यष्टक शरीर को त्यागकर जड़ीभूत हो जाती है और प्राण अपान की कला टूट पड़ती है। हे लीले! मरना और जन्म भी भ्रान्ति से भासता है—आत्मा में कोई नहीं। संवित्मात्र में जो संवेदन फुरता है सो अन्यस्वभाव से सत्य की नाईं होकर स्थित होता है और मरण और जन्म उसमें भासते हैं और जैसी जैसी वासना होती है उसके अनुसार सुखदुःख का अनुभव करता है। जैसे कोई पुरुष नदी में प्रवेश करता है तो उसमें कहीं बहुत जल और कहीं थोड़ा होता है, कहीं बड़े तरङ्ग होते हैं और कहीं सोमजल होता है पर वे सब सोमजल में होते हैं; वैसे ही जैसी वासना होती है उसी के अनुसार सुखदुःख का अनुभव होता है और अधः, ऊर्ध्व, मध्य, वासनारूपी गढ़े में गिरते हैं। शुद्ध चैतन्यमात्र में कोई कल्पना नहीं, अनेक शरीर नष्ट हो जाते हैं और चैतन्यसत्ता ज्यों की त्यों रहती है। जो चैतन्यसत्ता भी मृतक हो तो एक के नष्ट हुए सब नष्ट हो जावें पर ऐसे तो नहीं होता चैतन्यसत्ता से सब कुछ सिद्ध होता है; जो वह न हो तो कोई किसी को न जाने। हे लीले! चैतन्यसत्ता न जन्मती है और न मरती है; वह तो सर्वकल्पना से रहित केवल चिन्मात्र है उसका किसी काल में कैसे नाश हो? जन्ममरण की कल्पना संवेदन में होती है अचेत चिन्मात्र में कुछ नहीं हुआ। हे लीले! मरता वही है जिसके निश्चय में मृत्यु का सद्भाव होता है। जिसके निश्चय में मृत्यु का सद्भाव नहीं वह कैसे मरे? जब जीव को दृश्य का अत्यन्त अभाव हो तब बन्धनों से मुक्त हो। वासना ही इसके बन्धन का कारण है; जब वासना से मुक्त होता है तब बन्धन कोई नहीं रहता। हे लीले! आत्मविचार से

ज्ञान होता है और ज्ञान से दृश्य का अत्यन्ताभाव होता है। जब दृश्य का अत्यन्ताभाव हुआ तब सब वासना नष्ट हो जाती हैं। यह जगत् उदय हुआ नहीं, परन्तु उदय हुए की नाईं वासना से भासता है। इससे वासना का त्याग करो। जब वासना निवृत्त होगी तब बन्धन कोई न रहेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे मृत्युविचारवर्णनन्नाम
सप्तत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३७ ॥

चैतन्यं आत्मा॥ शिव सूत्र: १

लीला ने पूछा, हे देवि ! यह जीव मृतक कैसे होता है और जन्म कैसे लेता है, मेरे बोध की दृढ़ता के निमित्त फिर कहो ? देवी बोली, हे लीले ! पान अपान की कला के आश्रय यह शरीर रहता है और जब मृतक होने लगता है तब प्राणवायु अपने स्थान को त्यागता है और जिस जिस स्थान की नाड़ी से वह निकलता है वह स्थान शिथिल हो जाता है। जब पुर्यष्टक शरीर से निकलता है तब प्राणकला टूट पड़ती है और चैतन्यता जड़ीभूत हो जाती है। तब परिवारवाले लोग उसको प्रेत कहते हैं। हे लीले ! तब चित्त की चैतन्यता जड़ीभूत हो जाती है और केवल चैतन्य जो ब्रह्मसत्ता है सो ज्यों की त्यों रहती है। जो स्थावर जङ्गम सर्व जगत् और आकाश, पहाड़, वृक्ष, अग्नि, वायु आदिक सर्व पदार्थों में व्याप रहा है और उदयअस्त से रहित है। हे लीले ! जब मृत्यु-मूर्च्छा होती है तब प्राणपवन आकाश में लीन होते हैं। उन प्राणों में चैतन्यता होती है और चैतन्यता में वासना होती है। ऐसी जो प्राण और चैतन्य सत्ता है सो वासना को लेकर आकाश में आकाशरूप स्थित होती है। जैसे गन्ध को लेकर आकाश में वायु स्थित होता है वैसे ही वासना को लेकर चैतन्यता स्थित होती है। हे लीले ! उस अपनी वासना के अनुसार उसे जगत् फुर आता है उसे वह देश, काल, क्रिया और द्रव्य सहित देखता है। मृत्यु भी दो प्रकार की है एक पापात्मा की और दूसरी पुण्यात्मा की। पापी तीन प्रकार के हैं—एक महापापी, दूसरा मध्यम पापी और तीसरे अल्प पापी। ऐसे ही पुण्यवान् भी तीन प्रकार के हैं—एक महापुण्यवान्, दूसरा मध्यम पुण्यवान् और तीसरा अल्प पुण्यवान्। प्रथम पापियों की मृत्यु सुनिये। जब बड़ा पापी मृतक होता है तब वह जर्जरीभूत हो जाता है और घन पाषाण की नाईं सहस्रों वर्षों तक मूर्च्छा में पड़ा रहता है। कितने ऐसे जीव हैं जिनको उस मूर्च्छा में भी दुःख होता है। जैसे बाहर इन्द्रियों को दुःख होता है तब उसके रागद्वेष को लेकर चित्त की वृत्ति हृदय में स्थित होती है वैसे ही पाप-वासना का दुःख हृदय में होता है और भीतर से जलता है। इस प्रकार जड़ीभूत मूर्च्छा में रहता है। इसके अनन्तर उसको फिर चैतन्यता फुर आती है तब अपने साथ शरीर देखता है। फिर नरक भोगता है और चिरकाल पर्यन्त नरक भोगके बहुतेरे जन्म पशु आदिकों के लेता है और महानीच और दरिद्री निर्धनों के गृह में जन्म लेकर वहाँ भी दुःखों से तप्त रहता है। हे लीले ! यह महापापियों की मृत्यु तुझसे कही। अब मध्यम पापी की मृत्यु सुन। जब मध्यम पापी की मृत्यु होती है तब वह भी वृक्ष की नाईं मूर्च्छा से जड़ीभूत हो जाता है और भीतर दुःख से जलता है। जड़ीभूत से थोड़े काल में फिर चेतनता पाता है। फिर नरक भुगतता है और नरक भोग के तिर्यगादिक योनि भुगतता है। उसके पीछे वासना के अनुसार मनुष्य-शरीर पाता है। अब अल्प पापी की मृत्यु सुनो। हे लीले ! जब अल्पपापी मृतक होता है तब मूर्च्छित हो जाता है और कुछ काल में उसको चेतनता फुरती है। फिर नरक में जाकर भुगतता है; फिर कर्मों के अनुसार और जन्मों को भुगतता है। और फिर मनुष्य-शरीर धारता है। हे लीले ! यह पापात्मा की मृत्यु कही अब धर्मात्मा की मृत्यु सुन। जो महाधर्मात्मा है वह जब मृतक होता है तब उसके निमित्त विमान आते हैं उन पर आरूढ़ कराके उसे स्वर्ग में ले जाते हैं। जिस इष्टदेवता की वासना उसके हृदय में होती है उसके लोक में उसे ले जाते हैं और वहाँ वह कर्मानुसार स्वर्गसुख भुगतता है स्वर्गसुख जो गन्धर्व, विद्याधर, अप्सरा आदिक भोग हैं उनको भोग के फिर गिरता है और किसी फल में स्थित होता है। जब उस फल को मनुष्य भोजन करता है तब वीर्य में जा स्थित होता है और उस वीर्य से माता के गर्भ में स्थित होता है। वहाँ से वासना के अनुसार फिर जन्म लेता है; जो भोग की कामना होती है तो श्रीमान् धर्मात्मा के

गृह में जन्म होता है और जो भोग से निष्काम होता है तब सन्तजनों के गृह में जन्म लेता है। अब मध्यम धर्मात्मा की मृत्यु सुनो। हे लीले! जो मध्यम धर्मात्मा मृतक होता है उसको शीघ्र ही चैतन्यता फुर आती है और वह स्वर्ग में जाकर अपने पुण्य के अनुसार स्वर्ग भोग के फिर गिर कर किसी फल में स्थित होता है। जब फिर उस फल को कोई पुरुष भोजन करता है तब पिता के वीर्य द्वारा माता के गर्भ में आता है और वासना के अनुसार जन्म लेता है। अल्प धर्मात्मा जब मृतक होता है तब उसको यह फुर आता है कि मैं मृतक हुआ हूँ; मेरे बान्धवों और पुत्रों ने मेरी पिण्डक्रिया की है और मैं पितरलोक को चला जाता हूँ। वहाँ वह पितरलोक का अनुभव करता है और वहाँ के सुख भोग के गिरता है तब धान्य में स्थित होता है। जब उस धान्य को पुरुष भोजन करता है तब वीर्यरूप होके स्थित होता है। फिर उस वीर्य द्वारा माता के गर्भ में आता है और वासना के अनुसार जन्म लेता है। हे लीले! जब पापी मृतक होता है तब उसको महाक्रूर मार्ग भासता है और उस मार्ग पर चलता है जिसमें चरणों में कण्टक चुभते हैं; शीश पर सूर्य तपता है और धूप से शरीर कष्टवान् होता है। जो पुण्यवान् होता है उसको सुन्दर छाया का अनुभव होता है और बावली और सुन्दर स्थानों के मार्ग से यमदूत उसको धर्मराज के पास ले जाते हैं। धर्मराज चित्रगुप्त से पूछते हैं तो चित्रगुप्त पुण्यवानों के पुण्य और पापियों के पाप प्रकट करते हैं और वह कर्मों के अनुसार स्वर्ग और नरक को भुगतता है फिर वहाँ से गिरके धान्य अथवा और किसी फल में आन स्थित होता है। जब उस अन्न को पुरुष भोजन करता है तब वह स्वप्नवासना को लेकर वीर्य में आन स्थित होता है। जब पुरुष का स्त्री के साथ संयोग होता है तब वीर्य द्वारा माता के गर्भ में आता है। वहाँ भी अपने कर्मों के अनुसार माता के गर्भ को प्राप्त होता है और उस माता के गर्भ में इसको अनेक जन्मों का स्मरण होता है। फिर बाहर निकलके महामूढ़ बाल अवस्था धारण करता है; तब उसे पिछली स्मृति विस्मरण हो जाती है और परमार्थ की कुछ सुध नहीं

होती केवल क्रीड़ा में मग्न होता है। उससे आगे यौवन अवस्था आती है तो कामादिक विकारों से अन्धा हो जाता है और कुछ विचार नहीं रहता। फिर वृद्ध अवस्था आती है तो शरीर महाकृश हो जाता है, बहुत रोग उपजते हैं और शरीर कुरूप हो जाता है। जैसे कमलों पर बरफ पड़ती है वे कुम्हिला जाते हैं वैसे ही वृद्ध अवस्था में शरीर कुम्हिला जाता है और सब शक्ति घटकर तृष्णा बढ़ती जाती है। फिर कष्टवान् होकर मृतक होता है तब वासना के अनुसार स्वर्ग नरक के भोगों को प्राप्त होता है। इस प्रकार संसारचक्र में वासना के अनुसार घटीयन्त्र की नाईं भ्रमता है—स्थिर कदाचित् नहीं होता। हे लीले! इस प्रकार जीव आत्मपद के प्रमाद से जन्ममरण पाता है और फिर माता के गर्भ में आके बाल, यौवन, वृद्ध और मृतक अवस्था को प्राप्त होता है। फिर वासना के अनुसार परलोक देखता है और जाग्रत् को स्वप्ने की नाईं भ्रम से फिर देखता है। जैसे स्वप्ने से स्वप्नान्तर देखता है वैसे ही अपनी कल्पना से जगत्भ्रम फुरता है। स्वरूप में किसी को कुछ भ्रम नहीं, आकाशरूप आकाश में स्थित है, भ्रम से विकार भासते हैं। लीला ने पूछा, हे देवी! परब्रह्म में यह जगत् भ्रम से कैसे हुआ है? मेरे बोध की दृढ़ता के निमित्त कहो। देवी बोली, हे लीले! सब आत्मरूप हैं; पहाड़, वृक्ष, पृथ्वी, आकाशादिक स्थावर-जङ्गम जो कुछ जगत् है वह सब परमार्थघन है और परमार्थसत्ता ही सर्व आत्मा है। हे लीले! उस सत्ता संवित् आकाश में जब संवेदन आभास फुरता है तब जगत्भ्रम भासता है। आदि संवेदन जो संवित्मात्र में हुआ है सो ब्रह्मारूप होकर स्थित हुआ है और जैसे वह चेतता गया है उसी प्रकार स्थावर-जङ्गम जगत् होकर स्थित हुआ है। हे लीले! शरीर के भीतर नाड़ी है नाड़ी में छिद्र हैं और उन छिद्रों में स्पन्दरूप होकर प्राण विचरता है उसको जीव कहते हैं। जब वह जीव निकल जाता है तब शरीर मृतक होता है। हे लीले! जैसे-जैसे आदि संवित्मात्र में संवेदन फुरा है वैसे ही वैसे अब तक स्थित है। जब उसने चेता कि मैं जड़ होऊँ तब वह जड़रूप पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश, पर्वत, वृक्षादिक

स्थित हुए और जब चेतन की भावना की तब चेतनरूप होकर स्थित हुआ। हे लीले! जिसमें प्राणक्रिया होती है वह जङ्गमरूप बोलते-चलते हैं और जिसमें प्राण स्पन्दक्रिया नहीं पाई जाती सो स्थावररूप हैं पर आत्मसत्ता में दोनों तुल्य हैं; जैसे जंगम हैं वैसे ही स्थावर हैं और दोनों चैतन्य हैं। जैसे जङ्गम में चैतन्यता है वैसे ही स्थावर में चैतन्यता है। यदि तू कहे कि स्थावर में चेतनता क्यों नहीं भासती तो उसका उत्तर यह है कि जैसे उत्तर दिशा के समुद्रवाले मनुष्य की बोली को दक्षिण दिशा के समुद्रवाले नहीं जानते और दक्षिण दिशा के समुद्रवाले की बोली उत्तर दिशा के समुद्रवाले नहीं समझ सकते वैसे ही स्थावरों की बोली जङ्गम नहीं समझ सकते और जङ्गमों की बोली स्थावर नहीं समझ सकते परन्तु परस्पर अपनी-अपनी जाति में सब चेतन हैं—उसका ज्ञान उसको नहीं होता और उसका ज्ञान उसको नहीं होता। जैसे एक कूप का दर्दुर और कूप के दर्दुर को नहीं जानता और दूसरे कूप का दर्दुर उस कूप के दर्दुर को नहीं जानता वैसे ही जङ्गमों की बोली स्थावर नहीं जान सकते और स्थावरों की बोली जंगम नहीं जान सकते। हे लीले! जो आदि संवित् में संवेदन फुरा है वैसा ही रूप होकर महाप्रलय पर्यन्त स्थित है—अन्यथा नहीं होता। जब उस संवित् में अवकाश का संवेदन फुरता है तब आकाशरूप होकर स्थित होता है; जब स्पन्दता को चेतता है तब वायुरूप होकर स्थित होता है; जब उष्णता को चेतता है तब अग्निरूप होकर स्थित होता है; जब द्रवता को चेतता है तब जलरूप होकर स्थित होता है और जब गन्ध की चिन्तवना करता है तब पृथ्वीरूप होकर स्थित होता है। इसी प्रकार जिन जिनको चेतता है वे पदार्थ प्रकट होते हैं। आत्मसत्ता में सब प्रतिबिम्बित हैं। वास्तव में न कोई स्थावर है न जङ्गम है, केवल ब्रह्मसत्ता ज्यों की त्यों अपने आपमें स्थित है और उसमें भ्रम से जगत् भासते हैं और दूसरी कुछ वस्तु नहीं। हे लीले! अब राजा विदूरथ को देख कि मृतक होता है। लीला ने पूछा, हे देवी! यह राजा पद्म के शरीरवाले मण्डप में किस मार्ग से जावेगा और इसके पीछे हम किस मार्ग से जावेंगे? देवी बोली, हे लीले! यह

अपनी वासना के अनुसार मनुष्यमार्ग के राह जावेगा। है तो यह चिदाकाशरूप परन्तु अज्ञान के वश इसको दूर स्थान भासेगा और हम भी इसी के मार्ग से इसके संकल्प के साथ अपना संकल्प मिलाके जावेंगे। जब तक संकल्प से संकल्प नहीं मिलता तब तक एकत्वभाव नहीं होता। इतना कह वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार देवीजी ने लीला को परमबोधका कारण उपदेश किया कि इतने में राजा जर्जरीभूत होने लगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने संसारभ्रम-वर्णनन्नामाष्टत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार देवी और लीला देखती थीं कि राजा के नेत्र फटगये और शरीर निरस हो गिर पड़ा और श्वास नासिका के मार्ग से निकल गया। तब जैसे रस से रहित पत्र और कटा हुआ कमल विरस हो जाता है वैसे ही राजा का शरीर निरस हो गया; जो कुछ जिस की चैतन्यता थी वह जर्जरीभूत हो गई; मृत्यु मूर्च्छारूपी अन्धकूप में जा पड़ा और चेतना और वासनासंयुक्त प्राण आकाश में जा स्थित हुए। प्राणों में जो चेतना थी और चेतना में वासना थी उस चेतना और वासना सहित प्राण जैसे वायु गन्ध को लेकर स्थित होता है आकाश में जा स्थित हुआ। हे रामजी! राजा की पुर्यष्टक तो जर्जरीभूत हो गई परन्तु दोनों देवियाँ उसको दिव्य दृष्टि से ऐसे देखती थीं जैसे भ्रमरी गन्ध को देखती है। राजा एक मुहूर्त्त पर्यन्त तो मूर्च्छा में रहा फिर उसको चेतनता फुर आई और अपने साथ शरीर देखने लगा उसने जाना कि मेरे बान्धवों ने मेरी पिण्डक्रिया की है उससे मेरा शरीर भया है और धर्मराज के स्थान को मुझे दूत ले चले हैं। हे रामजी! इस प्रकार अनुभव करता वह धर्मराज के स्थान को चला और उसके पीछे देवी, जैसे वायु के पीछे गन्ध चली जाती है, चली। जैसे गन्ध के पीछे भ्रमरी जाती हैं वैसे ही राजा विदूरथ धर्मराज के पास पहुँच गया। धर्मराज ने चित्रगुप्त से कहा कि इसके कर्म विचारके कहो। चित्रगुप्त ने कहा, हे भगवन्! इसने कोई अपकर्म नहीं किया बल्कि बड़े-बड़े पुण्य किये हैं और भगवती सरस्वती का इसको वर है। इसका शव फूलों से ढका हुआ है; उस शरीर में यह भगवती के

वर से जाकर प्रवेश करेगा। इससे अब और कुछ कहना पूछना न
यह तो देवीजी के वर से बँधा है। हे रामजी! ऐसे कहकर यमराज
राजा को अपने स्थान से चला दिया। तब राजा आगे चले और उ
पीछे दोनों देवियाँ चलीं। राजा को यह देवियाँ देखती थीं पर रा
इनको न देख सकता था। तब तीनों उस ब्रह्माण्ड को लाँघ, जिस
राज्य विदूरथ ने किया था, दूसरे ब्रह्माण्ड में आये और उसको भी लाँ
के पद्म राजा के देश में आकर उसके मन्दिर में, जहाँ फूलों से ढका श
था आये। जैसे मेघ से वायु आन मिलता है वैसे ही एक क्षण में देवि
आन मिलीं। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! वह राजा तो मृतक हु
था; मृतक होकर उसने उस मार्ग को कैसे पहिचाना? वशिष्ठजी बो
हे रामजी! वह विदूरथ जो मृतक हुआ था उसकी वासना नष्ट न हु
थी। अपनी उस वासना से यह अपने स्थान को प्राप्त हुआ। हे रामजी
चिद् अणु जीव के उदर में भ्रान्तिमात्र जगत् है—जैसे वट के बीज
अनन्त वट वृक्ष होते हैं वैसे ही चिद् अणु में अनन्त जगत् हैं—ज
अपने भीतर स्थित है उसको क्यों न देखे? जैसे जीव अपने जीवत्व क
अंकुर देखता है वैसे ही स्वाभाविक चिद् अणु त्रिलोकी को देखता है
जैसे कोई पुरुष किसी स्थान में धन दबा रक्खे और आप दूर देश
जावे तो धन की वासना से देखता है वैसे ही वासना की दृढ़ता
विदूरथ ने देखा और जैसे कोई जीव स्वप्नभ्रम से किसी बड़े धनवान के
गृह में जा उपजता है और भ्रम के शान्त होने पर उसका अभाव देखता
है वैसे ही उसको अनुभव हुआ। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जिसकी
वासना पिण्डदान क्रिया की नहीं होती वह मृतक होने पर अपने सा
कैसे देह को देखता है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! पुरुष जो माता
पिताके पिण्ड करता है उनकी वासना हृदय में होती है और वही फल
रूप होकर भासती है कि मेरा शरीर है; मेरे पीछे मेरे बान्धवों ने पिण्ड
दान किया है उससे मेरा शरीर हुआ है। हे रामजी! सदेह हो अथवा
विदेह अपनी वासना ही के अनुसार अनुभव होता है—भावना स
भिन्न अनुभव नहीं होता। चित्तमय पुरुष है; चित्त में जो पिण्ड की

वासना दृढ़ होती है तो आपको पिण्डवान् ही जानता है और भावना के वश से असत् भी सत् हो जाता है। इससे पदार्थों का कारण भावना ही है; कारण विना कार्य का उदय नहीं होता। महाप्रलय पर्यन्त कारण विना कार्य होता नहीं देखा और सुना भी नहीं। इससे कहा है कि जैसी वासना होती है वैसा ही अनुभव होता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जिस पुरुष को अपने पिण्डदान आदि कर्मों की वासना नहीं वह जब मृतक होता है तब क्या प्रेतवासना संयुक्त होता है कि मैं पापी और प्रेत हूँ? अथवा पीछे उसके बान्धव जो उसके निमित्त क्रिया-कर्म करते हैं और जो बान्धवों ने पिण्डक्रिया की है उससे उसे यह भावना होती है कि मेरा शरीर हुआ है। वह क्रिया उसको प्राप्त होती है वा नहीं होती? अथवा उसके बान्धवों के मन में यह दृढ़ भावना हुई कि इसको शवक्रिया प्राप्त होगी और वह अपने मन में धन अथवा पुत्रादिकों के अभाव से निराश है और किसी प्रभाव से किसी ने पिण्डादिक क्रिया की वह उसको प्राप्त होती है अथवा नहीं होती? आप तो कहते हैं कि भावना के वश से असत् भी सत् हो जाता है यह क्या है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! भावना; देश, काल, क्रिया, द्रव्य और सम्पदा इन पाँचों से होती है। जैसी भावना होती है वैसी ही सिद्धि होती है; जिसकी कर्त्तव्यता बली होती है उसकी जय होती है। पुत्र, दारादिक बान्धव सब वासनारूप हैं। जो धर्म की वासना होती है तो बुद्धि में प्रसन्नता उपज आती है और पुण्यकर्मों से पूर्व भावना नष्ट हो शुभगति प्राप्त होती है। जो अतिबली वासना होती है उसकी जय होती है। इससे अपने कल्याण के निमित्त शुभ का अभ्यास करना चाहिये। रामजी बोले, हे भगवन्! जो देश, काल, क्रिया, द्रव्य और सम्पदा इन पाँचों से वासना होती है तो महाप्रलय और सर्ग की आदि में देश, काल, क्रिया, द्रव्य और सम्पदा कोई नहीं होती तो जहाँ पाँचो कारण नहीं होते और उनकी वासना भी नहीं होती उस अद्वैत से जगद्भ्रम फिर कैसे होता है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! महाप्रलय और सर्ग की आदि में देश, काल, क्रिया, द्रव्य और सम्पदा कोई नहीं

रहती और निमित्तकारण और समवायकारण का अभाव होता है चिदात्म में जगत् कुछ उपजा नहीं और है भी नहीं; वास्तव में दृश्य का अत्यन्त अभाव है और जो कुछ भासता है वह ब्रह्म का किञ्चन है वह ब्रह्मसत्ता सदा अपने आपमें स्थित है। ऐसे ही अनेक युक्तियों से मैं तुमसे कहूँगा अब तुम पूर्व कथा सुनो। हे रामजी! जब वे दोनों देवियाँ उस मन्दिर में पहुँचीं तो क्या देखा कि फूलों से सुन्दर शीतल स्थान बने हुए हैं—जैसे वसन्तऋतु में वनभूमिका होती है—और प्रातःकाल का समय है; सुवर्ण के मङ्गलरूपी कुम्भ जल से भरे रक्खे हैं; दीपकों की प्रभा मिट गई है; किवाड़ चढ़े हुए हैं, मन्दिरों में सोये हुए मनुष्यों के श्वास आते जाते हैं और महासुन्दर झरोखे हैं। ऐसे बने हुए स्थान शोभा देते हैं जैसे सम्पूर्ण कला से चन्द्रमा शोभता है और जैसे इन्द्र के स्थान सुन्दर हैं। जिस सुन्दर कमल से ब्रह्माजी उपजे हैं वैसे ही वे कमल सुन्दर हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे मरणानंतरावस्थावर्णन्नामै-
कोनचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तब दोनों देवियों ने उस शव के पास विदूरथ की लीला को देखा कि वह उसकी मृत्यु से पहले वहाँ पहुँची है और पूर्व के से वस्त्र भूषण पहिरे हुए पूर्व का सा आचार किये, पूर्व की सी सुन्दर है और पूर्व का सा ही उसका शरीर है। एवम् उसका सुन्दर मुख चन्द्रमा की नाईं प्रकाशता है और महासुन्दर फूलों की भूमि पर बैठी है। निदान लक्ष्मी के समान लीला और विष्णु के समान राजा को देखा, पर जैसे दिन के समय चन्द्रमा की प्रभा मध्यम होती है वैसे ही उन्होंने लीला को कुछ चिन्तासहित राजा की बाईं ओर एक हाथ चिबुक पर रक्खे और दूसरे हाथ से राजा को चमर करती देखा। पूर्व लीला ने इनको न देखा, क्योंकि ये दोनों प्रबुध आत्मा और सत्संकल्प थीं और वह लीला इनके समान प्रबुध न थी। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! उस मण्डप में पूर्व लीला जो देह को स्थापन कर और ध्यान में विदूरथ की सृष्टि देखने को सरस्वती के साथ गई थी उस देह का आपने कुछ वर्णन न किया कि उसकी क्या दशा हुई और कहाँ गई? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! लीला

कहाँ थी, लीला का शरीर कहाँ था और उसकी सत्ता कहाँ थी? वह तो अरुन्धती के मन में लीला के शरीर को भ्रान्तिप्रतिभा हुई थी। जैसे मरुस्थल में जल की प्रतिभा होती है वैसे ही लीला के शरीर की प्रतिभा उसे हुई थी। हे रामजी! यह आधिभौतिक अज्ञान से भासता है और बोध से निवृत्त हो जाता है। जब उस लीला को बोध में परिणाम हुआ तब उसका आधिभौतिक शरीर निवृत्त हो गया—जैसे सूर्य के तेज से बरफ़ का पुतला गल जाता है—और अन्तवाहकता उदय हुई। हे रामजी! जो कुछ जगत् है वह सब आकाशरूप है। जैसे रस्सी में सर्प भ्रम से भासता है तैसे ही अन्तवाहकता में आधिभौतिकता भ्रम से भासती है। आदि शरीर अन्तवाहक है अर्थात् संकल्पमात्र है उसमें दृढ़ भावना हो गई उससे पृथ्वी आदि तत्त्वों का शरीर भासने लगा। वास्तव में न कोई भूत आदिक तत्त्व है और न कोई तत्त्वों का शरीर है। उसका शव शश के शृंगों की नाईं असत् है। हे रामजी! आत्मा में अज्ञान से आधिभौतिक भासे हैं। जब आत्मा का बोध होता है तब आधिभौतिक नष्ट हो जाते हैं। जैसे किसी पुरुष ने स्वप्न में आपको हरिण देखा और जब जाग उठा तब हरिण का शरीर दृष्टि नहीं आया तैसे ही अज्ञान से आधिभौतिकता दृष्टि आई है और आत्मबोध हुए आधिभौतिकता दृष्टि नहीं आती। जब सत्य का ज्ञान उदय होता तब असत् का ज्ञान लीन हो जाता है। जैसे रस्सी के अज्ञान से सर्प भासता है और रस्सी के ज्ञान से सर्प का ज्ञान लीन होता है तैसे ही सम्पूर्ण जगत् मन से उदय हुआ है और अज्ञान से आधिभौतिकता को प्राप्त हुआ है। जैसे स्वप्न में जगत् आधिभौतिक हो भासता है और जागे से स्वप्न शरीर नहीं भासता तैसे ही आत्मज्ञान से आधिभौतिकता निवृत्त हो जाती है और अन्तवाहक शरीर भासता है। रामजी बोले, हे भगवन्! योगीश्वर जो अन्तवाहक शरीर से ब्रह्मलोक पर्यन्त आते जाते हैं उनके शरीर कैसे भासते हैं? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! अन्तवाहक शरीर ऐसे हैं जैसे कोई पुरुष स्वप्न में हो उसको पूर्व के जाग्रत् शरीर का स्मरण हो तब स्वप्न शरीर दृष्टि भी आता है पर उसको आकाशरूप जानता है; तैसे ही

आधिभौतिकता बोध से नष्ट हो जाती है। जैसे शरत्काल का मे देखनेमात्र होता है तैसे ही ज्ञानवान् योगीश्वरों का शरीर देखनेमा होता है और अदृश्यरूप है; और को शरीर भासता है पर उसक आकाशरूप ही भासता है। हे रामजी! यह देहादिक आत्मा में भ्रान्ति से दृष्टि आते हैं और आत्मज्ञान से निवृत्त हो जाते हैं। जैसे रस्सी के अज्ञान से सर्प भासता है; जब रस्सी का सम्यक्ज्ञान होता है तब सर्प भाव उसका नहीं रहता तैसे ही तत्त्वबोध होने से देह कहाँ हो और देह की सत्ता कहाँ रहे, दोनों का अभाव ही हो, केवल अद्वैत ब्रह्मसत्ता भासती है। रामजी बोले, हे भगवन्! अन्तवाहक से आधिभौतिकरूप होता है वा आधिभौतिक से अन्तवाहकरूप होता है यह मुझसे कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मैंने तुमको बहुत बेर कहा है, तुम मेरे कहे को धारण क्यों नहीं करते? मैंने आगे भी कहा है कि जो कुछ जीव हैं वह सब अन्तवाहक हैं आधिभौतिक कोई नहीं। आदि में जो शुद्ध संवित्मात्र से संवेदन आभास उठा है उससे इस जीव का संकल्परूप अन्तवाहक आदि शरीर हुआ। जब उसमें दृढ़ अभ्यास होता है तब वह संकल्परूपी शरीर आधिभौतिक होकर भासने लगता है। जैसे जल दृढ़ जड़ता से बरफरूप हो जाता है तैसे ही प्रमाद से संकल्प के अभ्यास से आधिभौतिकरूप हो जाता है। उस आधिभौतिक के तीन लक्षण होते हैं भारी शरीर होता है; कठोर भाव होता है और शिथिल होता है उससे अहंप्रतीति होती है इस कारण आधिभौतिक कहाता है। जब तत्त्व का बोध होता है तब आधिभौतिकता आकाशरूप हो जाती है। जैसे स्वप्न में देह से आदि लेकर जगत् बड़ा स्पष्टरूप भासता है और जब स्वप्न में स्वप्न का ज्ञान होता है कि यह स्वप्न है तब वह स्वप्न का शरीर लघु हो जाता है अर्थात् संकल्परूप हो जाता है; तैसे ही परमात्मा के बोध से आधिभौतिक शरीर निवृत्त हो जाता है और संकल्परूप भासता है। हे रामजी! आधिभौतिकता अबोध के अभ्यास से प्राप्त होती है। जब उलट के उसी ही अभ्यास का बोध हो तब आधिभौतिकता नष्ट हो जावे और अन्तवाहकता उदय हो। हे रामजी! जीव एक शरीर को

त्याग के दूसरे को अङ्गीकार करता है—जैसे स्वप्न से स्वप्नान्तर प्राप्त होता है और जब बोध होता है तब शरीर और कुछ वस्तु नहीं, वही आधिभौतिक शरीर शान्त हो जाता है जैसे स्वप्न से जागके स्वप्नशरीर शान्त हो जाता है। हे रामजी! जो कुछ जगत् तुमको भासता है वह सब भ्रममात्र है, अज्ञान से सत की नाईं भासता है। जब आत्मबोध होगा तब सब आकाशरूप होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने स्वप्ननिरूपणं
नाम चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब वह दोनों देवियाँ अन्तःपुर में गईं तब प्रबुध लीला कहने लगी, हे देवीजी! समाधि में लगे मुझको कितना काल व्यतीत हुआ? मैं ध्यान से भूपाल की सृष्टि में गई थी और मेरा शरीर यहाँ पड़ा था वह कहाँ गया? देवी बोली—हे लीले! तुझको समाधि में लगे इकतीस दिन व्यतीत हुए हैं। जब तू ध्यान में लगी तब तेरा पुर्यष्टक विदूरथ की सृष्टि में बिचरता फिरा जब इस शरीर की वासना तेरी निवृत्त होगई तब जैसे रस से रहित पत्र सूख जाता है तैसे ही तेरा शरीर निर्जीव होकर गिर पड़ा और जैसे काष्ठ पाषाण होता है तैसे ही हो बरफ की नाईं शीतल हो गया। तब देखके सबने विचार किया कि यह मर गई इसको जलाइये और चन्दन और घृत से लपेट के जला दिया। बान्धवजन रुदन करने लगे और पुत्रों ने पिण्डक्रिया की। हे लीले! जो तू ध्यान से उतरती तो तुझको देखके लोग आश्चर्यमान होते और अब भी देखके सब आश्चर्यमान होवेंगे कि रानी परलोक से फिर आई है। हे लीले! अब तुझको बोध उदय हुआ है इससे शरीर की वासना नष्ट होगई और अन्तवाहक में दृढ़ निश्चय हुआ इस कारण यह शरीर जीवित हुआ। अब जो उसके समान तेरा शरीर हुआ है वह इस कारण है कि तुझको लीला की वासना में बोध हुआ है कि मैं लीला हूँ, इस कारण तेरा शरीर तैसा ही रहा। यह लीला शरीर की तेरी वासना नष्ट न हुई थी, इस कारण तू निर्वाण न हुई, नहीं तो विदेहमुक्त हो जाती। अब तू सत्संकल्प हुई है जैसे तेरी इच्छा होगी तैसे ही अनुभव होगा। हे लीले! जैसी वासना जिसको होती है उसके अनुसार

उसको प्राप्त होता है। जैसे बालक को अन्धकार में जैसी भावना होती तैसा ही भान होता है—जो वैताल की भावना होती है तो वैताल भासता है परन्तु वास्तव में वैताल कोई नहीं। तैसे जितनी आधिभौतिक भासती है वह भ्रममात्र है। सब जीवों का आदि शरीर अन्तवाहक है प्रमाद से आधिभौतिक भासता है। हे लीले ! एक लिङ्गशरीर है; ए अन्तवाहक शरीर है—यह दोनों संकल्पमात्र हैं और इनमें इतना भेद कि लिङ्गशरीर संकल्परूपी मन है उसमें जिसको आधिभौतिकता का अभिमान होता है उसको गौरत्व और कठोररूप और वर्णाश्रमका अभि मान होता है। जिस पुरुष को ऐसे अनात्मा में आत्माभिमान हुआ जिसकी आधिभौतिक लिङ्गदेह है उसकी चिन्तना सत्य नहीं होती जिसको आधिभौतिक का अभिमान नहीं होता वह अन्तवाहक शरी है। वह जैसा चिन्तवन करता है वैसी ही सिद्धि होती है। हे लीले ! अब अन्तवाहक में दृढ़ स्थित हुई है, इस कारण तेरा फिर वैसा ही शरी हुआ है। तेरी आधिभौतिक बुद्धि नष्ट होगई और वह स्थूल शरीर श होकर गिर पड़ा है जैसे जल से रहित मेघ हो और जैसे सुगन्ध से रहित फूल हो तैसे ही तेरा शरीर हो गया है और अब तू सत्यसंकल्प हुई है जैसा चिन्तवन कर तैसा ही होगा। हे लीले ! यह कमलनयनी लील तेरे भर्त्ता के पास बैठी है और उसको इस अन्तःपुर के लोग और सहे लियाँ जान नहीं सकतीं, क्योंकि मैंने इनको निद्रा में मोहित किया था जबतक मेरा दर्शन इसको न होवेगा तबतक इसको और कोई न जा सकेगा अब यह हमको देखेगी। इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, रामजी ! ऐसे बिचारके देवी उसको अपने संकल्प से ध्यान करने लगी तब उस लीला ने देखा कि अन्तःपुर में बहुत से सूर्यों का प्रकाश इकट्ठ हुआ है और चन्द्रमा की नाईं शीतल प्रकाश है। ऐसे दोनों देवियों को देखके उसने नमस्कार कर मस्तक नवाया और दोनों को स्वर्ण के सिंहासन पर बैठा के कहने लगी, हे जीव की दाता ! तुम्हारी जय हो तुमने मुझपर बड़ी कृपा की। तुम्हारे ही प्रसाद से मैं यहाँ आई। देवी बोली, हे पुत्री ! तू यहाँ कैसे आई और क्या वृत्तान्त तूने देखा सो कह

विदूरथ की लीला बोली, हे देवी ! जब मेरा भर्त्ता संग्राम में घायल हुआ तब उसको देखके मैं मूर्च्छित हो गिर पड़ी परन्तु मृतक न भई। इसके अनन्तर फिर मुझको चेतना फुरी तो मैंने अपना वही शरीर देखा और उस शरीर से मैं आकाशमार्ग को उड़ी। जैसे वायु गन्ध लेकर उड़ता है तैसे ही एक कुमारी मुझे उड़ाकर परलोक में भर्त्ता के पास बैठा आप अन्तर्द्धान होगई। मेरा भर्त्ता जो संग्राम में थका था वह आके सो रहा है और मैं सँभालती देखती मार्ग में आई हूँ, परन्तु मुझको तुम दृष्टि कहीं न आईं। यहाँ कृपाकर तुमने दर्शन दिया है। इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रकार सुन के देवी ने प्रबुध लीला से कहा कि अब मैं राजा की जीवकला को छोड़ती हूँ। ऐसे कहके देवी ने नासिका के मार्ग से जीवकला को छोड़ दिया और जैसे कमल के भीतर वायु प्रवेश करजावे अथवा शरीर में वायु प्रवेश कर जावे वैसे ही शरीर में जीवकला प्रवेश कर गई। जैसे समुद्र जल से पूर्ण होता है वैसे ही पुर्यष्टक वासना से पूर्ण थी। शरीर की कान्ति उज्ज्वल होगई और जैसे वसन्तऋतु में फूल और वृक्षों में रस फैलता है, अङ्गों में प्राणवायु फैल गई। तब सब इन्द्रियाँ खिल आईं जैसे वसन्तऋतु में फूल खिल आते हैं। तब राजा फूलों की शय्या से इस भाँति उठ खड़ा हुआ जैसे रोका हुआ विन्ध्याचल पर्वत उठ आवे। तब दोनों लीला राजा के सम्मुख आ खड़ी हुई और राजा ने कहा मेरे आगे तुम कौन खड़ी हो ? प्रबुध लीला ने कहा, हे स्वामी ! मैं तुम्हारी पूर्व पटरानी लीला हूँ; जैसे शब्द के सङ्ग अर्थ रहता है तैसे सदा तुम्हारे सङ्ग रही हूँ। जब तुम यहाँ शरीर त्याग के परलोक में गये थे तब मुझमें तुम्हारा अतिस्नेह था, इससे मेरा प्रतिबिम्ब यह लीला तुमको भासी थी। अब जो और कथा का वृत्तान्त है सो मैं तुमसे कहती हूँ। हे राजन् ! हमारे ऊपर इस देवी ने कृपा की है जो हमारे शीशपर स्वर्ण के सिंहासन पर बैठी है। यह सरस्वती सर्व की जननी है; इसने हमारे ऊपर बड़ी कृपा की है और परलोक से तुम्हें ले आई है। हे रामजी ! ऐसे सुनके राजा प्रसन्न हो उठ खड़ा हुआ और सरस्वती के चरणों पर मस्तक नवाकर बोला, हे सरस्वति ! तुमको मेरा नमस्कार है। तुम सबकी हितकारिणी हो और तुमने मेरे ऊपर बड़ा

अनुग्रह किया है। अब कृपा करके मुझको यह वर दो कि मेरी आयु बड़ी हो; निष्कण्टक राज्य करूँ; लक्ष्मी बहुत हो; रोग कष्ट न हो और आत्मज्ञान से सम्पन्न होऊँ अर्थात् भोग और मोक्ष दोनों दो। इतना कह कर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जब इस प्रकार राजा ने कहा तब देवी ने उसके शीश पर हाथ धरके आशीर्वाद दिया कि हे राजन् ! ऐसे ही होगा। तेरी आयु बड़ी होगी; तेरा शत्रु भी कोई न होगा; निष्कण्टक राज्य करेगा; आपदा तुझको न होगी; लक्ष्मी संपदा से सम्पन्न होगा; तेरी प्रजा भी बहुत सुखी रहकर तुझको देखके प्रसन्न होगी; तेरी प्रजा में आपदा किसी को न होगी और तू आत्मानन्द से भी पूर्ण होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे जीवजीवन्वर्णनन्नामैकचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४१ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रकार कहके देवी तो अन्तर्धान होगई और प्रातःकाल का समय हुआ; सब लोग जाग उठे; सूर्य भी उदय हुआ और सूर्यमुखी कमल खिल आये। राजा दोनों लीला को कण्ठ लगा प्रसन्न और आश्चर्यमान हुआ, मन्दिर में नगारे बजने लगे और नाना शब्द होने लगे, मन्दिर में बड़ा हुलास और आनन्द हुआ, अनेक अङ्गना नृत्य करने लगीं और बड़ा उत्साह हुआ। विद्याधर, सिद्ध, देवता, फूलों की वर्षा करने लगे और लोग बड़े आश्चर्यमान हुए कि लीला परलोक से फिर आई है और अपने भर्त्ता और एक आपसी दूसरी लीला ले आई है। हे रामजी ! यह कथा देश से देशान्तर चली गई और सब लोग सुनके आश्चर्यमान हुए। जब इस प्रकार यह कथा प्रसिद्ध हुई तब राजा ने भी सुना कि मैं मर के फिर जिया हूँ और विचारा कि फिर मेरा अभिषेक हो। निदान मन्त्री और मण्डलेश्वरों ने उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम चारों ओर से सब समुद्र और सर्व तीर्थों का जल मँगा राजा को राज का अभिषेक किया और चारों समुद्रों पर्यन्त राजा निष्कण्टक राज्य करने लगा। राजा और लीला यह पूर्व की कथा को विचारते और आश्चर्यमान होते थे। सरस्वती के उपदेश और प्रसाद से अपना पुरुषार्थ पाके राजा और दोनों लीला ने इस भाँति सहस्र वर्ष पर्यन्त जीवन्मुक्त होके राज किया और मन सहित षट्इन्द्रियों को वश करके यथालाभ संतुष्ट रहे और दृश्यभ्रम उनका नष्ट होगया। ऐसा सुन्दर राजा था कि उसकी सुन्दरता की कणिका मानों चन्द्रमा थी और उसके तेज की कणिका मानों सूर्य थी निदान उसने प्रजा को भली प्रकार संतुष्ट किया और सब प्रजा राजा को देख के प्रसन्न हुई और विदेह मुक्त हो दोनों लीला और तीसरा राजा निर्वाण-पद को प्राप्त हुए।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने निर्वाणवर्णनन्नाम द्विचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह दोनों कथा एक आकाशज ब्राह्मण की और दूसरी लीला की मैंने तुमको दृश्यदोष के निवृत्ति अर्थ विस्तारपूर्वक सुनाई है। हे रामजी ! दृश्य की दृढ़ता जो हो रही है उसको त्याग करो। अब तुम इन दोनों इतिहासों को संक्षेपमात्र से सुनो। यह जगत् जो तुमको भासता है आभासरूप है—आदि से कुछ उपजा नहीं जो वस्तु सत् होती है उसके निवारण में प्रयत्न होता है और जो वस्तु असत् ही हो उसकी निवृत्ति होने में कुछ यत्न नहीं। इस कारण ज्ञानवान् को सब आकाशरूप भासता है और आकाश की नाईं स्थित होता है। हे रामजी ! आदि जो ब्रह्मसत्ता में आभास संवेदन फुरा है सो ब्रह्मरूप होकर स्थित हुआ है। वह ब्रह्म पृथ्वी आदिक भूतों से रहित है। जो आप ही आभासरूप हो उसके उपजाये जगत् कैसे सत् हो ? हे रामजी ! ज्ञानवान् पुरुष आकाशरूप है। जिसको आत्मपद का साक्षात्कार हुआ उसको दृश्यभ्रम का अभाव हो जाता है और जो अज्ञानी है उसको जगत् भ्रम स्पष्ट भासता है। शुद्ध चिदाकाश का एक अणु जीव है और उस जीव अणु में यह जगत् भासता है, उस जगत् की सृष्टि में तुमको क्या कहूँ; नीति क्या कहूँ; वासना क्या कहूँ और पदार्थों को क्या कहूँ ? हे रामजी ! जगत् कुछ उपजा नहीं, केवल संवेदन के फुरने से जगत् भासता है। शुद्ध संवित् में संवेदनरूपी नदी चली है और उसमें यह जगत् फुरता है। जब संवेदन को यत्न करके रोकोगे तब दृश्यभ्रम नष्ट हो जावेगा। प्रयत्न करना यही है कि संवेदन को अन्तर्मुख करे और

जब तक आत्मा का साक्षात्कार न हो तब तक श्रवण, मनन और निदिध्यासन से दृढ़ अभ्यास करना चाहिये । जब साक्षात्कार होता है तब दृश्य नष्ट हो जाता है । हे रामजी ! यह सर्व जगत् जो तुमको भासता है सो हमको अखण्ड ब्रह्मसत्ता ही भासता है । जगत् मायामय है, परन्तु माया भी कुछ और वस्तु नहीं, ब्रह्मसत्ता ही अपने आप में स्थित है। रामजी बोले, बड़ा आश्चर्य है ! बड़ा आश्चर्य है !! हे मुनीश्वर ! आपने मुझसे परम दशा कही है। आपका उपदेश दृश्यरूपी तृणों का नाशकर्त्ता दावाग्नि है और आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तापों का शान्तकर्त्ता चन्द्रमा है। हे मुनीश्वर ! आपके उपदेश से अब मैं ज्ञातज्ञेय हुआ हूँ और पाँच विकल्प मैंने विचारे हैं। प्रथम यह कि यह जगत् मिथ्या है और इसका स्वरूप अनिर्वचनीय है; दूसरे यह कि आत्मा में आभास है; तीसरे यह कि इसका स्वभाव परिणामी है; चौथे यह कि अज्ञान से उपजा है और पाँचवें यह कि यह अनादि अज्ञान पर्यन्त है। ऐसे जान के मैं ज्ञानवानों और निर्वाण मुक्तों की नाईं शान्तात्मा हुआ। हे मुनीश्वर ! और शास्त्रों से यह आपका उपदेश आश्चर्य है। श्रवणरूपी पात्र आपके वचनरूपी अमृत से तृप्त नहीं होते । इससे मेरा यह संशय दूर करो कि लीला के भर्त्ता को प्रथम वशिष्ठ, फिर पद्म और फिर विदूरथ की सृष्टि का अनुभव कैसे हुआ और उनमें उसको कहीं दिन हुआ, कहीं मास, कहीं वर्षों का अनुभव हुआ, सो काल का व्यतिक्रम कैसे हुआ ? हे मुनीश्वर ! इससे स्पष्ट करके कहिये कि आपके वचन मेरे हृदय में स्थित हों। एक बेर कहने से हृदय में स्थित नहीं होते, इससे फिर कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! शुद्धसंवित् सबका अपना आप है। उससे जैसा संवेदन फुरता है तैसा रूप हो भासता है। कहीं क्षण में कल्पों के समूह बीते भासते हैं और कहीं कल्प में क्षण का अनुभव होता है। हे रामजी ! जिसको विष में अमृतभावना होती है उसको अमृत ही हो भासता है और जिसको अमृत में विष की भावना होती है तब वही विषरूप हो भासता है। किसी पुरुष का कोई शत्रु होता है, पर उसमें वह मित्र की भावना करता है तो वह मित्ररूप ही भासता है और जिसको मित्र में

शत्रुभावना होती है तब वही शत्रु हो भासता है। हे रामजी ! जैसा संवेदन फुरता है तैसा ही स्वरूप हो भासता है। जिसका संवेदन तीव्रभाव के अभ्यास से निर्मलभाव को प्राप्त होता है उसका संकल्प सत् होता है और जैसे चेतता है तैसे ही सिद्ध होता है। इससे संवेदन की तीव्रता हुई है। हे रामजी ! रोगी को एक रात्रि कल्प के समान व्यतीत होती है और जो आरोग्य होता है उसको रात्रि एक क्षण की नाईं व्यतीत होती है। एक मुहूर्त्त के स्वप्न में अनेक वर्षों का अनुभव करता है और जानता है कि मैं उपजा हूँ; ये मेरे माता-पिता हैं; अब मैं बड़ा हुआ और ये मेरे बान्धव हैं। हे रामजी ! एक मुहूर्त्त में इतने भ्रम देखता है और जागे पर एक मुहूर्त्त भी नहीं बीतता । हरिश्चन्द्र को एक रात्रि में बारह वर्षों का अनुभव हुआ था और राजा लवण को एक क्षण में सौ वर्ष का अनुभव हुआ था। इससे जैसा जैसा रूप होकर संवेदन फुरता है तैसा ही तैसा होकर भासता है। हे रामजी ! ब्रह्मा के एक मुहूर्त्त में मनुष्य की आयु व्यतीत हो जाती है। ब्रह्मा जितने काल में एक मुहूर्त्त का अनुभव करता है मनुष्य उतने ही में पूर्ण आयु का अनुभव करता है और ब्रह्मा जितने काल में अपनी संपूर्ण आयु का अनुभव करता है सो विष्णु का एक दिन होता है। ब्रह्मा की आयु व्यतीत हो जाती है और विष्णु को एक दिन का अनुभव होता है। इससे जैसे जैसे संवेदन में दृढ़ता होती है तैसा तैसा भान होता है। हे रामजी ! जो कुछ जगत् तुम देखते हो सो संवेदन फुरने में स्थित है। जब संवेदन स्थित होता है तब न दिन भासता है; न राति भासती है; न कोई पदार्थ भासते हैं और न अपना शरीर भासता है केवल आत्मतत्त्वमात्र सत्ता रहती है। इससे तुम देखो कि सब जगत् मन के फुरने में होता है। जैसा जैसा मन फुरता है तैसा तैसा रूप हो भासता है। कड़ुवे में जिसको मीठे की भावना होती है तो कड़ुवा उसको मीठा हो जाता है और मीठे में जिसको कटुक भावना होती है तब मधुर भी उसको कटुकरूप हो जाता है। स्वप्न और शून्य स्थान में नाना प्रकार के व्यवहार होते भासते हैं और स्थिर पड़ा स्वप्न में दौड़ता फिरता है। इससे जैसा फुरना मन में होता है

तसा ही हो भासता है। हे रामजी ! नौका में बैठे हुए पुरुष को नदी के तट वृक्षों सहित दौड़ते भासते हैं। जो विचारवान् हैं वे चलते भासने में उन्हें स्थिर ही जानते हैं। और जो पुरुष थमता है उसको स्थिरभूत मन्दि भ्रमते भासते हैं और जो विचार में दृढ़ है उसको भ्रमते भासने में भ अचल बुद्धि होती है। इससे जैसा जैसा निश्चय होता है तैसा ही तैसा ह भासता है। हे रामजी ! जिसके नेत्र में दूषण होता है उसको श्वेत पदा भी पीतवर्ण भासता है और जिसके शरीर में वात, पित्त, कफ का क्षो होता है उसको सब पदार्थ विपर्यय भासते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी आकाश रूप भासती है और आकाश पृथ्वीरूप हो भासता है; चल पदार्थ अचल रूप भासता है और अचल पदार्थ चलता भासता है। हे रामजी ! जैसे स्वप्न में अङ्गना असत्‌रूप होती है, परन्तु भ्रान्ति से उसको स्पर्श करके प्रसन्न होता है तो उस काल में प्रत्यक्ष ही भासती है और जैसे बालक को परछाहीं में वैताल भासता है सो असत् ही सत्‌रूप हो भासता है। हे रामजी ! शत्रु में जो मित्रभावना होती है तो वह शत्रु भी मित्र सुहृद् हो भासता है और जो मित्र में शत्रुभाव होता है तो वह सुहृद् शत्रुरूप हो भासता है। जैसे रस्सी में सर्प है नहीं, परन्तु भ्रम से सर्प भासता है और भय देता है तैसे ही बान्धवों में जो बान्धव की भावना न करे तो बान्धव भी अबान्धव हो भासता है और अबान्धव भी भावना के अभाव से बान्धव हो जाते हैं। हे रामजी ! शून्य स्थान में और स्वप्न में बड़े क्षोभ भासते हैं और निकटवर्ती को जागे से कुछ नहीं भासता। स्वप्न वाले को सुनने का अनुभव होता है और जाग्रत्‌वाले को जाग्रत् का अनुभव होता है, इत्यादिक पदार्थ विपर्यय भ्रम से भासते हैं। जब मन फुरता है तबहीं भासता है। तैसे ही लीला के भर्त्ता को भी ऐसी सृष्टि का अनुभव हुआ। जैसे जाग्रत् के एक मुहूर्त्त का स्वप्न में बहुत काल का अनुभव होता है तैसे ही लीला के भर्त्ता को भी हुआ था। जैसी जैसी मन की स्फूर्ति होती है तैसा ही तैसा रूप चैतन्य संवित् में भासता है। हमको सदा ब्रह्म का निश्चय है इससे हमको सब जगत् ब्रह्मस्वरूप ही भासता है और जिसको जगत्‌भ्रम दृढ़ है उसको जगत् ही भासता है।

हे रामजी ! जो कुछ जगत् भासता है सो कुछ आदि से उपजा नहीं– सब आकाशरूप है। रोकनेवाली कोई भीति नहीं है, बड़े विस्तार से जगत् है, परन्तु स्वप्नवत् है। जैसे थम्भे में बनाये विना पुतली शिल्पी के मन में भासती है और थम्भे में कुछ बनी नहीं तैसे ही आत्मारूपी थम्भा है उसमें जगत्‌रूपी पुतलियों को संवेदन रचता है परन्तु वह कुछ पदार्थ नहीं है आत्मसत्ता ही ज्यों की त्यों है। हे रामजी ! जैसे एक स्थान में दो पुरुष लेटे हों और उनमें एक जागता हो और दूसरा स्वप्न में हो तो जो स्वप्न में है उसको बड़े युद्ध होते भासते हैं और जागे हुए को आकाशरूप है तैसे ही जो प्रबोध आत्मज्ञानवान् है उसको जगत् का सुषुप्ति की नाईं अभाव है और जो अज्ञानी है उसको नाना प्रकार के व्यवहारों सहित स्पष्ट भासता है। जैसे वसन्तऋतु में पत्र, फल और गुच्छे रससहित भासते हैं तैसे ही आत्मसत्ता चैतन्यता से जगत्‌रूप भासती है। जैसे स्वर्ण में द्रवता सदा रहती है परन्तु जब अग्नि का संयोग होता है तभी भासती है। हे रामजी ! आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं। जैसे अवयवी और अवयवों में और पृथ्वी और गन्ध में कुछ भेद नहीं तैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं। ब्रह्मसत्ता ही संवेदन से जगत्‌रूप होकर भासती है और दूसरी कोई वस्तु नहीं। जब महाप्रलय होता है और सर्ग नहीं होता तब कार्यकारण की कल्पना कोई नहीं होती, केवल चिन्मात्र सत्ता होती है और उसमें फिर चिदाकाश जगत् भासता है तो वही रूप हुआ। जो तुम कहो कि इस जगत् का कारण स्मृति है तो सुनो; जब महाप्रलय होता है तब ब्रह्माजी तो विदेहमुक्त होते हैं फिर वह जगत् के कारण कैसे हों और जो तुम स्मृति का कारण मानो तो स्मृति भी अनुभव में होती है जो स्मृति से जगत् हुआ तो भी अनुभवरूप हुआ। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! पद्म राजा के मन्त्री, नौकर और सब लोग विदूरथ को कैसे जाकर मिले ? यह वार्त्ता फिर कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! केवल चेतनसंवित् सबका अपना आप है उस संवित् के आश्रय से जैसा संवेदन फुरता है तैसा ही रूप हो भासता है। हे रामजी ! जब राजा विदूरथ मृतक होने लगा तब उसकी

वासना उनमें थी और मन्त्री, नौकर आदिक राजा के अङ्ग हैं इस कार वैसे ही मन्त्री और नौकर राजा को मिले। हे रामजी ! जैसी भावन संवेदन में दृढ़ होती है तैसा ही रूप हो भासता है। एक चल पदार्थ हो हैं और एक अचल होते हैं, जो अचल पदार्थ हैं उनका प्रतिबिम्ब आदर्श में भासता है और चल पदार्थ रहता नहीं भासता, इससे उसका प्रतिबि नहीं भासता। तैसे ही जिस पदार्थ की तीव्र संवेग भावना होती है उसी का प्रतिबिम्ब चेतन दर्पण में भासता है, अन्यथा नहीं भासता। जैसे ती वेगवान् बड़ा नद समुद्र में शीघ्र ही जा मिलता है और दूसरे नहीं प्रा हो सकते तैसे ही जिसकी दृढ़ वासना होती है वह उसके अनुसार शी जाकर पाता है। हे रामजी ! जिसके हृदय में अनेक वासना होती हैं और अच्छी तीव्रता होती है उसी की जय होती है। जैसे समुद्र में अनेक तरङ्ग होते हैं तो कोई उपजता है और कोई नष्ट हो जाता है; कोई सदृश होता है कोई विपर्यय होता है, उसके सदृश मन्त्री और नौकर भी हुए। हे रामजी ! एक एक चिद् अणु में अनेक सृष्टि स्थित होती हैं, पर वास्तव में कुछ नहीं, केवल चिदाकाश ही चिदाकाश में स्थित है। यह जो जगत् भासता है सो आकाश ही रूप है जो जाग्रत्‌रूप होकर असत् ही सत्‌रूप की नाईं भासता है। जैसे पत्र, फल, फूल सब वृक्षरूप हैं और वृक्ष ही ऐसे रूप होकर स्थित हैं तैसे ही अनन्त शक्ति परमात्मा अनेकरूप होकर भासता है। हे रामजी ! द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, त्रिपुटी ज्ञानी को अजन्मापद भासता है और अज्ञानी को द्वैतरूप जगत् होकर भासता है। कहीं शून्य भासता है; कहीं तम भासता है और कहीं प्रकाश भासता है। देश, काल, क्रिया, द्रव्य आदिक सब जगत् आदि, अन्त और मध्य से रहित स्वच्छ है आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है जैसे सोमजल में जो तरङ्ग होते सो जल ही रूप हैं तैसे ही अहं, त्वं आदिक जगत् भी बोधरूप है और सदा अपने आपमें स्थित है—उसमें द्वैतकल्पना का अभाव है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने प्रयोजनवर्णनन्नाम
त्रिचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४३ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! अहं त्वं आदिक दृश्यभ्रान्ति कारण बिना परमात्मा से कैसे उदय हुई है ? जिस प्रकार मैं समझूँ उसी प्रकार मुझको फिर समझाइये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जो कुछ कारण-कार्य जगत् भासता है वह परमात्मा से उदय हुआ है अर्थात् संवेदन के फुरने से इकट्ठे हो पदार्थ भास आये हैं और सर्वदा, सर्वप्रकार, सर्वात्मा, अजरूप अपने आपमें स्थित है। हे रामजी ! यह सर्व शब्द और अर्थ-रूप कलना जो भासी है सो ब्रह्मरूप है; ब्रह्म से कुछ भिन्न नहीं और ब्रह्मसत्ता सर्व शब्द अर्थ की कलना से रहित अपने आपमें स्थित है। जैसे भूषण सुवर्ण से भिन्न नहीं और तरङ्ग जल से भिन्न नहीं तैसे ही ब्रह्म से भिन्न जगत् नहीं—ब्रह्मस्वरूप ही है। हे रामजी ! ईश्वर जो आत्मा है सो जगत्‌रूप है, जगत् ईश्वररूप है। जैसे सुवर्ण भूषणरूप है और भूषण सुवर्णरूप है अर्थात् सुवर्ण में भूषण शब्द और अर्थ कल्पित हैं—वास्तव में नहीं—तैसे ही जगत् आत्मा का आभासरूप है—वास्तव में कुछ नहीं। हे रामजी ! जो कुछ जगत् है सो ब्रह्मरूप है ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। जैसे अवयव अवयवी से भिन्न नहीं तैसे ही आत्मा से जो कुछ अवयवी जगत् है सो भिन्न नहीं। आत्मा में संवेदन के फुरने से तन्मात्रा फुरी है और आत्मा में ही इनका उपजना सम हुआ है; पीछे विभाग-कल्पना हुई है इसलिये उनसे जो भूत हुए हैं वे आत्मा से अन्य नहीं। जैसे शिला में चितेरा भिन्न-भिन्न पुतली कल्पता है सो शिलारूप ही हैं; भिन्न कुछ नहीं; तैसे ही अहं त्वं आदिक जगत् चिद्घन आत्मा में मन-रूपी चितेरे ने कल्पा है सो चिद्घनरूप ही है, कुछ भिन्न नहीं। जैसे जल में तरङ्ग स्थित होते हैं सो जलरूप ही हैं; तरङ्गों का शब्द और अर्थ जल में कोई नहीं; तैसे ही आत्मा जगत् स्थित है, पर जगत् के शब्द और अर्थ से रहित है। हे रामजी ! जगत् परमपद से भिन्न नहीं और परमपद जगत् बिना नहीं; केवल चिद्रूप अपने आपमें स्थित है। जैसे वायु और स्पन्द में कुछ भेद नहीं है स्पन्द और निस्स्पन्द दोनों रूप वायु के ही हैं। जब स्पन्दरूप होता है तब स्पर्शरूप होकर भासता है और निस्स्पन्द हुआ स्पर्श नहीं भासता; तैसे ही जगत् और ब्रह्म में कुछ भेद नहीं; जब

संवेदन किंचित्‌रूप होता है तब जगत्‌रूप हो भासता है और संवेदन के निस्पन्द हुए से जगत् नहीं भासता, पर आत्मसत्ता सदा एकरूप है। हे रामजी ! जब संवेदन फुरने से रहित होकर आत्मपद में स्थित हो तब यदि संकल्परूप जगत् फिर भी भासे तो आत्मरूप ही भासे । जैसे वायु के स्पन्द और निस्पन्द दोनों रूप अपने आप ही भासते हैं तैसे ही इसको भी भासता है। जैसे वायु में स्पन्दता वायुरूप स्थित है तैसे ही आत्मा में जगत् आत्मरूप से स्थित है। जैसे तेज अणु का प्रकाश जब मन्दिर में होता है तब बाहर भी प्रकट होता है तैसे ही जब केवल संवित्‌मात्र में संवेदन स्थित होता है तब फुरने में भी संवित्‌मात्र ही भासता है। हे रामजी ! जैसे रसतन्मात्रा में जल स्थित होता है तैसे ही आत्मा में जगत् स्थित है। जैसे गन्धतन्मात्रा के भीतर सम्पूर्ण पृथ्वी स्थित है तैसे ही किञ्चनरूप जगत् आत्मा में स्थित है। वह निराकार और चिन्मात्ररूप आत्मसत्ता उदय और अस्त से रहित अपने आपमें स्थित है; प्रपञ्चभ्रम उसमें कोई नहीं। हे रामजी ! जे ज्ञानवान् पुरुष हैं उनको दृढ़ीभूत जगत् भी आकाशरूप भासता है और जे अज्ञानी हैं उनको असत्‌रूप जगत् भी सत्‌रूप हो भासता है। हे रामजी ! जैसा-जैसा संवेदन चित्तसंवित् में फुरता है तैसा ही तैसा रूप जगत् हो भासता है। ये जितने तत्त्व और तन्मात्रा हैं वे सब चित्तसंवेदन के फुरने से स्थित हुए हैं; जैसी-जैसी उसमें स्फूर्त्ति होती है तैसी-तैसी होकर भासती है, क्योंकि आत्मा सर्वशक्तिमान् है इसलिये जिस-जिस पदार्थ का फुरना फुरता है वही अनुभव में सत्‌रूप होकर भासता है। पञ्चज्ञानेन्द्रिय और छठे मन का जो कुछ विषय होता है वह सब असत्‌रूप है और आत्मसत्ता इनसे अतीत है। विश्व भी क्या रूप है; जैसे समुद्र में तरङ्ग होते हैं तैसे ही आत्मा में जगत् स्थित है। जैसे तेज और प्रकाश अनन्यरूप हैं तैसे ही आत्मा और जगत् अनन्यरूप हैं। जैसे थम्भे में शिल्पी पुतलियाँ देखता है; जैसे मृत्तिका के पिण्ड में कुम्हार बर्तन देखता है और जैसे भीत पर चितेरा रङ्ग की मूरतें लिखता है सो अनन्यरूप हैं तैसे ही परमात्मा में सृष्टि अनन्यरूप है। हे रामजी ! जैसे मरुस्थल में मृगतृष्णा का जल और तरङ्गें असत् हैं पर सत्‌रूप हो भासती हैं; तैसे ही आत्मा में असत्-रूप जगत् त्रिलोकी भासती है । जब चित्तसंवित् में संवेदन फुरता है तब जगत् भासता है और जब संवेदन नहीं फुरता तब जगत् भी नहीं भासता। जगत् कुछ ब्रह्म से भिन्न नहीं। जैसे बीज और वृक्ष में; चीर और मधुरता में; मिरच और तीक्ष्णता में; समुद्र और तरङ्ग में और वायु और स्पन्द में कुछ भेद नहीं होता तैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं। जैसे अग्नि में उष्णता स्वाभाविक स्थित है तैसे ही निराकार आत्मा में सृष्टि स्वाभाविक ही स्थित है । हे रामजी ! यह जगत् ब्रह्मरूपी रत्न का किञ्चन है; जैसा-जैसा किञ्चन होता है तैसा ही तैसा होकर भासता है। अकारणपदार्थ अकारण ही होता है और जिस अधिष्ठान में भासता है उससे अनन्यरूप होता है; अधिष्ठान से भिन्न उसकी सत्ता नहीं होती; तैसे ही यह जगत् आत्मा में अनन्यरूप होता है कुछ उपजा नहीं, परन्तु संवेदन फुरने से भासता है । जितने जगत् और वासना हैं उनका बीज संवेदन है इससे वे भ्रम हैं। इसलिये संवेदन के अभाव का पुरुषार्थ करो; जब संवेदन का अभाव होगा तब जगत्‌भ्रम नष्ट होगा। वास्तव में कुछ न उपजा है और न कुछ नष्ट होता है; सर्व शान्तरूप चिद्‌घन ब्रह्म शिलाघन की नाईं अपने आपमें स्थित है। हे रामजी ! चित् परमाणु में चैत्यता से अनेक सृष्टि भासती हैं। उन सृष्टियों में जो परमाणु हैं उन परमाणुओं के भीतर और सृष्टि स्थित हैं उनकी कुछ संख्या नहीं। जैसे जल में अनेक तरङ्ग होते हैं उनमें से कोई गुप्त और कोई प्रकट होते हैं पर वे सब जल की शक्तिरूप हैं और जैसे जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था जीवों के भीतर स्थित हैं, पर कोई गुप्त है कोई प्रकटरूप है। हे रामजी ! जब तक संवेदन द्वैत के साथ मिला हुआ है तब तक सृष्टि का अन्त नहीं। जब चित्त उपशम होगा तब जगत्‌भ्रम मिट जावेगा। जब भोगों में कुछ भी वृत्ति न उपजे तब जानिये कि आत्मपद प्राप्त होगा। यह श्रुति का निश्चय है। हे रामजी ! ज्यों-ज्यों ममत्व दूर होता है त्यों-त्यों बन्धनों से मुक्त होता है। जब अहंभाव अर्थात् जीवत्वभाव निर्वाण होता है तब जन्मों की संपदा नष्ट हो जाती हैं, केवल

शुद्धरूप ही होता है और तब स्थावरजङ्गमरूप जगत् सब आत्मरूप प्रतीत होता है। जैसे समुद्र को तरङ्ग और बुद्‌बुदे सब अपने आपरूप भासते हैं तैसे ही ज्ञानवान् को सब जगत् आत्मरूप भासता है। हे रामजी! शुद्ध आत्मसत्ता में जो संवेदन फुरा है उसने आपको ब्रह्मरूप जाना और भावना करके संकल्परूप नाना प्रकार का जगत् रचा है पर उसको अन्तर अनुभव असत्यरूप किया। उसमें कहीं निमेष में अनेक युगों का अन्त भासता है और कहीं अनेक युगों में एक निमेष का अनुभव होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे जगत्किञ्चनवर्णनन्नाम
चतुश्चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! चिद् परमाणु में जो एक निमेष होता है उसके लाखवें भाग में जगतों के अनेक कल्प फुरते हैं। और उन सृष्टियों में जो परमाणु हैं उनमें सृष्टि फुरती हैं। जैसे समुद्र में तरङ्ग फुरते हैं सो जलरूप ही हैं तरङ्ग शब्द और उसका अर्थ भ्रमरूप है—तैसे ही आत्मा में भ्रमरूप अनेक सृष्टि फुरती हैं। जैसे मरुस्थल में मृगतृष्णा की नदी चलती दृष्टि आती है तैसे ही आत्मा में यह जगत् भासता है। जैसे स्वप्न-सृष्टि और गन्धर्वनगर भासते हैं; जैसे कथा के अर्थ चित्त में फुरते हैं और संकल्पपुर भासता है; तैसे ही जगत् असत्‌रूप सत् हो भासता है। इतना सुन रामजी ने पूछा, हे ज्ञानवानों में श्रेष्ठ! जिस पुरुष को विचार द्वारा सम्यक् ज्ञान हुआ और निर्विकल्प आत्मपद की प्राप्ति हुई है उसको अपने साथ देह कैसे भासती है; उसकी देह कैसे रहती है और देह प्रारब्ध से उसका शरीर कैसे रहता है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! आदि जो ब्रह्मशक्ति में संवेदन फुरा है उसका नाम नीति हुआ है। उसमें जो संभावना की है कि यह पदार्थ ऐसे होगा; इससे होगा और इतने काल रहेगा वैसे ही अनेक कल्प पर्यन्त होता है। जितना काल उसने धारा है उतने काल का नाम नीति है। महासत् भी उसी को कहते हैं और महाचेतना भी उसी को कहते हैं। महाशक्ति भी उसी का नाम है और महाअदृष्ट वा महाकृपा भी वही है और महाउद्भव भी उसी को कहते हैं। अर्थ यह कि वह नीति अनन्त ब्रह्माण्डों की उपजानेवाली है।

जैसा फुरना दृढ़ हुआ है तैसा ही रूप होकर स्थित है। यह स्थावररूप है; यह जङ्गम है; यह दैत्य है; यह देवता है; यह नाग है; यह नागिनी है; ब्रह्मा से तृणपर्यन्त जैसा उसमें अभ्यास है उसी प्रकार स्थित है। स्वरूप से ब्रह्मसत्ता का व्यभिचार कदाचित् नहीं हुआ वह तो सदा अपने आपमें स्थित है। जो ज्ञानवान् पुरुष है उसको सब ब्रह्मस्वरूप भासता है और जो अज्ञानी है उसको जगत् और नीति भी भिन्न भासती है। ज्ञानवान् को सब अचल ब्रह्मसत्ता ही भासता है और अज्ञानियों को चलनरूप जगत् भासता है। वह जगत् ऐसा है जैसे कि आकाश में वृक्ष भासते हैं और शिला के उदर में मूर्ति होती है। जो ज्ञानवान् हैं उनको सर्ग और निमित्त सब ज्ञानरूप ही भासते हैं। जैसे अवयवी के अवयव अपना ही रूप होते हैं तैसे ही ब्रह्मसत्ता के अवयव ब्रह्म नित्य सर्गादिक अपना ही रूप हैं। हे रामजी! उसी नीति को दैव भी कहते हैं। जो कुछ किसी को प्राप्त होता है वह उसी दैव की आज्ञा से प्राप्त होता है, क्योंकि आदि से यही निश्चय धरा है कि इस साधन से यह फल प्राप्त होगा। जैसा साधन होता है तैसा ही फल अवश्य सबको उस दैव से प्राप्त होता है। इस कारण नीति को दैव कहते हैं और दैव को नीति कहते हैं। हे रामजी! पुरुष जो कुछ पुरुषार्थ करता है उसके अनुसार फल प्राप्त होता है। इसी कारण इसका नाम नीति है और इसी का नाम पुरुषार्थ है। तुमने जो मुझसे दैव और पुरुषों का निर्णय पूछा और मैंने कहा उसी की तुम पालना करो। इसी का नाम पुरुषार्थ है और इसका जो फल तुमको प्राप्त हो उसका नाम दैव है। हे रामजी! जो पुरुष ऐसा दैवपरायण हुआ है कि मुझको जो कुछ दैव भोजन करावेगा सो ही करूँगा और मौनधारी होके अक्रिय हो बैठे उसको जो आय प्राप्त हो सो भी नीति है और जो पुरुष भोगों के निमित्त पुरुषार्थ करता है वह भोगों को भोगकर मोक्षपर्यन्त अनेक शरीरों को धारेगा; यह भी नीति है। हे रामजी! जो आदि संवित् में संवेदन फुरकर भवितव्यता धरी है उसही प्रकार स्थित है उसका नाम भी नीति है। उस नीति को ब्रह्मा विष्णु और रुद्र भी उल्लङ्घन नहीं कर सकते तो और कैसे

उल्लङ्घि सके। हे रामजी! जो पुरुष पुरुषार्थ को त्याग बैठे हैं उनको फल नहीं प्राप्त होता—यह भी नीति है और जो पुरुष फल के निमित्त पुरुषार्थ करता है उसको फल प्राप्त होता है—यह भी नीति है। जो पुरुष प्रयत्न को त्यागकर निष्क्रिय हो बैठे हैं और मन से विषयों की चित्त में वासना करते हैं वे निष्फल ही रहते हैं और जो पुरुष कर्तृत्व को त्यागकर चित्त की वृत्ति से शून्य दैवपरायण हो रहे हैं और विषयों की चित्त में वासना नहीं करते उनको सफलता ही होती है, क्योंकि फुरने से रहित होना भी पुरुषार्थ है। यह भी नीति है कि अर्थ चिन्तवन करने वाले को प्राप्ति नहीं होती और अयाचक को प्राप्ति होती है। हे रामजी! पुरुषार्थ सफल भी नहीं है जो आत्मबोध के निमित्त न हो। जब ब्रह्मसत्ता की ओर तीव्र अभ्यास होता है तब परमपद की अवश्य प्राप्ति होती है और जब परमपद पाया तब सब जगत् चिदाकाशरूप हो भासता है। नीति आदिक जो विस्तार कहे हैं सो सर्व भ्रमरूप हैं केवल ब्रह्मसत्ता ही ऐसे हो भासती है। जैसे पृथ्वी में रस सत्ता है और वह तृणवत् गुच्छे और फूलरूप होकर स्थित हैं तैसे ही नीति आदिक सब जगत् होकर ब्रह्म ही स्थित है; और कुछ वस्तु नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे दैवशब्दार्थविचारो
नाम पञ्चचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जो कुछ तुमको भासता है सो सर्व प्रकार सर्वदा और सर्व ओर से ब्रह्मतत्त्व ही सर्वात्मा होकर स्थित हुआ है। वह अनन्त आत्मा है; जब उसमें चित्तशक्ति प्रकट होती है अर्थात् शुद्ध चैतन्यमात्र में अहंस्फूर्त्ति होती है तब जगत् भासता है; कहीं उपजता है; कहीं नष्ट होता है; कहीं हुलास करता है; कहीं चित्त भासता है; कहीं किञ्चन है कहीं प्रकट है और कहीं अप्रकट भासता है। निदान नाना प्रकार का जगत् है जहाँ जैसा तीव्र अभ्यास होता है वहाँ वैसा होकर भासता है। क्योंकि, आत्मा सर्व शक्ति और सर्वरूप है; जैसा जैसा फुरना उसमें दृढ़ होता है, वही रूप होकर भासता है। हे रामजी! ये जो नाना प्रकार की शक्तियाँ कही हैं सो वास्तव में आत्मा से कुछ भिन्न नहीं; बुद्धिमानों

ने समझाने के निमित्त नाना प्रकार के विकल्प जाल कहे हैं आत्मा में विकल्प जाल कोई नहीं। जैसे जल और उसकी तरङ्ग में; सुवर्ण और भूषण में और अवयवी और अवयव में कुछ भेद नहीं तैसे ही आत्मा और शक्ति में कुछ भेद नहीं। हे रामजी! एक संवित् है और एक संवेदन है; संवित् वास्तव है और संवेदन कल्पना है। जब संवित् में चिन्मात्र संवेदन फुरता है तो वह जैसे चेतता जाता है तैसे ही होकर स्थित होता है। शुद्ध चिन्मात्र संवित् में भीतर और बाहर कल्पना कोई नहीं। जब स्वभाव से किञ्चनरूप संवेदन होता है तब आगे कुछ देखता है और उस देखने से नाना प्रकार के आकार भासते हैं पर वह और कुछ नहीं सर्व ब्रह्म ही है। हे रामजी! शक्ति और शक्तिमान् में भेद अज्ञानी देखते हैं और अवयवी और अवयव भेद भी कल्पते हैं। परमार्थ में कुछ भेद नहीं केवल ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित है उसके आश्रय संकल्प आभास होता है। जब संकल्प की तीव्रता होती है तब वह सत् हो अथवा असत्, परन्तु उसही का भान होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे बीजावतारो नाम
षट्चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४६ ॥

वशिष्ठजी बोले. हे रामजी! यह जो सर्वगत देव, परमात्मा महेश्वर है यह स्वच्छ अनुभव, परमानन्दरूप और आदि अन्त से रहित है। उस शुद्धचिन्मात्र परमानन्द से प्रथम जीव उपजा, उससे चित्त उपजा और चित्त से जगत् उपजा है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! अनुभव परिणाम से जो शुद्ध ब्रह्मतत्त्व; सर्वव्यापी, द्वैत से रहित स्थित है उसमें तुच्छ जीव कैसे सत्यता को पाता है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ब्रह्म भास है अर्थात् असत्रूप जगत् उससे सत् भासता है और स्वच्छ है अर्थात् आभासरूपी जगत् से भी रहित है। बृहत् है अर्थात् बड़ा है बड़ा भी दो प्रकार का है; अविद्याकृत जगत् से जो बड़ा है सो अविद्या बड़ाई मिथ्या है। ब्रह्म बड़ाई सर्वात्मकरूप है सो सर्वदेश, सर्वकाल और सर्व वस्तु से पूर्ण है और अविद्याकृत बड़ाई देश, काल वस्तु से रहित निराकार है सो ज्ञानी का विषय है इससे बृहत् है और परम चेतन

है। भैरव है अर्थात् जिसके भय से चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, वायु और जल अपनी मर्यादा में चलते हैं। परमानन्द है, अविनाशी है; सर्व ओर में पूर्ण है; सम है; शुद्ध है और अचिन्त्य है अर्थात् वाणी से नहीं कहा जाता और क्षोभ से रहित चिन्मात्र है ऐसी आत्मसत्ता ब्रह्म का जो स्वभाव सम्पत् है उसी का नाम जीव है अर्थात् जो शुद्ध चिन्मात्र में अहंफुरना है उसी का नाम जीव है। उस अनुभवरूपी दर्पण में अहं रूपी प्रतिबिम्ब फुरने को जीव कहते हैं। जीव अपने शान्त पद को त्यागे की नाईं स्थित होता है सो चिदात्मा ही फुरने के द्वारा आपको जीवरूप जानता है। जैसे समुद्र द्रवता से तरङ्गरूप होता है पर समुद्र और तरङ्ग में कुछ भेद नहीं; तैसे ही ब्रह्म ही जीवरूप है। जैसे वायु और स्पन्द और बरफ और शीतलता में कुछ भेद नहीं तैसे ही ब्रह्म और जीव में कुछ भेद नहीं। हे रामजी! चित्तरूपी आत्मतत्त्व को ही अपने स्वभाव वश से माया करके संवेदन सहित जीवरूप कहते हैं वह जीव आगे फुरने से बड़े विस्तार धारण करता है। जैसे इन्धन से अग्नि के बहुत अणु होते हैं और बड़े प्रकाश को प्राप्त होता है तैसे ही जीव फुरने से जगत्‌रूप को प्राप्त होता है। जैसे आकाश में नीलता भासती है सो नीलता कुछ भिन्न वस्तु नहीं है तैसे ही अहंभाव से ब्रह्म में जीवरूप भासता है और अहंकृत को अङ्गीकार करके कल्पितरूप की नाईं स्थित होता है। जैसे घन की शून्यता से आकाश में नीलता भासती है तैसे ही स्वरूप के प्रमाद से देश, काल वस्तु के परिच्छेद सहित अहंकाररूपी जीव भासते हैं पर वास्तव में चिदाकाश ही चिदाकाश में स्थित है। जैसे वायु से समुद्र तरङ्गरूप होता है तैसे ही संवेदन फुरने से आत्मसत्ता जीवरूप होती है। जीव की चैत्योन्मुखत्वता के कारण इतनी संज्ञा हैं—चित्त, जीव, मन, बुद्धि, अहंकार माया प्रकृति सहित ये सब उसही के नाम हैं। उस जीव ने संकल्प से पञ्चभूत तन्मात्रा को चेता तो उन पञ्चतन्मात्रा के आकार से अणुरूप होकर स्थित हुआ; उससे अणु अनउपजे ही उपजे की नाईं स्थित हुए और भासने लगे। फिर उसी चित्त संवेदन ने अण्ड अङ्गीकार करके जगत् को रचा और जैसे बीज से सत् अंकुर वृक्ष होता

है तैसे ही संवेदन ने विस्तार पाया। प्रथम वह एक अण्डरूपी होकर स्थित हुआ और फिर उसने अण्ड को फोड़ा। जैसे गन्धर्बनगर और स्वप्न सृष्टि भासती है तैसे ही उसमें जगत् भासने लगा। फिर उसमें भिन्न-भिन्न देह और भिन्न-भिन्न नाम कल्पे। जैसे बालक मृत्तिका की सेना कल्पता है और उनका भिन्न-भिन्न नाम रखता है तैसे ही स्थावर, जङ्गम आदिक नाम कल्पना की। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन पाँचों भूतों की सृष्टि संकल्प से उपजी है। हे रामजी! आदि ब्रह्म में जो जीव फुरा है उसका नाम ब्रह्मा है। वह ब्रह्मा आत्मा में आत्मरूप होकर स्थित है और उससे क्रम करके जगत् हुआ है। जैसे वह चेतता है तैसे ही होकर स्थित होता है। जैसे समुद्र में द्रवता से तरङ्ग होते हैं तैसे ही ब्रह्म में चित्त स्वभाव से जीव होता है। वह जीव जब प्रमाद से अनात्मभाव को धारण करता है तब कर्मों से बन्धवान् होता है। जैसे जल जब दृढ़ जड़ता को अंगीकार करता है तब बरफरूप होकर पत्थर के समान हो जाता है; तैसे जीव जब अनात्म में अभिमान करता है तब कर्मों के बन्धन में आता है। हे रामजी! कर्मों का बीज संकल्प है और संकल्प जीव से फुरता है। जीवत्वभाव तब होता है जब शुद्धचेतनमात्र स्वरूप से उत्थान होता है। उत्थान के अर्थ ये हैं कि जब प्रमाद होता है तब जीवत्वभाव होता है और जब जीवत्वभाव होता है तब अनेक संकल्प कल्पना फुरती हैं। उन संकल्प कल्पनाओं से कर्म होते हैं; और कर्मों से जन्म, मरण आदिक नाना प्रकार के विकार होते हैं। जैसे बीज से अंकुर और पत्र होते हैं; फिर आगे फूल, फल और टास होते जाते हैं तैसे ही संकल्प कर्मों से नाना प्रकार के विकार होते हैं। जैसे-जैसे कर्म जीव करता है उनके अनुसार जन्म, मरण और अधः-ऊर्ध्व को प्राप्त होता है। हे रामजी! मन के फुरने का कर्म नाम है; फुरने का ही नाम चित्त है; फुरने का ही नाम कर्म है और फुरने का ही नाम दैव है। उसही से जीव को शुभ अशुभ जगत् प्राप्त होता है। सबका आदि कारण ब्रह्म है; उससे प्रथम मन उत्पन्न हुआ फिर उस मन ही ने सम्पूर्ण जगत् की रचना की है। जैसे बीज से प्रथम अंकुर

होता है और फिर पत्र, फूल, फल और टास होते हैं तैसे ही ब्रह्म में मन और जगत् उपजा है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे बीजांकुरवर्णनन्नाम
सप्तचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! आदि कारण ब्रह्म से मन उत्पन्न हुआ है। वह मन संकल्परूप है और मन से ही सम्पूर्ण जगत् हुआ है। वह मन आत्मा में मनत्वभाव से स्थित है और उस मन ने ही भाव अभावरूपी जगत् कल्पा है। जैसे गन्धर्व की इच्छा से गन्धर्वनगर होता है तैसे ही मन से जगत् होता है। हे रामजी! आत्मा में द्वैतभेद की कुछ कल्पना नहीं। इस मन से ही ऐसी संज्ञा हुई है। ब्रह्म, जीव, मन, माया, कर्म, जगत् और द्रष्टा आदि सब भेद मन से हुए हैं; आत्मा में कोई भेद नहीं। जैसे समुद्र में तरङ्ग उछलते और बड़े विस्तार धारण करते हैं तैसे ही चित्तरूपी समुद्र में संवेदन से जो नाना प्रकार जगत् विस्तार पाता है सो असत्रूपी है, क्योंकि स्थित नहीं रहता और सदा चलरूप है और जो अधिष्ठान स्वरूपभाव से देखिये तो सत्रूप है। इससे द्वैत कुछ न हुआ। जैसे स्वप्न का जगत् सत् असत्रूप चित्त से भासता है तैसे ही सत् असत्रूप यह जगत् भासता है। वास्तव में कुछ उपजा नहीं, चित्त के भ्रम से भासता है। जैसे इन्द्रजाली की बाजी में जो नाना प्रकार के वृक्ष और औषध भासते हैं सो भ्रममात्र हैं तैसे यह जगत् भ्रममात्र है। हे रामजी! यह जगत् दीर्घकाल का स्वप्ना है और मन के भ्रम से सत् होकर भासता है। जैसे बालक भ्रम से परछाहीं में भूत कल्पता है और भय पाता है तैसे ही यह पुरुष चित्त के संयोग से द्वैत कल्प के भय पाता है। जैसे विचार करने से वैताल का भय नष्ट होता है तैसे ही आत्मज्ञान से भय आदिक विकार नष्ट हो जाते हैं। हे रामजी! आत्मा, अनादि, दिव्य स्वरूप और अंशांशीभाव से रहित, शुद्ध चैतन्यरूप है। जब वह चेतन संवित् चैत्योन्मुखत्व होता है तब चित्त अर्थात् जो चेतनता का लक्षण है उससे जीवकल्पना होती है। उस जीव में जब अहंभाव होता है कि 'मैं हूँ' तब उससे चित्त फुरता है; चित्त से इन्द्रियाँ होती हैं; उन इन्द्रियों से देहभाव होता है और उस देह-भ्रम से मलिन हुआ नरक, स्वर्ग, बन्ध, मोक्ष आदि की कल्पना होती है जैसे बीज से अंकुर, पत्र, फूल, फल और टास होते हैं तैसे ही अहंभाव से जगत्विस्तार होता है। हे रामजी! जैसे देह और कर्मों में कुछ भेद नहीं तैसे ही ब्रह्म और चित्त में कुछ भेद नहीं। जैसे चित्त और जीव में कुछ भेद नहीं तैसे ही चित्त और देह में कुछ भेद नहीं। जैसे देह और कर्मों में कुछ भेद नहीं तैसे ही जीव और ईश्वर में कुछ भेद नहीं और तैसे ही ईश्वर और आत्मा में कुछ भेद नहीं। हे रामजी! सर्व ब्रह्मस्वरूप है; द्वैत कुछ नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे जीवविचारो नामाष्टचत्वा-
रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह जो नानात्व भासता है सो वास्तव में एक ब्रह्मस्वरूप है, चैत्यता से एक का अनेक रूप हो भासता है। जैसे एक दीप से अनेक दीप होते हैं तैसे ही एक परब्रह्म से अनेक रूप हो भासते हैं। हे रामजी! यह असत्रूपी जगत् जिसमें आभास है उस आत्मतत्त्व का जब पदार्थ ज्ञान होता है तब चित्त में जो अहंभाव है सो नष्ट हो जाता है और उस अहंभाव के नष्ट हुए सब शोक नष्ट हो जाते हैं। हे रामजी! जीव चित्तरूपी है और चित्त में जगत् हुआ है। जब चित्त नष्ट हो तब जगत्भ्रम भी नष्ट हो जावेगा। जैसे अपने चरण में चर्म की जूती पहनते हैं तो सर्व पृथ्वी चर्म से लपेटी प्रतीत होती है और ताप कण्टक नहीं लगते हैं तैसे ही जब चित्त में शान्ति होती है तब सर्व जगत् शान्तिरूप होता है। जैसे केले के थम्भ में पत्रों के सिवाय अन्य कुछ सार नहीं निकलता तैसे ही सब जगत् भ्रममात्र है और इससे सार कुछ नहीं निकलता है। हे रामजी! इतना भ्रम चित्त से होता है। बाल्यावस्था में क्रीड़ा करता फिरता है; यौवन अवस्था धारण करके विषयों को सेवता है और वृद्धावस्था में चिन्ता से जर्जरीभूत होता है फिर मृतक होकर कर्मों के अनुसार नरक स्वर्ग में चला जाता है। हे रामजी! यह सब मन का नृत्य है। मन ही भ्रमता है, जैसे नेत्रदूषण से आकाश में

दूसरा चन्द्रमा भासता है तैसे ही अज्ञान से जगत्भ्रम भासता है। जैसे मद्यपान करके वृक्ष भ्रमते भासते हैं तैसे ही चित्त के संयोग से भ्रम करके जगत्द्वैत भासते हैं। जैसे बालक लीला करके भ्रम से जगत् को चक्र की नाईं भ्रमता देखता है तैसे ही चित्त के भ्रम से जीव जगत्भ्रम देखता है। हे रामजी! जब चित्तद्वैत नहीं चेतता तब यह द्वैतभ्रम मिट जाता है। जबतक चित्तसत्ता फुरती है तबतक नाना प्रकार का जगत् भासता है और शान्ति नहीं पाता और जब घन चेतनता पाता है तब शान्ति पाकर जगत्भ्रम मिट जाता है। जैसे पपीहा बकता है और शान्तिमान् नहीं होता पर घन वर्षा से तृप्त होकर शान्त होता है तैसे ही जब जीव महाचैतन्य घनता को प्राप्त होता है तब शान्तिमान् होता है तब वह चाहे व्यवहार में हो अथवा तूष्णी रहे सदा शान्तिमान् होता है। हे रामजी! जब चित्त की चैतन्यता फुरती है तब जगत्भ्रम से नाना प्रकार के विकार देखता है और भ्रम से ही ऐसे देखता है कि मैं उपजा हूँ, अब बड़ा हुआ हूँ और अब मैं मरूँगा। पर वास्तव में जीव चेतन ब्रह्म से अनन्यस्वरूप है। जैसे वायु और स्पन्द में कुछ भेद नहीं तैसे ही ब्रह्म और चैतन्यता में कुछ भेद नहीं, जैसे वायु सदा रहता है पर जब स्पन्दरूप होता है तब स्पर्श करता भासता है तैसे ही चैतन्यता मिटती नहीं। ब्रह्म की चेतना हो तब जगत्भ्रम मिट जाता है और केवल ब्रह्मसत्ता ही भासती है। जैसे रस्सी के अज्ञान से सर्पभ्रम होता है और रस्सी के यथार्थ जाने से सर्पभ्रम मिट जाता है तो रस्सी ही भासती है; तैसे ही ब्रह्म के अज्ञान से जगत्भ्रम भासता है और जब चित्त से दृढ़ चैत्यता भासती है तब भ्रम पदार्थ का ज्ञान होता है और तभी जगत्भ्रम भी मिट जाता है, केवल ब्रह्मसत्ता ही भासती है। हे रामजी! दृश्यरूपी व्याधिरोग लगा है और उस रोग का नाशकर्ता संवित्मात्र है। जब तक चित्त बहिर्मुख होकर दृश्य को चेतता है तब तक शान्त नहीं होता और जब सर्ववासना को त्यागकर अपने स्वभाव में स्थित अन्तर्मुख होगा तब उसही काल में मुक्तिरूप शान्त होगा— इसमें कुछ संशय नहीं। जैसे रस्सी दूरके देखने से सर्प भासती है और जब निकट होकर देखे तब सर्पभ्रम मिट जाता है रस्सी ही भासती है; तैसे ही आत्मा का निवृत्तरूप जगत् है; जब बहिर्मुख होके देखता है तब जगत् ही भासता है और जब अन्तर्मुख होके देखता है तब जगत्भ्रम मिटकर आत्मा ही भासता है। हे रामजी! जिसमें अभिलाषा हो उसको त्याग दे। ऐसे निश्चय से मुक्ति प्राप्त होती है। त्याग का यत्न कुछ नहीं। महात्मा पुरुष प्राणों को तृण की नाईं त्याग देते हैं और बड़े दुःख को सह लेते हैं। तुमको अभिलाषा त्यागने में क्या कठिनता है? हे रामजी! आत्मा के आगे अभिलाषा ही आवरण है। अभिलाषा के होने आत्मा नहीं भासता है। जैसे बादलों के आवरण से सूर्य नहीं भासता और जब बादलों का आवरण नष्ट होता है तब सूर्य भासता है; तैसे ही अभिलाषा के निवृत्त हुए आत्मा भासता है। इससे जो कुछ अभिलाषा उठे उसको त्यागो और निरभिलाषा होकर आत्मपद में स्थित हो। प्रकृत आचार देह और इन्द्रियों में ग्रहण करो और जो कुछ त्याग करना हो उसको त्याग करो, पर देह में ग्रहण और त्याग की बुद्धि न हो। हे रामजी! जो तुम सम्पूर्ण दृश्य की इच्छा त्यागोगे तो जैसे हाथ में बेलफल प्रत्यक्ष होता है और जैसे नेत्रों के आगे प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष भासता है तैसे ही अभिलाषा के त्याग से आत्मपद तुमको प्रत्यक्ष भासेगा और सब जगत् भी आत्मरूप ही भासेगा। जैसे महाप्रलय में सब जगत् जल में भासता है और कुछ दृष्टि ही नहीं आता तैसे ही आत्मपद से भिन्न तुमको कुछ न भासेगा। आत्मतत्त्व को न जानने का ही नाम बन्धन है और आत्मपद का जानना ही मोक्ष है और मोक्ष कोई नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे संश्रितउपशमयोगोनामैकोनपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ४९ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! मन क्योंकर उत्पन्न हुआ है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ब्रह्म अनन्तशक्ति है और उसमें अनेक प्रकार का किंचन होता है। जहाँ २ जैसी २ शक्ति फुरती है तहाँ २ तैसा ही तैसा रूप होकर भासता है। जब शुद्ध चिन्मात्र सत्ता चेतन में फुरती है कि 'अहं अस्मि' तब अहं फुरने से जीव कहाता है। वही चित्तशक्ति संकल्प का कारण भासती

है। जब वह दृश्य की ओर फुरती है तब जगत् दृश्य होकर भासता है और नाना प्रकार के कार्य-कारण हो भासते हैं। रामजी ने फिर पूछा कि हे मुनियों में श्रेष्ठ! जो इस प्रकार है तो देव किसका नाम है; कर्म क्या है और कारण किसको कहते हैं? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! फुरना अफुरना दोनों चिन्मात्रसत्ता के स्वभाव हैं। जैसे फुरना अफुरना दोनों वायु के स्वभाव हैं परन्तु जब फुरता है तब आकाश में स्पर्श होकर भासता है और जब चलने से रहित होता है तब शान्त हो जाता है; तैसे ही शुद्ध चिन्मात्र में जब चैत्यता का लक्षण, 'अहं अस्मि' अर्थात् 'मैं हूँ' होता है तब उसका नाम 'स्पन्द बुद्धीश्वर' कहते हैं। उससे जगत् दृश्यरूप हो भासता है। उस जगत् दृश्य से रहित होने को निःस्पन्द कहते हैं। चित्त के फुरने से नाना प्रकार जगत् हो भासता है और चित्त के अफुर हुए जगतभ्रम मिट जाता है और नित्य शान्त ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है। हे रामजी! जीव, कर्म और कारण ये सब चित्तस्पन्द के नाम हैं और चित्तस्पन्द में भिन्न अनुभव नहीं, अनुभव ही चित्तस्पन्द हुए की नाईं भासता है। जीव, कर्म और कारण का बीजरूप चित्तस्पन्द ही है। चित्तस्पन्द से दृश्य होकर भासता है, फिर चिदाभास द्वारा देह में अहं प्रतीति होती है और उस देह में स्थित होकर चित्तसंवेदन दृश्य की ओर संसरता है। संसरना दो प्रकार का है—एक बड़ा और दूसरा अल्प। कितनों को संसरने में अनेक जन्म व्यतीत होते हैं और कितनों को एक जन्म होता है। आदि ही फुरकर जो स्वरूप में स्थित हैं उनको प्रथम जन्म होता है और जो आदि उपजकर प्रमादी हुए हैं सो फुरकर दृश्य की ओर चले जाते हैं और उनके बहुतेरे जन्म होते हैं। चित्त के फिरने से ऐसा अनुभव करते हैं। पुण्यक्रिया करके स्वर्ग में जाते हैं और पापक्रिया करके नरक में जाते हैं। इस प्रकार दृश्यभ्रम देखते हैं और अज्ञान से बन्धन में रहते हैं। जब ज्ञान की प्राप्ति होती है तब मोक्ष का अनुभव करते हैं सो बड़ा संसरना है और जो एक ही जन्म पाकर आत्मा की ओर आते हैं वह अल्प संसरना है। हे रामजी! जैसे स्वर्ण ही भूषणरूप धारण करता है तैसे ही संवेदन ही काष्ठलोष्ट आदिक रूप होके भासता है। इस चित्त के संयोग

से ही अज और अविनाशी पुरुष को नाना प्रकार के देह प्राप्त होते हैं और जानता है कि मैं अब उपजा, अब जीता हूँ फिर मर जाऊँगा। जैसे नौका में बैठे भ्रम से तट के वृक्ष भ्रमते दीखते हैं तैसे ही भ्रम से अपने में जन्मादि अवस्था भासती हैं। आत्मा के अज्ञान से जीव को 'अहं' आदि कल्पना फुरती हैं। जैसे मथुरा के राजा लवण को स्वप्न में चाण्डाल का भ्रम हुआ था तैसे ही चित्त के फुरने से जीव जगत्भ्रम देखते हैं। हे रामजी! यह सब जगत् मन के भ्रम से भासता है। शिव जो परम तत्त्व है सो चिन्मात्र है; उसमें जब चैत्योन्मुखत्व होता है कि मैं हूँ उसका ही नाम जीव है। जैसे सोमजल में द्रवता होती है, इससे उसमें चक्र फुरते हैं और तरङ्ग होते हैं; तैसे ही ब्रह्मरूपी सोमजल में जीवरूपी चक्र फुरते हैं और चित्तरूपी तरङ्ग उदय होते हैं और सृष्टिरूपी बुद्बुदे उपजकर लीन हो जाते हैं। हे रामजी! चेतन स्फूर्ति द्वारा जीव की नाईं भासता है। जैसे समुद्र ही द्रवता से तरङ्गरूप हो भासता है; तैसे ही चित्त चैत्य के संयोग से जीव कहाता है। उस जीव में जब संकल्प का फुरना होता है तब मन कहाता है; जब संकल्प निश्चय रूप होता है तब बुद्धि होकर स्थित होता है और जब अहंभाव होता है तब अहंकार कहाता है। उस अहंभाव को पाकर तन्मात्रा की कल्पना होती है और पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये सूक्ष्म भूत होते हैं—उनके पीछे जगत् होता है। हे रामजी! असत्रूपी चित्त के संसरने से ही जगत्रूप हो भासता है। जैसे नेत्रदूषण से आकाश में मुक्तमाला; भ्रममात्र गन्धर्वनगर और स्वप्नभ्रम से स्वप्नजगत् भासते हैं तैसे ही चित्त के संसरने से जगतभ्रम भासता है। हे रामजी! शुद्ध आत्मा नित्य, शुभ, शान्तरूप, सम और अपने आप ही में स्थित है। उसमें चित्तसंवेदन ने जगत् रचा है और उसको भ्रम से सत्य की नाईं देखता है। जैसे स्वप्न-सृष्टि को मनुष्य भ्रम से देखता है; तैसे ही यह जगत् फुरने से सत्य भासता है। हे रामजी! मन के संसरने का नाम जाग्रत् है; अहंकार का नाम स्वप्ना है; चित्त जो सजातीयरूप चेतनेवाला है उसका नाम सुषुप्ति है और चिन्मात्र का नाम तुरीयपद है। जब शुद्ध चिन्मात्र में अत्यन्त

परिणाम हो तब उसका नाम तुर्यातीत पद है। उसमें स्थित हुआ फिर शोकवान् कदाचित् नहीं होता। उसी ब्रह्मसत्ता से सब उदय होते हैं और उस ही में सब लीन होते हैं और वास्तव में न कोई उपजा है और न कोई लीन होता है; चित्त के फुरने से ही सब भ्रम भासता है। जैसे नेत्र दूषण से आकाश में मुक्तमाला भासती हैं तैसे ही चित्त के फुरने से यह जगत् भासता है। हे रामजी! जैसे वृक्ष के बढ़ने को आकाश ठौर देता है कि जितनी बीज की सत्ता हो उतना ही आकाश में बढ़ता जावे तैसे ही सबको आत्मा ठौर देता है। अकर्त्तारूप भी संवेदन से भासता है। हे रामजी! जैसे निर्मल किया हुआ लोहा आरसी की नाईं प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है तैसे ही आत्मा में संवेदन से जगत् का प्रतिबिम्ब होता है, पर वास्तव में जगत् भी कुछ दूसरी वस्तु नहीं है। जैसे एक ही बीज, पत्र, फूल, फल और टास हो भासता है तैसे ही आत्मा संवेदन से नानारूप जगत् हो भासता है। जैसे पत्र और फूल वृक्ष से भिन्न नहीं होते तैसे ही अबोधरूप जगत् भी बोधरूप आत्मा से भिन्न नहीं। जो ज्ञानवान् है उसको अखण्डसत्ता ही भासती है। जैसे समुद्र ही तरङ्ग और बुद्बुदे होकर और बीज ही पत्र, फूल, फल और टास होकर भासते हैं; तैसे ही अज्ञानी को भिन्न भिन्न नामरूप सत्ता भासती है। 'मूर्ख' जो देखता है तो उनके नामरूप सत् मानता है और ज्ञानवान् देखके एक रूप ही जानता है। ज्ञानवान् को एक ब्रह्मसत्ता ही अनन्त भासती है और जगत्भ्रम उनको कोई नहीं भासता है। इतना सुन रामजी ने कहा, बड़ा आश्चर्य है कि असत्रूपी जगत् सत् होकर बड़े विस्तार से स्पष्ट भासता है। यह जगत् ब्रह्म का आभास है; अनेक तन्मात्रा उसके जल और बूँदों की नाईं हैं और अविद्या करके फुरती हैं। ऐसा भी मैंने सुना है। हे मुनीश्वर! यह स्फूर्त्ति बहिर्मुख कैसे होती है और अन्तर्मुख कैसे होती है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार दृश्य का अत्यन्त अभाव है। अनहोते दृश्य के फुरने से अनुभव होता है। शुद्ध चिन्मात्र ब्रह्मसत्ता में फुरने से जो जीवत्व हुआ है वह जीवत्व असत् है और सत् की नाईं होता है। जीव ब्रह्म से अभिन्न है पर फुरने से भिन्न की नाईं स्थित होता है। उस जीव में

जब संकल्पकलना होती है तब मनरूप होके स्थित होता है; स्मरण करके चित्त होता है, निश्चय करके बुद्धि होती है और अहंभाव करके अहंकार होता है। फिर काकताली की नाईं चिद्अणु में तन्मात्रा फुर आती हैं। जब शब्द सुनने की इच्छा हुई तब श्रवण इन्द्रिय प्रकट हुई; जब देखने की इच्छा हुई तब नेत्र इन्द्रिय प्रकट हुई; गन्ध लेने की इच्छा से नासिका इन्द्रिय प्रकट हुई; स्पर्श की इच्छा से त्वचा इन्द्रिय प्रकट हुई और रस लेने की इच्छा से रसना इन्द्रिय प्रकट हुई। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियाँ प्रकट हुई हैं और भावना से सत् ही असत् की नाईं भासने लगीं। हे रामजी! इस प्रकार आदि जीव हुए हैं और उसकी भावना से अन्तवाहक शरीर हो आये हैं। चलते भासते हैं पर अचलरूप हैं, इससे जो कुछ जगत् भासता है वह सब ब्रह्मस्वरूप है भिन्न कुछ नहीं। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय ब्रह्म है और संवेदन ब्रह्म से ही अनेकरूप नाना प्रकार के भासते हैं। जैसा जैसा संवेदन फुरता है तैसा तैसा रूप होकर भासता है। जब दृश्य को चेतता है तब नाना प्रकार का दृश्य भासता है और जब अन्तर्मुख ब्रह्म चेतता है तब ब्रह्मरूप होकर भासता है। हे रामजी! दृश्य कुछ उपजा नहीं, आत्मा सदा अपने आप में स्थित है। जब दृश्य असंभव हुआ तब बन्धन और मोक्ष किसको कहिये और विचार किसका कीजिये? सर्वकल्पना का अभाव है। यह जो तुम्हारा प्रश्न है उसका उत्तर सिद्धान्तकाल में होगा यहाँ न बनेगा। जैसे कमल के फूलों की माला अपने काल में बनती है और विना समय शोभा नहीं देती तैसे ही तुम्हारा प्रश्न सिद्धान्तकाल में शोभा पावेगा, समय विना सार्थक शब्द भी निरर्थक होता है। हे रामजी! जो कुछ पदार्थ हैं उनका फल भी समय पाके होता है; समय विना नहीं होता इससे अब पूर्वप्रसंग सुनो। हे रामजी! ब्रह्म में चैत्योन्मुखत्व से आदि जीव ने आपको पिता, माता जाना। जैसे स्वप्न में आपको कोई देखे तैसे ही ब्रह्माजी ने आपको जाना। उन ब्रह्मा ने प्रथम ॐ शब्द उच्चारण किया; उस शब्द तन्मात्रा से चारों वेद देखे और उसके अनन्तर मनोराज से सृष्टि रची। तब असत्रूप सृष्टि भावना से सत्य होकर भासने लगी। जैसे स्वप्न में सर्प और गन्धर्वनगर भासते हैं

तैसे ही असत्यरूप सृष्टि सत्य भासने लगी। हे रामजी! ब्रह्मसत्ता में जैसे ब्रह्मा आदिक उपजे हैं तैसे ही और जीव, कीट आदि भी उत्पन्न हुए। जगत् का कारण संवेदन है। संवेदन भ्रम से जीवों का जगत् भासता है। उनको भौतिक शरीर में जो अहं प्रतीति हुई है उससे अपने निश्चय के अनुसार शक्ति हुई। ब्रह्मा में ब्रह्मा की शक्ति का निश्चय हुआ और चींटी में चींटी की शक्ति का निश्चय हुआ। हे रामजी! जैसी जैसी वासना संवित् में होती है उसके अनुसार ही अनुभव होता है। शुद्ध चिन्मात्र में जो चैत्योन्मुखत्व हुआ उसी का नाम जीव हुआ। उसमें जो ज्ञानरूप सत्ता है सोई पुरुष है और जो फुरना है सोई कर्म है। जैसे जैसे फुरता है तैसे ही तैसे भासता है। हे रामजी! आत्मसत्ता में जो अहं हुआ है उसी का नाम चित्त है। उससे जो जगत् रचा है वह भी अविचारसिद्ध है; विचार करने से नष्ट हो जाता है। जैसे अविचार से अपनी परछाहीं में भूत पिशाच कल्पता है और उससे भय उत्पन्न होता है पर विचार करने से पिशाच और भय दोनों नष्ट हो जाते हैं; तैसे ही हे रामजी! आत्मविचार से चित्त और जगत् दोनों नष्ट हो जाते हैं। हे रामजी! ब्रह्मसत्ता सदा अपने आपमें स्थित है; उसमें चित्त कल्पना कोई नहीं और प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय भी ब्रह्म से भिन्न नहीं तो द्वैत की कल्पना कैसे हो? जैसे शशे के शृङ्ग असत् हैं; तैसे आत्मा में द्वैतकल्पना असत्य है। हे रामजी! यह ब्रह्माण्ड भावनामात्र है। जिसको सत्य भासता है उसको बन्धन का कारण है। जैसे घुरान अर्थात् कुशवारी अपना गृह अपने बन्धन का कारण है बनाती है और उसमें फँस मरती है; तैसे ही जो जगत् को सत्य मानते हैं उनको अपना मानना ही बन्धन करता है और उससे जन्म मरण देखते हैं। जिसको जगत् का असत्य निश्चय हुआ है उसको बन्धन नहीं होता—उसको उल्लास है। हे रामजी! अनुभवसत्ता सबका अपना आप है। उसमें जो जैसा निश्चय किया उसको अपने अनुभव के अनुसार पदार्थ भासते हैं। वास्तव में तो जगत् उपजा ही नहीं। जगत् का उपजना भी मिथ्या है; बढ़ना भी मिथ्या है; रस भी मिथ्या है और रस लेनेवाला भी मिथ्या है। शुद्धब्रह्म सर्वगत, नित्य और अद्वैत सदा

अपने आप में स्थित है, परन्तु अज्ञान से शुद्ध भी अशुद्ध भासता है; सर्व जगत् भी परिच्छिन्न भासता है; ब्रह्म भी अब्रह्म भासता है; नित्य भी अनित्य भासता है और अद्वैत भी द्वैतसहित भासता है। हे रामजी! अज्ञान से ऐसा भासता है। जैसे जल और तरङ्ग में मूर्ख भेद मानते हैं परन्तु भेद नहीं; तैसे ही ब्रह्म और जगत् में भेद अज्ञानी देखते हैं। जैसे सुवर्ण में भूषण और रस्सी में सर्प मूर्ख देखते हैं; तैसे ही ब्रह्म में नानात्व मूर्ख देखते हैं; ज्ञानी को सब चिदाकाश हैं। हे रामजी! जब आत्मसत्ता में अनात्मरूप दृश्य की चैत्यता होती है तब कल्पना उत्पन्न होती है और मनरूप होके स्थित होती है उसके अनन्तर अहंभाव होता है और फिर तन्मात्र की कल्पना होकर शब्द अर्थ की कल्पना होती है। इसी प्रकार चित्सत्ता में जैसी २ चैत्यता फुरती है तैसा ही तैसा रूप भासने लगता है। सत् असत् पदार्थ वासना के वश फुर आते हैं। जैसे स्वप्नसृष्टि फुर आती है सो अनुभवरूप ही होती है वैसे यह जगत् फुर आया है सो अनुभवरूप है। इससे सृष्टि में भी चिन्मात्र है और चिन्मात्र ही में सृष्टि है। सबको सत्तारूपी भीतर बाहर ऊर्ध्व अधः चिन्मात्र ही है। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय सब पद चिन्मात्र ही में धारे हैं, नित्य उपशान्तरूप है, सम सत् जगत् की सत्ता उसही से होती है सो एक ही सम है और तुरीया अतीतपद नितही स्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सत्योपदेशो नाम
पञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रसङ्ग पर एक पुरातन इतिहास है और उसमें महा प्रश्नों का समूह है सो सुनो। काजल के पर्वत की नाईं कर्कटी नाम एक महाश्याम राक्षसी हिमालय पर्वत के शिखर पर हुई। विसूचिका भी उसका नाम था। अस्थिर बिजली की नाईं उसके नेत्र और अग्नि की नाईं बड़ी जिह्वा चमत्कार करती थी और उसके बड़े नख और ऊँचा शरीर था जैसे बड़वाग्नि तृप्त नहीं होता तैसे ही वह भी भोजन से तृप्त न होती थी। उसके मन में विचार उपजा कि जम्बूद्वीप के सम्पूर्ण जीवों को भोजन करूँ तो तृप्त होऊँ, अन्यथा मेरी तृप्ति नहीं

होती। आपदा उद्यम किये से दूर होती है, इससे मैं अखण्डचित्त होकर तप करूँ। हे रामजी! ऐसा विचारकर वह एकान्त हिमालय पर्वत की कन्दरा में एक टाँग से स्थित हुई और दोनों भुजाओं को उठाके नेत्र आकाश की ओर किये मानो मेघ को पकड़ती है। शरीर और प्राणों को स्थित करके मूर्त्ति की नाईं हो गई। शीत और उष्ण के क्षोभ से रहित हुई और पवन से शरीर जर्जरीभाव हुआ। जब इस प्रकार सहस्रवर्ष दारुण तप किया तब ब्रह्माजी आये। और राक्षसी ने उन्हें देखके मन से नमस्कार किया और मन में बिचारा कि मेरे वर देने के निमित्त यह आये हैं तब ब्रह्माजी ने कहा, हे पुत्री! तूने बड़ा तप किया। अब उठ खड़ी हो और जो कुछ चाहती है वह वर माँग। कर्कटी बोली, हे भगवन्! मैं लोहे की नाईं वज्रसूचिका होऊँ जिससे जीवों के हृदय में प्रवेश कर जाऊँ। हे रामजी! जब ऐसे उस मूर्ख राक्षसी ने वर माँगा तब ब्रह्माजी ने कहा ऐसे ही हो। तेरा नाम भी प्रसिद्ध विसूचिका होगा। हे राक्षसी! जो दुराचारी जीव होंगे उनके हृदय में तू प्राणवायु के मार्ग से प्रवेश करेगी और जो गुणवान् तेरे निवृत्त करने के निमित्त 'ॐ' मन्त्र पढ़ेंगे और यह पढ़ेंगे कि हिमालय के उत्तर शिखर में कर्कटी नाम राक्षसी विसूचिका है सो दूर हो और विसूचिका का दुःखी चन्द्रमा के मण्डल में चितवे कि अमृत के कुण्ड में बैठा है और राक्षसी हिमालय के शिखर को गई तब तू उनको त्याग जाना। उनमें तू प्रवेश न कर सकेगी। हे रामजी! इस प्रकार कहके ब्रह्माजी आकाश को उड़े और इन्द्र और सिद्धों के मार्ग से गये और वही मन्त्र उनको भी सुनाया। जब उन्होंने उस मन्त्र को प्रसिद्ध किया तब कर्कटी का शरीर सूक्ष्म होने लगा। जैसे संकल्प का पहाड़ संकल्प के क्षीण होने से क्षीण हो जाता है तैसे ही क्रम से प्रथम जो उसका मेघवत् आकार था सो घटकर वृक्षवत् हो गया। फिर वह पुरुषरूप हो गई; फिर हस्तमात्र; फिर प्रादेशमात्र और फिर लोहे की सुई की नाईं सूक्ष्म हो गई। हे रामजी! ऐसे रूप को कर्कटी ने धारा जिसको देख मूर्ख अविचारी पुरुष तृण की नाईं शरीर को त्यागते हैं। जो पुरुष परस्पर को विचारते हैं सो पीछे से कष्ट नहीं पाते और जो पूर्वापर विचार

से रहित हैं सो पीछे कष्ट पाते हैं और अनर्थ करके औरों को कष्ट देते हैं। वे एक पदार्थ को केवल भला जानके उसके निमित्त यत्न करते हैं; न धर्म की ओर देखते हैं और न सुख की ओर देखते हैं। इस प्रकार मूर्ख राक्षसी ने भोजन के निमित्त बड़े गम्भीर शरीर को त्याग कर तुच्छ शरीर को अंगीकार किया। उसका एक शरीर तो सूक्ष्म हुआ और दूसरा पुर्यष्टक हुआ। कहीं तो सूक्ष्म शरीर से, जिसको इन्द्रियाँ भी न ग्रहण कर सकें, प्रवेश करे और कहीं पुर्यष्टक से जा प्रवेश करे। कहीं प्राणवायु के साथ प्रवेश करके दुःख दे और कहीं प्राणों को विपर्यय करे तब प्राणी कष्ट पावें और कहीं रक्त आदिक रसों का पानकर एक बूँद से उदर पूर्ण हो जावे परन्तु तृष्णा निवृत्त न हो। जब शरीर से बाहर निकले तब भी कष्ट पावे और वायु चले उससे गढ़े और कीचड़ में गिरे और चरणों के तले आवे। निदान कभी देशों में रहे और कभी घास और तृणों में रह जो नीच पापी जीव हैं उनको कष्ट दे और जो गुणवान् हों उनको कष्ट न दे सके। मन्त्र पढ़ने से निवृत्त हो जावे। जो आप किसी छिद्र में भी गिरे तो जाने कि मैं बड़े कूप में गिरी। हे रामजी! मूर्खता से उसने इतने कष्ट पाये। इतना कहकर बाल्मीकिजी बोले कि इस प्रकार जब वशिष्ठजी ने कहा तब सूर्य अस्त होकर सायंकाल का समय हुआ तब सब सभा परस्पर नमस्कार करके स्नान को गई और विचारसंयुक्त रात्रि व्यतीत करके सूर्य की किरणों के निकलते ही फिर आ स्थित हुई।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे विसूचिकाव्यवहार-
वर्णनन्नामैकपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५१ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब इस प्रकार प्राणियों को मारते उसे कुछ वर्ष बीते तब उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि बड़ा कष्ट है! बड़ा कष्ट!! यह विसूचिका शरीर मुझको कैसे प्राप्त हुआ है!!! मैंने मूर्खता से यह वर ब्रह्माजी से माँगा था। मूर्खता बड़े दुःख को प्राप्त करती है! कैसा मेघ की नाईं मेरा शरीर था कि सूर्यादिक को ढाँक लेती थी। हाय, मन्दराचल पर्वत की नाईं मेरा उदर और बड़वाग्नि

की नाईं मेरी जीभ कहाँ गई? जैसे कोई अभागी पुरुष चिन्तामणि को त्याग दे और काँच अंगीकार करे तैसे ही मैंने बड़े शरीर को त्याग के तुच्छ शरीर को अंगीकार किया जो एक बूँद से ही तृप्त हो जाता है परन्तु तृष्णा पूरी नहीं होती। उस शरीर से मैं निर्भय विचरती थी, यह शरीर पृथ्वी के कण से भी दब जाता है। अब तो मैं बड़े कष्ट पाती हूँ यदि मैं मृतक हो जाऊँ तो छुटूँ; परन्तु माँगी हुई मृत्यु भी हाथ नहीं आती इससे मैं फिर शरीर के निमित्त तप करूँ। वह कौन पदार्थ है जो उद्यम करने से हाथ न आवे। हे रामजी! ऐसे विचारकर वह फिर हिमालय पर्वत के निर्जनस्थान वन में जा एक टाँग से खड़ी हुई और ऊर्ध्वमुख करके तप करने लगी। हे रामजी! जब पवन चले तो उसके मुख में फल, मांस और जल के कणके पड़ें परन्तु वह न खाय बल्कि मुख मूँद ले। पवन यह दशा देखके आश्चर्यवान् हुआ कि मैंने सुमेरु आदि को भी चलायमान किया है परन्तु इसका निश्चय चलायमान नहीं होता। निदान मेघ की वर्षा से वह कीचड़ में दब गई परन्तु ज्यों की त्यों ही रही और मेघ के बड़े शब्द से भी चलायमान न हुई। हे रामजी! इस प्रकार जब सहस्र वर्ष उसको तप करते बीते तब दृढ़ वैराग्य से उसका चित्त निर्मल हुआ और सब संकल्पों के त्याग से उसको परमपद की प्राप्ति हुई; बड़े ज्ञान का प्रकाश उदय हुआ और परब्रह्म का उसको साक्षात्कार हुआ उससे परमपावनरूप होकर चित्तसूची हुई अर्थात् चेतन में एकत्वभाव हुआ। जब उसके तप से सातों लोक तपायमान हुए तब इन्द्र ने नारदजी से प्रश्न किया कि ऐसा तप किसने किया है जिससे लोक जलने लगे हैं? तब नारदजी ने कहा, हे इन्द्र! कर्कटी नाम राक्षसी ने सात हजार वर्ष बड़ा कठिन तप किया। जिससे वह विसूचिका हुई। वह शरीर पा उसने बहुत कष्ट पाया और लोगों को भी कष्ट दिया। जैसे विराट् आत्मा और चित्तशक्ति सबमें प्रवेश कर जाती है तैसे ही वह भी सबकी देह में प्रवेश कर जाती थी। जो मन्त्र जाप न करें उनके भीतर प्रवेश करके रक्त मांस भोजन करे परन्तु तृप्त न हो मन में तृष्णा रहे और सूक्ष्म शरीर धूल में दब जावे। इस प्रकार उसने बहुत कष्ट पाके विचार किया कि उद्यम से सब कुछ प्राप्त होता है इससे पूर्व शरीर के निमित्त फिर एकान्त स्थान में जाकर तप करूँ। इतने में एक गीध पक्षी वहाँ आकर कुछ भोजन करने लगा कि उसकी चोंच के मार्ग से विसूचिका भीतर चली गई। जब वह पक्षी कष्ट पाके उड़ा तो वह विसूचिका उसकी पुर्यष्टक से मिलके और उसको प्रेरके हिमालय पर्वत की ओर इस भाँति ले चली जैसे वायु मेघ को ले जाता है। उस गीध ने वहाँ पहुँचकर वमन करके विसूचिका को त्याग दिया और आप सुखी होकर उड़ गया। तब उसी शरीर से विसूचिका वहाँ तप करने लगी। हे रामजी! इस प्रकार इन्द्र ने सुनकर उसके देखने के निमित्त पवन चलाया। तब पवन आकाश छोड़के भूतल में उतरा और लोकालोक पर्वत, स्वर्ण की पृथ्वी, समुद्रों और द्वीपों को लाँघके क्रम से हिमालय के वन में सूक्ष्म शरीर से आया और क्या देखा कि पवन चल रहा है और सूर्य तप रहे हैं परन्तु वह चलायमान नहीं होती और प्राणवायु का भी भोजन नहीं करती तब पवन ने भी आश्चर्यमान होके कहा। हे तपस्विनी! तू किसलिए तप करती है? पर विसूचिका तब भी न बोली। पवन ने फिर कहा, भगवती विसूचिका ने बड़ा तप किया है— अब इसको कोई कामना नहीं रही ऐसे कहके पवन उड़ा और क्रम से इन्द्र के पास गया। इन्द्र विसूचिका के दर्शन के माहात्म्य से पवन को कण्ठ लगाय मिले और बड़ा आदर किया कि तू बड़े पुण्यवान् का दर्शन करके आया है। पवन ने भी सब वृत्तान्त कह सुनाया और कहा, हे राजन्! उसके तप के तेज से हिमालय की शीतलता दब गई है। आप ब्रह्माजी के पास चलिये, नहीं तो उसके तप से सब जगत् जलेगा। तब इन्द्र पवन और देवतागणों सहित ब्रह्माजी के पास आये और प्रणाम करके बैठे। ब्रह्माजी ने कहा, तुम्हारी जो अभिलाषा है वह मैंने जानी। इस प्रकार इन्द्र से कहकर ब्रह्माजी विसूचिका के पास जिसका नाम सूची था आये और उसको देखके आश्चर्यमान हुए कि पाषाण की नाईं विसूचिका ने सुमेरु से भी अधिक धैर्य धारण किया है जैसे मध्याह्न का सूर्य तेजवान् होता है तैसे ही इसका तप से तेज हुआ है

और परब्रह्म में स्थित हुई है। अब इसका जगत्भ्रम शान्त हो गया है इससे बन्दना करने योग्य है। हे रामजी ! फिर आकाश में स्थित होकर ब्रह्माजी ने कहा, हे पुत्री ! तू अब वर ले, तब विसूचिका विचारकर कहने लगी कि जो कुछ जानने योग्य था सो मैंने जाना और शान्तरूप हुई हूँ, सम्पूर्ण संशय मेरे नष्ट हुए अब वर से मुझे क्या प्रयोजन है ? यह जगत् अपने संकल्प से उपजा है। जैसे बालक को अपनी परछाहीं में वैताल बुद्धि होती है और उससे भय पाता है तैसे ही मैं स्वरूप के प्रमाद से भटकती फिरी। अब इष्ट अनिष्ट जगत् की मुझको कुछ इच्छा नहीं। अब मैं निर्विकार शान्ति में स्थित हूँ। हे रामजी ! ऐसे कहकर जब सूची तूष्णी हो रही तब वीतराग और प्रसन्नबुद्धि ब्रह्माजी उसके भाव को देखके कहने लगे, हे कर्कटी ! तू कुछ वर ले, क्योंकि कुछ काल तुझे भूतल में बिचरना है। भोगों को भोगके तू विदेहमुक्त होगी। अब तू जीवन्मुक्त होकर बिचरेगी। नीति के निश्चय को कोई नहीं लाँघ सकता। जब तू तप करने लगी थी तब पूर्व देह के पाने का संकल्प किया था। तेरा वह संकल्प अब सफल हुआ है। जैसे बीज में वृक्ष का सद्भाव होता है सो काल पाकर होता है तैसे ही तेरे में पूर्व शरीर का जो संकल्प था सो अब प्राप्त होवेगा अर्थात् वैसा ही शरीर पाके तू हिमालय के वन में बिचरेगी। हे पुत्री ! तुझे तो अनिच्छित योग हुआ है। जैसे कोई छाया के निमित्त आम के वृक्ष के निकट आन बैठे और उसे छाया और फल दोनों प्राप्त हों तैसे ही तूने शरीर की वृद्धि के लिये यत्न किया था वह तुझे तृप्ति करनेवाला हुआ है और ब्रह्मतत्त्व भी प्राप्त हुआ। हे पुत्री ! राक्षसी शरीर में जीवन्मुक्त होके तू बिचरेगी और दूसरा जन्म तुझको न होगा। इस जन्म में तू परम शान्त रहेगी और शरत्काल के आकाश की नाईं निर्मल होगी। जब तेरी वृत्ति बहिर्मुख फुरेगी तब सब जगत् तुझको आत्मरूप भासेगा; व्यवहार में समाधि रहेगी और समाधि में भी समाधि रहेगी। पापी जीवों को तू भोजन करेगी; न्यायबान्धव तेरा नाम होगा और विवेकपालक तेरी देह होगी। इससे पूर्व के शरीर को अङ्गीकार कर। इतना कह फिर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! ऐसे कहकर जब ब्रह्माजी अन्तर्धान हो गये तब सूची ने कहा ऐसे ही हमको दोनों तुल्य हैं। तब जैसे बीज से वृक्ष होता है तैसे ही क्रम से शरीर बढ़ गया। प्रथम प्रादेशमात्र हुआ, फिर हस्तमात्र हुआ, फिर वृक्षमात्र हुआ और फिर योजनमात्र हो गया। जैसे संकल्प का वृक्ष एक क्षण में बढ़ जाता है तैसे उसका शरीर बढ़ गया।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सूचीशरीरलाभो नाम
द्विपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जैसे वर्षाकाल का बादल सूक्ष्म से स्थूल हो जाता है तैसे सूची सूक्ष्म शरीर से फिर कर्कटी राक्षसी हो गई। जैसे सर्प काञ्चली त्यागके फिर ग्रहण नहीं करता तैसे ही राक्षसी ने आत्मतत्त्व के कारण शरीर न ग्रहण किया। छः महीने तक पहाड़ के शिखर की नाईं खड़ी रही और फिर पद्मासन बाँध संवित्सत्ता और निर्विकल्प पद में स्थित हुई। जब प्रारब्ध के वेग से जागी तब वृत्ति बहिर्मुख हुई और क्षुधा लगी, क्योंकि शरीर का स्वभाव शरीर पर्यन्त रहता है। तब विचारने लगी कि जो विवेकी हैं उनका मैं भोजन न करूँगी; उनके भोजन से मेरा मरना श्रेष्ठ है पर जो न्याय से भोजन करने योग्य है उसको खाऊँगी और जो शरीर भी नष्ट हो तो भी न्याय विना भोजन न करूँगी। देहादिक सब संकल्पमात्र हैं; मुझे न मरने की इच्छा है और न जीने की। हे रामजी ! जब ऐसे विचारकर सूची तूष्णी हो बैठी और राक्षसी स्वभाव का त्याग किया तब सूर्य भगवान् ने आकाशवाणी से कहा; हे कर्कटी ! तू जाके मूढ़ जीवों का भोजन कर। जब तू उनका भोजन करेगी तब उनका कल्याण होगा। मूढ़ों का उद्धार करना भी सन्तों का स्वभाव है। जो विवेकी पुरुष हैं उनको न खाना और जो उपदेश से ज्ञान पावें उनको भी न मारना, जो उपदेश से भी बोधात्मा न हों उनका भोजन करना—यह न्याय है। तब राक्षसी ने कहा हे भगवन् ! तुमने अनुग्रह करके जो कहा है वही मुझसे ब्रह्माजी ने भी कहा था। ऐसे कहकर सूची हिमालय के शिखर से उतरी और जहाँ किरातदेश था और बहुत मृग और पशु रहते थे उनमें बिचरने लगी।

रात्रि में श्याम राक्षसी और श्याम ही तमाल वृक्ष भी महाअन्धकार भासते थे—मानों कज्जल का मेघ स्थित है। ऐसी श्यामता में किरातीदेश के राजा मन्त्री और वीरों सहित यात्रा को निकले तो उनको आते देख राक्षसी ने बिचारा कि मुझे भोजन मिला। यह मूढ़ अज्ञानी हैं और इनको देहाभिमान है; इन मूर्खों के जीने से न यह लोक न परलोक कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता। ऐसे जीवों का जीना दुःख के निमित्त है इसलिये इनको यत्न करके भी मारना योग्य है और इनका पालना अनर्थ के निमित्त है, क्योंकि यह पाप को उदय करते हैं। ब्रह्मा की आदि नीति है कि पापी मारने योग्य हैं और गुणवान् मारने योग्य नहीं। कदाचित् ये गुणवान् हों तो मैं इन्हें न मारूँगी। गुणवान् भी दो प्रकार के होते हैं। जो अमानी, अदम्भी, अहिंसक, शान्तिमान् और पुण्यकर्म करनेवाले हैं वे भी गुणवान् हैं पर महागुणवान् तो ब्रह्मवेत्ता हैं जिनके जीने से बहुतों के कार्य सिद्ध होते हैं, इसलिये जो मेरा शरीर भोजन विना नष्ट भी हो जावे तो भी मैं गुणवान् को न मारूँगी। जो उदार पुरुष है वह पृथ्वी का चन्द्रमा है; उसकी संगति से स्वर्ग और मोक्ष होता है। जैसे संजीवनी बूटी से मृतक भी जीता है तैसे ही सन्तों के संग से अमृत होता है। इससे मैं प्रश्न करके इनकी परीक्षा लूँ; कदाचित् यह भी गुणवान् हों। यह कमलनयन ज्ञानवान् भासते हैं; यदि यथार्थ ज्ञानवान् पुरुष हैं तो पूजने योग्य हैं और जो मूर्ख हैं तो दण्ड देने योग्य हैं और मैं उनको अवश्य भोजन करूँगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे राक्षसीविचारो नाम
त्रिपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तब वह राक्षसी उनको देखके मेघ की नाईं गरजने लगी और कहा; अरे आकाश के चन्द्रमा और सूर्य! तुम कौन हो? बुद्धिमान् हो अथवा दुर्बुद्धि हो? कहाँ से आये हो और तुम्हारा क्या आचार है? तुम तो मुझको ग्रास की नाईं आन प्राप्त हुए हो इससे अब मैं तुमको भोजन करूँगी। राजा बोले, अरी! इस भौतिक तुच्छ शरीर को पाकर तू कहाँ रहती है? हमको देखके जो तू गरजती है सो तेरा शब्द हमको भ्रमरी के शब्दवत् भासता है; हमको कुछ भय नहीं। हे राक्षसी! यह तेरा शरीर मायामात्र है इसलिये इस तुच्छ स्वभाव को त्यागके जो कुछ तेरा अर्थ है वह कह, हम पूर्ण कर देंगे। तब राक्षसी ने उनके डराने को ग्रीवा और भुजा को ऊँचे करके प्रलयकाल के मेघों की नाईं फिर बड़ा शब्द किया कि जिसके नाद से पहाड़ भी चूर्ण हो जावें। निदान सब दिशा शब्द से भर गईं और वह बिजली की नाईं नेत्रों को चमकाने लगी। उसकी मूर्ति देख राक्षस और पिशाच भी शङ्कायमान हों पर ऐसे भयानक स्वरूप को देखके भी उन दोनों ने धीरज रक्खा। मन्त्री ने कहा, अरी राक्षसी! ऐसे शब्द तू व्यर्थ करती है। इससे तो तेरा कुछ प्रयोजन न सिद्ध होगा इसलिये इस आरम्भ को त्यागके अपना अर्थ कह। बुद्धिमान् पुरुष उस अर्थ को ग्रहण करते हैं जो अपना विषयभूत होता है और जो अपना विषयभूत नहीं होता उसके निमित्त वे यत्न नहीं करते। हम तेरे विषयभूत नहीं तुझ ऐसे तो हजारों हमने मार डाले हैं। हे राक्षसी! हमारे धैर्यरूपी पवन से तुझ ऐसी अनन्त मक्खियाँ तृणवत् उड़ती फिरती हैं। इससे अपने नीच स्वभाव को त्याग स्वस्थचित्त होके जो कुछ तेरा प्रयोजन हो सो कह। बुद्धिमान् स्वस्थचित्त होके व्यवहार करते हैं; स्वस्थ हुए विना व्यवहार भी सिद्ध नहीं होता; यह आदि नीति है। हमारे पास से स्वप्न में भी कोई अर्थी व्यर्थ नहीं गया। हम सबका अर्थ पूर्ण करते हैं इसलिये तू भी हमसे अपना प्रयोजन कह दे। तब राक्षसी समझी कि यह कोई बड़े उदार आत्मा और उज्ज्वल आचारवान् हैं और जीवों के समान नहीं। यह बड़े प्रकाशवान् और धैर्यवान् जान पड़ने हैं, उदारता कैसे इनके चेतन ज्ञानवानों से मिलते हैं। अब मैंने इनको जाना है और इन्होंने मुझको जाना है इससे मुझसे इनका नाश भी न होगा। अविनाशी ब्रह्मसत्ता में स्थित हैं इससे ज्ञानवान् हैं। ऐसा निश्चय ज्ञान विना किसी को नहीं होता परन्तु कदाचित् अज्ञानी हो तो फिर सन्देह को अंगीकार करके पूछती हूँ। जो संदेहवान् होकर बोधवान् से नहीं पूछते वे भी नीच बुद्धि हैं। हे रामजी! ऐसे मन में विचार फिर उसने पूछा,

तुम कौन हो और तुम्हारा आचार क्या है ? निष्पाप महापुरुषों को देखके मित्रभाव उपज आता है । मन्त्री बोला, किरातदेश का यह राजा है और मैं इसका मन्त्री हूँ । रात्रि में तुमसे दुष्टों के मारने के निमित्त उठे हैं । रात्रि दिन में हमारा यही आचार है कि जो जीव धर्म की मर्यादा त्यागनेवाले हैं उनका हम नाश करते हैं । जैसे अग्नि ईंधन का नाश करता है । राक्षसी बोली, हे राजन् ! यह तेरा दुष्टमन्त्री है जिस राजा का मन्त्री भला नहीं होता वह राजा भी भला नहीं होता और जिस राजा का मन्त्री भला होता है उसकी प्रजा भी शान्तिमान् होती है । भला मन्त्री वह कहाता है जो राजा को न्याय और विवेक में लगावे । जो राजा विवेकी होता है वह शान्तात्मा होता है और जो राजा शान्तिमान् हुआ तब प्रजा भी शान्तिमान् होती है सब गुणों से जो उत्तम गुण है वह आत्मज्ञान है । जो आत्मा को जानता है वही राजा और जिसमें प्रभुता और समदृष्टि हो वही मन्त्री है, जो प्रभुता और समदृष्टि से रहित है वह न राजा है, न मन्त्री है । हे राजन् जो तुम आत्मज्ञानवान् पुरुष हो तो तुम कल्याणरूप हो । जो ज्ञान से रहित होता है उसको मैं भोजन करती हूँ । तुम्हारे छूटने का उपाय यही है कि जो मैं प्रश्नों का समूह पूछती हूँ उसका उत्तर दो । जो तुमने प्रश्नों का उत्तर दिया तो मेरे पूजने योग्य हो और जो मेरा अर्थ होगा सो कहूँगी तुम पूर्ण करना और जो तुमने प्रश्नों का उत्तर न दिया तो तुम्हारा भोजन करूँगी ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे राक्षसीविचारो नाम
चतुःपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जब इस प्रकार राक्षसी ने कहा तब राजा बोला, तू प्रश्न कर, हम तुझको उत्तर देंगे । राक्षसी बोली, हे राजन् ! वह एक कौन अणु है जिससे अनेक प्रकार हुए हैं और एक के अनेक नाम हुए हैं और वह कौन अणु है जिसमें अनेक ब्रह्माण्ड होते हैं और लीन हो जाते हैं ? जैसे समुद्र में अनेक बुद्बुदे उपजकर लीन होते हैं । वह कौन आकाश है जो पोल से रहित है और वह कौन अणु है जो न किञ्चित् है न अकिञ्चित् है ? वह कौन अणु है जिसमें तेरा और मेरा अहं फुरता है और वह कौन है जो अहं त्वं एक में जानता है ? वह कौन है जो चला जाता है और कदाचित् नहीं चलता और वह कौन है जो तिष्ठित भी है और प्रतिष्ठित भी है ? वह कौन है जो पाषाणवत् है और वह कौन है जिसने आकाश में चित्र किये हैं ? वह कौन अग्नि है जो दाहकशक्ति से रहित है और अग्निरूप है और वह अग्नि कौन है जिससे अग्नि उपजी है ? वह कौन अणु है जो सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा और तारों के प्रकाश से रहित और अविनाशी है और वह कौन है जो नेत्रों से देखा नहीं जाता और सब प्रकाशों को उत्पन्न करता है ? वह कौन ज्योति है जो फूल, फल और बेल को प्रकाशती है और जन्मान्ध को भी प्रकाशती है ? वह कौन अणु है जो आकाशादिक भूतों को उपजाता है और वह कौन अणु है जो स्वाभाविक प्रकाशमान है ? वह भण्डार कौन है जिससे ब्रह्माण्डरूपी रत्न उपजते हैं ? वह कौन अणु है जिसमें प्रकाश और तम इकट्ठे रहते हैं और वह कौन अणु है जिसमें सत् असत् दोनों इकट्ठे रहते हैं ? वह कौन अणु है जो दूर है परन्तु दूर नहीं और वह कौन अणु है जिसमें सुमेरु आदिक पर्वत भी समाय रहे हैं ? वह कौन अणु है जिसमें निमेष में कल्प और कल्प में निमेष है और वह कौन है जो प्रत्यक्ष और असद्रूप है ? वह कौन है जो सत् और अप्रत्यक्षरूप है ? वह कौन चेतन है जो अचेतन है और वह कौन वायु है जो अवायुरूप है ? वह कौन है जो अशब्दरूप है और वह कौन है जो सर्व और निष्किञ्चित् है ? वह कौन अणु है जिसमें अहं नहीं है ? वह कौन है जिसको अनेक जन्मों के यत्न से पाता है और पाके कहता है कि कुछ नहीं पाया और सब कुछ पाया ? वह कौन अणु है जिसमें सुमेरु आदिक तीनों भुवन तृणसमान हैं और वह कौन अणु है जो अनेक योजनों को पूर्ण करता है ? वह कौन अणु है जिसके देखने से जगत् फुर आता है और वह कौन अणु है जो अणुता को त्यागे विना सुमेरु आदिक स्थूल आकार को प्राप्त होता है ? वह कौन अणु है जो बाल का सौवाँ भाग और सुमेरु से भी ऊँचा हुआ है ? वह कौन अणु है जिसमें सब अनु-

भव स्थित है और वह कौन अणु है जो अत्यन्त निस्स्वाद है और आ
ही सब स्वाद होता है ? वह कौन अणु है जिसको अपने ढाँपने की
सामर्थ्य नहीं और सबको ढाँप रहा है और वह कौन अणु है जिस
सब जीते हैं ? वह कौन अणु है जिसका अवयव कोई नहीं और स
अवयव को धारण कर रहा है ? वह कौन निमेष है जिसमें बहुत
कल्प स्थित हैं ? वह कौन अणु है जिसमें अनन्त जगत् स्थित है जैसे
बीज में वृक्ष होता है ? वह कौन अणु है जिसमें बीज से आदि फल
पर्यन्त अन उदय हुए भी भासते हैं ? वह कौन है जो प्रयोजन और
कर्तृत्व से रहित है और प्रयोजनवान् और कर्तृत्ववान् की नाईं स्थित है
वह कौन द्रष्टा है जो दृश्य से मिलकर दृश्य होता है और वह कौन है जो
दृश्य के नष्ट हुए भी आपको अखण्ड देखता है ? वह कौन है जिसके
जाने से द्रष्टा-दर्शन-दृश्य तीनों लय हो जाते हैं; जैसे सोने के जाने
से भूषणभाव लीन हो जाते हैं और वह कौन है जिससे भिन्न कुछ नहीं
जैसे जल से भिन्न तरङ्गों का अभाव है ? वह एक ही कौन है जो देश
काल-वस्तु के परिच्छेद से रहित सत् असत् की नाईं स्थित है और वह
कौन अद्वैत है जिससे द्वैत भी भिन्न नहीं—जैसे समुद्र से तरङ्ग भिन्न
नहीं ? वह कौन है जिसके देखे से सत्ता असत्ता सब लीन होता है
और वह कौन है जिसमें भ्रमरूपी अनन्त जगत् स्थित है—जैसे बीज
में वृक्ष होता है ? वह कौन है जो सबके भीतर है—जैसे वृक्ष में बीज
होते हैं और वह कौन है जो सत्ता असत्तारूपी आप ही हुआ है—जैसे
बीज वृक्षरूप है और वृक्ष बीजरूप है ? वह अणु कौन है जिसमें ताँत
भी सुमेरु की नाईं स्थूल है और जिसके भीतर कोटि ब्रह्माण्ड हैं ? हे
राजन् ! उस अणु को देखा हो तो कहो। यही मुझको संशय है इसको
तुम अपने मुख से दूर करो। जिससे संशय निवृत्त न हो उसको पण्डित
न कहना चाहिये। जो ज्ञानवान् हैं उनको इन प्रश्नों का उत्तर कहना
सुगम है। इन संशयों को वह शीघ्र ही निवृत्त कर देते हैं। जो अज्ञानी
हैं उनको उत्तर देना कठिन है। हे राजन् ! जो तुमने मेरे प्रश्नों का
उत्तर दिया तो तुम मेरे पूजने योग्य हो और जो मूर्खता से प्रश्नों का

उत्तर न दोगे और प्रश्नों के विपर्यय जानोगे तो तुम दोनों को भोजन कर जाऊँगी और फिर तुम्हारी सब प्रजा को ग्रास कर लूँगी, क्योंकि मूर्ख पापियों का मारना श्रेष्ठ है कि आगे को पाप करने से छूटेंगे। इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रकार राक्षसी कहकर और शुद्ध आशय को लेकर तूष्णी हुई और जैसे शरत्काल में मेघमण्डल निर्मल होता है तैसे निर्मल हुई।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे राक्षसीप्रश्नवर्णनन्नाम पञ्चपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! अर्धरात्रि के समय महाशून्य वन में जब उस राक्षसी ने ये महाप्रश्न किये तब महामन्त्री ने उससे कहा, हे राक्षसी ! ये जो तुमने संशयप्रश्न किये हैं उनका मैं क्रम से उत्तर देता हूँ। जैसे उन्मत्त हाथी को केसरी सिंह नष्ट करता है तैसे मैं तेरे संशयों को निवृत्त करता हूँ। तूने सब प्रश्न परमात्मा ही के विषय किये हैं इससे तेरे सब प्रश्नों का एक ही प्रश्न है, परन्तु तूने अनेक प्रकार से किये हैं सो ब्रह्मवेत्ता के योग्य हैं। हे राक्षसी ! जो अनामाख्य है अर्थात् सर्व इन्द्रियों का विषय नहीं और अगम है और मन की चिन्तना से रहित है ऐसी सत्ता चिन्मात्र है और उसका आकार भी सूक्ष्म है इस कारण सूक्ष्म कहाता है। सूक्ष्मता से ही उसकी अणु संज्ञा है। उस अणु में सत् असत् की नाईं जगत् स्थित है और उसही चिद् अणु में जब कुछ संवेदन फुरता है वही संवेदन सत्य असत्य जगत् की नाईं भासता है इससे उसे चित्त कहते हैं। सृष्टि से पूर्व उसमें कुछ न था इससे निष्किञ्चन कहाता है। और इन्द्रियों का विषय नहीं इससे न किञ्चित् है। उसी चिद्अणु में सब का आत्मा है इससे वह अनन्त भोक्ता पुरुष किञ्चन है और उससे कुछ भिन्न नहीं, इससे किञ्चन नहीं। वही चिद्अणु सबका आत्मा है और एकही आभास से अनेकरूप भासता है—जैसे सुवर्ण से नाना प्रकार के भूषण भासते हैं। वही चिद्अणु परमाकाशरूप है जो आकाश से भी सूक्ष्म और मन वाणी से अतीत है। वह सर्वात्मा है, शून्य कैसे हो ? सत् को जो शून्य कहते हैं वह उन्मत्त हैं, क्योंकि असत् भी सत् विना सिद्ध नहीं

होता। जिसके आश्रय असत् भी सिद्ध होता है सो सत् है। वह चि
अणु पञ्चकोशों में नहीं छिपता। जैसे कपूर की गन्ध नहीं छिपती तैसे
पञ्चकोश में आत्मा नहीं छिपता। अनुभवरूप है। वही चिन्मात्र स
रूप से किञ्चित् है और अचेतन चिन्मात्र है, इससे अकिञ्चित् इन्द्रि
से रहित और निर्मल है। उस ही चिद्अणु में फुरने से अनेक जग
स्थित हैं। जैसे समुद्र में फुरने से तरङ्ग उपजते हैं और फिर लीन हो
हैं तैसे ही चिद्अणु में फुरने से अनेक जगत् उपज के लीन होते
वह मन और इन्द्रियों से अतीत है इससे शून्य कहाता है और आप
आपही प्रकाशता है इससे अशून्य है। हे राक्षसी! मेरा और तेरा अ
एक ही आत्मा है। अहं की अपेक्षा से त्वं है और त्वं की अपेक्षा
में परिच्छिन्न हूँ, परन्तु दोनों का उत्थान एक आत्मतत्त्व से ही है
उसही चिद्अणु के बोध से ब्रह्मरूप होता है और उसही बोध में अहं
सब लीन होते हैं, अथवा सर्व आपही होता है। त्रिपुटिरूप भी वही है
वही चिद्अणु अनेक योजनों पर्यन्त जाता है और कदाचित् चलायमा
नहीं होता, क्योंकि संवित् अनन्तरूप है। योजनों के समूह उस
भीतर हैं वास्तव में न कोई आता है और न जाता है, अपने आका
कोश में सब देश काल स्थित है। जिसमें सब कुछ हो उसकी प्राप्ति
वास्तव में क्या हो? यह जितना जगत् है वह तो आत्मा में है फि
आत्मा कहाँ जावे? जैसे माता की गोद में पुत्र हो तो फिर वह उ
निमित्त कहाँ जावे तैसे ही आत्मा में यह जगत् स्थित है फिर आत्म
कहाँ जाय; देह की अपेक्षा से चलता भासता है वह कदाचित् चल
नहीं। जैसे आकाश में घटादिक स्थित हैं तैसे ही चिद्अणु में देशका
स्थित है। जैसे घट एकदेश से देशान्तर को जावे तो घट जाता है आका
नहीं जाता, पर घट की अपेक्षा से आकाश जाता भासता है। वास्त
में घटाकाश कहीं नहीं गया, क्योंकि आकाश में सब देश स्थित हैं य
कहाँ जावे; तैसे ही आत्मा भी जाता है और नहीं जाता। उसही चिन्मा
परमात्मा में संवेदन आकार रचे हैं और आदि अन्त से रहित विचित्र
रूपी जगत् रचा है। वही चिद्अणु अग्नि की नाईं प्रकाशरूप है और

जलाने से रहित है। ज्ञान अग्नि से प्रकाशमान है; अग्नि भी उससे उपजी है और सर्वगत वही है। द्रव्यों को पचाता भी वही है; प्रलय में सब भूत उसमें ही लीन होते हैं और पुष्कल मेघ इकट्ठा हो तो भी उसको आवरण नहीं कर सकते। वह सदा प्रकाश और ज्ञानरूप है; आकाश से भी निर्मल है और अग्नि भी उससे उत्पन्न होती है। सबको सत्ता देनेवाला वही है और सूर्यादिक भी उसके प्रकाश से प्रकाशते हैं वह अनुभवरूप है और नेत्रों विना भासता है। ऐसा हृदयरूपी मन्दिर का दीपक आत्मा अनन्त और परम प्रकाशरूप है और मन और इन्द्रियों का विषय नहीं। वह लता, फूल, फल आदिक सबको आत्मत्व से प्रकाशता है सबका अनुभवकर्त्ता वही है और काल, आकाश, क्रिया आदिक पदार्थों को सत्ता देनेवाला भी वही चिद्अणु है। सबका स्वामी कर्त्ता वही है; सबका पिता भोक्ता भी वही है; और सदा अकर्त्ता अभोक्तारूप है। जैसे स्वप्न में कर्त्ता भोक्ता भासता है पर अकर्त्ता अभोक्ता है; उससे भिन्न नहीं; इस कारण किञ्चनरूप है और जगत् को धारण करनेवाला है। स्वरूप से मातृ, मान, मेय जिससे प्रकाशते हैं और कुछ उपजा नहीं। चिदात्मा का किञ्चन है; किञ्चन से जगत् की नाईं भासता है। तूने जो पूछा था कि 'दूर और निकट कौन है' सो अलखभाव से दूर भी वही है और चिद्रूपभाव से निकट भी वही है अववा ज्ञान से निकट है और अज्ञान से दूर से दूर है। अज्ञान से तमरूप है और ज्ञान से प्रकाशरूप भी वही है और उसही चिद्अणु में संवेदन से सुमेरु आदिक स्थित हैं। हे राक्षसी! जो कुछ जगत् भासता है वह सब संवेदनरूप है। सुमेरु आदिक पदार्थ कुछ उपजे नहीं, चिद्सत्ता ज्यों की त्यों स्थित है; उसमें जैसा संवेदन फुरता है तैसा आकार हो भासता है। जहाँ निमेष का संवेदन फुरता है वहाँ निमेष कहाता है और जहाँ कल्प का संवेदन फुरता है वहाँ उसे कल्प कहते हैं। कल्प, क्रिया आदिक जगत्विलास सब निमेष में फुर आये हैं। जैसे मन के फुरने से बहुत योजनों पर्यन्त पुरुष देख आता है और जैसे छोटे शीशे में बड़े विस्तार नगर का प्रतिबिम्ब समा जाता है तैसे ही एक निमेष के फुरने में सब जगत् फुर आता

है। एक निमेष में कल्प, समुद्र, पुर इत्यादिक अनन्त योजनों का विस् चिद्अणु में स्थित है और एक दो के भ्रम से रहित है। हे राक्षसी! जगत् का स्वरूप कुछ नहीं, संवेदन से भासता है; जैसा-जैसा संवे में दृढ़ प्रतीत होता है तैसा ही तैसा अनुभव होता है। देख, क्षण स्वप्न में सत् असत् जगत् फुर आता है और बहुत काल का अनु होता है। जो दुःखी होते हैं उनको थोड़े काल में बहुत काल भास और सुखी जनों को बहुत काल में थोड़ा काल भासता है। जैसे ह श्चन्द्र को एक रात्रि में द्वादश वर्ष का अनुभव हुआ था। इससे जित जितना संवेदन दृढ़ होता है उतने देश काल हो भासते हैं और स भी असत् की नाईं भासता है। जैसे सुवर्ण में भूषणबुद्धि होती है भूषण भासते हैं और समुद्र में तरङ्गों की दृढ़ता से तरङ्ग भिन्न भासते हैं तैसे ही निमेष में कल्प भासते हैं पर वास्तव में न निमेष है; न कल्प न दूर हैं और न निकट है; चिद्अणु आत्मा का सब आभास है। राक्षसी! प्रकाश और तम; दूर और निकट सब चैतन सम्पुट में रत्नों नाईं है और वास्तव में अनन्यरूप है; भेदाभेद कुछ नहीं। हे राक्षसी! ज तक दृश्य का सद्भाव दृढ़ होता है तब तक द्रष्टा नहीं भासता—जैसे ज तक भूषणबुद्धि होती है तब तक स्वर्ण नहीं भासता और जब स्व जाना गया तब भूषणबुद्धि नहीं रहती स्वर्ण ही भासता है; तैसे जब तक दृश्य का स्पन्दभाव होता है तब तक द्रष्टा नहीं भासता औ जब आत्मज्ञान होता है तब केवल ब्रह्मसत्ता ही निर्मल हो सद्रूप सर्वत्र भासती है। दुर्लक्षता अर्थात् मन और इन्द्रियों के अविषय असत्रूप कहते हैं; चैत्यता से उसको चैतन कहते हैं और चैत्य अभाव से अचैतनरूप कहते हैं अर्थात् चैत्य के अभाव से अचैत्य चिन्मा कहते हैं। चैतन चमत्कार से जगत् की नाईं हो भासता है। हे राक्षसी और जगत् उससे कोई नहीं—जैसे वायु का गोला वृक्षाकार हो भासता है और सघनधूप से मृगतृष्णा की नदी भासती है तैसे ही एक अद्वैत चैतन घन चैतन्यता से जगत् की नाईं हो भासता है। जैसे सघन शून्यता से आकाश में नीलता भासती है तैसे ही दृढ़ सघन चैतनता से जगत्

भासता है। जैसे सूर्य की सूक्ष्म किरणों का किंचन मृगतृष्णा का जल होता है; उस नदी का प्रमाण कुछ नहीं तैसे ही इस जगत् की आस्था भासती है पर सब आकाशरूप है। जैसे भ्रम से धूलि के कण में स्वर्ण की नाईं चमत्कार होता है तैसे ही जगत्कल्पना चित्त के फुरने से भासती है। जैसे स्वप्नपुर और गन्धर्बनगर आकारसहित भासते हैं सो न सत् हैं न असत् हैं तैसे ही यह जगत् दीर्घ स्वप्ना है; न सत् है और न असत् है। हे राक्षसी! जब आत्मा में अभ्यास हो तब यह कुण्डादिक ऐसे ही रहें और आकाशरूप हो भासें। कुण्डादिक भी आकाशरूप हैं; आकाश और कुण्डादिकों में भेद कुछ नहीं मूढ़ता से भेद भासता है। ज्ञानी को सब चिदाकाशरूप भासता है। हे राक्षसी! ब्रह्मा से तृणपर्यन्त के संवेदन में जैसी कल्पना दृढ़ हो रही है तैसे ही भासती है और वास्तव में वही चिदाकाश प्रकाशता है। घन चेतनता से वही चिदाकाश आकारों की नाईं प्रकाशता है और उसी का यह प्रकाश है। जैसे बीज और वृक्ष अनन्यरूप हैं तैसे ही असंख्यरूप जगत् जो ब्रह्मसत्ता में स्थित है वह अनन्यरूप है। जैसे बीज में वृक्ष का भाव स्थित है सो आकाशरूप है तैसे ही ब्रह्म में जगत् स्थित है सो अक्षोभरूप है—अन्यभाव को नहीं प्राप्त हुए। ब्रह्मसत्ता सब ओर से शान्तरूप, अज, एक और आदि-मध्य अन्त से रहित है। उसमें एक और द्वैत की कल्पना नहीं। वह अनउदय ही उदय हुआ है और निर्मल स्वप्रकाश आत्मा है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे राक्षसीप्रश्नभेदो नाम
षट्पञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५६ ॥

वशिष्ठजी बोले, बड़ा आश्चर्य है कि मन्त्री ने तो यह परमपावन परमार्थ वचन कहे और कमलनयन राजा ने भी कहा, हे राक्षसी! यह जो जाग्रत् जगत् की प्रतीति होती है इसका जब अभाव हो तब आत्मप्रतीति होती है। जब सब संकल्प की चैत्यता का नाश हो तब आत्मा का साक्षात्कार हो। उस आत्मसत्ता में संवेदन फुरने से जगत् भासता है और संवेदन के संकोच से सृष्टि का प्रलय होता है। सबका अधिष्ठानरूप वही आत्मसत्ता है तिसको वेदान्तवाक्य जतावने के अर्थ कुछ कहते

है, क्योंकि वाणी से अतीतपद है। हे राक्षसी ! यह जो द्रष्टा, दर्शन और दृश्य है इसके अन्तर जो अनुभवसत्ता है सो परमात्मा है। वह परमात्मा ही द्रष्टा, दर्शन, दृश्यरूप होकर भासता है। उसी में यह सब जगत्लीला है; नानात्वभाव से भी वह कुछ खण्डितभाव को नहीं प्राप्त हुआ; अखण्ड ही है। उसी सन्मात्रसत्ता को ब्रह्म कहते हैं। हे भद्रे! वही चिद्‌अणु संवेदन से वायुरूप हुआ है और वायु उसमें अत्यन्त भ्रान्तिमात्र है, क्योंकि केवल शुद्ध चिन्मात्र है। जब उसमें शब्द का संवेदन फुरता है तब शब्दरूप हो भासता है और शब्दरूप उसमें भ्रान्तिमात्र है। उसमें शब्द और शब्द का अर्थ देखना दूर से दूर है, क्योंकि केवल चिन्मात्र है। उसमें अहं त्वं कुछ नहीं। वह निष्किञ्चन है ऐसे रूप होकर भासता है, क्योंकि शक्तिरूप है। उसमें जैसी प्रतिभा फुरती है तैसा ही होकर भासता है इससे फुरना ही इस जगत् का कारण है। जो अनेक यत्नों से मिलता है सो भी आत्मसत्ता है। जब उसको कोई पाता है तब उसने कुछ नहीं पाया और सब कुछ पाया है। पाया तो इस कारण नहीं कि आगे भी अपना आप था और सब कुछ इस कारण पाया कि आत्मा को पाने से कुछ और पाना नहीं रहता। हे राक्षसी! अज्ञानरूपी वसन्तऋतु में जन्मों की परम्परा बेलि तब तक बढ़ती जाती है जब तक इसके काटनेवाला बोधरूपी खड्ग नहीं प्राप्त हुआ। जब बोधरूपी खड्ग प्राप्त होता है तब जन्मरूपी बेलि को काटता है। हे राक्षसी! चिद्‌अणु संवेदन द्वारा आपको दृश्य में प्रीति करता है—जैसे किरणों का चमत्कार जलरूप होकर स्थित होता है—सो शुद्ध ही आपको संवेदन द्वारा फुरता देखता है। चिद्‌अणु द्वारा जो जगत् हुआ है सो मेरु से आदि लेकर तीनों भुवनों में किरणों की नाईं स्थित होता है और वास्तव में सब मायामात्र हैं, भ्रम से भासते हैं। जैसे स्वप्न में रागी को स्वप्न-स्त्री का आलिङ्गन होता है तैसे ही यह जगत् मन के फुरने से भासता है सो भ्रममात्र है। हे राक्षसी! सर्वशक्तिरूप आत्मा में जैसे सृष्टि का आदि फुरना हुआ है तैसा ही रूप होकर भासने लगा है। और जैसे संकल्प किया है तैसे ही स्थित हुआ है। इससे सब जगत्

संकल्पमात्र है। जैसे जिसमें बालक का मन लगता है तैसा ही रूप उसको हो भासता है; तैसे ही संवित् के आश्रय जैसा संवेदन फुरता है तैसा ही रूप हो भासता है। हे राक्षसी! चिद्‌अणु परमाणु से भी सूक्ष्म है और उसने ही सब जगत् को पूर्ण किया है और सब जगत् अनन्तरूप आत्मा है उसमें संवेदन से जगत् की रचना हुई है। जैसे नटनायक जैसे जैसे बालक को नेत्रों से जताता है तैसे ही तैसे वह नृत्य करता है और जब वह ठहर जाता तब यह भी ठहर जाता है; तैसे ही चित्त के अवलोकन में सुमेरु से तृण पर्यन्त जगत् नृत्य करता है। जैसे चित्त संवेदन अनन्त शक्ति आत्मा में फुरता है तैसे ही तैसे हो भासता है। हे राक्षसी! देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से आत्मसत्ता रहित है, इस कारण सुमेरु आदिक से भी स्थूल है; उसके सामने सुमेरु आदिक तृण के समान हैं और बाल के अग्र के सहस्रवें भाग से भी सूक्ष्म है। अल्पता से ऐसा सूक्ष्म नहीं जिसमें सरसों का दाना भी सुमेरुवत् स्थूल है। माया की कला बहुत सूक्ष्म है उससे भी चिद्‌अणु सूक्ष्म है, क्योंकि निर्मायिकपद परमात्मा है। जैसे सुवर्ण और भूषण की शोभा समान नहीं अर्थात् स्वर्ण में भूषण कल्पित है समान कैसे हो; तैसे ही माया परमात्मा के समान नहीं क्योंकि कल्पित है। हे राक्षसी! जैसे सूर्य आदिक सब अनुभव से प्रकाशते हैं इनका सद्भाव कुछ न था उस सत्ता से ही इनका प्रकट होना हुआ है और फिर जर्जरीभूत होते हैं। शुद्ध चिन्मात्र सत्ता प्रकाशरूप है और वह सदा अपने आपमें स्थित है उस चिद्‌अणु के भीतर बाहर प्रकाश है और यह जो सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि आदिक प्रकाश हैं सो तम से मिले हुए हैं अर्थात् भेदरूप हैं। ये भी तमरूप हैं, क्योंकि प्रकाश की अपेक्षा रखते हैं। इनमें इतना भेद है कि प्रकाश शुक्लरूप है और तम कृष्णरूप है इससे रङ्ग का भेद है प्रकाशरूप कोई नहीं। जैसे मेघ का कोहिरा श्याम होता है और बरफ का शुक्ल होता है पर दोनों कोहिरे हैं; तैसे ही तम और प्रकाश दोनों तुल्य हैं और आत्मसत्ता दोनों को प्रकाशती है इससे दोनों का आश्रयभूत आत्मसत्ता ही है। हे राक्षसी! रात्रि, दिन, भीतर, बाहर, नदियाँ, पहाड़ आदिक सब लोक आत्मसत्ता

के प्रकाश से प्रकाशते हैं–जैसे कमल और नीलोत्पल दोनों को सू
प्रकाशता है। कमल श्वेत है और नीलोत्पल श्याम है; जहाँ श्वेत कम
है वहाँ नीलोत्पल का अभाव है और जहाँ नील कमल है तहाँ श्
कमल का अभाव है पर दोनों का प्रकाशक सूर्य है; तैसे ही तम औ
प्रकाश दोनों का प्रकाशक चिदात्मा है। जैसे रात्रि और दिन दो
सूर्य से सिद्ध होते हैं तैसे ही तम और प्रकाश दोनों आत्मा से सि
होते हैं। जैसे दिन तब कहाता है जब सूर्य उदय होता है और जब स
अस्त होता है तब रात्रि होती है, आत्मा तैसे भी नहीं। आत्मप्रका
सदा उदयरूप है और उदय अस्त से रहित भी है। उस विना कुछ सि
नहीं होता सबका प्रकाशक चिद्अणु ही है। हे राक्षसी ! उस अणु
भीतर विचित्र अनुभव अणु है। जैसे वसन्तऋतु में पत्र, फूल, फल औ
टास होते हैं तैसे ही चिद्अणु में सब अनुभव अणु होते हैं। जैसे ए
बीज से अनेक वृक्ष क्रम से हो जाते हैं तैसे ही एक चिद्अणु से अने
अनुभव अणु होते हैं। कई व्यतीत हुए हैं; कई वर्त्तमान हैं और क
होंगे। जैसे समुद्र में तरङ्ग होते हैं सो कोई अब बर्त्तते हैं और कई आ
होंगे; तैसे ही आत्मा में तीनों काल की सृष्टि बर्त्तती है। हे राक्षसी
चिद्अणु आत्मा उदासीन है और आसीन की नाईं स्थित होता है
सबका कर्त्ता भी है और भोक्ता भी है और स्पर्श किसी से नहीं किय
जाता। जगत् की सत्यता उसी से उदय होती है इस कारण यह सबक
कर्त्ता है और सबका अपना आप है इससे सबको भोगता है। वास्त
में न कुछ उपजा है और न लीन होता है। चिन्मात्रसत्ता ज्यों की त्य
सदा अपने आपमें स्थित है और अखण्ड और सूक्ष्म है इस कार
किसी से स्पर्श नहीं किया जाता। हे राक्षसी ! जो कुछ जगत् दीखत
है वह सब आत्मरूप है; आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं। आत्म
और जगत् कहनेमात्र को दोनों नाम हैं वास्तव में एक आत्मा ही है
आत्मा का चमत्कार ही जगत्रूप हो भासता है। वास्तव में जगत् कु
बना नहीं, चिन्मात्रसत्ता सदा अपने आपमें स्थित है और जो कु
कहना है वह उपदेश के निमित्त है वास्तव में दूसरी कुछ वस्तु नहीं

नी–तीनों जगत् चिदाकाशरूप हैं। हे राक्षसी ! द्रष्टा जब दृश्य पद
को प्राप्त होता है तब स्वाभाविक ही अपने भाव को नहीं देखता। जैसे
नेत्र जब घट को देखता है तब घट ही भासता है अपना नेत्रत्वभाव नहीं
दृष्टि आता; तैसे ही दृश्य के होते द्रष्टा नहीं भासता और जब दृश्य नष्ट
होता है तब द्रष्टा भी अवास्तव है, क्योंकि द्रष्टा भी दृश्य के सम्बन्ध से
कहते हैं। जब दृश्य नष्ट हो जावे तब द्रष्टा किसको कहिये। दृश्य विषय-
भूत वह होता है जो अदृश्य है; वह विषयभूत किसी का नहीं इस कारण
उसमें और कोई कल्पना नहीं बनती और यह जगत् भी उसका ही
आभास है। हे राक्षसी ! जैसे भोक्ता विना भोग नहीं होते; तैसे ही द्रष्टा
विना दृश्य नहीं होता। जैसे पिता विना पुत्र नहीं होता; तैसे ही एक
विना द्वैत नहीं होते। हे राक्षसी ! द्रष्टा को दृश्य उपजाने की सामर्थ्य
है परन्तु दृश्य को द्रष्टा उपजाने की सामर्थ्य नहीं, क्योंकि दृश्य जड़ है।
जैसे सुवर्ण से भूषण बनता है पर भूषण से स्वर्ण नहीं बनता; तैसे ही द्रष्टा
से दृश्य होता है; दृश्य से द्रष्टा नहीं होता। हे राक्षसी! सुवर्ण में जैसे भूषण है
तैसे ही द्रष्टा में जो दृश्य है वह भ्रमरूप है–इसी से जड़रूप है। जब द्रष्टा
दृश्य को देखता है तब दृश्य भासता है दृष्टत्वभाव नहीं भासता और
जब द्रष्टा अपने स्वभाव में स्थित होता है तब दृश्य नहीं भासता। जैसे
जब तक भूषणबुद्धि होती है तब तक सुवर्ण नहीं भासता–भूषण ही
भासता है और जब सुवर्ण का ज्ञान होता है तब सुवर्ण ही भासता है–
भूषण नहीं भासता। एक सत्ता में दोनों नहीं सिद्ध होते। जैसे अन्धकार
में किसी पुरुष को देखकर उसमें पशुत्वभ्रम हो तो जब तक पशुबुद्धि
होती है तब तक पुरुष का निश्चय नहीं होता और जब निश्चय करके
जाना तब फिर पशुबुद्धि नहीं रहती; तैसे ही जब द्रष्टा दृश्य को
देखता है तब द्रष्टाभाव नहीं दीखता दृश्य ही भासता है। जैसे रस्सी के
ज्ञान से सर्प का अभाव हो जाता है तैसे ही बोध करके दृश्य का अभाव
होता है तब एक ही परमात्मसत्ता भासती है–द्रष्टासंज्ञा भी नहीं रहती।
जैसे दूसरे की अपेक्षा से एक कहाता है और दूसरे के अभाव से एक एक
नहीं कह सकते तैसे ही दृश्य के अभाव से द्रष्टा कहना नहीं रहता

केवल शुद्ध संविन्मात्र पद शेष रहता जिसमें वाणी की गम नहीं। जै
दीपक पदार्थों को प्रकाशता है तैसे ही द्रष्टा दर्शन और दृश्य को प्रक
शता है और बोध से मातृ, मान और मेय त्रिपुटी लीन हो जा
है। जैसे सुवर्ण के जानने से भूषण की कल्पना का अभाव हो जा
है तैसे ही ज्ञान से त्रिपुटी का अभाव हो जाता है केवल शुद्ध अद्वै
रूप रहता है। हे राक्षसी ! परमअणु जो अत्यन्त निस्वादरूप है व
सर्व स्वादों को उपजाता है। जहाँ रस सहित होता है वहाँ चिद्अ
करके होता है। जैसे आदर्श विना प्रतिबिम्ब नहीं होता तैसे ही स
स्वाद चिद्अणु विना नहीं होते। सबको रस देनेवाला चिद्अणु ही है
आत्मभाव से सबका अधिष्ठान है और सूक्ष्म से सूक्ष्म है इससे निस्वा
है। वह चिद्अणु आपको छिपा नहीं सकता। सब जगत् को उसने ढाँ
रक्खा है और आप किसी से ढाँपा नहीं जाता। वह चिदाकाशरूप है
सब पदार्थों को सत्ता देनेवाला है और सबका आश्रयभूत है। जै
घास के वन में हाथी नहीं छिपता तैसे ही आत्मा किसी पदार्थ से नहीं
छिपता। हे राक्षसी ! जिससे सब पदार्थ सिद्ध होते हैं और जो स
प्रकाशरूप है वह मूर्खों को नहीं भासता—यह बड़ा आश्चर्य है। व
सदा अनुभवरूप है और यह सब जगत् उस ही से जीता है। जैसे वसन्त
ऋतु से फूल, फल, टास और पत्र फूलते हैं तैसे ही सब जगत् आत्म
से फूलता है। वही चिदात्मा जगत्रूप होके भासता है और सर्वात्मभा
से सब उसके ही अवयव हैं। परमार्थ निरवयव और निराकाररूप है उस
कुछ उदय नहीं हुआ। हे राक्षसी ! एक निमेष के अबोध से चिद्अ
में अनेक कल्पों का अनुभव होता है। जैसे एक क्षण के स्वप्न में पह
आपको बालक और फिर वृद्ध अवस्था देखने लगता है। उन कल्पों में
निमेष है उसमें अनेक कल्प व्यतीत होते हैं क्योंकि अधिष्ठान सर्व शा
मान् है जैसा संवेदन जहाँ फुरता है वैसा रूप हो भासता है जैसे स्व
में अभोक्ता को भोक्तृत्व का अनुभव होता है। तैसे ही निमेष में क
का अनुभव होता है। वासना से आवेष्टित अभोक्ता ही आपको भो
देखता है जैसे स्वप्न में मनुष्य अपना मरण प्रत्यक्ष देखता है तैसे

यह जगत् भ्रम से भासता है। जैसी जहाँ स्फूर्ति दृढ़ होती है वैसे ही होकर वहाँ भासता है। हे राक्षसी! जो कुछ आकार भासते हैं वे भ्रान्तिमात्र हैं। जैसे निर्मल आकाश में नीलता भासती है तैसे ही आत्मा में विश्व भासता है। आत्मा सर्वगत और सबका अनुभवरूप है। हे राक्षसी! उसमें व्याप्य-व्यापक भाव भी नहीं, क्योंकि सर्व आत्मा है और सर्वरूप भी वही है। जब शुद्धचित्त संवित् में संवेदन फुरता है तब पृथक् पृथक् भाव चेतता है। इच्छा से जिस पदार्थ की उपलब्धि होती है उसमें व्याप्य-व्यापक भाव की कल्पना होती है—वास्तव में जो इच्छा है वही पदार्थ है। जैसे जल में द्रवता होती है और उससे तरङ्ग, फेन और बुद्बुदे होते हैं सो सब जलरूप हैं, जल से भिन्न नहीं; तैसे ही इच्छा से उपजे पदार्थ आत्मारूप हैं उससे भिन्न नहीं। आत्मा देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित है; केवल शुद्ध चिन्मात्र और सर्वरूप होकर स्थित हुआ है और सबका अनुभव भी उसी में हुआ है। वह तो शुद्ध सत्तामात्र है उसमें द्वैतकल्पना कैसे कहिये? हे राक्षसी! जब कुछ द्वैत होता है तब एक भी होता है; जो द्वैत ही नहीं तो एक कैसे कहिये? जैसे धूप की अपेक्षा से छाया है और छाया की अपेक्षा से धूप है; तैसे ही एक की अपेक्षा से द्वैत कहाता है। इस कल्पना से जो रहित है वही चिन्मात्ररूप है और जगत् भी उससे व्यतिरिक्त नहीं। जैसे जल और द्रवता में कुछ भेद नहीं तैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं। हे राक्षसी! नाना प्रकार के आरम्भ उसमें दृष्टि आते हैं तो भी आत्मसत्ता सम है। हे राक्षसी! जब सम्यक्बोध होता है तब द्वैत भी अद्वैतरूप भासता है, क्योंकि अज्ञान से द्वैत कल्पना होती है। वास्तव में द्वैत कुछ नहीं; अज्ञान के अभाव से द्वैत का भी अभाव हो जाता है ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं। जैसे जल और द्रवता; वायु और स्पन्दता और आकाश और शून्यता में कुछ भेद नहीं तैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं। हे राक्षसी! द्वैत और अद्वैत जानना दुःख का कारण है। द्वैत और अद्वैत की कल्पना से रहित होने को ही परमपद कहते हैं। द्रष्टारूप जो जगत् है वह चिद्परमाणु में स्थित है और

उसमें सुमेरु आदिक स्थित हैं। बड़ा आश्चर्य है कि माया से चिद्परमाणु में त्रिलोकियों की परम्परा स्थित हैं इसी से असंभवरूप और मायामय है। जैसे बीज में वृक्ष स्थित है तैसे ही चिद्अणु में जगत् स्थित है। जैसे शाखा, पत्र, फूल और फल से बीज अपना बीजत्व नहीं त्यागता और अखण्ड रहता है तैसे ही चिद्अणु के भीतर जगत् का विस्तार है और अणुत्वभाव नहीं त्यागता—अखण्ड ही रहता है। हे राक्षसी! जैसे बीज परिणाम से वृक्षभाव में प्राप्त होता है तैसे ही चिद्अणु भी परिणाम से जगत्रूप होता है। सब चिद्अणु का किञ्चनरूप है इससे ऐसे दिखाई देता है; वास्तव में न द्वैत है; न अद्वैत है; न बीज है—न अंकुर है; न स्थूल है—न सूक्ष्म है; न कुछ उपजा है—न नष्ट होता है; न अस्ति है—न नास्ति है; न सम है—न असम है और न जगत् है—न अजगत् है; केवल चिदानन्द आत्मसत्ता अचिन्त्यचिन्मात्र अपने आपमें स्थित है, जैसी जैसी भावना होती है तैसी ही तैसी हो भासती है। हे राक्षसी! यह अनउदय ही संवेदन के वश से उदय होकर भासता है। जैसे बीज से वृक्ष अनन्यरूप अनेक हो भासता है तैसे ही एक आत्मा अनेकरूप हो भासता है। न कुछ उदय हुआ है और न मिटता है। हे राक्षसी! उस चिद्अणु में कमल की डंडी की ताँत सुमेरु की नाईं स्थूल है। जैसे कमल की डंडी की ताँत से सुमेरु स्थूल है तैसे ही चिद्अणु से कमल की डंडी स्थूल है और दृश्यरूप है, पर चिद्अणु दृश्य और मन सहित षड्इन्द्रियों का विषय नहीं इस कारण ताँत से भी सूक्ष्म है। उस चिद्अणु में अनन्त सुमेरु आदिक स्थित हैं सो क्या रूप है; जैसे आकाश में शून्यता होती है तैसे ही आत्मा में जगत् है। हे राक्षसी! जिसको आत्मा का बोध हुआ है उसको जगत् सुषुप्ति की नाईं भासता है। वह आत्मसत्ता सदा अद्वैतरूप और परिणाम से रहित है उसमें मुक्त पुरुष सदा स्थित है। परमार्थ से जगत् भी ब्रह्मरूप है, भिन्नभाव कुछ नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सूच्युपाख्याने परमार्थनिरूपणन्नाम सप्तपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार राजा के मुख से सुनकर कर्कटी ने वन के मर्कटीरूप जीवों के मारने की चपलता त्याग की और भीतर से शीतल होकर विश्राम पाया। जैसे वर्षाकाल में मोरनी प्रसन्न होती है, चन्द्रमा को देखके चन्द्रवंशी कमल प्रफुल्लित होते हैं और मेघ के शब्द से बगली गर्भवती होती है तैसे ही राजा के वचन सुनके कर्कटी परमानन्द हुई और बोली; बड़ा आश्चर्य है, बड़ा आश्चर्य है! हे राजन्! तुमने महापावन वचन कहे। इससे मैंने तुम्हारा विमल बोध देखा और अमृतसार और समरस से पूर्ण, शुद्ध और राग द्वेष आदिक मल से रहित है, जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा शीतल; अमृत से पूर्ण और शुद्ध होता है तैसे ही तुम्हारा बोध है। विवेकी जगत् में पूज्य है। जैसे चन्द्रमा को देखके कमलिनी प्रफुल्लित होती हैं; फूलों से मिलके वायु सुगन्धवान् होती है और सूर्य के उदय होने से सूर्यमुखी कमल प्रफुल्लित हो आते हैं; तैसे ही सन्तों की सङ्गति से बुद्धि सुख पाती है। हे राजन्! वह कौन है जो दीपक हाथ में लेकर गढ़े में गिरे और वह कौन है जो दीपक हाथ में लेकर तम देखे? तैसे ही वह कौन है जो सन्तों की संगति करे और दुःखी रहे। सन्तों की संगति से सभी दुःख नष्ट होते हैं। हे राजन्! तुम इस वन में किस प्रयोजन से आये हो? तुम तो पूजने योग्य हो। राजा बोले, हे राक्षसी! मेरे नगर में जो मनुष्य रहते हैं उनको एक विसूचिका व्याधिरोग लगा है और उससे वे बहुत कष्ट पाते हैं। औषधि भी हम बहुत कर रहे हैं पर दुःख दूर नहीं होता। हमने सुना है कि एक राक्षसी जीवों को कष्ट देती है और उसका एक मन्त्र भी है उस मन्त्र के पढ़ने से निवृत्त हो जाती है। इसलिये उस तुमसी राक्षसियों के मारने के निमित्त मैं रात्रि को वीरयात्रा करने निकला हूँ। जो वह राक्षसी तू ही है तो हमारा तेरा संवाद भी हो चुका है उसको अङ्गीकार करके प्राणियों की हिंसा करना छोड़ और किसी को कष्ट न दे। राक्षसी बोली, हे राजन्! तुमने सत्य कहा। अब मैंने हिंसाधर्म का त्याग किया और अब किसी जीव को न मारूँगी। राजा बोले, हे राक्षसी! तूने तो कहा कि मैं अब किसी जीव को न मारूँगी पर तेरा आहार तो जीव हैं, जीवों को मारे विना

तेरे शरीर का निर्वाह कैसे होगा? राक्षसी बोली, हे राजन्! हजारवर्ष में समाधि में स्थित रही और जब समाधि खुली तब मुझे क्षुधा लगी। अब मैं फिर हिमालय पर्वत की कन्दरा में जाकर निश्चल समाधि में, जैसे मूर्ति लिखी होती है, तैसे ही स्थित हूँगी और जब समाधि से उतरूँगी तब अमृत की धारणा में विश्राम करूँगी। जब उससे उतरूँगी तब शरीर का त्याग करूँगी, परन्तु हिंसा न करूँगी। हे राजन्! जिस प्रकार मैंने हिंसाधर्म को अङ्गीकार किया था वह सुन। मुझको जब बड़ी क्षुधा लगी तब उसके निवारण के अर्थ मैं हिमालय पर्वत के उत्तर शिखर पर वन में एक सोने की शिला के पास लोहे के थम्भ की नाईं जीवों के नाश के निमित्त तप करने लगी और जब बहुत वर्ष व्यतीत हुए तब ब्रह्माजी ने मनोवांछित वर मुझको दिया। तब मेरे दो शरीर हुए—एक आधारभूत सूर्य की नाईं और दूसरा पुर्यष्टक और मैं विसूचिका नाम राक्षसी हुई। उस शरीर से मैं अनेक जीवों के भीतर जाकर उनको भोजन करती रही, परन्तु ब्रह्माजी ने मुझसे कहा था कि जो गुणवान् होंगे और जो 'ॐ' मन्त्र पढ़ेंगे उन पर तेरा बल न चलेगा तू निवृत्त हो जावेगी। हे राजन्! उसी मन्त्र का उपदेश अब तुम भी अङ्गीकार करो। उस मन्त्र के पाठ से सबके रोग नष्ट होंगे। ब्रह्माजी का जो उपदेश है उसको तुम नदी के तट पर जाकर और पवित्र होकर शीघ्र ही ग्रहण करो। उसके पाठ से तुम्हारी प्रजा का दुःख नष्ट हो जावेगा। इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार जब अर्द्धरात्रि के समय राक्षसी ने कहा तब राजा, मन्त्री और राक्षसी तीनों निकट नदी के तीर पर गये और अनन्य व्यतिरेक करके आपस में सुहृद् हुए। जब तीनों पवित्र होकर बैठे तब जो मन्त्र राक्षसी का ब्रह्माजी ने उपदेश किया था वही मन्त्र विसूचिका ने प्रीतिसंयुक्त राजा को उपदेश किया और वहाँ से चलने लगी। तब राजा ने कहा, हे महादेवी! तू हमारी गुरु है इससे हम कुछ प्रार्थना करते हैं उसे अङ्गीकार कर। जो महापुरुष हैं उनका सुन्दर सुहृदपना बढ़ता जाता है और तुम्हारा शरीर भी इच्छाचारी है। इससे मन के हरनेवाले भूषण-वस्त्र संयुक्त स्त्री का सा लघु शरीर धरके कुछ काल हमारे

नगर में निवास करो। राक्षसी बोली, हे राजन्! मैं तो लघु आकार भी धरूँगी परन्तु तुम मुझे भोजन न दे सकोगे। जो लघु स्त्री का शरीर धरूँगी तो भी मेरा स्वभाव राक्षसी का है इसको तृप्त करना समान जनों की नाईं तो नहीं। जैसा कुछ शरीर का स्वभाव है सो सृष्टि पर्यन्त वैसा ही रहता है—अन्यथा नहीं होता। राजा बोले, हे कल्याणरूपी! तू स्त्री समान शरीर धरके हमारे नगर में चलकर रह; जो चोर पापी मेरे मण्डल में आवेंगे वे हम तुझे देंगे और तू उन्हें स्त्रीरूप को त्याग करके राक्षसी शरीर से एकान्त ठौर ले जाकर अथवा हिमालय की कन्दरा में जाके भोजन करना, क्योंकि बड़े भोजन करनेवाले को एकान्त में खाना सुखरूप है। जब उनको भोजन करके तृप्त होना तब सो रहना; जब निद्रा से जागना तब समाधि में स्थित होना और जब समाधि से उतरना तब फिर हमारे पास आना हम तेरे निमित्त बन्दीजन इकट्ठे कर रक्खेंगे उनको ले जाकर भोजन करना। जो धर्म के निमित्त हिंसा है वह हिंसा पापरूप नहीं और जिसकी हिंसा करता है उसका मरण भी नहीं बल्कि उस पर दया है, क्योंकि वह पाप करने से छूटता है। राक्षसी बोली, हे राजन्! तुमने युक्तिसहित वचन कहे हैं इससे मैं स्त्री का शरीर धरके तुम्हारे साथ चलती हूँ। युक्तिपूर्वक वचन का सब कोई मानते हैं। इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार कहकर राक्षसी ने महासुन्दर स्त्री का शरीर धारण किया और बहुत कङ्कण आदिक नाना प्रकार के भूषण और वस्त्र पहिनकर राजा के साथ चली। निदान राजा और मन्त्री आगे चले और स्त्री पीछे चली। राजा उसको अपने ठाम में ले आया और एकान्त स्थान में तीनों बैठ रात्रि को परस्पर चर्चा करते रहे। जब प्रातःकाल हुआ तब सौभाग्यवती स्त्रीरूप राक्षसी राजा के अन्तःपुर में जा बैठी और जो कुछ स्त्रियों का व्यवहार है वह करती रही और राजा और मन्त्री अपने व्यवहार में लगे। इसी प्रकार जब छः दिन व्यतीत हुए तब राजा के मण्डल में जो तीन सहस्र चोर बँधे हुए थे उन सबको उसने कर्कटी को दे दिया और उसने राक्षसी का शरीर धारके उनको भुजा मण्डल में ले

जैसे मेघ बूँदों को धारता है; हिमालय के शिखर को चली। जैसे किसी दरिद्री को सुवर्ण पाने से प्रसन्नता होती है तैसे वह प्रसन्न हुई और वहाँ जा तृप्त होके भोजन किया और सुखी होके सो रही। दो दिन पर्यन्त सोई रही, उसके उपरान्त जागके पाँच वर्ष पर्यन्त समाधि में लगी रही और जब समाधि खुली तब फिर राजा के पास आई। इसी प्रकार जब वह आवे तब राजा उसकी पूजा करे और जितने दुष्ट जन इकट्ठे किये हों उसको दे दे। वह उन्हें ले जाकर हिमालय की कन्दरा में भोजन करके फिर ध्यान में लगे और जब ध्यान से उतरे तब फिर वहाँ आवे और फिर ले जावे। हे रामजी! इसी प्रकार जीवन्मुक्त होकर वह राक्षसी प्रकृत स्वभाव को करती रही और जब अनेक वर्ष व्यतीत हुए तब राजा विदेहमुक्त हुआ। फिर जो कोई उस मण्डल का राजा हो उससे भी राक्षसी की सुहृदता हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे राक्षसीसुहृदता-
वर्णनन्नामाष्टपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५८ ॥

वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! निदान जब राक्षसी आवे तब किरात देश का राजा पूर्व की नाईं उसकी पूजा करे और जो कुछ विसूचिका अथवा दूसरा कोई रोग उनकी प्रजा में हो उसे वह राक्षसी निवृत्त कर दे। इसी प्रकार अनेक वर्ष व्यतीत हुए। एक बार उसको ध्यान में लगे बहुत वर्ष व्यतीत हो गये तब किरातदेश के राजा ने दुःख की निवृत्ति के लिये ऊँचे स्थान पर उसकी प्रतिमा स्थापन की और उस प्रतिमा का एक नाम कन्दरा देवी और दूसरा नाम मङ्गला देवी रक्खा। उसका ध्यान करके सब पूजा करने लगे और उसी से उसका कार्य सिद्ध होने लगा। हे रामजी! उस प्रतिमा में उस देवी ने आप निवास किया। जो कोई जिस फल के निमित्त उस प्रतिमा की पूजा करे उसका कार्य सिद्ध हो और न पूजे तो दुःखित हो। इससे जो कोई कुछ कार्य करने लगे वह प्रथम मङ्गला देवी की पूजा करे तो उसका कार्य सिद्ध होवे और जो विधि करके उसकी पूजा करे उससे वह बहुत प्रसन्न हो। हे रामजी! अबतक वह प्रतिमा किरातदेश में स्थित है। जिस जिस फल के निमित्त

उसकी कोई सेवा करता है तैसा तैसा फल उसको वह देती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सूच्याख्यानसमाप्ति-
वर्णनन्नामैकोनषष्टितमस्सर्गः ॥ ५९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह आनन्दित कर्कटी का आख्यान जैसे पूर्व हुआ है वैसे ही मैंने तुमसे कहा है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! राक्षसी का कृष्णवपु किस निमित्त था और कर्कटी इसका नाम क्यों था? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह राक्षसों के कुल की कन्या थी। राक्षसों का वपु शुक्ल भी होता है; कृष्ण भी होता है और रक्त, पीत आदि भी होता है। हे रामजी! कर्कटी नाम एक जलजन्तु भी होता है और उसका श्याम आकार होता है; उसी के समान कर्कट नाम एक राक्षस था उसके समान उसकी यह पुत्री हुई; इस कारण इसका नाम कर्कटी हुआ। हे रामजी! यहाँ कर्कटी का और कुछ प्रयोजन न था; अध्यात्मप्रसंग और शुद्ध चेतन के निरूपण के निमित्त मैंने तुमसे यह आख्यान कहा है। यह आश्चर्य है कि असत्‌रूप जगत् के पदार्थ सत्‌रूप होकर भासते हैं और जो आत्मसत्ता सदा सम्पन्नरूप है वह अविद्यमान की नाईं भासती है। हे रामजी! वास्तव में तो एक अनादि, अनन्त और परम कारण आत्मसत्ता स्थित है; भावना के वश से उसमें जगत्‌रूप भासता है और अनन्यरूप है। जैसे जल और तरङ्ग में कुछ भिन्नता नहीं होती तैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भिन्नता नहीं। आत्मा में जगत् कुछ द्वैतरूप नहीं हुआ, आत्मसत्ता सदा अपने आपही में स्थित है और उसमें जैसा-जैसा चित्तस्पन्द दृढ़ होता है वैसा ही तैसा रूप होकर भासता है। जैसे वानर रेत को इकट्ठा करके उसमें अग्नि की भावना करते हैं और तापते हैं तो उनका शीत उसी से निवृत्त होता है तैसे ही सम, स्थित और शान्तरूप आत्मा में जब जगत् की भावना फुरती है तब नाना प्रकार का भासता है। जैसे थम्भे में पुतलियाँ अनउदय ही शिल्पी के मन में उदय की नाईं भासती हैं तैसे ही भावना के वश से आत्मा ही जगत् हो भासता है। जैसे बीज में पत्र, फल, टहनी और वृक्ष अनन्यरूप होते हैं वैसे ही ब्रह्म में जगत् अनन्यरूप है। जैसे बीज और वृक्ष में कुछ भेद नहीं तैसे ही ब्रह्म और जगत्

में कुछ भेद नहीं; अविचार से भेद भासता है और विचार किये से जग भेद नष्ट हो जाता है। हे रामजी! अब यह विचार न करना कि कैं उपजा है; कहाँ से आया है और कबका हुआ है? जैसे हुआ तैसे हुअ अब इसकी निवृत्ति का उपाय करना चाहिए। जब तुम यह जानों तब हृदय की चिद्जड़ ग्रन्थि टूट जावेगी। शब्द और अर्थ की जो कु कल्पना उठती है सो मेरे वचनों और स्वरूप में स्थित भये से नष्ट ह जावेगी। हे रामजी! यह सब जगत् अनर्थरूप चित्त से उपजा है औ मेरे वचनों के सुनने से शान्त हो जावेगा। इसमें संशय नहीं कि स जगत् ब्रह्म से उपजा है और सब ब्रह्मस्वरूप ही है पर जब तुम ज्ञान में जागोगे तब ज्यों का त्यों ही जानोगे। रामजी ने पूछा, हे भगवन् जो जिससे होता है वह उससे व्यतिरेक होता है; जैसे कुलाल से घ भिन्नरूप होता है; तो आप कैसे कहते हैं कि सब जगत् ब्रह्म से उपजा है और ब्रह्मस्वरूप ही है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह जगत् ब्र से ही उपजा है। जितने कुछ प्रतियोगी शब्द शास्त्रों ने कहे हैं सो दृश् में हैं। शास्त्र ने उपदेश जताने के निमित्त कहे हैं, वास्तव में यह श कोई नहीं। जैसे किसी बालक को परछाहीं में वैताल भासता है त पूछते हैं कि किस भाग में स्थित होकर वैताल ने भय दिया है और व कहता है कि अमुक ठौर में वैताल ने भय दिया है सो वह व्यवहार के निमित्त कहता है, पर वैताल तो वहाँ कोई भी न था; तैसे ही आत्मा में उपदेश के निमित्त भेदकल्पना करी है वास्तव में उसमें द्वैतकल्पना को नहीं। हे रामजी! ब्रह्म से जगत् हुआ है यह अर्थ केवल व्यतिरेक भी नहीं होता। कुलाल जो दण्ड से घट उपजाता है सो व्यतिरेक के अ है। स्वामी का टहलुआ यह भिन्न के अर्थ है और ये अभिन्नरूप भी होते हैं। जैसे अवयवी के अवयव हैं; सुवर्ण से भूषण हुए हैं और मृत्तिका से घट हुए हैं तैसे ही यह अभिन्न और अवयवी का स्वरूप है। जैसे भूषण स्वर्णरूप है, घट मृत्तिकारूप है तैसे ही ब्रह्म से उपजा जगत् ब्रह्म रूप ही है। वास्तव में भिन्न-अभिन्न; कारण-परिणाम; भाव-विकार; अविद्या और विद्या; सुख-दुःख आदिक मिथ्याकल्पना अज्ञान से उठती हैं। हे रामजी! अबोध से भेदकल्पना होती है और ज्ञान से सब कल्पना शान्त हो जाती हैं। केवल अशब्दपद शेष रहता है। जब तुम ज्ञानयोग होगे तब ऐसे जानोगे कि आदि-मध्य-अन्त से रहित; अविभाग और अखण्डरूप एक आत्मसत्ता ज्यों की त्यों स्थित है। अज्ञान से अथवा जिज्ञासु को उपदेश के निमित्त द्वैतवाद कल्पना है; बोध होने से द्वैत भेद कुछ नहीं रहता। हे रामजी! वाच्यवाचकभाव द्वैत विना सिद्ध नहीं होता। जब बोध होता है तब वाच्य का मौन होता है। इससे महावाक्य के अर्थ में निष्ठा करो और जो कुछ भेद कल्पना मन ने रची है उसकी निवृत्ति के अर्थ मेरे वचन सुनो। हे रामजी! यह मन ऐसे उपजा है जैसे गन्धर्वनगर होता है और उसी ने जगत् की रचना की है। मैंने जैसे देखा है तैसे तुमसे दृष्टान्त में कहता हूँ; जिसके जाने से सब जगत् तुमको भ्रान्तिमात्र भासेगा। वह निश्चय धारण करके तुम जगत् की वासना दूर से त्याग दोगे और बोध से सब जगत् तुमको मन का मननरूप भासेगा। तब तुम आत्मरूप होकर अपने आपमें निवास करोगे अर्थात् जगत् की कल्पना त्याग करके अपने स्वभावसत्ता में स्थित होगे। इसलिये इसको सावधान होकर सुनो। हे रामजी! यह मनरूपी बड़ा रोग है इसलिये विवेकरूपी औषध से उसको शान्त करना चाहिए। सब जगत् चित्त की कल्पना है। वास्तव में वह शरीर आदिक कुछ नहीं। जैसे रेत से तेल नहीं निकलता; तैसे ही जगत् से वास्तव में कुछ नहीं निकलता—चित्त द्वारा भासता है। वह चित्तरूपी संसार स्वप्न की नाईं है और राग द्वेष आदिक संकल्पों से युक्त है। उससे रहित होता है वही संसारसमुद्र के पार जाता है। इसलिये शुभ गुणों से चित्त की शुद्धता करो। जो विवेकी हैं वे शुभकार्य करते हैं अशुभ नहीं करते हैं और आहार व्यवहार भी विचारके करते हैं। उन्हीं आर्यों की नाईं तुम भी शास्त्रों के अनुसार चेष्टा करो। जब तुमको ऐसा अभ्यास होगा तब तुम शीघ्र ही ज्ञानवान् होगे और ज्ञान के प्राप्त होने से सब कल्पना मिट जावेंगी और आत्मस्थिति होगी। चित्त ने सब जगत्रूपी चित्र मन में ही रचे हैं। जैसे मोर का अण्डा काल पाकर अनेक रङ्ग धारण करता है तैसे ही मन

अनेक प्रकार के जगत् धारण करता है वह मन जड़ और अजड़रू उसमें जो चेतनभाग है वह सब अर्थों का बीजरूप है अर्थात् सब उपादान है और जड़भाग जगत्‌रूप है। हे रामजी! सर्ग के आदि पृथ्वी आदिक तत्त्व न थे। जैसे स्वप्न में जगत् विद्यमान की नाईं भास है तैसे ही ब्रह्मा ने विद्यमान की नाईं उसको देखा। जड़संवेदन पहाड़ आदिक जगत् देखा और चेतनसंवेदन से जङ्गमरूप देखा। सब जगत् दीर्घ वेदना है। वास्तव में देहादिक सब शून्यरूप हैं आत्मा में व्यापे हुए हैं। आत्मा का कोई शरीर नहीं। अपने से दृश्यरूप मन चेता है वही आत्मा का शरीर है। वह आत्मा विस्तार रूप है और निर्मल स्थित है और मन उसका आभासरूप है। सूर्य की किरणों से जलाभास होता है तैसे ही आत्मा का आभास म है। वह मनरूपी बालक अज्ञान से जगत्‌रूपी पिशाच को देखता और ज्ञान से परमात्मपद शान्तरूप निरामय को देखता है। हे रामजी जब आत्मा चैत्यता को प्राप्त होता है तब वही चित्तरूप दृश्य एक ब्र को द्वैत देखता है। उसकी निवृत्ति के लिए मैं तुमसे एक कथा कहता हूँ। गुरु के वचन जो दृष्टान्तसहित होते हैं और वाणी भी मधुर और स्पष्ट होती है तो श्रोता के हृदय में वह अक्षर जैसे जल में तेल की बूँद फैल जाती है तैसे ही फैल जाते हैं और जो दृष्टान्त से रहित होते और अर्थ स्पष्ट नहीं होता तो वह क्षोभसंयुक्त वचन कहाता है और अक्षर पूर्ण नहीं होते; इसलिये वे वचन श्रोता के हृदय में नहीं ठहरते और उपदेष्टा के वचन निष्फल हो जाते हैं। मैं तुमसे एक आख्यान नाना प्रकार के दृष्टान्तोंसहित, मधुरवाणी में स्पष्ट करके कहता हूँ। जैसे चन्द्रमा की किरणें अपने गृह पर उदय हों और मन्दिर शीतल हो जावे तैसे ही मेरे स्पष्ट वचन और प्रकाशरूप अर्थ सुनने से तुम्हारा भ्रम निवृत्त हो जावेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे मनअंकुरोत्पत्तिकथनन्नाम-
षष्टितमस्सर्गः ॥ ६० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! पूर्व जो मुझसे ब्रह्माजी ने सर्ग का वृत्तान्त कहा है वह मैं तुमसे कहता हूँ। एक समय मैंने ब्रह्माजी के पास जाकर

पूछा कि हे भगवन्! ये जगत् गण कहाँ से आये और कैसे उत्पन्न हुए तब पितामहजी ने मुझसे इन्दु ब्राह्मण का आख्यान इस भाँति कहा। वे बोले, हे मुनीश्वर! यह सब जगत् मन से उपजा है और मन से ही भासता है। जैसे जल में द्रवता के कारण नाना प्रकार के तरङ्ग और चक्र फुरते हैं तैसे ही मन के फुरने से सब जगत् फुरते हैं और मनरूप ही हैं। हे मुनीश्वर! पूर्व कल्प में मैंने एक वृत्तान्त देखा. है उसे सुनो। एक समय जब दिन का क्षय हुआ तब मैं सम्पूर्ण सृष्टि को संहार करके एकाग्रभाव हो रात्रि को स्वस्थभाव होकर रहा। जब मेरी रात्रि व्यतीत हुई और मैं जागा तब मैंने उठकर विधिसंयुक्त सन्ध्यादिक कर्म किये और बड़े आकाश की ओर देखा कि तम और प्रकाश से रहित; शून्यरूप और इतर से रहित व्यापित है। चिदाकाश में चित्त को मिलाके जब मैंने सर्ग के उपजाने का संकल्प चित्त में धारण किया तब मुझको शुद्ध सूक्ष्म चिदाकाश में सृष्टि दृष्टि आई। वह सृष्टि मुझे बड़े विस्तार सहित और परस्पर अदृष्टरूप दृष्टि आई है और हर सृष्टि में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र—तीनों देवता भी थे। देवता, गन्धर्व किन्नर और मनुष्य; सुमेरु, मन्दराचल, कैलास, हिमालय आदिक पर्वत, पृथ्वी, नदियाँ, सातों समुद्रादिक सब सृष्टि के विस्तार हैं। वे दश सृष्टि हैं उनमें जो दश ब्रह्मा देखे वे मानों मेरे ही प्रतिबिम्ब कमल से उत्पन्न हुए हैं और राजहंस के ऊपर आरूढ़ हैं। उनकी भिन्न २ सृष्टि है। उनमें नदी के बड़े प्रवाह चलते हैं; वायु आकाश में चलता है; सूर्य और चन्द्रमा उदय होते हैं देवता स्वर्ग में क्रीड़ा करते हैं; मनुष्य पृथ्वी में फिरते हैं। दैत्य और नाग पाताल में भोग भोगते हैं और कालचक्र फिरता है बारह मास उसकी बारह कीलें हैं और वसन्तादिक षट्ऋतु हैं। वासना के अनुसार शुभाशुभ आचार करके लोग नरक स्वर्ग भोगते हैं और मोक्ष फल पाते हैं। हर सृष्टि में सप्तद्वीप हैं; उत्पत्ति और प्रलय कल्प होते हैं और गङ्गाजी का प्रवाह जगत् के गले में यज्ञोपवीत है। कहीं ऐसे सृष्टि स्थित हैं, कहीं सदा प्रकाश रहता है और कहीं अहंकार से स्थावर-जङ्गम प्रजा हैं। बिजली की नाईं सृष्टि उपजती और मिट जाती है। जैसे वृक्ष के पत्र उपजते हैं और नष्ट हो जाते हैं वैसे ही और गन्धर्व-

नगरवत् सृष्टि देखी। एक एक ब्रह्माण्ड में स्थावर जङ्गम ऐसी प्र देखी जैसे गूलर के फल में अनेक मच्छर होते हैं। आत्मा में काल भी अभाव है। क्षण, लव, दिन, मास और वर्षों का प्रवाह चला जा है। हे मुनीश्वर! अन्तवाहक दृष्टि से मैंने उन सृष्टियों को देखा। ज मैं चर्मदृष्टि से देखूँ तब कुछ न भासे और दिव्यदृष्टि से देखूँ तो सब कु भासे। चिरकाल पर्यन्त मैं यह चरित्र देखता रहा कि कदाचित् चित्तभ्र हो तो स्पष्ट हो भासे। तब एक सृष्टि के सूर्य को देखके मैंने आवाह किया और जब वह मेरे निकट आया तो मैंने उससे कहा; हे देवदेवेश भास्कर! तुम कुशल से तो हो? ऐसे कहकर मैंने फिर कहा कि हे सूर्य तुम कौन हो और यह सृष्टि कहाँ से उपजी है? यह एक जगत् है ऐसे अनेक जगत् हैं; जैसे तुम जानते हो कहो? तब वह सूर्य भी जो त्रिकालज्ञान रखता था मुझको जान के प्रणामकर आनन्दित वाणी बोला, हे ईश्वर! इस दृश्यरूपी पिशाच के आप ही नित्य कारण हो हैं। आप तो सब जानते ही हैं तो मुझसे क्यों पूछते हैं? यदि लीला के अर्थ पूछते हो तो जैसे हुआ है तैसे मैं आपके सम्मुख निवेदन करता हूँ। हे भगवन्! यह जो सत् असत् रूपी नाना प्रकार के व्यवहारों संयुक्त जगत् भासता है वह सब मन के फुरने में स्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे आदित्यसमागमनन्नामैकषष्टितमस्सर्गः ॥ ६१ ॥

भानु बोले; हे भगवन्! आपका जो कल्प का दिन व्यतीत भया है उसमें जो जम्बूद्वीप था उसके एक कोने में कैलास पर्वत था और उसकी कन्दरा में सुवर्णज्येष्ठ नाम आपका एक पुत्र रहता था। उसने वहाँ एक कुटी रची जिसमें साधुजन निवास करते थे। इन्दुनाम ब्राह्मण वेदवेत्ता शान्तरूप ने कश्यप ऋषि के कुल में उत्पन्न हो स्त्री सहित उस कुटी में जाके निवास किया और उस स्त्री से प्राणों की नाईं स्नेह करता था। जैसे मरुस्थल में घास नहीं उपजती तैसे ही उससे सन्तान न उपजे और जैसे शरदकाल की बेलि बहुत सुन्दर होती है परन्तु फल से शून्य होती है तैसे ही वह स्त्री थी। तब दोनों स्त्री पुरुष पुत्र के निमित्त कैलास

के निकट निर्जनस्थान और कुञ्ज में एक वृक्ष के ऊपर चढ़ बैठे और तप करने लगे। कुछ दिन तक वे केवल जल पानकर भोजन कुछ न करें और रात्रि दिन व्यतीत करें। फिर कुछ समय तक एक ही अञ्जली जलपान करने लगे और फिर उसका भी त्यागकर और फुरने से रहित हो वृक्ष की नाईं बैठे रहे। निदान जब उनको तप करते त्रेता और द्वापर युग बीते तब शशिकलाधारी भवानीशंकर तुष्टमन होकर आये और क्या देखा कि स्त्री पुरुष दोनों वृक्ष पर बैठे हैं। तब उन्होंने शिवजी को देख के प्रणाम किया तो जैसे दिन की तपन से सकुची हुई चन्द्रमुखी कमलिनी चन्द्रमा के उदय होने से प्रफुल्लित हो आती है तैसे ही महाहिम की नाईं शिवजी को देखकर वे प्रफुल्लित हुए—मानो आकाश और पृथ्वी दोनों रूप धर के आन खड़े हुए हैं। ऐसे भवानीशंकर ने उस ब्राह्मण से कहा; हे ब्राह्मण! मैं तुझ पर तुष्ट हुआ; जो कुछ तुझको वाञ्छित वर है सो तू माँग। हे ब्रह्माजी! जब ऐसे शिवजी ने कहा तब ब्राह्मण प्रफुल्लित होकर कहने लगा; हे भगवन्! देवदेवेश! मेरे गृह में दश पुत्र बड़े बुद्धिमान् और कल्याणमूर्ति हों जिससे मुझको फिर शोक कदाचित् न हो। तब ईश्वर ने कहा ऐसे ही होगा। ऐसे कहकर जब शिवजी समुद्र के तरङ्गवत् अन्तर्धान हुए तब वे स्त्री पुरुष दोनों शिव के चरणों को ग्रहण करके प्रसन्न हुए और जैसे सदाशिव और भवानी की मूर्ति है तैसे ही प्रसन्न होकर वे अपने गृह में आये। निदान ब्राह्मणी गर्भवती हुई और समय पाके उसके दश पुत्र हुए। जैसे द्वितीया के चन्द्रमा की शोभा होती है तैसे ही उसकी शोभा हुई और षोड़शवर्ष के आकार की नाईं ब्राह्मणी का आकार रहा, वृद्ध न हुई। वे बालक दशों संस्कारों को ले उपजे और जैसे वर्षा काल की बदली थोड़ी भी शीघ्र बड़ी हो जाती है तैसे ही वे थोड़े ही काल में बड़े हो गये। जब सात वर्षों के हुए तब वे सब वाणी के वेत्ता हुए और उनके माता और पिता दोनों शरीर त्याग के अपनी गति में प्राप्त हुए। वे दशों ब्राह्मण माता पिता से रहित हो गृह को त्यागके कैलास के शिखर पर जा चढ़े और परस्पर विचार करने लगे कि वह कौन ईश्वर है जो परमेश्वररूप है और वह कौन ईश्वरपद है जिसके

पाने से फिर दुःखी भी न हो और नाश भी न हो और सबका ईश्वर हो। त एक भाई ने कहा कि सबसे बड़ा ऐश्वर्य मण्डलेश्वर का है। क्योंकि सब उसकी आज्ञा चलती है। दूसरे भाई ने कहा कि मण्डलेश्वर की विभू भी कुछ नहीं, क्योंकि वह भी राजा के अधीन होता है; इससे राजा क पद बड़ा है। तीसरे ने कहा राजा की विभूति भी कुछ नहीं, क्योंकि राजा चक्रवर्ती के अधीन होता है इसलिए चक्रवर्ती का पद बड़ा है चौथे ने कहा कि चक्रवर्ती भी कुछ नहीं, क्योंकि वह भी यम के अधी होता है, इससे यम का पद बड़ा है। पाँचवें ने कहा कि इन्द्र के आ यम की विभूति कुछ नहीं इससे इन्द्र का पद बड़ा है। छठे ने कहा कि इन्द्र की विभूति भी कुछ नहीं, ब्रह्मा के एक मुहूर्त्त में इन्द्र नष्ट हो जात है। तब सबसे बड़े भाई ने जो बड़ा बुद्धिमान् था गम्भीर वचन से कहा कि जो कुछ विभूति है सो सब ब्रह्मा के कल्प में नष्ट हो जाती है—इस बड़ा ऐश्वर्य ब्रह्माजी का है उससे बड़ा और कोई नहीं। हे भगवन्! इ प्रकार जब बड़े भाई ने कहा तब सबने कहा, भली कही! भली कही फिर सबने बड़े भाई से कहा, हे तात! जो सबका दुःखनाशकर्त्ता और जगत्पूज्य ब्राह्मपद है तो उसको हम कैसे प्राप्त हों? जिस उपाय से हम प्राप्त हों वह उपाय कहो। उसने कहा, हे भाइयो! और सब भावनाओं को त्याग करो और यह निश्चय करो कि हम ब्रह्मा हैं और पद्मासन पर बैठे हैं। सब सृष्टि के कर्त्ता और सबकी पालना और संहारकर्त्ता हमही हैं और जो कुछ जगत्जाल है उसका आश्रयभूत हम नहीं। सब सृष्टि हमारे अङ्ग में स्थित है जब हम ऐसा निश्चय और सजातिभावना धरके बैठेंगे तब हमको ब्रह्मा का पद प्राप्त होगा। हे भगवन्! जब इस प्रकार बड़े भाई ने कहा तब छोटे भाइयों ने कहा, हे तात! तुमने यथार्थ कहा है जैसे तुमने कहा है तैसे ही हम करते हैं। ऐसा कहकर सब ध्यान में स्थित हुए और जैसे काग़ज़ पर मूर्ति लिखी होती है तैसे ही दशों ध्यान में स्थित हुए। मन में हरएक ने यही चिन्तवन किया कि मैं ब्रह्मा हूँ; कमल मेरा आसन है, मैं सृष्टिकर्त्ता और भोक्ता हूँ और महेश्वर भी मैं ही हूँ। साङ्गोपाङ्ग जगत्कर्म मैंने ही रचे हैं; सरस्वती और

गायत्री सहित वेद मेरे आगे आ खड़े हैं और इस लोकपाल और सिद्धों के मण्डलों को पालनेवाला भी मैं ही हूँ। स्वर्ग, भूमि, पाताल, पहाड़, नदियाँ और समुद्र सब मैंने ही रचे हैं और महाबाहु वज्र के धारनेवाला और यज्ञों का भोक्ता इन्द्र मैंने ही रचा है। सूर्य मेरी ही आज्ञा से तपता है और जगत् की मर्यादा के निमित्त सब लोकपाल मैंने ही रचे हैं। जैसे गौ को गोपाल पालता है तैसे ही लोकपाल मेरी आज्ञा पाकर जीवों को पालते हैं और जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजते और मिट जाते हैं तैसे ही जगत् मुझसे उपजा है और फिर मुझमें ही लीन होता है। क्षण, दिन, मास, वर्ष, युग आदिक काल मेरे ही रचे हुए हैं और मैंने ही सब काल के नाम रक्खे हैं। मैं ही दिन को उत्पन्न करता हूँ और रात्रि को लीन कर लेता हूँ; सदा आत्मपद में स्थित हूँ और पूर्ण परमेश्वर मैं ही हूँ। हे ब्रह्माजी! इस प्रकार वे दशों भाई भावना धारण कर बैठे रहे—मानो काग़ज़ पर मूर्ति लिख छोड़ी है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे ऐंदवसमाधिवर्णनन्नाम
द्विषष्टितमस्सर्गः ॥ ६२ ॥

भानु बोले, हे भगवन्! इस प्रकार इन्द्र के दशों पुत्र पितामह की भावना धारण करके बैठे और जैसे जेठ, आषाढ़ में कमल के पत्र सूखकर गिर पड़ते हैं तैसे ही उनकी देह धूप और पवन से सूखकर गिर पड़ी। तब वनचर उनके शरीरों को आपस में खैंचकर भक्षण कर गये। जैसे वानर फल पकड़ते हैं और विदारण करते हैं तैसे ही इनके देह वे विदारने लगे तो भी उनकी वृत्ति ध्यान से छूटके बाह्यदेहादिक अभ्यास में न आई, ब्रह्मा की भावना में ही लगी रही। इस प्रकार जब चारों युग का अन्त हुआ और तुम्हारे कल्प दिन का क्षय होने लगा तब द्वादश सूर्य तपने लगे; पुष्कल मेघ गरजके वर्षने लगे; बड़ा भूचाल आया; वायु चलने लगा; समुद्र उछलने लगे; सब जल ही जल हो गया और सब भूत क्षय हो गये। जब सबको संहार करके रात्रि को वे आत्मपद में स्थित हुए तब उनके शरीर भी नष्ट हो गये और पुर्यष्टक आकाश में आकाशरूप होके ब्रह्मा के संकल्प को लेकर तीव्र भावना के वश से दशों सृष्टिसहित भिन्न भिन्न

अपनी अपनी सृष्टि के दश ब्रह्मा हुए। फिर जागकर देखते हैं कि आका में फुरते हैं। हे भगवन्! उन दशों ब्राह्मणों के चित्त आकाश में ही म सृष्टि स्थित हैं। उन दश सृष्टियों में से एक सृष्टि का सूर्य मैं हूँ। आका में मेरा मन्दिर है और क्षण, दिन, पक्ष, मास और युग मुझ ही से होते हैं इस क्रिया में मुझको उन्होंने लगाया है। हे भगवन्! इस प्रकार मैंने आप दशों ब्रह्मा और उनकी दशों सृष्टि कहीं, वे सृष्टि सब मनोमात्र हैं। आ जैसी आपकी इच्छा हो तैसी कीजिये। भिन्न भिन्न जगत्जाल कल्प जो इन्द्रजाल की नाईं विस्तृत हुई हैं वे चित्त के भ्रम से भासती हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे जगद्रचनानिर्वाणवर्णनन्नाम त्रिषष्टितमस्सर्गः ॥ ६३ ॥

इतना कहकर ब्रह्मा बोले, हे ब्राह्मण, ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ! इस प्र ब्रह्मा के सूर्य ब्रह्मा से कहकर जब तूष्णी हुए तब उसके वचनों को विचा कर मैंने कहा, हे भानु! तुमने सृष्टि दश कहीं अब मैं क्या रचूँ। यह दश सृष्टि हुई हैं और दश ही ब्रह्मा हैं अब मेरे रचने से क्या सिद्ध होगा हे मुनीश्वर! जब इस प्रकार मैंने कहा तब सूर्य विचारकर बोले, प्रभो! आप तो निरिच्छित हैं, आपको सृष्टि रचने में कुछ इच्छा नहीं सृष्टि का रचना आपको विनोदमात्र है किसी कामना के निमित्त न रचते। आप निष्कामरूप हैं। जैसे जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब होता है औ जल विना प्रतिबिम्ब की कल्पना नहीं होती तैसे ही संवेदन करके आप सृष्टि की रचना होती है। अज्ञानी को आप सृष्टिकर्त्ता भासते हैं पर आ तो सदा ज्यों के त्यों निष्क्रियरूप हैं। हे भगवन्! आपको शरीर आदि की प्राप्ति और त्याग में कुछ द्वेष नहीं और उत्पत्ति और संहार आपको कल्पना नहीं—लीलामात्र आपसे सृष्टि होती है। जैसे सूर्य दिन होता है और सूर्य के अस्त होने से दिन लय हो जाता है पर सू असंसक्तरूप हैं तैसे ही आपमें संवेदन के फुरने से सृष्टि होती है औ संवेदन के अस्फुर हुए सृष्टि का लय होता है, पर आप सदा आसक्त जगत् की रचना आपका नित्यकर्म है और उस कर्म के त्याग करने आपको कुछ अपूर्व वस्तु भी नहीं प्राप्त होती इससे जो कुछ आप

नित्यकर्म है उसे कीजिये। हे जगत्पति! जैसे निष्कलङ्क दर्पण प्रतिबिम्ब अङ्गीकार करता है तैसे ही महापुरुष यथाप्राप्त कर्म को असंसक्त होकर अङ्गीकार करते हैं। जैसे ज्ञानवान् को कर्म करने में कुछ प्रयोजन नहीं तैसे ही उसको करने में और न करने में कुछ प्रयोजन नहीं; करना न करना दोनों उसको सम हैं। इस कारण दोनों में आप सुषुप्तिरूप हैं। हे भगवन्! आप तो सदा सुषुप्तिरूप हैं और उत्थान किसी प्रकार नहीं। इससे आप सुषुप्ति प्रबोध होकर अपने प्रकृत आचार कीजिये। जो इन्द्र ब्राह्मण के पुत्रों की सृष्टि देखो तब भी विरुद्ध कुछ नहीं। जो ज्ञानदृष्टि से देखो तो एक ही अद्वैत ब्रह्म है और कुछ नहीं बना और जो चित्दृष्टि से देखो तो संकल्परूप अनेक सृष्टि फुरती हैं। उनमें आस्था करनी क्या है? जो चर्मदृष्टि से देखो तो आपको सृष्टि भासती ही नहीं। उनके साथ आपको क्या है; उनकी सृष्टि उन्हीं के चित्त में स्थित है और उनकी सृष्टि आप नाश भी न कर सकोगे, क्योंकि जो इन्द्रियों से कर्म होता है वह नष्ट हो सकता है, परन्तु मन के निश्चय को कोई नष्ट नहीं कर सकता। हे भगवन्! जो निश्चय जिसके चित्त में दृढ़ हो गया है उसको वही निवृत्त करे तो निवृत्त होता है और कोई निवृत्त नहीं कर सकता। देह नष्ट होने से निश्चय नहीं नष्ट होता जो चिरकाल का निश्चय दृढ़ हो रहा है उसका स्वरूप से नाश नहीं होता। हे भगवन्! जो मन में दृढ़ निश्चय हो रहा है वही पुरुष का रूप है; उसका निश्चय और किसी से नहीं होता। जैसे जल सींचने से पर्वत चलायमान नहीं होता तैसे ही चित्त का निश्चय और से चलायमान नहीं होता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे ऐन्दवनिश्चयकथनन्नाम चतुःषष्टितमस्सर्गः ॥ ६४ ॥

भानु बोले, हे देवेश! इस पर एक पूर्व इतिहास है वह आप सुनिये। इन्द्रद्युम्न नाम एक राजा था और उसकी कमलनयनी अहल्या रानी थी। उसके नगर में इन्द्र नामक एक ब्राह्मण का पुत्र बहुत सुन्दर और बलवान् रहता था। एक समय उस रानी ने पूर्व की अहल्या गौतम की स्त्री और इन्द्र की कथा सुनी तब एक सहेली ने कहा, हे रानी! जैसे पूर्व अहल्या थी तैसे ही तुम भी हो और जैसा वह इन्द्र सुन्दर था तैसे ही

तुम्हारे नगर में भी एक इन्द्र ब्राह्मण है। हे भगवन्! जब इस प्रकार रानी ने सुना तब उस इन्द्र में रानी का अनुराग हुआ परन्तु वह रा को न मिले और रानी का शरीर इसी कारण दिन पर दिन सूखता जावे निदान राजा ने सुना कि इसको गरमी का कुछ रोग है इस कारण उसकी निवृत्ति के लिये केले के पत्र और शीतल औषध उसको दिलवाये परन्तु उसको वाञ्छित पदार्थ कोई दृष्टि न आये और खाना, पीना शय्यादिक जो कुछ इन्द्रियों के वाञ्छित पदार्थ हैं वह उसको कोई सुखरूप न भासे। वह दिन दिन पीत वर्ण होती जावे और इन्द्र के वियोग से जैसे जल विना मछली मरुस्थल में तड़फे तैसे वह तड़फती रहे और कहे हा इन्द्र! हा इन्द्र! निदान जब उसने लोकलाज त्याग दी और इन्द्र में उसका बहुत स्नेह बढ़ गया तब विचारकर एक सखी ने कहा, हे रानी! मैं इन्द्र ब्राह्मण को ले आती हूँ यह सुन रानी सावधान हुई और जैसे चन्द्रमा को देखके कमलिनी खिल आती है तैसे वह खिल आई। वह सखी रानी से कहके ब्राह्मण के घर गई और उस इन्द्र को प्रबोध करके रात्रि के समय अहल्या के पास ले आई। जब वह गोप्यस्थान में इकट्ठे हुए तो परस्पर लीला करने लगे और दोनों का चित्त परस्पर स्नेह से बँध गया और बहुत प्रसन्न हुए। जैसे चकवी-चकवे और रति और कामदेव का स्नेह होता है तैसे ही उनका स्नेह हुआ और एक दूसरे विना एक क्षण भी रह न सकें। निदान सब क्रिया उनकी निवृत्त हो गई और लज्जा भी दूर हो गई। जैसे चन्द्रमा को देखकर चन्द्रमुखी कमल प्रसन्न हों तैसे ही एक दूसरे को देखके वे प्रसन्न होवें। हे भगवन्! उस रानी का भर्त्ता भी बड़ा गुणवान् था परन्तु रानी ने भर्त्ता का त्याग किया और इन्द्र से उसने स्नेह किया। जब राजा ने उनका सम्पूर्ण वृत्तान्त सुना तो उनको दण्ड देने लगा, परन्तु उनको कुछ खेद न हो और जब कीचड़ में डालें तब कमल की नाईं ऊपर ही रहें, कुछ कष्ट न हो। फिर जब बरफ में उनको डाला तो भी खेदवान् न हुए। तब राजा ने कहा, हे दुर्मतियो! तुमको दुःख क्यों नहीं होता? उन्होंने कहा हमको दुःख कैसे हो; हम तो अपने आपको भी

नहीं जानते? तब अहल्या ने कहा मुझको सब इन्द्र ही भासता है; भिन्न दुःख क्या हो? इन्द्र ने कहा मुझको सब अहल्या ही भासती है; भिन्न दुःख कहाँ हो? तेरे दण्ड देने से हमको कुछ दुःख नहीं होता हम परस्पर हर्षवान् हैं। तब राजा ने उनको बाँधकर अग्नि में डाल दिया तो भी वह न जले और फिर हाथी के चरणों तले डलवा दिये गये तो भी उनको कुछ कष्ट न हुआ। तब राजा ने कहा, रे पापियो! तुमको अग्नि आदिक में दुःख क्यों नहीं होता? तब इन्द्र ने कहा, हे राजन्! जो कुछ जगत्-जाल है वह मन में स्थित है। जैसा मन है तैसा पुरुषरूप है। जैसा निश्चय मन में दृढ़ होता है उसको कोई दूर नहीं कर सकता। चाहे कोई हमको दण्ड दे परन्तु हमको कुछ दुःख न होगा, क्योंकि हमारे हृदय में परस्पर प्रतिभा हो रही है। जो कोई अनिष्ट हमको हो तो दुःख भी हो; हमको अनिष्ट तो कोई नहीं तब दुःख कैसे हो? हे राजन्! जो कुछ मन में दृढ़ीभूत होता है वही भासता है उसका निश्चय कोई दूर नहीं कर सकता। शरीर नष्ट हो जाता है परन्तु मन का निश्चय नष्ट नहीं होता। हे राजन्! जो मन में तीव्र संवेग होता है सो वर और शाप से भी दूर नहीं होता। जैसे सुमेरु पर्वत को मन्द-मन्द वायु नहीं चला सकता तैसे ही मन के निश्चय को कोई नहीं चला सकता। मेरे हृदय में इसकी मूर्त्ति स्थिरीभूत है और इसके हृदय में मेरी मूर्त्ति स्थिरीभूत है। इसको सब जगत् मैं ही भासता हूँ और मुझको सब जगत् यही भासती है। जो कुछ दूसरा भासे तो दुःख भी हो। जैसे लोहे के कोट में कोई दुःख नहीं दे सकता तैसे ही मुझको कोई दुःख नहीं, मैं जहाँ जाता हूँ वहाँ सब ओर से अहल्या ही भासती है। जैसे ज्येष्ठ आषाढ़ की वर्षा में पर्वत चलायमान नहीं होता तैसे ही हमको दुःख नहीं होता। हे राजन्! मन का ही नाम अहल्या और इन्द्र है और मन ही ने सब जगत् रचा है। जैसा-जैसा मन में दृढ़ निश्चय होता है तैसा ही भासता है और सुमेरु की नाईं स्थिर हो जाता है, कदापि नष्ट नहीं होता। जैसे पत्र, फल, फूल और टहनी के काटने से वृक्ष नहीं नष्ट होता; जब बीज ही नष्ट हो तब वृक्ष नष्ट होता है तैसे ही शरीर के नष्ट होने से मन का

निश्चय नहीं नष्ट होता। जब मन का निश्चय ही उलट पड़े तब ही दू होता है। एक शरीर जब नष्ट होता है तब जीव और शरीर धर लेता है जैसे स्वप्न में यह शरीर रहता है और और शरीर धरके चेष्टा करता है तो शरीर के ही अधीन हुआ; तैसे ही शरीर के नष्ट हुए मन का निश्चय दूर नहीं होता। जब मन नष्ट होता है तब शरीर के होते भी कुछ क्रिया सिद्ध नहीं होती। इससे सबका बीज मन ही है। जैसे पत्र, टहनी फल और फूल का कारण जल है; तैसे ही सब पदार्थों का कारण मन है। जैसा चित्त है तैसा रूप पुरुष का है। इससे जहाँ मेरा चित्त जाता है वहाँ सब ओर से रानी ही भासती है। मुझको दुःख कैसे हो?

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे कृत्रिमइन्द्रवाक्यंनाम
पञ्चषष्टितमस्सर्गः ॥ ६५ ॥

भानु बोले, हे भगवन्! इस प्रकार जब इन्द्र ब्राह्मण ने कहा तब कमलनयन राजा ने भरत नाम ऋषीश्वर से जो समीप बैठे थे कहा, हे सर्वधर्मों के वेत्ता भरत मुनीश्वर! तुम देखो कि यह कैसा ढीठ पापा त्मा है। जैसा इनका पाप है उसके अनुसार इनको शाप दो कि यह मर जावें। जो मारने योग्य न हो और उसको राजा मारे तो उसको पाप होता है; तैसे ही पापी के न मारने से भी पाप होता है। इससे इन पापियों को शाप दो कि यह नष्ट हो जावें। भरत मुनि ने उनका पाप विचारके कहा, अरे पापियो! तुम मर जावो तब उस इन्द्र ब्राह्मण ने कहा, रे दुष्टो! तुमने जो शाप दिया उससे हमारा क्या होगा? केवल हमारा शरीर नष्ट होगा मन तो नष्ट होने का नहीं। तुम चाहे लाख यत्न करो उस मन से हम और शरीर धारण करेंगे—हमारे मन के नष्ट हुए विना विपर्यय दशा न होगी। ऐसा कहकर दोनों पृथ्वी पर इस भाँति गिर पड़े जैसे मूल के काटे से वृक्ष गिर पड़ता है और वासना संयोग से दोनों मृग हुए। वहाँ भी परस्पर स्नेह में रहे और फिर उस जन्म को भी त्यागकर पक्षी हुए। कुछ दिन के पश्चात् उन्होंने उस देह को भी त्याग किया और अब हमारी सृष्टि में तपकर्त्ता पुण्यवान ब्राह्मण और ब्राह्मणी हुए हैं। इससे तुम देखो कि भरत मुनि ने शाप दिया तो उनके शरीर नष्ट हुए परन्तु मन का जो कुछ निश्चय था सो नष्ट न हुआ। वे जहाँ शरीर पावें वहाँ दोनों इकट्ठे ही अकृत्रिम प्रेमवान रहें और किसी से आनन्दमान न हों।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे अहल्यानुरागसमाप्तिवर्णनन्नाम
षट्षष्टितमस्सर्गः ॥ ६६ ॥

भानु बोले, हे नाथ! आप देखें कि जैसा मन का निश्चय होता है उसके अनुसार आगे भासता है। इन्द्र के पुत्र की सृष्टिवत् मन के निश्चय को कोई दूर नहीं कर सकता। हे जगत् के पति! मन ही जगत् का कर्त्ता और मन ही पुरुष है। मन का किया सब कुछ होता है और शरीर का किया कोई कार्य नहीं होता। जो मन में दृढ़ निश्चय होता है वह किसी औषध से दूर नहीं होता। जैसे मणि में प्रतिबिम्ब मणि के उठाये विना नहीं दूर होता तैसे ही मन का निश्चय भी किसी और से दूर नहीं होता जब मन ही उलटे तब हीं दूर हो। इसी से कहा है कि अनेक सृष्टि के सब चित्त में स्थित हैं। इससे, हे ब्रह्माजी! आप भी चिदाकाश में सृष्टि रचो। हे नाथ! तीन आकाश हैं—एक भूताकाश; दूसरा चित्ताकाश और तीसरा चिदाकाश। ये तीनों अनन्त हैं; इनका अन्त कहीं नहीं। भूताकाश चित्ताकाश के आश्रय स्थित है और चित्ताकाश चिदाकाश के आश्रय है। भूताकाश और चित्ताकाश ये दोनों चिदाकाश के आश्रय प्रकाशित हैं। इससे चिदाकाश के आश्रय जितनी आपकी इच्छा हो उतनी सृष्टि आप भी रचिये। चिदाकाश अनन्तरूप है। इन्द्र ब्राह्मण के पुत्रों ने आपका क्या लिया है? अपना नित्यकर्म आप भी कीजिये। ब्रह्मा बोले, हे वशिष्ठजी! इस प्रकार जब सूर्य ने मुझसे कहा तो मैंने विचार करके कहा, हे भानु! तुमने युक्त वचन कहे हैं कि एक भूताकाश है; दूसरा चित्ताकाश है और तीसरा चिदाकाश है, वे तीनों अनन्त हैं परन्तु भूताकाश और चित्ताकाश दोनों चिदाकाश के आश्रय फुरते हैं। इससे हम भी अपने नित्यकर्म करते हैं और जो कुछ मैं तुमको कहता हूँ वह तुम मानो। मेरी सृष्टि के तुम मनु प्रजापति हो और जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसे रचो। सूर्य ने मेरी आज्ञा मानके अपने दो शरीर किये—एक तो

पूर्व के सूर्य से उस सृष्टि का सूर्य हुआ और दूसरा शरीर स्वायम्भुवमं का किया। और मेरी आज्ञा के अनुसार उसने सृष्टि रची। इससे मैंने तुमसे कहा है कि यह जगत् सब मन का रचा हुआ है। जो मन में दृढ़ निश्चय होता है वही सफल होता है। जैसे इन्द्र ब्राह्मण की सृ हुई। हे मुनीश्वर! देह के नष्ट हुए भी मन का निश्चय दूर नहीं होता चित्त में फिर भी वही भास आता है। वह चित्त आत्मा का किञ्चनरू है। जैसे उसमें स्फूर्त्ति होती है तैसे ही होकर भासता है। प्रथम जो शुद्ध संवित्रूप में उत्थान हुआ है वह अन्तवाहक शरीर है और फिर ज उसमें दृढ़अभ्यास और स्वरूप का प्रमाद हुआ तो आधिभौतिक शरी हुए और जब आधिभौतिक का अभिमानी हुआ तब उसका नामी जी हुआ। देहाभिमान से नाना प्रकार की वासना होती है और उन अनुसार घटीयन्त्र की नाईं भटकता है। जब फिर आत्मा का बोध होता है तब देह से आदि लेकर दृश्य शान्त हो जाता है। हे मुनीश्वर! य सब दृश्य भ्रम से भासता है; वास्तव में न कोई उपजा है और न को जगत् है। यह सब भ्रम चित्त ने रचा है उसके अनुसार घटीयन्त्र की नाईं भटकता है। जब फिर आत्मा का बोध होता है तब देह से आदि ले सब प्रपञ्च शान्त हो जाते हैं। हे मुनीश्वर! जो कुछ दृश्य भासता वह मन से भासता है। वास्तव में न कोई माया है और न कोई जग है—यह सब भ्रम भासता है। हे वशिष्ठजी! और द्वैत कुछ नहीं; चि के फुरने से ही अहं त्वं आदिक भ्रम भासते हैं। जैसे इन्द्र ब्राह्मण के पु मन के निश्चय से ब्रह्मारूप हो गये तैसे ही मैं ब्रह्मा हूँ। शुद्ध आत्मा जो चैत्यता होती है वही ब्रह्मारूप होकर स्थित है और शुद्ध आत्मा जो चैत्यता होती है वही मनरूप है। उस मन के संयोग से चेतन जीव कहते हैं। जब इसमें जीवत्व होता है तब अपनी देह देखता और फिर नाना प्रकार के जगत्भ्रम देखता है। जैसे इन्द्र ब्राह्मण पुत्रों को सृष्टि भासी और जैसे भ्रम से आकाश में दूसरा चन्द्रमा रस्सी में सर्प भासता है तैसे ही जगत् सत्य भी नहीं और असत्य नहीं। प्रत्यक्ष देखने से सत्य भासता है और नाशभाव से असत्य है

वह सब मन में फुरता है। मन के दो रूप हैं—एक जड़ और दूसरा चेतन। जड़रूप मन का दृश्यरूप है और चेतनरूप ब्रह्म है। जब दृश्य की ओर फुरता है तब दृश्यरूप होता है और जब चेतनभाव की ओर स्थित होता है तब जैसे सुवर्ण के जाने से भूषण भाव नष्ट हो जाता है तैसे ही दृश्यरूप जड़भाव नष्ट हो जाता है। जब जड़भाव में फुरता है तब नाना प्रकार के जगत् देखता है। वास्तव में ब्रह्मादि तृणपर्यन्त सब ही चेतनरूप हैं। जड़ उसको कहना चाहिये जिसमें चित्त का अभाव हो। जैसे लकड़ी में चित्त नहीं भासता और प्राणधारियों में चित्त भासता है परन्तु स्वरूप में दोनों तुल्य हैं, क्योंकि सर्व परमात्मा द्वारा प्रकाशते हैं। हे वशिष्ठजी! सब चेतनस्वरूप हैं, जो चेतनस्वरूप न हों तो क्यों भासें। चेतनता से उपलब्धरूप होते हैं। जड़ और चेतन का विभाग अवाच्य ब्रह्म में नहीं पाया जाता; प्रमाद दोष से है वास्तव में नहीं। जैसे स्वप्न में जो दो प्रकार के जड़ और चेतन भूत भासते हैं उनका प्रमाद होता है तब उस चेतन भूत प्राणी को जड़ चेतन विभाग भासता है और स्वरूपदर्शी को सब एक स्वरूप है। हे मुनीश्वर! ब्रह्मा में जो चैत्यता हुई वही मन हुआ उस मन में जो चेतनभाग है वही ब्रह्मा है और जड़भाग अबोध है। जब अबोधभाव होता है तब दृश्यभ्रम देखता है और जब चेतनभाव में स्थित हो जाता है तब शुद्ध रूप होता है। हे मुनीश्वर! चेतनमात्र में अहंकार का उत्थान दृश्य है और परमार्थ में कुछ भेद नहीं। जैसे तरङ्ग जल से भिन्न नहीं तैसे ही अहं चेतनमात्र से भिन्न नहीं होता। सबकी प्रतीति ब्रह्म ही में होती है, वह परमपद है और सब दुःखों से रहित है। वही शुद्ध चित्त जीव जब चैत्यभाव को चेतता है तब जड़भाव को देखता है। जैसे स्वप्न में कोई अपना मरना देखता है तैसे ही वह चित्त जड़भाव को देखता है। आत्मा सर्वशक्तिमान् है; कर्त्ता है तो भी कुछ नहीं कर्त्ता और उसके समान और कोई नहीं। हे मुनीश्वर! यह जगत् कुछ वास्तव में उपजा नहीं, चित्त के फुरने से भासता है। जब चित्त की स्फूर्ति होती है तब जगत्जाल भासता है और जब चैतन आत्मा में स्थित होता है तब मन

का जड़भाव नहीं रहता। जैसे पारसमणि के मिलाप से ताँबा सुवर्ण हो जाता है और फिर उसका ताँबा भाव नहीं रहता तैसे ही जब मन आत्म में स्थित होता है तब उसकी जड़ता दृश्यभाव नहीं रहती। जैसे सुव को शोधन करने से उसका मैल जल जाता है और शुद्ध ही शेष रहता है तैसे ही चित्त जब आत्मा में स्थित होता है तब उसका जड़भाव जल जाता है और शुद्ध चैतनमात्र शेष रहता है। वास्तव में तो शुद्ध भी द्वैत में होता है; आत्मा में द्वैत नहीं इससे शुद्ध कैसे हो। जैसे आकाश के फूल और वृक्ष वास्तव में कुछ नहीं होते तैसे ही शोधन भी वास्तव में कुछ नहीं। हे मुनीश्वर! जब तक आत्मा का अज्ञान है तब तक नाना प्रकार का जगत् भासता है और जब आत्मा का बोध होता है तब जगत्भ्रम नष्ट हो जाता है। यह जगत्भ्रम चित्त में है जैसा निश्चय चित्त में होता है तैसा ही हो भासता है। इसी पर अहल्या और इन्द्र का दृष्टान्त कहा है। इससे जैसी भावना दृढ़ होती है तैसा हो भासता है। हे वशिष्ठजी! जिसको यही भावना दृढ़ है कि मैं देह हूँ वह पुरुष देह के निमित्त सब चेष्टा करता है और इसी कारण बहुत काल पर्यन्त कष्ट पाता है। जैसे बालक वैताल की कल्पना से भय पाता है तैसे ही देह में अभिमान से जीव कष्ट पाता है। जिसकी भावना देह से निवृत्त होकर शुद्ध चैतनभाव में प्राप्त होती है उसको देहादिक जगत् भ्रम शान्त हो जाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे जीवक्रमोपदेशोनाम
सप्तषष्टितमस्सर्गः ॥ ६७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब इस प्रकार ब्रह्माजी ने मुझसे कहा तब मैंने फिर प्रश्न किया कि हे भगवन्! आपने कहा है कि शाप में मन्त्रा दिकों का बल होता है। वह शाप भी अचलरूप है, मिटता नहीं। मैंने ऐसा भी देखा है कि शाप से मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ भी जड़ीभूत हो जाती हैं, पर ऐसा तो नहीं है कि देह को शाप हो और मन को न हो और हे भगवन्! मन और देह तो अनन्यरूप हैं। जैसे वायु और स्पन्द में और घृत और चिकनाई में भेद नहीं होता तैसे ही मन और जगत् में भी नहीं। यदि कहिये कि देह कुछ वस्तु नहीं, चैतन्य ही चित्त है और देह भी चित्त में कल्पित है—जैसे स्वप्नदेह; मृगतृष्णा का जल और दूसरा चन्द्रमा भासता है सो एक के नष्ट हुए दोनों क्यों नहीं नष्ट होते तैसे देह के शाप से चाहिए कि मन को भी शाप लग जावे तो मैंने देखा है कि शाप से भी जड़ीभूत हो गये हैं और आप कहते हैं कि देह का कर्म मन को नहीं लगता। यह कैसे जानिये? ब्रह्मा बोले, हे मुनीश्वर! ऐसा पदार्थ जगत् में कोई नहीं जो सब कर्मों को त्यागकर पुण्यरूप पुरुषार्थ करने से सिद्ध न हो। पुरुषार्थ करने से सब कुछ होता है। ब्रह्मा से चींटी पर्यन्त जिस जिसकी भावना होती है तैसा ही रूप हो भासता है। सब जगत् के दो शरीर हैं—एक मनरूपी जो चञ्चलरूप है और दूसरा आधिभौतिक मांसमय शरीर है। उसका किया कार्य निष्फल होता है और मन से जो चेष्टा होती है वह सुफल होती है। हे मुनीश्वर! जिस पुरुष को मांसमय शरीर में अहंभाव है उसको आधिव्याधि और शाप भी अवश्य लगता है और मांसमय शरीर जो गूँगे; दीन और क्षणनाशी हैं उनके साथ जिसका संयोग है वह दीन रहता है। चित्तरूपी शरीर चञ्चल है वह किसी के वश नहीं होता अर्थात् उसका वश करना महा कठिन है। जब दृढ़ वैराग्य और अभ्यास हो तब वह वश हो—अन्यथा नहीं होता। मन महा चञ्चल है और यह जगत् मन में है। जैसा जैसा मन में निश्चय है सो दूर नहीं होता। मांसमय शरीर का किया कुछ सुफल नहीं होता और जो मन का निश्चय है सो दूर नहीं होता। हे मुनीश्वर! जिन पुरुषों ने चित्त को आत्मपद में स्थित किया है उनको अग्नि में भी डालिये तो भी दुःख कुछ नहीं होता और जल में भी उनको दुःख नहीं होता, क्योंकि उनका चित्त शरीरादिक भाव ग्रहण नहीं करता केवल आत्मा में स्थित होता है। हे मुनीश्वर! सब भावों को त्यागकर मन का निश्चय जिसमें दृढ़ होता है वही भासता है। जहाँ मन दृढ़ीभूत होकर चलता है उसको वही भासता है और किसी संसार के कष्ट और शाप से चलायमान नहीं होता। जो किसी दुःख शाप से मन विपर्ययभाव में प्राप्त हो जावे तो जानिये कि यह दृढ़ लगा न था—अभ्यास की शिथिलता थी।

हे मुनीश्वर! मन की तीव्रता के हिलाने में किसी पदार्थ की शक्ति नहीं क्योंकि सृष्टि मानसी है। इससे मन में मन को समाय चित्त को परम पद में लगावो। जब चित्त आत्मा में दृढ़ होता है तब जगत् के पदार्थों से चलायमान नहीं होता। माण्डव्य ऋषीश्वर को जिनका चित्त आत्मा में लगा हुआ था शूली पर भी खेद न हुआ। हे मुनीश्वर! जिसमें मन दृढ़ होकर लगता है उसको कोई चला नहीं सकता। जैसे इन्द्र ब्राह्मण चलायमान न हुआ तैसे ही आत्मा में स्थिर हुआ मन चलायमान नहीं होता। हे मुनीश्वर! जैसा जैसा मन में तीव्रभाव होता है उसी की सिद्धता होती है। दीर्घतपा एक ऋषि था वह किसी प्रकार अन्धे कूप में गिर पड़ा और उस कूप में मन को दृढ़कर यज्ञ करने लगा। उस यज्ञ से मन में देवता होकर इन्द्रपुरी में फल भोगने लगा और जैसे इन्द्र ब्राह्मण के पुत्र मनुष्यों के समान थे और उनके मन में जो ब्रह्मा की भावना थी उससे वे दशों ब्रह्मा हुए और दशों ने अपनी अपनी सृष्टि रची और वह सृष्टि मुझसे भी नहीं खण्डित होती। इससे जो कुछ दृढ़ अभ्यास होता है वह नष्ट नहीं होता। देवता और महाऋषि आदि जो धैर्यवान् हुए हैं और जिनकी एक क्षणमात्र भी वृत्ति चलायमान नहीं होती थी उनको संसार का आधि-व्याधि, ताप, शाप, मन्त्र और पापकर्म से लेकर संसार के जो क्षोभ और दुःख हैं नहीं स्पर्श करते थे। जैसे कमलफूल का प्रहार शिला नहीं फोड़ सकता तैसे ही धैर्यवान् को संसार का ताप नहीं खण्डन कर सकता। जिसको आधि-व्याधि दुःख देते हैं उसे जानिये कि वह परमार्थ-दर्शन से शून्य है। हे मुनीश्वर! जो पुरुष स्वरूप में सावधान हुए हैं उनको कोई दुःख स्पर्श नहीं करता और स्वप्न में भी उनको दुःख का अनुभव नहीं होता, क्योंकि उनका चित्त सावधान है। इससे तुम भी दृढ़ पुरुषार्थ करके मन से मन को मारो तो जगत्भ्रम नष्ट हो जावेगा। हे मुनीश्वर! जिसको स्वरूप का प्रमाद होता है उसको क्षण में जगत्भ्रम दृढ़ हो जाता है। जैसे बालक को क्षण में वैताल भासि आता है तैसे ही प्रमाद से जगत् भासता है। हे मुनीश्वर! मनरूपी कुलाल है और वृत्तिरूपी मृत्तिका है; उस

मन से वृत्ति क्षण में अनेक आकार धरती है। जैसे मृत्तिका कुलाल द्वारा घटादिक अनेक आकार को धरती है तैसे ही निश्चय के अनुसार वृत्ति अनेक आकारों को पाती है। जैसे सूर्य में उलूकादिक अपनी भावना से अन्धकार देखते हैं; कितनों को चन्द्रमा की किरणें भी भावना से अग्निरूप भासती हैं और कितनों को विष में अमृत की भावना होती है तो उनको विष भी अमृतरूप हो भासता है। इसी प्रकार कटु, अम्ल और लवण भी भावना के अनुसार भासते हैं। जैसा मन में निश्चय होता है तैसे ही भासता है। मनरूपी बाजीगर जैसी रचना चाहता है तैसी ही रच लेता है और मन का रचा जगत् सत्य नहीं और असत्य भी नहीं। प्रत्यक्ष देखने से सत्य है असत्य नहीं, और नष्टभाव से असत्य है सत्य नहीं, और सत्य-असत्य भी मन से भासता है, वास्तव में कुछ नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे मनोमाहात्म्यवर्णनन्नामाष्टषष्टितमस्सर्गः ॥ ६८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार प्रथम ब्रह्माजी ने जो मुझसे कहा था वह मैंने अब तुमसे कहा है। प्रथम ब्रह्म जो अहंशब्द पद में स्थित था उसमें चित्त हुआ अर्थात् अहं अस्मि चेतनता का लक्षण हुआ और उसकी जब दृढ़ता हुई तब मन हुआ; उस मन ने पञ्चतन्मात्रा की कल्पना की वह तेजाकार ब्रह्मा परमेष्ठी कहाता है। हे रामजी! वह ब्रह्माजी मनरूप हैं और मन ही ब्रह्मारूप है। उसका रूप संकल्प है जैसा संकल्प करता है तैसा ही होता है। उस ब्रह्मा ने एक अविद्याशक्ति कल्पी है। अनात्मा में आत्माभिमान करने का नाम अविद्या है। फिर अविद्या की निवृत्ति विद्या कल्पी। इसी प्रकार पहाड़, तृण, जल, समुद्र, स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न किया। इस प्रकार ब्रह्मा हुआ और इस प्रकार जगत् हुआ। तुमने जो कहा कि जगत् कैसे उपजता है और कैसे मिटता है सो सुनो। जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजते हैं और समुद्र ही में लीन होते हैं तैसे ही सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म में उपजता है और ब्रह्म ही में लीन होता है। हे रामजी! शुद्ध आत्मसत्ता में जो अहं का उल्लेख हुआ है सो मन है और वही ब्रह्मा है; उसी ने नाना प्रकार का

जो जगत् रचा है वही सर्वचित्त शक्ति फैली है और चित्त के फुरने ही से नानात्व भासता है। हे रामजी! जो कुछ जीव हैं उन सबमें आत्म-सत्ता स्थित है, परन्तु अपने स्वरूप के प्रमाद से भटकते हैं। जैसे वायु से वन के कुञ्जों में सूखे पात भटकते हैं तैसे ही कर्मरूपी वायु से जीव भटकते हैं और अधः और ऊर्ध्व में घटीयन्त्र की नाईं अनेक जन्म धरते हैं। जब काकतालीवत् सत्सङ्ग की प्राप्ति हो और अपना पुरुषार्थ करे तब मुक्त हो। इसकी जब तक प्राप्ति नहीं होती तब तक कर्मरूपी रस्सी से बाँधे हुए अनेक जन्म भटकते हैं और जब ज्ञान की प्राप्ति होगी तभी दृश्यभ्रम से छूटेंगे अन्यथा न छूटेंगे। हे रामजी! इस प्रकार ब्रह्म से जीव उपजते और मिटते हैं। अनन्त सङ्कटों की कारण वासना ही है जो नाना प्रकार के भ्रम दिखाती है और जगत्रूपी मन की जन्मरूपी बैताल बेल वासना जल से बढ़ती है। जब सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो तब उसी कुठार से काटो। जब मन में वासना का क्षोभ मिटे तब शरीररूपी अंकुर मनरूपी बीज से न उपजे जैसे भुने बीज में अंकुर नहीं उपजता तैसे ही वासना से रहित मन शरीर को नहीं धारण करता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे वासनात्यागवर्णनन्नामैकोनसप्ततितमस्सर्गः ॥ ६९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जितनी भूतजाति हैं वह ब्रह्म से उपजी हैं। जैसे समुद्र में जो तरङ्ग और बुद्बुदे कोई बड़े, कोई छोटे और कोई मध्यभाव के होते हैं वे सब जल हैं तैसे ही यह जीव ब्रह्म से उपजे हैं और ब्रह्मरूप हैं। जैसे सूर्य की किरणों में जल भासता है अग्नि से चिनगारे उपजते हैं तैसे ही ब्रह्म से जीव उपजते हैं। जैसे कल्पवृक्ष की मञ्जरी नानारूप धरती है तैसे ही ब्रह्म से जीव हुए हैं। जैसे चन्द्रमा से किरणों का विस्तार होता है और वृक्ष से पत्र, फल और फूल आदिक होते हैं तैसे ही ब्रह्म से जीव होते हैं। जैसे सुवर्ण से अनेक भूषण होते हैं तैसे ही ब्रह्म से जगत् होते हैं। जैसे झरनों से जल के कण उपजते हैं तैसे ही परमात्मा से भूत उपजते हैं। जैसे आकाश एक ही है पर उससे घट-मठ की उपाधि से घटाकाश और मठाकाश कहाता है तैसे ही संवेदन के फुरने से जीवकल्पना होती है। जैसे जल ही द्रवता से तरङ्ग और आवृत्तरूप हो भासता है तैसे ही ब्रह्म ही संवेदन से जगत्रूप हो भासता है। द्रष्टा, दर्शन और दृश्य सब ब्रह्म से ही उपजे हैं। जैसे सूर्य के तेज से मृगतृष्णा की नदी भासती है तैसे संवेदन से ब्रह्म में द्रष्टा, दर्शन, दृश्य-त्रिपुटी भासती है, पर वास्तव में द्रष्टा, दर्शन और दृश्य कोई कल्पना नहीं। जैसे चन्द्रमा और शीतलता में और सूर्य और प्रकाश में कुछ भेद नहीं तैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं। जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजते हैं और समुद्र में ही लीन होते हैं तैसे ही जीव ब्रह्म ही से उपजते हैं और ब्रह्म ही में लीन होते हैं। कोई सहस्र जन्मों के अनन्तर प्राप्त होते और कोई थोड़े ही जन्मों में प्राप्त होते हैं। हे रामजी! इस प्रकार जगत् परमात्मा से हुआ है और उस ही की इच्छानुसार सब व्यवहार करते हैं। वही व्यवहार की नाईं हो भासते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठ उत्पत्तिप्रकरणे सर्वब्रह्मप्रतिपादनन्नाम सप्ततितमस्सर्गः ॥ ७० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! कर्त्ता और कर्म अभिन्नरूप हैं और इकट्ठे ही ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं। जैसे फूल और सुगन्ध वृक्ष से इकट्ठे ही उत्पन्न होते हैं तैसे ही कर्त्ता और कर्म इकट्ठे उत्पन्न हुए हैं। जब जीव सब संकल्प कलना को त्यागता है तब निर्मल ब्रह्म होता है। जैसे आकाश में नीलता भासती है तैसे ही आत्मा में जगत् कल्पना फुरती है, पर आत्मा अद्वैत सदा अपने आप में स्थित है। यह भी अज्ञानी के बोध के लिये कहता हूँ कि जीव ब्रह्म से उपजे हैं। इस प्रकार सात्त्विक, राजस और तामस गुणों के भेद स्थित हैं। जो ज्ञानवान् हैं उनके प्रति यह कहना भी नहीं बनता कि ब्रह्म से सब उपजे हैं; तो भी दूसरा कुछ नहीं, पर दूसरे को अङ्गीकार करके उपदेश करता हूँ। वास्तव में ब्रह्मसत्ता में कोई कल्पना नहीं; वह तो सदा अपने स्वभाव में स्थित है। जो ज्ञानवान् हैं उनको सदा ऐसे ही प्रत्यक्ष भासता है और अज्ञानी दूर से दूर चला जाता है— उसको सुमेरु और मन्दराचल की नाईं आत्मा और जीव का अन्तर भासता है। जैसे वसन्त ऋतु में नाना प्रकार के नूतन अंकुर उपजते हैं और उसके अभाव से नष्ट होते हैं तैसे ही चित्त के फुरने से जीव राशि उपजते हैं

और चित्त के अफुर हुए नष्ट होते हैं। मन और कर्म में कुछ भेद नहीं; मन और कर्म इकट्ठे ही उत्पन्न होते हैं। जैसे वृक्ष से फल और सुगन्ध इकट्ठे उपजते हैं तैसे ही आत्मा से मन और कर्म इकट्ठे ही उपजते हैं और फिर आत्मा में लीन होते हैं। हे रामजी! दैत्य, नाग, मनुष्य, देवता आदिक जो कुछ जीव तुमको भासते हैं वे आत्मा से उपजे हैं और फिर आत्मा ही में लीन होते हैं। इनका उत्पत्ति कारण अज्ञान है; आत्मा के अज्ञान से भटकते हैं और जब आत्मज्ञान उपजता है तब संसारभ्रम निवृत्त हो जाता है। रामजी बोले; हे भगवन्! जो पदार्थ शास्त्रप्रमाण से सिद्ध है वही सत्य है और शास्त्रप्रमाण वही है जिसमें राग-द्वेष से रहित निर्णय है और अमानित्व अदम्भित्व आदिक गुण प्रतिपादन किये हैं। उस दृष्टि से जो उपदेश किया है सो ही प्रमाण है और उसके अनुसार जो जीव विचरते हैं सो उत्तम गति को प्राप्त होते हैं और जो शास्त्रप्रमाण से विपरीत बर्तते हैं वह अशुभगति में प्राप्त होते हैं। लोक में भी प्रसिद्ध है कि कर्मों के अनुसार जीव उपजते हैं—जैसा जैसा बीज होता है तैसा ही तैसा उससे अंकुर उपजता है; तैसे ही जैसा कर्म होता है तैसी गति को जीव प्राप्त होता है। कर्त्ता से कर्म होता है इस कारण यह परस्पर अभिन्न हैं इनका इकट्ठा होना क्योंकर हो? कर्त्ता से कर्म होते हैं और कर्म से गति प्राप्त होती है पर आप कहते हैं कि मन और कर्म ब्रह्म से इकट्ठे ही उत्पन्न हुए हैं इससे तो शास्त्र और लोगों के वचन अप्रमाण होते हैं। हे देवताओं में श्रेष्ठ! इस संशय के दूर करने को तुमही योग्य हो। जैसे सत्य हो तैसे ही कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह प्रश्न तुमने अच्छा किया है इसका उत्तर मैं तुमको देता हूँ जिसके सुनने से तुमको ज्ञान होगा। हे रामजी! शुद्ध संवित्मात्र आत्मतत्त्व में जो संवेदन फुरा है सो ही कर्म का बीज मन हुआ और सो ही सबका कर्मरूप है इसलिये उसी बीज से सब फल होते हैं—कर्म और मन में कुछ भेद नहीं। जैसे सुगन्ध और कमल में कुछ भेद नहीं तैसे ही मन और कर्म में कुछ भेद नहीं। मन में संकल्प होता है उससे कर्म अंकुर ज्ञानवान् कहते हैं। हे रामजी! पूर्व देह मन ही और उस मनरूपी शरीर से कर्म होते हैं। वह फल पर्यन्त सिद्ध होता है। मन में जो स्फूर्त्ति होती है वही क्रिया है और वही कर्म है। उस मन में क्रिया कर्म अवश्य सिद्ध होता है अन्यथा नहीं होता। ऐसा पर्वत और आकाशलोक कोई नहीं जिसको प्राप्त होकर कर्मों से छूटे; जो कुछ मन के संकल्प से किया है वह अवश्यमेव सिद्ध होता है। पूर्व जो पुरुषार्थ प्रयत्न कुछ किया है वह निष्फल नहीं होता, अवश्यमेव उसकी प्राप्ति होती है। हे रामजी! ब्रह्म में जो चैत्यता हुई है वही मन है और कर्मरूप है और सब लोकों का बीज है कुछ भिन्न नहीं। हे रामजी! जब कोई देश से देशान्तर जाने लगता है तब जाने का संकल्प ही उसे ले जाता है; वह चलना कर्म है इससे स्फूर्तिरूप कर्म हुआ और स्फूर्तिरूप मन का भी है इससे मन और कर्म में कुछ भेद नहीं। अक्षोभ समुद्ररूपी ब्रह्म है इसमें द्रवतारूपी चैत्यता है। वह चैत्यता जीवरूप है और उसही का नाम मन है। मन कर्मरूप है इसलिये जैसे मन फुरता है और जो कुछ मन से कार्य करता है वही सिद्ध होता है, शरीर से चेष्टा नहीं सिद्ध होती। इस कारण कहा है कि मन और कर्म में कुछ भेद नहीं पर भिन्न भिन्न जो भासता है सो मिथ्या कल्पना है। मिथ्या कल्पना मूर्ख करते हैं बुद्धिमान् नहीं करते जैसे समुद्र और तरङ्गों में भेद मूर्ख मानते हैं, बुद्धिमान् को भेद कुछ नहीं भासता। प्रथम परमात्मा से मन और कर्म इकट्ठे ही उपजे हैं। जैसे समुद्र में द्रवता से तरङ्ग उपजते हैं तैसे ही चित्त फुरने से आत्मा से कर्म उपजते हैं। जैसे तरङ्ग समुद्र में लीन होते हैं तैसे ही मन और कर्म परमात्मा में लीन होते हैं। जैसे जो पदार्थ दर्पण के निकट होता है उसी का प्रतिबिम्ब भासता है तैसे ही जो कुछ मन का कर्म होता है सो आत्मारूपी दर्पण में प्रतिबिम्ब भासता है। जैसे बरफ का रूप शीतल है—शीतलता बिना बरफ नहीं होती तैसे ही चित्त कर्म है—कर्मों बिना चित्त नहीं होता। जब चित्त से स्पन्दता मिट जाती है तब चित्त भी नष्ट हो जाता है चित्त के नष्ट हुए कर्म भी नष्ट हो जाते हैं और कर्म के नाश हुए मन का नाश होता है। जो पुरुष मन से मुक्त हुआ है वही मुक्त है और जो मन से मुक्त नहीं हुआ वही बन्धन में है। एक के नाश हुए दोनों का नाश होता है। जैसे अग्नि के नाश

हुए उष्णता भी नष्ट होती है और जब उष्णता नष्ट होती है तब अग्नि भी नष्ट होता है तैसे ही मन के नष्ट हुए कर्म भी नष्ट होते हैं और कर्म का नाश होने से मन भी नष्ट होता है। एक के अभाव से दोनों का अभाव होता है। कर्मरूपी चित्त है और चित्तरूपी कर्म है इससे परस्पर अभेदरूप हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे कर्मपौरुषयो रैक्यप्रतिपादनं नामैकसप्ततितमस्सर्गः ॥ ७१ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मन भावनामात्र है। भावना फुरने का नाम है और फुरना क्रियारूप है। उस फुरना क्रिया से सर्वफल की प्राप्ति होती है। रामजी बोले, हे ब्राह्मण! इस मन का रूप जो जड़-अजड़ है वह विस्तारपूर्वक कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! आत्मतत्त्व अनन्तरूप और सर्वशक्तिमान् है। जब उसमें संकल्पशक्ति फुरती है तब उसको मन कहते हैं, जड़-अजड़ के मध्य में जो डोलायमान होता है उस मिश्रितरूप का नाम मन है। हे रामजी! भावरूप जो पदार्थ हैं उनके मध्य में जो सत्य असत्य का निश्चय करता है उसका नाम मन है। उसमें जो यह निश्चय देह से मिलकर फुरता है कि मैं चिदानन्दरूप नहीं, कृपण हूँ सो मन का रूप है। कल्पना से रहित मन नहीं होता। जैसे गुणों विना गुणी नहीं रहता तैसे ही कर्मकल्पना विना मन नहीं रहता। जैसे उष्णता की सत्ता अग्नि से भिन्न नहीं होती तैसे ही कर्मों की सत्ता मन से भिन्न नहीं होती और मन और आत्मा में कुछ भेद नहीं। हे रामजी! मनरूपी बीज से संकल्परूपी नाना प्रकार के फूल होते हैं; उनमें नाना प्रकार के शरीरों से संपूर्ण जगत् देखता है और जैसी २ मन में वासना होती है उसके अनुसार फल की प्राप्ति होती है। इससे मन का फुरना ही कर्मों का बीज है और उससे जो भिन्न क्रिया होती हैं सो उस वृक्ष की शाखा और नाना प्रकार के विचित्र कर्म फल हैं। हे रामजी! जिस ओर मन का निश्चय होता है उसी ओर इन्द्रियाँ भी प्रवर्तित होती हैं और जो कर्म है वही मन का फुरना है और मन ही स्फूर्त्तिरूप है। इसी कारण कहा है कि मन कर्मरूप है। उस मन की इतनी संज्ञा कही हैं मन, बुद्धि, अहंकार, कर्मकल्पना, स्मृति, वासना, अविद्या, प्रकृति, माया इत्यादिक। कल्पना ही संसार के कारण हैं, चित्तको जब चैत्य का संयोग होता है तब संसारभ्रम होता है और ये जितनी संज्ञा तुमसे कही हैं सो चित्त के फुरने से काकतालीयवत् अकस्मात् फुरी हैं। रामजी बोले, हे भगवन्! अद्वैत तत्त्व परमसंवित् आकाश में इतनी कलना कैसे हुई और उनमें अर्थरूप दृढ़ता कैसे हुई? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! शुद्ध संवित्मात्र सत्ता फुरने की नाईं जो स्थित हुई उसका नाम मन है। जब वह वृत्ति निश्चयरूप हुई तो भाव अभाव पदार्थों को निश्चय करने लगी कि यह पदार्थ ऐसा है; यह पदार्थ ऐसा है—उस वृत्ति का नाम बुद्धि है। जब अनात्मा में आत्मभाव परिच्छिन्नरूप मिथ्या अभिमान दृढ़ हुआ तब उसका रूप अहंकार हुआ। वही मिथ्या अहंवृत्ति संसारबन्धन का कारण है; किसी पदार्थ को धावती करती है और किसी को त्याग करती है और बालक की नाईं विचार से रहित ग्रहणा है उसका नाम चित्त है। वृत्ति का धर्म फुरना है उस फुरने में फल को आरोप करके उसकी ओर धावना और कर्त्तव्य का अभिमान फुरना कर्म है। पूर्व जो कार्य किये हैं उनको त्याग उनका संस्कार चित्त में धरकर स्मरण करने का नाम स्मृति है अथवा पूर्व जिसका अनुभव नहीं हुआ और हृदय में फुरे कि पूर्व मैंने यह किया था इसका नाम भी स्मृति है। जिस पदार्थ का अनुभव हो और जिसका संस्कार हृदय में दृढ़ होवे उसके अनुसार जो चित्त फुरे उसका नाम वासना है। हे रामजी! आत्मतत्त्व अद्वैत है; उसमें अविद्यमान द्वैत विद्यमान हो भासता है इससे उसका नाम अविद्या है और अपने स्वरूप को भुलाकर अपने नाश के निमित्त स्पन्द चेष्टा करने और शुद्ध आत्मा में विकल्प उठने का नाम मूल अविद्या है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पाँचों इन्द्रियों को दिखानेवाला परमात्मा है और अद्वैततत्त्व आत्मा में जिस दृढ़ जाल को रचा है उस स्पन्दकलना का नाम प्रकृति है और जो असत्य को सत्य और सत्य को असत्य की नाईं दिखाती है वह माया कहाती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का अनुभव करना कर्म है और जिससे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध होते हैं वह कर्त्ता, कार्य, कारण कहाता है। शुद्ध चेतन चैत्य को कलना की नाईं प्राप्त होता है; उस फुरण वृत्ति को विपर्यय कहते हैं।

उससे जब संकल्प जाल उठता है तब उसको जीव कहते हैं; मन भी इसी का नाम है; चित्त भी इसी का नाम है और बन्ध भी इसी का नाम है। हे रामजी! परमार्थ शुद्ध चित्त ही चैत्य के संयोग से और स्वरूप से बरफ की नाईं स्थित हुआ है। रामजी बोले, हे भगवन्! यह मन जड़ है किंवा चेतन है; एक रूप मुझसे कहिये कि मेरे हृदय में स्थित हो? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मन जड़ नहीं और चेतन भी नहीं, जड़ चेतन की गाँठ के मध्यभाव का नाम मन है और संकल्प विकल्प में कल्पित रूप मन है। उस मन से यह जगत् उत्पन्न हुआ है और जड़ और चेतन दोनों भावों में डोलायमान है अर्थात् कभी जड़भाव की ओर आता है और कभी चेतनभाव की ओर आता है। शुद्ध चेतन मात्र में जो फुरना हुआ उसी का नाम मन है और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, जीवादिक अनेक संज्ञा उसी मन की हैं। जैसे एक नट अनेक स्वांगों से अनेक संज्ञा पाता है-जिसका स्वांग धरता है उसी नाम से कहाता है तैसे ही संकल्प से मन अनेक संज्ञा पाता है। जैसे पुरुष विचित्र कर्मों से अनेक संज्ञा पाता है-पाठ से पाठक; और रसोई से रसोइयाँ कहाता है तैसे ही मन अनेक संकल्पों से अनेक संज्ञा पाता है। हे रामजी! ये जो मैंने तुमसे चित्त की अनेक संज्ञा कही हैं उनके अन्य अन्य बहुत प्रकार वादियों ने नाम रक्खे हैं; जैसा जैसा मत है तैसा ही तैसा स्वभाव लेकर मन, बुद्धि और इन्द्रियों को मानते हैं। कोई मन को जड़ मानते हैं, कोई मन से भिन्न मानते हैं और कोई अहंकार को भिन्न मानते हैं वे सब मिथ्या कल्पना हैं। नैयायिक कहते हैं कि सृष्टि तत्त्वों के सूक्ष्म परमाणुओं से उपजती है। जब प्रलय होता है तब स्थूलतत्त्व प्रलय हो जाते हैं और उनके सूक्ष्म परमाणु रहते हैं और फिर उत्पत्तिकाल में वही सूक्ष्म परमाणु दूने तिगुने आदिक होकर स्थूल होते हैं; उनही पाँचों तत्त्वों से सृष्टि होती है। सांख्यमतवाले कहते हैं कि प्रकृति और माया के परिणाम से सृष्टि होती है और चार्वाक पृथ्वी, जल, तेज, वायु चारों तत्त्वों के इकट्ठे होने से सृष्टि उपजती मानते हैं और चारों तत्त्वों के शरीर को पुरुष मानते हैं और कहते हैं कि जब तत्त्व अपने आपसे बिछुर जाते हैं

तब प्रलय होती है। आर्हत और ही प्रकार मानते हैं और बौद्ध और वैशेषिक आदि और और प्रकार से मानते हैं। पञ्चरात्रिक और प्रकार ही मानते हैं, परन्तु सबही का सिद्धान्त एकही ब्रह्म आत्मतत्त्व है। जैसे एकही स्थान के अनेक मार्ग हों तो उन अनेक मार्गों से उसी स्थान को पहुँचता है तैसे ही अनेक मतों का अधिष्ठान आत्मसत्ता है और सबका सिद्धान्त एकही है, उसमें कोई वाद प्रवेश नहीं करता। हे रामजी! जितने मतवाले हैं वे अपने-अपने मत को मानते हैं और दूसरे का अपमान करते हैं। जैसे मार्ग के चलनेवाले अपने-अपने मार्ग की उपमा करते हैं-दूसरे की नहीं करते तैसे ही मन के भिन्न भिन्न रूप से अनेक प्रकार जगत् को कहते हैं। एक मन की अनेक संज्ञा हुई हैं जैसे एक पुरुष को अनेक प्रकार से कहते हैं; स्नान करने से स्नानकर्त्ता; दान करने से दानकर्त्ता; तप करने से तपस्वी इत्यादि क्रिया करके अनेक संज्ञा होती हैं तैसे ही अनेक शक्ति मन की कही हैं। मन ही का नाम जीव; वासना और कर्म है। हे रामजी! चित्त ही के फुरने से सम्पूर्ण जगत् हुआ है और मन ही के फुरने से भासता है। जब वह पुरुष चैत्य के फुरने से रहित होता है तब देखता है तो भी कुछ नहीं देखता। यह प्रसिद्ध जानिये कि जिस पुरुष को इन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इष्ट अनिष्ट में हर्ष शोक देता है उसका नाम जीव है। मन ही से सब सिद्ध होता है और सब अर्थों का कारण मन ही है। जो पुरुष चैत्य से छूटता है वह मुक्तरूप है और जिसको चैत्य का संयोग है वह बन्धन में बँधा है। हे रामजी! जो पुरुष मन को केवल जड़ मानते हैं उनको अत्यन्त जड़ जानो और जो पुरुष मन को केवल चेतन मानते हैं वे भी जड़ हैं। यह मन केवल जड़ नहीं और न केवल चेतन ही है, जो मन का एक ही रूप हो तो सुख दुःख आदिक विचित्रता न हों और जगत् की लीनता भी नहीं! जो केवल चैतन्य ही रूप हो तो जगत् का कारण नहीं हो सकता और जो केवल जड़रूप हो तो भी जगत् का कारण नहीं, क्योंकि केवल जड़ पाषाणरूप होता। जैसे पाषाण से कुछ क्रिया उत्पन्न नहीं होती तैसे ही केवल जड़ मन जगत् का कारण नहीं

होता । मन केवल चैतन्य भी नहीं; केवल चैतन्य तो आत्मा है जिसमें कर्तृत्व आदि कल्पना नहीं होती इससे मन केवल चैतन्य भी नहीं और केवल जड़ भी नहीं। चैतन्य और जड़ का मध्यभाव ही जगत् का कारण है। हे रामजी ! जैसे प्रकाश सब पदार्थों के प्रकाश का कारण है तैसे ही मन सब अर्थों का कारण है । जब तक चित्त है तब तक चैत्य भासता है और जब चित्त अचित्त होता है तब सर्व भूतजात लीन हो जाते हैं। जैसे एक ही जल रस से अनेकरूप हो भासता है तैसे ही एक ही मन अनेक पदार्थ रूप होकर भासता है और अनेक संज्ञा इसकी शास्त्रों के मतवालों ने कल्पी हैं। सबका कारण मन ही है और परम देव परमात्मा की सर्व शक्तियों में से एक शक्ति है। उसी परमात्मा से यह फुरी है और जड़भाव फुरकर फिर उसही में लीन होती है। जैसे मकड़ी अपने मुख से जाला निकाल कर फैलाती है और फिर आपही में लीन कर लेती है तैसे ही परमात्मा से यह जड़भाव उपजता है। हे रामजी ! नित्य शुद्ध और बोधरूप ब्रह्म है; वह जब प्रकृतभाव को प्राप्त होता है तब अविद्या के वश से नाना प्रकार के जगत् को धारता है और उसही के सर्व पर्याय हैं । जीव, मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार इत्यादिक संज्ञा मलीन चित्त की होती हैं। ये संज्ञा भिन्न भिन्न मतवादियों ने कल्पी हैं पर हमको संज्ञा से क्या प्रयोजन है ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे मनःसंज्ञाविचारो नाम
द्विसप्ततितमस्सर्गः ॥ ७२ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! यह सब जगत् आडम्बर मन ही ने रचा है और सब मनरूप है और मन ही कर्मरूप है—यह आपके कहने से मैंने निश्चय किया है, परन्तु इसका अनुभव कैसे हो ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह मन भावनामात्र है । जैसे प्रचण्ड सूर्य की धूप मरुस्थल में जल हो भासती है तैसे ही आत्मा का आभासरूप मन होता है। उस मन से जो कुछ जगत् भासता है वह सब मनरूप है; कहीं मनुष्य; कहीं देवता; कहीं दैत्य; कहीं पक्षी; कहीं गन्धर्व; कहीं नागपुर आदिक जो कुछ रूप भासते हैं वे सबही मन से विस्तार को प्राप्त हुए हैं, पर वे तृण और काष्ठ के तुल्य हैं। उनके विचारने से क्या है ? यह सब मन की रचना है और मन अविचार से सिद्ध है, विचार करने से नष्ट हो जाता है। मन के नष्ट हुए परमात्मा ही शेष रहता है जो सबका साक्षीभूत सर्वपद से अतीत; सर्वव्यापी और सबका आश्रयभूत है। उसके प्रमाद से मन जगत् को रच सकता है इस कारण कहा है कि मन और कर्म एकरूप हैं और शरीरों के कारण हैं। हे रामजी ! जन्म मरण आदिक जो कुछ विकार हैं वे मन से ही भासते हैं और मन अविचार से सिद्ध है विचार किये से लीन हो जाता है। जब मन लीन होता है तब कर्म आदिक भ्रम भी सब नष्ट हो जाते हैं। जो इस भ्रम से छूटा है वही मुक्त है और वह पुरुष फिर जन्म और मरण में नहीं आता, उसका सब भ्रम नष्ट हो जाता है। इतना सुन रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! आपने सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार के जीव कहे हैं और उनका प्रथम कारण सत्य असत्यरूपी मन कहा था, वह मन अशुद्धरूप शुद्ध चिन्मात्र तत्त्व से उपजकर बड़े विस्ताररूपी विचित्र जगत् को कैसे प्राप्त हुआ ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! आकाश तीन हैं एक चिदाकाश; दूसरा चित्ताकाश; और तीसरा भूताकाश। भाव से वे समानरूप हैं और आप अपनी सत्ता है। जो चित्ताकाश से नित्य उपलब्ध रूप और चेतनमात्र सबके भीतर बाहर स्थित है, अनुमाता, बोधरूप और सर्वभूतों में सम व्याप रहा है वह चिदाकाश है। जो सर्वभूतों का कारणरूप है और आप विकल्परूप है और सब जगत् को जिसने बिस्तारा है वह चित्ताकाश कहाता है। दश दिशाओं को विस्तारकर जिसका वपु प्रच्छेद को नहीं प्राप्त होता, शून्यरूप है और पवन आदिक भूतों के आश्रयभूत है वह भूताकाश कहाता है। हे रामजी ! चित्ताकाश और भूताकाश दोनों चिदाकाश से उपजे हैं और सबके कारण हैं। जैसे दिन से सब कार्य होते हैं तैसे ही चित्त से सब पदार्थ प्रकट होते हैं। वह चित्त जड़ भी नहीं, और चैतन्य भी नहीं, आकाश भी उसी से उपजता है। हे रामजी ये तीनों आकाश भी अप्रबोधक के विषय हैं ज्ञानी के विषय नहीं। ज्ञानवान् तीन आकाश अज्ञानी के उपदेश के निमित्त कहते हैं। ज्ञानवान् को एक परब्रह्म पूर्ण सर्व-

कल्पना से रहित भासता है। द्वैत, अद्वैत और शब्द भी उपदेश के निमित्त हैं, प्रबोध का विषय कोई नहीं। हे रामजी! जबतक तुम प्रबोध आत्मा नहीं हुए तबतक मैं तीन आकाश कहता हूँ—वास्तव में कोई कल्पना नहीं। जैसे दावाग्नि लगे से वन जलकर शून्य भासता है तैसे ही ज्ञानाग्नि से जले हुए चित्ताकाश और भूताकाश चिदाकाश में शून्य कल्पना भासते हैं। मलीन चैतन्य जो चैत्यता को प्राप्त होता है इससे यह जगत् भासता है। जैसे इन्द्रजाल की बाजी होती है तैसे ही यह जगत् है। बोधहीन को यह जगत् भासता है। जैसे असम्यक्दर्शी को सीपी में रूपा भासता है तैसे ही अज्ञानी को जगत् भासता है—आत्मतत्त्व नहीं भासता। जब दृश्यभ्रम नष्ट हो जावे तब मुक्तरूप हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे चिदाकाशमाहात्म्यवर्णनन्नाम
त्रिसप्ततितमस्सर्गः ॥ ७३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह जो कुछ उपजा है इसे तुम चित्त से उपजा जानो। यह जैसे उपजा है तैसे उपजा है अब तुम इसकी निवृत्ति के लिये यत्न करके आत्मपद में चित्त लगाओ तब यह जगत्भ्रम नष्ट हो जावेगा। हे रामजी! इस चित्त पर एक चित्ताख्यान जो पूर्व हुआ है उसे सुनो; जैसे मैंने देखा है तैसे ही तुमसे कहता हूँ। एक महाशून्य वन था और उसके किसी कोने में यह आकाश स्थित था उस उजाड़ में मैंने एक ऐसा पुरुष देखा जिसके सहस्र हाथ और सहस्र लोचन थे और चञ्चल और व्याकुल रूप था। उसका बड़ा आकार था और सहस्र भुजाओं से अपने शरीर के मारे आपही कष्टमान हो अनेक योजनों तक भागता चला जाता था। जब दौड़ता दौड़ता थक जाय और अङ्ग चूर्ण हो जायँ तो एक कृष्ण रात्रि की नाईं भयानकरूप कूप में जा पड़े और जब कुछ काल बीते तब वहाँ से भी निकलकर कञ्ज के वन में जापड़े और जब वहाँ कण्टक चुभें तो कष्ट पावे। जैसे पतङ्ग दीपक को सुखरूप जान के उसमें प्रवेश करे और नाश हो तैसे ही वह जहाँ सुखरूप जानके प्रवेश करे वहीं ही कष्ट पावे और फिर उसी वन में जा पड़े। फिर वहाँ से निकलकर आपको अपने ही हाथों से मारे और कष्टमान हो और फिर दौड़ता दौड़ता कूप में जा पड़े। वहाँ से निकल फिर कदली के वन में जावे और उससे निकल कर फिर आपको मारे। जब कदली वन में जावे तब कुछ शान्तिमान् और प्रसन्न हो दौड़े और आपको मारे और कष्टमान होके दूर से दूर जा पड़े। इसी प्रकार वह अपना किया आपही कष्ट भोगे और भटकता फिरे। तब मैंने उसको पकड़ के पूछा कि अरे तू कौन है; यह क्या करता है और किस निमित्त करता है तेरा नाम क्या है और यहाँ क्यों मिथ्या जगत् में मोह को प्राप्त हुआ है? तब उसने मुझसे कहा कि न मैं कुछ हूँ; न यह कुछ है और न मैं कुछ करता हूँ। तू तो मेरा शत्रु है; तेरे देखने से मैं नाश होता हूँ। इस प्रकार कहकर वह अपने अङ्गों को देखने और रुदन करने लगा। एक क्षण में उसका वपु नाश होने लगा और प्रथम उसके शीश, फिर भुजा, फिर वक्षःस्थल और फिर उदर क्रम से गिर पड़े। जैसे स्वप्न से जागे स्वप्न का शरीर नष्ट होता है। तब मैं नीति शक्ति को विचार के आगे गया तो और एक पुरुष इसी भाँति का देखा। वह भी इसी प्रकार आपको आपही प्रहार करे; कष्टमान हो और पूर्वोक्त क्रिया करे। जब उसने मुझको देखा तब प्रसन्न होकर हँसा और मैंने उसको रोकके उसी प्रकार पूछा तो उसने भी मेरे देखते-देखते अपने अङ्गों को त्याग दिया और कष्टवान् और हर्षवान् भी हुआ। फिर मैं आगे गया तो एक और पुरुष देखा वह भी इसी प्रकार करे कि अपने हाथों से आपको मार के बड़े अन्धे कुवें में जा पड़े। चिरकालपर्यन्त मैं उसको देखता रहा और जब वह कूप से निकला तब मैंने उस पर प्रसन्न होकर जैसे दूसरे से पूछा था पूछा, पर वह मूर्ख मुझको न जानके दूर से त्याग गया और जो कुछ अपना व्यवहार था उसमें जा लगा। इसके अनन्तर चिरकाल पर्यन्त मैं उस वन में विचरता रहा तो उसी प्रकार मैंने फिर एक पुरुष देखा कि वह आपही आपको नाश करता था। निदान जिसको मैं पूछूँ और जो मेरे पास आवे उसको मैं कष्ट से छुड़ा दूँ और आनन्द को प्राप्त करूँ और जो मेरे निकट ही न आवे और मुझको त्याग जावे तो उस वन में उसका वही हाल हो और वही व्यवहार करे। हे रामजी! यह वन तुमने भी देखा है परन्तु तुमने वह व्यवहार नहीं किया और

उस अटवी में जाने योग्य भी तुम नहीं । तुम बालक हो और वह अटवी महाभयानक है उसमें प्राप्त हुए कष्ट से कष्ट पाता है ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे चित्तोपाख्यानन्नाम
चतुःसप्ततितमस्सर्गः ॥ ७४ ॥

रामजी बोले, हे ब्राह्मण ! वह कौन अटवी है, मैंने कब देखी है और कहाँ है और वे पुरुष अपने नाश के निमित्त क्या उद्यम करते थे सो कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! वह अटवी दूर नहीं और वह पुरुष भी दूर नहीं । यह जो गम्भीर बड़ा आकाररूप संसार है वही शून्य अटवी है और विकारों से पूर्ण है । यह अटवी भी आत्मा से सिद्ध होती है। उसमें जो पुरुष रहते हैं वे सब मन हैं और दुःखरूपी चेष्टा करते हैं। विवेक ज्ञानरूपी मैं उनको पकड़ता था । जो मेरे निकट आते थे वे तो जैसे सूर्य के प्रकाश से सूर्यमुखी कमल खिल आते हैं तैसे मेरे प्रबोध से प्रफुल्लित होकर महामती होते थे और चित्त से उपशम होकर परमपद को प्राप्त होते थे और जो मेरे निकट न आये और अविवेक से मोहे हुए मेरा निरादर करते थे वे मोह और कष्ट ही में रहे । अब उनके अङ्ग; प्रहार; कूप; कञ्ज और केले के वन का उपमान सुनो । हे रामजी ! जो कुछ विषय अभिलाषा हैं वे उस मन के अङ्ग हैं । हाथों से प्रहार करना यह है कि सकाम कर्म करते हैं और उनसे फटे हुए दूर से दूर दौड़ते और मृतक होते हैं । अन्धकूप में गिरना यही विवेक का त्याग करना है। इस प्रकार वह पुरुष आपको आपही प्रहार करते भटकते फिरते हैं और अभिलाषरूपी सहस्र अङ्गों से घिरे हुए मृतक होकर नरकरूपी कूप में पड़ते हैं। जब उस कूप से बाहर निकलते हैं तब पुण्य कर्मों से स्वर्ग में जाते हैं। वही कदली के वन समान है वहाँ कुछ सुख पाते हैं। स्त्री, पुत्र, कलत्र आदिक कुटुम्ब कञ्ज के वन हैं और कञ्ज में कण्टक होते हैं सो पुत्र, धन और लोकों की कामना हैं उनसे कष्ट पाते हैं। जब महा पापकर्म करते हैं तब नरकरूपी अन्धकूप में पड़ते हैं और जब पुण्यकर्म करते हैं तब कदली वन की नाईं स्वर्ग को प्राप्त होते हैं तो कुछ उल्लास को भी प्राप्त होते हैं। हे रामजी ! गृहस्थाश्रम महादुःखरूप कञ्ज वन की नाईं है। ये

मनुष्य ऐसे मूर्ख हैं कि अपने नाश के निमित्त ही दुःखरूप कर्म करते हैं। उनमें जो विहित करके विवेक के निकट आते हैं वे शुभ अशुभ कर्मों के बन्धन से मुक्त होकर परमपद को प्राप्त होते हैं और जो विवेक से हित नहीं करते वे दूर से दूर भटकते हैं। हे रामजी ! जो पुरुष भोग भोगने के निमित्त तप आदिक पुण्यकर्म करते हैं वे उत्तम शरीर धरके स्वर्गसुख भोगते हैं। वे जो मनरूपी पुरुष मुझको देख के कहते थे कि तू हमारा शत्रु है तुझसे हम नष्ट होते हैं और रुदन करते थे वे विषय-भोग त्यागने के निमित्त मूर्ख चित्त मनुष्य कष्ट पाते थे; क्योंकि मूर्खों की प्रीति विषय में होती है और उसके त्यागने से वे कष्टमान होते हैं और विवेक को देख के रुदन करने लगते हैं कि ये अर्द्धप्रबुद्ध हैं। जिनको परमपद की प्राप्ति नहीं हुई वे भोगों को त्यागे से कष्टवान् होते हैं और रुदन करते हैं। जब अर्द्धप्रबोध मूर्खचित्त अभिलाषारूपी अङ्गों से तपायमान हुआ अज्ञान को त्याग करता है और विवेक को प्राप्त होता है तब परम तुष्टिमान हो हँसने लगता है इससे तुम भी विवेक को प्राप्त होकर संसार की वासना को त्यागो तब आनन्दमान होगे। पूर्व के सुभाव और नीच चेष्टा को त्यागकर वह इसलिये हँसता है कि मैं मिथ्या चेष्टा करता था और चिरकाल पर्यन्त मूर्खता से कष्ट पाता रहा। हे रामजी ! जब इस प्रकार विवेक को प्राप्त होकर चित्त परमपद में विश्राम पाता है तब पूर्व की दीन चेष्टा को स्मरण करके हँसता है। हे रामजी ! जब मैं उस मनरूपी पुरुष को रोककर पूछता था और वह अपने अङ्गों को त्यागता जाता था वह भी सुनो । मैं विवेकरूप हूँ। जब मैं उस चित्त-रूपी पुरुष को मिला तब उसके सहस्र हाथ और सहस्र लोचनरूपी अभिलाषाओं का त्याग हुआ और वह अपने प्रहार करने से भी रह गया और जब उस पुरुष का शीश और परिच्छिन्न देह अभिमानी गिर पड़ा तब दुर्वासनारूपी अङ्गों को उसने त्याग दिया । उनको त्यागकर वह आप भी नष्ट हो गया सो अहंकार ने अपनी निर्वाणता को देखा अर्थात् परब्रह्म में लीन हो गया । हे रामजी ! पुरुष को बन्धन का कारण वासना है । जैसे बालक विचार से रहित चञ्चलरूपी चेष्टा करता है

और कष्ट पाता है और जैसे कुसवारी कीट आप ही अपने बैठने की गुफा बनाके फँस मरती है तैसे ही मनुष्य अपनी वासना से आप ही बन्धन में पड़ता है। जैसे मर्कट लकड़ी में हाथ डालके कील को निकालने लगता है और लीला करता है तो उसका हाथ फँस जाता है और कष्ट पाता है तैसे ही अज्ञानी को अपनी चेष्टा ही बन्धन करती है क्योंकि विचार विना करता है। इससे हे रामजी ! तुम चित्त से शास्त्र और सन्तों के गणों में चिर पर्यन्त चलो और जो कुछ अर्थशास्त्र में प्रतिपाद्य है उसकी दृढ़भावना करो। जब अभ्यास से तुम्हारा चित्त स्वस्थ होगा तब तुमको कोई शोक न होगा। हे रामजी ! जब चित्त आत्मपद में स्थित होगा तब राग और द्वेष से चलायमान न होगा और जो कुछ देहादिकों से प्रच्छिन्न अहंकार है सो नष्ट होगा। जैसे सूर्य के उदय होने से बरफ गल जाती है तैसे ही तुच्छ अहंकार नष्ट हो जावेगा और सर्व आत्मा ही भासेगा। हे रामजी ! जब तक आत्मज्ञान नहीं होता तब तक शास्त्रों के अनुसार आनन्दित आचार में विचरे; शास्त्रों के अर्थ में अभ्यास करे और मन को रागद्वेषादिक से मौन करे तब पाने योग्य, अजन्मा शुद्ध और शान्तरूप पद को प्राप्त होता है और सब शोकों से तरके शान्तरूप होता है। हे रामजी ! जब तक आत्मतत्त्व का प्रमाद है तब तक अनेक दुःख प्रवृद्ध होते जाते हैं शान्ति नहीं होती और जब आत्मपद की प्राप्ति होती है तब सब दुःख नष्ट हो जाते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे चित्तोपाख्यानसमाप्तिवर्णनन्नाम
पञ्चसप्ततितमस्सर्गः ॥ ७५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह चित्त परब्रह्म से उपजा है सो आत्मरूप है और आत्मरूप भी नहीं। जैसे समुद्र से तरङ्ग तन्मय और भिन्न होते तैसे ही चित्त है। जो ज्ञानवान् हैं उनको चित्त ब्रह्मरूप ही है कुछ भिन्न नहीं। जैसे जिसको जल का ज्ञान है उसको तरङ्ग भी जलरूप भासते हैं और जो ज्ञान से रहित हैं उनको मन संसारभ्रम का कारण है। जैसे जिसको जल का ज्ञान नहीं उसको भिन्न भिन्न तरङ्ग भासते हैं तैसे ही अज्ञानी को भिन्न भिन्न जगत् भासता है और ज्ञानवान् को केवल ब्रह्मसत्ता ही भासती

है। हे रामजी ! ज्ञानवान् अज्ञानी के उपदेश के निमित्त भेद कल्पते हैं; अपनी दृष्टि में उनको सर्व ब्रह्म ही भासता है। मन आदिक भी जो उसको भासते हैं वे ब्रह्म से भिन्न नहीं अनन्य और शक्तिरूप हैं। उससे अन्य कोई पदार्थ नहीं; सर्वशक्ति परब्रह्म नित्य और सर्व ओर से पूर्ण अविनाशी है और सबही ब्रह्मसत्ता में है सर्व शक्तिमान् आत्मा है। जैसी उसको रुचि है वही शक्ति प्रत्यक्ष होती है और सर्व शक्तिरूप होकर फैला है। जीवों में चैतनशक्ति ज्ञान; वायु में स्पन्दता; पत्थर में जड़ता; जल में द्रवता; अग्नि में तेज; आकाश में शून्यता; स्वर्ग में भाव; काल में नाश; शोक में शोक; मुदिता में आनन्द; वीरों में वीर; सर्ग के उपजाने में उत्पत्ति और कल्प के अन्त में नाशशक्ति आदि जो कुछ भाव अभाव शक्ति है सो सब ब्रह्म ही की है। जैसे फूल, फल, बेल, पत्र, शाखा, वृक्ष विस्तार बीज के अन्दर होता है तैसे ही सब जगत् ब्रह्म में स्थित होता है और जीव, चित्त और मन आदिक भी ब्रह्म ही में स्थित हैं। हे रामजी ! जैसे वसन्त ऋतु में एक ही रस नाना प्रकार के फूल, फल, टहनियों सहित बहुत रूपों को धरता है तैसे ही एक ही आकाश ब्रह्म चैत्यता से जगत्‌रूप हो भासता है और उसमें देशकालादिक कोई विचित्रता नहीं, सम्पूर्ण जगत् वही रूप है। वह ब्रह्मात्मा सर्वज्ञ, नित्य उदित और बृहद्रूप है। हे रामचन्द्र ! उसी की मनन कलना मन कहाती है। जैसे आकाश में आँख से तरवरे और सूर्य की किरणों में जल भासता है तैसे ही आत्मा में मन है। हे रामजी ! ब्रह्म में चित्त मन का रूप है और वह मन ब्रह्म की शक्तिरूप है; इसी कारण ब्रह्म से भिन्न नहीं ब्रह्म ही है--ब्रह्म से भिन्न कल्पना करनी अज्ञानता है। ब्रह्म में मैं ऐसा उत्थान हुआ है इसका नाम मन है और जड़ अजड़रूप मन से जगत् हुआ है। प्रतियोगी और व्यवच्छेदक संख्यारूप सब मन के कल्पे हैं। प्रतियोगी और व्यवच्छेदक संख्या का भेद यह है कि प्रतियोगी विरोधी को कहते हैं; जैसे चेतन का प्रतियोगी जड़ और व्यवच्छेद इसे कहते हैं कि, जैसे घट अविच्छिन्न पट। ऐसे अनेकरूप दृश्य सब मन के कल्पे हैं जैसे जैसे ब्रह्म में इन्द्र ब्राह्मण के पुत्रों की नाईं मन दृढ़ होता है तैसे ही तैसे भासता

है जैसे समुद्र में द्रवता से तरङ्गचक्र हो भासते हैं तैसे ही शुद्ध चिन्मात्र में जीव फुरने से नाना प्रकार का जगत् हो भासता है परन्तु कुछ हुआ नहीं ब्रह्म ही अपने आप में स्थित है। जैसे तरङ्गों के होने और मिटने में जल एक ही रस रहता है तैसे ही जगत् के उपजने और मिटने में ब्रह्म ज्यों का त्यों है। जैसे सूर्य की किरणों में दृढ़ तेज से जल भासता है तैसे ही आत्मतत्त्व में विचित्रता भासती है परन्तु सदा अपने आप में स्थित है। हे रामजी! कारण, कर्म और कर्त्ता; जन्म; मरणादिक जो कुछ भासते हैं सो सब ब्रह्मरूप हैं ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं और आत्मा शुद्धरूप है उसमें न लोभ है; न मोह है और न तृष्णा है क्योंकि अद्वैतरूप और सर्वात्मा है। जैसे सुवर्ण से नाना प्रकार के भूषण हो भासते हैं तैसे ही ब्रह्म से जगत् हो भासता है। जो ज्ञानवान् पुरुष है उसको सदा ऐसे ही भासता है। और जो अज्ञानी है उसको भिन्न भिन्न कल्पना भासती है। जैसे किसी का बान्धव दूर देश से चिरकाल पीछे आवे तो वह देशकाल के व्यवधान से बान्धव को भी अबान्धव जानता है तैसे ही अज्ञान के व्यवधान से जीव अभिन्नरूप आत्मा को भिन्नरूप जानता है। जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा भ्रम से भासता है तैसे ही सत्य असत्यरूप मन आत्मा में भासता है। उस मन ने शब्द-अर्थ-रूप भिन्न भिन्न कल्पना रची हैं पर आत्मतत्त्व सदा अपने आप में स्थित है और उसमें बन्ध मोक्ष कल्पना का अभाव है। इतना सुन रामजी ने पूछा, हे भगवन्! मन में जो निश्चय होता है वही होता है अन्यथा नहीं होता पर मन में जो बन्ध का निश्चय होता है सो बन्ध कैसे सत्य है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! बन्ध की कल्पना मूर्ख करते हैं इससे वह मिथ्या है और जो बन्ध की कल्पना मिथ्या हुई तो बन्ध की अपेक्षा से मोक्ष भी मिथ्या है—वास्तव में न बन्ध है और न मोक्ष है। हे महामते रामजी! अज्ञान से अवस्तु भी वस्तुरूप हो भासती है—जैसे रस्सी में सर्प भासता है पर ज्ञानवान् को अवस्तु सत्य नहीं भासती। जैसे रस्सी के ज्ञान से सर्प नहीं भासता तैसे ही बन्ध-मोक्ष कल्पना मूर्खों को भासती है; ज्ञानवान् को बन्ध-मोक्ष कल्पना कोई नहीं। हे रामजी! आदि परमात्मा से मन उपजा है उसने ही बन्ध और मोक्ष

मोह से कल्पा है और फिर दृश्य प्रपञ्च को रचा है। वह प्रपञ्च कल्पनामात्र है और बालक की कथावत् मूर्खों को रुचता है अर्थात् जो विचार से रहित हैं उनको यह जगत् सत्य भासता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे चित्तचिकित्सावर्णनन्नाम
षट्सप्ततितमस्सर्गः ॥ ७६ ॥

रामजी बोले, हे मुनियों में श्रेष्ठ! बालक की कथा क्या है वह क्रम से कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामचन्द्र! एक मूर्ख बालक ने दाई से कहा कि कोई अपूर्व कथा जो आगे न हुई हो मुझसे कह। तब उसके विनोद निमित्त महाबुद्धिमान् धात्री एक कथा कहने लगी। वह बोली हे पुत्र! सुन; एक बड़ा शून्य नगर था और उसका एक राजा था। उस राजा के शुभ आचारवान् और बड़े सुन्दर तेजवान् तीन पुत्र थे। उनमें से दो तो उपजे न थे और एक गर्भ में ही आया न था। वे तीनों शुभ आचारवान् और शुभ क्रिया कर्त्ता द्रव्य के अर्थ जीतने को चले और शून्य नगर से बाहर जा निर्मार्गरूप नगर में वे निर्बुध और शोकसहित इकट्ठे ऐसे चले जैसे बुध, शुक्र और शनैश्चर। इकट्ठे चलने का दृष्टान्त शुक्र, शनैश्चर और बुध का नहीं है, निर्बुध और शोक का ग्रहणरूप दृष्टान्त है। सरसों के फूलों की नाईं उनके अङ्ग कोमल थे इसलिये वे मार्ग में थक गये और ऊपर से सूर्य की धूप तपने लगी। जैसे ज्येष्ठ-आषाढ़ की धूप से कमल कुम्हिला जाते हैं तैसे ही वे भी कुम्हिला गये और तप्त चरणों से तपने लगे और महाशोक को प्राप्त हुए। चरणों में काम के कण्टक लगे; मुख धूरसे धूसल हो गये और तीनों कष्टवान् हुए। आगे चलकर उन्होंने तीन वृक्ष देखे जिनमें से दो तो उपजे नहीं और तीसरे का बीज भी नहीं बोया गया। उन तीनों ने एक-एक वृक्ष के नीचे आकर विश्राम किया—जैसे स्वर्ग में कल्पवृक्ष के नीचे इन्द्र और श्रम आ बैठें—और उनके फल भक्षण किये; फलों को काट के रस पान किया; उनके फूलों की माला गले में पहिरी और चिरकाल पर्यन्त वहाँ विश्रामकर फिर दूर से दूर चले गये। इतने में मध्याह्न का समय हुआ उससे वे तपायमान हुए। आगे उन्होंने तीन नदियाँ देखीं और

उनके निकट गये जो तरङ्गों से लीलायमान थीं। उनमें से दो में तो कुछ भी जल न था और तीसरी सूखी पड़ी थी। उनमें वे चिरकाल पर्यन्त क्रीड़ा करते रहे—जैसे स्वर्ग की गंगा में ब्रह्मा, विष्णु और रु कलोल करते हैं और जलपान किया। फिर जब दिन अस्त होने लगा तब वहाँ से चले तो एक भविष्यत नगर देखा जो बड़ी ध्वजाओं से सम्पन्न और रत्न मणि और सुवर्ण से जड़ा मानों सुमेरु का शिखर था। उसमें उन्होंने हीरे और माणिकों से जड़ा हुआ एक मन्दिर देखा जो निराकाररूप था। उसमें वे घुस गये तो वहाँ बहुत अंगना देखीं और फिर विचार किया कि रसोई कीजिये और ब्राह्मण को भोजन खवाइये। तब उन्होंने कञ्चन की तीन बटलोइयाँ मँगवाईं जिनमें से दो का करनेवाला तो उपजा नहीं अर्थात् आधार से रहित थीं और तीसरी चूर्णरूप थी। उस चूर्णरूप बटलोई में उन्होंने सोलह सेर रसोई चढ़ाई और ब्रह्मा आदि विदेहरूप और निर्मुख ऋषियों ने भोजन किया। उससे उन्होंने सैकड़ों ब्राह्मणों को भोजन कराय आप भी भोजन किया। इस प्रकार वह राजपुत्र आजतक सुख से स्थित हैं। हे पुत्र! यह रमणीक कथा मैंने तुझको सुनाई है। यदि तू इसको हृदय में धारेगा तो पंडित होगा। हे रामजी! इस प्रकार धात्री ने जब बालक को कथा सुनाई तब बालक के मन में सच प्रतीति हुई। जैसे उस कथा का रूप संकल्प से भिन्न कुछ न था तैसे ही यह जगत् सब संकल्पमात्र है, अज्ञान से हृदय में स्थिर हो रहा है; भ्रम से इसमें आस्था हुई है और बन्ध, मोक्ष भी कल्पनामात्र हैं; संकल्प से भिन्न इसका स्वरूप नहीं। हे रामजी! शुद्ध आत्मा निष्किञ्चनरूप है पर संकल्प के वश से किञ्चनरूप हो भासता है। पृथ्वी, वायु, आकाश, नदियाँ, देश आदिक जो पाञ्चभौतिक सृष्टि हैं सो सब संकल्पमात्र हैं जैसे स्वप्न में नाना प्रकार की सृष्टि भासती है और कुछ नहीं उपजी तैसे ही इस जगत् को जानो। जैसे कल्पित राजपुत्र भविष्यत नगर में स्थित हुए थे और वह रचना संकल्प बालक को स्थिरीभूत हुई थी तैसे ही यह जगत् संकल्पमात्र मन के फुरने से दृढ़ हुआ है। जैसे द्रवता से जो जल में तरङ्ग होते हैं वह जल ही जल हैं तैसे ही आत्मा

ही आत्मा में स्थित है। यह सब जगत् संकल्प से उपजता है और बड़े विस्तार को प्राप्त होता है जैसे दिन होने से सब व्यवहार विस्तार को प्राप्त होते हैं तैसे ही संकल्प से उपजा जगत् विस्तार को प्राप्त होता है और चित्त का विलास है; चित्त के फुरने ही से भासता है। इससे हे रामजी! संकल्परूपी मल को त्याग करके निर्विकल्प आत्मतत्त्व का आश्रय करो। जब उस पद में स्थित होगे तब परम शान्ति की प्राप्ति होगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे बालकाख्यायिकावर्णनन्नाम
सप्तसप्ततितमस्सर्गः ॥ ७७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मूढ़ अज्ञानी पुरुष अपने संकल्प से आप ही मोह को प्राप्त होता है और जो पण्डित है वह मोह को नहीं प्राप्त होता। जैसे मूर्ख बालक अपनी परछाहीं में पिशाच कल्पकर भय पाता है तैसे ही मूर्ख अपनी कल्पना से दुःखी होता है। रामजी बोले; हे भगवन्! ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ! वह संकल्प क्या है और छाया क्या है जो असत्य ही सत्यरूप पिशाच की नाईं दीखती है? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! पाञ्चभौतिक शरीर परछाहीं की नाईं है, क्योंकि अपनी कल्पना से रचा है और अहंकाररूपी पिशाच है। जैसे मिथ्या परछाहीं में पिशाच को देख के मनुष्य भयवान् होता है तैसे ही देह में अहंकार को देखके खेद प्राप्त होता है। हे रामजी! एक परम आत्मा सर्व में स्थित है तब अहंकार कैसे हो? वास्तव में अहंकार कोई नहीं परमात्मा ही अभेदरूप है और उसमें अहंबुद्धि भ्रम से भासती है। जैसे मिथ्यादर्शी को मरुस्थल में जल भासता है तैसे ही मिथ्याज्ञान से अहंकार कल्पना होती है। जैसे मणि का प्रकाश मणि पर पड़ता है सो मणि से भिन्न नहीं, मणिरूप ही है; तैसे ही आत्मा में जगत् भासता है सो आत्मा ही में स्थित है। जैसे जल में द्रवता से चक्र और तरङ्ग हो भासते हैं सो जलरूप ही हैं; तैसे ही आत्मा में चित्त से जो नानात्व हो भासता है सो आत्मा से भिन्न नहीं; असम्यक् दर्शन से नानात्व भासता है। इससे असम्यक् दृष्टि को त्याग के आनन्दरूप का आश्रय करो और मोह के आरम्भ को त्याग कर शुद्ध बुद्धि सहित विचारो और विचार से सत्य ग्रहण

करो; असत्य का त्याग करो। हे रामजी ! तुम मोह का माहात्म्य देखो कि स्थूलरूप देह जो नाशवन्त है उसके रखने का उपाय करता है वह रहता नहीं और जिस मनरूपी शरीर के नाश हुए कल्याण होता है उसको पुष्ट करता है। हे रामजी ! सब मोह के आरम्भ मिथ्या भ्रम से दृढ़ हुए हैं, अनन्त आत्मतत्त्व में कोई कल्पना नहीं; कौन किसको कहे। जो कुछ नानात्व भासता है वह है नहीं और जीव ब्रह्म से अभिन्न है। उस ब्रह्मतत्त्व में किसे बन्ध कहिये और किसे मोक्ष कहिये वास्तव में न कोई बन्ध है न मोक्ष है, क्योंकि आत्मसत्ता अनन्तरूप है हे रामजी ! वास्तव में द्वैतकल्पना कोई नहीं, केवल ब्रह्मसत्ता आप आप में है। जो आत्मतत्त्व अनन्त है वही अज्ञान से अन्य की नाईं भासता है। जब जीव अनात्म में आत्माभिमान करता है तब परिच्छिन्न कल्पना होती है और शरीर को अच्छेदरूप जान के कष्टवान् होता है पर आत्मपद में भेद अभेद विकार कोई नहीं, क्योंकि वह तो नित्य, शुद्ध बोध और अविनाशी पुरुष है। हे रामजी ! आत्मा में न कोई विकार है न बन्धन है और न मोक्ष है, क्योंकि आत्मतत्त्व अनन्तरूप, निर्विकार, अच्छेद, निराकार और अद्वैतरूप है। उसको बन्ध विकार कल्पना कैसे हो ? हे रामजी ! देह के नष्ट हुए आत्मा नष्ट नहीं होता। जैसे चमड़ी में आकाश होता है तो वह चमड़ी के नाश हुए नष्ट नहीं होता तैसे ही देह के नाश हुए आत्मा नष्ट नहीं होता। जैसे फूल के नाश हुए गन्ध आकाश में लीन होती है; जैसे कमल पर बरफ पड़ता है तो कमल नष्ट हो जाता है भ्रमर नष्ट नहीं होता और जैसे मेघ के नाश हुए पवन का नाश नहीं होता; तैसे ही देह के नाश हुए आत्मा का नाश नहीं होता। हे रामजी ! सबका शरीर मन है और वह आत्मा की शक्ति है उसमें यह शरीर आदिक जगत् रचा है। उस मन का ज्ञान विना नाश नहीं होता तो फिर शरीर आदि के नष्ट हुए आत्मा का नाश कैसे हो ! हे रामजी ! शरीर के नष्ट हुए तुम्हारा नाश नहीं होगा, तुम क्यों मिथ्या शोकवान् होते हो ? तुम तो नित्य, शुद्ध और शान्तरूप आत्मा हो। हे रामजी ! जैसे मेघ के क्षीण हुए पवन क्षीण नहीं होता और कमलों

के सूखे से भ्रमर नष्ट नहीं होता तैसे ही देह के नष्ट हुए आत्मा नहीं नष्ट होता। संसार में क्रीड़ाकर्त्ता जो मन है उसका संसार में नाश नहीं होता तो आत्मा का नाश कैसे हो ? जैसे घट के नाश हुए घटाकाश का नाश नहीं होता। हे रामजी ! जैसे जल के कुण्ड में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है और उस कुण्ड के नाश हुए प्रतिबिम्ब का नाश नहीं होता; यदि उस जल को और ठौर ले जायँ तो प्रतिबिम्ब भी चलता भासता है तैसे ही देह में जो आत्मा स्थित है सो देह के चलने से चलता भासता है। जैसे घट के फूटे से घटाकाश महाकाश में स्थित होता है तैसे ही देह के नाश हुए आत्मा निरामयपद में स्थित होता है। हे रामजी ! सब जीवों का देह मनरूपी है। जब वह मृतक होता है तब कुछ काल पर्यन्त देश-काल और पदार्थ का अभाव हो जाता है और इसके अनन्तर फिर पदार्थ भासते हैं; उस मूर्च्छा का नाम मृतक है। आत्मा का नाश तो नहीं होता चित्त की मूर्च्छा से देश, काल और पदार्थों के अभाव होने का नाम मृतक है। हे रामजी ! संसार भ्रम के रचनेवाला जो मन है उसका ज्ञानरूपी अग्नि से नाश होता है; आत्मसत्ता का नाश कैसे हो ? हे रामजी ! देश, काल और वस्तु से मन का निश्चय विपर्ययभाव को प्राप्त होता है; चाहे अनेक यत्न करे परन्तु ज्ञान विना नष्ट नहीं होता। हे रामजी ! कल्पितरूप जन्म का नाश नहीं होता तो जगत् के पदार्थों से आत्मसत्ता का नाश कैसे हो ? इसलिये शोक किसी का न करना। हे महाबाहो ! तुम तो नित्यशुद्ध अविनाशी पुरुष हो। यह जो संकल्प-वासना से तुम में जन्म मरण आदिक भासते हैं सो भ्रममात्र हैं। इससे इस वासना को त्याग के तुम शुद्ध चिदाकाश में स्थित हो जाओ। जैसे गरुड़ पक्षी अण्डा त्याग के आकाश को उड़ता है तैसे ही वासना को त्याग करके तुम चिदाकाश में स्थित हो जाओ। हे रामजी ! शुद्ध आत्मा में जो मनन फुरता है वही मन है; वह मनन शक्ति इष्ट अनिष्ट से बन्धन का कारण है और वह मन मिथ्या भ्रान्ति से उदय हुआ है। जैसे स्वप्न दृष्टा भ्रान्तिमात्र होता है तैसे ही जाग्रत् सृष्टि भ्रान्तिमात्र है। हे रामजी ! यह जगत् अविद्या से बन्धनमय और दुःख का कारण

है और उस अविद्या को तरना कठिन है। अविचार से अविद्या सिद्ध है; विचार किये से नष्ट होती है। उसी अविद्या ने जगत् विस्तारा है। यह जगत् बरफ़ की दीवार है। जब ज्ञानरूपी अग्नि का तेज होगा तब निवृत्त हो जावेगी। हे रामजी! यह जगत् आकाशरूप है, अविद्या भ्रान्ति दृष्टि से आकार हो भासता है और असत्य अविद्या से बड़े विस्तार को प्राप्त होता है। यह दीर्घ स्वप्न है; विचार किये से निवृत्त हो जाता है। हे रामजी! यह जगत् भावना मात्र है; वास्तव में कुछ उपजा नहीं। जैसे आकाश में भ्रान्ति से मोर के पुच्छ की नाईं तरवरे भासते हैं तैसे ही भ्रान्ति से जगत् भासता है। जैसे बरफ़ की शिला तप्त करने से लीन हो जाती है तैसे ही आत्मविचार से जगत् लीन हो जाता है। हे रामजी! यह जगत् अविद्या से बँधा है सो अनर्थ का कारण है। जैसे जैसे चित्त फुरता है तैसे ही तैसे हो भासता है। जैसे इन्द्रजाली सुवर्ण की वर्षा आदिक माया रचता है तैसे ही चित्त जैसा फुरता है तैसा ही हो भासता है। आत्मा के प्रमाद से जो कुछ चेष्टा मन करता है वह अपने ही नाश के कारण होती है। जैसे घुरान अर्थात् कुसवारी की चेष्टा अपने ही बन्धन का कारण होती है तैसे ही मन की चेष्टा अपने नाश के निमित्त होती है और जैसे नटवा अपनी क्रिया से नाना प्रकार के रूप धारता है तैसे ही मन अपने संकल्प को विकल्प करके नाना प्रकार के भावरूपों को धारता है। जब चित्त अपने संकल्प विकल्प को त्यागकर आत्मा की ओर देखता है तब चित्त नष्ट हो जाता है और जब तक आत्मा की ओर नहीं देखता तब तक जगत् को फैलाता है सो दुःख का कारण होता है। हे रामजी! संकल्प आवरण को दूर करो तब आत्मतत्त्व प्रकाशेगा। संकल्प विकल्प ही आत्मा में आवरण है। जब दृश्य को त्यागोगे तब आत्मबोध प्रकाशेगा। हे रामजी! मन के नाश में बड़ा आनन्द उदय होता है और मन के उदय हुए बड़ा अनर्थ होता है, इससे मन के नाश करने का यत्न करो। मन के बढ़ाने का यत्न मत करो। हे रामजी! मनरूपी किसान ने जगत्रूपी वन रचा है; उसमें सुखदुःखरूपी वृक्ष हैं और मनरूपी सर्प रहता है। जो विवेक से रहित पुरुष हैं उनको वह भोजन करता है। हे रामजी! यह मन परम दुःख का कारण है; इससे तुम इस मनरूपी शत्रु को वैराग्य और अभ्यासरूपी खड्ग से मारो तब आत्मपद को प्राप्त होगे। इतना कहकर वाल्मीकिजी बोले कि इस प्रकार जब वशिष्ठजी ने कहा तब सायंकाल का समय हुआ और सब श्रोता परस्पर नमस्कार करके अपने अपने स्थान को गये और फिर सूर्य की किरणों के उदय होने पर अपने अपने स्थान पर आ बैठे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे मननिर्वाणोपदेशवर्णनन्नामाष्टसप्ततितमस्सर्गः ॥ ७८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह चित्र भी परमात्मा से उठे हैं। जैसे समुद्र में लीला से जलकणिका होती हैं तैसे ही परमात्मा से मन हुआ है। उस मन ने बड़े विस्तार का जगत् रचा है जो कि छोटे को बड़ा कर लेता है और बड़े को छोटा करता है; जो अपना आप रूप है उसको अन्य की नाईं दिखाता है और जो अन्य रूप है उसको अपना रूप दिखाता है अर्थात् आत्मा को अनात्मभाव प्राप्त करता है और अनात्मा को आत्मभाव प्राप्त करता है। ऐसा भ्रान्तिरूप मन निकट वस्तु को दूर दिखाता और दूर वस्तु को निकट दिखाता है—जैसे स्वप्ने में निकट वस्तु दूर भासती है और दूर वस्तु निकट भासती है। हे रामजी! मन एक निमेष में संसार को उत्पन्न करता और एक निमेष में ही लीन कर लेता है। जो कुछ स्थावर-जङ्गमरूप जगत् भासता है यह सब मन ही से उपजा है और देश, काल, क्रिया और द्रव्य अनेक शक्ति विपर्ययरूप मन ही दिखाता है और अपने फुरने से नाना प्रकार के भाव अभाव को प्राप्त होता है। जैसे नट लीला करके नाना प्रकार के स्वांग रचता और सच को झूठ और झूठ को सच दिखाता है वैसे ही मन में जैसा फुरना दृढ़ होता है वैसे ही भासता है। जैसा जैसा निश्चय चञ्चल मन में होता है उनके अनुसार इन्द्रियाँ भी विचरती हैं। हे रामजी! जो मन से चेष्टा होती है वही सफल होती है, शरीर की चेष्टा मन बिना सफल नहीं होती। जैसे जैसा बेल का बीज होता है वैसा ही उसका फल होता है और प्रकार नहीं होता वैसे ही जो कुछ

मन में निश्चय होता है वही सफल होता है। जैसे बालक मृत्तिका की सेना बनाता है और नाना प्रकार के उसके नाम रखता है वैसे ही मन भी संकल्प से जगत् रच लेता है। जैसे मिट्टी की सेना मिट्टी से भिन्न नहीं वैसे ही आत्मा में जो नाना प्रकार का जगत् कल्पा है वह आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे संकल्प में मन नाना प्रकार अर्थों को कल्पता है वैसे ही जाग्रत् जगत् भी भ्रम से कल्पा है। हे रामजी! एक गोपद में मन अनेक योजन रच लेता है और कल्प का क्षण और क्षण का कल्प रच लेता है। जैसा कुछ मन में तीव्र संवेग होता है वैसा ही होकर भासता है, उसको रचने में विलम्ब नहीं लगता; जो कुछ देशकाल पदार्थ हैं वह मन से उपजे हैं और सबका कारणरूप मन ही है। जैसे पत्र, फूल फल और टहनी वृक्ष से उपजे हैं वे वृक्षरूप हैं; जैसे समुद्र में लहरें होती हैं वे जलरूप हैं और जैसे अग्नि उष्णतारूप है, वैसे ही नाना प्रकार के स्वभाव मन से उपजे दृष्ट आते हैं और सब मनरूप हैं। हे रामजी! कर्त्ता-कर्म-क्रिया; द्रष्टा-दर्शन-दृश्य सब मन ही का फैलाव है। जैसे सुवर्ण से नाना प्रकार के भूषण भासते हैं और जब सुवर्ण का ज्ञान हुआ तब सब भूषण एक सुवर्ण ही भासता है, भूषणभाव नहीं भासता वैसे ही जब तक आत्मा का प्रमाद है तब तक द्वैतरूप जगत् भासता है और जब आत्मज्ञान होता है तब सब भ्रम मिट जाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे चित्तमाहात्म्यवर्णनन्नामैकोनाशीतितमस्सर्गः ॥ ७९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! अब एक वृत्तान्त जो पूर्वकाल में हुआ है तुमको सुनाता हूँ। यह जगत् इन्द्रजालवत् है। जैसे मनरूपी इन्द्रजाल में यह जगत् स्थित है तैसे तुम सुनो। इस पृथ्वी में एक उत्तरपाद नाम देश था, उसमें एक बड़ा वन था और वहाँ नाना प्रकार के वृक्ष, फूल, फल और ताल थे जिन पर मोर आदिक अनेक प्रकार के पक्षी शब्द करते थे। फूलों से सुगन्धें निकलती थीं और विद्याधर, सिद्धगण और देवता आनकर विश्राम करते थे, किन्नर गान करते थे और मन्द मन्द पवन चलता था। निदान उस स्थान में महासुन्दर रचना बनी थी और

स्वर्णवत् महाकल्पवृक्ष लगे थे। उस देश का लवण नाम राजा अति तेजवान् और धर्मात्मा राजा हरिश्चन्द्र के कुल में उपजा। उसका ऐसा तेज हुआ कि शत्रु उसका नाम स्मरण करे तो उसको ताप चढ़ जावे और वह श्रेष्ठ पुरुषों की पालना करे। उस राजा के यश से सम्पूर्ण पृथ्वी पूर्ण हो गई और स्वर्ग में देवता और विद्याधर यश गाते थे। उस राजा में लोभ और कुटिलता न थी और वह बड़ा बुद्धिमान् और उदार था। एक दिन सभा में बड़े ऊँचे सिंहासन पर वह बैठा था और सुन्दर स्त्रियों का नृत्य होता था; अतिसुन्दर बाजे बजते थे और मधुरध्वनि होती थी। राजा के शीश पर चमर झुलता था और मन्त्री और मण्डलेश्वरों की–सेना आगे खड़ी राजा को देशमण्डल की वार्त्ता सुनाती थी। इतिहास आदि की पुस्तकें ढाँप के उठा रक्खी थीं और भाट स्तुति करते थे। केवल दो मुहूर्त्त दिन रह गया था कि उस काल में एक इन्द्रजाली बाजीगर आडम्बर संयुक्त सभा में आया और राजा से कहने लगा, हे राजन्! आप मेरा एक कौतुक देखिये। इतना कहकर उसने अपना पिटारा खोला और उसमें से एक मोर की पूँछ निकालकर घुमाने लगा। उससे राजा को नाना प्रकार की रचना भासने लगी–मानो परमात्मा की माया है और नाना प्रकार के रङ्ग राजा ने देखे। उसी क्षण में किसी मण्डलेश्वर का दूत एक घोड़ा लेकर राजा के निकट आया और बोला, हे राजन्! यह महाबलवान् घोड़ा राजा ने आपको दिया है। जैसे उच्चैःश्रवा इन्द्र का घोड़ा समुद्र मथने से निकला है तैसा ही यह है और इसका पवन के सदृश वेग है। मेरे स्वामी ने कहा है कि जो उत्तम पदार्थ है वह बड़ों को देना चाहिये और यह आपके योग्य है इससे आप इसे ग्रहण कीजिये। तब इन्द्रजाली बोला; हे राजन्! आप इस घोड़े पर आरूढ़ हो; इस पर चढ़कर आप शोभा पावेंगे। इतना सुन राजा घोड़े की ओर देख मूर्च्छित हो गया और भय से मन्त्री भी उसे न जगावें और उसके हाथ पाँव भी कुछ न हिलें। जैसे कीचड़ में कमल अचल होता है तैसे ही राजा अचल हो गया और दो मुहूर्त्त पर्यन्त मूर्च्छित रहा। भाट और कवि जो स्तुति करते थे वे सब चुप हो रहे और मन्त्री और नौकर भय

और संशय के समुद्र में डूब गये और उन्होंने जाना कि राजा के मन में कोई बड़ी चिन्ता उपजी है और सबके सब अति आश्चर्यवान् थे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे इन्द्रजालोपाख्याने
नृपमोहो नामाशीतितमस्सर्गः ॥ ८० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! दो मुहूर्त्त के उपरान्त राजा चैतन्य हुआ और उसका अङ्ग हिलकर सिंहासन से गिरने लगा, तब राजा के मन्त्री और अन्य नौकरों ने उसकी भुजा पकड़ के थाँभा परन्तु राजा की बुद्धि व्याकुल हो गई और बोले कि यह नगर किसका है, यह सभा किसकी है और इसका कौन राजा है? जब इस प्रकार का वचन मन्त्रियों ने सुना तो शान्त हुए और प्रसन्न होकर कहने लगे; हे राजन्! आप क्यों व्याकुल हुए हैं? आपका मन तो निर्मल है और आप उदारात्मा हैं। जिन पुरुषों की प्रीति पदार्थों में होती है और आपात रमणीय भोगों में चित्त है उनका मन मोह से भर जाता है और जो सन्त जन उदार हैं उनका चित्त निर्मल होता है। उनका मन मोह में कैसे पड़े? हे देव! जिनका चित्त भोगों की तृष्णा में बँधा है उनका मन मोह जाता और जो महा-पुरुष सन्त जन हैं उनका मन मोह में नहीं डूबता। जिनका चित्त पूर्ण आत्मतत्त्व में स्थित हुआ है और बड़े गुणों से सम्पन्न हैं उनको शरीर के रहने और नष्ट होने में कुछ मोह नहीं उपजता; और जिनको आत्मतत्त्व का अभ्यास नहीं प्राप्त हुआ है और जो अविवेकी हैं उनका चित्त देश, काल, मंत्र और औषध के वश से मोह को प्राप्त होता है। आपका चित्त तो विवेकभाव को ग्रहण करता है, क्योंकि आप नित्य ही नूतन कथा और शब्द सुनते हो। अब आप कैसे मोह से चलायमान हुए हो? जैसे वायु से पर्वत चलायमान हो वैसे ही आप चलायमान हुए हैं—यह आश्चर्य है! आप अपनी उदारता स्मरण कीजिये। इतना सुनकर राजा सावधान हुआ और उसके मुख की कान्ति उज्ज्वल हुई—जैसे शरत्काल की सूखी हुई मञ्जरी वसन्त ऋतु में प्रफुल्लित होती है तैसे ही, राजा नेत्रों को खोलकर देखने लगा और जैसे सूर्य राहु की ओर और सर्प नेवले की ओर देखता है तैसे ही इन्द्रजाली की ओर देखकर बोला, हे दुष्ट इन्द्रजाली! तूने यह क्या कर्म किया? राजा से भी कोई ऐसा कर्म करता है? जैसे जल बिना मछली कष्ट पाके फिर जल में प्रसन्न हो तैसे ही मैं हुआ हूँ। बड़ा आश्चर्य है परमात्मा की अनन्त शक्ति हैं और अनेक प्रकार के पदार्थ फुरते हैं। मैंने दो मुहूर्त्त में क्याही भ्रम देखा। मेरा मन सदा ज्ञान के अभ्यास में था सो तो मोह गया तो प्राकृत जीवों का क्या कहना है? मैंने बड़ा आश्चर्य भ्रम देखा है! यह इन्द्रजाली मानो सम्बर दैत्य है कि उसने दो मुहूर्त्त में मुझको अनेक देश, काल और पदार्थ दिखाये। जैसे ब्रह्मा एक मुहूर्त्त में नाना प्रकार के पदार्थ रच लेवें वैसे ही एक मुहूर्त्त में इसने मुझको अनेक भ्रम दिखाये हैं। मैं वह सब तुम्हारे आगे कहता हूँ—मानों सारी सृष्टि इसके पिटारे में है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे राजप्रबोधोनाम
एकाशीतितमस्सर्गः ॥ ८१ ॥

राजा बोला; हे साधो! मैं इस पृथ्वी का राजा हूँ और सब पृथ्वी में मेरी आज्ञा चलती है और मैं इन्द्र की नाईं सिंहासन पर बैठता हूँ जैसे स्वर्ग में इन्द्र के आगे देवता होते हैं तैसे ही मेरे आगे भृत्य और मन्त्री हैं। ऐसी उदारता से मैं सम्पन्न हूँ पर मैंने बड़ा भ्रम देखा। हे साधो! जब इस इन्द्रजाली ने पिटारे से मोर की पूँछ निकाल कर घुमाई तो वह मुझको सूर्य की किरणों की नाईं भासी और जैसे बड़ा मेघ गरज के शान्त हो जाता है और पीछे इन्द्रधनुष दीखता है तैसे ही वह विचित्र पूँछ मुझको दीखी। फिर एक दूत घोड़ा लेकर आया उस पर मैं आरूढ़ हुआ और वह चित्त ही से मुझको दूर से दूर ले गया। जैसे भोगों की वासना से मूर्ख घर ही बैठे दूर से दूर भटकते फिरते हैं तैसे ही मुझको वह घोड़ा दूर से दूर ले गया। फिर वह मुझे एक महाभयानक निर्जन देश में ले गया जो प्रलयकाल के जले हुए स्थानों के समान था। वहाँ मानों दूसरा आकाश था और सात समुद्र थे और उनके समान एक आठवाँ समुद्र था। चारों दिशा के जो चार समुद्र वर्णन किये हैं उनके समान वह मानों पाँचवाँ समुद्र था निदान वह मुझे महाभयानक स्थानों और देशों को लाँघकर एक महावन में ले आया। जैसे ज्ञानी

का चित्त आकाशवत् होता है और जैसे अज्ञानी का चित्त कठोर और शून्य होता है वैसे ही स्थान में मुझे ले गया; जहाँ घास, वृक्ष, जीव, मनुष्य कोई भी दृष्टि न आता था वहाँ मैं महाकष्ट और दीनता को प्राप्त हुआ। जैसे धन और बान्धवों से और देश और बल से रहित पुरुष कष्ट पाता है वैसे ही मैं कष्टवान् हुआ। तब दिन का अन्त हो गया और वहाँ उजाड़ में कष्ट से मैंने रात बिताई और पृथ्वी पर सोया परन्तु निद्रा न आई और दुःख से कल्पसमान रात्रि हो गई। जब सूर्य उदय हुआ तब मैं वहाँ से चला और आगे गया तो पक्षियों का शब्द सुना और वृक्ष देखे परन्तु खाने पीने को कुछ न पाया। उन वृक्षों को देखके मैं प्रसन्न हुआ—जैसे मृत्यु से छुटा पुरुष रोग से भी प्रसन्न हो—और एक जामुन के वृक्ष के नीचे बैठ गया—जैसे मार्कण्डेय ऋषि ने प्रलय के समुद्र में भ्रमकर वट का आश्रय लिया था। तब वह घोड़ा मुझको छोड़ के चला गया और सूर्य अस्त हुआ तो मैंने वहाँ रात्रि बिताई परन्तु न कुछ भोजन किया और न जलपान किया और न स्नान ही किया। इससे मैं महादीन हुआ। जैसे कोई बिका मनुष्य दीन हो जाता है और जैसे अन्धकूप में गिरा मनुष्य कष्टवान् होता है तैसे ही मैं कष्टवान् हुआ और कल्प के समान रात्रि बीती। जब वहाँ अन्नपानी कुछ दृष्टि न आया तब मैं आगे गया जहाँ पक्षी शब्द करते थे। उस समय आधा पहर दिन रह गया था तब एक कन्या मुझे दिखाई दी जो अपने हाथ में मृत्तिका की एक मटकी में पके हुए चावल और जांबू के रस का भरा हुआ पात्र लिये जाती थी। मैं उसके सन्मुख आया—जैसे रात्रि के सन्मुख चन्द्रमा आता है और कहा कि हे बाले! मुझको भोजन दे, मैं क्षुधा से आतुर हूँ! जो कोई दीन आर्त्त को अन्न देता है वह बड़ी सम्पदा पाता है। हे साधो! जब मैंने बारम्बार कहा तब उसने कहा तुम तो कोई राजा भासते हो कि नाना प्रकार के भूषण वस्त्र पहिने हुए हो, मैं तुमको भोजन न दूँगी। ऐसे कह के वह आगे चली और मैं भी उसके पीछे जैसे छाया जावे तैसे चला। मैं कहता जाता था कि हे बाले! मुझे भोजन दे कि मेरी क्षुधा शान्त हो और वह कहती, हे राजन्! हम नीच लोग हैं अपने प्रयोजन विना किसी को भोजन नहीं देते; जो तुम मेरे भर्त्ता होवो तो मैं तुमको यह अन्न जो अपने पिता के निमित्त लेचली हूँ दूँ। मेरा पिता मशान में वैताल की नाईं अवधूत हो बैठा है और धूर से अङ्ग भरे हैं, जो तुम मेरे भर्त्ता बनो तो मैं देती हूँ, क्योंकि भर्त्ता प्राणों से भी प्यारा होता है पिता से क्षमा करा लूँगी। मैंने कहा अच्छा मैं तुमसे विवाह करूँगा पर मुझे भोजन दे। हे साधो! ऐसा कौन है जो ऐसी आपदा में अपने वर्णाश्रम के धर्म को दृढ़ रक्खे! उसने मुझको आधा भोजन और आधा जांबू का रस दिया, उसे भोजन कर मैं कुछ शान्तिमान् हुआ परन्तु मेरा मोह निवृत्त न हुआ। तब उसने मेरे दोनों हाथ पकड़ के मुझको आगे कर लिया और अपने पिता के निकट ले गई—जैसे पापी को यमदूत ले जाते हैं—और कहा, हे पिता! यह मैंने भर्त्ता किया है। उसके पिता ने कहा अच्छा किया और ऐसे कहकर चावल और जांबू के रस का भोजन किया। फिर उसके पिता ने कहा, हे पुत्री! इसको अपने घर लेजा। तब वह मुझको अपने घर ले गई और जब अपने घर के निकट गई तब मैंने देखा कि वहाँ अस्थि, मांस और रुधिर है और कुत्ते, गर्दभ, हस्ति आदिक जीवों की खालें पड़ी हैं। उनको लाँघ कर वह मुझे अपने घर में ले गई—जैसे पापी को नरक में यमदूत ले जाते हैं। वहाँ से एक बगीचा था उसमें जाकर वह अपनी माता के पास मुझे ले गई और कहा, हे माता! यह तेरा जामातृ हुआ है। माता ने कहा अच्छी बात है। निदान उनके घर हमने विश्राम किया और उस चाण्डाली ने मुझको जो भोजन दिया उसको मैंने भोजन किया—मानों अनेक जन्मों के पाप भोगे। फिर विवाह का दिन नियत किया गया और उस दिन मैंने विवाह किया। चाण्डाल हँसते थे और नृत्य करते थे मानों मेरे पाप नृत्य करते थे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे चाण्डालीविवाहवर्णनन्नाम
द्व्यशीतितमस्सर्गः ॥ ८२ ॥

राजा बोले, हे साधो! बहुत क्या कहूँ सात दिन तक विवाह का उत्साह रहा और फिर वहाँ मैं एक बड़ा चाण्डाल हुआ। आठ महीने

वहाँ रहके फिर मैं और स्थानों में रहा। निदान वह चाण्डाली गर्भवती हुई और उससे एक कन्या उत्पन्न हुई जो शीघ्र ही बढ़ गई। तीन वर्ष पीछे एक बालक उत्पन्न हुआ और फिर एक पुत्र और एक कन्या और भी उत्पन्न हुई। इसी प्रकार उसके तीन पुत्र और तीन कन्या उत्पन्न हुईं और मैं एक बड़ा परिवारवान् चाण्डाल हुआ। उस चाण्डाली सहित मैं चिरकाल पर्यन्त चाण्डालों में विचरता रहा और जैसे जाल में पक्षी बँध जाता है तैसे मैं उनमें बन्धवान् हुआ। हे साधो! उनमें मैंने बड़े कष्ट पाये, प्रथम जिस शिर में रेशम का वस्त्र भी चुभता था उस पर मैं भार उठाऊँ; नीचे नंगे चरण जलें और शिरपर सूर्य तपें। रात्रि को मैं काँटों पर सोऊँ; कोई वस्त्र न मिले और जीव जन्तुओं के लोहू से भरे हुए और गीले पुराने कपड़े शिरहाने रक्खूँ। कुक्कुट, हस्ती आदिक अशुचि पदार्थों का भोजन करूँ और उनके रुधिर का पान करूँ। ऐसी मेरी चेष्टा हो गई कि जाल से पक्षी मारूँ; बंसी से मच्छ कच्छ आदिक पकड़ूँ; अनेक प्रकार के क्रूर नीच कर्म करूँ और जैसी कैसी वस्तु मिले उसे भोजन करूँ; निदान ऐसी व्यवस्था हो गई कि अस्थि मांस के निमित्त हम आपस में लड़ें और शीतकाल में शीत से उष्णकाल में उष्णता से कष्टवान् हों। इससे मेरा शरीर बहुत कृश हो गया और अवस्था भी वृद्ध हुई; मशानों में हमारा बहुत काल व्यतीत हुआ और मांस और रक्त पान करते रहे। जो हस्ती आदिक पशु आवें उनको हम मारें--जैसे चण्डिका ने दैत्यों को मारा था और उनकी आँतड़ें और चमड़े तले बिछाके सोवें और शिरहाने रक्खें। ऐसे ही चिरकाल पर्यन्त हम चेष्टा करते रहे और बन्धुओं में बहुत स्नेह बढ़ गया पर वर्षाकाल की नदी की नाईं हमारी तृष्णा बढ़ती जाती थी। जिन मृत्तिका के पात्रों में चाण्डाल भोजन कर जाते थे उन्हीं बासनों में हम भी भोजन करते थे। कालवशात् वर्षा बन्द हो गई और अकाल पड़ा; सूर्य ऐसे तपने लगे मानों द्वादश सूर्य इकट्ठे तपते हैं और दावाग्नि वन में लगी है। वन के जीव अन्न जल के निमित्त कष्ट पाने लगे और अपना देश छोड़ के देशान्तर जाने लगे। निदान महाउपद्रव हुआ; समय विना ही मानों प्रलय आया है तब क्षुधा और तृषा से कितने जीव मृतक हो गये; कितने गिर पड़े और हमको भी बहुत कष्ट हुआ। तब हम तीनों पुत्रों; तीनों कन्याओं और स्त्रीसहित वहाँ से निकले और जहाँ अन्नजल सुनें वहीं जावें। फिर यह भी हाथ न आवे तब हम बहुत शोकवान् हुए और शरीर नीरस सा हो गया। निदान सब ऐसे कष्टवान् हुए कि पुत्र पिता को न सँभाले और पिता पुत्र को न सँभाले; बान्धवों का स्नेह आपस में छूट गया और सब अपने-अपने वास्ते दौड़े।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे इन्द्रजालोपाख्याने उपद्रववर्णनन्नाम त्र्यशीतितमस्सर्गः ॥ ८३ ॥

राजा बोले, हे सभा! इस प्रकार हम चिरकाल तक विचरते फिरे; शरीर बहुत वृद्ध हो गया और बाल बरफ की नाईं श्वेत हो गये। जैसे सूखा पात वायु से विचरता है तैसे ही हम भी कर्मों के वश से भ्रमते रहे। जो कुछ राजा का अभिमान था वह मुझे विस्मरण हो गया और चाण्डालभाव दृढ़ हो गया। सब जीव कष्टवान् होके कलत्र को छोड़ गये और कितने पहाड़ पर चढ़कर दुःख के मारे गिर पड़े। और जैसे चिड़िया को बाज भोजन करता है तैसे ही जनों को भेड़िये भोजन करते थे। एक वृक्ष के नीचे मैंने विश्राम किया तब एक बालक जो सबसे छोटा था मेरे पास आया और बोला, हे पिता! मुझको मांस दे कि मैं भोजन करूँ; नहीं तो मेरे प्राण निकलते हैं। तब मैंने कहा मांस तो नहीं है; उसने कहा कहीं से लादे! छोटा पुत्र सबसे प्यारा होता है इससे मैंने कहा; हे पुत्र! मेरा मांस है वह खाले! तब उस दुर्बुद्धि ने कहा; दे! मैंने वन से लकड़ियाँ इकट्ठी करके अग्नि जलाई और कहा, हे पुत्र! मैं अग्नि में प्रवेश करता हूँ जब परिपक्व हो जाऊँ तब तू भोजन करना। हे सभा! इस प्रकार मैंने स्नेह के वश कहा कि किसी प्रकार यह जीते रहें। ऐसे कहकर मैं चिता में घुस गया और जब मुझको उष्णता लगी तब मैं काँपा और तुमको दृष्ट आया। फिर मैं सावधान हुआ और तुरियाँ बाजने लगीं। हे साधो! इस प्रकार मैंने चरित्र देखा सो तुम्हारे आगे कहा। जैसे मार्कण्डेय ने प्रलय में देखे और देवताओं से कहे तैसे ही मैंने तुमसे अपना वृत्तान्त कहा

है। जब इन्द्रजाली ने पूँछ घुमाई थी तब उसके सामने में घोड़े प आरूढ़ हुआ था और इतने काल प्रत्यक्ष भ्रम देखता रहा। बड़ा आश्च है कि मेरे से विवेकवान् राजा को इसने मोहित किया तो और प्राकृ जीवों की क्या वार्त्ता है। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जब इस प्रका तेजवान् राजा ने कहा तब वह साम्बरीक अन्तर्द्धान हो गया और सभ में जो मन्त्री आदि बैठे थे सब आश्चर्यवान् हुए और परस्पर देखके कहने लगे; बड़ा आश्चर्य है! बड़ा आश्चर्य है! भगवान् की माया विचित्ररू है। यह साम्बरी माया नहीं है, क्योंकि साम्बरी अपने लोभ के निमित तमाशा दिखाता है पीछे यत्न से धन आदिक पदार्थ माँगाता है, प यह लिये विना ही अन्तर्द्धान हो गया। यह ईश्वर की माया है जिससे ऐसा विवेकवान् राजा मोह गया। जो ऐसा बड़ा तेजवान् और शूरमा राजा मोहित हुआ तो सामान्य जीवों की क्या वार्त्ता है ? हे रामजी ! ऐसे संदेहवान् होकर सब स्थित हुए और मैं भी उस सभा में बैठा था। यह वृत्तान्त मैंने प्रत्यक्ष देखा है किसी के मुख से सुनके नहीं कहा। हे रामजी ! यह जो अणुरूप मन है सो महामोह और अविद्या है। इसके फुरने से अनेक प्रकार का मोह दीखता है। जब यह मन उपशम हो तभी कल्याण है। इससे इस मन में जो बहुत कल्पना उठती हैं उनको त्यागकर आत्मपद में स्थित करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे साम्बरोपाख्यानसमाप्ति-
वर्णनन्नाम चतुरशीतितमस्सर्गः ॥ ८४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! आदि जो शुद्ध परमात्मा से चित्त संवेदन फुरा है वह कलनारूप होके स्थित हुआ है; उसी से दृश्य सत्य हो भासता है। आत्मा के प्रमाद से मोह में प्राप्त हुआ है और चित्त के फुरने से चिर पर्यन्त जगत् में मग्न हो रहा है। वह मन असत्यरूप है और उस मन ने ही सम्पूर्ण जगत् विस्तारा है जिससे अनेक दुःखों को प्राप्त हुआ है। जैसे बालक अपनी परछाहीं में बैताल कल्पकर आपही भयवान् होता है। वही मन जब संसार की वासना को त्यागकर आत्मपद में स्थित होता है तब जैसे सूर्य की किरणों से अन्धकार नष्ट हो जाता है वैसे ही एक क्षण में सब

दुःख नष्ट हो जाते हैं। हे रामजी ! ऐसा पदार्थ कोई नहीं जो अभ्यास किये से प्राप्त न हो। इससे जब आत्मपद का अभ्यास कीजियेगा तब वह प्राप्त होगा। आत्मपद के अभ्यास किये से आत्मा निकट भासता है और संसार दूर भासता है। जब जगत् का अभ्यास दृढ़ होता है तब जगत् निकट भासता है और आत्मा दूर भासता है। हे रामजी ! जो मूर्ख मनुष्य है उसको अभयपद में भय होता है। जैसे पथिक को दूर से वृक्ष में बैताल कल्पना होती है और भय पाता है वैसे ही चित्त की वासना से जीव भय पाता है। हे रामजी ! वासना सहित मलीन मन में नाना प्रकार संसार भ्रम उठता है और जब आत्मपद में स्थित होता है तब भ्रम मिट जाता है। जैसा मन में निश्चय होता है तैसा ही हो भासता है; यदि मित्र में शत्रु बुद्धि होती है तो निश्चय करके वह शत्रु हो जाता है और मद से उन्मत्त को सम्पूर्ण पृथ्वी भ्रमती दीखती है और व्याकुल होता है तो चन्द्रमा भी श्याम सा भासता है जो अमृत में विष की भावना होती है तो अमृत भी विष की नाईं भासता है। यह जाग्रत् पदार्थ देश, काल और क्रिया मन से भासते हैं। हे रामजी ! संसार का कारण मोह है; उससे जीव भटकता है। इसलिये ज्ञानरूपी कुल्हाड़े से वासनारूपी मलीनता को काटो; आत्मपद पाने में वासना ही आवरण है। हे रामजी ! वासनारूपी जाल में मनुष्यरूपी हरिण फँसकर संसाररूपी वन में भटकता है। जिस पुरुष ने विचार करके वासना नष्ट की है उसको परमात्मा का प्रकाश भासता है। जैसे बादल से रहित सूर्य प्रकाशित होता है तैसे ही वासना रहित चित्त में आत्मा प्रकाशता है। हे रामजी ! मन ही को तुम मनुष्य जानो, देह को मनुष्य न जानना क्योंकि देह जड़ है और मन जड़ और चेतन से विलक्षण है मन से किया हुआ कार्य सफल होता है। जो मन से दिया और जो मन से लिया है वही दिया और लिया है और जो देह से किया है वह भी मन ने ही किया है। हे रामजी ! यह सम्पूर्ण जगत् मनरूप है। मन ही पर्वत, आकाश, वायु, जल, अग्नि और पृथ्वी है सूर्यादिकों का प्रकाश मन ही से होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध सब मन ही से ग्रहण होते हैं और नाना

प्रकार की वासनाओं से नाना प्रकार के रूप मन ही धरता है जै नटवा नाना प्रकार के स्वाँग धारता है तैसे ही नाना प्रकार के रू मन ही धारता है। लघु पदार्थ को मन ही दीर्घ करता है। सत्य को असत्य की नाईं और असत्य जगत् के पदार्थ को सत्य की नाईं मन ही करता है; और मन ही मित्र को शत्रु और शत्रु को मित्र करता है। हे रामजी! जैसी वृत्ति मन की दृढ़ होती है वही सत्य हो भासती है। हरिश्चन्द्र को एक रात्रि में बारह वर्ष का अनुभव हुआ था और इन्द्र को एक मुहूर्त्त में युगों का अनुभव हुआ था और मन ही के दृढ़ निश्चय से इन्द्र ब्राह्मण के दशों पुत्र ब्रह्मापद को प्राप्त हुए थे। हे रामजी! जो सुख से बैठे हुए को मन में कोई चिन्ता आन लगी तो सुख ही में उसको रौरव नरक हो जाता है और जो दुःख में बैठा है और मन में शान्त है तो दुःख भी सुख होता है। इससे जैसा निश्चय मन में होता है वैसा ही हो भासता है और जिस ओर मन का निश्चय होता है उसी ओर इन्द्रियों का समूह विचरता है। इन्द्रियों का आधारभूत मन है, जो मन टूट पड़ता है तो इन्द्रियाँ भिन्न भिन्न हो जाती हैं। जैसे तागे के टूटे से माला के दाने भिन्न भिन्न हो जाते हैं तैसे ही मन से रहित इन्द्रियाँ अर्थों से रहित भिन्न होती हैं, वास्तव में आत्मतत्त्व सबमें अधिष्ठान स्थित है और स्वच्छ, निर्विकार, सूक्ष्म, समभाव नित्य और सबका साक्षीभूत और सब पदार्थों का ज्ञाता है। वह देह से भी अधिक सूक्ष्मरूप है अर्थात् अहंभाव के उत्थान से रहित चिन्मात्र है, उसमें मन के फुरने से संसार भासता है, वास्तव में द्वैतभ्रम से रहित है। सब जगत् आत्मा का किञ्चिनमय र है और सबमें चैतन शक्ति व्यापी है। वायु में स्पन्द, पृथ्वी में कठोरता, सू और अग्नि आदिक में प्रकाश, जल में द्रवता, और आकाश में शून्यता वही है और सब पदार्थों में वही चैतनशक्ति व्याप रही है। वास्तव उसमें अनेकता नहीं है, मन से भासती है; शुक्ल पदार्थ को कृष्ण और देश, काल, पदार्थ, क्रिया और द्रव्य को मन ही विपर्यय करता है। हे रामजी! जैसे निश्चय मन में दृढ़ होता है वही सिद्ध होता है और मन विना किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता। हे रामजी! जिह्वा नाना प्रकार के भोजन करता है परन्तु मन और ठौर होता है तो उसको कुछ स्वाद नहीं आता और नेत्रों से चित्त सहित देखता है तो रूप का ज्ञान होता है; इस कारण मन विना किसी इन्द्रिय का विषय सिद्ध नहीं होता और अन्धकार और प्रकाश भी मन विना नहीं भासते। हे रामजी! सब पदार्थ मन से भासते हैं। जैसे नेत्रों में प्रकाश नहीं होता तो कुछ नहीं भासता तैसे ही विद्यमान पदार्थ भी मन विना नहीं भासते। हे रामजी! इन्द्रियों से मन नहीं उपजा परन्तु मन से इन्द्रियाँ उपजी हैं और जो कुछ इन्द्रियों का विषय दृश्य जाल है वह सब मन से उपजा है। जिन पुरुषों ने मन वश किया है वही महात्मा पुरुष पण्डित हैं और उनको नमस्कार है। हे रामजी! यदि नाना प्रकार के भूषण और फूल पहिरे हुए स्त्री प्रीति से कण्ठ लगे पर जो चित्त आत्मपद में स्थित है तो वह मृतक के समान है अर्थात् उसको इष्ट अनिष्ट का राग-द्वेष कुछ नहीं उपजता। इष्ट अनिष्ट में राग-द्वेष मन ही उपजाता है; मन के स्थिर हुए राग-द्वेष कुछ नहीं उपजता। हे रामजी! एक बीतराग ब्राह्मण ध्यान स्थित वन में बैठा था और उसके हाथ को कोई वनचर जीव तोड़ ले गया परन्तु उसको कुछ कष्ट न हुआ, क्योंकि मन उसका स्थिर था। यही मन फुरने से सुख को भी दुःख करता है और अपने में स्थिर हुए दुःख को भी सुख करता है। हे रामजी! कथा के सुनने में जो मन किसी और चिन्तवन में जाता है तो कथा के अर्थ समझ में नहीं आते और जो अपने गृह में बैठा है और मन के संकल्प से पहाड़ पर दौड़ता-दौड़ता गिर पड़ता है तो उसको प्रत्यक्ष अनुभव होता है, सो मन का ही भ्रम है। जैसी फुरना मन में फुरती है वही भासती है। जैसे स्वप्न में एक क्षण में नदी, पहाड़, आकाशादिक पदार्थ भासने लगते हैं तैसे ही यह पदार्थ भी भासते हैं। हे रामजी! अपने अन्तःकरण में सृष्टि भी मन के भ्रम से भासती है। जैसे जल के भीतर अनेक तरङ्ग होते हैं और वृक्ष में पत्र, फूल, फल, टास होते हैं तैसे ही एक मन के भीतर जाग्रत, स्वप्न आदिक भ्रम होते हैं। जैसे सुवर्ण से भूषण अन्य नहीं होते तैसे ही जाग्रत् और स्वप्न अवस्था भिन्न नहीं। जैसे तरङ्ग और बुद्बुदे जल से भिन्न नहीं और जैसे नटवा नाना प्रकार के स्वाँगों को लेकर

अनेकरूप धरता है तैसे ही मन वासना से अनेकरूप धारता है। हे रामजी! जैसा स्पन्द में दृढ़ होता है तैसा ही अनुभव होता है। जैसे लवण राजा को भ्रम से चाण्डाली का अनुभव हुआ था तैसे ही यह जगत् का अनुभव मनोमात्र है, चित्त के भ्रम से भासता है। हे रामजी! जैसी-जैसी प्रतिभा मन में होती है तैसा ही तैसा अनुभव होता है और यह सम्पूर्ण जगत् मनोमात्र है। अब जैसे तुम्हारी इच्छा हो वैसे करो। जैसा-जैसा फुरना मन में होता है तैसा-तैसा हो भासता है। मन के फुरने से देवता दैत्य और दैत्य देवता हो जाते हैं और मनुष्य नाग और वृक्ष हो जाते हैं। जैसे लवण राजा ने आपदा का अनुभव किया था। हे रामजी! मन के फुरने से ही मरना और जन्म होता है और संकल्प से ही पुरुष से स्त्री और स्त्री से पुरुष हो जाता है। पिता पुत्र हो जाता है और पुत्र पिता हो जाता है। जैसे नटवा शीघ्र ही अपने स्वाँग से अनेक रूप धरता है तैसे ही अपने संकल्प से मन भी अनेक रूप धरता है। हे रामजी! जीव निराकार है, पर मन से आकार की नाईं भासता है। उस मन में जो मनन है वही मूढ़ता है; उस मूढ़ता से जो वासना हुई है उस वासनारूपी पवन से यह जीवरूपी पत्र भटकता है और संकल्प के वश हुआ सुख-दुःख और भय को प्राप्त होता है। जैसे तेल तिलों में रहता है तैसे ही सुख-दुःख मन में रहते हैं। जैसे तिलों को कोल्हू में पेरने से तेल निकलता है तैसे ही मन को पदार्थों के संयोग से सुख दुःख प्रकट भासते हैं। संकल्प से काल-क्रिया में दृढ़ता होती है और देश काल आदिक भी मन में स्थित होते हैं। जिनका मन फुरता है उनको नाना प्रकार का क्षोभवान् जगत् भासता है। हे रामजी! जिनका मन आत्मपद में स्थित है उनको क्षोभ भी दृष्ट आता है परन्तु मन आत्मपद से चलायमान नहीं होता। जैसे घोड़े का सवार रण में जा पड़ता है तो भी घोड़ा उसके वश रहता है तैसे ही उसका मन जो विस्तार की ओर जाता है तो भी अपने वश ही रहता है। हे रामजी! जब मन की चपलता वैराग से दूर होती है तब मन वश हो जाता है। जैसे बन्धनों से हस्ती वश होता है तैसे ही जिस पुरुष का मन वश होता है

और संसार की ओर से निवृत्त होकर आत्मपद में स्थिर होता है वह श्रेष्ठ महापुरुष कहाता है। जिसका मन संसार की ओर धावता है वह दलदल का कीट है और जिसका मन अचल है और शास्त्र के अर्थरूपी संग और संसार की ओर से निवृत्त होकर एकाग्रभाव में स्थित हुआ है और आत्मपद के ध्यान में लगा हुआ है वह संसार के बन्धन से मुक्त होता है। हे रामजी! जब मन से मनन दूर होता है तब शान्ति प्राप्त होती है—जैसे क्षीरसमुद्र से मन्दराचल निकला तो शान्त हुआ था। जिस पुरुष का मन भोगों की ओर प्रवृत्त होता है वह पुरुष संसाररूपी विष के वृक्ष का बीज होता है। हे रामजी! जिसका चित्त स्वरूप से मूढ़ हुआ है और संसार के भोगों में लगा है वह बड़े कष्ट पाता है। जैसे जल के चक्र में आया तृण क्षोभवान् होता है तैसे ही यह जीव मनभाव को प्राप्त हुआ भ्रम पाता है। इससे तुम इस मन को स्थित करो कि शान्तात्मा हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे चित्तवर्णनन्नाम
पञ्चाशीतितमस्सर्गः ॥ ८५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह चित्तरूपी महाव्याधि है, उसकी निवृत्ति के अर्थ में तुमको एक श्रेष्ठ औषध कहता हूँ वह तुम सुनो कि जिसमें यत्न भी अपना हो, साध्य भी आपही हो और औषध भी आप हो और सब पुरुषार्थ आप ही से सिद्ध होता है। इस यत्न से चित्तरूपी बैताल को नष्ट करो। हे रामजी! जो कुछ पदार्थ तुमको रस संयुक्त दृष्टि आवें उनको त्याग करो। जब वाञ्छित पदार्थों का त्याग करोगे तब मन को जीत लोगे और अचलपद को प्राप्त होगे। जैसे लोहे से लोहा कटता है तैसे ही मनसे मन को काटो और यत्न करके शुभगुणों से चित्तरूपी बैताल को दूर करो। देहादिक अवस्तु में जो वस्तु की भावना है और वस्तु आत्मतत्त्व में जो देहादिक की भावना है उनको त्यागकर आत्मतत्त्व में भावना लगाओ। हे रामजी! जैसे चित्त में पदार्थों की चिन्तना होती है तैसे ही आत्मपद पाने की चिन्तना से सत्यकर्म की शुद्धता लेकर चित्त को यत्न करके चैतन्यसंवित् की ओर लगाओ और सब वासना को त्याग के एकाग्रता करो तब परमपद की प्राप्ति होगी। हे

रामजी! जिन पुरुषों को अपनी इच्छा त्यागनी कठिन है वे विषयों के कीट हैं, क्योंकि अशुभ पदार्थ मूढ़ता से रमणीय भासते हैं उस अशुभ को अशुभ और शुभ को शुभ जानना यही पुरुषार्थ है। हे रामजी! शुभ अशुभ दोनों पहलवान हैं, उन दोनों में जो बली होता है उसकी जय होती है। इससे शीघ्र ही पुरुष प्रयत्न करके अपने चित्त को जीतो। जब तुम अचित्त होगे तब यत्न विना आत्मपद को प्राप्त होगे। जैसे बादलों के अभाव हुए यत्न विना सूर्य भासता है तैसे ही आत्मपद के आगे चित्त का फुरना जो बादलवत् आवरण है उसका जब अभाव होगा तब अयत्नसिद्ध आत्मपद भासेगा सो चित्त के स्थित करने का मन्त्र भी आप से होता है। जिसको अपने चित्त वश करने की भी शक्ति नहीं उसको धिक्कार है वह मनुष्यों में गर्दभ है। अपने पुरुषार्थ से मन का वश करना अपने साथ परम मित्रता करनी है और अपने मन के वश किये विना अपना आपही शत्रु है अर्थात् मन के उपशम किये विना घटीयन्त्र की नाईं संसारचक्र में भटकता है। जिन मनुष्यों ने मन को उपशम किया है उनको परम लाभ हुआ है। हे रामजी! मन के मारने का मन्त्र यही है कि दृश्य की ओर से चित्त को निवृत्त करे और आत्मचेतन संवित् में लगावे, आत्मचिन्तना करके चित्त को मारना सुखरूप है। हे रामजी! इच्छा से मन पुष्ट रहता है। जब भीतर से इच्छा निवृत्त होती है तब मन उपशम होता है और जब मन उपशम होता है तब गुरु और शास्त्रों के उपदेश और मन्त्र आदिकों की अपेक्षा नहीं रहती। हे रामजी! जब पुरुष असंकल्परूपी औषध करके चित्तरूपी रोग काटे तब उस पद को प्राप्त हो जो सर्व और सर्वगत शान्तरूप है। इस देह को निश्चय करके मूढ़ मन ने कल्पा है। इससे पुरुषार्थ करके चित्त को अचित्त करो तब इस बन्धन से छुटोगे। हे रामजी! शुद्ध चित्त आकाश में यत्न करके चित्त को लगाओ। जब चिरकाल पर्यन्त मन का तीव्र संवेग आत्मा की ओर होगा तब चैतन चित्त का भक्षण कर लेगा और जब चित्त का चिन्तत्व निवृत्त हो जावेगा तब केवल चैतन मात्र ही शेष रहेगा। हे रामजी! जब जगत् की भावना से

तुम मुक्त होगे तब तुम्हारी बुद्धि परमार्थतत्त्व में लगेगी अर्थात् बोधरूप हो जावेगी। इससे इस चित्त को चित्त से ग्रास कर लो, जब तुम परम पुरुषार्थ करके चित्त को अचित्त करोगे तब महा अद्वैतपद को प्राप्त होगे। हे रामजी! मन के जीतने में तुमको और कुछ यत्न नहीं, केवल एक संवेदन का प्रवाह उलटना है कि दृश्य की ओर से निवृत्त करके आत्मा की ओर लगाओ, इसी से चित्त अचित्त हो जावेगा। चित्त के क्षोभ से रहित होना परम कल्याण है, इससे क्षोभ से रहित हो जाओ। जिसने मन को जीता है उसको त्रिलोकी का जीतना तृण समान है। हे रामजी! ऐसे शूरमा हैं जो कि शस्त्रों के प्रहार सहते हैं, अग्नि में जलना भी सहते हैं और शत्रु को मारते हैं तब स्वाभाविक फुरने के सहने में क्या कृपणता है? हे रामजी! जिनको अपने चित्त के उलटाने की सामर्थ्य नहीं वे नरों में अधम हैं। जिनको यह अनुभव होता है कि मैं जन्मा हूँ, मैं मरूँगा और मैं जीव हूँ, उनको वह असत्यरूप प्रमाद चपलता से भासता है। जैसे कोई किसी स्थान में बैठा हो और मन के फुरने से और देश में कार्य करने लगे तो वह भ्रमरूप है तैसे ही आपको जन्म-मरण भ्रम से मानता है। हे रामजी! मनुष्य मनरूपी शरीर से इस लोक और परलोक में मोक्ष होने पर्यन्त चित्त में भटकता है। यदि चित्त स्थिर है तो तुमको मृत्यु का भय कैसे होता है? तुम्हारा स्वरूप नित्य शुद्ध बुद्ध और सर्वविकार से रहित है। यह लोक आदिक भ्रम मन के फुरने से उपजा है, मन से भिन्न जगत् का कुछ रूप नहीं। पुत्र, भाई, नौकर आदिक जो स्नेह के स्थान हैं और उनके क्लेश से आपको क्लेशित मानते हैं वह भी चित्त से मानते हैं। जब चित्त अचित्त हो जावे तब सर्व बन्धनों से मुक्त हो। हे रामजी! मैंने अधःऊर्ध्व सर्वस्थान देखे हैं, सब शास्त्र भी देखे हैं और उनको एकान्त में बैठकर बारम्बार विचारा भी है, शान्त होने का और कोई उपाय नहीं, चित्त का उपशम करना ही उपाय है। जब तक चित्त दृश्य को देखता है तब तक शान्ति प्राप्त नहीं होती और जब चित्त उपशम होता है तब उस पद में विश्राम होता है जो नित्य, शुद्ध, सर्वात्मा और सबके हृदय में चैतन आकाश परम

शान्तरूप है। हे रामजी! हृदयाकाश में जो चैतन चक्र है अर्थात् जो ब्रह्माकार वृत्ति है उसकी ओर जब मन का तीव्र संवेग हो तब सब ही दुःखों का अभाव हो जावे। मन का मननभाव उसी ब्रह्माकार वृत्तिरूपी चक्र से नष्ट होता है। हे रामजी! संसार के भोग जो मन से रमणीय भासते हैं वे जब रमणीय न भासें तब जानिये कि मन के अङ्ग कटे। जो कुछ अहं और त्वं आदि शब्दार्थ भासते हैं वे सब मनोमात्र हैं। जब दृढ़ विचार करके इनकी अभावना हो तब मन की वासना नष्ट हो। जैसे हँसिये से खेती कट जाती है तैसे ही वासना नष्ट होने से परमतत्त्व शुद्ध भासता है। जैसे घटा के अभाव हुये से शरद् काल का आकाश निर्मल भासता है तैसे ही वासना से रहित मन शुद्ध भासेगा। हे रामजी! मन ही जीव का परम शत्रु है और इच्छा संकल्प करके पुष्ट हो जाता है। जब इच्छा कोई न उपजे तब आप ही निवृत्त हो जावेगा। जैसे अग्नि में काष्ठ डालिये तो बढ़ जाती है और यदि न डालिये तो आप ही नष्ट हो जाती है। हे रामजी! इस मन में जो संकल्प कल्पना उठती है उसका त्याग करो तब तुम्हारा मन स्वतः नष्ट होगा। जहाँ शस्त्र चलते हैं और अग्नि लगती है वहाँ शूरमा निर्भय होके जा पड़ते हैं और शत्रु को मारते हैं, प्राण जाने का भय नहीं रखते तो तुमको संकल्प त्यागने में क्या भय होता है? हे रामजी! चित्त के फैलाने से अनर्थ होता है और चित्त के अस्फुरण होने से कल्याण होता है—यह वार्त्ता बालक भी जानता है। जैसे पिता बालक को अनुग्रह करके कहता है तैसे ही मैं भी तुमको समझाता हूँ कि मनरूपी शत्रु ने भय दिया है और संकल्प कलना से जितनी आपदा हैं वे मनसे उपजती हैं। जैसे सूर्य की किरणों से मृगतृष्णा का जल दीखता है तैसे ही सब आपदा मन से दीखती हैं। जिसका मन स्थिर हुआ है उसको कोई क्षोभ नहीं होता। हे रामजी! प्रलयकाल का पवन चले; सप्त समुद्र मर्यादा त्यागके इकट्ठे हो जावें और द्वादश सूर्य इकट्ठे होके तपें तो भी मन से रहित पुरुष को कोई विघ्न नहीं होता—वह सदा शान्तरूप है। हे रामजी! मनरूपी बीज है, उससे संसारवृक्ष उपजा है; सात लोक उसके पत्र हैं और शुभ अशुभ सुख दुःख उसके फल हैं।

यह मन संकल्प से रहित नष्ट हो जाता है और संकल्प के बढ़ने से अनर्थ का कारण होता है। इससे संकल्प से रहित उस चक्रवर्ती राजपद में आरूढ़ हुआ परमपद को प्राप्त होगा जिस पद में स्थित होने से चक्रवर्ती राज तृणवत् भासता है। हे रामजी! मन के क्षीण होने से जीव उत्तम परमानन्द पद को प्राप्त होता है। हे रामजी! सन्तोष से जब मन वश होता है तब नित्य, उदयरूप, निरीह, परमपावन, निर्मल, सम, अनन्त और सर्वविकार विकल्प से रहित जो आत्मपद शेष रहता है वह तुमको प्राप्त होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे मनशक्तिरूपप्रतिपादनन्नाम
षडशीतितमस्सर्गः ॥ ८६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जिसके मन में तीव्र संवेग होता है उसको मन देखता है। अज्ञान से जो दृश्य का तीव्र संवेग हुआ है उससे चित्त जन्म-मरणादिक विकार देखता है और जैसा निश्चय मन में दृढ़ होता है उसी का अनुभव करता है; जैसा मन का फुरना फुरता है तैसा ही रूप हो जाता है। जैसे बरफ का शीतल और शुक्ल रूप है और काजल का कृष्ण रूप है; तैसे ही मन का चञ्चल रूप है। इतना सुन रामजी ने पूछा, हे ब्रह्मन्! यह मन जो वेग अवेग का कारण चञ्चल रूप है उस मन की चपलता कैसे निवृत्त हो? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तुम सत्य कहते हो, चञ्चलता से रहित मन कहीं नहीं दीखता, क्योंकि मन का चञ्चल स्वभाव ही है। हे रामजी! मन में जो चञ्चलता फुरना मानसी शक्ति है वही जगत्आडम्बर का कारणरूप है। जैसे वायु का स्पन्द रूप है तैसे ही मन का चञ्चल रूप है। जिसका मन चञ्चलता से रहित है उसको मृतक कहते हैं। हे रामजी! तप और शास्त्र का जो सिद्धान्त है वह यही है कि मन के मृतकरूप को मोक्ष कहते हैं, उसके क्षीण हुए सब दुःख नष्ट हो जाते हैं। जब चित्तरूपी राक्षस उठता है तब बड़े दुःख को प्राप्त होता है और चित्त के लय होने से अनन्त सुखभोग प्राप्त होते हैं अर्थात् परमानन्दस्वरूप आत्मपद प्राप्त होता है। हे रामजी! मन में चञ्चलता अविचार से सिद्ध है और विचार से नष्ट हो जाती है। चित्त की चञ्चलतारूप

जो वासना भीतर स्थित है जब वह नष्ट हो तब परमसार की प्राप्ति हो; इससे यत्न करके चपलतारूपी अविद्या का त्याग करो। जब चपलता निवृत्त होगी तब मन शान्त होगा। सत्य, असत्य और जड़, चेतन के मध्य जो डोलायमान शक्ति है उसका नाम मन है। जब यह तीव्रता से जड़ की ओर लगता है तब आत्मा के प्रमाद से जड़रूप हो जाता है; अर्थात् अनात्म में आत्मप्रतीति होती है और जब विवेक विचार में लगता है तब उस अभ्यास से जड़ता निवृत्त होजाती है। और केवल चेतन आत्मतत्त्व भासता है। जैसा अभ्यास दृढ़ होता है तैसा ही अनुभव इसको होता है और जैसे पदार्थ की एकता चित्त में होती है अभ्यास के वश से तैसा ही रूप चित्त का हो जाता है। हे रामजी ! जिस पद के निमित्त मन प्रयत्न करता है उस पद को प्राप्त होता है और अभ्यास की तीव्रता से भावितरूप हो जाता है। इसी कारण तुमसे कहता हूँ कि चित्त को चित्त से स्थिर करो और अशोकपद का आश्रय करो। जो कुछ भाव अभावरूप संसार के पदार्थ हैं वे सब मन से उपजे हैं, इससे मन के उपशम करने का प्रयत्न करो; मन के उपशम विना छूटने का और कोई उपाय नहीं और मन को मन ही निग्रह करता है और कोई नहीं कर सकता। जैसे राजा से राजा ही युद्ध करता है और कोई नहीं कर सकता तैसे ही मन से मन ही युद्ध करता है। इससे तुम मन ही से मन को मारो कि शान्ति को प्राप्त हो। हे रामजी ! मनुष्य बड़े संसारसमुद्र में पड़ा है जिसमें तृष्णारूपी सिवार ने इसको घेर लिया है, इस कारण अधः को चला जाता है और राग, द्वेषरूपी भँवर में कष्ट पाता है। उससे तरने के निमित्त मनरूपी नाव है, जब शुद्ध मनरूपी नाव पर आरूढ़ हो तब संसारसमुद्र के पार उतरे, अन्यथा कष्ट को प्राप्त होता है। हे रामजी ! अपना मन ही बन्धन का कारण है, उस मन को मन ही से छेदन करो और दृश्य की ओर जो सदा धावता है उससे वैराग्य करके आत्मतत्त्व का अभ्यास करो तब छूटोगे; और उपाय छूटने का नहीं। जहाँ जैसी वासना से मन आशा करके उठे उसको वहीं बोध करके त्यागने से तुम्हारी अविद्या नष्ट हो जावेगी। हे रामजी ! जब प्रथम भोगों की वासना का त्याग करोगे तब

यत्न विना ही जगत् की वासना छूट जावेगी। जब भाव अभावरूप जगत् का त्याग किया तब निर्विकल्प सुखरूप होगा। जब सब दृश्यभाव पदार्थों का अभाव होता है तब भावना करनेवाला मन भी नष्ट होता है। हे रामजी ! जो कुछ संवेदन फुरता है उस संवेदन का होना ही जगत् है और असंवेदन होने का नाम निर्वाण है संवेदन होने से दुःख है, इससे यत्न करके संवेदन का अभाव ही कर्त्तव्य है। जब भावना की अभावना हो तब कल्याण हो। जो कुछ भाव अभाव पदार्थों का राग द्वेष उठता है वह मन के अबोध से होता है पर वे पदार्थ मृगतृष्णा के जलवत् मिथ्या हैं। इससे इनकी आस्था को त्याग करो, ये सब अवस्तुरूप हैं और तुम्हारा स्वरूप नित्य तृप्त अपने आपमें स्थित है !

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सुखोपदेशवर्णनन्नाम
सप्ताशीतितमस्सर्गः ॥ ८७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह वासना भ्रान्ति से उठी है। जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा भ्रान्ति से भासता है। तैसे ही आत्मा में जगत् भ्रान्ति से भासता है—इसकी वासना दूर से त्याग करो। हे रामजी ! जो ज्ञानवान् हैं उनको जगत् नहीं भासता और जो अज्ञानी हैं उनको अविद्यमान ही विद्यमान भासता है और संसार नाम से संसार को अङ्गीकार करता है। ज्ञानवान् सम्यक्दर्शी को आत्मतत्त्व से भिन्न सब अवस्तुरूप भासता है। जैसे समुद्र द्रवता से तरङ्ग और बुद्बुदे होके भासता है परन्तु जल से भिन्न कुछ नहीं तैसे ही अपने ही विकल्प से भाव अभावरूप जगत् देखता है, जो वास्तव में असत्यरूप है, क्योंकि आत्मतत्त्व ही अपने स्वरूप में स्थित है। जो नित्य, शुद्ध, सम और अद्वैत तुम्हारा अपना आप है, न तुम कर्त्ता हो, न अकर्त्ता हो; कर्त्ता और अकर्त्ता, ग्रहण-त्याग भेद को लेकर कहाता है। तुम दोनों विकल्पों को त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो और जो कुछ क्रिया आचार आ प्राप्त हों उनको करो पर भीतर से अनासक्त रहो अर्थात् अपने को कर्त्ता और भोक्ता मत मानो क्योंकि कर्त्तव्य आदिक तब होते हैं जब कुछ ग्रहण वा त्याग करना होता है और ग्रहण-त्याग तब होता है जब पदार्थ सत्य भासते हैं, पर ये सब पदार्थ तो

मिथ्या इन्द्रजाल की मायावत् हैं। हे रामजी! मिथ्या पदार्थों में आस्था करनी और उसमें ग्रहण और त्याग करना क्या है? सब संसार का बीज अविद्या है और वह अविद्या स्वरूप के प्रमाद से अविद्यमान ही सत्य की नाईं हो भासती है। हे रामजी! चित्त में चैत्यमय वासना फुरती है सो ही मोह का कारण है। संसाररूपी वासना का चक्र है; जैसे कुम्हार चक्र पर चढ़ाके मृत्तिका से अनेक प्रकार के घट आदिक बरतन रचता है तैसे ही चित्त से जो चैत्यमय वासना फुरती है वह संसार के पदार्थों को उत्पन्न करती है। यह अविद्यारूपी संसार देखनेमात्र बड़ा सुन्दर भासता है पर जैसे बाँस बड़े विस्तार को प्राप्त होता है और भीतर से शून्य है तैसे ही यह भी भीतर से शून्य है और जैसे केले का वृक्ष देखने को विस्तार सहित भासता है और उसके भीतर सार कुछ नहीं होता तैसे ही संसार असाररूप है। जैसे नदी का प्रवाह चला जाता है तैसे ही संसार नाशरूप है। हे रामजी! इस अविद्या को पकड़िये तो कुछ ग्रहण नहीं होता; कोमल भासती है पर अत्यन्त क्षीणरूप है और प्रकट आकार भी दृष्टि आते हैं पर मृगतृष्णा के जल समान असत्यरूप है। अविद्या-माया जिससे यह जगत् उपजता है, कहीं विकार है; कहीं स्पष्ट है और कहीं दीर्घरूप भासती है और आत्मा से व्यतिरेक भाव को प्राप्त होती है। जड़ है परन्तु आत्मा की सत्ता पाके चेतन होती है और चेतनरूप भासती है तो भी असत्यरूप है। एक निमेष के भूलने से वह बड़े भ्रम को दिखाती है। जहाँ निर्मल प्रकाशरूप आत्मा है उसमें तम दिखाती कि मैं आत्मा को नहीं जानता। जैसे उलूक को सूर्य में अन्धकार भासता है तैसे ही मूर्खों को अनुभवरूप आत्मा नहीं भासता, जगत् भासता है जो असत्यरूप है। जैसे मृगतृष्णा की नदी विस्तार सहित भासती है तैसे ही अविद्या नाना रङ्ग, विलास, विकार, विषम, सूक्ष्म, कोमल और कठिनरूप है और स्त्री की नाईं चञ्चल और क्षोभरूप सर्पिणी है, जो तृष्णारूपी जिह्वा से मार डालती है। वह दीपक की शिखावत् प्रकाशमान है। जैसे जब तक स्नेह होता है तब तक दीपशिखा प्रज्वलित होती है और जब तेल चुक जाता है तब निर्वाण हो जाती है तैसे ही जब तक भोगों में प्रीति है तब तक अविद्या वृद्धि है और जब भोगों में स्नेह क्षीण होता है तब नष्ट हो जाती है। रागरूपी अविद्या तृष्णा बिना नहीं रहती और भोगरूप प्रकाश बिजली की नाईं चमत्कार करती है। इनके आश्रय में जो कार्य करो तो नहीं होता, क्षणभंगुररूप हैं। जैसे बिजली मेघ के आश्रय है तैसे ही अविद्या मूर्खों के आश्रय रहती है और तृष्णा देनेवाली है। भोग पदार्थ बड़े यत्न से प्राप्त होते हैं और जब प्राप्त हुए तब अनर्थ उत्पन्न करते हैं। जो भोगों के निमित्त यत्न करते हैं उनको धिक्कार है, क्योंकि भोग बड़े यत्न से प्राप्त होते हैं और फिर स्थिर भी नहीं रहते, बल्कि अनर्थ उत्पन्न करते हैं। उनकी तृष्णा करके जो भटकते हैं वे महामूर्ख हैं। हे रामजी! ज्यों ज्यों इनका स्मरण होता है त्यों त्यों अनर्थ होते हैं और ज्यों ज्यों इनका विस्मरण होता है त्यों त्यों सुख होता है। इस कारण अत्यन्त सुख का निमित्त इनका विस्मरण है और स्मरण दुःख का निमित्त है। जैसे किसी को क्रूर स्वप्न आता है तो उसके स्मरण से कष्टवान् होता है और जैसे और किसी उपद्रव प्राप्त होने की स्मृति में अनर्थ जानता है तैसे ही अविद्या जगत् के स्मरण में अनर्थ कष्ट होता है। अविद्या एक मुहूर्त्त में त्रिलोकी रचि लेती है और एक क्षण में ग्रास कर लेती है। हे रामजी! स्त्री के वियोगी और रोगी पुरुष को रात्रि कल्प की नाईं व्यतीत होती है और जो बहुत सुखी होता है उसको रात्रि क्षण की नाईं व्यतीत हो जाती है। काल भी अविद्या प्रमाद से विपर्ययरूप हो जाता है। हे रामजी! ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो अविद्या से विपर्यय न हो। शुद्ध, निर्विकार, निराकार, अद्वैत तत्त्व में कर्तृत्व भोक्तृत्व का स्पन्द फुरता है। हे रामजी! यह सब जगत्-जाल तुमको अविद्या से भासता है। जैसे दीपक का प्रकाश चक्षु इन्द्रियों को रूप दिखाता है तैसे ही अविद्या जिन पदार्थों को दिखाती है वह सब असत्यरूप हैं जैसे नाना प्रकार की सृष्टि मनोराज में है और जैसे स्वप्नसृष्टि भासती है और उनमें अनेक शाखासंयुक्त वृक्ष भासते हैं वे सब असत्यरूप हैं तैसे ही यह जगत् असत्यरूप है जैसे मृगतृष्णा की नदी बड़े आडम्बरसहित भासती है तैसे ही यह जगत् भी है। जैसे मृगतृष्णा

की नदी को देखके मूर्ख मृग जल पान के निमित्त दौड़ते हैं और कष्टवान् होते हैं तैसे ही जगत् के पदार्थों को देखकर अज्ञानी दौड़के यत्न करते हैं और ज्ञानवान् तृष्णा के लिये यत्न नहीं करते। ज्यों ज्यों मूर्ख मृग दौड़ते हैं त्यों त्यों कष्ट पाते हैं, शान्ति नहीं पाते; तैसे ही अज्ञानी जगत् के भोगों की तृष्णा करते हैं परन्तु शान्ति नहीं पाते। जैसे तरङ्ग और बुद्बुदे सुन्दर भासते हैं परन्तु ग्रहण किये से कुछ नहीं निकलते तैसे ही शान्ति का कारण जगत् में सार पदार्थ कोई नहीं निकलता। जड़रूप अविद्या जगताकार हुई है, वह चेतन से अभिन्नरूप है परन्तु भिन्न की नाईं स्थित हुई है। जैसे मकड़ी अपनी तन्तु फैलाकर फिर अपने में लीन कर लेती है, वह उससे अभिन्नरूप है परन्तु भिन्न की नाईं भासती है और जैसे अग्नि से धूम निकलकर बादल का आकार हो रस खैंचता है और मेघ होकर वर्षा करता है तैसे ही अविद्या आत्मा से उपजकर और आत्मा की सत्ता पाकर जगत् रचती है, उस जगत् में यह जीव घटीयन्त्र की नाईं भटकता है। जैसे रस्सी से बँधी हुई घड़ियाँ ऊपर नीचे भटकती हैं तैसे ही तीनों गुणों की वासना से बँधा हुआ जीव भटकता है। जैसे कीचड़ से कमल की जड़ उपजती है और उसके भीतर छिद्र होते हैं तैसे ही अविद्यारूपी कीचड़ से यह जगत् उपजा है और विकाररूपी दृश्य इसमें छिद्र हैं—सारभूत इसमें कुछ नहीं। जैसे अग्नि घृत और ईंधन के संयोग से बढ़ती जाती है तैसे ही अविद्या विषयों की तृष्णा से बढ़ती जाती है, जैसे घृत और ईंधन से रहित अग्नि शान्त हो जाती है तैसे ही तृष्णा से रहित अविद्या शान्त हो जाती है। जब विवेकरूपी जल पड़े और तृष्णारूपी घृत न पड़े तब अग्निरूपी अविद्या नष्ट हो जाती है अन्यथा नहीं नष्ट होती। हे रामजी! यह अविद्या दीपक की शिखा के तुल्य है और तृष्णारूपी तेल से अधिक प्रकाशवान् होती है। जब तृष्णारूपी तेल से रहित हो और विवेकरूपी वायु चले तब दीपक शिखावत् अविद्या निर्वाण हो जावेगी और न जानियेगा कि कहाँ गई। अविद्या कुहिरे की नाईं आवरण करती भासती है परन्तु ग्रहण करिये तो कुछ हाथ नहीं आती। देखनेमात्र स्पष्ट दृष्टि आती है, परन्तु विचार करने से अणुमात्र भी नहीं रहती। जैसे रात्रि को बड़ा अन्धकार भासता है परन्तु जब दीपक लेकर देखिये तब अणुमात्र भी अन्धकार नहीं दीखता वैसे ही विचार करने से अविद्या नहीं रहती। जैसे भ्रान्ति से आकाश में नीलता और दूसरा चन्द्रमा भासता है, जैसे स्वप्न की सृष्टि भासती है, जैसे नाव पर चढ़े से तट के वृक्ष चलते भासते हैं और जैसे मृगतृष्णा की नदी, सीपी में रूपा और रस्सी में सर्प भ्रम से भासता है वैसे ही अविद्यारूपी जगत् अज्ञानी को सत्य भासता है। हे रामजी! यह जाग्रत् जगत् भी दीर्घकाल का स्वप्न है। जैसे सूर्य की किरणों में जलबुद्धि मृग के चित्त में आती है वैसे ही जगत् की सत्यता मूर्ख के चित्त में रहती है। हे रामजी! जिन पुरुषों को पदार्थों में रति हो रही है, उनकी भावना से उनका चित्त खिंचता है और उन पदार्थों को अङ्गीकार करके बड़े कष्ट पाता है। जैसे पक्षी आकाश में उड़ता है पर दाने में उसकी प्रीति होती है उससे चुगने के निमित्त पृथ्वी पर आता है और सुखरूप जानके चुगने लगता है तो जाल में फँसता है और कष्टवान् होता है। जैसे कण की तृष्णा पक्षी को दुःख देती है वैसे ही जीवों को भोगों की तृष्णा दुःख देती है। हे रामजी! ये भोग प्रथम तो अमृत की नाईं सुखरूप भासते हैं परन्तु परिणाम में विष की नाईं होते हैं; मूर्ख अज्ञानी को ये सुन्दर भासते हैं। जैसे मूर्ख पतङ्ग दीपक को सुखरूप जानके वाञ्छा करता है परन्तु जब दीपक से स्पर्श करता है तब नाश को प्राप्त होता है वैसे ही भोगों के स्पर्श से ये जीव नाश होते हैं। जैसे सन्ध्याकाल आकाश में लाली भासती है वैसे ही अविद्या से जगत् भासता है। जैसे भ्रम से दूर वस्तु निकट भासती है और निकट वस्तु दूर भासती है और स्वप्न में बहुत काल में थोड़ा और थोड़े काल में बहुत भासता है वैसे ही यह सब जगत्जाल अविद्या से भासता है। वह अविद्या आत्मज्ञान से नष्ट होती है इससे यत्न करके मन के प्रवाह को रोको। हे रामजी! जो कुछ दृश्यमान जगत् है वह सब तुच्छरूप है, बड़ा आश्चर्य है कि मिथ्या भावना करके जगत् अन्ध हुआ है। हे रामजी! अविद्या निराकार और शून्य है; उसने सत्य होकर जगत् को

अन्धा किया है अर्थात् संसारी लोग असत्रूप पदार्थों को सत् जानके यत्न करते हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश में उल्लू को अन्धकार भासता है और भ्रान्ति से सूर्य उसको नहीं भासता। वैसे ही चिदानन्द आत्मा सदा अनुभव से प्रकाशता है और अविद्या से नहीं भासता। असत्यरूप अविद्या ने जगत् को अन्धा किया है, जो विकर्मों को कराती है और विचार करने से नहीं रहती, उससे अपना आप नहीं भासता और बड़ा आश्चर्य है कि धैर्य्यवान् धर्मात्मा को भी अपने वश करके समर्थ होने नहीं देती। अविचार सिद्ध अविद्यारूपी स्त्री ने पुरुषों को अन्धा किया है और अनन्त दुःखों का विस्तार फैलाती है; यह उत्पत्ति और नाश, सुख और दुःख को कराती है, आत्मा को भ्रमाती है, अनन्त दुःख अज्ञान से दिखाती है; बोध से हीन करती है और काम, क्रोध उपजाती है और मनमें वासना से यही भावना वृद्धि करती है। हे रामजी! यह अविद्या निराकाररूप है और इसने जीव को बाँधा है। जैसे स्वप्न में कोई आपको बँधा देखे वैसी ही अविद्या है। स्वरूप के प्रमाद का ही नाम अविद्या है और कुछ नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे अविद्यावर्णनन्नाम
अष्टाशीतितमस्सर्गः ॥ ८८ ॥

इतना सुन रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जो कुछ जगत् दीखता है वह सब यदि अविद्या से उपजा है तो वह निवृत्त किस भाँति होती है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जैसे बरफ की पुतली सूर्य के तेज से क्षण में नष्ट हो जाती है वैसे ही आत्मा के प्रकाश से अविद्या नष्ट हो जाती है। जब तक आत्मा का दर्शन नहीं होता तब तक अविद्या मनुष्य को भ्रम दिखाती है और नाना प्रकार के दुःखों को प्राप्त कराती है, पर जब आत्मा के दर्शन की इच्छा होती है तब वही इच्छा मोह का नाश करती है। जैसे धूप से छाया क्षीण हो जाती है वैसे ही आत्मपद की इच्छा से अविद्या क्षीण हो जाती है और सर्वगत देव आत्मा के साक्षात्कार होने से नष्ट हो जाती है। हे रामजी! दृश्य पदार्थों में इच्छा उपजने का नाम अविद्या है और उस इच्छा के नाश का नाम विद्या है। उस विद्या ही

का नाम मोक्ष है। अविद्या का नाश भी संकल्पमात्र है। जितने दृश्य पदार्थ हैं उनकी इच्छा न उपजे और केवल चिन्मात्र में चित्त की वृत्ति स्थित हो—यही अविद्या के नाश का उपाय है। जब सब वासना निवृत्त हों तब आत्मतत्त्व का प्रकाश होवे। जैसे रात्रि के क्षय होने से सूर्य प्रकाशता है वैसे ही वासना के क्षय होने से आत्मा प्रकाशता है। जैसे सूर्य के उदय होने से नहीं विदित होता कि रात्रि कहाँ गई वैसे ही विवेक के उपजे नहीं विदित होता कि अविद्या कहाँ गई। हे रामजी! मनुष्य संसार की दृढ़ वासना में बँधा है। और जैसे संध्याकाल में मूर्ख बालक परछाहीं में वैताल कल्पकर भयवान् होता है वैसे ही मनुष्य अपनी वासना से भय पाता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! यह सब दृश्य अविद्या से हुआ है और अविद्या आत्मभाव से नष्ट होती है तो वह आत्मा कैसा है? वशिष्ठजी बोले, चैत्योन्मुखत्व से रहित और सर्वगत समान और अनुभवरूप जो अशब्दरूप चेतन तत्त्व है वह आत्मा परमेश्वर है। हे रामजी! ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त जगत् सब आत्मा है और अविद्या कुछ नहीं। हे रामजी! सब देहों में नित्य चेतनघन अविनाशी पुरुष स्थित है, उसमें मनो नाम्नी कल्पना अन्य की नाईं आभास होकर भासती है, पर आत्मतत्त्व से भिन्न कुछ नहीं। हे रामजी! कोई न जन्मता है, न मरता है और न कोई विकार है; केवल आत्मतत्त्व प्रकाश सत्तासमान, अविनाशी, चैत्य से रहित, शुद्ध, चिन्मात्रतत्त्व अपने आप में स्थित है और नित्य, सर्वगत, शुद्ध, चिन्मात्र, निरुपद्रव, शान्तरूप, सत्तासमान, निर्विकार अद्वैत आत्मा है। हे रामजी! उस एक सर्वगत देव, सर्वशक्ति महात्मा में जब विभागकलना शक्ति प्रकट होती है तो उसका नाम मन होता है। जैसे समुद्र में द्रवता से लहरें होती हैं वैसे ही शुद्धचिन्मात्र में जो चैत्यता होती है उसका नाम मन है। वही संकल्प कलना से दृश्य की नाईं भासता है और उसी संकल्प कल्पना का नाम अविद्या है। संकल्प ही से वह उपजी है और संकल्प से ही नष्ट हो जाती है। जैसे वायु से अग्नि उपजती है और वायु से ही लीन होती है वैसे ही संकल्प से अविद्यारूपी जगत् उपजता है और संकल्प ही से नष्ट हो जाता

है। जब चित्त की वृत्ति दृश्य की ओर फुरती है तब अविद्या बढ़ती है और जब दृश्य की वृत्ति नष्ट हो और स्वरूप की ओर आवे तब अविद्या नष्ट हो जाती है। हे रामजी! जब यह संकल्प करता है कि मैं 'ब्रह्म नहीं हूँ' तब मन दृढ़ बन्धमय होता है और जब यही संकल्प दृढ़ करता है कि 'सब ब्रह्म है' तब मुक्त होता है। जब अनात्म में अहं अभिमान का संकल्प दृढ़ करता है तब बन्धन होता है और सर्व ब्रह्म के संकल्प से मुक्त होता है। दृश्य का संकल्प बन्ध है और असंकल्प ही मोक्ष है; आगे जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो। जैसे बालक आकाश में सुवर्ण के कमलों की कल्पना करे कि सूर्यवत् प्रकाशित और सुगन्ध से पूर्ण हैं तो वे भावनामात्र होते हैं वैसे अविद्या भावनामात्र है। अज्ञानी जो जानता है कि मैं कृश, अतिदुःखी और वृद्ध हूँ और मेरे हाथ, पाँव और इन्द्रिय हैं तो ऐसे व्यवहार से बन्धवान् होता है और यदि ऐसे जाने कि मैं दुःखी नहीं न मेरी देह है; न मेरे बन्धन हैं; न मैं मांस हूँ और न मेरे अस्थि हैं मैं तो देह से अन्य साक्षी हूँ; ऐसे निश्चयवान् को मुक्त कहना चाहिये। जैसे सूर्य में और मणि के प्रकाश में अन्धकार नहीं होता वैसे ही आत्मा में अविद्या नहीं। जैसे पृथ्वी पर स्थित पुरुष आकाश में नीलता कल्पता है वैसे ही अज्ञानी आत्मा में अविद्या कल्पता है—वास्तव में कुछ नहीं। फिर रामजी ने पूछा, हे भगवन्! सुमेरु की छाया आकाश में पड़ती है अथवा तम की प्रभा है व और कुछ है; आकाश में नीलता कैसे भासती है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! आकाश में नीलता नहीं है, न सुमेरु की छाया ही है और न तम है, आकाश पोलमात्र है यह शून्यता गुण है। हे रामजी! यह ब्रह्माण्ड तेजरूप है, इसका प्रकाश ही स्वरूप है, तम का स्वभाव नहीं। तम ब्रह्माण्ड के बाह्य है, भीतर नहीं; ब्रह्माण्ड का प्रकाश स्वभाव है और दृढ़ शून्यता से आकाश में नीलता भासती है और कुछ नहीं। जिसकी मन्ददृष्टि है उसको नीलता भासती है और जिसकी दिव्यदृष्टि है उसको नीलता नहीं भासती—पोल भासता है। जैसे मन्ददृष्टि को आकाश में नीलता भासती है, वैसे ही अज्ञानी को अविद्या सत्य भासती है। जैसे दिव्यदृष्टिवाले को नीलता नहीं भासती, वैसे ही ज्ञानवान् को अविद्या नहीं भासती—ब्रह्मसत्ता ही भासती है। हे रामजी! जहाँ तक इसके नेत्रों की दृष्टि जाती है वहाँ तक आकाश भासता है और जहाँ दृष्टि कुण्ठित होती है वहाँ नीलता भासती है। हे रामजी! जैसे जिसकी दृष्टि क्षय होती है उसको नीलता भासती है वैसे ही जिस जीव की आत्मदृष्टि क्षय होती है, उसको अविद्यारूपी सृष्टि भासने लगती है—वही दुःखरूप है। हे रामजी! चेतन को छोड़के जो कुछ स्मरण करता है उसका नाम अविद्या है और जब चित्त अबल होता है तब अविद्या नष्ट हो जाती है—असंकल्प होने से ही अविद्या नष्ट होती है। जैसे आकाश के फूल हैं वैसे ही अविद्या है। यह भ्रमरूप जगत् मूर्खों को सत्य भासता है, वास्तव में कुछ नहीं है। मन जब फुरने से रहित हो तब जगत् भावनामात्र है। उसी भावना का नाम अविद्या है और वह मोह का कारण है। जब वही भावना उलटकर आत्मा की ओर आवे तब अविद्या का नाश हो। बारम्बार चिन्तना करने का नाप भावना है। जब भावना आत्मा की ओर वृद्धि होती है तब आत्मा की प्राप्ति होती है और अविद्या नष्ट हो जाती है। मन के संसरने का नाम अविद्या है। जब आत्मा की ओर संसरना होता है तब अविद्या नष्ट हो जाती है। हे रामजी! जैसे राजा के आगे मन्त्री और टहलुये कार्य करते हैं; वैसे ही मन के आगे इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। हे रामजी! बाह्य के विषय पदार्थों की भावना छोड़के तुम भीतर आत्मा की भावना करो तब आत्मपद को प्राप्त होगे। जिन पुरुषों ने अन्तःकरण में आत्मा की भावना का यत्न किया है वे शान्ति को प्राप्त हुए हैं। हे रामजी! जो पदार्थ आदि में नहीं होता, वह अन्त में भी नहीं रहता; इससे जो कुछ भासता है वह सब ब्रह्मसत्ता है। उससे कुछ भिन्न नहीं और जो भिन्न भासता है वह मनोमात्र है। तुम्हारा स्वरूप निर्विकार और आदि अन्त से रहित ब्रह्मतत्त्व है। तुम क्यों शोक करते हो? अपना पुरुषार्थ करके संसार की भोग वासना को मूल से उखाड़ो और आत्मपद का अभ्यास करो तो दृश्य भ्रम मिट जावे। हे रामजी! इस संसार की वासना का उदय होना जरा मरण और मोह देनेवाला है। जब स्वरूप का प्रमाद होता है तब जीव को यह कल्पना

उठती है और आकाशरूपी अनन्त फाँसियों से बन्धवान् होता है। तब वासना और भी वृद्धि हो जाती है और कहता है कि ये मेरे पुत्र हैं, यह मेरा धन है, यह मेरे बान्धव हैं; ये मैं हूँ; वह और है। हे रामजी! जिस शरीर से मिलकर यह कल्पना करता है वह शरीर शून्यरूप है। जैसे वायु गोले के साथ तृण उड़ते हैं; वैसे अविद्यारूपी वासना से शरीर उड़ते हैं अहं त्वं आदिक जगत् अज्ञानी को भासता है और ज्ञानवान् को केवल सत्य ब्रह्म भासता है। जैसे रस्सी के न जानने से सर्प भासता है और रस्सी के सम्यक् ज्ञान से सर्पभ्रम नष्ट हो जाता है, वैसे ही आत्मा के अज्ञान से जगत् भासता है और आत्मा के सम्यक् ज्ञान से जगत्भ्रम नष्ट हो जाता है। इससे तुम आत्मा की भावना करो। हे रामजी! रस्सी में दो विकल्प होते हैं—एक रस्सी का और दूसरा सर्प का; वे दोनों विकल्प अज्ञानी को होते हैं ज्ञानी को नहीं होते। जो जिज्ञासु होता है उसकी वृत्ति सत्य और असत्य में डोलायमान होती है और जो ज्ञानवान् है उसको विचार से ब्रह्मतत्त्व ही भासता है। इससे तुम अज्ञानी मत होना, ज्ञानवान् होना; जो कुछ जगत् की वासना है उन सबका त्याग करो तब शान्तिमान होगे। हे रामजी! संसारभोग की वासना भी तब होती है जब अनात्मा में आत्माभिमान होता है; तुम इसके साथ काहे को अभिमान करते हो? यह देह तो मूक जड़ है और अस्थि-मांस की थैली है। ऐसी देह तुम क्यों होते हो? जब तक देह में अभिमान होता है तब तक सुख और दुःख भोगता है और इच्छा करता है। जैसे काष्ठ और लाख; तथा घट और आकाश का संयोग होता है वैसे ही देह और देही का संयोग होता है। जैसे नली के अन्तर आकाश होता है सो उसके नष्ट होने से आकाश नहीं नष्ट होता और जैसे घट के नष्ट होने से घटाकाश नहीं नष्ट होता वैसे ही देह के नष्ट होने से आत्मा का नाश नहीं होता। हे रामजी! जैसे मृगतृष्णा की नदी भ्रान्ति से भासती है वैसे ही अज्ञान से सुख दुःख की कल्पना होती है। इससे तुम सुख दुःख की कल्पना को त्यागके अपने स्वभावसत्ता में स्थित हो। बड़ा आश्चर्य है कि ब्रह्मतत्त्व सत्यस्वरूप है पर मनुष्य उसे भूल गया है और जो असत्य अविद्या है उसको बारम्बार स्मरण करता है। ऐसी अविद्या को तुम मत प्राप्त हो। हे रामजी! मन का मनन ही अविद्या है और अनर्थ का कारण है; इससे जीव अनेक भ्रम देखता है। मन के फुरने से अमृत से पूर्ण चन्द्रमा का बिम्ब भी नरक की अग्निसमान भासता है और बड़ी लहरों, तरङ्गों और कमलों से संयुक्त जल भी मरुस्थल की नदी समान भासता है। जैसे स्वप्न में मन के फुरने से नाना प्रकार के सुख और दुःख का अनुभव होता है वैसे ही यह सब जगत्भ्रम चित्त को वासना से भासता है। जाग्रत् और स्वप्न में यह जीव मन के फुरने से विचित्र रचना देखता है। जैसे स्वर्ग में बैठे हुए को भी स्वप्न में नरकों का अनुभव होता है वैसे ही आनन्दरूप आत्मा में प्रमाद से दुःख का अनुभव होता है। हे रामजी! अज्ञानी मन के फुरने से शून्य अणु में भी सम्पूर्ण जगत् भ्रम दीखता है, जैसे राजा लवण को सिंहासन पर बैठे चाण्डाल की अवस्था का अनुभव हुआ था। इससे संसार की वासना को तुम चित्त से त्याग दो। यह संसारवासना बन्धन का कारण है। सब भावों में बर्त्तो परन्तु राग किसी में न हो। जैसे स्फटिक मणि सब प्रतिबिम्बों को लेता है परन्तु रङ्ग किसी का नहीं लेता तैसे ही तुम सब कार्य करो परन्तु द्वेष किसी में न रक्खो। ऐसा पुरुष निर्बन्धन है उसको शास्त्र के उपदेश की आवश्यकता नहीं; वह तो निजरूप है। हे रामजी! जो कुछ प्रकृत आचार तुमको प्राप्त हो तो देना, लेना, बोलना, चालना आदिक सब कार्य करो परन्तु भीतर से अभिमान कुछ न करो; निरभिमान होकर कार्य करो—यह ज्ञान सबसे श्रेष्ठ है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे यथाकथितदोषपरिहारोपदेशो-
नाम नवाशीतितमस्सर्गः ॥ ८९ ॥

इतना कहकर बाल्मीकिजी बोले कि इस प्रकार जब महात्मा वशिष्ठजी ने कहा तब कमलनयन रामजी ने वशिष्ठजी की ओर देखा और उनका अन्तःकरण रात्रि के मुँदे हुए कमल की नाईं प्रफुल्लित हो आया। तब रामजी बोले कि बड़ा आश्चर्य है! पद्म की ताँत के साथ पर्वत बाँधा है। अविद्यमान अविद्या ने सम्पूर्ण जगत् वश किया है और अविद्यमान जगत्

को वज्रसारवत् दृढ़ किया है। यह सब जगत् असत्यरूप है और सत्य की नाईं स्थित किया है। हे भगवन्! इस संसार की नटनी माया का क्या रूप है; महापुण्यवान् लवण राजा ऐसी बड़ी आपदा में कैसे प्राप्त हुआ और इन्द्रजाली जिसने भ्रम दिखाया था वह कौन था कि उसको अपना अर्थ कुछ न था? वह कहाँ गया और इस देही और देह का कैसे सम्बन्ध हुआ और शुभ अशुभ कर्मों के फल कैसे भोगता है? इतने प्रश्नों का उत्तर मेरे बोध के निमित्त दीजिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह देह काष्ठ और मिट्टी के समान है। जैसे स्वप्न में चित्त के फुरने से देह भासता है वैसे ही यह देह भी चित्त से कल्पित है और चित्त ही चैत्य सम्बन्ध से जीवपद को प्राप्त हुआ है। वह जीव चित्तसत्ता से शोभायमान है, उस चित्त के फुरने से संसार उपजा है, वह वानर के बालक के समान चञ्चल है और अपने फुरनेरूप कर्मों से नाना प्रकार के शरीर धरता है। उसी चित्त के नाम अहङ्कार, मन और जीव हैं। वह चित्त ही अज्ञान से सुख दुःख भोगता है; शरीर नहीं भोगता। जो प्रबोधचित्त है वह शान्तरूप है। जब तक मन अप्रबोध है और अविद्यारूपी निद्रा में सोया है तब तक स्वप्नरूप अनेक सृष्टि देखता है और जब अविद्या निद्रा से जागता है तब नहीं देखता। हे रामजी! जब तक जीव अविद्या से मलिन है तब तक संसार भ्रम देखता है और जब बोधवान् होता है तब संसारभ्रम निवृत्त हो जाता है। जैसे रात्रि होने से कमल मुँद जाते हैं और सूर्य के उदय होने से खिलआते हैं वैसे ही अविद्या से जगत्भ्रम देखता है और बोध से अद्वैतरूप होता है। इससे अज्ञान ही दुःख का कारण है। अविवेक से पञ्चकोश देह में अभिमानी होकर जैसे कर्म करता है वैसे ही भोगता है; शुभ करता है तो सुख भोगता है और अशुभ से दुःख भोगता है जैसे नटवा अपनी क्रिया से अनेक स्वाँग धारता है वैसे ही मन अपने फुरने से अनेक शरीर धारता है जो कुछ इष्ट-अनिष्ट सुख-दुःख हैं वे एक मन के फुरने में हैं और शरीर में स्थित होकर मन ही करता है। जैसे रथ पर आरूढ़ होकर सारथी चेष्टा करता है और बाँबी में बैठके सर्प चेष्टा करता है वैसे ही शरीर में स्थित होकर मन चेष्टा करता है। हे रामजी! अचल

रूप शरीर को मन चञ्चल करता है। जैसे वृक्ष को वायु चञ्चल करता है वैसे जड़ शरीर को मन चञ्चल करता है। जो कुछ सुख दुःख की कलना है वह मन ही करता है और वही भोगता और वही मनुष्य है। हे रामजी! अब लवण का वृत्तान्त सुनो। लवण राजा मन के भ्रम ने से चाण्डाल हुआ। जो कुछ मन से करता है वही सफल होता है। हे रामजी! एक काल में हरिश्चन्द्र के कुल में उपजा राजा लवण एकान्त बगीचे में बैठ के विचारने लगा कि मेरा पितामह बड़ा राजा हुआ है और मेरे बड़ों ने राजसूय यज्ञ किये हैं। मैं भी उनके कुल में उत्पन्न हुआ हूँ इससे मैं भी राजसूय यज्ञ करूँ। इस प्रकार चिन्तना करके लवण ने मानसी यज्ञ आरम्भ किया और देवता, ऋषि, सुर, मुनीश्वर, अग्नि, पवन आदिक देवताओं की मन से पूजा की और मन्त्र और सामग्री जो कुछ राजसूय यज्ञ का कर्म है सो संपूर्ण करके मन से दक्षिणा दी। सप्तवर्ष पर्यन्त उसने यह यज्ञ किया और मन ही से उसका फल भोगा। इससे हे रामजी! मन ही से सब कर्म होता है और मन ही भोगता है जैसा चित्त है वैसा ही पुरुष है, पूर्णचित्त से पूर्ण होता है और नष्ट चित्त से नष्ट होता है अर्थात् जिसका चित्त आत्मतत्त्व से पूर्ण है सो पूर्ण है और जो आत्मतत्त्व से नष्टचित्त है वह नष्टपुरुष है। हे रामजी! जिसको यह निश्चय है कि मैं देह हूँ वह नीचबुद्धि है और अनेक दुःखों को प्राप्त होगा और जिसका चित्त पूर्ण विवेक में जागा है उसको सब दुःखों का अभाव हो जाता है। जैसे सूर्य के उदय होने से कमलों का सकुचना दूर हो जाता है और वे खिल आते हैं, वैसे ही विवेकरूपी सूर्य के प्रकाश से रहित पुरुष दुःखों में संकुचित रहते हैं। जो विवेकरूपी सूर्य के प्रकाश से प्रफुल्लित हुए हैं वे संसार के दुःखों से तर जाते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सुखदुःखभोक्तव्योपदेशकथनन्नाम नवतितमस्सर्गः ॥ ९० ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! राजा लवण ने राजसूय यज्ञ मन से किया और मन ही से उसका फल भोगा परन्तु ऐसा साम्बरी कौन था जिसने उसको भ्रम दिखाया। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब वह साम्बरी

लवण राजा की सभा में आया तब मैं वहाँ था। मुझसे लवण और उसके मन्त्री ने पूछा कि यह कौन है? तब मैंने उनसे जो कुछ कहा था वह तुझसे भी कहता हूँ। हे रामजी! जो पुरुष राजसूय यज्ञ करता है उसको द्वादश वर्ष की आपदा प्राप्त होती है उस द्वादश वर्ष में वह अनेक दुःख देखता है। राजा लवण ने जो मन से यज्ञ किया इसलिये उसको आपदा भी मन से ही प्राप्त हुई। स्वर्ग से इन्द्र ने अपना दूत आपदा भुगवाने के निमित्त भेजा। वह साम्बरी का रूप होकर आया और राजा को चाण्डाल की आपदा भुगताकर फिर स्वर्ग में चला गया। हे रामजी! जो कुछ मैंने प्रत्यक्ष देखा था वह तुमसे कहा। इससे मन ही करता है और मन ही भोगता है। जैसा जैसा दृढ़ संकल्प मन में फुरता है उसके अनुसार उसको सुख दुःख का अनुभव होता है। हे रामजी! जब तक चित्त फुरता है तब तक आपदा प्राप्त होती है। जैसे ज्यों ज्यों कीकर का वृक्ष बढ़ता है त्यों त्यों कण्टक बढ़ते जाते हैं वैसे ही मन के फुरने से आपदा बढ़ती जाती है। जब मन स्थिर होता है तब आपदा मिट जाती है। इससे, हे रामजी! इस चित्तरूपी बरफ को विवेकरूपी तपन से पिघलाओ तब परम सार की प्राप्ति होगी। यह चित्त ही सकल जगत् आडम्बर का कारण है, उसको तुम अविद्या जानो। जैसे वृक्ष, विटप और तरु एक ही वस्तु के नाम हैं वैसे ही अविद्या, जीव, बुद्धि, अहंकार सब फुरने के नाम हैं इसको विवेक से लीन करो। हे रामजी! जैसा संकल्प दृढ़ होता है वैसा ही देखता है। हे रामजी! वह कौन पदार्थ है जो यत्न करने से सिद्ध न हो? जो हठ से न फिरे तो सब कुछ सिद्ध होता है। जैसे बरफ के बासनों को जल में डालिये तो जल से एकता ही हो जाती है तैसे ही आत्मबोध से सब पदार्थों की एकता हो जाती है। रामजी ने फिर पूछा, हे भगवन्! आपने कहा कि सुख-दुःख सब मन ही में स्थित हैं और मन की वृत्ति नष्ट होने से सब नष्ट होजाती हैं सो चपल वृत्ति कैसे क्षय हो? वशिष्ठजी बोले, हे रघुकुल में श्रेष्ठ और आकाश के चन्द्रमा! मैं तुमसे मन के उपशम की युक्ति कहता हूँ। जैसे सवार के वश घोड़ा होता है तैसे ही मन तुम्हारे वश रहेगा। हे रामजी! सब भूत ब्रह्म ही से उपजे हैं।

उनकी उत्पत्ति तीन प्रकार की है—एक सात्त्विकी, दूसरी राजसी और तीसरी तामसी। प्रथम शुद्ध चिन्मात्र ब्रह्म में जो कलना उठी है उसी बाह्यमुखी फुरने का नाम मन हुआ है वही ब्रह्मारूप है, उस ब्रह्मा ने जैसा संकल्प किया तैसा ही आगे देखा; उसने यह भुवन आडम्बर और उसमें जन्म, मरण और सुख, दुःख, मोह आदिक संसरना कल्पा। इसी प्रकार अपने आरम्भसंयुक्त, जैसे बरफ का कणुका समुद्र से उपजकर सूर्य के तेज से लीन हो जावे तैसे ही आरम्भ से निर्वाण होगया, संकल्प के वश से फिर उपजा और फिर लीन होगया। इसी प्रकार कई अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड ब्रह्मा से उपज उपजकर लीन होगये हैं और कितने होंगे और कितने वर्त्तमान हैं। अब जैसे मुक्त होते हैं सो सुनो। हे रामजी! शुद्ध ब्रह्मतत्त्व से प्रथम मनसत्ता उपजी; उसने जब आकाश को चेता तब आकाश हुआ, उसके उपरान्त पवन हुआ, फिर अग्नि और जल हुआ और उसकी दृढ़ता से पृथ्वी हुई। तब चित्तशक्ति दृढ़ संकल्प से पाँच भूतों को प्राप्त हुई और अन्तःकरण जो सूक्ष्म प्रकृति है सो पृथ्वी, तेज और वायु से मिलकर धान्य में प्राप्त हुआ। उसको जब पुरुष भोजन करते हैं तब वह परिणाम होकर वीर्य और रुधिररूप होके गर्भ में निवास करता है; जिससे मनुष्य उपजता है। पुरुष जन्ममात्र से वेद पढ़ने लगता है; फिर गुरु के निकट जाता और क्रम से उसकी बुद्धि विवेक द्वारा चमत्कारवान् हो जाती है तब उसको ग्रहण और त्याग और शुभ अशुभ में विचार उपजता है। और निर्मल अन्तःकरण सहित स्थित होता है और क्रम से सप्तभूमिका चन्द्रमा की नाईं उसके चित्त में प्रकाशती हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सात्त्विकजन्मावतारोनाम एकनवतितमस्सर्गः॥ ९१॥

रामजी बोले, हे सर्वशास्त्रों के वेत्ता, भगवन्! ज्ञान की वे सप्तभूमिका कैसे निवास करनेवाली हैं संक्षेप में मुझसे कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! अज्ञान की सप्तभूमिका हैं और ज्ञान की भी सप्तभूमिका हैं और उनके अन्तर्गत और बहुत अवस्था हैं कि उनकी कुछ संख्या नहीं परन्तु

वे सब इन्हीं सप्त के अन्तर्गत हैं। हे रामचन्द्र! आत्मरूपी वृक्ष है और अपना पुरुषार्थरूपी वसन्तऋतु है; उससे दो प्रकार की बेलें उत्पन्न होती हैं–एक शुभ और दूसरी अशुभ। पुरुषार्थरूपी रस के बढ़ने से फल की प्राप्ति होती है। अब ज्ञान किसको कहते हैं सो सुनो। शुद्धचिन्मात्र में चैत्यदृश्य फुरने से रहित होकर स्थित होने का नाम ज्ञान है और शुद्ध चिन्मात्र अद्वैत में अहं संवेदना उठती है सो स्वरूप से गिरना है; वही अज्ञान दशा है। हे रामचन्द्र! यह मैंने तुमसे संक्षेप से ज्ञान और अज्ञान का लक्षण कहा है। शुद्ध चिन्मात्र में जिनकी निष्ठा है; सत्यस्वरूप से चलायमान नहीं होते और राग-द्वेष किसी से नहीं रखते, वे ज्ञानी हैं और ऐसे शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप से जो गिरे हैं वे अज्ञानी हैं। और जो जगत् के पदार्थों में मग्न हैं वे अज्ञानी हैं। इससे परममोह और कोई नहीं–यही परममोह है। स्वरूपस्थित इसका नाम है कि एक अर्थ को छोड़ के जो संवित् और अर्थ को प्राप्त होता है। जैसे जाग्रत् को त्यागकर सुषुप्ति प्राप्त होती है और उसके मध्य में जो निर्मल सत्ता है उसमें स्थित होना स्वरूपस्थिति कहाती है। हे रामचन्द्र! भले प्रकार सर्वसंकल्प जिसके शान्त हुए हैं और जो शिला के अन्तरवत् शून्य है वह स्वरूपस्थिति है। अहं त्वं आदिक फुरने से और भेदविकार और जड़ से रहित अचैत्य चिन्मात्र है सो आत्मस्वरूप कहाता है। उस तत्त्व में फिरकर जो जीवों की अवस्था हुई है वह सुनो। हे रामचन्द्र! १ बीज जाग्रत् है; २ जाग्रत्; ३ महाजाग्रत्; ४ जाग्रत् स्वप्न; ५ स्वप्न; ६ स्वप्न जाग्रत् और ७ सुषुप्ति ये सात प्रकार की मोह की अवस्था हैं। इनके अन्तर्गत और भी अनेक अवस्था हैं। पर मुख्य ये सात ही हैं अब इनके लक्षण सुनो। हे रामजी! आदि जो शुद्ध चिन्मात्र अशब्दपद तत्त्व से चैतनता का अहं है उसका भविष्यत् नाम जीव होता है। आदि वह सर्वपदार्थों का बीजरूप है और उसी का नाम बीज जाग्रत् है। उसके अनन्तर जो अहं और यह मेरा इत्यादिक प्रतीति दृढ़ हो और जन्मान्तरों में भासे उसका नाम जाग्रत् है। यह है, मैं हूँ, इत्यादिक शब्दों से तन्मय होना और जन्मान्तर में बैठे हुए जो मन फुरता है मनोराज में वह फुरना दृढ़ हो भासना जाग्रत् स्वप्न कहाता है और

दूसरा चन्द्रमा, सीपी में रूपा, मृगतृष्णा का जल इत्यादिक विपर्यय भासना भी जाग्रत् स्वप्न है। निद्रा में जब मन फुरने लगता है और उसमें नाना पदार्थ भासने लगते हैं तो जब जाग उठता है तब कहता है कि मैंने अल्पकाल में अनेक पदार्थ देखे और निद्राकाल में जो पदार्थ देखे थे उनको असत्यरूप जाग्रत् में जानने लगता है। उस निद्राकाल में मन के फुरने का नाम स्वप्ना है। स्वप्न आवे और उसमें यह दृढ़ प्रतीति हो जावे कि दीर्घकाल बीत गया उसका नाम महा जाग्रत् है और महाजाग्रत् में अपना बड़ा वपु देखा और उसमें अहं ममभाव दृढ़ हुआ और आपको सत्य जानकर जन्म मरण आदिक देखे, देह रहे अथवा न रहे, उसका नाम स्वप्नजाग्रत् है। वह स्वप्ना महाजाग्रत्रूप को प्राप्त होता है। इन छः अवस्थाओं का जहाँ अभाव हो और जड़ रूप हो उसका नाम सुषुप्ति है। उस अवस्था में घास, पत्थर, वृक्षादिक स्थित हैं। हे रामजी! यह अज्ञान की सप्तभूमिका कही, उसमें एक एक में अवस्था भेद है। हे रामचन्द्र! स्वप्न चिरकाल से जाग्रत्रूप हो जाता है, उसके अन्तर्गत और स्वप्न जाग्रत् है और उसके अन्तर और है। इस प्रकार एक एक के अन्तर अनेक हैं। यह मोह की घनता है और उससे जीव भ्रमते हैं जैसे जल नीचे से नीचे चला जाता है तैसे ही जीव मोह के अनन्तर मोह पाते हैं। हे रामजी! यह तुमसे अज्ञान की अवस्था कही जिसमें नाना प्रकार के मोह और भ्रम विकार हैं। इनसे तुम विचारकर मुक्त हो तब तुम महात्मा पुरुष और आत्माविचार करके निर्मल बोधवान् होगे और तभी इस भ्रम से तर जावोगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे अज्ञानभूमिकावर्णनन्नाम
द्विनवतितमस्सर्गः ॥ ९२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामचन्द्र! अब तुम ज्ञान की सप्तभूमिका सुनो। भूमिका चित्त की अवस्था को कहते हैं। ज्ञान की भूमिका जानने से जीव फिर मोहरूपी कीचड़ में नहीं डूबता। हे रामचन्द्र! और मतवाले भूमिका को बहुत प्रकार से कहते हैं पर मेरा अभिमत पूछो तो यह है कि इसमें सुगम और निर्मल बोध प्राप्त होता है। स्वरूप में जागने का नाम

ज्ञान है; उस ज्ञान की सप्तभूमिका हैं और जो मुक्त इन सप्तभूमिकाओं के प हैं वे विदेहमुक्त हैं वे ये हैं–१ शुभेच्छा, २ विचारना, ३ तनुमानसा ४ सत्त्वापत्ति, ५ असंशक्ति, ६ पदार्थाभावनी और ७ तुरीया। इनके सार को प्राप्त हुआ फिर शोक नहीं करता। अब इसका अर्थ सुनो। जिसको यह विचार फुर आवे कि मैं महामूढ़ हूँ, मेरी बुद्धि सत्य में नहीं है संसार की ओर लगी है और ऐसे विचारके वैराग्यपूर्वक सत्शास्त्र और सन्तजनों की संगति की इच्छा करे तो इसका नाम शुभेच्छा है। सत्शास्त्रों को विचारना; सन्तों की संगति; विषयों से वैराग्य और सत्य मार्ग का अभ्यास करना; इनके सहित सत्यआचार में प्रवर्तना और सत्य को सत्य और असत्य को असत्य जानकर त्याग करना इसका नाम विचारना है। विचार और शुभेच्छा सहित तत्त्व का अभ्यास करना और इन्द्रियों के विषयों से वैराग करना यह तीसरी भूमिका तनुमानसा है। इन तीन भूमिकाओं का अभ्यास करना; इन्द्रियों के विषय और जगत् से वैराग करना और श्रवण, मनन और निदिध्यासन से सत्य आत्मा में स्थित होने का नाम सत्त्वापत्ति है। इसमें सत्य आत्मा का अभ्यास होता है। ये चार भूमिका संयम का फल जो शुद्ध विभूति है उसमें असंशक्त रहने का नाम असंशक्ति है। दृश्य का विस्मरण और भीतर बाहर से नाना प्रकार के पदार्थों के तुच्छ भासने का नाम पदार्थाभावनी है, यह छठी भूमिका है। हे रामचन्द्र! चिरपर्यन्त छठी भूमिका के अभ्यास से भेद कलना का अभाव हो जाता है और स्वरूप में दृढ़ परिणाम होता है। छः भूमिका जहाँ एकता को प्राप्त हों उसका नाम तुरीया है। यह जीवन्मुक्त की अवस्था है। जीवन्मुक्त तुरीयापद में स्थित है। तीन भूमिका जगत् की जाग्रत् अवस्था में हैं; चौथी तत्त्वज्ञानी की है; पाँचवीं और छठी जीवन्मुक्त की अवस्था हैं और तुरीयातीतपद में विदेहमुक्त स्थित होता है। हे रामचन्द्र! जो पुरुष महाभाग्यवान् है वह सप्तम भूमिका में स्थित होता है और वही आत्मारामी महापुरुष परमपद को प्राप्त होता है। हे रामचन्द्र! जो जीवन्मुक्त पुरुष हैं वे सुख दुःख में मग्न नहीं होते और शान्तरूप होके अपने प्रकृत आचार को करते हैं; अथवा नहीं करते

तो भी उनको कुछ बन्धन नहीं; उनको क्रिया का बोध कुछ नहीं रहता। जैसे सुषुप्ति पुरुष के निकट जाके कोई क्रिया करे तो उसे कुछ बोध नहीं होता तैसे ही उसको भी क्रिया का बोध नहीं होता, वह तो सुषुप्तिवत् उन्मीलितलोचन है। हे रामचन्द्र! जैसे सुषुप्त पुरुष को रूप, इंद्रिय और उनका अभाव हो जाता है तैसे ही सप्तभूमिका में अभाव हो जाता है। यह ज्ञान की सप्तभूमिका ज्ञानवान् का विषय है; पशु, वृक्ष, म्लेच्छ, मूर्ख और पापाचारियों के चित्त में इनका अधिकार नहीं होता। जिसका मन निर्मल है उसको इन भूमिकाओं में अधिकार है; कदाचित् पशु, म्लेच्छ आदि को भी इनका अभ्यास हो तो वह भी मुक्त हो जाता है; इसमें कुछ संशय नहीं। हे रामचन्द्र! आत्मज्ञान से जिनके हृदय की गाँठ टूट गई है उनको संसार मृगतृष्णा के जलवत् मिथ्या भासता है और वे मुक्तरूप हैं और जो संसार से विरक्त होकर इन भूमिकाओं में आये हैं और मोहरूपी समुद्र से नहीं तरे और पूर्ण पद को भी नहीं प्राप्त हुए और सप्तभूमिका में से किसी भूमिका में लगे हैं वे भी आत्मपद को पाकर पूर्ण आत्मा होंगे। हे रामचन्द्र! कोई तो सप्तभूमिकाओं को प्राप्त हुए हैं, कोई पहली ही भूमिका में, कोई दूसरी और कोई तीसरी को प्राप्त हुए हैं। कोई चौथी को, कोई पाँचवी को, कोई छठी को और कोई अर्द्धभूमिका को ही प्राप्त हुए हैं। कोई गृह में हैं, कोई वन में हैं; कोई तपस्वी हैं और कोई अतीत हैं। इससे आदि लेकर वे पुरुष धन्य और बड़े शूरमा हैं कि जिन्होंने इन्द्रियरूपी शत्रु को जीता है। जिस पुरुष ने एक भूमिका को भी जीता है सो वन्दना करने योग्य है, उसको चक्रवर्ती राजा जानना, बल्कि उसके सामने राज्य और बड़ा ऐश्वर्य विभूति भी तृणवत् है। वह परमपद को प्राप्त होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे ज्ञानभूमिकोपदेशो नाम
त्रिनवतितमस्सर्गः ॥ ९३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जैसे सोने में भूषण फुरे और अपना सुवर्णभाव भूल के कहे मैं भूषण हूँ तैसे ही चित्तसंवेदन जिस स्वरूप में फुरा है उससे भूलकर अहंवेदना हुई है उसने अहंकार रूप धरा है

कि मैं हूँ। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! सोने में जो भूषण होते हैं वे मैं जानता हूँ, परन्तु आत्मा में अहंभाव कैसे होता है वह कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामचन्द्र! अहंकार आदिकों का होना असत्यरूप आगमापायी है। इसका कुछ भिन्न रूप नहीं है, यह आत्मा का चमत्कार है—वास्तव में द्वैत कुछ नहीं। जैसे समुद्र में अधः ऊर्ध्व जल ही जल है और कुछ नहीं; तैसे ही परमतत्त्व में और विभागकल्पना कोई नहीं—शान्तरूप है। जैसे समुद्र में द्रवता से तरंग आदिक भासते हैं तैसे ही संवेदन से जगत्भ्रम भासते हैं। आत्मा में नाना प्रकार का भ्रम भासता है परन्तु और कुछ नहीं। जैसे सुवर्ण में भूषण, जल में तरंग और वायु में स्पन्द भासते हैं तैसे ही आत्मा में जगत् भासता है। फुरने से रहित शान्तरूप केवल परमपद है। हे रामजी! जैसे मृत्तिका की सेना में जो हाथी, घोड़ा, पशु होते हैं वे सब मृत्तिकारूप हैं कुछ भिन्न नहीं तैसे ही सब जगत् आत्मरूप है, भ्रम से नानात्त्व भासता है; वास्तव में आत्मा ही पूर्णरूप आपमें स्थित है। जैसे आकाश में आकाश स्थित है तैसे ब्रह्म में ब्रह्म स्थित है और सत्य में सत्य स्थित है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब होता है तैसे ही आत्मा में जगत् है। जैसे स्वप्न में दूर पदार्थ निकट भासते हैं और निकट दूर भासते हैं सो भ्रममात्र हैं तैसे ही आत्मा में विपर्ययदृष्टि से जगत् भासता है। हे रामजी! असत्य जगत् भ्रम से सत्रूप भासता है, वास्तव में असत्यरूप है। जैसे दर्पण में नगर का प्रतिबिम्ब; जैसे मृगतृष्णा का जल और आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है तैसे ही यह जगत् आत्मा में भासता है। जैसे इन्द्रजाल के योग से आकाश में नगर भासता है तैसे ही यह असत्यरूप जगत् अज्ञान से सत्य भासता है। जब तक आत्मविचाररूपी अग्नि से अविद्यारूपी बेलि को तू न जलावेगा तब तक जगत्रूपी बेलि निवृत्त न होगी, बल्कि अनेक प्रकार के सुख दुःख दिखावेगी। जब तू विचार करके मूलसहित इसको जलावेगा तब शान्तपद को प्राप्त होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे युक्तोपदेशोनाम
चतुर्णवतितमस्सर्गः ॥ ९४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामचन्द्र! जैसे सुवर्ण में भूषण मिथ्यारूप हैं तैसे ही आत्मा में 'अहं' 'त्वं' आदिक अविद्यारूप हैं। लवण की कथा जो तुमने सुनी है उसे अब फिर सुनो। लवण राजा दूसरे दिन विचार करने लगा कि यह मुझको भ्रम सा भासा है परन्तु सत्यरूप होकर देखा है। देश, नगर, मनुष्यादिक पदार्थ मुझको प्रत्यक्ष दृष्टि आए हैं इससे अब तो वहाँ जाकर देखूँ कि कैसी बात है। ऐसे विचार से दिग्विजय का मन करके मन्त्री और सेना को साथ लेकर दक्षिण दिशा की ओर चला। देशों को लाँघता-लाँघता विन्ध्याचल पर्वत में पहुँचा और पूर्व और दक्षिण के समुद्र के मध्य में मार्ग में भ्रमता भ्रमता किरात देश में जा पहुँचा जो वृत्तांत और देश ग्राम आदिक भ्रम में देखे थे सो प्रत्यक्ष देखे और अति विस्मित हो विचार करने लगा कि हे दैव! यह क्या है? जो कुछ मैंने भ्रम से देखा था वह अब भी मुझको प्रत्यक्ष भासता है। यह बड़ा आश्चर्य है! ऐसे विचार के आगे गया तो क्या देखा कि अग्नि से वृक्ष जले हैं और अकाल पड़ा है। अपने सम्बन्धियों की चेष्टा के स्थान देखे और उनकी कथा सुनी। इस प्रकार देखते-देखते आगे गया तो क्या देखा कि चाण्डाल शरीर की सासु बैठी रुदन करती है कि हे दैव! मेरा पुत्र कहाँ गया! हे पुत्र! तुम कहाँ गये, जिनका चन्द्रमा की नाईं मुख था? मेरी मृगनयनी कन्या जीर्ण देह होगई है—और पौत्र, पौत्रियाँ दुर्भिक्षता से सब जाते रहे। उनके यह खाने के पदार्थ हैं और ये चेष्टा के स्थान हैं। जो रतिका की माला कण्ठ में डाले जीवों के मांस खाने और रुधिर पान करते थे वह कहाँ गये? इसी प्रकार पुत्र, पुत्री, भर्ता, दामाद आदि का नाम लेकर वह रुदन करती थी और और लोग जो आ बैठते थे वह भी रुदन करते थे। तब राजा उनका रोना बन्द कराके वृत्तान्त पूँछने लगा कि तू किस निमित्त रुदन करती है? किससे तेरा वियोग हुआ है?

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे चाण्डालीशोचनवर्णनन्नाम
पञ्चनवतितमस्सर्गः ॥ ९५ ॥

चाण्डाली बोली, हे राजन् ! एक समय वर्षा न होने से अकाल पड़ा और सब जीवों को बड़ा दुःख हुआ। उस समय मेरे पुत्र, पौत्र, पौत्रियाँ, जामाता, भर्त्ता आदिक बांधव यहाँ से निकल गये और कहीं कष्ट पाके मर गये। उनके वियोग से मैं दुःखी होकर रुदन करती हूँ और उनके विना मैं शून्य हो गई हूँ ! जैसे बिछुरी हुई हथिनी अकुलाती है तैसे ही मैं अकुलाती हूँ। हे रामचन्द्र ! जब इस प्रकार चाण्डाली ने कहा तब राजा अति विस्मित हुआ और मन्त्री के मुख की ओर ऐसे देखने लगा जैसे काग़ज़ पर पुतली होती है। निदान राजा विचारे और आश्चर्यवान् हो उस चाण्डाली से बारम्बार पूछे और वह फिर कहे और राजा आश्चर्यवान् होवे। तब राजा उसको यथायोग्य धन देकर चिरपर्यन्त वहाँ रहा और फिर अपने राजमन्दिर में आया जब प्रातःकाल हुआ तब सभा में आकर मुझसे पूछने लगा, हे मुनीश्वर ! यह स्वप्न मुझको प्रत्यक्ष कैसे हुआ ? इसको देखकर मैं आश्चर्यवान् हुआ हूँ ! तब मैंने प्रश्नानुसार उसको युक्ति से उत्तर दिया और उसके चित्त का संशय ऐसे दूर कर दिया जैसे मेघ को वायु दूर करे, वही तुमसे कहता हूँ। हे रामजी ! अविद्या ऐसी है कि असत्य को शीघ्र ही सत्य और सत्य को असत्य कर दिखाती है और बड़ा भ्रम दिखानेवाली है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! स्वप्न कैसे सत्य हुआ, यह मेरे चित्त में बड़ा संशय स्थित हुआ है। उसको दूर कीजिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इसमें क्या आश्चर्य है ? अविद्या से सब कुछ बनता है। स्वप्न में तुम प्रत्यक्ष देखते हो कि घट से पट और पट से घट हो जाता है। स्वप्न और मृत्यु में मूर्च्छा के अनन्तर बुद्धि विपर्यय हो जाती है। जिनका चित्त वासना से वेष्टित है उनको जैसा संवेदन फुरता है तैसे ही भासता है। हे रामजी ! जिनका चित्त स्वरूप से गिरा है उनको अविद्या अनेक भ्रम दिखाती है। जैसे मद्यपान और विष पीनेवाला भ्रम को प्राप्त होता है तैसे ही अविद्या से जीव भ्रम को प्राप्त होता है। एक और राजा था उसकी भी वही व्यवस्था हुई थी जो लवण राजा के चित्त में फुर आई थी। जैसे उसकी चेष्टा हुई थी तैसे ही इसको भी फुर आई तब उसने जाना कि मैंने यह क्रिया की है। जैसे अभोक्ता पुरुष आपको स्वप्न में भोक्ता देखता है कि मैं राजा हुआ हूँ, मैं तृप्त हूँ, अथवा भूखा सोया है, और यह क्रिया मैंने करी है तैसे ही लवण को फुर आया था सो प्रतिभा (भास) है। सभा में बैठे चाण्डाल की चेष्टा लवण को फुर आई अथवा विन्ध्याचल पर्वत के चाण्डालों की प्रतिभा लवण को फुरी सो लवण को वह भ्रम दृढ़ हो गया। एक ही सदृश भ्रम अनेकों को फुर आता है और स्वप्न भी सदृश होता है जैसे एक ही रस्सी में अनेकों को सर्प भासता है। इसी प्रकार अनेक जीवों को एक भ्रम अनेकरूप हो भासता है। हे रामजी ! जितने पदार्थ भासते हैं उनकी सत्ता में संवेदन हुआ है। जैसे उनमें संकल्प दृढ़ होता है तैसे ही होकर भासता है। जो पदार्थ सत्यरूप हो भासता है वह सत्य होता है और जो असत्यरूप हो भासता है वह असत्य हो जाता है। सब ही पदार्थ संवेदनरूप हैं और तीनों काल भी संवेदन से उपजे हैं। इनका बीज संवेदन है। सब पदार्थ अविद्यारूप हैं और जैसे रेत में तेल है तैसे ही आत्मा में अविद्या है। आत्मा से अविद्या का सम्बन्ध कदाचित् नहीं, क्योंकि सम्बन्ध समरूप का होता है। जैसे काष्ठ और लाख का सम्बन्ध होता है सो आकारसहित है और जो आकार से रहित हो उसका सम्बन्ध कैसे हो ? जैसे प्रकाश और तम का सम्बन्ध नहीं होता तैसे ही चेतन से चैतन का सम्बन्ध होता है और विजातीय का सम्बन्ध नहीं। इससे अविद्यारूप देह को आत्मा से सम्बन्ध नहीं। जो जड़ से आत्मा का सम्बन्ध हो तो आत्मा जड़ हो, पर आत्मा तो सदा चेतनरूप है और सर्वदा अनुभव से प्रकाशता है; उसको जड़ कैसे कहिये ? जैसे स्वाद को जिह्वा ग्रहण करती है और अङ्ग नहीं करते तैसे ही चेतन से चेतन की, जड़ से जड़ की, जल से जल की, माटी से माटी की, अग्नि से अग्नि की, प्रकाश से प्रकाश की, तम से तम की, इसी प्रकार सब पदार्थों की सजातीय पदार्थों से एकता होती है, विजातीय से नहीं होती। इससे सब चैतन्याकाश है और पाषाणादिक दृश्यवर्ग कोई नहीं, भ्रम से इनके आकार भासते हैं। जैसे सुवर्ण बुद्धि को त्यागकर नाना प्रकार के भूषण भासते हैं तैसे ही जब अहं वेदना आत्मा में फुरती है तब अनेकरूप होकर विश्व भासता है। जैसे सुवर्ण

की ओर देखिये तब सब भूषण स्वर्णरूप भासते हैं तैसे ही जब ब्रह्मसत्ता की ओर देखिये तब सब जगत ब्रह्मरूप ही भासता है। जैसे मृत्तिका की सेना बालकों को अनेकरूप भासती है और बुद्धिमान् को एक मृत्तिकारूप है तैसे ही अज्ञानी को यह जगत् नानारूप भासता है, ज्ञानवान् को एक ब्रह्मसत्ता ही भासती है। वह कौन ब्रह्म है जिसमें द्रष्टा, दर्शन, दृश्य फुरे हैं? इनके मध्य और इनसे रहित जो सत्ता है वह ब्रह्मसत्ता है। हे रामचन्द्र! जो सत्ता चैतन्यरूप और शिला के कोशवत् निर्विकल्प तन्मय रूप है उसमें जब स्थित हो और समाधि में रहो अथवा उत्थान हो तब तुमको सब वही रूप भासेगा। हे रामचन्द्र! जो पुरुष निर्मल सत्ता में स्थित भया है वह शरीर के इष्ट में हर्षवान् नहीं होता और अनिष्ट में शोकवान् नहीं होता, वह निर्मलरूप होकर स्थित होता है। जैसे भविष्यत् नगर में जो अनेक चिन्तायुक्त जीव बसते हैं वह सब उसके चित्त में स्थित होते हैं। जैसे पुरुष को देशान्तर जाते अनेक पदार्थ मार्ग में इष्ट अनिष्टरूप भासते हैं परन्तु जहाँ जाना है उसकी ओर वृत्ति रहती है, मार्ग के पदार्थों में उसको रागद्वेष नहीं होता, तैसे ही तुम होजावो। जैसे पत्थर से जल और जल से अग्नि नहीं निकलती, तैसे ही आत्मा में चित्त नहीं, अविचार भ्रम से चित्त जानता है, विचार से नहीं पाता। जैसे भ्रम से आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है, तैसे ही आत्मा में चित्त भासता है, वास्तव में कुछ नहीं। वह सत्ता नित्य, शुद्ध, परमानन्दस्वरूप अपने आप में स्थित और अनुभवरूप है, उसके विस्मरण करने से दुःख प्राप्त होता है जैसे अमृतरूपी चन्द्रमा में अग्नि प्राप्त होती है। इससे हे रामचन्द्र! तुम सावधान हो। यह जो फुरना उठता है इसी का नाम चित्त है और चित्त कोई नहीं। इस चित्त को दूर से त्याग करो जो तुम हो वही स्थित हो। हे रामचन्द्र! असत्यरूप चित्त ही संसार है, जो उसको असत्य जानके त्याग नहीं करता वह आकाश के वन में विचरता है, उसको धिक्कार है। जिसका मननभाव नष्ट हुआ है वह महापुरुष संसार से पार होकर परमपद निश्चितरूप में प्राप्त हुआ है।

इति श्रीयो० उत्पत्तिप्र० चित्ताभावप्रतिपादनन्नामषण्णवतितमस्सर्गः ६६॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मनुष्य जिस प्रकार भूमिका को प्राप्त होता है उसका क्रम सुनो। प्रथम जन्म से पुरुष को कुछ बोध होता है और फिर क्रम से बड़ा होकर सन्तों की संगति करता है। सदा सदृशरूप जो संसार का प्रवाह है उसके तरने को सत्य शास्त्र और सन्तजनों की संगति विना समर्थ नहीं होता। जब सन्तों का संग और सत्शास्त्रों का विचार करने लगता है तब उसको ग्रहण और त्याग की बुद्धि उपजती है कि यह कर्त्तव्य है और यह त्यागने योग्य है। इसका नाम शुभेच्छा है। जब यह इच्छा हुई तब शास्त्र द्वारा यह विचार उपजता है कि यह शुभ है और यह अशुभ है; शुभ का ग्रहण करना और अशुभ का त्याग करना और यथाशास्त्र विचारना इसका नाम विचार है। जब सम्यक् विचार दृढ़ होता है तब मिथ्या रूप संसार की वासना त्यागता है और सत्य में स्थित होता है—इसका नाम तनुमानसा है। जब संसार की वासना क्षीण होती है और सत्य का दृढ़ अभ्यास होता है तब उस वैराग्य और अभ्यास से सम्यक् ज्ञान उपजता और आत्मा का साक्षात्कार होता है—उसका नाम सत्त्वापत्ति है। मन से वासना नष्ट होके सिद्धि आदिक पदार्थ प्राप्त होते हैं, इनकी प्राप्ति में भी संसक्त नहीं होता, स्वरूप में सदा सावधान रहता है। सिद्धि आदिक पदार्थ प्रारब्ध से प्राप्त होते हैं उनको स्वप्नरूप जान कर्मों के फल में बन्धवान् नहीं होता—इसका नाम असंसक्त है इसके अनन्तर जब मन की तनुता हो गई है और स्वरूप की ओर चित्त का परिणाम हुआ तब दृढ़ परिणाम से व्यवहार का भी अभाव हो जाता है जो पल पल में कर्म प्रारब्धवेग से करता है, बल्कि उसके चित्त में फुरना भी नहीं फुरता और वह मन क्षीणभाव में प्राप्त होता है। वह कर्त्ता हुआ भी कुछ नहीं करता और देखता है पर नहीं देखता अर्द्धसुषुप्तिवत् होता है, उसे कर्त्तव्य की भावना नहीं फुरती और मन भी नहीं फुरता—इसका नाम पदार्थाभावनी योगभूमिका है। इसमें चित्त लीन हो जाता है। इस अवस्था में जब स्वाभाविक चित्त का कुछ काल इस अभ्यास में व्यतीत होता है और भीतर से सब पदार्थों का अभाव दृढ़ हो जाता है तब तुरीयारूप होता है और जीवन्मुक्त कहाता है।

तब वह इष्ट को पाके हर्षवान् नहीं होता और उसकी निवृत्ति में शोकवान् नहीं होता, केवल विगतसन्देह हो उत्तमपद को प्राप्त होता है। हे रामचन्द्र! तुम भी अब ज्ञात ज्ञेय हुए हो। जो कुछ जानने के योग्य है सो तुमने ज्यों का त्यों जाना है और सब तुम्हारी पदार्थों की भावना तनुता को प्राप्त हुई है। अब तुम्हारे साथ शरीर रहे अथवा न रहे तुम हर्षशोक से रहित निरामय आत्मा हो और स्वच्छ आत्मतत्त्व में स्थित सर्वगत सदा उद्यतिरूप जन्म, मरण, जरा, सुख, दुख से रहित आत्मदृष्टि से अबोधरूप शोक से रहित हो और अद्वैतरूप अपने आप में स्थित हो। देह उदय भी होता है और लीन भी हो जाता है पर देश, काल, वस्तु के भेद से रहित जो आत्मा है वह उदय और अस्त कैसे हो? हे रामचन्द्र! तुम अविनाशी हो, आपको नाशरूप जानकर शोक काहे को करते हो, तुम अमृत सम स्वच्छरूप हो। जैसे घट के फूटने से घटाकाश नष्ट नहीं होता, तैसे ही शरीर के नाश होने से तुम नष्ट नहीं होते। जैसे सूर्य की किरणों के जाने से मृगतृष्णा के जल का नाश हो जाता है, किरणों का नाश नहीं होता। हे रामचन्द्र! जो कुछ जगत् के पदार्थ भासते हैं सो असत्यरूप हैं और उनकी वासना भ्रान्ति से होती है, पर तुम तो अद्वैतरूप हो और यह सब तुम्हारी छायामात्र है। तुम किसकी वाञ्छा करते हो? शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध यह जो पाँचों विषयरूप दृश्य हैं सो तुमसे रञ्चकमात्र भी भिन्न नहीं, सब तुम्हारा स्वरूप है। तुम भ्रम मत करो। हे रामजी! आत्मा सर्वशक्ति है, वही आभास करके अनेकरूप हो भासता है। जैसे आकाश में शून्यता शक्ति आकाश से भिन्न नहीं, तैसे ही आत्मा में सर्वशक्ति है। जो जगत् द्वैतरूप होकर भासता है वही चित्त से दृढ़ हुआ है सो क्रम से तीन प्रकार का त्रैलोक्य जगत् जीव को भ्रम हुआ है—एक सात्त्विक, दूसरा राजस और तीसरा तामस। जब इन तीनों का उपशम हो तब कल्याण होता है। जब वासना क्षय हो तब उसके कर्म भी क्षय हो जाते हैं—उससे भी भ्रम का नाश हो जाता है। चित्त के संसरने का नाम वासना है कर्म संसार मायामात्र है; उनके नष्ट हुए सब शान्त हो जाते हैं। हे रामजी! यह संसार घटीयन्त्र की

नाईं है और जीव वासना से बँधे हुए भ्रमते हैं। तुम आत्मविचाररूपी शस्त्र से यत्न करके इसको काटो। जब तक अविद्या को जीव नहीं जानता तब तक यह बड़े मोह और भ्रम दिखाती है और जब इसको जानता है तब बड़े सुख को प्राप्त करती है अर्थात् जब तक अविद्या को वास्तव में नहीं जानता तब तक संसार सत्य भासता है और उसमें अनेक भ्रम भासते हैं और जब इसका स्वरूप जाना कि कुछ वस्तु नहीं, भ्रमरूप है तब संसारवृत्ति त्याग करता है और स्वरूप को प्राप्त होता है। यह संसार भ्रम से उपजा है और उसी से भोग भोगता और लीला करता है और फिर ब्रह्म में लीन हो जाता है। हे रामचन्द्र! शिवतत्त्व अनन्तरूप अप्रमेय और निर्दुःखरूप है, सब भूततत्त्व उसी से उपजते हैं। जैसे जल से तरङ्ग और अग्नि से उष्णता होती है तैसे ही ब्रह्म से जगत् होता है, उसी में स्थित है और वही रूप है। वह सबका आत्मा है और वही आत्मा ब्रह्म कहाता है। उसके जानने से जगत् को जानता है पर तीनों लोकों के जानने से उसको नहीं जानता। वह जो अव्यक्त और निर्वाणरूप है, उसके जानने के निमित्त शास्त्रकारों ने ब्रह्म, आत्मा आदिक नाम कल्पे हैं, वास्तव में कोई नाम (संज्ञा) नहीं। हे रामचन्द्र! वह पुरुष राग-द्वेष से रहित है और इन्द्रियों और इन्द्रियों के विषयों के संयोग वियोग में द्वेष को नहीं प्राप्त होता। वह तो एक, चैतन शुद्ध, संवित्, अनुभवरूप, अविनाशी और आकाश से भी स्वच्छ निर्मल है। उसमें जगत् ऐसे स्थित है जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब अन्तर्बाह्यरूप होकर स्थित है—उसमें द्वैतरूप कुछ नहीं। हे रामचन्द्र! देह से रहित निर्विकल्प चैतन तुम्हारा आकार है। लज्जा, मोह आदिक विकार तुमको कहाँ हैं? तुम आदिरूप हो, और लज्जा, हर्ष, भयादिक असत्यरूप हैं। तुम क्यों दुर्बुद्धि (मूर्ख) की नाईं विकल्प जाल को प्राप्त होते हो? तुम चैतन आत्मा अखण्डरूप हो; देह के खण्डित हुए आत्मा का अभाव नहीं होता। असम्यक्दर्शी भी ऐसा मानते हैं तो बोधवानों का क्या कहना है। हे रामचन्द्र! जो चित्त संवेदन है उसके अनुभव करनेवाली सत्ता सूर्य के मार्ग से भी नहीं रोकी जाती, उसी को तुम चित्सत्ता जानो; वही पुरुष

है, शरीर पुरुषरूप नहीं। हे रामचन्द्र! शरीर सत्य हो अथवा असत्य, पर पुरुष तो शरीर नहीं। देह के रहने और नष्ट होने से आत्मा ज्यों का त्यों ही है। ये जो सुख-दुःख ग्रहण करते हैं वे देह इन्द्रियादिक चिदात्मा को नहीं ग्रहण करते। जिन पुरुषों को अज्ञान से देह में अभिमान हुआ है उनको सुख-दुःख का अभिमान होता है ज्ञानवान् को नहीं होता। आत्मा को दुःख स्पर्श नहीं करता; वह तो सब विकारों से रहित, मन के मार्ग से अतीत, शून्य की नाईं स्थित है; उसको सुख-दुःख कैसे हो? और देह से मिला हुआ जो भासता है सो स्वरूप को त्यागकर दृश्य के चेतने से देहादिक भ्रम भासते हैं और वासना के अनुसार देह से सम्बन्ध होता है। जैसे भ्रमर और कमलों का संयोग होता है। देह पिंजर के नाश होने से आत्मा का नाश तो नहीं होता। जैसे कमल के नाश होने से भ्रमर का नाश नहीं होता। इससे तुम क्यों वृथा शोक करते हो? हे रामजी! जगत् को असत्य जानकर अभावना करो। मन के निरीक्षक हो। साक्षीभूत, सम, स्वच्छ, निर्विकल्प चिदात्मा में जगत् हो भासता है। जैसे मणि प्रकाशरूप हो भासता है तो फिर जगत् और आत्मा का सम्बन्ध कैसे हो। जैसे दर्पण में अनिच्छित प्रतिबिम्ब आ प्राप्त होता है, तैसे ही आत्मा को जगत् का सम्बन्ध भासता है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब एक रूप होता है, तैसे ही आत्मा में जगत्भेद भी अभेदरूप है। जैसे सूर्य के उदय होने से सब जीवों की क्रिया होती है और दीपक से पदार्थों का ग्रहण होता है तैसे ही आत्मसत्ता से जगत् के पदार्थों का अनुभव होता है। यह जगत् चैतन्यतत्त्व में स्वभाव से उपजा है। प्रथम आत्मा से मन उपजा है और उससे यह जगत्जाल रचा है—वास्तव में आत्मसत्ता में आत्मसत्ता स्थित है। जैसे शून्याकाश शून्यता में स्थित है और उसमें जगत् भासता है सो ऐसे है जैसे आकाश में नीलता और इन्द्रधनुष है परन्तु वह शून्यस्वरूप है। हे रामचन्द्र! यह जगत् चित्त में स्थित है और चित्त संकल्परूप है। जब संकल्प क्षय होता है तब चित्त नष्ट हो जाता है और जब चित्त नष्ट हुआ तब संसाररूपी कुहिरा नष्ट हो जाता है और निर्मल शरत्काल के आकाशवत्

आत्मसत्ता प्रकाशती है। वह चैतनमात्र सत्ता एक, अज आदि-मध्य-अन्त से रहित है, उससे जो स्पन्द फुरा है वह संकल्परूप ब्रह्मा होकर स्थित हुआ है और उसने नाना प्रकार का जगत् रचा है। वह शून्यरूप है, मूर्ख बालक को सत्यरूप भासता है। जैसे बालक को परछाहीं में वैताल भासता है और जैसे जीवों को अज्ञान से देहाभिमान होता है, तैसे ही असत्यरूप ही सत्यरूप होकर भासता है। जब सम्यक्ज्ञान होता है तब लीन हो जाता है। जैसे समुद्र से तरङ्ग उपजकर समुद्र में लीन होते हैं तैसे ही आत्मा में जगत् उपजकर आत्मा में ही लीन होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे आर्षे महारामायणे सप्तनवतितमस्सर्गः ॥ ९७ ॥
समाप्तमिदं उत्पत्तिप्रकरणं तृतीयम् ॥ ३ ॥

ॐसच्चिदानन्दाय नमः।

श्रीयोगवाशिष्ठ

चतुर्थ स्थिति प्रकरण प्रारम्भ।

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! अब स्थितिप्रकरण सुनिये जिसके सुनने से जगत् निर्वाणता को प्राप्त हो। कैसा जगत् है कि जिसके आदि अहन्ता है। ऐसा जो दृश्यरूप जगत् है सो भ्रान्तिमात्र है। जैसे आकाश में नाना प्रकार के रङ्गों सहित इन्द्रधनुष असत्‌रूप है तैसे ही यह जगत है। जैसे द्रष्टा विना अनुभव होता है और निद्रा विना स्वप्न और भविष्यत नगर भासता है तैसे ही भ्रम से चित्त में जगत् स्थित हुआ है। जैसे वानर रेत इकट्ठी करके अग्नि की कल्पना करते हैं पर उससे शीतनिवृत्ति नहीं होती; भावनामात्र अग्नि होती है, तैसे ही यह जगत् भावनामात्र है। जैसे आकाश में रत्न मणि का प्रकाश और गन्धर्वनगर भासता है और जैसे मृगतृष्णा की नदी भासती है तैसे ही यह असत्‌रूप जगत् भ्रम से सत्‌रूप हो भासता है। जैसे दृढ़ अनुभव से संकल्प भासता है पर वह असत्‌रूप है और जैसे कथा के अर्थ चित्त में भासते हैं तैसे ही निःसाररूप जगत् चित्त में साररूप हो भासता है। जैसे स्वप्न में पहाड़ और नदियाँ भास आती हैं, तैसे ही सब भूत बड़े भी भासते हैं पर आकाशवत् शून्यरूप हैं। जैसे स्वप्न में अङ्गना से प्रेम करना अर्थ से रहित और असत्‌रूप है और जैसे मूर्ति के लिखे अग्नि और सूर्य होते हैं परन्तु उनसे कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता तैसे ही यह जगत् भी प्रत्यक्ष भासता है परन्तु वास्तव में कुछ नहीं, अर्थ से रहित है। जैसे चित्र की लिखी कमलिनी सुगन्ध से रहित होती है तैसे ही यह जगत् शून्यरूप है। जैसे आकाश में इन्द्रधनुष और केले का थम्भ सुन्दर भासता है परन्तु उसमें कुछ सार नहीं निकलता तैसे ही यह जगत् देखने में रमणीय भासता है परन्तु अत्यन्त असत्‌रूप है, इसमें सार कुछ नहीं निकलता। देखने में प्रत्यक्ष

अनुभव होता है परन्तु मृगतृष्णा की नदीवत् असत्‌रूप है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्। सर्व संशयों के नाशकर्त्ता ! जब महाकल्प क्षय होता है तब दृश्यमान सब जगत् आत्मरूप बीज में लीन होता है। जैसे बीज में अंकुर रहता है, उससे उपजता है, उसी में स्थित होता है और फिर उसी में लीन होता है। यह बुद्धि ज्ञान की है अथवा अज्ञान की ? सर्व संशयों की निवृत्ति के अर्थ मुझसे स्पष्ट करके कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रकार महाकल्प के क्षय होने पर बीजरूप आत्मा में जगत् स्थित होता है। जो ऐसे कहते हैं वह परम अज्ञानी और महामूर्ख बालक हैं जो ब्रह्म को जगत् का कारण बीज से अंकुर की नाईं कहते हैं वह मूर्ख हैं। बीज तो दृश्यरूप इन्द्रिय का विषय होता है। जैसे वटबीज से अंकुर होता है और फिर विस्तार पाता है सो इन्द्रियों का विषय है और जो मन सहित षट् इन्द्रियों से अतीत है, अर्थात् इन्द्रियों का विषय नहीं, आकाश से भी अधिक निर्मल है, उसको जगत् का बीज कैसे कहिये ? जो आकाश से भी अधिक सूक्ष्म, परम उत्तम, अनुभव से उपलब्ध और नित्य प्राप्त है उसको बीज भाव कहना नहीं बनता। हे रामजी ! जो कि शान्त, सूक्ष्म, सदा प्रकाशसत्ता है और जिसमें दृश्य जगत् असत्‌रूप है उसको बीजरूप कैसे कहिये ? और जब बीजरूप कहना नहीं बनता तब उसे जगत् कैसे कहिये। आकाश से भी अधिक सूक्ष्म निर्मल परमपद में सुमेरु, समुद्र, आकाश आदिक जगत् नहीं बनता। जो किञ्चन और अकिञ्चन है और निराकार, सूक्ष्म सत्ता है उसमें विद्यमान जगत् कैसे हो ? वह महासूक्ष्मरूप है और दृश्य उससे विरुद्धरूप है। जैसे धूप में छाया नहीं, जैसे सूर्य में अन्धकार नहीं, जैसे अग्नि में बरफ़ नहीं, और जैसे अणु में सुमेरु नहीं होता, तैसे ही आत्मा में जगत् नहीं होता। सत्यरूप आत्मा में असत्यरूप जगत् कैसे हो ? वट का बीज भी साकाररूप होता है और निराकाररूप आत्मा में साकाररूप जगत् होना अयुक्त है। हे रामजी ! कारण दो प्रकार का होता है—एक समवाय कारण और दूसरा निमित्तकारण; आत्मा दोनों कारणों से रहित है। निमित्तकारण तब होता है जब कार्य से कर्त्ता भिन्न हो,

पर आत्मा तो अद्वैत है, उसके निकट दूसरी वस्तु नहीं है, वह कर्त्ता कैसे हो और किसका हो, सहकारी भी नहीं जिससे कार्य करे, वह तो मन और इन्द्रियों से रहित निराकार अविकृतरूप है। और समवायकारण भी परिणाम से होता है। जैसे वट बीज परिणाम से वृक्ष होता है; पर आत्मा तो अच्युतरूप है, परिणाम को कदाचित् नहीं प्राप्त होता तो समवाय कारण कैसे हो। जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, क्षीयते, नश्यति; इन षट् विकारों से रहित निर्विकार आत्मा जगत् का कारण कैसे हो? इससे यह जगत् अकारणरूप भ्रान्ति से भासता है। जैसे आकाश में नीलता, सीप में रूपा और निद्रादोष से स्वप्न दृष्टि भासते हैं तैसे ही यह जगत् भ्रान्ति से भासता है। और जब स्वरूप में जागे तब जगत्भ्रम मिट जाता है। इससे कारणकार्य भ्रम को त्यागकर तुम अपने स्वरूप में स्थित हो। दुर्बोध से संकल्परचना हुई है उसको त्याग करो और आदि, मध्य और अन्त से रहित जो सत्ता है उसी में स्थित हो तब जगत्भ्रम मिट जावेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे जगत्निराकरणन्नाम प्रथमस्सर्गः॥ १॥

वशिष्ठजी बोले, हे देवताओं में श्रेष्ठ, रामजी! बीज से अंकुरवत् आत्मा से जगत् का होना अङ्गीकार कीजिये तो भी नहीं बनता, क्योंकि आत्मा सर्वकल्पनाओं से रहित महाचैतन्य और निर्मल आकाशवत् है, उसको जगत् का बीज कैसे मानिये? बीज के परिणाम में अंकुर होता है, और कारण समवायों से होता है, आत्मा में समवाय और निमित्त सहकारी कदाचित् नहीं बनते। जैसे बन्ध्या स्त्री की सन्तान किसी ने नहीं देखी तैसे ही आत्मा से जगत् नहीं होता। जो समवाय और निमित्तकारण विना पदार्थ भासे तो जानिये कि यह है नहीं, भ्रान्तिमात्र भासता है। आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है। और सृष्टि, स्थिति, प्रलय से ब्रह्मसत्ता ही अपने आप में स्थित है। जो इस प्रकार स्थित है तो कारण कार्य का क्रम कैसे हो और जो कारण कार्य भाव न हुआ तो पृथ्वी आदिक भूत कहाँ से उपजे? और जो कारण कार्य मानिये तो पूर्व जो विकार कहे हैं उनका दूषण आता है। इससे न कोई कारण है और न कार्य है, कारण-कार्य विना जो पदार्थ भासे उसको सत्रूप जाने। वह मूर्ख बालक और विवेक से रहित है जो उसे कार्य कारण मानता है—इससे यह जगत् न आगे था, न अब है और न पीछे होगा—स्वच्छ चिदाकाशसत्ता अपने आप में स्थित है। जब जगत् का अत्यन्त अभाव होता है तब सम्पूर्ण ब्रह्म ही दृष्टि आता है। जैसे समुद्र में तरङ्ग भासते हैं तैसे ही आत्मा में जगत् भासता है—अन्यथा कारण कार्यभाव कोई नहीं और न प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभाव ही है। प्रागभव उसे कहते हैं कि जो प्रथम न हो; जैसे प्रथम पुत्र नहीं होता और पीछे उत्पन्न होता है। और जैसे मृत्तिका से घट उत्पन्न होता है। प्रध्वंसाभाव वह है जो प्रथम होकर नष्ट हो जाता है; जैसे घट था और नष्ट हो गया। अन्योन्याभाव वह है, जैसे घट में पट का अभाव है और पट में घट का अभाव है। ये तीन प्रकार के अभाव जिसके हृदय में हैं उसको जगत् दृढ़ होता है और उसको शान्ति नहीं होती। जब जगत् का अत्यन्ताभाव दीखता है तब चित्त शान्तिमान् होता है। जगत् के अत्यन्ताभाव के सिवाय और कोई उपाय नहीं और अशेष जगत् की निवृत्ति विना मुक्ति नहीं होती सूर्य से आदि लेकर जो कुछ प्रकाश पृथ्वी आदिक तत्त्व, क्षण, वर्ष, कल्प आदिक काल और मैं, यह, रूप, अवलोक, मनस्कार इत्यादिक जगत् सब संकल्पमात्र है और कल्प, कल्पक, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र से कीट आदि पर्यन्त जो कुछ जगत्जाल है वह उपज उपजकर अन्तर्धान हो जाता है। महाचैतन्य परम आकाश में अनन्त शक्ति उठती है। जैसे जगत् के पूर्व शान्त सत्ता थी तैसे ही तुम अब भी जानो और कुछ नहीं हुआ। परमाणु के सहस्रांश की नाईं सूक्ष्म चित्तकला है, उस चित्तकला में अनन्त कोटि सृष्टियाँ स्थित हैं; वही चित्तसत्ता फुरने से जगत्रूप हो भासती है और प्रकाशरूप और निराकार शान्तरूप है; न उदय होता है, न अस्त होता है, न आता है और न जाता है। जैसे शिला में रेखा होती है तैसे आत्मा में जगत् है। जैसे आकाश में आकाशसत्ता फुरती है तैसे ही आत्मा में जगत् फुरता है और आत्मा ही में स्थित है। निराकार, निर्विकाररूप विज्ञान घनसत्ता अपने आप में स्थित और उदय और अस्त से रहित, विस्तृतरूप है। हे

रामजी ! जो सहकारी कारण कोई न हुआ तो जगत् शून्य हुआ ऐ जानने से सर्व कलङ्क कलना शान्त हो जाती है। हे रामजी ! तुम दी निद्रा में सोये हो, उस निद्रा का अभाव करके ज्ञानभूमिका को प्राप्त हो जाओ। जागे से निःशोक पद प्राप्त होगा।

इति श्रीयोग० स्थितिप्रकरणे स्मृतिबीजोपन्यासोनाम द्वितीयस्सर्गः ॥२

रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! महाप्रलय के अन्त और सृष्टि के आदि में जो प्रजापति होता है वह जगत् को पूर्व की स्मृति से उसी भाँति रचता है तो ये जगत् स्मृति रूप क्यों न होवे ? वशिष्ठजी बोले कि हे रामजी ! महाप्रलय के आदि में प्रजापति स्मरण करके पूर्व की नाईं जगत् रचता है जो ऐसे मानिये तो नहीं बनता, क्योंकि महाप्रलय में प्रजापति कहाँ रहता है ? जो आप ही न रहे उसकी स्मृति कैसे मानिये जैसे आकाश में वृक्ष नहीं होता तैसे ही महाप्रलय में प्रजापति नहीं होता। फिर रामजी ने पूछा, हे ब्रह्मण्य ! जगत् के आदि में जो ब्रह्मा था उसने जगत् रचा; महाप्रलय में उसकी स्मृति का नाश तो नहीं होता वह तो फिर स्मृति से जगत् रचता है आप कैसे कहते हैं कि नहीं बनता ? वशिष्ठजी बोले, हे शुभव्रत, रामजी ! महाप्रलय के पूर्व जो ब्रह्मादिक होते हैं वह महाप्रलय में सब निर्वाण हो जाते हैं अर्थात् विदेहमुक्त होते हैं। जो स्मृति करनेवाले अन्तर्धान हो गये तो स्मृति कहाँ रही और जो स्मृति निर्मूल हुई तो उसको जगत् का कारण कैसे कहिये ? महाप्रलय उसका नाम है जहाँ सर्व शब्द अर्थ सहित निर्मूल हो जाते हैं; जहाँ सर्व अन्तर्धान हो गये तहाँ स्मृति किसकी कहिये और जो स्मृति का अभाव हुआ तो कारण किसका किसकी नाईं कहिये ? इससे सर्वजगत् चित्त के फुरने मात्र हैं। जब महाप्रलय होता है तब सब यत्न विना ही मोक्षभागी होते हैं और जो आत्मज्ञान हो तो जगत् के होते भी मोक्षभागी होते हैं, पर जो आत्मज्ञान नहीं होता तो जगत् दृढ़ होता है, निवृत्त नहीं होता। जब दृश्य जगत् का अभाव होता है तब स्वच्छ चैतन्य सत्ता जो आदि अन्त से रहित है प्रकाशती है और सब जगत् भी वही रूप भासता है सर्व में अनादि सिद्ध ब्रह्मतत्त्व प्रकाशित

है, उसमें जो आदि संवेदन फुरता है वह ब्रह्मरूप है और अन्तवाहक देह विराट् जगत् हो भासता है। उसका एक प्रमाणरूप यह तीनों जगत् है, उसमें देश, काल, क्रिया, द्रव्य, दिन, रात्रि क्रम हुआ है। उसके अणु में जो जगत् फुरते हैं सो क्या है ? सब संकल्परूप है और ब्रह्मसत्ता का प्रकाश है। जो प्रबुध आत्मज्ञानी है उसको सब जगत् एक ब्रह्मरूप ही भासता है और जो अज्ञानी है उसके चित्त में अनेक प्रकार जगत् की भावना होती है। द्वैत भावना से यह भ्रमता है। जैसे ब्रह्माण्ड के अनेक परमाणु होते हैं; उनके भीतर अनन्त सृष्टियाँ हैं और उनके अन्तर और अनन्त सृष्टि हैं तैसे ही और जो अनन्त सृष्टि हैं उनके अन्तर और अनन्त सृष्टियाँ फुरती हैं सो सब ब्रह्मतत्त्व का ही प्रकाश है। ब्रह्मरूपी महासुमेरु है, उसके भीतर अनेक जगत्रूपी परमाणु हैं सो सब अभिन्नरूप हैं। हे रामजी ! सूर्य की किरणों के समूह में जो सूक्ष्म त्रसरेणु होते हैं उनकी संख्या कदाचित् कोई कर भी सके परन्तु आदि अन्त से रहित जो आत्मरूपी सूर्य है उसकी त्रिलोकीरूपी किरणों की संख्या कोई नहीं कर सकता। जैसे समुद्र में जल और पृथ्वी में धूलि के असंख्य परमाणु हैं तैसे ही आत्मा में असंख्य परमाणुरूप सृष्टियाँ हैं। जैसे आकाश शून्यरूप है तैसे ही आत्मा चिदाकाश जगत्रूप है; यह जो मैंने उसकी सृष्टि कही है जो इनको तुम जगत् शब्द से जानोगे तो अज्ञान बुद्धि है और दुःख और भ्रम देखोगे और जो इनको ब्रह्मशब्द का अर्थ जानोगे तो इस बुद्धि से परमसार को प्राप्त होगे। सर्वविश्व ब्रह्म से फुरता है और विज्ञानघन ब्रह्मरूप ही है, द्वैत नहीं। जब जागोगे तब तुमको ऐसे ही भासेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे जगदनन्तवर्णनन्नाम तृतीयस्सर्गः ॥ ३॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इन्द्रियों का जीतना मोक्ष का कारण है और किसी क्रम तथा उपाय से संसारसमुद्र नहीं तरा जाता। सन्तों के संग और सत्शास्त्रों के विचार से जब आत्मतत्त्व का बोध होता है तब इन्द्रियाँ जीती जाती हैं और जगत् का अत्यन्त अभाव होता है। जब तक संसार का अत्यन्त अभाव नहीं होता तब तक आत्मबोध नहीं होता। यह मैंने तुमसे क्रम कहा है सो संसारसमुद्र तरने का उपाय है। बहुत

कहने से क्या है, सब कर्मों का बीज मन है; मन के छेदे से ही सब जगत् का छेदन होता है। जब मनरूपी बीज नष्ट होता है तब जगत्‌रूपी अंकुर भी नष्ट हो जाता है। सर्व जगत् मन का रूप है, इसके अभाव का उपाय करो। मलीन मन से अनेक जन्म के समूह उत्पन्न होते हैं और इसके जीतने से सब लोकों में जय होती है। सब जगत् मन से हुआ है, मन के रहित हुए से देह भी नहीं भासती; जब मन से दृश्य का अभाव होता है तब मन भी मृतक हो जाता है, इसके सिवाय कोई उपाय नहीं। हे रामजी! मनरूपी पिशाच का नाश और किसी उपाय से नहीं होता। अनेक कल्प बीत गये हैं और बीत जायँगे तब भी मन का नाश न होगा। इससे जब तक जगत् दृश्यमान है तब तक इसका उपाय करो। जगत् का अत्यन्त अभाव चिन्तना और स्वरूप आत्मा का अभ्यास करना यही परम औषध है। इस उपाय से मनरूपी द्रष्टा नष्ट होता है जब तक मन नष्ट नहीं होता तब तक मन के मोह से जन्म मरण होता है और जब ईश्वर परमात्मा की प्रसन्नता होती है तब मन बन्धन से मुक्त होता है। सम्पूर्ण जगत्, मन के फुरने से भासता है; जैसे आकाश में शून्यता और गन्धर्वनगर भासते हैं तैसे ही संपूर्ण जगत् मन में भासता है। जैसे पुष्प में सुगन्ध; तिलों में तेल; गुणी में गुण और धर्मी में धर्म रहते हैं तैसे ही यह सत्-असत्, स्थूल-सूक्ष्म, कारण, कार्यरूप जगत् मन में रहता है। जैसे समुद्र में तरङ्ग, आकाश में दूसरा चन्द्रमा और मरुस्थल में मृगतृष्णा का जल फुरता है तैसे ही चित्त में जगत् फुरता है। जैसे सूर्य में किरणें, तेज में प्रकाश और अग्नि में उष्णता है तैसे ही मन में जगत् है। जैसे बरफ़ में शीतलता, आकाश में शून्यता और पवन में स्पन्दता है तैसे ही मन में जगत् है। संपूर्ण जगत् मनरूप है, मन जगत्‌रूप है और परस्पर एकरूप हैं; दोनों में से एक नष्ट हो तब दोनों नष्ट हो जाते हैं। जब जगत् नष्ट हो तब मन भी नष्ट हो जाता है। जैसे वृक्ष के नष्ट होने से पत्र, टास, फूल, फल नष्ट हो जाते हैं और इनके नष्ट होने से वृक्ष नष्ट नहीं होता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे अंकुरवर्णनन्नाम चतुर्थस्सर्गः ॥ ४ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! आप सर्वधर्मों के वेत्ता और पूर्व अपर के ज्ञाता हैं, मन के फुरने से जगत् कैसे होता है और कैसे हुआ है? दृष्टान्त सहित मुझसे कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जैसे इन्द्र ब्राह्मण के पुत्रों की दश सृष्टि हुईं और दश ही ब्रह्मा हुए सो मन के फुरने से ही उपजकर मन के फुरने में स्थित हुए और जैसे लवण राजा को इन्द्रजाल की माया से चाण्डाल की प्रतिभा दृढ़ होकर भासी, तैसे ही यह जगत् मन में स्थित हुआ है। जैसे शुक्र मन के फुरने से चिरकाल स्वर्ग को भोगते रहे और अनेक भ्रम देखे, तैसे ही यह जगत् मन के भ्रम से स्थित हुआ है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! भृगु ऋषीश्वर के पुत्र ने मन के भ्रम से कैसे स्वर्गसुख भोगे, वह कैसे भोग का अधिपति हुआ है और कैसे संसार भ्रम देखा? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! भृगु के पुत्र का वृत्तान्त सुनो। भृगु और काल का संवाद मन्दराचल पर्वत में हुआ है। एक समय भृगु मन्दराचल पर्वत में जहाँ कल्पवृक्ष और मन्दार आदिक वृक्ष, बहुत सुन्दर स्थान और दिव्यमूर्ति हैं तप करते थे और शुक्रजी उनकी टहल करते थे। जब भृगुजी निर्विकल्प समाधि में स्थित हुए तब निर्मल मूर्ति शुक्र एकान्त जा बैठे। वे कण्ठ में मन्दार और कल्पवृक्षों के फूलों की माला पहिरे हुए विद्या और अविद्या के मध्य में स्थित थे। जैसे त्रिशंकु राजा चाण्डाल था, पर विश्वामित्र के वर को पाके जब स्वर्ग में गया तब देवताओं ने अनादर कर उसे स्वर्ग से गिरा दिया और विश्वामित्र ने देखके कहा कि वहीं खड़ा रह इससे वह भूमि और आकाश के मध्य में स्थित रहा; तैसे ही शुक्र बैठे तो क्या देखा कि एक महासुन्दर अप्सरा उसके ऊर्ध्व स्वर्ग की ओर चली जाती है। जैसे लक्ष्मी की ओर विष्णुजी देखें तैसे ही अप्सरा को शुक्र ने देखा कि महासुन्दरी और अनेक प्रकार के भूषण और वस्त्र पहिने हुए महासुगन्धित है और महासुन्दर आकाशमार्ग भी उससे सुगन्धित हुआ है। पवन भी उसको स्पर्श करके सुगन्ध पसारती है और महामद से उसके घूर्ण नेत्र हैं। ऐसी अप्सरा को देखके शुक्र का मन क्षोभायमान हुआ और जैसे पूर्णमासी के चन्द्रमा को देखके क्षीरसमुद्र क्षोभित होता है तैसे ही उसकी

वृत्ति अप्सरा में जा स्थित हुई और कामदेव का बाण आ लगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे भार्गवसंविद्गमनं नाम पञ्चमस्सर्गः॥५॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार उसने अप्सरा को देखके नेत्र मूँदे और मनोराज को फैलाकर चिन्तने लगा कि यह मृगनयनी ललना जो स्वर्ग को गई है मैं भी उसके निकट पहुँचूँ! ऐसे विचार के वह उसके पीछे चला और जाते जाते मन से स्वर्ग में पहुँचा। वहाँ सुगन्ध सहित मन्दार और कल्पतरु, द्रव स्वर्ण की नाईं देवताओं के शरीर और हास विलास संयुक्त स्त्रियाँ जिनके हरिण की नाईं नेत्र हैं देखे। मणियों के समूह कि परस्पर उनमें प्रतिबिम्ब पड़ते हैं और विश्वरूप की उपमा स्वर्गलोक में देखी। मन्द मन्द पवन चलती है, मन्दार वृक्षों में मञ्जरी प्रफुल्लित हैं और अप्सरागण विचरती हैं। इन्द्र के सम्मुख गया तो देखा कि ऐरावत हस्ती जिसने युद्ध में दाँतों से दैत्य चूर्ण किये हैं बड़े मद सहित खड़ा है, देवताओं के आगे अप्सरा गान करती हैं, सुवर्ण के कमल लगे हुए हैं। ब्रह्मा के हंस और सारस पक्षी विचरते हैं और देवताओं के नायक विश्राम करते हैं। फिर लोकपाल, यम, चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, वायु और अग्नि के स्थान देखे जिनका महाज्वालावत् प्रकाश है। ऐरावत के दाँतों में दैत्यों की पंक्ति देखी, देवता देखे जो विमानों पर आरूढ़ भूषण पहिने हुए फिरते हैं और उनके हार मणियों से जड़े हुए हैं। कहीं सुन्दर विमानों की पंक्ति विचरती हैं, कहीं मन्दारवृक्ष हैं, कहीं कल्पवृक्ष हैं, उनमें सुन्दर लता हैं; कहीं गङ्गा का प्रवाह चलता है, उस पर अप्सरागण बैठी हैं; कहीं सुगन्धता सहित पवन चलता है; कहीं झरने में से जल चलता है; कहीं सुन्दर नन्दन वन है; कहीं अप्सरा बैठी हैं, कहीं नारद आदिक बैठे हैं और कहीं जिन लोगों ने पुण्य किये हैं वे बैठे सुख भोगते हैं और विमानों पर आरूढ़ हुए फिरते हैं। कहीं इन्द्र की अप्सरा कामदेव से मस्त हैं और जैसे कल्पवृक्ष में पके फल लगते हैं तैसे ही रत्न और चिन्तामणि लगे हैं; और कहीं चन्द्रकान्तिमणि स्रवती है। इस प्रकार शुक्र ने मन से स्वर्ग की रचना देखी, मानों त्रिलोक की रचना यहीं है। शुक्र को देखके इन्द्र उठ खड़ा हुआ कि दूसरा भृगु आया है और बड़े प्रकाश संयुक्त शुक्र की मूर्ति को प्रणाम किया और हाथ पकड़ के अपने पास बैठा के बोला, हे शुक्रजी! आज हमारे धन्य भाग्य हैं जो तुम आये। आज हमारा स्वर्ग तुम्हारे आने से सफल, शोभित और निर्मल हुआ है। अब तुम चिरपर्यन्त यहीं रहो। जब ऐसे इन्द्र ने कहा तब शुक्रजी शोभित हुए और उसको देखके सुरों के समूह ने प्रणाम किया कि भृगु के पुत्र शुक्रजी आये हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे भार्गवमनोराजवर्णनन्नाम षष्ठस्सर्गः ६॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब इस प्रकार शुक्रजी इन्द्र के पास जा बैठे तब अपना जो निजभाव था उसको भुला दिया। वह जो मन्दराचल पर्वत पर अपना शरीर था सो भूल गया और वासना से मनोराज का शरीर दृढ़ हो गया। एक मुहूर्त पर्यन्त इन्द्र के पास बैठे रहे परन्तु चित्त उस अप्सरा में रहा। इसके अनन्तर उठ खड़े हुए और स्वर्ग को देखने लगे तब देवताओं ने कहा कि चलो स्वर्ग की रचना देखो। तब शुक्रजी देखते-देखते जहाँ वह अप्परा थी वहाँ गये। बहुत-सी अप्सराओं में वह भी बैठी थी, उसको शुक्रजी ने इस भाँति देखा जैसे चन्द्रमा चाँदनी को देखे। उसे देख के शुक्र का शरीर द्रवीभूत होकर प्रस्वेद से पूर्ण हुआ, जैसे चन्द्रमा को देखके चन्द्रकान्तिमणि द्रवीभूत होती है, और कामदेव के बाण उसके हृदय में आ लगे उससे व्याकुल हो गया। शुक्र को देखके उसका चित्त भी मोहित हो गया—जैसे वर्षाकाल की नदी जल से पूर्ण होती है तैसे ही परस्पर स्नेह बढ़ा। तब शुक्रजी ने मन से तम रचा उससे सब स्थानों में तम हो गया जैसे लोकालोक पर्वत के तट में तम होता है तैसे ही सूर्य का अभाव हो गया। तब भूतजात अपने-अपने स्थानों में गये जैसे दिन के अभाव हुए पशु-पक्षी अपने-अपने गृह को जाते हैं और वह अप्सरा शुक्र के निकट आई। शुक्रजी श्वेत आसन पर बैठ गये और अप्सरा भी जो सुन्दर वस्त्र और भूषण पहिने हुए थी चरणों के निकट बैठी और स्नेह से दोनों कामवश हुए। तब अप्सरा ने मधुरवाणी से कहा, हे नाथ! मैं निर्बल होकर तुम्हारी शरण आई हूँ मुझको कामदेव दहन करता है, तुम रक्षा करो, मैं

इससे पूर्ण हो गई हूँ । स्नेहरूपी रस को वही जानता है जिसको प्राप्त हुआ है, जिसको रस का स्वाद नहीं आया वह क्या जाने । हे साधो ऐसा सुख त्रिलोकी में और कोई नहीं जैसा सुख परस्पर स्नेह से होता है अब तुम्हारे चरणों को पाके मैं आनन्दवान् हुई हूँ और जैसे चन्द्रमा को पाके कमलिनी और चन्द्रमा की किरणों को पाके चकोर आनन्दवान् होते हैं तैसे ही मुझको स्पर्श करके आप आनन्द होंगे । जब इस प्रकार अप्सरा ने कहा तब दोनों काम के वश होकर क्रीड़ा करने लगे ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे भार्गवसंगमोनामसप्तमस्सर्गः ॥ ७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रकार उसको पाके शुक्र ने आपको आनन्दवान् मान, मन्दार और कल्पवृक्ष के नीचे क्रीड़ा की और दिव्य वस्त्र, भूषण और फूलों की माला पहिनकर वन, बगीचे और किनारों में क्रीड़ा करते और चन्द्रमा की किरणों के मार्ग से अमृत पान करते रहे । फिर विद्याधरों के गणों के साथ रह उनके स्थानों और नन्दनवन इत्यादिक में क्रीड़ा करते कैलास पर्वत पर गये और अप्सरा सहित वन कुञ्ज में फिरते रहे । फिर लोकालोक पर्वत पर क्रीड़ा की, फिर मन्दराचलपर्वत के कुञ्ज में विचर अर्धशतयुगपर्यन्त श्वेतद्वीप में रहे। फिर गन्धर्वों के नगरों में रहे और फिर इन्द्र के वन में रहे । इसी प्रकार बत्तीस युग पर्यन्त स्वर्ग में रहे; जब पुण्य क्षीण हुआ तब भूमि-लोक में गिरा दिये गये और गिरते-गिरते उनका शरीर टूट गया। जैसे झरने में से जल बन्द हो तैसे ही शरीर अन्तर्धान हो गया । तब उनकी चिन्तासंयुक्त पुर्यष्टक आकाश में निराधार हो रही और वासना रूप दोनों चन्द्रमा की किरणों में जा स्थित हुए। फिर शुक्र ने तो किरणों के द्वारा धान्य में आ निवास किया और उस धान्य को दशारण्य नाम ब्राह्मण ने भोजन किया तो वीर्य होकर ब्राह्मणी के गर्भ में जा रहा और उस धान्य को मालवदेश के राजा ने भी भोजन किया उसके वीर्यद्वारा वह अप्सरा उसकी स्त्री के उदर में जा स्थित हुई । निदान दशारण्य ब्राह्मण के गृह में शुक्र पुत्र हुआ और मालवदेश के राजा के यहाँ अप्सरा पुत्री हुई । क्रम से जब षोड़श वर्ष की हुई तो महादेव की पूजा कर यह प्रार्थना की कि हे देव ! मुझको पूर्व के भर्ता की प्राप्ति हो। इस प्रकार वह नित्य पूजन करे और वर माँगे । निदान वहाँ वह यौवनवान् हुआ यहाँ यह यौवनवती हुई। तब राजा ने यज्ञ का आरम्भ किया और उसमें सब राजा और ब्राह्मण आये । दशारण्य ब्राह्मण भी पुत्रसहित वहाँ आया तब उस पूर्वजन्म के भर्ता को देखकर स्नेह से राजपुत्री के नेत्रों से जल चलने लगा और उसके कण्ठ में फूल की माला डालके उसे अपना भर्ता किया। राजा यह देखके आश्चर्यमान हुआ और निश्चय किया कि भला हुआ। फिर क्रम से विवाह किया और पुत्री और जामातृ को राज्य देके आप वन में तप करने के लिए चला गया। यहाँ ये पुरुष और स्त्री मालवदेश का राज्य करने लगे और चिरकाल तक राज्य करते रहे। निदान, दोनों वृद्ध हुए और उनका शरीर जर्जरीभूत हो गया। तब उसको वैराग्य हुआ कि सृष्टि महादुःखस्वरूप है पर उसे सामान्य वैराग्य हुआ था इससे जर्जरीभूत अङ्ग में सेवने से तो अशक्त हुआ परन्तु तृष्णा निवृत्त न हुई। निदान मृतक हुआ और बान्धवों ने जला दिया तब ज्ञान की प्राप्ति विना महाअन्धकूप मोह में जा पड़े । हे रामजी ! मृत्यु-मूर्च्छा के अनन्तर उसको परलोक भासि आया और वहाँ कर्म के अनुसार सुख दुःख भोगके अङ्ग बङ्ग देश में धीवर हुआ और अपने धीवरकर्म करता रहा। फिर जब वृद्ध अवस्था आई तब शरीर में वैराग्य हुआ कि यह संसार महादुःखरूप है। ऐसे जानके सूर्य भगवान् का तप करने लगा और जब मृतक हुआ तब तप के वश से सूर्यवंश में राजा होकर भावना के वश से कुछ ज्ञानवान् हुआ । इस जन्म में वह योग करने और वेद पढ़ने लगा और योग की भावना से जब शरीर छूटा तब बड़ा गुरु हुआ और सबको उपदेश करने लगा, मन्त्र सिद्ध किया और वेद में बहुत परिपक्व हुआ। मन्त्र के वश से वह विद्याधर हुआ और एक कल्पपर्यन्त विद्याधर रहा। जब कल्प का अन्त हुआ तब शरीर अन्तर्धान हो गया और पवनरूपी शरीर वासना सहित हो रहा । जब ब्रह्मा की रात्रि क्षय हुई, दिन हुआ और ब्रह्मा ने सृष्टि रची तब वह एक मुनीश्वर के गृह में पुत्र हुआ और वहाँ उसने बड़ा तप किया। वह सुमेरु पर्वत पर जाकर स्थित हुआ और एक मन्वन्तर पर्यन्त वहाँ

रहा। जब इकहत्तर चौयुगी बीतीं तब वह भागों के वश हरिणी का पुत्र हुआ और मनुष्य के आकार से वहाँ रहा और पुत्र के स्नेह से मोह को प्राप्त हो निरन्तर यही चिन्तना करने लगा कि मेरे पुत्र को बहुत धन, गुण, आयु, बल हो। इस कारण तप के भ्रष्ट होने से अपने धर्म से विरक्त हुआ, आयुष्य क्षीण हुई और मृत्युरूप सर्प ने ग्रास लिया और तप की अभिलाषा से शरीर छूटा इस कारण भोग की चिन्तासंयुक्त मद्रदेश के राजा के गृह में उत्पन्न हुआ; फिर उस देश का राजा हुआ और चिरपर्यन्त राज्य भोग के वृद्धावस्था को प्राप्त हुआ और शरीर जर्जरीभूत हो गया। वहाँ तप की अभिलाषा में उसका शरीर छूटा उससे तपेश्वर के गृह में पुत्र हुआ और सन्ताप से रहित होकर गङ्गाजी के किनारे पर तप करने लगा। हे रामजी! इस प्रकार मन के फुरने से शुक्र ने अनेक शरीर भोगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे भार्गवोपाख्याने विविधजन्मवर्णनन्नाम अष्टमस्सर्गः ॥ ८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार शुक्र मन से भ्रमता फिरा। भृगु के पास जो उसका शरीर पड़ा था सो निर्जीव हुआ; पुर्यष्टक निकल गई थी और पवन और धूप से शरीर जर्जरीभूत हो गया जैसे मूल से काटा वृक्ष गिर पड़ता है, तैसे शरीर गिर पड़ा। चञ्चल मन भोग की तृष्णा से वहाँ गया था। जैसे हरिण वन में भ्रमता है और चक्र पर चढ़ा बासन भ्रमता है तैसे ही उसने भ्रम से भ्रमान्तर देखा, पर जब मुनीश्वर के गृह में जन्म लिया तब चित्त में विश्राम हुआ और गङ्गा के तट पर तप करने लगा। निदान मन्दराचल पर्वतवाला शुक्र का शरीर निरस हो गया, अस्थि चर्ममात्र शेष रह गया और लोहू सूख गया। जब शरीर के रन्ध्रमार्ग से पवन चले तब बाँसुरीवत् शब्द हो, मानो चेष्टा को त्याग के शरीर आनन्दवान् हुआ है। जब बड़ा पवन चले तब भूमि में लोटने लगे, नेत्र आदिक जो रन्ध्र थे सो गर्तवत् हो गये और मुख फैल गया—मानो अपने पूर्वस्वभाव को देखके हँसता है। जब वर्षाकाल आवे तब वह शरीर जल से पूर्ण हो जावे और जल उसमें प्रवेश करके रन्ध्रों के मार्ग से ऐसे निकले जैसे झरने से निकलता है और जब उष्णकाल आवे तब महाकाष्ठ की नाईं धूप से

सूख जावे। निदान वह शरीर वन में मौनरूप होकर स्थित रहा। और पशु पक्षियों ने भी उस शरीर को नष्ट न किया। उसका एक तो यह कारण था कि राग द्वेष से रहित पुण्य आश्रम था—और दूसरे भृगुजी महातपस्वी तेजवान् के निकट कोई आ न सकता था। तीसरे उनके संस्कार शेष थे। इस कारण उस देह को कोई नष्ट न कर सका। यहाँ तो शरीर की यह दशा हुई और वहाँ शुक्र पवन के शरीर से चेष्टा करता रहा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे भार्गवकलेवरवर्णनन्नाम नवमस्सर्गः ९॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब सहस्र वर्ष अर्थात् भूमिलोक के तीनलाख साठ सहस्र वर्ष बीते तब भगवान् भृगुजी समाधि से उतरे तो उन्हें शुक्र दृष्टि न आया। जब भले प्रकार नेत्र फैलाकर देखा तब मालूम हुआ कि उसका शरीर कृश होके गिर पड़ा है। यह दशा देख उन्होंने जाना कि काल ने इसको भक्षण किया है और धूप, वायु और मेघ से शरीर जर्जरीभूत हो गया है, नेत्र गढ़ेरूप हो गये हैं, शरीर में कीड़े पड़ गये हैं और जीवों ने उसमें आलय बनाये हैं। घुराण अर्थात् कुसवारी और मक्खियाँ उसमें आती जाती हैं, श्वेत दाँत निकल आये हैं—मानों शरीर की दशा को देखके हँसते हैं और मुख और ग्रीवा महाभयानकरूप, ऊपर श्वेत और नासिका और श्रवणस्थान सब जर्जरीभूत हो गये हैं। उस शरीर की यह दशा देखके भृगुजी उठ खड़े हुए और क्रोधवान् होकर कहने लगे कि काल ने क्या समझा जो मेरे पुत्र को मारा। शुक्र परम तपस्वी और सृष्टिपर्यन्त रहनेवाला था सो विना काल काल ने मेरे पुत्र को क्यों मारा, यह कौन रीति है? मैं काल को शाप देकर भस्म करूँगा। तब महाकाल का रूप काल अद्भुत शरीर धरकर आया। उसके षट्मुख, षट्भुजा, हाथ में खड्ग, त्रिशूल और फाँसी और कानों में मोती पहिने हुए, मुख से ज्वाला निकलती थी; महाश्याम शरीर, अग्निजिह्वा और त्रिशूल के अग्र से अग्नि की लपटें निकलती थीं। जैसे प्रलयकाल की अग्नि से धूम निकलता है तैसे ही उसका श्याम शरीर बड़े पहाड़ की नाईं उग्ररूप था और जहाँ वह चरण रखता था वहाँ पृथ्वी और पहाड़ काँपने लगते थे। निदान भृगुजी महाप्रलय के समुद्र-

वत् क्रोध से पूर्ण थे, उनसे कहने लगा, हे मुनीश्वर ! जो मर्यादा और परावर परमात्मा के वेत्ता हैं वे क्रोध नहीं करते और जो कोई क्रोध करे तो भी वे मोह के वश होकर क्रोधवान् नहीं होते । तुम कारण बिना क्यों मोहित होकर क्रोध को प्राप्त हुए हो ? तुम ब्रह्मतनय तपस्वी हो और हम नीति के पालक हैं । तुम हमारे पूजने योग्य हो-यही नीति की इच्छा है और तप के बल से तुम क्षोभ मत करो, तुम्हारे शाप से मैं भस्म भी नहीं होता । प्रलयकाल की अग्नि भी मुझको दग्ध नहीं कर सकती तो तुम्हारे शाप से मैं कब भस्म हो सकता हूँ । हे मुनीश्वर ! मैं तो अनेक ब्रह्माण्ड भक्षण कर गया हूँ, और कई कोटि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र मैंने ग्रास लिये हैं; तुम्हारा शाप मुझको क्या कर सकता है ? जैसे आदि नीति ईश्वर ने रची है तैसे ही स्थित है । हम सबके भोक्ता हुए हैं और तुमसे ऋषि हमारे भोग हुए हैं, यही आदि नीति है । हे मुनीश्वर ! अग्नि स्वभाव से ऊर्ध्व को जाता है और जल स्वभाव से अधः को जाता है; भोक्ता को भोग प्राप्त होता है और सब सृष्टि काल के मुख में प्राप्त होती है। आदि परमात्मा की नीति ऐसे ही हुई है और जैसे रची है तैसे ही स्थित है; पर जो निष्कलङ्क ज्ञानदृष्टि से देखिये तो न कोई कर्ता है, न भोक्ता है, न कारण है, न कार्य है, एक अद्वैतसत्ता ही है और जो अज्ञान कलङ्क दृष्टि से देखिये तो कर्ता भोक्ता अनेक प्रकार के भ्रम भासते हैं । हे ब्राह्मण ! कर्ता भोक्ता आदिक भ्रम असम्यक् ज्ञान से होता है; जब सम्यक् ज्ञान होता है तब कर्ता, कार्य और भोक्ता कोई नहीं रहता । जैसे वृक्ष में पुष्प स्वभाव से उपज आते हैं और स्वभाव से ही नष्ट हो जाते हैं तैसे ही भूत प्राणी सृष्टि में स्वाभाविक फुर आते हैं और फिर स्वाभाविक रीति से ही नष्ट हो जाते हैं । ब्रह्मा उत्पन्न करता है और फिर नष्ट भी करता है। जैसे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल के हिलने से हिलता भासता है और ठहरने से ठहरा भासता है तैसे ही मन के फुरने से आत्मा में कर्तव्य भोक्तव्य भासता है वास्तव में कुछ नहीं, सब मिथ्या है। जैसे रस्सी में सर्प भ्रम से भासता है तैसे ही आत्मा में कर्तव्य भोक्तव्य भ्रम से भासता है । इससे क्रोध मत करो, यह दुष्टकर्म आपदा का कारण है । हे मुनीश्वर ! मैं तुमको यह वचन अपनी विभूति और अभिमान से नहीं कहता । यह स्वतः ईश्वर की नीति है और हम उनमें स्थित हैं । जो बोधवान् पुरुष हैं वे अपने प्रकृति आचार में विचरते हैं और अभिमान नहीं करते । जो कर्तव्य के वेत्ता हैं वे बाहर से प्रकृत आचार करते हैं और हृदय से सुषुप्ति की नाईं स्थित रहते हैं । वह ज्ञान दृष्टि, धैर्य और उदार दृष्टि कहाँ गई जो शास्त्र में प्रसिद्ध है ? तुम क्यों अन्धे की नाईं मोहमार्ग में मोहित होते हो ? हे साधो ! तुम तो त्रिकालदर्शी हो, अविचार से मूर्ख की नाईं जगत्यन्त्र में क्यों मोह को प्राप्त होते हो ? तुम्हारा पुत्र अपने कर्मों के फल को प्राप्त हुआ है और तुम मूर्ख की नाईं मुझको शाप दिया चाहते हो । हे मुनीश्वर ! इस लोक में सब जीवों के दो-दो शरीर हैं-एक मनरूप और दूसरा आधिभौतिक । आधिभौतिक शरीर अत्यन्त विनाशी है और जहाँ इसको मन प्रेरता है वहाँ चला जाता है-आपसे कुछ कर नहीं सकता । जैसे सारथी भला होता है तो रथ को भले स्थान को ले जाता है और जो सारथी भला नहीं होता तो रथ को दुःख के स्थान में ले जाता है तैसे ही यदि जो मन भला होता है तो उत्तम लोक में जाता है और जो दुष्ट होता है तो नीच स्थान में जाता है । जिसको मन असत् करता है सो असत् भासता है और जिसको मन सत् करता है वह सत् भासता है । जैसे मिट्टी की सेना बालक बनाते और फिर भङ्ग करते हैं; कभी सत् करते, कभी असत् करते हैं और जैसे करते हैं वैसे ही देखते हैं; तैसे ही मन की कल्पना है । हे साधो ! चित्तरूपी पुरुष है, जो चित्त करता है वह होता है और जो चित्त नहीं करता वह नहीं होता । यह जो फुरना है कि यह देह है, ये नेत्र हैं, ये अङ्ग हैं इत्यादिक सब मनरूप हैं । जीव भी मन का नाम है और मन का जीना जीव है । वही मन की वृत्ति जब निश्चयरूप होती है तब उसका नाम बुद्धि होता है; जब अहंरूप धारती है तब उसका नाम अहंकार होता है और जब देह को स्मरण करती है तब उसका नाम चित्त होता है । इससे पृथ्वी-आदि शरीर कोई नहीं; मन ही दृढ़ भावना से शरीररूप होता है और वही आधिभौतिक हो भासता है और जब शरीर की भावना को त्यागता

है तब चित्त परमपद को प्राप्त होता है। जो कुछ जगत् है वह मन के फुरने में स्थित है; जैसा मन फुरता है तैसा ही रूप हो भासता है। तुम्हारे पुत्र शुक्र ने भी मन के फुरने से अनेक स्थान देखे हैं। जब तुम समाधि में स्थित थे तब वह विश्वाची अप्सरा के पीछे मन से चला गया और स्वर्ग में जा पहुँचा। फिर देवता होकर मन्दारवृक्षों में अप्सरा के साथ विचरने लगा और फिर पारिजात तमाल आदि वृक्ष और नन्दन वन में विचरता रहा। इसी प्रकार बत्तीस युग पर्यन्त विश्वाची अप्सरा के साथ लोकपालों के स्थान इत्यादि में विचरता रहा और जैसे भँवरा कमल को सेवता है तैसे ही तीव्र संवेग से भोग भोगता रहा। जब पुण्य क्षीण हुआ तब वहाँ से इस भाँति गिरा जैसे पका फल वृक्ष से गिरता है। तब देवता का शरीर आकाशमार्ग में अन्तर्धान हो गया और भूमिलोक में आ पड़ा। फिर धान में आकर ब्राह्मण के वीर्य द्वारा ब्राह्मणी का पुत्र हुआ; फिर मालवदेश का राज्य किया और फिर धीवर का जन्म पाया। फिर सूर्यवंशी राजा हुआ, फिर विद्याधर हुआ और कल्पपर्यन्त विद्याधरों में विद्यमान रहा और फिर विन्ध्याचल पर्वत में लय होकर क्रान्त देश में धीवर हुआ। फिर तरङ्गीत देश में राजा हुआ, फिर क्रान्तदेश में हरिण हुआ और वन में विचरा और फिर विद्यावान् गुरु हुआ। निदान श्रीमान् विद्याधर हुआ और कुण्डलादिक भूषणों से सम्पन्न बड़ा ऐश्वर्यवान् गन्धर्वों का मुनिनायक हुआ और कल्पपर्यन्त वहाँ रहा। जब प्रलय होने लगी तब पूर्व के सब लोक भस्म हो गये—जैसे अग्नि में पतङ्ग भस्म होते हैं—तब तुम्हारा पुत्र निराधार और निराकार वासना से आकाशमार्ग में भ्रमता रहा। जैसे आलय विना पक्षी रहता है तैसे ही वह रहा और जब ब्रह्मा की रात्रि व्यतीत हुई और सृष्टि की रचना बनी तब वह सतयुग में ब्राह्मण का बालक वसुदेवनाम हो गङ्गा के तट पर तप करने लगा। अब उसे आठसौ वर्ष तप करते बीते हैं; जो तुम भी ज्ञानदृष्टि से देखोगे तो सब वृत्तान्त तुमको भास आवेगा। इससे देखो कि इसी प्रकार है अथवा किसी और प्रकार है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे कालवाक्यन्नामदशमस्सर्गः ॥ १० ॥

काल बोले, हे मुनीश्वर! ऐसी गङ्गा के तटपर जिसमें महातरङ्ग उछलते और झनकार शब्द होते हैं तुम्हारा पुत्र तप करता है। शिरपर उसके बड़ी जटा हैं और सर्व इन्द्रियों को उसने जीत लिया है। जो तुमको उसके मन के विस्तार देखने की इच्छा है तो इन नेत्रों को मूँदकर ज्ञान के नेत्रों से देखो। हे रामजी! जब इस प्रकार जगत् के ईश्वर काल ने, जिसकी समदृष्टि है, कहा; तब मुनीश्वर ने नेत्रों को मूँदकर, जैसे कोई अपनी बुद्धि में प्रतिबिम्ब देखे ज्ञाननेत्रों से एक मुहूर्त्त में अपने पुत्र का सब वृत्तान्त देखा और फिर मन्दराचल पर्वत पर जो भृगुशरीर पड़ा था उसमें प्रवेशकर अन्तवाहक शरीर से अपने अग्रभाग में काल भगवान् को देखकर पुत्र को गङ्गा के तट पर देखा। यह दशा देख वह आश्चर्य को प्राप्त हुआ और विकारदृष्टि को त्यागकर निर्मलभाव से वचन कहे। हे भगवन्! तीनों काल के ज्ञाता ईश्वर! हम बालक हैं, इसी से निर्दोष हैं। तुम सरीखे बुद्धिमान् और तीन काल अमलदर्शी हैं। हे भगवन्! ईश्वर की माया महाआश्चर्यरूप है जो जीवों को अनेक भ्रम दिखाती है और बुद्धिमान् को भी मोह करती है तो मूर्खों की क्या बात है? तुम सब कुछ जानते हो, जीवों की सब वार्त्ता तुम्हारे अन्तर्गत है। जैसी जीवों के मन की वृत्ति होती है उसके अनुसार वे भ्रमते हैं। वह मन की वृत्ति सब तुम्हारे अन्तर्गत फुरती है। जैसे इन्द्रजाली अपनी बाजी का वेत्ता होता है तैसे ही तुम इन सबों के वेत्ता हो। हे भगवन्! मैंने भ्रम को प्राप्त होकर क्रोध इस कारण से किया कि मेरे पुत्र की मृत्यु न थी वह चिरञ्जीवी था और उसको मैं मृतक हुआ देखके भ्रम को प्राप्त हुआ। हमारा क्रोध आपदा का कारण नहीं था, क्योंकि जब मैंने पुत्र का शरीर निर्जीव देखा तब कहा कि अकारण मृतक हुआ इस कारण क्रोध हुआ। क्रोध भी नीतिरूप है अर्थात् जो क्रोध का स्थान हो वहाँ क्रोध चाहिए। मैंने विचारके क्रोध नहीं किया है अर्थात् पुत्र की अवस्था देख के क्रोध किया; निर्जीव शरीर को देखके क्रोध किया; इसी से यह क्रोध आपदा का कारण नहीं। अयुक्ति कारण से जो क्रोध होता है वह आपदा का कारण है और युक्ति से जो क्रोध है वह सम्पदा का कारण है यह कर्त्तव्य संसार

की सत्ता में स्थित है। यह नीति है कि जब तक जीव है तब तक जगत् क्रम है। जैसे जब तक अग्नि है तब तक उष्णता भी है। जो कर्त्तव्य है वह करना है और जो त्यागने योग्य है वह त्यागना है। यह नीति जगत् में स्थित है। जो हेयोपादेय नहीं जानता उसको त्यागना योग्य है। इससे मैंने पुत्र की अकालमृत्यु देखके क्रोध किया था परन्तु विचार करके जब तुमने स्मरण कराया तब मैंने विचार करके देखा कि मेरा पुत्र अनेक भ्रम पाकर अब गङ्गा के तटपर तप करता है। हे भगवन्! तुमने तो कहा कि सब जीवों के दो-दो शरीर हैं—एक मनोमय और दूसरा आधिभौतिक; पर मैं तो यह मानता हूँ कि केवल मन ही एक शरीर है दूसरा कोई नहीं। मन ही का किया सफल होता है, शरीर का नहीं होता। काल बोले, हे मुनीश्वर! तुमने यथार्थ कहा, शरीर एक मन ही है। जैसे घट को कुलाल रचता है, तैसे ही मन ही देह को रचता है। जो मन शरीर से रहित निराकार होता है तो क्षण में आकार को रच लेता है। जैसे बालक परछाहीं में बैताल को भ्रम से रचता है। मन में जो फुरनसत्ता है वह स्वप्नभ्रम दिखाती है और उसमें बड़े आकार और गन्धर्व नगर भासि आते हैं पर वह मन ही की सत्ता है। स्थूल दृष्टि से जीवों को दो शरीर भासते हैं बोधवान् को तीनों जगत् मनरूप भासते हैं और सब मन से रचे हैं। जब भेदवासना होती है तब असत्‌रूप जगत् नाना प्रकार हो भासता है। जैसे असम्यक् दृष्टि से दो चन्द्रमा भासते हैं तैसे ही सम्यक्‌दर्शी को एक चन्द्रमावत् सब शान्तरूप आत्मा ही भासता है और भेदभावना से घट पट आदिक अनेक पदार्थ भासते हैं कि मैं दुर्बल हूँ व मोटा हूँ; सुखी हूँ व दुःखी हूँ; यह जगत् है, यह काल है, इत्यादिक सो संसार वासनामात्र है। जब मन शरीर की वासना को त्यागकर परमार्थ की ओर आता है तब भ्रम को नहीं प्राप्त होता। हे मुनीश्वर! समुद्र से तरङ्ग उठकर ऊर्ध्व को जाता है, जो वह जाने मैं तरङ्ग होता हूँ तो मूर्ख है—यही अज्ञानदृष्टि है। ऊर्ध्व को जावेगा तब जानेगा मैं ऊर्ध्व को गया हूँ, नीचे जावेगा तब जानेगा मैं पाताल को गया हूँ, यह कल्पना ही अज्ञान है, वास्तव नहीं। वास्तव दृष्टि यह है जो

अधः हो अथवा ऊर्ध्व हो परन्तु आपको जलरूप जाने। तैसे ही जो पुरुष परिच्छिन्न देहादिक में अहं प्रतीत करता है सो अनेक भ्रम देखता है; सम्यक्‌दर्शी सब आत्मरूप जानता है। सर्व जीव आत्मरूप समुद्र के तरङ्ग हैं, अज्ञान से भिन्न हैं और ज्ञान से वही रूप है। आत्मरूपी समुद्र म, स्वच्छ, शुद्ध आदि रूप, शीतल, अविनाशी और विस्तृत अपनी महिमा में स्थित है और सदा आनन्दरूप है। जैसे कोई जल में स्थित हो और तटपर पहाड़ में अग्नि लगी हो तो उस अग्नि का प्रतिबिम्ब जल में देख वह कहे कि मैं दग्ध होता हूँ। जैसे भ्रम से उसको ज्वलनता भासती है तैसे ही जीव को आभासरूप जगत् दुःखदायक भासता है। जैसे तट के वृक्ष, पर्वतादि पदार्थ जल में नाना प्रकार प्रतिबिम्बवत् भासते हैं तैसे ही आभासरूप जगत् को जीव नाना रूप मानते हैं। जैसे एक समुद्र में नाना तरङ्ग भासते हैं तैसे ही आत्मा में अनेक आकार जगत् भासता है; वास्तव में द्वैत कुछ नहीं सर्व शक्तिरूप ब्रह्मसत्ता ही है उसी से विचित्ररूप चञ्चल भासता है पर वह एकरूप अपने आपमें स्थित है। ब्रह्म में जगत् फुरता है और उसी में लीन होता है। जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजते हैं और फिर उसी में लीन होते हैं, कुछ भेद नहीं, पूर्ण में ही स्थित है जैसे जल से तरङ्ग और ईश्वर से जगत् और पत्र, डाल, फल, वृक्षरूप हैं तैसे ही सब जगत् आत्मारूप है और वह आत्मा अनेक शक्तिरूप है। जैसे एक पुरुष अनेक कर्म का कर्त्ता होता है और जैसा कर्म करता है तैसे ही संग को पाता है अर्थात् पाठ करने से पाठक और पाक करने से पाचक और जाप करने से जापक आदि अनेक नाम धारता है, तैसे ही एक आत्मा अनेक शक्ति धारता है। जैसे जिस आकार की परछाहीं पड़ती है तैसा ही आकार भासता है और एक मेघ में अनेक रङ्गसहित इन्द्रधनुष भासता है तैसे ही यह अनेक भ्रम पाता है। हे साधो! सब जगत् ब्रह्म से फुरा है और जो भासते हैं वे भी चैतन्य सत्ता से फुरे हैं। जैसे मकड़ी अपने मुख से जाला निकालकर आप ही ग्रास लेती है तैसे ही चैतन्य से जड़ उत्पन्न और फिर लीन हो जाते हैं। चैतन्य जीव से सुषुप्ति जड़ता उपजती है

और फिर उसी में निवृत्त होती है। इससे अपनी इच्छा से यह पुरुष बन्धवान् होता है और अपनी इच्छा से ही मुक्त होता है। जब बहिर्मुख देहादिक अभिमान से मिलता है तब आपको बन्धवान् करता है—जैसे घुरान आप ही गृह रचके बन्धवान् होता है और जब पुरुषार्थ करके अन्तर्मुख होता है तब मुक्ति पाता है। जैसे अपने हाथ के बल से बन्धन को तोड़ के कोई बली निकल जाता है। हे साधो ! ईश्वर की विचित्ररूप शक्ति है; जैसी शक्ति फुरती है तैसा ही रूप दिखाती है। जैसे ओस आकाश में उपजती है और उसी को ढाँप लेती है तैसे ही आत्मा में जो इच्छाशक्ति उपजती है वही आवरण कर लेती है और उसी में तन्मयरूप हो जाती है। वास्तव में जीव को बन्धन और मोक्ष नहीं है, बन्ध और मोक्ष दोनों शब्द भ्रान्तिमात्र हैं। मैं नहीं जानता कि बन्ध और मोक्ष लोक में कहाँ से आये हैं। आत्मा को न बन्धन है और न मोक्ष है; ऐसे सत्‌रूप को असत्यरूप ने ग्रास कर लिया है जो कहता है कि मैं दुःखी व सुखी हूँ, दुबला हूँ व मोटा हूँ इत्यादिक माया महाआश्चर्यरूप है जिसने जगत् को मोहित किया है। हे मुनीश्वर ! जब चित्तसंवित् कलनारूप होता है अर्थात् दृश्य से मिलके स्फूर्त्तिरूप होता है तब कुसवारी की नाईं आप ही आपको बन्धन करता है और जब दृश्य से रहित अन्तर्मुख होता है तब शुद्ध मोक्षरूप भासता है। बन्ध और मुक्ति दोनों मन की शक्ति हैं; जैसा जैसा मन फुरता है तैसा तैसा रूप भासता है। अनेक शक्ति आत्मा से अनन्यरूप है, सब आत्मा से उपजा है और आत्मा में ही स्थित है। जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजते हैं और उसी में स्थित होकर लीन हो जाते हैं और चन्द्रमा से किरणें उदय होकर भिन्न भासतीं पर फिर उसी में लीन होती हैं तैसे ही जीव उपजकर लीन हो जाते हैं। परमात्मारूपी महासमुद्र है, चेतनतारूपी उसमें जल है जिससे जीवरूपी अनेक तरङ्ग उपजते हैं और उसी में स्थित होकर फिर लीन हो जाते हैं। कोई तरङ्ग ब्रह्मारूप, कोई विष्णु, कोई रुद्र होकर प्रकाशते हैं और कोई लहर प्रमाद से रहित यम, कुबेर, इन्द्र, सूर्य, अग्नि, मनुष्य, देवता, गन्धर्व, विद्याधर, यक्ष, किन्नर आदिकरूप होकर उपजते हैं और फिर लीन हो जाते हैं। कोई स्थित होकर

चिरकाल पर्यन्त रहते हैं—जैसे ब्रह्मादिक; कोई उपजकर और कुछ काल रहकर विध्वंस हो जाते हैं—जैसे देवता, मनुष्यादिक और कोई कीट, सर्प आदिक फुरते हैं और चिरकाल भी रहते हैं और अल्पकाल में भी नष्ट हो जाते हैं। कोई ब्रह्मादिक उपजकर अप्रमादी रहते हैं और कोई प्रमादी हो जाते हैं और तुच्छ शरीर होते हैं यह संसार स्वप्न आरम्भ है और दृढ़ होकर भासता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे संसारावर्त्तवर्णनन्नामैकादशस्सर्गः ११॥

काल बोले, हे मुनीश्वर ! देवता, दैत्य, मनुष्यादिक आकार ब्रह्म से अभिन्नरूप हैं और यह सत् है। जब मिथ्या संकल्प से जीव कलङ्कित होता है तब जानता है कि "मैं ब्रह्म नहीं"। इस निश्चय को पाके मोहित होता है और मोहित हुआ अधः को चला जाता है। यद्यपि वह ब्रह्म से अभिन्नरूप है और उसमें स्थित है तो भी भावना के वश से आपको भिन्न जानके मोह को प्राप्त होता है। शुद्ध ब्रह्म में जो संवित् का उल्लेख होता है वही कलङ्कितरूप कर्म का बीज है; उससे आगे विस्तार को पावता है। जैसे जल जिस जिस बीज से मिलता है उसी रस को प्राप्त होता है तैसे ही संवित् का फुरना जैसे कर्म से मिलता है तैसी गति को प्राप्त होता है। संकल्प से कलङ्कित हुआ अनेक दुःख पाता है। यह प्रमादरूप कर्म कञ्ज के बीजसा है जिसको जो मुट्ठी भर भर बोता है सो अपने दुःख का कारण है और यह जगत् आत्मरूप समुद्र की लहर है जो विस्तार से फुरती है और कोई ऊर्ध्व को जाती है और कोई अधः को जाती है फिर लीन हो जाती है। ब्रह्मा आदि तृण पर्यन्त इन सबका यही धर्म है जैसे पवन का स्पन्द धर्म है तैसे ही इनका भी है, पर उनमें कोई निर्मल पूजने योग्य ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादिक हैं; कुछ मोह संयुक्त हैं—जैसे देवता, मनुष्य, सर्प; कोई अनन्त मोह में स्थित हैं—जैसे पर्वत, वृक्षादिक; कोई अज्ञान से मूढ़ हैं—जैसे कृमि, कीटादिक योनि, ये दूर से दूर चले गये हैं। जैसे जल के प्रवाह से तृण चला जाता है तैसे ही देवता, मनुष्य, सर्पादिक कितने भ्रमवान् भी होते हैं और कोई तट के निकट आके फिर बह जाते हैं अर्थात् सत्सङ्ग और सत्‌शास्त्रों को पाके

फिर माया के व्यवहार में बह जाते हैं। और यमरूप चूहा उनको काटता है। एक अल्प मोह को प्राप्त होकर फिर ब्रह्मसमुद्र में लीन हुए हैं; कोई अन्तर्गत ब्रह्म समुद्र को जानके स्थित हुए हैं और तम अज्ञान से तरे हैं; कोई अनेक कोटि जन्म में प्राप्त होते हैं और कोई अधः से ऊर्ध्व को चले जाते हैं। और फिर ऊर्ध्व से अधः को चले आते हैं। इसी प्रकार प्रमाद से जीव अनेक योनि दुःख भोगते हैं। जब आत्मज्ञान होता है तब आपदा से छूट के शान्तिमान् होते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे उत्पत्तिविस्तारवर्णनन्नाम
द्वादशस्सर्गः ॥ १२ ॥

काल बोले, हे साधो! ये जितने जगत् भूतजाति विस्तार हैं वे सब आत्मरूप समुद्र के तरङ्ग हैं—एक ही अनेक विचित्र विस्तार को प्राप्त हुआ है। जैसे वसन्त ऋतु में एक ही रस अनेक प्रकार के फल फूलों को धारता है। इन जीवों में जिसने मन को जीतकर सर्वात्मा ब्रह्म का दर्शन किया है वह जीवन्मुक्त हुआ है। मनुष्य, देवता, यक्ष, किन्नर, गन्धर्वादिक सब भ्रमते हैं; इनसे इतर स्थावर मूढ़ अवस्था में हैं उनकी क्या बात करनी है। लोकों में तीन प्रकार के जीव हैं—एक अज्ञानी जो महामूढ़ हैं; दूसरे जिज्ञासु हैं और तीसरे ज्ञानवान्। जो मूढ़ हैं उनको शास्त्र के श्रवण और विचार में कुछ रुचि नहीं होती और जो जिज्ञासु हैं उनके निमित्त ज्ञानवानों ने शास्त्र रचे हैं। जिस जिस मार्ग से वे प्रबुध आत्मा हुए हैं उस उस प्रकार के उन्होंने शास्त्र रचे हैं और उससे और जीव भी मोक्षभागी होते हैं। हे मुनीश्वर! सत्शास्त्र जो ज्ञानवानों ने रचे हैं उनको जब निष्पाप पुरुष विचारता है तब उसको निर्मल बोध उपजकर मोह निवृत्त होता है और जब निर्मल बुद्धि होती है तब जैसे सूर्य के प्रकाश से तम नष्ट होता है तैसे ही सत्शास्त्र के अभ्यास से मोह नष्ट होता है। जो मूढ़ अज्ञानी हैं वे आत्मा के प्रमाद और विषय की तृष्णा से मोह को प्राप्त होते हैं। जैसे अँधेरी रात्रि हो और ऊपर से कुहिरा भी गिरता हो तब तम से तम होता है तैसे ही मूढ़ मोह से मोह को प्राप्त होते हैं और अपने संकल्प से आप ही दुःखी होते हैं। जैसे बालक अपनी परछाईं में वैताल कल्पकर आप ही दुःखी होता है इससे जितने भूतजात हैं उन सबके सुख-दुःख का कारण मनरूपी शरीर है; जैसे वह फुरता है तैसी गति को प्राप्त होता है। मांसमय शरीर का किया कुछ सफल नहीं होता और असत् मांस आदिक का मिला हुआ जो आधिभौतिक शरीर है वह मन के संकल्प से रचा है—वास्तव में कुछ नहीं। संकल्प की दृढ़ता से जो आधिभौतिक भासने लगा है वह स्वप्न शरीर की नाईं है। मनरूपी शरीर से जो तेरे पुत्र ने किया है उसी गति को वह प्राप्त हुआ है। इसमें हमारा कुछ अपराध नहीं है। हे मुनीश्वर! अपनी वासना के अनुसार जैसा कोई कर्म करता है तैसे ही फल को प्राप्त होता है। मांसमय शरीर से कुछ नहीं होता। जैसी-जैसी तीव्र भावना से तेरे पुत्र का मन फुरता गया है तैसी-तैसी गति वह पाता गया है। बहुत कहने से क्या है, उठो अब वहीं चलो जहाँ वह ब्राह्मण का पुत्र होकर गङ्गा के तट पर तप करने लगा है। इतना कहकर वाल्मीकिजी बोले, हे भारद्वाज! इस प्रकार जब काल भगवान् ने कहा तब दोनों जगत् की गति को हँसके उठ खड़े हुए और हाथ से हाथ पकड़ के कहने लगे कि ईश्वर की नीति आश्चर्यरूप है जो जीवों को बड़े भ्रम दिखाती है। जैसे उदयाचल पर्वत से सूर्य उदय होकर आकाशमार्ग में चलता है तैसे ही प्रकाश की निधि उदार आत्मा दोनों चले। इस प्रकार जब वशिष्ठजी ने रामजी से कहा तब सूर्य अस्त हुआ और सर्व सभा अपने अपने स्थान को गईं। दिन हुए फिर अपने अपने आसन पर आन बैठे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे भृगुआसनन्नाम त्रयोदशस्सर्गः ॥ १३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! काल और भृगुजी दोनों मन्दराचल पर्वत से भूमि पर उतरे और देवताओं के महासुन्दर स्थानों को लाँघते-लाँघते वहाँ गये जहाँ ब्राह्मण शरीर से गङ्गा के किनारे शुक्र समाधि में लगा था। उसका मनरूपी मृग अचल होकर विश्राम को प्राप्त हुआ था। जैसे चिरकाल का थका चिरकाल पर्यन्त विश्राम करता है तैसे ही उसने विश्राम पाया। वह अनेक जन्मों की चिन्तना में भटकता-भटकता अब तप में लगा था और राग-द्वेष से रहित होकर परमानन्दपद

में स्थित था। उसको देखके काल ने बड़े शब्द से कहा, हे भृगो! देख यह समाधि में स्थित है अब इसे जगाइये। तब उसकी कलना फुरने से और बाहर शब्द से; जैसे मेघ के शब्द से मोर जागे; तैसे ही शुक्रजी जागे और अर्धोन्मीलित नेत्र खोल के काल और भृगु को अपने आगे देखा पर पहिंचाना नहीं। उसने देखा कि दोनों के श्याम आकार और बड़े प्रकाशरूप हैं—मानो साक्षात् विष्णु और सदाशिवजी हैं। उन्हें देख वह उठ खड़ा हुआ और प्रीतिपूर्वक चरणवन्दना और नम्रतासहित आदर करके कहा कि मेरे बड़े भाग्य हैं जो प्रभु के चरण इस स्थान में आये। वहाँ एक शिला पड़ी थी उस पर वे दोनों बैठ गये तब वसुदेव नाम शुक्र, जिसका तप के संयोग से पीछे सातातप नाम हुआ था उस शान्त हृदय तपसी ने अगम वचन काल और भृगु से कहे। वह बोला, हे प्रभु! मैं तुम्हारे दर्शन से शान्तिमान् हुआ हूँ। तुम सूर्य और चन्द्रमा इकट्ठे मेरे आश्रम में आये हो और तुम्हारे आने से मेरे मन का मोह नष्ट हो गया जो शास्त्रों और तप से भी निवृत्त होना कठिन है। हे साधो! जैसा सुख महापुरुषों के दर्शन से होता है वैसा किसी ऐश्वर्य और अमृत की वर्षा से भी नहीं होता। तुम ज्ञान के सूर्य और चन्द्रमा हो। हे ऋषीश्वरो! तुमने हमारा स्थान पवित्र किया और मैं शान्तात्मा हुआ। तुम कौन हो जो प्रकाशरूप, उदार आत्मा मेरे स्थान पर आये हो? जब इस प्रकार जन्मान्तर के पुत्र ने भृगुजी से पूछा तब भृगुजी ने कहा; हे साधो! तू आपको स्मरण कर कि कौन है? अज्ञानी तो नहीं, तू तो प्रबोध आत्मा है। जब इस प्रकार भृगुजी ने कहा तब नेत्र मूँद कर शुक्र ध्यान में लगा और एक मुहूर्त्त में अपना सब वृत्तान्त देखके नेत्र खोले और विस्मय होकर कहने लगा कि ईश्वर की गति विचित्ररूप है; इसके वश होकर मैंने बड़े भ्रम देखे हैं और जगत्-रूपी चक्रपर आरूढ़ हुआ मैं अनन्तजन्म भ्रमा हूँ। उन सबको स्मरण करके मैं आश्चर्यवान् होता हूँ कि मैंने बहुत दुःख और अनेक अवस्था भोगी हैं। स्वर्ग और मन्दार, कल्पवृक्ष, सुमेरु, कैलास आदिक वनकुञ्जों में मैं रहा और ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो मैंने नहीं पाया, ऐसा कोई

र्य नहीं जो मैंने नहीं किया और ऐसा कोई इष्ट अनिष्ट नरक-स्वर्ग हीं जो मैंने नहीं देखा। जो कुछ जानने योग्य है वह क्या है? अब आत्मतत्त्व में विश्रामवान् हुआ हूँ और संकल्प भ्रम मेरा नष्ट हो गया है। अब आप वहाँ चलिये जहाँ मन्दराचलपर्वत पर मेरा शरीर पड़ा है। भगवन्! अब मुझको कुछ इच्छा नहीं है। यद्यपि हेयोपादेय मुझको नहीं रहा तथापि नीति की रचना देखके कहता हूँ। जो बोधवान् वह प्रकृत आचार में विचरते हैं, आगे जैसी इच्छा हो तैसे कीजिये। वान् उसी आचार को अङ्गीकार करते हैं। इससे अपने प्रकृत आचार ग्रहण करके व्यवहार में विचरे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे भार्गवजन्मान्तरवर्णनन्नाम चतुर्द्दशस्सर्गः ॥ १४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार विचार करके तीनों आकाश-र्ग को चले और शीघ्र ही मेघमण्डल को उल्लंघ के सिद्धों के मार्ग से न्दराचल पर्वत पर स्वर्ण की कन्दरा में पहुँचे और पूर्व शरीर को देख ने कहा, हे तात! मेरे पूर्व शरीर को देखो, जिसे तुमने बहुत पालन या था। जो शरीर कपूरसुगन्ध से शोभित था और फूलों की शय्या पर न करता था, वह अब माटी में लपटा पड़ा है और सूख गया है। स शरीर को देखके देवस्त्रियाँ मोहित होती थीं और कण्ठ में मुक्त ला ऐसी शोभित थीं मानों तारों की पंक्ति हैं वह शरीर अब पृथ्वी पर पड़ा है। नन्दन वन में इसने अनेक भोग भोगे हैं और आत्मरूप न के इसको मैं पुष्ट करता था वह अब मुझको भयानक भासता है। शरीर देवाङ्गनाओं से मिलता और रागवान् होता था वह अब उन चिन्ता में सूख गया है। जिन जिन विलासों को चाहता था उनको वह ता था और अब वही चित्त से रहित महाअभागी हुआ धूप से सूख गया है और महाविकराल भयानक सा भासता है। जिसको मैं आत्मरूप नता था; जिसमें अहंकार से विलास करता था और जिसमें फूल कमल और तारागण प्रकाशते थे उसमें अब चींटियाँ फिरती हैं। जो शरीर स्वर्णवत् सुन्दर प्रकाशरूप था वह अब धूप से सूखा भयानक भासता

है और सब गुण इसको छोड़ गये हैं—मानों विरक्त आत्मा हुआ औ विषय से मुक्त निर्विकल्पसमाधि में स्थित हुआ है। हे शरीर! तू अ तन को प्राप्त हुआ है; अब तेरे में कोई क्षोभ नहीं रहा। अब चित्तरूपी वैता तेरे में शान्त हो गया है और आने जाने से रहित विश्रामवान् हुआ सब कल्पना तेरी नष्ट हुई हैं और सुख से सोया है। चित्तरूपी मर्कट रहित शरीररूपी वृक्ष ठहर गया है और सब अनर्थ से रहित पहाड़ नाईं अचल हुआ है। यह देह अब सर्वदुःख से रहित परमानन्द स्थित है। हे साधो! सब अनर्थों का कारण चित्त है। जब तक चि शान्तिमान् नहीं होता तब तक जीव को आनन्द नहीं मिलता। ज अमन शक्तिपद को प्राप्त होता है तब महा आधि व्याधि जगत् के दुः को तरके विगत परमानन्द को प्राप्त होता है। रामजी ने पूछा, हे भगव सर्व धर्मों के वेत्ता भृगु का जो शुक्र पुत्र था उसने तो अनेक शरीर धरे थे औ बहुत भोग भोगे थे तो भृगु से जो शरीर उत्पन्न था तिसको देख बहु शोच क्यों किया और देहों का चिन्तन क्यों न किया? इसका क्या कार है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! शुक्र की संवेदन कलना जो जीवभा को प्राप्त हुई थी सो कर्मात्मक होकर भृगु से उपजी। सुनो; आदि परमात्मतत्त्व से चित्तकला फुरकर भूताकाश को प्राप्त हुई और वही वातकला में स्थित होकर प्राण, अपान के मार्ग से भृगु के हृदय में प्रवेश कर गई और वीर्य के स्थान को प्राप्त होकर गर्भमार्ग से उत्पन्न हो क्रम करके बड़ी हुई जिससे विद्या और गुणसम्पन्न शुक्र का शरी हुआ। उस शरीर को जो उसने चिरकाल सेवन किया था इससे उसका शोच किया। यद्यपि वह वीतराग और निरिच्छित था तो भी चिरकाल जो अभ्यास किया था वही फुर आया। हे रामजी! ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी, व्यवहार दोनों का तुल्य होता है परन्तु शक्ति अशक्ति का भेद है। ज्ञानवान् असंसक्त निर्लेप रहता है और अज्ञानी क्रिया में बन्धवान् होता है। ज्ञानवान् मोक्षरूप है और अज्ञानी दरिद्री है। जैसे वन में जाल से पक्षी फँसता है तैसे ही अज्ञानी लोकव्यवहार में बन्धवान् होता है। व्यवहार जैसे ज्ञानी करता है तैसे ही अज्ञानी करता है। जो वासना

हित है वह निर्बन्ध है; वासना सहित बन्ध है इससे वासनामात्र भेद है। बतक शरीर है तबतक सुख दुःख भी होता है परन्तु ज्ञानवान् दोनों में न्तबुद्धि रहता है और अज्ञानी हर्ष शोक से तपायमान होता है। जैसे म्भे का प्रतिबिम्ब जल के हिलने से थम्भ हिलता भासता है परन्तु रूप में स्थित ही है तैसे ही अज्ञान में सुख-दुःख से सुखी-दुःखी भासता परन्तु स्वरूप ज्यों का त्यों है। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब जल के हिलने हिलता भासता है परन्तु स्वरूप से ज्यों का त्यों है तैसे ही ज्ञानवान् न्द्रियों से सुखी दुःखी भासता है पर स्वरूप से ज्यों का त्यों है। अज्ञानी हर से क्रिया का त्याग करता है तो भी बन्ध रहता है और ज्ञानवान् या करता है तो भी मोक्षरूप है। अन्तर में जो अनात्मधर्म में बन्धवान् वह बाहर कर्मइन्द्रिय से मुक्त है तो भी बन्धन में है और जो अन्तर से है वह कर्म इन्द्रिय से बन्धन भासता है तो भी मुक्तरूप है। जो सब ड़ा को त्याग बैठा है और हृदय में जगत् की सत्यता रखता है वह हे कुछ करे वा न करे तो भी बन्धन में है और जो बाहर चाहे जैसा वहार करता है पर हृदय में अद्वैत ज्ञान है तो वह मुक्तरूप है—उसको बन्धन नहीं करता। इससे हे रामजी! सब कार्य करो पर अन्तर से य रहकर सर्व एषणा से रहित आत्मपद में स्थित हो जाओ और ने प्रकृतव्यवहार को करो। यह संसाररूपी समुद्र है जिसमें आधि धि और अहं ममतारूपी गढ़ा है जो उसमें गिरता है वह ऊर्ध्व से ः को जाता है। इससे संसार के भाव में मत स्थित हो और शुद्ध बुद्ध मस्वभाव में स्थित हो। जो ब्रह्म शुद्ध, सर्वात्मा, निर्विकार, निराकार मपद में स्थित हैं उनको नमस्कार है।

श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे शुक्रप्रथमजीवनन्नाम पञ्चदशस्सर्गः १५

शिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार जब शुक्र ने शरीर का वर्णन ा और विकरालरूप देखके उसमें त्याग बुद्धि की तब काल भग- शुक्र के वचन को न मान के गम्भीर वाणी से बोले, हे शुक्र! तू पी शरीर को त्यागकर भृगु के पुत्र का जो शरीर है उसको र कर। जैसे राजा देशदेशान्तर को भ्रमता भ्रमता अपने नगर

में आता है तैसे ही तू भी इस शरीर में प्रवेश कर, क्योंकि भार्गवतन में तुझे असुरों का गुरु होना है। यह आदि परमात्मा की नीति है; महा-कल्पपर्यन्त तेरी आयु है। जब महाकल्प का अन्त होगा तब भार्गव तन नष्ट होगा और फिर तुझको शरीर का ग्रहण न होगा। जैसे र सूखे से पुष्प गिर पड़ता है तैसे ही प्रारब्ध वेग के पूर्ण होने से तेरा शरी गिर पड़ेगा और शरीर के होते जीवन्मुक्तपद को प्राप्त हुआ प्राकृत आचा में विचरेगा। इससे इस शरीर को त्यागकर भार्गव शरीर में प्रवेश कर अब हम जाते हैं, तुम दोनों का कल्याण हो और तुमको वाञ्छित फल मिलें। इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! काल भगवान् ऐसे कहकर और दोनों पर पुष्प डालकर अन्तर्धान हो गये। तब वह तपस्वी नीति को विचारने लगा कि क्या होना है। विचारकर देखा तो विदित हुआ कि जैसे काल भगवान् ने कहा है तैसे ही होना है। ऐसे विचा के महाकृशरूप जो शरीर था उसमें प्रवेश किया और तपस्वी ब्राह्मण का देह त्याग दिया। तब उस शरीर की शोभा जाती रही और कम्पकम्प के पृथ्वी पर गिर पड़ा। जैसे मूल के काटे से बेलि गिर पड़ती है तैसे ही वह देह गिरा और शुक्रदेह जीवकला संयुक्त हो आया। तब भृगुजी उस कृश देह को जीवकला संयुक्त देखके उठ खड़े हुए और हाथ में जल का कमण्डलु ले मन्त्रविद्या से जो पुष्टिशक्ति है पाठकर पुत्रके शरीरपर जल डाला और उसके पड़ने से शरीर की सब नाड़ियाँ पुष्ट होगई। जैसे वसन्तऋतु में कमलिनी प्रफुल्लित होती हैं तैसे ही उसका शरीर प्रफुल्लित हो आया और श्वास आने जाने लगे। तब शुक्र पिता के सम्मुख गया और जैसे मेघ जल से पूर्ण होकर पर्वत के आगे नमता है तैसे ही विधिसंयुक्त नमस्कार करके शिर नवाया और स्नेह से नेत्रों में जल चलने लगा। तब पुत्र को देखके भृगुजी ने उसे कण्ठ लगाया कि यह मेरा पुत्र है। ऐसे स्नेह से पूर्ण हो गया। हे रामजी! जब तक देह है तब तक देह के धर्म फुर आते हैं। इसी प्रकार भृगु ज्ञानी को भी ममता स्नेह फुर आया तो और की क्या बात है? पिता और पुत्र दोनों बैठ गये और एक मुहूर्त्त पर्यन्त कथा वार्ता करते रहे। फिर उठकर उन्होंने उस तपस्वी शरीर को जलाया,

क्योंकि बुद्धिमान् शास्त्राचार में स्थित होते हैं। इसके अनन्तर जिनका वपु तप से प्रकाशता है और जिनकी श्यामकान्ति है ऐसे जीवन्मुक्त उदारात्मा होकर वहाँ रहे और समय पा करके शुक्रजी दैत्यों का गुरु होगा और भृगुजी समाधि में स्थित होंगे। इससे जो सब विकार से रहित जीवन्मुक्त पुरुष जगत्गुरु हैं वह सबके पूजने योग्य हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे भार्गवजन्मान्तर-
वर्णनन्नाम षोडशस्सर्गः ॥१६॥

रामजी बोले, हे भगवन्! जैसे भृगु के पुत्र को यह प्रतिभा फुरती गई और सिद्ध होती गई तैसी ही और जीवों को क्यों नहीं सिद्ध होती? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! शुक्र का जो ब्रह्मतत्त्व से फुरना हुआ वही भार्गव जन्म हुआ और जन्म से कलङ्कित नहीं हुआ वह सर्व एषणा से रहित शुद्ध चैतन्य था। निर्मल हृदय को जैसी स्फूर्ति होती है तैसे ही सिद्धि हो जाती है और मलिन हृदयवान् का संकल्प शीघ्र ही सिद्ध नहीं होता। जैसे भृगु के पुत्र को मनोराज हुआ और भ्रमता फिरा तैसे ही सब ही स्वरूप के प्रमाद से भ्रमते हैं। जब तक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता तब तक शान्ति प्राप्त नहीं होती। यह मैंने भृगु के पुत्र का वृत्तान्त मनोराज की दृढ़ता के लिए तुमको सुनाया है। जैसे बीज ही अंकुर, फूल, फल अनेक भाव को प्राप्त होता है तैसे ही सब भूतजात को मन का भ्रमना अनेक भ्रम को प्राप्त करता है। जो कुछ जगत् तुमको भासता है वह सब मन के फुरने का रूप है; मिथ्याभ्रम से नानात्व भासता है और कुछ नहीं है। एक-एक प्रति ऐसा भ्रम है और सब संकल्पमात्र है; न कुछ उदय होता है और न अस्त होता; सब मिथ्यारूप मायामात्र है। जैसे स्वप्नपुर और संकल्पनगर भासता है तैसे ही परस्पर व्यवहार दृष्टि आते हैं पर कुछ नहीं है और तैसे ही यह जाग्रत्भ्रम भी अज्ञान से दृष्टि आता है। भूत, पिशाच आदिक जितने जीव हैं उनका भी संकल्पमात्र शरीर है; जैसे उनको सुख दुःखों का भोग होता है तैसे ही तुम हमको भी होता है। जैसे यह जगत् है तैसे ही अनन्त जगत् बसते हैं और एक दूसरे को नहीं जानता। जैसे एक स्थान में बहुत पुरुष शयन करते हों

तो उनको मनोराज और स्वप्नभ्रम परस्पर अज्ञात होता है तैसे ही यह जगत् है, पर वास्तव में कुछ नहीं केवल ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित है। जो इस जगत् को सत् जानता है उसका पुरुषार्थ नष्ट होता है जो वस्तु भ्रान्ति से भासती है उसका सम्यक्ज्ञान से अभाव हो जाता है। यह जाग्रत् जगत् भी दीर्घ स्वप्न है। चित्तरूपी हस्ती को बन्धन है और चित्तसत्ता से जगत् सत् भासता है और जगत् सत्ता से चित्त है। एक के नाश होने से दोनों का नाश हो जाता है। जो जगत् का सत्भाव नष्ट होता है तब चित्त नहीं रहता और जब चित्त उपशम होता है तब जगत् शान्त होता है। इस प्रकार एक के नाश होने से दोनों का नाश होता है। दोनों का नाश आत्मविचार से होता है। जैसे उज्ज्वल वस्त्र पर केशर का रङ्ग शीघ्र ही चढ़ जाता है, मलीन वस्त्र पर नहीं चढ़ता तैसे ही जिसका निर्मल हृदय होता है उसको विचार उपजता है। हृदय तब निर्मल होता है जब शास्त्र के अनुसार क्रिया करता है। हे रामजी! एक एक जीव के हृदय में अपनी-अपनी सृष्टि है। पर मलीन चित्त से एक को दूसरा नहीं जानता। जब चित्त शुद्ध होता है तब और की सृष्टि को भी जान लेता है। जैसे शुद्ध धातु परस्पर मिल जाती है। जब दृढ़ अभ्यास होता है तब चिरपर्यन्त सब कुछ भासने लगता है, क्योंकि सबका अधिष्ठाता एक आत्मा है उसमें स्थित होने से सबका ज्ञान होता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! शुक्र को प्रतिभामात्र आभास हुआ था उसमें देश, काल, क्रिया, द्रव्य उसको दृढ़ होकर कैसे भासे? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! शुक्र ने अपने अनुभवरूपी भण्डार में मन से जगत् देखा। जैसे मोर के अण्डे से अनेक रङ्ग निकलते हैं तैसे ही उसको अपने हृदय में भ्रम भासित हुआ। जैसे बीज से पत्र, टास, फूल, फल निकलते हैं तैसे ही जीव जीव को अपने अपने अनुभव में संसार खण्ड फुरते हैं यहाँ स्वप्न दृष्टान्त प्रत्यक्ष है। जैसे एक एक के स्वप्न में जगत् होता है तैसे ही यह जगत् है। दीर्घ स्वप्न जाग्रत् हो भासता है और जैसा दृढ़ होता है तैसा ही भासने लगता है। फिर रामजी ने पूछा, हे भगवन्! सृष्टि के समूह परस्पर मिलते कैसे हैं और नहीं कैसे मिलते? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मलीन चित्त परस्पर नहीं

मिलता; शुद्ध मिलता है—जैसे शुद्ध धातु मिल जाती है। सुषुप्तिरूप आत्मा से सब फुरते हैं सो तन्मयरूप हैं; जिसको उसमें विश्राम होता है सो ज्ञानदृष्टि से सबसे मिल जाता है। जैसे जल से जल मिल जाता है तैसे ही वह सबसे मिलकर सबको जानता है; अन्य नहीं जानता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे मनोराजसम्मीलनवर्णनन्नाम
सप्तदशस्सर्गः ॥ १७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जो कुछ संसारखण्ड हैं उन सबका बीजरूप आत्मा है और सब आत्मा ही का आभास है। आभास के उदय-अस्त होने में आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है; अपने स्वभाव के त्याग से रहित है; सर्वजीवों का अपना आप वास्तवरूप है और सुषुप्ति की नाईं अफुर है। उसी सत्ता में जीव फुरते हैं तब स्वप्नवत् जगत् भ्रम देखते हैं। जीव जीव प्रति अपनी-अपनी सृष्टि स्थित है; जो पुरुष उलटके आत्मपरायण होता है वह आत्मपद में प्राप्त होता है। जिस पुरुष को आत्मब्रह्म से एकता हुई है उसको परस्पर और की सृष्टि भासती है। अन्तःकरण में सृष्टि होती है सो उसका अन्तःकरण मिलता है और उस अन्तःकरण जीवकला के मिले से परस्पर सृष्टि भास आती है सबका अपना आप सन्मात्र सत्ता है, उसमें सब सृष्टि स्थित होती है। जैसे कपूर का पर्वत हो तो उसके अणु-अणु में सुगन्ध होती है और सर्वअणु सुगन्ध पर्वत में एकता होती है तैसे ही सब जीवों का अधिष्ठान आत्मसत्ता है। जैसे सब नदियों के जल का अधिष्ठान समुद्र है तैसे ही सब जीवों का अधिष्ठान आत्मा है। सृष्टि कहीं परस्पर मिलती है और कहीं भिन्न-भिन्न स्थित है। जहाँ चेतनमात्र सत्ता से एकता है वहाँ चित्त की शक्ति जिसके साथ मिलनी चाहे उसको मिल जाती है पर मलीन चित्तवाला नहीं मिल सकता। एक एक जीव में सहस्रोंसृष्टि परस्पर गुप्तरूप होती हैं। जहाँ जैसा फुरना दृढ़ होता है वहाँ वैसाही भासता है; जहाँ मनका फुरना कोमल ढीला है सो सफल नहीं होता और जहाँ दृढ़ होता है सो भासने लगता है। हे रामजी! जब देह की भावना मिट जाती है तो प्राण पवन ही स्थित करने से चित्त की वृत्ति स्वभाव में स्थित होती है और तब और के चित्त

की चेष्टा अपने चित्त में फुर आती है और जब तक चित्त मलीन होता है और देह की भावना को नहीं त्यागता तब तक किसी पदार्थ से एकता नहीं होती। जिसका चित्त निर्मल होता है उसको जैसे और के चित्त का ज्ञान हो आता है तैसे ही और सृष्टि में मिलने की भी शक्ति होती है; अशुद्ध को नहीं होती। सर्वजीवों की तीन अवस्था होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। यह तीनों ही अवस्था आत्मा में जीवित का लक्षण है। जैसे मृगतृष्णा की नदी के तरङ्ग सूर्य की किरणों में हैं वास्तव में उनका अभाव है तैसे ही जीव को आत्मा में प्रमाद है उससे तीनों अवस्थाओं में भटकता है। जब चित्तकला तुरिया में स्थित होती है तब जीवन्मुक्त होता है। आत्म-सत्ता स्वभाव में स्थित हुए से आत्मा से एकता को प्राप्त होता है और सब जीव से सुहृद्भाव होता है। जब अज्ञानी पुरुष सुषुप्तिरूप आत्मसत्ता से जागता है अर्थात् संसार को चितवता है तब संसार को प्राप्त होता है वह संसार में और संसार उसमें, इस प्रकार प्रमाद करके अनेक सृष्टि देखता है। जैसे केले के थम्भ से पत्र का समूह निकल आता है तैसे ही वह सृष्टि से सृष्टि को देखता है, शान्ति नहीं पाता और जब उलटके अपने स्वभाव में स्थित होता है तब नानात्वभाव मिट जाता है और शान्तरूप होता है—जैसे केले के भीतर शीतल होता है। हे रामजी ! जगत् के समूह भासते हैं तो भी आत्मा में द्वैत नहीं। जैसे केले के भीतर पत्रों से भिन्न कुछ नहीं निकलता तैसे ही आत्मा से जगत् भिन्न नहीं। जैसे बीज ही फूलभाव को प्राप्त होता है और फूल से फिर बीज होता है तैसे ही ब्रह्म से मन होता है और बुद्धि से ब्रह्म होता है। जीव का कारण रस है, आत्मा में कारण-कार्यभाव कुछ नहीं बनता, वह तो अद्वैत अचिन्त्य-रूप है। आदि परमात्मा अकारणरूप है, वही विचारने योग्य है और से क्या प्रयोजन है ? बीज जब अपने भाव को त्यागता है तब फूलभाव को प्राप्त होता है और ब्रह्मसत्ता अपने स्वभाव को कदाचित् नहीं त्यागती। बीज परिणाम से आकाररूप होता है आत्मा अकृत्रिम, निराकार और अच्युतरूप है, इस कारण आत्मा बीज की नाईं भी नहीं कहा जा सकता। आकाश से आकाश नहीं उपजता और अभिन्नरूप है; न कोई

उपजा है, न किसी को उपजाया है, केवल ब्रह्म आकाश अपने आप में स्थित है। जब द्रष्टा पुरुष को देखता है तब आपको नहीं देख सकता, क्योंकि जब मनोराज का परिणाम जगत् में जाता है तब विद्यमान वस्तु की सँभाल नहीं रहती। देहादिक में आत्म-अभिमान होता है। जो पुरुष आत्मसत्ता को देखता है उसको जगत्भाव नहीं रहता और जो जगत् को देखता है उसको आत्मसत्ता नहीं भासती। जैसे जो मृग-तृष्णा की नदी को झूठ जानता है उसको जलभाव नहीं रहता और जो जल जानता है उसको अस्तबुद्धि नहीं होती। आकाश की नाईं पूर्ण पुरुष द्रष्टा है वह जब इस दृश्य की ओर जाता है तब आप को नहीं देख सकता। आकाश की नाईं ब्रह्मसत्ता सब ठौर पूर्ण है सो अज्ञानी को नहीं भासती, उसे जो दृश्य का अत्यन्ताभाव है वही भासता है, अनुभव का वासना दूर हो गया है। हे रामजी ! स्थूलपदार्थ के आगे पटल आता है तब वह नहीं भासता तो जो सूक्ष्म निराकार द्रष्टा पुरुष है उसके आगे आवरण आवे तब वह कैसे भासे ? जो द्रष्टा पुरुष है वह अपने ही भाव में स्थित है दृश्यभाव को नहीं प्राप्त होता, दृश्य भासता है तब द्रष्टा नहीं दीखता और दृश्य कुछ वस्तु है नहीं। इससे द्रष्टा एक परमात्मा ही अपने आपमें स्थित है, जो आत्मरूप सर्वशक्तिमान् देव है। जैसा कल्पना उसमें होता है वैसा ही शीघ्र भास आता है। जैसे वसन्तऋतु में एक रस अनेक रूपों को धारता है और उससे टास, फल, फूल होते हैं तैसे ही एक आत्मसत्ता अनेक जीव देह होके भासती है। जैसे अपने ही भीतर अनेक स्वप्नभ्रम देखता है तैसे ही अहं आदिक जगत् दृश्य भ्रम को अनुभव ही प्राप्त होता है और स्वरूप से और कुछ नहीं हुआ। जैसे एक बीज के भीतर पत्र, टास, फूल, फल अनेक होते हैं और उसमें और बीज होता है; बीज के भीतर और वृक्ष और उसके भीतर और बीज होता है इसी प्रकार एक बीज के भीतर अनेक वृक्ष होते हैं; तैसे ही एक आत्मा में और अनेक चिद्अणु फुरते हैं; उनके भीतर सृष्टि होती है और फिर उन सृष्टियों के भीतर चिद्अणु, फिर चिद्अणु के भीतर सृष्टि, इसी प्रकार अनेक सृष्टिरूप ब्रह्माण्ड हैं उनकी संख्या कुछ कही नहीं जाती व सब

अपने आप से फुरते हैं और आप ही स्वाद लेता है। जैसे तिल में तेल है तैसे ही चिद्अणु में आकाश, पवन आदिक अनेक सृष्टि स्थित हैं; आकाश में पवन, अग्नि में जल, सर्वभूतों में पृथ्वी सृष्टि स्थित है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो चित्त से सत्तारहित हो ; जहाँ चित्त है वहाँ उसका आभासरूप द्रष्टा भी स्थित है। जैसे डब्बे में लौंग होते हैं तो उनके नष्ट होने से डब्बा नष्ट नहीं होता। जैसा जैसा उसमें फुरना होता है तैसा ही तैसा स्थित होता है। सबका अधिष्ठानरूप आत्मा है; जैसे कमल को पूर्ण करनेवाला जल है उससे सब स्फूर्ति होते और प्रकाशते हैं तैसे ही सब सृष्टि को सत्ता देनेवाला और आश्रयरूप आत्मतत्त्व है। यह जगत् दीर्घस्वप्नरूप अपने अनुभव से उदय हुआ है सो बाह्यरूप होकर भासता है; उस स्वप्न से और स्वप्नान्तर होता है उसके आगे और स्वप्न होता है इसी प्रकार सृष्टि की स्थिति हुई है। जैसे एक बीज से अनेक वृक्ष होते हैं तैसे ही एक चिद्अणु में अनेक सृष्टि स्थित हैं। जैसे जल में अनेक तरङ्ग भासते हैं तैसे ही आत्मअनुभव में अनेक जगत् भासते हैं और अभिन्नरूप हैं। इससे द्वैतभ्रम को तुम त्याग दो; न कोई देश है, न काल क्रिया है, केवल एक अद्वैत आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है। जैसे आकाश में आकाश स्थित है तैसे ही आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है। ब्रह्मा से कीट पर्यन्त जो जगत् भासता है सो एक परमात्मा ही अपने आप में किंचनरूप होता है। जैसे एक रससत्ता ही कहीं फल और सुगन्ध सहित भासती है और कहीं काष्ठरूप को प्राप्त होती है तैसे ही एक परमात्मसत्ता कहीं चैतन्य और कहीं जड़रूप होकर दिखाई देती है। जो सर्वगत अविनाशी आत्मा है वही सबका बीजरूप है और उसी के भीतर सब जगत् स्थित है। पर जिसको आत्मा का प्रमाद है उसको नानारूप भासता है। जैसे कोई जल में डूबे और फिर निकले; फिर डूबे, फिर निकले और जैसे स्वप्न में और स्वप्न होता है; तैसे ही प्रमाददोष से भ्रम से भ्रमान्तर नाना प्रकार के जगत् जीव देखता है। जगत् और आत्मा में कुछ भेद नहीं है, क्योंकि जगत् कुछ है नहीं, आत्मा ही जगत् सा हो भासता है। जैसे विचाररहित को सुवर्ण में भूषणबुद्धि होती है और विचार किये से भूषणबुद्धि नष्ट हो जाती है, सुवर्ण ही भासता है; तैसे ही जो विचार से रहित है उसको यह जगत् पदार्थ भासते हैं कि यह मैं हूँ, यह जगत् है, यह उपजा है और यह लीन होता है; और जिसको सत्सङ्ग और शास्त्र के संयोग से विचार उपजा है उसको दिन प्रतिदिन भोग की तृष्णा घटती जाती है और आत्मविचार दृढ़ होता जाता है। जैसे किसी को ताप आता हो तो औषध करके निवृत्त हो जाता है और दो लक्षण उसमें प्रत्यक्ष होते हैं; एक तो तृषा निवृत्त हो जाती है, दूसरे शरीर से तपन निवृत्त हो जाती है और शीतलता प्रकट होती है तैसे ही ज्यों ज्यों विवेक दृढ़ होता है त्यों त्यों इन्द्रियों को जीतता है; सन्तोष से हृदय शीतल होता है और सर्व आत्मा ही भासता है। यह विवेक का फल है। हे रामजी! जैसे अग्नि के लिखे चित्र से कुछ कार्य नहीं सिद्ध होता तैसे ही निश्चय से रहित वचन का विवेक दुःख को निवृत्त नहीं करता और शान्ति प्राप्त नहीं होती। जैसे जब पवन चलता है तब पत्र और वृक्ष हिलते हैं और उसका लक्षण भासता है पर वाणी से कहिये तो नहीं हिलते तैसे ही जब विवेक हृदय में आता है तब भोग की तृष्णा घट जाती है; मुख के कहने से तृष्णा घटती नहीं। जैसे अमृत का लिखा चित्र पान करने से अमर होने का कार्य नहीं करता; चित्र की लिखी अग्नि शीत नहीं निवृत्त करती और स्त्री के चित्र के स्पर्श से सन्तान उपजने का कार्य नहीं होता; तैसे ही मुख का विवेक वाणीविलास है और भोग की तृष्णा को निवृत्त करके शान्ति को नहीं प्राप्त करता। जैसे चित्र देखनेमात्र ही होता है तैसे ही यह विवेक वाग्विलास है। हे रामजी! प्रथम जब विवेक आता है तब राग-द्वेष को नाश करता है और ब्रह्मलोक पर्यन्त जो कुछ विषय भोगरूप हैं उनसे तृष्णा और वैरभाव को नष्ट करता है। जैसे सूर्य के उदय होने से अन्धकार नष्ट होता है तैसे ही विवेक उदय होने से अज्ञान नष्ट हो जाता है और पावनपद की प्राप्ति होती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे जीवपदवर्णनन्नामअष्टादशस्सर्गः १८॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! सर्वजीवों का बीज परमात्मा है। और वह सर्व ओर से आकाश की नाईं स्थित है। उसके फुरने का नाम जीव है और उस जीव के भीतर जगत् है। उसके आगे और नाना प्रकार की रचना है, पर वास्तव में चिद्घन जीव के रूप से भीतर स्थित हुआ है इससे सब जीव चिद्घनरूप हैं। जैसे केले के थम्भ में पत्र होते हैं तैसे ही आत्मसत्ता के भीतर जीव स्थित हैं। जैसे शरीर के भीतर कीट होते हैं तैसे ही आत्मा के भीतर जीवराशि हैं और जैसे प्रस्वेद से जूँ और लीख आदिक जीव उपजते हैं और दूसरे पदार्थ में कीट उपज आते हैं तैसे ही आत्मा में चित्तकला के फुरने से जीव के समूह फुर आते हैं। फिर जीव जैसी जैसी सिद्धि के निमित्त यत्न उपासना करते हैं तैसी तैसी गति पाते हैं। जो देवता की उपासना करते हैं वह देवता को प्राप्त होते हैं और यज्ञ के उपासक यज्ञ को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार जिसकी जो उपासना करते हैं उसी को वे प्राप्त होते हैं। ब्रह्म के उपासक ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं। इससे जो अतुच्छपद है उस महत्पद का तुम आश्रय करो। जैसे शुक्र जब दृश्य के ओर लगा तब उसने अनेक प्रकार के दृश्य भ्रम को देखा और जब शुद्धबुद्धि की ओर आया तब निर्मल बोध को प्राप्त हुआ तैसे ही जिसकी कोई उपासना करता है उसी को वह प्राप्त होता है; अन्य को नहीं प्राप्त होता। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जाग्रत् और स्वप्न का भेद कहिये कि जाग्रत् क्या है और स्वप्न क्या है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! स्थिर प्रतीति का नाम जाग्रत् है अस्थिर प्रतीति का नाम स्वप्न है जो चिरकाल रहता है उसका नाम स्थिर है और जो अल्पकाल रहे उसका नाम अस्थिर है अर्थात् दीर्घकाल प्रतीति का नाम जाग्रत् है और अल्पकाल का नाम स्वप्न है। इनमें कोई विशेष भेद नहीं है, दोनों का अनुभव सम होता है। शरीर के भीतर स्थित होकर जो शरीर को जिवाता है उसका नाम जीव है। वह तेज और बीजरूप है। जीव धातु है यह सब उसके नाम हैं। जब जीवधातु स्पन्दरूप होता है तब वह शरीर के रन्ध्रों में फैलता है; मन, वाणी और देह से सब व्यवहार होता है और रन्ध्र खुल जाते हैं तब उसको जाग्रत् कहते हैं। जब चित्तकला जाग्रत् व्यवहार में स्पष्टरूप होती है और भीतर होकर फुरती है तब

उसके भीतर जगत् भ्रम भासने लगता है, वह स्वप्ना कहाता है। अब सुषुप्ति का क्रम सुनो। मन, वाणी और शरीर से जहाँ कोई क्षोभ नहीं और स्वच्छवृत्ति जीवधातु भीतर स्थित है; हृदयकोश में प्राणवायु से क्षोभ नहीं होता और नाड़ी रस से पूर्ण होती हैं उस मार्ग से प्राण आने जाने से रहित होते हैं और क्षोभ से रहित सम वायु चलता है उसका नाम सुषुप्ति है। जैसे वायु से रहित एकान्त गृह में दीपक उज्ज्वल प्रकाशता है तैसे ही वहाँ संवित्सत्ता अपने आपका अनुभव लेती है। जैसे तिलों में तेल स्थित होता है तैसे ही जीव संवित् कलना से जो कल्पता है सो उस काल में अपने आप में स्थित होता है। जैसे बरफ़ में शीतलता और घृत में चिकनाई होती है तैसे ही वहाँ संवित्सत्ता स्थित होती है; उसका नाम सुषुप्ति अवस्था है। जड़रूप उस सुषुप्ति अवस्था से जागकर दृश्यभाव को न प्राप्त हो और निर्विकल्प प्रकाश में स्थित हो सो ज्ञानरूप तुरीया है। तब वह व्यवहार करे तो भी जीवन्मुक्त है; वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में बन्धवान् नहीं होता। हे रामजी! आत्मसत्ता से फुरना होकर स्वरूप विस्मरण हो जाता है और फुरना दृढ़ होकर स्थित होता है इसी का नाम जाग्रत् है। स्वरूप से प्रमाद दोष करके फुरे और जो जगत् भासे उसको सत्रूप जाने और यह प्रतीति थोड़े काल रहकर फिर निवृत्त हो जावे इसका नाम स्वप्न है। दृश्य के फुरने का अभाव हो जावे और अज्ञातवृत्ति जड़तारूप रहे उसका नाम सुषुप्ति है। अनुभव में ज्ञान स्थित रहे और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का व्यवहार हो, पर निश्चय में इनका सद्भाव रञ्चक भी न हो, केवल ज्ञान में अहंप्रतीति हो और वृत्ति उससे चलायमान न हो उसका नाम तुरीया पद है। उसमें स्थित हुआ जीवन्मुक्त होता है। जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में जीव स्थित होते हैं। जब नाड़ी अन्न के रस से पूर्ण हो जाती हैं और प्राणवायु हृदय नाम्नी नाड़ी में नहीं आता तब चित्तसंवित् अक्षोभरूप सुषुप्ति होता है। जब अन्न उस नाड़ी से पचता है और प्राणवायु चलने लगता है तब चित्तसंवित् क्षोभरूप फुरने लगता है और उस फुरने से अपने भीतर हो बड़े जगत् भ्रम देखता है; जैसे

बीज से वृक्ष होता है। जब वायु का रस नाड़ी में बहुत होता है तब चित्त सत्ता आकाश में उड़ना, वायु, अँधेरी आदिक पदार्थों को देखता है; जब कफ का रस नाड़ी में अधिक होता है तब फूल, बेल, बावलियाँ, जल, मेघ, बगीचे आदिक पदार्थ भासते हैं और जब पित्त की अधिकता होती है तब उष्णरूप अग्नि, रक्त, वस्त्र आदिक भासने लगते हैं। इस प्रकार वासना के अनुसार जगत्भ्रम देखता है और जैसी जैसी भावना दृढ़ होती है तैसा ही पदार्थ दृढ़ हो भासता है। जब पवन क्षोभायमान होता है तब चित्तसंवित् नेत्र आदिक द्वार के बाहर निकलकर रूपादिक का अनुभव करता है। चिरपर्यन्त सत् जानने का नाम जाग्रत् है। वासना के अनुसार मनरूपी शरीर से जीव नेत्र, जिह्वादिक विना जो रूप रसादिक का अनुभव होता है उसका नाम स्वप्न है पर स्वरूप से न कोई स्वप्ना है, न जाग्रत् है और न सुषुप्ति है; केवल सत्ता अपने आप में स्थित है; उसी के फुरने का नाम जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति है। चिरकाल फुरने का नाम जाग्रत् है और अल्पकाल फुरने का नाम स्वप्ना है सो केवल प्रतीति का भेद है। वास्तव में कुछ भेद नहीं और जो वास्तव में भेद न हुआ तो जगत् स्वप्नरूप हुआ। इससे यही भावना दृढ़ करो कि जगत् असत्रूप स्वप्नवत् है इसमें सत्भावना करनी दुःख का कारण है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयारूप-
वर्णनन्नामैकोनविंशतितमस्सर्गः ॥ १९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह मैंने तुमको मन का रूप निरूपण करके दिखाया है और अवस्थाओं का निरूपण भी इसी निमित्त किया है; और प्रयोजन कुछ नहीं। इससे जैसा निश्चय चित्त में होता है तैसा ही हो भासता है। जैसे अग्नि में लोहा डालिये तो अग्निरूप हो जाता है तैसे ही मन जिस पदार्थ से लगता है उसी का रूप हो जाता है। भाव, अभाव, ग्रहण, त्याग, सब मन ही से होते हैं; न कोई सत् है, न असत् है केवल मन की चपलता से सब फुरते हैं। मन के मोह से ही जगत् भासता है और मन के नष्ट होने से नष्ट हो जाता है। जो मलीन मन है सो अपने फुरने से जगत् को रचता है। यह मन ही पुरुष है इसको तुम अशुभमार्ग में न लगाना। जब मन को जीतोगे तब सब जगत् में तुम्हारी जय होगी। मन के जीते से सब जगत् जीता जाता है और तब बड़ी विभूति प्राप्त होती है। जो शरीर का नाम पुरुष होता तो शुक्र का शरीर पड़ा था, वह दूसरा शरीर न रचता पर उसका शरीर तो वहाँ पड़ा रहा और मन अन्य शरीरों को रचता फिरा; इससे शरीर का नाम पुरुष नहीं मन ही का नाम पुरुष है। शरीर चित्त का किया होता है, शरीर का किया चित्त नहीं होता। जिस ओर चित्त जा लगता है उसी पदार्थ की प्राप्ति होती है, इसमें संशय नहीं। इससे यह अतितुच्छ पद है। आत्मसत्ता का चित्त में सदा अभ्यास करो और भ्रम को त्याग दो। जब मन दृश्य की ओर संसरता है तब अनेक जन्म के दुःखों को प्राप्त होता है और जब आत्मा की ओर इसका प्रवाह होता है तब परमपद को प्राप्त होता है। इससे दृश्यभ्रम को त्याग के आत्मपद में स्थित करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे भार्गवोपाख्यानसमाप्तिवर्णन-
न्नाम विंशतितमस्सर्गः ॥ २० ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! सर्वधर्मों के वेत्ता! जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजके फैल जाता है तैसे ही मेरे हृदय में एक बड़ा संशय उत्पन्न होकर फैल गया है कि देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित नित्य, निर्मल, विस्तृत और निरामय आत्मसत्ता में मलीन संवित् मन नामक कहाँ से आया और कैसे स्थित हुआ? जिससे भिन्न कुछ वस्तु नहीं है और न आगे होगी उसमें कलङ्कता कहाँ से आई? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तुमने भला प्रश्न किया। अब तुम्हारी बुद्धि मोक्षभागी हुई है जैसे नन्दनवन के कल्पवृक्ष में कल्पमञ्जरी लगती है तैसे ही तुम्हारी बुद्धि पूर्व अपर के विचार से जागी है। अब तुम उस पद को प्राप्त होगे जिस पद को शुक्र आदिक प्राप्त हुए हैं। तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर मैं सिद्धान्तकाल में दूँगा और उस काल में तुमको आत्मपद हस्तामलकवत् भासेगा। हे रामजी! सिद्धान्त का प्रश्नोत्तर सिद्धान्तकाल में सोहता है और जिज्ञासु का प्रश्नोत्तर जिज्ञासुकाल में सोहता है। जैसे वर्षाकाल में मोर की वाणी शोभती है और शरद्काल में हंस की वाणी शोभती है और जैसे वर्षा-

काल के नष्ट हुए स्वाभाविक ही आकाश की नीलता भासती है और वर्षाकाल में मेघ की घटा शोभती है तैसे ही प्रश्नोत्तर भी हैं। जैसा समय हो तैसा ही शोभता है। हे रामजी! मैं तुमको मन का स्वरूप अनेक प्रकार के दृष्टान्तों और युक्तियों से कहूँगा और जिस प्रकार यह निवृत्त होता है वह भी क्रम से बहुत प्रकार कहूँगा। मन की शान्ति के उपाय जो वेदों ने निर्णय किये हैं और शास्त्रकारों ने कहे हैं उनके लक्षण तुम सुनो। चञ्चल मन जैसा जैसा भाव अङ्गीकार करता है तैसा ही तैसा रूप होकर भासने लगता है। जैसे पवन जैसी सुगन्ध से मिलता है तैसा ही उसका स्वभाव हो जाता है और जैसे जल जिस रङ्ग से मिलता है तैसा ही रूप हो भासता है तैसे ही मन जिस पदार्थ से मिलता है उसका रूप हो जाता है। मन से रहित जो शरीर से क्रिया करता है उसका फल कुछ नहीं होता और मन से करता है उसका पूर्ण फल होता है। जिस ओर मन जाता है उसी ओर शरीर भी लग जाता है। बुद्धि इन्द्रिय जो मनरूप हैं वे यदि क्षोभ को प्राप्त हों और देह इन्द्रिय स्थिर हों तो भी कार्य होता है, पर यदि मन क्षोभित न हो और कर्मेन्द्रिय क्षोभित हों तो कार्य नहीं होता। जैसे धूल क्षोभायमान हो तो पवन विना आकाश को उड़ नहीं सकती और पवन क्षोभायमान हो तो चाहे जैसी धूल स्थित हो उसको उड़ा ले जाती है; तैसे ही देह पड़ा रहता है मन अपने फुरने से स्वप्न में अनेक अवस्था को प्राप्त होता है और जाग्रत् में भी जिस ओर मन फुरता है देह को भी वहीं ले जाता है। इससे सब कार्यों का बीज मन ही है और मन से ही सब कर्म होते हैं। मन और कर्म परस्पर अभिन्नरूप हैं। जैसे फूल और सुगन्ध अभिन्नरूप हैं तैसे ही मन और कर्म हैं। जिस कर्म का अभ्यास मन में दृढ़ होता है उसी की शाखा फैलती हैं; उसी फल को प्राप्त होता है और उसी स्वाद का अनुभव करता है। जिस जिस भाव को चित्त ग्रहण करता है उसी उसी भाव को प्राप्त होता है और उसी को कल्पनारूप मानता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पदार्थ हैं; उनमें जिसकी दृढ़ भावना मन करता है उसी को सिद्ध करता है। कपिलदेव ने सब शास्त्र अपने मन की सत्ता ही से बनाये हैं। उसने निर्णय किया है कि प्रकृति अर्थात् माया के द्वा

स्वभाव हैं-एक अनुलोम परिणाम और दूसरा प्रतिलोम परिणाम। जब तिलोम परिणाम होता है तब दृश्यभाव प्राप्त होता है और अनुलोम परिणाम से अन्तर्मुख आत्मा की ओर आता है। आत्मा शुद्धरूप है इससे आत्मा की ओर अनुलोम परिणाम ही मोक्ष का कारण है और कोई उपाय नहीं। वेदान्तवादियों ने यह निश्चय किया है कि यह सर्व ब्रह्म ही है। शम, म आदिक से जब मन सम्पन्न होता है तब यह निश्चय होता है कि र्व ब्रह्म है। उनके चित्त में यही निश्चय है ब्रह्मज्ञान के सिवाय और किसी यत्न से मोक्ष नहीं होता। विज्ञानवादी कहते हैं कि जब तक बुद्धि रती है तब तक संसार है और जब यह अपने स्वभाव में फुरती है तब स काल में स्वरूप में स्थिति होती है। जब वह काल आवेगा तब मोक्ष प्राप्ति होगी। अर्हन्तजी जो बड़े हैं उनको अपने निश्चयानुसार भासता है। मीमांसा, पातञ्जल, वैशेषिक और न्यायादिक शास्त्रकार अपनी अपनी बुद्धि से जैसा जैसा निश्चय धरते हैं तैसा ही तैसा उनको भासता है; स्वरूप न कोई मत है और न शास्त्र है। सबका कारण मन है, मन को ही ङ्गीकार करके सब मत डूबे हैं। न नींब कड़ुवा है, न मधु मीठा है; न ग्नि उष्ण है और न चन्द्रमा शीतल है; जैसा जैसा जिसके मन में श्चय होता है तैसा ही तैसा उसको भासता है। किसी को नींब प्यारी ती है और मधु कटु लगता है। नींब के कीट को मधु नहीं रुचता क्या मधु कटुक हो गया? विरहिणी स्त्री को चन्द्रमा अग्निवत् सता है और चकोर अग्नि को भक्षण कर लेता है। निदान जैसी जैसी वना पदार्थ में होती है तैसा ही तैसा हो भासता है। सब जगत् भावना-त्र है, जिस पुरुष को दृश्य में भावना है वह अनेक दुःख और भ्रम ता है और जिसको शम दमादिक साधन से अकृत्रिमपद की प्राप्ति ती है और मन तदाकार हुआ है वह शान्तिमान् होता है, दूसरा उस को नहीं प्राप्त होता है। हे रामजी! यह जगत् दृश्य तुम्हारे मन स्मरण में स्थित हुआ है सो तुच्छरूप है। इसको मन से त्याग करो। सुख-दुःख आदिक महाभ्रम देनेवाले हैं और यह संसार अपवित्र असत् तथा मोहरूप महाभय का कारण है। आभास मायामात्र

और अविद्यारूप है। इसकी भावना भय का कारण है। जब जगत् के साथ संवित् की तन्मयता होती है तब उसका नाम कर्म बुद्धीश्वर कहते हैं। जब द्रष्टा को दृश्य से संयोग होता है तब बड़े मोह को प्राप्त होता है; दृश्य से मिलके भ्रम से अनात्म में आत्माभिमान करता है और देहादिक को अपना आप जानता है। संसाररूप मद से जीव उन्मत्त हो जाता है और स्वरूप की सँभाल इसको नहीं रहती—इसी का नाम अविद्या बुद्धीश्वर कहते हैं। जो दृश्य से मिला है उसका कल्याण नहीं होता और जिसके आगे मन का पटल है उसको स्वरूप का भान नहीं होता। जैसे सूर्य के आगे जब मेघ का आवरण आता है तब वह नहीं भासता तैसे ही मन के आवरण से आत्मा नहीं भासता। इससे मनरूपी आवरण को दूर करो। मन का रूप फुरना है; उसको संकल्प कहते हैं। जो जो संकल्प फुरें उनको त्याग करो; असंकल्प होने से मन नष्ट हो जावेगा। हे रामजी! जब तुम सर्वभाव और सर्व पदार्थों में असङ्ग होगे तब द्रष्टा पुरुष प्रसन्न होगा और उससे तुमको निर्विकल्प चिदात्मा की प्राप्ति होगी जहाँ न जगत् की सत्ता है, न सुख है और न दुःख है केवल अद्वैत भाव है जो अपने आप में प्रकाशता है। जब संसार की भावना तुम्हारे हृदय से उठ जावेगी तब तुम निर्मल स्वरूप में स्थित होगे और तब दृश्यभ्रम निवृत्त हो जावेगा। जैसे रस्सी के सम्यक् ज्ञान से सर्पभ्रम नष्ट हो जाता है तैसे ही चिदात्मा के सम्यक्ज्ञान से जगत्भ्रम नष्ट हो जावेगा। इससे तुम दृश्यभावना को त्याग के चिदात्मा की भावना करो; जैसी भावना होती है तैसे ही भासता है। यदि प्रथम भावना को त्यागके और भावना करता है तो प्रथम का अभाव हो जाता है। जैसे दिन हुए से रात्रि का अभाव हो जाता है तैसे ही आत्मभावना से दृश्यभावना का अभाव हो जाता है। जैसे लोहे को लोहा काटता है तैसे ही भावना को भावना काटती है। इससे अतुच्छ निरुपाधि और निःसंशय पद का आश्रय करो। जब उसकी भावना दृढ़ होगी तब तुम भ्रम से रहित सिद्धपद को प्राप्त होगे। हे रामजी! तुम्हारा आत्मस्वरूप है; तुम बुद्धि आदिक की कल्पना मत

करो। जैसे बालक से कहिये कि शून्य में सिंह है तो वह भयवान् होता है तैसे ही जब शून्य शरीरादिकों में विचार से बुद्धि नहीं आती और 'यह मैं हूँ', 'यह और है' इत्यादिक जो कल्पना होती हैं सो ऐसी हैं जैसे बालक को अपनी परछाहीं में वैताल कल्पना होती है। जोकि अपनी कल्पना के वश से भाव, अभाव, शुभ, अशुभ क्षण क्षण में प्राप्त होते हैं और कोई सत्रूप कोई असत्रूप, भासते हैं। जैसी जैसी भावना होती है तैसा ही तैसा भासता है; परस्त्री में जब काम बुद्धि होती है तब स्पर्श में स्त्रीवत् आनन्ददायक होती है और जो उसी स्त्री में माता की भावना करता है तो उससे कामबुद्धि जाती रहती है। इससे देखो जैसी जैसी भावना होती है तैसा ही तैसा हो भासता है। भावना के अनुसार फल होता है और तत्काल उसी आकार को देखता है। ऐसा पदार्थ कोई नहीं जो सत् नहीं और ऐसा कोई नहीं जो असत् नहीं। जैसा जैसा किसी ने निर्णय किया है तैसा ही तैसा उसको भासता है। इससे इस संसार की भावना को त्याग के स्वरूप में स्थित हो। हे रामजी! मणि में जो प्रतिबिम्ब पड़ता है उसको मणि दूर नहीं कर सकती पर तुम तो मणिवत् जड़ नहीं हो; तुम चैतन्यरूप आत्मा हो, तुम्हारे में जो दृश्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है तुम उसको त्याग करो। जो संकल्प दृश्य का उठे उसको असत्रूप जानके त्याग दो और प्रकृत व्यवहार जो प्राप्त हों उनको करो और मणि की नाईं भीतर से रञ्जित ते रहित हो रहो। जैसे मणि में प्रतिबिम्ब बहिर्दृष्टि आता है और भीतर रङ्ग नहीं चढ़ता तैसे ही बहिर्दृष्टि व्यवहार तुम्हारे में भासे, पर हृदय में राग-द्वेष स्पर्श न करे।

श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्र० विज्ञानवादोनामैकविंशतितमस्सर्गः २१॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब जीव को सन्तों के संग और सत्शास्त्रों के विचार से विचार उपजता है तब दूसरी ओर से वृत्ति निवृत्त होती है और संसार का मनन भी निवृत्त हो जाता है तब विवेकरूपी बुद्धि उदय होती है और संसार (दृश्य) में त्याग बुद्धि होती है। तथा द्रष्टा आत्मा में अङ्गीकार बुद्धि होती है। द्रष्टा पुरुष प्रकट होता है और दृश्य अदृश्यता को प्राप्त होता है अर्थात् द्रष्टा के लक्ष से दृश्य को असत्रूप जानता

है। जब यह पुरुष ज्ञात ज्ञेय होता है तब परमतत्त्व में जागता है और संसार की ओर से घन सुषुप्ति, मृतक की नाईं हो जाता है और संसार की ओर से वैराग्य, भोग में अभोग और रस में निरसबुद्धि उपजती है। जब ऐसी बुद्धि होती है तब मन अपनी सत्ता को त्यागकर आत्मरूप होता है। जैसे बरफ़ का पुतला सूर्य के तेज से जलरूप हो जाता है तैसे ही जब मन में संसार की सत्यता होती है तब उस फुरने से जड़ हो जाता है जब विवेकरूपी सूर्य उदय होता है तब मन गलके आत्मरूप हो जाता है जैसे जब तक मरुस्थल में धूप होती है तब तक वहाँ से मृगतृष्णा की नदी नष्ट नहीं होती और जब वर्षा होती है तब नष्ट हो जाती है तैसे ही जब तक संसार की सत्यता होती है तब तक मन नष्ट नहीं होता और जब ज्ञान की वर्षा होती है तब दृश्यसहित मन नष्ट हो जाता है। हे रामजी! संसाररूपी वासना के जाल में जीवरूपी पक्षी फँसे हैं; जब वैराग्यरूपी चूहा इसको कतरे तब जीव निर्बन्ध हो। जैसे मलीन जल निर्मल होता है तैसे ही वैराग्य के वश से जीव का स्वभाव निर्मल हो जाता है। जब जीव निराग निरुपाधि के संग और राग, द्वेष और मोह से रहित होता है तब जैसे पिंजरे के टूटे पक्षी निर्बन्ध होता है तैसे ही जीव निर्बन्ध हो जाता है, सन्देह दुर्मति शान्त हो जाती है। जगत्भ्रम नष्ट हो जाता है और हृदय पूर्ण हो जाता है। जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा शोभता है तैसे ही ज्ञानवान् शोभता है। सबसे उत्तम सौन्दर्यता को प्राप्त होता है और उसका उदय अस्त राग-द्वेष नष्ट हो जाता है; सर्व समताभाव बर्त्तता है और न्यूनता और विशेषताभाव नष्ट हो जाता है। जैसे पवन से रहित सोमसमुद्र अचल होता है तैसे ही असङ्ग पुरुष मूकजड़ अन्धकर्म की वासना से रहित अचल हो जाता है और वह सब चेतन प्रकाश देखता है; उसकी बुद्धि विवेक से प्रफुल्लित हो जाती है। जैसे सूर्य के उदय हुए सूर्यमुखी कमल प्रफुल्लित हो आते हैं तैसे ही वह पुरुष पूर्णिमा के चन्द्रमावत् दैवी गुणों से शोभता है। बहुत कहने से क्या है ज्ञात ज्ञेय पुरुष आकाशवत् हो जाता है; वह न उदय होता है और न अस्त होता है। विचार करके जिसने आत्मतत्त्व को जाना है वह उस पद को प्राप्त होता है जहाँ ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र स्थित हैं और सब ही उस पर प्रसन्न होते हैं। प्रकट आकार उसका भासता है पर हृदय अहंकार से रहित है और विकल्प के समूह उसको नहीं खींच सकते—जैसे जल के अभाव जाननेवाले को मृगतृष्णा की नदी नहीं खींच सकती। हे रामजी! आविर्भाव और तिरोभावरूप जो संसार है उसको रमणीयरूप जान के ज्ञानवान् खेद नहीं पाता, देह के नाश में वह अपना नाश नहीं मानता और उपजने में उपजना नहीं मानता। जैसे घट उपजे से आकाश नहीं उपजता, क्योंकि आगे सिद्ध है और घट के अभाव से आकाश का अभाव नहीं होता, तैसे ही देह के उपजे से आत्मा नहीं उपजता और देह के नष्ट हुए नष्ट नहीं होता। जब ऐसा विवेक उदय होता है तब वासना जाल नष्ट हो जाता है और कोई भ्रम नहीं रहता। जैसे मृगतृष्णा की नदी का ज्ञान से अभाव हो जाता है। जब तक जीव को यह विचार नहीं उपजता कि मैं कौन हूँ, और जगत् क्या है, तब तक संसाररूपी अन्धकार रहता है। जो पुरुष ऐसे जानता है कि 'संसार भ्रम मिथ्या उदय हुआ है' और 'परम आपदा का कारण देह अनात्मरूप है' आत्मा से यह जगत भिन्न नहीं और सब आत्मसत्ता करके स्थित है वही यथार्थ देखता है। सब चैतन्यसत्ता है; मैं अनन्त चिदाकाशरूप हूँ और देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित हूँ और आधि, व्याधि, भय, उद्वेग, जरा, मरण, जन्म आदिक संयुक्त मैं नहीं; ऐसे जो देखता है, वही यथार्थ देखता है। बाल के अग्र का लक्षभाग करिये और फिर एक भाग के कोटिभाग करिये ऐसा सूक्ष्म सर्वव्यापी है; ऐसे जो देखता है; वही यथार्थ देखता है। मैं सर्वशक्तिमान् अनन्त आत्मा हूँ; सर्वपदार्थों में स्थित और अद्वैत चिदादित्य हूँ; ऐसे जो देखता है वही यथार्थ देखता है। अधःऊर्ध्व मध्य और सबमें मैं व्यापा हूँ, मुझसे भिन्न द्वैत कुछ नहीं; ऐसे जो देखता है वही यथार्थ देखता है। जैसे तागे में माला के दाने पिरोये होते हैं तैसे ही सब मुझसे पिरोये हैं, ऐसे जो देखता है वही यथार्थ देखता है। न मैं हूँ, न यह जगत् है, केवल आत्मसत्ता स्थित है; सत् असत् के मध्य में जो एक देव प्रकाशक है और

त्रिलोकी में जो एक है वही मैं एक अविनाशी पुरुष हूँ। जैसे समुद्र में तरङ्ग फुरते हैं और लीन हो जाते हैं तैसे ही मेरे में जगत् फुरते हैं और लीन होते हैं। अथवा प्रथम अहं है, तब दृश्य जगत् होता है; सो न मैं हूँ, न जगत् है, केवल एक आत्मसत्ता है। अहं और मम उसमें कोई नहीं, ऐसे जो देखता है सो यथार्थ देखता है। दृश्य से रहित मैं चैतन्य रूप भैरव अपार हूँ और मैं ही जगत् जाल को पूर्ण कर रहा हूँ। जो पुरुष ज्ञानवान् हैं वे सुख दुःख और भाव-अभाव में चलायमान नहीं होते वे केवल ब्रह्मरूप में स्थित हैं और जगत् के भाव-अभाव से रहित अनाभास सन्मात्ररूप हैं। जो हेयोपादेयबुद्धि से रहित आकाशवत् सर्वात्मभाव में स्थित हुआ है उसको जगत् का कोई पदार्थ अपने वश नहीं कर सकता; वह महात्मा पुरुष महेश्वर, तमप्रकाश से रहित, सब कल्पनाओं से मुक्त, सम और स्वच्छरूप है और उदय अस्त से रहित समवृत्त है। जो ऐसी परमबोध अनन्त सत्ता में स्थित है उसको मेरा नमस्कार है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे अनुत्तमविश्रामवर्णनं-
नाम द्वाविंशतितमस्सर्गः ॥ २२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जिसने उत्तम पद का आश्रय किया है ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष का कुम्हार के चक्र की नाईं प्रारब्ध शेष रहा है। वह पुरुष शरीररूपी नगर में राज्य करता है और लेपायमान नहीं होता। उसको भोग और मोक्ष दोनों सिद्ध होते हैं। जैसे इन्द्र का वन सुखरूप है तैसे ही उसका शरीररूपी नगर सुखरूप होता है। शरीर के सुख से वह सुखी नहीं होता और दुःख से दुःखी नहीं होता, अपने स्वरूप में स्थित रहता है। रामजी ने पूछा, हे महामुनीश्वर! शरीररूपी नगर कैसा है; उसमें रहके योगिराज क्या करता है और सुख कैसे भोगता है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ज्ञानी का शरीररूपी नगर रमणीय होता है और सर्वगुणसंयुक्त ज्ञानवानों को अनन्त आनन्द विलास दिखाता है; जैसे सूर्य प्रकाश को उदय करता है। उस शरीररूपी नगर में गाँठें ईंटें हैं; रुधिर और मांस गारा है; अस्थि थम्भे हैं; किवाट पट हैं; रोम वनस्पति हैं; उदर खाई है; छाती चौक है; नव द्वार हैं और उनमें नेत्र झरोखे हैं; उन द्वारों

में त्रिलोकी का प्रकाश होता है; हाथ गली हैं, जिनसे लेता देता है; मुख बड़ी कन्दरा है; ग्रीवा और शीश बड़े मन्दिर हैं और रेखा माला है जो भिन्न भिन्न लगी हुई हैं; नाड़ी विभाग करने के स्थान हैं और प्राणवायु आदिक से नाड़ी में जीव विचरते हैं; चिन्तामणिरूपी आत्मा में श्रेष्ठ बुद्धिरूपी स्त्री रहती है जिसने इन्द्रियरूपी वानर बाँध रक्खे हैं; और जिसके हास्य में महासुन्दर फूल हैं। ऐसा शरीररूपी पुर ज्ञानवान् को महासुख का निमित्त है और सौभाग्य सुन्दररूप है। उस शरीर के सुख दुःख से ज्ञानवान् सुखी दुःखी नहीं होता। हे रामजी! जो अज्ञानी हैं उनको शरीररूपी नगर अनन्त दुःखका भण्डार है, क्योंकि अज्ञान से वे शरीर के नष्ट हुए आपको नष्ट हुआ मानते हैं और ज्ञानवान् इसके नाश हुए अपना नाश नहीं मानते। वे जब तक रहते हैं तब तक शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इनको ग्रहण करते हैं; वे इष्टरूप होके भासते हैं और शरीररूपी नगर में भ्रम से रहित निष्कण्टक राज्य करते हैं। वे लोभ से रहित हैं, इस कारण शत्रु कुछ नहीं लेते और उनको अपने स्थान में आने नहीं देते। वे शत्रु काम, क्रोध, मान, मोहादिक अज्ञान रूप हैं, उनमें वे आप प्रवेश नहीं करते और अपने देश में उनको आने नहीं देते; सावधान ही रहते हैं। उनके देश उदारता, धीरज, सन्तोष, वैराग्य, समता, मित्रता, मुदिता और उपेक्षा हैं; उनमें अज्ञान नहीं प्रवेश करने पाता और आप ध्यानरूपी नगर में रहता है; सत्यता और एकता दोनों स्त्रियों को साथ रखता है और उनसे सदा शोभायमान रहता है। जैसे चन्द्रमा चित्रा और विशाखा दोनों स्त्रियों से शोभता है तैसे ही ज्ञानवान् सत्यता और एकता से शोभता है। वह मनरूपी घोड़े पर आरूढ़ होके और विचाररूपी लगाम उसके लगाकर जीव ब्रह्म की एकतारूपी सङ्गम तीर्थ में स्नान करने जाता है जिससे सदा आनन्दवान् रहता है और भोग और मोक्ष दोनों से सम्पन्न होता है। जैसे इन्द्र अपने पुर में शोभता है तैसे ही ज्ञानवान् देह में शोभता है और जैसे घट के फूटे से आकाश की कुछ न्यूनता नहीं होती तैसे ही देह के नाश हुए ज्ञानी की कुछ हानि नहीं होती वह ज्यों का त्यों ही रहता है। यद्यपि उसके देह होती है तो भी

वह उससे स्पर्श नहीं करता—जैसे घट से आकाश स्पर्श नहीं करता और सर्वक्रिया को कर्त्ता भोक्ता है, परन्तु किसी में लिप्त नहीं होता, सदा एकरस भगवान् आत्मदेव में रहता है। जब वह विमान पर आरूढ़ होके शरीररूपी नगर में विचरता है तब मैत्री रूपी नेत्रों से सबको देखता है; मैत्रीभाव उसमें सदा रहता है और सत्यता और एकता सदा उसके पास है उससे शोभता है और सदा आनन्दवान् विचरता है। वह जीवों को दुःखरूपी आरे से कटते देखता है जैसे कोई पहाड़ पर चढ़के पृथ्वी में लोगों को जलता देखे और आप आनन्दवान् हो; तैसे वह ज्ञानवान् जीवों को दुःखी देखता है और आप आनन्दवान् है। उसकी दृष्टि में तो सदा अद्वैतरूप है और आत्मानन्द की अपेक्षा से अनात्म धर्म को दुःखी देखता है, उसके निश्चय में जगत् जीव कोई नहीं और वह चारों प्रयोजन धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की पूर्णता को प्राप्त होता है। किसी ओर से उसको न्यूनता नहीं; वह सर्व सम्पदा सम्पन्न विराजमान होता है। जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा न्यूनता से रहित विराजता है तैसे ही यद्यपि वह भोगों को सेवता है तो भी उसको वे दुःखदायक नहीं होते। जैसे कालकूट विष को सदाशिव ने पान किया था परन्तु उनको वह दुःखदायक न हुआ; तैसे ही वह भी समर्थ है। जैसे चोर को जानके जब उसे अपने वशवर्ती किया तब मित्रभाव हो जाता है तैसे ही भोग उसको दुःख नहीं देते। जब जीव भोगों को जानता है कि ये कुछ वस्तु नहीं हैं तब वे सुख के कारण होते हैं और जब तक इनको सत् जानके आसक्त होता है तब तक दुःख के कारण होते हैं। हे रामजी! जैसे यात्रा में अनेक स्त्री, पुरुष मिलते हैं और परस्पर इकट्ठे बैठते और चलते फिरते हैं परन्तु आपस में आसक्त नहीं होते—आगे पीछे चले जाते हैं—तैसे ही ज्ञानवान् संसार के पदार्थों में चित्त को नहीं लगाते। जैसे कोई कासिद किसी देश में जाता है और मार्ग में कोई सुन्दर रमणीय स्थान दृष्टि आते और कोई मलीन कष्ट के स्थान भासते हैं परन्तु वह राग-द्वेष किसी में नहीं करता, जैसे तैसे देखता चला जाता है, तैसे ही ज्ञानवान् भोगक्रिया में राग-द्वेष से बन्धवान् नहीं होता। उसके सर्वसंशय सम्यक्ज्ञान से शान्त हो जाते हैं, कोई आश्चर्य पदार्थ उसको नहीं दिखाई देते; उसके वासना के समूह नष्ट हो जाते हैं, चक्रवर्ती राजा की नाईं शोभता है और परिपूर्ण होके स्थित होता है। जैसे क्षीरसमुद्र अपने आपमें पूर्ण नहीं समाता तैसे ही ज्ञानी अपने आपमें पूर्ण नहीं समाता। हे रामजी! इन जीवों को भोग की इच्छा ही दीन करती है जिससे वे आत्मपद से गिरते हैं और अनात्म में प्राप्त हो कृपण हो जाते हैं। उनको देखके उत्तम आत्मपद आलम्बी हँसते हैं कि ये मिथ्या दीनभाव को प्राप्त हुए हैं। जैसे कोई स्वामी होकर स्त्री के वश हो और स्त्री स्वामी की नाईं हो तो उसको देखके लोग हँसते हैं; तैसे ही ज्ञानवान् भोग की तृष्णावाले को दीन देखके हँसते हैं चञ्चल मन ही परम सिद्धान्त सुख से जीवों को गिराता है, इससे तुम मनरूपी हस्ती को विचाररूपी कुन्दे से वश करो तब सिद्धपद को प्राप्त होगे। जिसका मन विषयों की ओर धावता है वह संसाररूपी विष का बीज बोता है। इससे प्रथम इस मन को ताड़न करो तब शान्ति की प्राप्ति होगी। जो मानी होता है और कोई उसका मान करता है तो वह उपकार कुछ नहीं मानता पर जब प्रथम उसको ताड़न करके थोड़े ही उपकार किये से प्रसन्न होता है। जैसे धान्य जल से पूर्ण होते हैं तब जल के सींचने से उनमें उपकार नहीं होता और जो ज्येष्ठ आषाढ़ की धूप से तप्त होते हैं तो थोड़ा जल सींचने से भी उनको अमृतवत् होता है, तैसे ही जो प्रथम मन का सन्मान करिये तो मित्रभाव नहीं होता और यदि ताड़न करके पीछे सन्मान कीजिये तो उपकार मानके मित्रभाव रक्खेगा। ताड़न करना विषय से संयम करना है जब संयम करके निर्वाण हो तब यह सन्मान करना चाहिये कि संसार के पदार्थों में वर्त्तना। तब वह शत्रुभाव को त्याग के मित्र हो जाता है, जैसे वर्षाकाल में जब नदी जल से पूर्ण होती है तब उसमें जल का उपकार नहीं होता पर शरद्काल में जल का उपकार होता है। जैसे राजा को और देश का राज्य प्राप्त हो तो वह कुछ प्रसन्न नहीं होता पर यदि प्रथम उसे बन्दीखाने में डालिये और फिर थोड़े ग्राम दीजिये तो उससे प्रसन्न होता है; तैसे ही जब प्रथम मन को ताड़न कीजिये तब थोड़े सन्मान से भी

सुखदायक होता है। इससे तुम हाथ से हाथ दबा के; दाँतों से दाँत मिलाके और अंग से अंग रोकके इन्द्रियों को जीत लो। मनुष्य के हृदय में मनरूपी सर्प कुण्डल मारके बैठा है और कल्पनारूपी विष से पूर्ण है। जिसने उसको मर्दन किया है उसको मेरा नमस्कार है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे शरीरनगरवर्णनन्नाम
त्रयोविंशतितमस्सर्गः ॥ २३ ॥

वशिष्ठजी बोले कि हे रामजी! अज्ञानी जीव महानरक को प्राप्त होता है। आशारूपी बाण की शलाका उसको लगती है और इन्द्रियरूपी शत्रु मारते हैं। इन्द्रियाँ दुष्ट बड़ी कृतघ्न हैं, जिस देह के आश्रय रहती हैं उसको शोक और इच्छा से पूर्ण करती हैं। ये महादुष्ट और दुःखदायक भण्डार हैं; इनको तुम जीतो। इन्द्रियाँ और मनरूपी चील पक्षी हैं, जब इनको विषयभोग नहीं होते तब ऊर्ध्व को उड़ते हैं और जब विषय प्राप्त होते हैं तब नीचे को आ गिरते हैं। जिस पुरुष ने विवेकरूपी जाल से इनको बांधा है उसको ये भोजन नहीं कर सकते जैसे—पाषाण के कमल को हाथी भोजन नहीं कर सकता। हे रामजी! ये भोग आपातरमणीय और अत्यन्त विरस हैं; जो पुरुष इनमें रमण करता है वह नरक को प्राप्त होगा और जो पुरुष ज्ञान के धन से सम्पन्न है और देहरूपी देश में रहता है वह परम शोभा पाता है और आनन्दवान् होता है, क्योंकि बड़े ऐश्वर्य से उसने इन्द्रियरूपी शत्रु जीते हैं। हे रामजी! सुवर्ण के मन्दिर में रहने से ऐसा सुख नहीं मिलता जैसा निरवासनिक ज्ञानवान् को होता है। जिस पुरुष ने इन्द्रियों और असत्‌रूपी शत्रु को जीता है वह परम शोभा से शोभता है—जैसे हिमऋतु को जीत के वसन्तऋतु में मञ्जरी शोभती हैं। जिस पुरुष के चित्त का गर्व नष्ट हुआ है और जिसने इन्द्रियरूपी शत्रु जीते हैं उसकी भोगवासना नष्ट हो जाती हैं—जैसे शीतकाल में पद्मिनियाँ नष्ट हो जाती हैं। हे रामजी! वासनारूपी वैताल निशाचर तब तक विचरते हैं जब तक एक तत्त्व का दृढ़ अभ्यास करके मन को नहीं जीतते; जब विवेकरूपी सूर्य उदय होता है तब अन्धकार नष्ट हो जाता है। जब विवेक

से मनुष्य मन को वश करता है तब इन्द्रियाँ भृत्य (टहलुये) हो जाती हैं, मनरूपी सब मित्र हो जाते हैं और आप राजा होके स्वरूपराज को भोगता है। हे रामजी! विवेकी की इन्द्रियाँ पतिव्रता स्त्रीवत् हो जाती हैं; मन माता की नाईं पालना करनेवाला होता है और चित्त सुहृद् हो जाता है। जब निश्चयवान् पुरुष सत्‌शास्त्र को विचारता है तब परम सिद्धान्त को प्राप्त होता है और मन अपने मननभाव को त्याग के शान्तरूप पितावत् प्रतिपालक हो जाता है। इससे तुम मनको विवेक से वश करो। मनरूपी मणि को आत्मविचार शिला से घिसो; वैरागजल से उज्ज्वल करो और अभ्यासरूपी छेद करके विवेकरूपी तागे से पिरोय कण्ठ में पहिनो तो शोभा देती है। जन्मरूपी वृक्ष को विवेकरूपी कुल्हाड़ा काट डालता है और मनरूपी शत्रु को विवेकरूपी मित्र नष्ट करता है और सदा शुभकर्म कराता है और विषय के परिणामिक दुःख को निकट नहीं आने देता। इससे मन को वश करना ही आनन्द का कारण है। जब तक मन वश नहीं होता तब तक दुःख देता है और जब वश होता है तब सुखदायक होता है। हे रामजी! मनरूपी मणि भोग की तृष्णा से कलङ्कित हुई है; जब विवेकरूपी जल से इसको शुद्ध करे तब शोभायमान होगी। यह संसार महाभय का देनेवाला है। अल्प विवेकवान् पुरुष भी मायारूपी संसार में गिर पड़ते हैं; तुम और जीवों की नाईं इसमें मत गिरो। यह संसार मायारूप है और अनेक अर्थों की जंजीर संयुक्त है। महामोहरूपी कुहिरे से जीव अन्धे हो गये हैं; इससे तुम विवेकपद का आश्रय करके बोध से सत् का अवलोकन करो और इन्द्रियों से वैरागरूपी नौका से संसारसमुद्र को तर जावो। शरीर भी असत् है और इसमें सुख और दुःख भी असत् हैं। तुम दाम, व्याल और कट की नाईं मत हो, पर भीम, भास और दट की स्थिति को ग्रहण करके विशोक हो। 'अहं', 'ममादिक' निश्चय वृथा है; उसको त्याग के तत्पद का आश्रय करो। चलते, बैठते, खाते, पीते, मन में मनन का अभाव हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे मनस्विसत्यताप्रतिपादनन्नाम
चतुर्विंशतितमस्सर्गः ॥ २४ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! आप संसारताप के दूर करनेवाले हैं। यह आपने क्या कहा? इसको खोलकर कहो कि दाम, व्याल और कट की नाईं कैसे और भीम, भास, दट की स्थिति कैसे है? जैसे वर्षाकाल के मेघ तपन को दूर करते हैं और मोर को शब्द करके जगाते हैं तैसे ही तुम अपनी कृपा से जगावो। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! प्रथम इसकी नाईं स्थित हो, पीछे जो इष्ट हो उसमें विचरना। पाताल में सम्बरनाम एक दैत्य राजा मायावी और सर्व आश्चर्यरूप मन के मोहनेवाला था। उस दैत्य ने अपनी माया से आकाश में एक नगर रचा और उसमें बाग, दैत्यों के मन्दिर, सूर्य, चन्द्रमा और अनन्त ऐश्वर्य से सम्पन्न दैत्य और रत्नों की स्त्रियाँ रचीं; जो गान करती थीं और जिन्होंने देवताओं की स्त्रियाँ भी जीतीं। उसने वृक्ष बनाये जिनमें चन्द्रवत् फल लगे और श्वेत पीत रत्नों की कमलिनी और सुवर्ण के हंस, सारस और कमल सुवर्ण के वृक्षों की बड़ी शाखों पर बैठे हुए बनाये और कञ्ज के वृक्ष जिनमें कमल वृक्ष के फूल लगाये और रत्नों से जड़े हुए सुन्दर स्थान, बरफ़ की नाईं शीतल बगीचे, वनस्थान चन्दन के रचे। इन्द्र का नन्दन वन किन्तु उससे विशेष और सर्वऋतु के फूल लगाये; उनमें दैत्यों की स्त्रियाँ क्रीड़ा करती थीं और बड़े ऐश्वर्य रचे थे। विष्णु और सदाशिव के सदृश ऐश्वर्यसंयुक्त उसने अपना नगर किया और बड़े प्रकाशसंयुक्त रत्न के तारागण रचे। जब रात्रि हो तब वे चन्द्रमा के साथ उदय हों और पुतलियाँ गान करें। माया के हाथी ऐसे रचे जो इन्द्रके ऐरावत को जीत लेवें। इसी प्रकार त्रिलोकी की विभूति से उत्तम विभूति उसने रची और भीतर बाहर सर्व सम्पदाओं से पूर्ण किया। सब दैत्य मण्डलेश्वर वन्दना करते थे, आप सब दैत्यों का राजा शासन करनेवाला हुआ और सब उसकी आज्ञा में चलते थे। बड़ी भुजावाले दैत्य उस नगर में विश्राम करते थे। निदान जब सम्बर दैत्य शयन करे अथवा देशान्तर में जाय तब अवकाश देखके देवताओं के नायक उसकी सेना को मार जावें और नगर लूट ले जावें। तब सम्बर ने रक्षा करनेवाले सेनापति रचे, पर समय देखके देवता उनको भी मार गये। सम्बर ने यह सुनके बड़ा

कोप किया और जी में ठाना कि इनको मारूँ। ऐसे विचारके वह अमरपुरी पर चढ़ गया और देवता भयभीत होके सुमेरु पर्वत में भवानीशंकर के पास अथवा वन, कुञ्ज और समुद्र में जा छिपे। जैसे प्रलयकाल में सब दिशा शून्य हो जाती हैं तैसे ही स्वर्ग शून्य हो गया। तब दैत्यराज अमरपुरी को शून्य देखके और भी कोपवान् हुआ और उसमें अग्नि जलाकर लोकपालों के सब पुर जला दिये और देवताओं को ढूँढ़ता रहा, परन्तु वे कहीं न दीखे—जैसे पापी पुण्य को देखें और वे कहीं दृष्ट न आवें तैसे ही उसे देवता कहीं दृष्ट न आये। तब सम्बर ने कुपित होके ऐसे बड़े बली तीन राक्षस सेना की रक्षा के निमित्त माया से रचे कि वे मानों काल की मूर्त्ति थे और उनके बड़े आकार ऐसे हिलते थे मानों पंखों से संयुक्त पर्वत हिलते हैं—उन्हीं के नाम दाम, व्याल, कट हैं वे अपने हाथों में कल्पवृक्ष की नाईं बड़े बड़े शस्त्र और भुजा लिये यथाप्राप्त कर्म में लगे रहें। उनको धर्म और कर्म का अभाव था, क्योंकि पूर्व वासनाकर्म उनको न था और निर्विकल्प चिन्मात्र उनका स्वरूप था। वे अपने स्थूल शरीर के स्वभाव सत्ता में स्थित न थे और अनात्मभाव को भी नहीं प्राप्त भये थे एक स्पन्दमात्र कर्मरूप चेतना उनमें थी। वही कर्म का बीज चित्त कलना स्पन्दरूप हुई थी। वे मननात्मक शस्त्रप्रहार को रचे थे और उसी को करते, परन्तु हृदय में स्पष्टवासना उनको कोई न फुरती थी केवल अवकाशमात्र स्वभाव से उनकी क्रिया हो। जैसे अर्धसुषुप्त बालक अपने अङ्ग को स्वाभाविक हिलाता है तैसे ही वह वासना विना चेष्टा करें। वे गिरना और गिराना कुछ न जानते थे और न यही जानते थे कि हम किसी को मारते हैं अथवा हमीं मरते हैं। वे न भागना जानें और न जानें कि हम जीते हैं व मरते हैं। जीत-हार को वे कुछ न जानें केवल शस्त्र का प्रहार करें। जैसे यन्त्री की पुतली तागे से चेष्टा विना संवेदन करती है तैसे ही दाम, व्याल और कट चेष्टा करें। वे ऐसे महाबली थे कि जिनके प्रहार से पहाड़ भी चूर्ण हो जावें। उनको देखके सम्बर प्रसन्न हुआ कि ये सेना की रक्षा को बड़े बली हैं और इनका नाश भी उनसे न होगा, क्योंकि इनको इष्ट-अनिष्ट कुछ

नहीं है जिनको इष्ट अनिष्ट का ज्ञान और वासना नहीं है उनका नाश कैसे हो और वे कैसे भागें। जैसे देवता के हाथी बड़े बली होके भी सुमेरु को नहीं उखाड़ सकते तैसे ही देवता बड़े बली भी हैं परन्तु इनको न मार सकेंगे। ये बड़े बली रक्षक हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे दामव्यालकटोत्पत्तिवर्णनन्नाम
पञ्चविंशतितमस्सर्गः ॥ २५ ॥

वशिष्ठजी बोले कि हे रामजी! इस प्रकार जब निर्णय करके सम्बर ने दाम, व्याल, कट स्थापन किये तो जब देवताओं की सेना भूतल में आती थी और सम्बर चढ़ता था तब वे भाग जाते थे। निदान सम्बर की सेना को देखके देवता भी समुद्र और पहाड़ से उछल के निकल दोनों बड़ी सेना सहित युद्ध करने लगे। जैसे प्रलयकाल के समुद्र क्षोभते हैं और सब जलमय हो जाता है तैसे ही देवता और दैत्य सब ओर से पूर्ण हो गये और बड़े बाणों से युद्ध करने लगे। शंखध्वनि करके जो शस्त्र चलते थे उनसे शब्द हों और अग्नि निकले और तारों की नाईं चमत्कार हो। शरीरों से शिर कटें और धड़ काँप काँप के गिर पड़ें और दोनों ओर से शस्त्र चलें पर दाम, व्याल, कट न भागें, मारते ही जावें; जिनके प्रहार से पहाड़ चूर्ण हों सब दिशाओं में शस्त्र पूर्ण हो गये और रुधिर के ऐसे प्रवाह चले कि उनमें देवता दैत्य मरे हुए बहते जावें और महाप्रलय की नाईं भय उदय हुआ। एक एक अस्त्र ऐसा चले जिससे शस्त्रों की नदियाँ निकल पड़ें। कोई अग्निरूप; कोई मेघरूप और कोई तमरूप अस्त्र चलावें; दूसरे प्रकाशरूप; कोई निद्रारूप; कोई प्रबोधरूप; कोई सर्परूप और कोई गरुड़रूप अस्त्र चलावें। इस प्रकार वे परस्पर युद्ध करें और ब्रह्मास्त्र चलावें और शिला की वर्षा करें। सब पृथ्वी रक्त और मांस से पूर्ण हो गई और अनेक जीवों के धड़ और शीश गिर पड़े जैसे वृक्ष से फल गिरते हैं तैसे ही देवता और दैत्य गिरे और बड़ा घोर युद्ध हुआ। बहुत से गन्धर्व, किन्नर और देवता नष्ट हुए और दैत्य भी बहुत मारे गये परन्तु दैत्यों की ही कुछ जीत रही इस प्रकार मायावी सम्बर की सेना और देवताओं का युद्ध हुआ। जैसे वर्षाकाल में आकाश में मेघघटा पूर्ण हो जाती है तैसे ही देवता और दैत्यों की सेना इकट्ठी हो गई और दिशा विदिशा सब स्थान पूर्ण हो गये।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे दामव्यालकटसंग्रामवर्णनन्नाम
षड्विंशतितमस्सर्गः ॥ २६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार घोरसंग्राम हुआ कि देवता और दैत्यों के शरीर ऐसे गिरे जैसे पंख टूटे से पर्वत गिरते हैं। रुधिर के प्रवाह चलते थे और बड़े शब्द होते थे जिससे आकाश और पृथ्वी पूर्ण हो गई। दाम ने देवताओं के समूहों को घेर लिया और व्याल ने पकड़ के पहाड़ में पीस डाला। कट ने देवताओं के समूह चूर्ण किये; उनके स्थान तोड़ डाले और बड़ा क्रूर संग्राम किया। देवताओं का हाथी जो मद से मस्त था वह ताड़ने से क्षीण हो गया तो वहाँ से भयभीत होकर भागा और देवता भी भागे। जैसे मध्याह्न के सूर्य का बड़ा प्रकाश होता है तैसे ही दैत्य प्रकाशवान् हुए और जैसे बाँध के टूटने से जल का प्रवाह तीक्ष्ण वेग से चलता है तैसे ही देवता तीक्ष्ण वेग से भागे। जल के प्रवाहवत् मर्यादा छूट गई और दाम, व्याल, कट की सेना जीत गई। तब तो वे देवताओं के पीछे लग के मारते जावें। निदान जैसे काष्ठ से रहित अग्नि अन्तर्धान हो जाती है तैसे ही बलवान् देवता बल से हीन होकर अन्तर्धान हो गये और दैत्य उनको ढूँढ़ते फिरे, परन्तु जैसे जाल से निकले पक्षी और बन्धन से छूटे मृग हाथ नहीं आते तैसे ही देवता भी हाथ न आये तब दाम, व्याल, कट तीनों सेना सहित पाताल में अपने स्वामी सम्बर के पास उसकी प्रसन्नता के लिये आये। जब देवताओं ने सुना कि दैत्य पाताल में गये हैं तब वे विचार करने लगे कि किसी प्रकार इनसे ईश्वर हमारी रक्षा करे। ऐसी चिन्ता से आतुर हुए देवताओं को देख ब्रह्माजी जिनका अमित तेज है और सुन्दर रक्त वस्त्र पहिने हैं देवताओं के निकट आये और जैसे संध्याकाल में रक्त वर्ण बादल में चन्द्रमा शोभता है तैसे ही प्रकाशवान् ब्रह्माजी को देखके इन्द्रादिक देवताओं ने प्रणाम किया और सम्बर दैत्य की शत्रुता से कहा कि हे त्रिलोकी के ईश्वर! हम आपकी शरण आये हैं; हमारी रक्षा करो।

सम्बर दैत्य ने हमको बहुत दुःख दिया है और उसके सेनापति दाम, व्याल, कट जो बड़े दैत्य हैं किसी प्रकार हमसे नहीं मारे जाते। उन्होंने हमारी सेना बहुत चूर्ण की है इस निमित्त आप इनके मारने का उपाय हमसे कहिये। तब संपूर्ण जगत् पर दया करनेवाले ब्रह्माजी ने शान्ति के कारण वचन कहे। हे अमरेश ! ये दैत्य अभी तो नष्ट न होंगे, जब इनको अहंकार उपजेगा तब ये मरेंगे और तुमहीं इनको जीतोगे। मैंने इनकी भविष्यत् देखी हैं; ये दैत्य युद्ध में भागना नहीं जानते और मरने, मारने का ज्ञान भी इनको नहीं है, ये सम्बर दैत्य की माया से रचे हैं इनका नाश कैसे हो। जिसको 'अहं' 'मम' का अभिमान हो उसी का नाश भी होता है, पर ये तो 'अहं' 'ममादिक' शत्रुओं को जानते ही नहीं इनका नाश कदाचित् न होगा। जब इनको अहंकार उपजेगा तब इनका नाश होगा इसलिये अहंकार उपजाने का उपाय मैं तुमसे कहता हूँ। तुम उनके साथ युद्ध करते रहो और इस प्रकार युद्ध करो कि कभी उनके सम्मुख रहो, कभी दाहिने रहो, कभी बायें रहो और कभी भाग जावो। इस प्रकार जब तुम बारम्बार करोगे तब उनके युद्ध के अभ्यासवश से अहंकार का अंकुर उपजेगा और जब अहंकार का चमत्कार हृदय में उपजा तब उसका प्रतिबिम्ब भी देखेंगे जिससे यह वासना भी फुर आवेगी कि हम यह हैं, हमको यह कर्त्तव्य है, यह ग्रहण करने योग्य है और यह त्यागने योग्य है। तब वे आपको दाम, व्याल, कट जानेंगे और तुम उनको वश कर लोगे और तुम्हारी जय होगी। जैसे जाल में फँसा हुआ पक्षी वश होता है तैसे ही वे भी अहंकार करके वश होंगे अभी वश नहीं होते। वे तो सुख दुःख से रहित बड़े धैर्यवान् हैं अभी उनका जीतना कठिन है। हे साधो! जो पुरुष वासना की ताँत से बँधे हुए हैं और पेट के कार्यों के वश हैं वे इस लोक में वश हो जाते हैं और जो बुद्धिमान् पुरुष निर्वासनिक हैं और जिनकी सर्वत्र असंशक्त बुद्धि है, जो किसी में बन्धवान् नहीं होते और इष्ट अनिष्ट में समभाव रहते हैं वे किसी से जीते नहीं जाते। जिनके हृदय में वासना है वे इसी रस्सी से बँधे हुए हैं। जिनको देह में अभिमान है वे चाहे सर्वशास्त्रों के वेत्ता भी हों तो भी उनको एक बालक भी जीत लेवे, सब आपदाओं के पात्र हैं। यह देहमात्र परिच्छिन्नरूप है, जो पुरुष उसे अपना जानता है और उसमें सत्भावना करता है वह कदाचित् सर्वज्ञ हो तो भी कृपणता को प्राप्त होता है—उसमें उदारता कहाँ है। सबका अपना स्वरूप अनन्त आत्मा अप्रमेय है; जिसको देहादिक में आत्माभिमान हुआ है उसने आपको आप ही दीन किया है। जब तक आत्मतत्त्व से भिन्न त्रिलोकी में कुछ भी सत् भासता है तब तक उपादेय बुद्धि होती है और भावना से बँधा रहता है। संसार में सत्भावना करनी अनन्त दुःखों का कारण है और संसार में असत्बुद्धि सुख का कारण है। हे साधो! जब तक दाम, व्याल, कट को जगत् के पदार्थों में आस्थाभाव नहीं होती तब तक तुम उनको जैसे मक्खी वायु को नहीं जीत सकती तैसे ही न जीत सकोगे। जिसको देह में अहंभावना और जगत् में सत्बुद्धि होती है वह जीव है और वही दीनता को प्राप्त होता है। वह चाहे कैसा बली हो उसको जीतना सुगम है, क्योंकि वह तो तुच्छ कृपण है। जिसके अन्तःकरण में वासना नहीं है और मक्षिकावत् है तो भी सुमेरु की नाईं दृढ़ (भारी) हो जाता है। हे देवताओ ! जो वासनासंयुक्त है वह परम कृपणता को प्राप्त होता है—वही गुणी गुणों से बँध जाता है। जैसे माला के दाने में छिद्र होता है तो तागे से पिरोया जाता है और जो छिद्र से रहित है वह पिरोया नहीं जाता तैसे ही जिसका हृदय वासना से बिंध गया है उसके हृदय में गुण-अवगुण प्रवेश करते हैं और जो निर्बंध है उसके भीतर प्रवेश नहीं करते। इससे जिस प्रकार 'अहं' 'इदं' आदिक वासना दाम, व्याल, कट के भीतर उपजे वही उपाय करो तब तुम्हारी जय होगी। जिस जिस इष्ट-अनिष्ट के भाव-अभाव को जीव प्राप्त होते हैं वही तृष्णारूपी कञ्ज (काँटों) का वृक्ष है, उसी से आपदा को प्राप्त होते हैं। इससे रहित आपदा का अभाव हो जाता है। जो वासनारूपी ताँत से बँधे हुए हैं वह अनेक जन्म दुःख पावेंगे; जो बलवान् और सर्वज्ञ कुल का बड़ा है वह भी जो तृष्णासंयुक्त है तो बँधा है। जैसे सिंह जंजीर से पिंजड़े में बँधा है तो उसका बल और बड़ाई किसी काम नहीं आती तैसे ही जो तृष्णा से बँधा है सो

तुच्छ है। जिसको देहमात्र में अहंभाव है और जिसके हृदय में तृष्णा उत्पन्न होती है वह पुरुष ऐसा है जैसा पक्षी तागे से बँधा हो और उसको बालक भी खींच ले। यम भी उसी को वश करता है और जो निर्वासनिक पुरुष है उसको कोई नहीं मार सकता—जैसे आकाश में उड़ते पक्षी को कोई नहीं पकड़ सकता। इससे शस्त्रयुद्ध को त्यागो और उनको वासना उपजाओ, तब वे वश होंगे। हे इन्द्र! जिसको 'अहं' 'मम' 'इदं' आदिक वासना नहीं है और रागद्वेष से जिसका अन्तःकरण क्षोभवान् नहीं होता उसको शस्त्र और अस्त्र से कोई नहीं जीत सकता। इससे दाम, व्याल, कट को और किसी उपाय से न जीत सकोगे। युद्ध के अभ्यास से जब उनको अहंकार उपजाओगे तब वह तुम्हारे वश होंगे। हे साधो! ये तो सम्बर दैत्य के रचे हुए यन्त्रपुरुष हैं, इनके हृदय में कोई वासना नहीं है, जैसे उसने रचे हैं तैसे ही ये निर्वासनिक पुरुष हैं। जब इनको युद्ध का अभ्यास कराओगे तब इनको अहंकार वासना उपज आवेगी। यह तुमको मैंने वश करने की परम युक्ति कही है। जब तक उनके अन्तःकरण में वासना नहीं फुरती तब तक तुमसे वे अजीत हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे दामोपाख्याने ब्रह्मवाक्य-
वर्णनन्नाम सप्तविंशतितमस्सर्गः ॥ २७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजके और शब्द करके लीन होता है तैसे ही ब्रह्मा कहके जब अन्तर्धान हो गये तब देवता अपनी वाञ्छित दिशाओं को गये और कई दिन अपने स्थान में रहे। फिर अपने कल्याण के निमित्त उनके नाश करने को उठके युद्ध को चले। प्रथम उन्होंने शंख बजाये जिनसे प्रलयकाल के मेघों के गर्जने के समान शब्द से सब स्थान पूर्ण हो गये। निदान पातालछिद्र से शब्द सुनके दैत्य निकले और आकाशमार्ग से देवता आये और युद्ध होने लगा। बरछी, बाण, मुद्गर, मुसल, गदा, चक्र, वज्र, पहाड़, वृक्ष, सर्प, अग्नि आदिक शस्त्र अस्त्र परस्पर चलने लगे। चक्र, मुसल, त्रिशूल आदिक शस्त्र ऐसे चले जैसे गङ्गा का प्रवाह चलता है। देवताओं और दैत्यों के समूह नष्ट हो गये, अंग फट गये, शीश-भुजा कट गये और

जैसे समुद्र के उछलने से पृथ्वी जल से पूर्ण हो जाती है तैसे ही रुधिर से पृथ्वी पूर्ण हो गई और आकाशदिशा में अग्नि का तेज ऐसा बढ़ गया जैसे प्रलयकाल में द्वादश सूर्य का तेज होता है। बड़े पहाड़ों की वर्षा होने लगी और रुधिर के प्रवाह में पहाड़ ऐसे भ्रमते फिरते थे जैसे समुद्र में तरङ्ग और भँवर फिरते हैं। हे रामजी! ऐसा युद्ध हुआ कि क्षण में पहाड़ और शस्त्र के प्रवाह; क्षण में सर्प; क्षण में गरुड़ दीखें और अप्सरागण अन्तरिक्ष में भासें; क्षण में जलमय हो जावें; क्षण में सब स्थान अग्नि से पूर्ण हो जावें; क्षण में सूर्य का प्रकाश भासे और क्षण में सर्व ओर से अन्धकार भासे। निदान महाभयानक युद्ध होने लगा। दैत्य आकाश में उड़-उड़के युद्ध करें और देवता वज्र आदिक शस्त्र चलावें और जैसे पंख से रहित पहाड़ गिरते हैं तैसे ही दैत्यों के अनेक समूह गिरके भूमिलोक में आ पड़े और उनमें किसी का शिर, किसी की भुजा और किसी के हाथ-पैर कटे हैं। वृक्षों और पहाड़ों के समान उनके शरीर गिर-गिर पड़े और अनेक संकट को देवता और दैत्य प्राप्त हुए।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे सुरासुरयुद्धवर्णनन्नाम
अष्टाविंशतितमस्सर्गः ॥ २८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! देवताओं का धैर्य नष्ट हो गया और युद्ध त्यागके अन्तर्धान हुए और पैंतीस वर्ष के उपरान्त फिर युद्ध करने लगे। कभी पाँच व सात; कभी आठ दिन के उपरान्त युद्ध करते थे और फिर छिप जाते थे। ऐसे विचारकर छल से ये उनसे युद्ध करें, कभी दाम, व्याल, कट के निकट जावें; कभी दाहिने, कभी बायें, कभी आगे और कभी पीछे दौड़ने लगे और इधर-उधर देखके मारने लगे। इस प्रकार जब देवताओं ने बहुत उपाय किया तब युद्ध के अभ्यास से दाम, व्याल, कट भी देवताओं के पीछे दौड़ने लगे और इधर-उधर देखने लगे और अपने देहादिक में उनको अहंकार फुर आया। हे रामजी! जैसे निकटता से दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है दूर का नहीं पड़ता, तैसे ही अतिशय अभ्यास से अहंकार फुर आता है अन्यथा नहीं फुरता। जब अहंकार उनको फुरा तब पदार्थों की वासना भी फुर आई और फिर यह फुरा कि

हम दाम, व्याल, कट हैं किसी प्रकार जीते रहें; इस इच्छा से वे दीनभाव को प्राप्त हुए और भय पाने लगे कि इस प्रकार हमारा नाश होगा; इस प्रकार हमारी रक्षा होगी; वही उपाय करें जिससे हम जीते रहें। इस प्रकार आशा की फाँस में बँधे हुए वे दीन भाव को प्राप्त हुए और आपको देहमात्र में आस्था करने लगे कि देहरूपी लता हमारी स्थिर रहे; हम सुखी हों, इस वासनासंयुक्त हो और पूर्व का धैर्य त्याग के वे जानने लगे कि यह हमारे शत्रु नाशकर्त्ता हैं, इनसे किसी प्रकार बचें। उनका धैर्य नष्ट हो गया और जैसे जल विना कमल की शोभा जाती रहती है तैसे ही इनकी शोभा जाती रही; खाने पीने की वासना फुर आई और संसार की भयानक गति को प्राप्त हुए। तब वे आश्रय लेकर युद्ध करने लगे और ढाल आदिक आगे रक्खें। वे अहंकार से ऐसे भयभीत हुए कि ये हमको मारते हैं, हम इनको मारते हैं। इस चिन्ता में इन सबके हृदय फँस गये और शनैः शनैः युद्ध करने लगे। जब देवता शस्त्र चलावें तब वे बच जावें और भयभीत होकर भागें। अहंकार के उदय होने से उनके मस्तक पर आपदा ने चरण रक्खा और वे महादीन हो गये और ऐसे हो गये कि यदि कोई उनके आगे आ पड़े तो भी उसको न मार सकें। जैसे काष्ठ से रहित अग्नि क्षीर को नहीं भक्षण करती तैसे ही वे निर्बल हो गये। उनके अङ्ग काटे जावें तो वे भाग जावें और जैसे समान शूर युद्ध करते हैं तैसे ही युद्ध करने लगे। हे रामजी! कहाँ तक कहूँ वे मरने से डरने लगे और युद्ध न कर सके। तब देवता वज्र आदिक से उनको प्रहार करने लगे जिनसे वे चूर्ण हो गये और भयभीत होकर भागे। निदान दैत्यों की सब सेना भागी और जो जो देश देशान्तर से आये थे वह भी सब भागे; कोई किसी देश को, कोई किसी देश को, पहाड़, कन्दरा और जल में चले गये और जहाँ जहाँ स्थान देखा वहाँ वहाँ चले गये। निदान जब दैत्य भयभीत होकर हारे और देवताओं की जीत हुई तो दैत्य भागके पाताल में जा छिपे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे दामव्यालकटोपाख्यानेऽसुरहननन्नाम एकोनत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ २९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तब देवता प्रसन्न हुए और देवताओं का भय पाके दाम, व्याल, कट पाताल में गये और सम्बर से भी डरे। सम्बर प्रलयकाल की प्रज्वलित अग्नि का रूप था उसका भय करके दाम, व्याल, कट सातवें पाताल में गये और दैत्यों के मण्डल को छेद के जहाँ यमकिंकर रहते हैं उसमें कुकुहा नाम होकर जा रहे। नरकरूपी समुद्र के पालक यमकिंकरों ने दया करके इनको बैठाया और जैसे पापी को चिन्ता प्राप्त होती है तैसे ही इनको स्त्रियाँ प्राप्त हुईं, उनके साथ सातवें पाताल में रहे। फिर इनके पुत्रपौत्रादिक बड़ी सन्तान हुई और उन्होंने सहस्र वर्ष वहाँ व्यतीत किये। वहाँ उनको यह वासना दृढ़ हो गई कि 'यह मैं हूँ' 'यह मेरी स्त्री है' और पुत्र कलत्र बान्धवों में बहुत स्नेह हो गया। एक काल में वहाँ अपनी इच्छा से धर्मराज नरक के कुछ काम के लिये आया और उसको देखके सब किंकर उठ खड़े हुए और प्रणाम किया; पर दाम, व्याल, कट ने जो उसकी बड़ाई न जानते थे उसे किंकर समान जानके प्रणाम न किया। तब यमराज ने क्रोध किया और समझा कि ये दुष्ट मानी हैं इनको शासना देनी चाहिये। इस प्रकार विचार करके यम ने किंकरों को सैन की कि इनको परिवारसंयुक्त अग्नि की खाईं में डाल दो। यह सुन वे रुदन करने और पुकारने लगे पर इनको उन्होंने डाल दिया और परिवारसंयुक्त नरक की अग्नि में वे ऐसे जले जैसे दावाग्नि में पत्र, टास, फूल, फल संयुक्त वृक्ष जल जाता है। तब मलीन वासना से वे क्रान्त देश के राजा के धीवर हुए और जीवों की हिंसा करते रहे। जब धीवर का शरीर छूटा तब हाथी हुए; फिर भील हुए; फिर बगुले हुए; फिर तिरगत देश में धीवर हुए और फिर भैरदेश में मच्छर हुए और मगध देश में कीट हुए। हे रामजी! इस प्रकार दाम, व्याल, कट; तीनों ने वासना से अनेक जन्म पाये और फिर काश्मीर देश में एक ताल है उसमें तीनों मच्छ हुए हैं। वन में अग्नि लगी थी, इसलिये उसका जल भी सूख गया है, अल्प जल उष्ण रहा है उसमें रहते हैं और वही जल पान करते हैं; मरते हैं, न जीते हैं, उनकी जो सम्पदा है उसको भी नहीं भोग सकते, चिन्ता से जलते हैं। हे रामजी!

अज्ञान से जीव अनेक बार जन्मते मरते हैं। जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजते और मिटते हैं और जल के भँवर में तृण भ्रमता है तैसे ही वासना भ्रम से वे फिरें। अब तक उनको शान्ति नहीं प्राप्त हुई। अहंकार वासना महादुःख का कारण है; इसके त्याग से सुख है अन्यथा सुख कदाचित् नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे दामव्यालकटजन्मान्तरवर्णनन्नाम त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तुम्हारे प्रबोध के निमित्त मैंने तुमको दाम, व्याल, कट का न्याय कहा है; उनकी नाईं तुम मत होना। अविवेकी का निश्चय ऐसा है कि अनेक आपदा को प्राप्त करता है और अनन्त दुःख भुगाता है; कहाँ सम्बर दैत्य की सेना के नाथ और देवताओं के नाशकर्त्ता और कहाँ तप्तजल के मच्छ हो जर्जरीभाव को प्राप्त हुए; कहाँ वह धैर्य और बल जिससे देवताओं को नाश करना और भगाना और आप चलायमान न होना और कहाँ क्रान्त देश के राजा के किंकर धीवर होना! कहाँ वह निरहंकारचित्त, शान्ति, उदारता और धैर्य और कहाँ वासना से मिथ्या अहंकार से संयुक्त होना। इतने दुःख और आपदा केवल अहंकार से हुए। अहंकार से संसाररूपी विष की मंजरी शाखा प्रतिशाखा बढ़ती है। संसाररूपी वृक्ष का बीज अहंकार है। जब तक अहंकार है तब तक अनेक दुःख और आपदा प्राप्त होती हैं, इससे तुम अहंकार को यत्न करके मार्जन करो। मार्जन करना यह है कि अहंवृत्ति को असत्‌रूप जानो कि 'मैं कुछ नहीं'। इस मार्जन से सुखी होगे। हे रामजी! आत्मरूपी अमृत का चन्द्रमा है और शीतल और शान्तरूप उसका अंग है; अहंकाररूपी मेघ से वह अदृष्ट हुआ नहीं भासता। जब विवेकरूपी पवन चले तब अहंकाररूपी बादल नष्ट हो और आत्मारूपी चन्द्रमा प्रत्यक्ष भासे। जब अहंकाररूपी पिशाच उपजा तब तो दाम, व्याल, कट तीनों मायारूप दानव सत् होके अनेक आपदाओं को भोगते हैं। अब तक वे काश्मीर के ताल में मच्छरूप से पड़े हैं और सिवाल के भोजन करने को यत्न करते हैं; जो अहंकार न होता तो इतनी आपदा क्यों पाते? रामजी बोले, हे भगवन्! सत् का अभाव नहीं होता और असत् का भाव नहीं होता। असत् दाम, व्याल, कट सत् कैसे हुए? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार है कि जो सत् नहीं सो भान नहीं होता परन्तु कोई सत् को असत् देखता है और कोई असत् को सत् देखता है—जो स्थित है। इसी युक्ति से तुमको प्रबोध करूँगा। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! हम, तुम जो ये सब हैं वे सत्यरूप हैं और दामादिक मायामात्र असत्‌रूप थे वे सत् कैसे हुए, यह कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जैसे दामादिक मायारूप मृगतृष्णा के जलवत् असत् से स्थित हुए थे तैसे ही तुम, हम, देवता, दानव सम्पूर्ण संसार असत् मायामात्र सत् होके भासता है वास्तव में कुछ नहीं। जैसे स्वप्न में जो अपना मरना भासता है वह असत्‌रूप है तैसे ही हम, तुम आदिक यह जगत् असत्‌रूप है। जैसे स्वप्न में जो अपने मरे बान्धव आन मिलते हैं और प्रत्यक्ष चर्चा करते भासते हैं वे असत्‌रूप होते हैं; तैसे ही यह जगत् भी असत्‌रूप है। हे रामजी! ये मेरे वचन मूढ़ों का विषय नहीं, उनको नहीं शोभते क्योंकि उनके हृदय में संसार का सद्भाव दृढ़ हो गया है और अभ्यास विना इस निश्चय का अभाव नहीं होता। जैसा निश्चय किसी के हृदय में दृढ़ हो रहा है वह दृढ़ अभ्यास के यत्न विना कदाचित् दूर नहीं होता। जिसको यह निश्चय है कि जगत् सत् है वह मूर्ख उन्मत्त है और जिसके हृदय में जगत् का सद्भाव नहीं होता वह ज्ञानवान् है, उसे केवल ब्रह्मसत्ता का भाव होता है और अज्ञानी को जगत् सत् भासता है। अज्ञानी के निश्चय को ज्ञानी नहीं जानता और ज्ञानी के निश्चय को अज्ञानी नहीं जानता। जैसे मदमत्त के निश्चय को अमत्त नहीं जानता और अमत्त के निश्चय को मत्त नहीं जानता, तैसे ही ज्ञानी और अज्ञानी का निश्चय इकट्ठा नहीं होता। जैसे प्रकाश और अन्धकार और धूप और छाया इकट्ठी नहीं होतीं तैसे ही ज्ञानी और अज्ञानी का निश्चय एक नहीं होता। जिसके चित्त में जो निश्चय है उसको जब वही अभ्यास और यत्न करके दूर करे तब दूर होता है अन्यथा नहीं होता। ज्ञानी भी अज्ञानी के निश्चय को दूर नहीं कर सकता; जैसे मृतक की जीवकला को मनुष्य ग्रहण नहीं कर सकते कि उसके निश्चय में क्या है? जो ज्ञानवान् है उसके निश्चय में सर्व ब्रह्म का भान होता है

और उसे जगत् द्वैत नहीं भासता और उसी को मेरे वचन शोभते हैं आत्मअनुभव सर्वदा सत्‌रूप है और सब असत् पदार्थ हैं। ये वचन प्रबुध के विषय हैं और उसी को शोभते हैं। अज्ञानी को जगत् सत् भासता है इससे ब्रह्मवाणी उसको शोभा नहीं देती। ज्ञानी को यह निश्चय होता है कि जगत् रञ्चकमात्र भी सत्य नहीं, एक ब्रह्म ही सत्य है। यह अनुभव बोधवान् का है, उसके निश्चय को कोई दूर नहीं कर सकता कि परमात्मा से व्यतिरेक (भिन्न) कुछ नहीं। जैसे सुवर्ण में भूषणभाव नहीं तैसे ही आत्मा में सृष्टिभाव नहीं। अज्ञानी को पञ्चभूत से व्यतिरेक कुछ नहीं भासता, जैसे सुवर्ण में भूषण नाममात्र है तैसे ही वह आपको नाममात्र जानता है, सम्यक्‌दर्शी को इससे विपरीत भासता है। जो पुरुष होके कहे, 'मैं घट हूँ' तो जैसे यह निश्चय उन्मत्त है तैसे ही हम तुम आदिक भी असत्‌रूप हैं; सत् वही है जो शुद्ध, संवित्‌बोध, निरंजन, सर्वगत, शान्तरूप, उदय व अस्त से रहित है। जैसे नेत्र दूषणवाले को आकाश में तरवरे भासते हैं तैसे ही अज्ञानी को जगत् सत्‌रूप भासता है। आत्मसत्ता में जैसा-जैसा किसी को निश्चय हो गया है तैसा ही तत्काल हो भासता है, वास्तव में जैसे दामादिक थे तैसे ही तुम हम आदिक जगत् हैं और अनन्त चेतन आकाश सर्वगत निराकार में स्फूर्ति है वही देहाकार हो भासती है। जैसे संवित् का किंचन दामादिक निश्चय से आकारवान् हो भासे तैसे ही हम तुम भी फुरनेमात्र हैं और संवेदन के फुरने ही से स्थित हुए हैं। जैसे स्वप्ननगर और मृगतृष्णा की नदी भासती है तैसे ही हम तुम आदिक जगत् आत्मरूप भासते हैं। प्रबुध को सब चिदाकाश ही भासता है और सब मृगतृष्णा और स्वप्ननगरवत् भासता है। जो आत्मा की ओर जागे हैं और जगत् की ओर सोये हैं, वे मोक्षरूप हैं और जो आत्मा की ओर से सोये और जगत् की ओर जागे हैं वे अज्ञानी बन्धरूप हैं। पर वास्तव में न कोई सोये हैं, न जागे हैं, न बँधे हैं, न मोक्ष हैं, केवल चिदाकाश जगत्‌रूप होके भासता है। निर्वाणसत्ता ही जगत् लक्ष्मी होकर स्थित हुई है और जगत् निर्वाणरूप है दोनों एक वस्तु के पर्याय हैं। जैसे तरु और विटप एक ही वस्तु के दो

नाम हैं तैसे ही ब्रह्म और जगत् एक ही वस्तु के पर्याय हैं। जैसे आकाश में तरवरे भासते हैं और हैं नहीं, केवल आकाश ही है, तैसे ही अज्ञानी को ब्रह्म में जो जगत् भासते हैं वे हैं नहीं, ब्रह्म ही है। जैसे नेत्र में तिमिर रोगवाले को जो तरवरे भासते हैं वे तरवरे नेत्ररोग से भिन्न नहीं तैसे ही अज्ञानी को अपना आप चिदाकाश ही अन्यरूप हो भासता है, यह चिदाकाश सर्व और व्यापकरूप है और उससे भिन्न जगत् असत् है। सत्यरूप, एक, विस्तृत आकार, महाशिलावत्, घनस्वच्छ, निःस्पन्द, उदय-अस्त से रहित वही सत्ता है इसलिये सर्वकलना को त्यागकर उसी अपने आपमें स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे निर्वाणोपदेशो नाम
एकत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३१ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! असत् सत् की नाईं होके जो स्थित हुआ है वह बालक को अपनी परछाहीं में वैतालवत् भासता है सो जैसे हुआ तैसे हुआ, अब आप यह कहिये कि दाम, व्याल, कट के दुःख का अन्त कैसे होगा? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब उनको यमराज ने अग्नि में भस्म कराया तब यमराज से किंकरों ने पूछा कि हे प्रभो! इनका उद्धार कब होगा? तब यमराज ने कहा, हे किंकरो! जब ये तीनों आपस में बिछुर जावेंगे और अपनी संपूर्ण कथा सुनेंगे तब निःसंदेह होके मुक्त होंगे, यही नीति है। रामजी ने फिर पूछा, हे भगवन्! वह वृत्तान्त कहाँ सुनेंगे, कब सुनेंगे और कौन निरूपण करेगा? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! काश्मीर देश में कमलों से पूर्ण एक बड़ा ताल है और उसके निकट एक छोटा ताल है उसमें वे चिर पर्यन्त बारम्बार मच्छ होंगे और मच्छ का शरीर त्याग करके सारस पक्षी होके कमलों के ताल पर रहकर कमल, कमलिनी और उत्पलादिक फूलों में विचरेंगे और सुगन्ध को सेते चिरकाल व्यतीत करेंगे। दैवसंयोग से उनके पाप नष्ट होंगे और बुद्धि निर्मल हो आवेगी तब तीनों आप में बिछुर जावेंगे और युक्ति से मुक्ति पावेंगे। जैसे राजस, तामस, सात्त्विक गुण आपस में स्वेच्छित बिछुर जाते हैं तैसे ही वे भी स्वेच्छित बिछुर जावेंगे। काश्मीर देश में एक पहाड़

है उसके शिखर पर एक नगर बसेगा तिसका नाम प्रद्युम्न होगा और उस शिखर पर कमलों से पूर्ण एक ताल होगा जहाँ राजा का एक स्थान होगा और ईशान कोण की ओर उसका मन्दिर होगा। उस मन्दिर के छिद्र में व्याल नामक दैत्य आलय बना चिड़िया होकर रहेगा और निरर्थक शब्द करेगा। उस काल में श्रीशंकर नाम राजा गुण और भूति से सम्पन्न मानों दूसरा इन्द्र होगा और उसके मन्दिर के छत की कड़ी के छिद्र में दाम नाम दैत्य मच्छर होकर भूँभूँ शब्द करता विचरेगा। कट नाम दैत्य वहाँ क्रीड़ा का पक्षी होगा और रत्नों से जड़े हुए पिंजड़े में रहेगा। उस राजा का नरसिंह नाम मन्त्री बड़ा बुद्धिमान् होगा। जैसे हाथ में आँवला होता है तैसे ही उस मन्त्री को बन्ध और मुक्ति का ज्ञान प्रसिद्ध होगा। वह मन्त्री राजा के आगे दाम, व्याल, कट की कथा श्लोक बाँधकर कहेगा। तब वह करकर नाम पक्षी अर्थात् कट दैत्य को पिंजड़े में सुनने से अपना वृत्तान्त सब स्मरण होगा और उसको विचारेगा। तब उसका मिथ्या अहंकार शान्त होगा और वह परम निर्वाण सत्ता को प्राप्त होगा। इसी प्रकार राजा के मन्दिर में चिड़िया हुआ व्याल नाम दैत्य भी सुनकर परम निर्वाण सत्ता को प्राप्त होगा और लकड़ी के छिद्र में मच्छर हुआ दाम नाम दैत्य भी मुक्त होगा। हे रामजी! यह सम्पूर्ण क्रम मैंने तुमसे कहा है। यह संसार भ्रम मायामय है और अत्यन्त भास्वर (प्रकाशरूप) भासता है, पर महाशून्य और अविचारसिद्ध है। विचार करके ज्ञान हुए से शान्त हो जाता है—जैसे मृगतृष्णा का जल भली प्रकार देखे से शान्त हो जाता है। यद्यपि अज्ञानी बड़े पद को प्राप्त होता है तो भी मोह से अधो से अधो चला जाता है—जैसे दाम, व्याल, कट महाजाल में पड़े थे। कहाँ तो वह बल कि भौंह टेढ़ी करने से सुमेरु और मन्दराचल से पर्वत गिर जावें और कहाँ राजा के गृह में काष्ठ के छिद्र में मच्छर हुए; कहाँ वह बल जिसके हाथ की चपेट से सूर्य और चन्द्रमा गिर पड़ें और कहाँ प्रद्युम्न पहाड़ के गृहछिद्र में चिड़िया होना; कहाँ वह बल जो सुमेरु पर्वत को पीले फूल की नाईं लीला करके उठा लेना और कहाँ पहाड़ के शिखर पर गृह में पक्षी होना।

अज्ञानरूपी अहंकार से इतनी लघुता को जीव प्राप्त होते हैं और अज्ञान से रञ्जित हुए मिथ्या भ्रम देखते हैं। प्रकाशरूप चिदाकाश सत् बिना इनको भासता है और अपनी वासना की कल्पना से जगत् सत्रूप भासता है। जैसे मृगतृष्णा का जल भ्रम से सत् भासता है तैसे ही अपनी कल्पना से जगत् सत् भासता है। इस संसारसमुद्र को कोई नहीं तर सकता जो पुरुष शास्त्र के विचार द्वारा निर्वासनिक हुआ है और जो संसार निरूपण शास्त्र का, जिसका प्रकाशरूप शब्द है, आश्रय करता है वह संसार के पदार्थों को शुभरूप जानता है; इससे नीचे गिरता है—जैसे कोई गढ़े को जलरूप जानके स्नान के निमित्त जावे और गिर पड़े। हे रामजी! अपने अनुभवरूपी प्रसिद्धमार्ग में जो प्राप्त हुए हैं उनका नाश नहीं होता वे सुख से स्वच्छन्द चले जाते हैं—जैसे पथिक सूधे मार्ग में चला जाता है। ब्रह्मनिरूपकशास्त्र निर्वेदमार्ग है और संसारनिरूपकशास्त्र दुःखदायक मार्ग हैं। यह जगत् असत्रूप और भ्रान्तिमात्र है; जिसकी बुद्धि इसी में है कि ये पदार्थ और ये सुख मुझको प्राप्त हों वे इस प्रकार संसार के विषय की तृष्णा करते हैं और वे अभागी हैं और जो ज्ञानवान् पुरुष हैं उनको जगत् घास और तृण की नाईं तुच्छ भासता है। जिस पुरुष के हृदय में परमात्मा का चमत्कार हुआ है वह इस ब्रह्माण्ड खण्डलोक और लोकपालों को तृणवत् देखता है। जैसे जीव आपदा को त्यागता है तैसे ही उसके हृदय में ऐश्वर्य भी आपदारूप त्यागने योग्य है। इससे हृदय से निश्चयात्मक तत्त्व में रहो और बाहर जैसा अपना आचार है तैसा करो। आचार का व्यतिक्रम न करना, क्योंकि व्यतिक्रम करने से शुभ कार्य भी अशुभ हो जाता है—जैसे राहु दैत्य ने अमृत पान करने का यत्न किया था पर व्यतिक्रम करने से शरीर कटा। इससे शास्त्रानुसार चेष्टा करनी कल्याण का कारण है। सन्तजनों की सङ्गति और सत्शास्त्रों के विचार से बड़ा प्रकाश प्राप्त होता है। जो पुरुष इनको सेवता है वह मोह अन्धकूप में नहीं गिरता। हे रामजी! वैराग्य, धैर्य, सन्तोष, उदारता आदिक गुण जिसके हृदय में प्रवेश करते हैं वह पुरुष परम सम्पदावान् होता है और आपदा को नष्ट करता है। जो

पुरुष शुभगुणों से सन्तुष्ट है और सत्शास्त्र के श्रवण राग में राग और जिसे सत् की वासना है वही पुरुष है; और सब पशु हैं। जिस वैराग्य, सन्तोष, धैर्य आदि गुणों से चाँदनी फैलती है और हृदयरू आकाश में विवेकरूपी चन्द्रमा प्रकाशता है वह पुरुष शरीर नहीं मान क्षीरसमुद्र है; उसके हृदय में विष्णु विराजते हैं। जो कुछ उसको भोगन था वह उसने भोगा और जो कुछ देखना था वह देखा, फिर उसे भोगने और देखने की तृष्णा नहीं रहती। जिस पुरुष का यथाक्रम और यथा शास्त्र आचार और निश्चय है उसको भोग की तृष्णा निवृत्त हो जाती है और उस पुरुष के गुण आकाश में सिद्ध, देवता और अप्सरा गान करते हैं और वही मृत्यु से तरता है भोग की तृष्णावाले कदाचित् नहीं तरते। हे रामजी! जिन पुरुषों के गुण चन्द्रमा की नाईं शीतल हैं और सिद्ध और अप्सरा जिनका गान करते हैं वे ही पुरुष जीते हैं और सब मृतक हैं। इससे तुम परम पुरुषार्थ का आश्रय करो तब परम सिद्धता को प्राप्त होगे। वह कौन वस्तु है जो शास्त्र अनुसार अनुद्वेग होकर पुरुषार्थ किये से प्राप्त न हो? कोई वस्तु क्यों न हो अवश्यमेव प्राप्त होती है। यदि चिरकाल व्यतीत हो जावे और सिद्ध न हो तो भी उद्वेग न करे तो वह फल परिपक्क होकर प्राप्त होगा—जैसे वृक्ष से जब परिपक्व होके फल उतरता है तब अधिक मिष्ट और सुखदायक होता है। यथा- शास्त्र व्यवहार करनेवाला उस पद को प्राप्त होता है जहाँ शोक, भय और यत्न सब नष्ट हो जाते हैं और शान्तिमान् होता है। हे रामजी! मूर्ख जीवों की नाईं संसारकूप में मत गिरो! यह संसार मिथ्या है। तुम उदार आत्मा हो; उठ खड़े हो और अपने पुरुषार्थ का आश्रय करो और इस शास्त्र को विचारो। जैसे शूर रण में प्राण निकलने लगे तो भी नहीं भागता और शस्त्र को पकड़के युद्ध करता है कि अमरपद प्राप्त हो; तैसे ही संसार में शास्त्र का विचार पुरुषार्थ है; यही पुरुषार्थ करो और शास्त्र को विचारो कि कर्त्तव्य क्या है। जो विचार से रहित है वह दुर्भागी दीनता और अशुभ को प्राप्त होता है। महामोहरूपी घन निद्रा को त्याग करके जागो और पुरुषार्थ को अङ्गीकार करो जो जरा-मृत्यु के

न्ति का कारण है और जो कुछ अर्थ है वह सब अनर्थरूप है; भोग रोग के समान हैं और सम्पदा सब आपदारूप हैं, ये सब त्यागने य हैं। इसलिये सत्मार्ग को अङ्गीकार करके अपने प्राकृत आचार विचरो और शास्त्र और लोकमर्यादा के अनुसार व्यवहार करो, क्योंकि स्त्र के अनुसार कर्म का करना सुखदायक होता है। जिस पुरुष का स्त्र के अनुसार व्यवहार है उसका संसारदुःख नष्ट हो जाता है और यु, यश, गुण और लक्ष्मी की वृद्धि होती है। जैसे वसन्तऋतु की री प्रफुल्लित होती है तैसे ही वह प्रफुल्लित होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे दामव्यालकटोपाख्याने
देशाचारवर्णनन्नाम द्वात्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३२ ॥

शिष्ठजी बोले, हे रामजी! सर्व दुःख का देनेवाला और सर्व सुख का , सब ठौर, सब काल में, सबको अपने कर्म के अनुसार होता है। दिन नन्दीगण ने एक सरोवर पर जाके सदाशिव का आराधन या और सदाशिव प्रसन्न हुए तो उसने मृत्यु को जीता, प्रथम नन्दी सो नन्दीगण नाम हुआ और मित्र बांधव सबको सुख देनेवाला ने स्वभाव से यत्न करके हुआ। शास्त्र के अनुसार यत्न करने से दैत्य से देवताओं को जो सबसे उत्कृष्ट हैं मारते हैं। मरुत राजा के यज्ञ संवृत नामक एक महाऋषि आया और उसने देवता, दैत्य, मनुष्य दिक अपनी सृष्टि अपने पुरुषार्थ से रची—मानों दूसरा ब्रह्मा था और ामित्र ने बारम्बार तप किया और तप की अधिकता और अपने ही आचार से राजर्षि से ब्रह्मर्षि हुए। हे रामजी! उपमन्यु नाम एक दुर्भागी ह्मण था और उसको अपने गृह में भोजन की सामग्री न प्राप्त होती थी। न एक दिन उसने एक गृहस्थ के घर पिता के साथ दूध, चावल और रा सहित भोजन किया और अपने गृह में आ पिता से कहने लगा को वही भोजन दो जो खाया था। पिता ने साँवें के चावल और आटे का घोलके दिया और जब उसने भोजन किया तब वैसा स्वाद न लगा; तो पिता से बोला कि मुझको वही भोजन दो जो वहाँ खाया था। पिता ने हा, हे पुत्र! वह भोजन हमारे पास नहीं, सदाशिव के पास है; जो वे

देवें तो हम खावें। तब वह ब्राह्मण सदाशिव की उपासना करने लगा औ ऐसा तप किया कि शरीर अस्थिमात्र हो रहा और रक्त-मांस सब सूख गया। तब शिवजी ने प्रसन्न होकर दर्शन दिया और कहा, हे ब्राह्मण! जो तु को इच्छा है वह वर माँगो। ब्राह्मण ने कहा दूध और चावल दो तब सदाशिव ने कहा दूध और चावल क्या, कुछ और माँग, पर जो तू कहा है तो यही भोजन किया कर। तब उसको वही भोजन प्राप्त हु और शिवजी ने कहा जब तू चिन्तन करेगा तब मैं दर्शन दूँगा। हे रामजी! यह भी अपना पुरुषार्थ हुआ। त्रिलोकी की पालना करने वाले विष्णु को भी काल तृण की नाईं मर्दन करता है, पर उस काल को श्वेत ने उद्यम करके जीता है और सावित्री का भर्त्ता मृतक हुआ था, प वह पतिव्रता थी उसने स्तुति और नमस्कार करके यम को प्रसन्न किया और भर्त्ता को परलोक से ले आई—यह भी अपना ही पुरुषार्थ है। श्वे नाम एक ऋषीश्वर था उसने अपने पुरुषार्थ से काल को जीतके मृत्यु जय नाम पाया। इससे ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो यथाशास्त्र उद्यम किये से प्राप्त न हो। अपने पुरुषप्रयत्न का त्याग करना न चाहिये; इससे सुख, फल और सर्व की प्राप्ति होती है। जो अविनाशी सुख की इच्छा हो तो आत्मबोध का अभ्यास करो। और जो कुछ संसार के सुख हैं वे दुःख से मिले हुए हैं और आत्मसुख सब दुःख का नाशकर्त्ता है किसी दुःख से नहीं मिला वास्तव कहिये तो सम असम सर्व ब्रह्म ही है पर तो भी सम परम कल्याण का कर्त्ता है। इससे अभिमान का त्याग करके सन्तों का आश्रय करो और निरन्तर बुद्धि से विचार करो। जब यत्न करके सन्तों का संग करोगे तब परमपद को प्राप्त होगे। हे रामजी! संसारसमुद्र के पार करने को ऐसा समर्थ कोई तप नहीं और न तीर्थ है। सामान्य शास्त्रों से भी नहीं तर सकता, केवल सन्तजनों के संग से भवसागर को सुख से तरता है। जिस पुरुष के लोभ, मोह, क्रोध आदिक विकार दिन दिन प्रति क्षीण होते जाते हैं और यथाशास्त्र जिसके कर्म हैं ऐसे पुरुष को सन्त और आचार्य कहते हैं। उसकी संगति संसार के पापकर्मों से निवृत्त करती है और शुभ में लगाती है। आत्मवेत्ता पुरुष की संगति से बुद्धि

संसार का अत्यन्त अभाव हो जाता है। जब दृश्य का अत्यन्त भाव हुआ तब आत्मा शेष रहता है। इस क्रम से जीव का जीवत्व भाव निवृत्त हो जाता है और बोधतत्त्व शेष रहता है। जगत् न उपजता है, न आगे होगा और न अब वर्त्तमान में है। इस प्रकार मैंने तुमसे अनन्त युक्ति से कहा है और कहूँगा। ज्ञानवान् को सर्वदा ऐसा ही मनन होता है। अचल चिदात्मा में चञ्चल चित्त फुरा है और उसी ने जगत् आभास रचा है। जैसे जैसे वह फुरता है तैसे ही तैसे भासता है और वास्तव में कुछ नहीं। जैसे सूर्य और किरणों में कुछ भेद नहीं। तैसे ही जगत् और आत्मा में कुछ भेद नहीं। अहंरूप आत्मा में आपको न जानना ही आत्माकाश में मेघरूपी मलीनता है। जब परमार्थ में अहंभाव को जानेगा तब अनात्म में अहंभाव लीन हो जावेगा और तभी चिदाकाश से जीव की अत्यन्त एकता होती है। जैसे घट के फूटे से घटाकाश की महाकाश से एकता होती है। निश्चय करके जानो कि अहं आदिक दृश्य वास्तव में कुछ नहीं है विचार किये से नहीं रहता। जैसे बालक की परछाहीं में पिशाच भासता है सो भ्रान्तिमात्र होता है तैसे ही यह जगत् भ्रान्ति सिद्ध है, अपनी कल्पना से भासता है और दुःखदायक होता है पर विचार किये से नष्ट हो जाता है। हे रामजी! आत्मरूपी चन्द्रमा सदा प्रकाशित है और अहंकाररूपी बादल उसके आगे आता है उससे परमार्थ बुद्धिरूपी कमलिनी विकाश को नहीं प्राप्त होती; इससे विवेकरूपी वायु से उसको नष्ट करो। नरक, स्वर्ग, बन्ध, मोक्ष, तृष्णा, ग्रहण, त्याग आदिक सब अहंकार से फुरते हैं हृदयरूपी आकाश में अहंकाररूपी मेघ जब तक गरजता और वर्षा करता है तब तक तृष्णारूपी कण्टकमञ्जरी बढ़ती जाती है। जब तक अहंकाररूपी बादल आत्मारूपी सूर्य को आक्रमण करता है तब तक जड़ता और अन्धकार है और प्रकाश उदय नहीं होता। अहंकाररूप वृक्ष की अनन्त शाखा फैलती हैं। 'अहं' 'मम' आदिक विस्तार अनेक अर्थों को प्राप्त करता है। जो कुछ संसार में सुख दुःख आदिक प्राप्त होता है वह सब अहंकार से प्राप्त होता है। संसाररूपी चक्र की अहंकार नाभि है जिससे भ्रमता है और 'अहं' 'मम' रूपी बीज

से अनेक जन्मरूपी वृक्ष की परंपरा उदय और क्षय होती है और कभी नष्ट नहीं होती। इससे यत्न करके इसका नाश करो। जब तक अहंकाररूपी अन्धकार है तब तक चिन्तारूपी पिशाचिनी विचरती है और अहंकाररूपी पिशाच ने जिसको ग्रहण किया है उस नीचपुरुष को मन्त्र-तन्त्र भी दीनता से छुड़ा नहीं सकते। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! निर्मल चिन्मात्र आत्मसत्ता जो अपने आपमें स्थित है उसमें अहंकाररूपी मलीनता कहाँ से प्रतिबिम्बित हुई? वशिष्ठजी बोले, हे राघव! अहंकार चमत्कार जो भासता है वह वास्तव धर्म नहीं, मिथ्या है, वासना भ्र से हुआ है और पुरुष प्रयत्न करके नष्ट हो जाता है, न मैं हूँ, न मेरा कोई है 'अहं' 'मम' में कुछ सार नहीं। जब अहंकार शान्त होगा तब दुःख भी कोई न रहेगा। जब ऐसी भावना का निश्चय दृढ़ होगा तब अहंकार नष्ट हो जावेगा। आत्मा में अहं कोई नहीं, दृश्य में सारे हैं। इस प्रकार जब फुरना शान्त हुआ तब अहंकार भी नष्ट हो जावेगा और जब अहंकार नष्ट हुआ तब हेयोपादेय बुद्धि भी शान्त हो जावेगी और समता आदिक प्रसन्नता उदय होगी। अहंकार की प्रवृत्ति ही दुःख का कारण है। रामजी ने पूछा, हे प्रभो! अहंकार का रूप क्या है; त्याग कैसे होता है; शरीर से रहित कब होता है और इसके त्याग से क्या फल होता है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! अहंकार तीन प्रकार का है। दो प्रकार का श्रेष्ठ अहंकार अङ्गीकार करने योग्य है और तीसरा त्यागने योग्य है। इसका त्याग शरीर सहित होता है। 'यह सब दृश्य मैं ही हूँ और परमात्मा अद्वैतरूप हूँ मुझसे भिन्न कुछ नहीं', यह निश्चय परम अहंकार है और मोक्ष देनेवाला है—बन्धन का कारण नहीं; इसमें जीवन्मुक्त विचरते हैं। यह अहंकार भी मैंने तुमको उपदेश के निमित्त कल्पके कहा है वास्तव में यह भी नहीं है केवल अचेत चिन्मात्रसत्ता है। दूसरा अहंकार यह है कि 'मैं सबसे व्यतिरेक (भिन्न) हूँ और बाल के अग्रभाग का सौवाँ भाग सूक्ष्म हूँ;' ऐसा निश्चय भी जीवन्मुक्ति है और मोक्षदायक है—बन्धन का कारण नहीं। यह अहंकार भी मैंने तुमसे कल्पके कहा है, वास्तव में यह कहना भी नहीं है। तीसरा अहंकार यह है कि हाथ, पाँव आदि इतनामात्र

आपको जानना; इसमें जिसका निश्चय है वह तुच्छ है और अपने बन्धन का कारण है। इसको त्याग करो, यह दुष्टरूप परम शत्रु है; इसमें जो जीव मरते हैं वे परमार्थ की ओर नहीं आते। यह अहंकाररूपी चतुर शत्रु बड़ा बली है और नाना प्रकार के जन्म और मानसी दुःख काम, क्रोध, राग, द्वेष आदिक का देनेवाला है। यह सब जीवों को नीच करता है और संकट में डालता है। इस दुष्ट अहंकार के त्याग के पीछे जो शेष रहता है वह आत्मभगवान् मुक्तरूप सत्ता है। हे रामजी! लोक में जो पशु की अहंकार भावना है कि 'मैं यह हूँ'; 'इतना हूँ'; यही दुःख का कारण है। इसको महापुरुषों ने त्याग किया है; वे जानते हैं कि हम देह नहीं हैं; शुद्ध चिदानन्दस्वरूप हैं। प्रथम जो दो अहंकार मैंने तुमको कहे हैं वह अङ्गीकार करने योग्य और मोक्षदायक हैं और तीसरा अहंकार त्यागने योग्य है, क्योंकि दुःख का कारण है। इसी अहंकार को ग्रहण करके दाम, व्याल, कट आपदा को प्राप्त हुए जो महाभयदायक है और कहने में नहीं आती और जिन्होंने भोगी है उनकी क्या कहना है; वह जानते ही हैं। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! तीसरा अहंकार जो आपने कहा है उसका त्याग किये से पुरुष का क्या भाव रहता है और उसको क्या विशेषता प्राप्त होती है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब जीव अनात्मा के अहंकार को त्याग करता है तब परम पद को प्राप्त होता है। जितना जितना वह त्याग करता है उतना ही उतना दुःख से मुक्त होता है; इससे इसको त्याग करके आनन्दवान् हो। इसको त्याग के महापुरुष शोभता है। जब तुम इसको त्यागोगे तब ऊँचे पद को प्राप्त होगे। सर्वकाल सर्वयत्न करके दुष्ट अहंकार को नष्ट करो; परमानन्द बोधके आगे आवरण यही है, इसके त्याग से बोधवान् होते हैं। जब यह अहंकार निवृत्त होता है तब शरीर पुण्यरूपी हो जाता है और परमसार के आश्रय को प्राप्त होता है। यही परमपद है। जब मनुष्य स्थूल अहंकार का त्याग करता है तब सर्व व्यवहार चेष्टा में आनन्दवान् होता है। जिस पुरुष का अहंकार शान्त हुआ है उसको भोग और रोग दोनों स्वाद नहीं देते—जैसे अमृत से जो तृप्त हुआ है उसको खट्टा और मीठा दोनों स्वाद नहीं

देते अर्थात् रागद्वेष से चलायमान नहीं होता एकरस रहता है। जिसका अनात्मा में अहंभाव नष्ट हुआ है उसको भोगों में राग नहीं होता और तृष्णा, राग, द्वेष नष्ट हो जाता है। जैसे सूर्य के उदय हुए अन्धकार नष्ट हो जाता है तैसे ही अपने दृढ़ पुरुषार्थ से जिसके हृदय से अहंकार का अनुसंधान नष्ट होता है वह संसारसमुद्र को तर जाता है। इससे यही निश्चय धारण करो कि 'न मैं हूँ' 'न कोई मेरा है;' अथवा, 'सर्व मैं ही हूँ' 'मुझसे भिन्न कुछ वस्तु नहीं' यह निश्चय जब दृढ़ होगा तब संसार की द्वैतभावना मिट जावेगी और केवल आत्मतत्त्व का सर्वदा भान होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे दाम, व्याल, कटोपाख्यानं
नाम त्रयस्त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब दाम, व्याल, कट युद्ध करते करते भाग गये तब सम्बर के नगर की जो अवस्था हुई सो सुनो। पहाड़ के समान नगर में जब सम्बर की जितनी कुछ सेना थी वह सब नष्ट हो गई तब देवता जीतकर अपने अपने स्थानों में जा बैठे और सम्बर भी क्षोभ को पाके बैठ रहा। जब कुछ वर्ष व्यतीत हुए तब देवताओं के मारने के निमित्त सम्बर फिर युक्ति विचारने लगा कि दामादिक जो माया से रचे थे सो मूर्ख और बलवान् थे परन्तु मिथ्या अहंकार का बीज अज्ञान उनको था इससे उनको मिथ्या अहंकार आन फुरा जिससे वे नष्ट हुए और भागे। अब मैं ऐसे योद्धा रचूँ जो आत्मवेत्ता ज्ञानवान् और निरहंकार हों और जिनको कदाचित् अहंकार न उत्पन्न हो तो उनको कोई जीत भी न सकेगा और वे सब देवताओं की सेना मारेंगे। हे रामजी! इस प्रकार चिन्तन करके सम्बर ने माया से इस भाँति दैत्य रचे जैसे समुद्र अपने बुद्बुदे रच ले। वे सर्वज्ञ, विद्या के वेत्ता और वीतराग आत्मा थे और यथाप्राप्त काम करते थे। उनको आत्मभाव का निश्चय था और आत्मरूप उत्तमपुरुष उपजे। भीम, भास और दट उनके नाम थे। वे तीनों सम्पूर्ण जगत् को तृणवत् जानते थे और परम पवित्र उनके हृदय थे। वे गरजने और महाबल से शब्द करने लगे जिससे आकाश पूर्ण हो गया। तब इन्द्रादिक देवता स्वर्ग में शब्द सुनके बड़ी सेना संग लेकर आये और यह बड़े बली भी बिजलीवत् चमत्कार करने लगे। दोनों ओर से युद्ध होने लगे और शस्त्रों की नदियों का प्रवाह चला, पर भीम, भास, दट धैर्य से खड़े रहे। कभी कोई शस्त्र का प्रहार लगे तब युद्ध के अभ्यास से देह का मोह आन फुरे पर फिर विचार में सावधान हों कि हम तो अशरीर हैं और चैतन्यमय, निराकार, निर्विकार, अद्वैत, अच्युतरूप हैं; हमारे संग शरीर कहाँ है। जब जब मोह आवे तब तब ऐसे विचार करें और जरा मरण उनको कुछ न भासे। वे निर्भय होकर वासना जाल से मुक्त हुए शत्रु को मारते और युद्ध करते थे और हेयोपादेय से रहित समदृष्टि हो युद्धकार्य को करते रहे। निदान दृढ़ युद्ध हुआ तब देवताओं की सेना मारी गई और जो कुछ शेष रहे सो भीम, भास, दट के भय से भागे। जैसे जल पर्वत से उतरता है और तीक्ष्ण वेग से चलता है तैसे ही देवता तीक्ष्ण वेग से भागे और क्षीरसमुद्र में विष्णु भगवान् की शरण में गये। उनको देखके विष्णुभगवान् ने कहा कि तुम यहाँ ठहरो मैं उनको युद्ध करके मार आता हूँ। ऐसे कहकर विष्णु भगवान् सुदर्शन-चक्र लेकर सम्बर की ओर आये उनका और सम्बर का बड़ा युद्ध हुआ—मानो अकाल प्रलय आया है। बड़े बड़े पर्वत उछलने लगे और युद्ध होने लगा तब सम्बर भागा और महाप्रकाशरूप सुदर्शनचक्र से विष्णुजी ने उसको मार लिया। सम्बर शरीर को त्याग के विष्णुपुरी को प्राप्त हुआ और विष्णु भगवान् ने भीम, भास, दट के अन्तःपुर्यष्टक में प्रवेश किया और उनकी चित्तकला जो प्राण से मिश्रित थी उसको ग्रस्त किया। जैसे पवन दीपक को निर्वाण करता है तैसे ही उनकी पुर्यष्टक फुरने से निर्वाण हुई। आगे वे जीवन्मुक्त थे सो अब विदेहमुक्त हुए। हे रामजी! वे भीम, भास, दट निर्वासनिक थे इस कारण बुझे दीपकवत् निर्वाण हो गये। जो वासना संयुक्त है वह बन्धवान् जो निर्वासनिक है वह मुक्तरूप है। तुम भी विवेक से निर्वासनिक हो। जब यह निश्चय होता है कि सब जगत् असत्रूप है तब वासना नहीं फुरती; इससे यथार्थ देखना कि किसी जगत् के पदार्थ में आसक्त बुद्धि न हो। वासना और चित्त एक ही वस्तु के नाम हैं; सर्व पदार्थों के शब्द और

अर्थ चित्त में स्थित हैं। जब सत् का अवलोकन सम्यक्ज्ञान होगा तब यह लय हो जावेगा और परम पद शेष रहेगा। जो चित्त वासना संयुक्त है उसमें अनेक पदार्थों की तृष्णा होती है। जो मुक्त है उसे ही मुक्त कहते हैं और नाना प्रकार के घट पटादिक आकार चित्त फुरने से अनेकता को प्राप्त होते हैं। जैसे परछाहीं से वैतालभ्रम होता है तैसे ही नानात्वभ्रम चित्त में भासता है। हे रामजी! जैसी-जैसी वासना को लेकर चित्त स्थित होता है तैसा ही आकार निश्चय होकर भासता है। दाम, व्याल, कट का रूप चित्त के परिणाम से विपर्यय हो गया था, तुमको भीम, भास, दट का निश्चय हो; दाम, व्याल, कट का निश्चय न हो। हे रामजी! यह वृत्तान्त मुझसे पूर्व में ब्रह्माजी ने कहा था वही मैंने अब तुमसे कहा है। इस संसार में कोई बिरला सुखी है; दुःखदशा में अनेक हैं जब तुम इस संसार की भावना त्यागोगे तब देहादिक में बन्धवान् न होगे और व्यवहार में भी आशसक्ता न होगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे दाम, व्याल, कटोपाख्यान-समाप्तिवर्णनन्नाम चतुस्त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! अविद्या से संसार की ओर जो मन सम्मुख हुआ है उसको जिस पुरुष ने जीता है वही सुखी और शूरमा है और उसही की जय है। यह संसार सर्व उपद्रव का देनेवाला है; इसका उपाय यही है कि अपने मन को वश करे। यह मेरा शास्त्र सर्व ज्ञान से युक्त है; इसको सुनके आपको विचारे कि यह जगत् क्या है? ऐसे विचारकर भोग से उपराम होना और सत्स्वरूप आत्मा का अभ्यास करना। जो कुछ भोग इच्छा है वह बन्धन का कारण है, इसके त्यागने को मोक्ष कहते हैं और सब कुछ शास्त्रों का विस्तार है। जो विषयभोग हैं उनको विष और अग्नि की नाईं जाने। जैसे विष और अग्नि नाश का कारण हैं तैसे ही विषयभोग भी नाश का कारण हैं। ऐसे जान के इनका त्याग करे और बारम्बार यही विचार करे कि विषयभोग विष की नाईं है। ऐसे विचार के जब विषयों को चित्त से त्यागोगे तब सेवते हुए भी ये दुःखदायक न होंगे। जैसे मन्त्रशक्तिसम्पन्न को सर्प दुःखदायक

नहीं होता तैसे ही त्यागी को भोग दुःखदायक नहीं होते। इससे संसार को सत् जान के वासना फुरती है सो दुःख का कारण है—जैसे पृथ्वी में जो बीज बोया जाता है सो ही उगता है; कटुक से कटुक उपजता है, मिष्ट से मिष्ट उपजता है; तैसे ही जिसकी बुद्धि में संसार के भोग वासनारूपी बीज है उससे दुःख की परम्परा उत्पन्न होती है और जिसकी बुद्धि में शान्ति की शुभ वासना गर्भित होती है उससे शुभ गुण, वैराग्य, धैर्य, उदारता और शान्तिरूप उत्पन्न होते हैं। जब शुभ वासना का अनुसन्धान होगा तब मन बुद्धि निर्मलभाव को प्राप्त होगी और जब मन निर्मल हुआ तब शनैःशनै अज्ञान नष्ट हो जावेगा और प्रसन्नता बुद्धि होगी। जैसे शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की कला बढ़ती जाती है। जब इन शुभ गुणों की परम्परा स्थित होती है तब विवेक उत्पन्न होता है और उसके प्रकाश से हृदय का मोहरूपी तम नष्ट हो जाता है तब धैर्य और उदारता की वृद्धि होती है। जब सत्संग और सत्शास्त्र के अभ्यासद्वारा शुभगुण उदय होते हैं तब महा आनन्द का कारण शीतल शान्तरूप प्रकट होता है। जैसे पूर्णमासी के चन्द्रमा की कान्ति आनन्ददायक शीतलता फैलाती है तैसे ही सत्संगरूपी वृक्ष का फल प्राप्त होता है। हे रामजी! सत्संगरूपी वृक्ष से विवेकरूपी फल उत्पन्न होता है और उस विवेकरूपी फल से समतारूपी अमृत स्रवता है, उससे मन निर्द्वन्द्व और सर्वकामना से रहित निरुपद्रव होता है। मन की चपलता शोक और अनर्थ का कारण है, मन के अचल हुए सब शान्त हो जाता है। शास्त्र के अर्थ धारने से सन्देह नष्ट हो जाते हैं और नाना प्रकार की कल्पना जाल शान्त हो जाती है। इससे जीवन्मुक्त अलेप होता है; संसार का कोई क्षोभ उसको स्पर्श नहीं करता और वह निरीच्छित, निरुपस्थित, निर्लेप, निर्दुःख होता है। शोक से रहित हुआ चित्त जड़ग्रन्थि से मुक्त और परमानन्दरूप होता है। तृष्णारूपी सूत्र के जाल से जो पुरुष निकल गया है वही शूरमा है और जिस पुरुष ने तृष्णा नष्ट नहीं की वह अनेक जन्म दुःख में भ्रमता है। जब तृष्णा घटती है तब मन भी सूक्ष्म हो जाता है और जब भोग की तृष्णा नष्ट होती है

तब मन भी नष्ट हो जाता है। हे रामजी ! जैसे भले नौकर स्वामी के निमित्त रण में शरीर को तृणवत् त्यागते हैं और उससे स्वामी की जय होती है पर जो दुष्ट हैं वे नहीं त्यागते उससे दुःखी होते हैं; तैसे ही मन का उदय होना जीवों को दुःख का कारण है और मन का नष्ट होना सुखदायक है। ज्ञानवान् का मन नष्ट हो जाता है; अज्ञानी का मन वृद्धि होता है। सम्पूर्ण जगत् चक्र मनोमात्र है; यह पर्वत, मण्डल, स्थावर, जङ्गमरूप जो कुछ जगत् है वह सब मनरूप है। मन किसको कहते हैं सो सुनो, चिन्मात्र शुद्धकला में जो चित्तकला का फुरना हुआ है वही संवेदन संकल्प विकल्प से मिलकर मलीन हुआ है और स्वरूप विस्मरण हो गया है; उसी का नाम मन है। वही मन वासना से संसार-भागी होता है। जब चित्त संवेदन दृश्य से मिलता है तब उससे तन्मय होकर चित् संवित् का नाम जीव होता है और वही जीव दृश्य वर्ग से मिलके संसारदशा में चला जाता है और अनेक विस्तार को प्राप्त होता है। आत्मपुरुष परब्रह्म संसारी नहीं; वह न रुधिर है, न मांस है और न शरीर है। शरीरादिक सर्व जड़ रूप हैं, आत्मा चेतन आकाशवत् अलेप है। यदि शरीर को भिन्न भिन्न कर देखिये तो रुधिर, मांस, अस्थि से भिन्न कुछ नहीं निकलता। जैसे केले के वृक्ष को खोलकर देखिये तो पत्रों से भिन्न कुछ नहीं तैसे ही मन ही जीव है और जीव ही मन है; मन से भिन्न आकार कोई नहीं वही सर्वविकार को प्राप्त होता है। हे रामजी ! जीव के बन्धन का कारण अपनी कल्पना है। जैसे कुसवारी अपने यत्न से आप ही बन्धन को प्राप्त होती है तैसे ही मनुष्य अपनी वासना से आप ही संसारबन्धन में फँसता है इससे तुम भोग की वासना मन से दूर करो; संसार का बीज वासना ही है। जिस वासना संयुक्त दिन में विचरता है तैसा ही स्वप्न भी होता है। जैसी जैसी वासना होती है तैसा ही पुण्य पाप के अनुसार परलोक भासता है अपनी ही वासना से जगत् भास आता है। जैसे अन्न जिस द्रव्य से मिलता है तैसा ही भासता है अर्थात् मिष्ट से मिष्ट; खट्टे से खट्टा; कटुक से कटुक होता है तैसे ही जैसी वासना जिसके हृदय में दृढ़ होती है तैसे ही हो भासता है। जैसे बड़े पुण्यवान् को स्वप्न में अपनी मूर्ति इन्द्र की भासती है; नीच को नीच ही भासती है और भूत के सङ्गी को भूतादिक भास आते हैं तैसे ही वासना के अनुसार परलोक भास आता है। जब मन में निर्मलभाव स्थित होता है तब मन की कल्पना और पापवासना मिट जाती है और जब मन में मलीन वासना बढ़ती है तब निर्मलता नहीं भासती वही रूप फल प्राप्त होता है। इससे तुम दुर्वासना कलङ्क को त्याग के पूर्णमासी के चन्द्रमावत् विराजमान हो। यह संसार भ्रान्तिमात्र है सत्रूप नहीं। अज्ञान करके भेद विकार भासते हैं; वास्तव में न कोई बन्ध है, न मोक्ष है और न कोई बन्ध करनेवाला है; सब इन्द्रजाल की नाईं मिथ्या भ्रम भासते हैं। जैसे गन्धर्वनगर; मृगतृष्णा का जल और आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है वह असत्रूप है; तैसे ही यह जगत् असत्रूप है। जीवों को अज्ञान से ऐसा निश्चय हो रहा है कि मैं अनन्त आत्मा नहीं हूँ—नीच हूँ—जब इस निश्चय का अभाव हो और निश्चय करके आपको अनन्त आत्मा जाने प्रथम इसका अभ्यास करे—तब हृदय में स्थित हो। इस निश्चय से उस नीच निश्चय का अभाव हो जाता है। सर्व जगत् स्वच्छ निर्मल आत्मा है, उससे अतिरिक्त जिसको देहादिक भावना हुई है उसको लोक में बन्धन होता है और अपने संकल्प से आपही शुक्र की नाईं बन्धन में आता है। जिसको स्वरूप में भावना होती है उसको मोक्ष भासता है। आत्मसत्ता मोक्ष और बन्ध दोनों से रहित है। एक और अद्वैत ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। जब मन निर्मल होता है तब इस प्रकार भासता है और किसी पदार्थ में बन्धवान् नहीं होता और जब मन इस भाव से रहित अमन होता है तब ब्रह्मसत्ता को देखता है अन्यथा नहीं देखता। जब वैराग्य और अभ्यासरूपी जल से मन निर्मल होता है तब ब्रह्मज्ञानरूपी रङ्ग चढ़ता है और सर्व आत्मा ही भासता है और जब सर्वात्मभावना होती है तब ग्रहण और त्याग की वृत्ति नष्ट हो जाती है और बन्ध-मोक्ष भी नहीं रहता। जब मन के कषाय परिपक्व होते हैं अर्थात् भोग की सूक्ष्म वासना से मुक्त होता है और सत्शास्त्र के विचार से क्रम से बुद्धि में वैराग्य उपजता है तब परमबोध को प्राप्त होता है और कमल

की नाईं बुद्धि खिल आती है। मन ने ही सर्व पदार्थ रचे हैं जब उससे मिलकर तद्रूप हो जाता है उसका नाम असम्यक्ज्ञान है और जब सम्यक् दृष्टि होती है तब उसका तत्काल नाश करता है। जब भीतर बाहर दृश्य को त्याग करता है और मन सत् भाव में स्थित होता है तब परमपद को प्राप्त हुआ कहाता है। हे रामजी ! ये द्रष्टा और दृश्य जो स्पष्ट भासते हैं वे असत् हैं। उन असत् के साथ तन्मय हो जाना यह मन का रूप है जो पदार्थ आदि अन्त में न हो और मध्य में भासे उसको असत्रूप जानिये; सो यह दृश्य आदि में भी नहीं उपजा और अन्त में भी नहीं रहता, मध्य में जो भासता है वह असत्रूप है। अज्ञान से जिनको यह सत् भासता है उनको दुःख की प्राप्ति होती है। आत्मभावना विना दुःख निवृत्त नहीं होता। जब दृश्य में आत्मभावना होती है तब दृश्य भी मोक्षदायक हो जाता है। जल और है, तरङ्ग और है; यह अज्ञानी का निश्चय है। जल और तरङ्ग एक ही रूप है; यह ज्ञानी का निश्चय है। नाना रूप जगत् अज्ञानी को भासता है उससे दुःख पाता है और ग्रहण और त्याग की बुद्धि से भटकता है। ज्ञानी को सर्व आत्मा भासता है और भेदभावना से रहित अन्तर्मुख सुखी होता है। हे रामजी ! नानात्व मन के फुरने से रचा है और मन का रूप है। अपने संकल्प का नाम मन है सो असत्रूप है। जो असत् विनाशीरूप है उसको सत् मानने से क्लेश होता है। जैसे किसी का बान्धव परदेश से आता है और उसको वह नहीं पहिचानता अतः उसमें राग नहीं होता, पर जब उसमें अपने की भावना करता है तब राग भी होता है; तैसे ही जब आत्मा में अहं प्रतीति होती है और देहादिक में नहीं होती तब देहादिक सुख दुःख स्पर्श नहीं करते और जब देहादिक में भावना होती है तब स्पर्श करते हैं। हे रामजी ! जब शिवतत्त्व का ज्ञान हो तब कोई दुःख नहीं रहता वह शिव द्रष्टा और दृश्य के मध्य में व्यापक है, उसमें स्थित होकर मन शान्त हो जाता है। जैसे वायु से रहित धूल नहीं उड़ती तैसे ही मन के शान्त हुए देहरूपी धूल शान्त हो जाती है और फिर संसाररूपी कुहिरा नहीं रहता। जब वर्षाऋतुरूपी वासना क्षीण हो जाती है तब जाना नहीं जाता कि जड़तारूपी

कहाँ गई। जब अज्ञानरूपी मेघ शान्त होता है तब तृष्णारूपी सूख जाती है और हृदयरूपी पवन से मोहरूपी कुहिरा नष्ट हो ता है जैसे प्रातःकाल हुए रात्रि नष्ट हो जाती है। अज्ञानरूपी मेघ क्षीण हुए देहाभिमानरूपी जड़ता जानी नहीं जाती कि कहाँ गई। तक अज्ञानरूपी मेघ गर्जता है तब तक संकल्परूपी मोर नृत्य करते और जब अहंकाररूपी मेघ नष्ट हो जाता है तब परम निर्मल चिदा- आत्मारूपी सूर्य स्वच्छ प्रकाशता है। जब मोहरूपी वर्षाकाल का भाव होता है तब ज्ञानरूपी शरत्काल में दिशा निर्मल हो जाती हैं आत्मारूपी चन्द्रमा शीतल चाँदनी से प्रकाशता है जो सर्वसम्पदा देने और परमानन्द की प्राप्ति करनेवाला है। जब प्रथम शुभगुणों विवेकरूपी बीज संचित होता है तब शुभ मन सर्वसम्पदा का देने- ला परमानन्द अति सफल भूमि को प्राप्त होता है। उस विवेकी पुरुष वन, पर्वत, चतुर्दश भुवन सर्व आत्मा ही भासता है और वह निर्मल निर्मल और शीतल से शीतल भावना में भासता है हृदयरूपी तालाब विस्तारवान् है और स्फटिकमणिवत् उज्ज्वल स्वच्छ जल से पूर्ण है में धैर्य और उदारतारूपी कमल विराजते हैं और उस हृदयकमल पर अहंकाररूपी भँवरा विचरता है। वह जब नष्ट हो जाता है तो फिर नहीं उप- ता। वह पुरुष निरपेक्ष, सर्वश्रेष्ठ, निर्वासनिक, शान्तमन अपने देहरूपी नगर में विराजमान ईश्वर होता है। जिसको आत्मप्रकाश उदय हुआ है बोधवान् का मन अत्यन्त गल जाता है, भय आदिक विकार नष्ट जाते हैं और देहरूपी नगर में विगतज्वर होके विराजमान होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे उपशमरूपवर्णनन्नाम
पञ्चत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३५ ॥

रामजी बोले, हे भगवन् ! आत्मा तो चेतनरूप विश्व से अतीत है, चिदात्मा में विश्व कैसे उत्पन्न हुआ ? बोध की वृद्धि के निमित्त फिर से कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जैसे सोम जल में तरङ्ग रूप होते हैं परन्तु त्रिकालदर्शी को उनका सद्भाव नहीं भासता और उनका रूप दृष्टमात्र होता है तैसे ही आत्मा में जगत् संकल्पमात्र

होता है। जैसे आकाश सर्वगत है परन्तु सूक्ष्मभाव से नहीं दीखता तैसे ही आत्मा निरंश, निराकार, सर्वगत और सर्वव्यापक है परन्तु लखा नहीं जाता, अव्यक्त और अच्युतरूप है; उस आत्मा में जगत् ऐसे है जैसे कोई थम्भ हो और उसमें शिल्पी कल्पना करे कि इतनी पुतलियाँ इसमें हैं। सो वह क्या हैं; कुछ नहीं, केवल शिल्पी के मन में फुरती हैं तैसे ही यह जगत् आत्मा में मनरूपी शिल्पी ने कल्पा है सो आत्मा के आधार है और आत्मा के आश्रय आत्मा में स्थित है और आत्मा कदाचित् उससे स्पर्श नहीं करता। जैसे मेघ आकाश के आश्रय आकाश में स्थित है परन्तु आकाश उससे स्पर्श नहीं करता तैसे ही आत्मा अस्पर्श है और सर्वत्र पूर्ण है परन्तु हृदय में भासता है। जैसे सूर्य का प्रकाश सब ठौर व्यापक है। परन्तु जल में प्रतिबिम्बित होता है और पृथ्वी, काष्ठ इत्यादि में प्रतिबिम्बित नहीं होता तैसे ही आत्मा का देह इन्द्रिय और प्राण में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता हृदय में भासता है। वह आत्मा सर्वसंकल्प और संग से रहित स्वरूप है, उसको ज्ञानवान् पुरुष उपदेश के निमित्त चैतन्य, अविनाशी, आत्मा, ब्रह्मादिक कहते हैं पर आकाश से भी सूक्ष्म निर्मल है। आत्मा आभास से जगत्रूप हो भासता है, जगत् कुछ और वस्तु नहीं है। जैसे जल द्रवता से तरङ्गरूप हो भासता है परन्तु तरङ्ग कुछ भिन्न वस्तु नहीं है; तैसे ही आत्मा से व्यतिरेक जगत् नहीं; चेतनसत्ता ही चैत्यता फुरने से जगत्रूप हो भासती है। जो ज्ञानवान् पुरुष है उसको तो एक आत्मा ही भासता है और अज्ञानी को नाना प्रकार जगत् भासता है। जगत् कुछ वस्तु नहीं है केवल आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है; अनुभव स्वभाव से प्रकाशता है और सूर्यादिक सबको प्रकाशनेवाला है। सब स्वादों का स्वाद वही है और सब भाव उसी से सिद्ध होते हैं। वह सत्ता उदय, अस्त और चलने, न चलने से रहित है; वह न लेता है, न देता है, अपने आपमें स्थित है। जैसे अग्नि लपटरूप और जल तरङ्गरूप हो भासता है तैसे ही आत्मसत्ता जगत्रूप हो भासती है और जीव अपने संवेदन फुरने से नाना प्रकार के संकल्प से विपर्ययरूप देखता है यह पदार्थ है, यह मैं हूँ; यह और है इत्यादिक, पर जब अपने को जानता है तब अज्ञानभ्रम नष्ट हो जाता है। जैसे वृक्ष में बीज-परिणाम से आकार के आश्रय बढ़ता जाता है, तैसे ही आत्मसत्ता चित्त संवेदन फुरता है। फुरना जो आत्मसत्ता के आश्रय विस्तार को होता है सो संकल्परूप है और उसमें जगत् की दृढ़ता है; जैसे दन फुरता है तैसे ही स्थित होता है। उसमें नीति है कि जो पदार्थ प्रकार हो सो तैसे ही स्थित है अन्यथा नहीं होता। जैसे वसन्त-तु में रस अति विस्तार पाता है; कार्त्तिक में धान उपजते हैं; हिमऋतु जल पाषाणरूप हो जाता है; अग्नि उष्ण है; बरफ शीतल है दिक जितने पदार्थ रचे हैं वैसे ही वे सब महाप्रलय पर्यन्त स्थित हैं; न्यथा भाव को नहीं प्राप्त होते। जगत् में चतुर्दश प्रकार के भूतजात पर उनमें जिनको आत्मज्ञान प्राप्त होता है वे ही शान्तरूप आत्मा के आनन्दवान् होते हैं और जिनको प्रमाद है वे भटकते और जन्म-रण को प्राप्त होते हैं। जैसे-जैसे कर्म वे करते हैं तैसी-तैसी गति पाते और आवागमन में भटकते-भटकते यम के मुख में जा पड़ते हैं। जैसे मुद्र में तरङ्ग उपजकर लय हो जाते हैं तैसे ही जन्म-जन्म उपजते हैं जाते हैं। उन्मत्त की नाईं प्रमादी भ्रमते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे चिदात्मरूपवर्णनन्नाम
षट्त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार जगत् की स्थिति है सो सब चञ्चल आकार और विपरिणामरूप है। जैसे समुद्र में तरङ्ग चञ्चलरूप हैं तैसे ही जगत् की गति चञ्चल है। आत्मा से जगत् स्वतः उपजता है, किसी कारण से नहीं होता; और पीछे कारणकार्यभाव हो जाता है और वही चित्त में दृढ़ हो भासता है; आत्मा में यह कोई नहीं। जैसे जल से तरंग स्वाभाविक उठकर लय हो जाते हैं, तैसे ही आत्मा से स्वाभाविक जगत् उपज के लय होते हैं। जैसे ग्रीष्मऋतु में तपन से मरुस्थल जल की नाईं स्पष्ट भासता है पर जल कुछ भी नहीं है और जैसे मद से मत्त पुरुष आपको और का और जानता है, तैसे ही ये पुरुष आत्मरूप हैं

चित्त से आपको देवता, मनुष्य आदिक शरीर जानते और कहते हैं। हे रामजी ! यह जगत् आत्मा में न सत् है, न असत् है ; जैसे सुवर्ण में भूषण हैं तैसे ही मूढ़ जीव आपको आकार मानते हैं। इससे तुम दृश्य को त्याग के द्रष्टा में स्थित हो और जिससे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदिक सबको जानता है उसी को आत्मब्रह्म जानो ; वह सर्व में पूर्ण स्थित, स्वच्छ और निर्मल है। आत्मसत्ता में एकद्वैत कल्पना कुछ नहीं। जब तक आत्मा से भिन्न कुछ वस्तु भासती है तब तक वासना उसकी ओर धावती है। हे रामजी ! आत्मा से व्यतिरेक कुछ सिद्ध नहीं होता तो किसकी वाञ्छा करे ; किसका अनुसन्धान करे और किसका ग्रहण, त्याग करे ? आत्मा को ईप्सित, अनीप्सित, इष्ट, अनिष्ट आदिक कोई विकार विकल्प स्पर्श नहीं करता और कर्त्ता, कारण, कर्म तीनों की एकता है, न कोई आधार है, न आधेय है ; द्वैत कल्पना का असंभव है और अहं-त्वं आदिक कुछ नहीं, केवल ब्रह्मसत्ता स्थित है। ऐसे जानके सर्वदा निर्द्वंद्व होकर सर्वसन्ताप से रहित कार्य में प्रवृत्त हो जाओ। पूर्व जो तुमने कुछ किया और नहीं किया, उस करने और न करने से तुमको क्या सिद्ध हुआ और पाने योग्य कौन पद पाया और भूतों की गिनती में क्या बात है ? तुम आपको हृदय में अकर्त्ता की भावना करो और बाहर से इन्द्रियों से जगत् के कार्य करो ; जब स्थिरतारूपी समुद्र में तुम्हारी वृत्ति धैर्यवान् होगी तब शान्तात्मा होगे, पर दृश्य जगत् में तो दूर से दूर भी गये हृदय में शान्ति नहीं होती। जहाँ चाहे वहाँ जावे और चाहे जैसे पदार्थ पाने का यत्न करे पर उसके पाये से भी शान्ति प्राप्त न होगी। जगत् के सर्व दृश्य पदार्थ त्यागकर जो शेष अपना स्वरूप रहता है वही चिदात्मा है। उसमें स्थित हुए से शान्ति प्राप्त होगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे शान्त्युपदेशकरणं
नाम सप्तत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रकार जो ज्ञानी पुरुष हैं उनमें कर्तव्य भाव भी दृष्टि आता है और हिंसादिक तामसी कर्म भी करते हैं तो भी स्वरूप के ज्ञान से वे अकर्ता ही हैं उन्होंने कदाचित् कुछ नहीं किया और जो मूढ़ अज्ञानी हैं वे जैसा कर्म करते हैं वैसा ही फल भोगते हैं। मन में सत्य जानके जिस पदार्थ के ग्रहण की इच्छा करता है सो फुरना वासनारूप होता है उसी सद्भाव फुरने का नाम कर्त्तव्य है और उसी चेष्टा से फल की प्राप्ति होती है। जिस पदार्थ को सत् जानके वासना फुरती है उसका अनुभव होता है ; शरीर करे अथवा न करे पर जैसी वासना मन में दृढ़ होती है वह शुभ हो अथवा अशुभ उसी के अनुसार दृश्य भासि आता है। शुभ से स्वर्ग भासता है और अशुभ से नरक भासता है। जिस पुरुष को आत्मा का अज्ञान है यद्यपि वह प्रत्यक्ष अकर्ता है तो भी अनेक कर्म के फल को अनुभव करता है और जो ज्ञानवान् हैं उनके हृदय में पदार्थों का सद्भाव और वासना दोनों नहीं होतीं, क्योंकि उनमें कर्त्तव्य का अभाव है। यद्यपि वे करते हैं तो भी कर्तव्य के फल को नहीं प्राप्त होते। और संसार को असत्य जानते हैं ; केवल शरीर का स्पन्दमात्र उनका कर्म है, हृदय से बन्धवान् नहीं होते। पूर्व के प्रारब्ध से सुख-दुःख फल उनको प्राप्त भी होता है परन्तु वे आत्मा से भिन्न उसको नहीं जानते ; वे सर्व ब्रह्म ही देखते हैं और जो अज्ञानी हैं वे अवयव के स्पन्द में आपको कर्ता मानते हैं और उसके अनुसार सुख-दुःख भोगते और मोह को प्राप्त होते हैं। जिनका मन अनात्मभाव में मग्न है वे अकर्ता हुए भी कर्ता होते हैं और मन से रहित केवल शरीर से किया हुआ कर्म किया भी न किया है। इससे मन ही कर्ता है शरीर कुछ नहीं करता। यह सब जगत् मन से उपजा है, मनरूप है और मन ही में स्थित है जिसका मन अमनभाव को प्राप्त हुआ है उसको सब शान्तरूप है। जैसे तीक्ष्ण धूप से मृगतृष्णा की नदी भासती है और जब वर्षा होती है तब शान्त हो जाती है ; तैसे ही जब आत्मज्ञान होता है तब यह सब जगत् शान्त हो जाता है और संसार के सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते। न वह चञ्चल है, न सत्य है और न असत्य है, सर्वविकार से रहित शान्तरूप है। वह संसार की वासना में नहीं डूबता पर अज्ञानी डूबता है, क्योंकि उसका मन संसारभ्रम में मग्न रहता और सदा पदार्थों की तृष्णा करता है। ज्ञानी नहीं करता। हे रामजी ! और दृष्टान्त सुनो कि अज्ञानी को

अकर्तव्य में भी कर्तव्य है और ज्ञानी को कर्तव्य में भी अकर्तव्य है। जैसे कोई पुरुष शय्या पर सोया हो और स्वप्न में गिरके दुःख पावे तो वह अकर्तव्य में कर्तव्य हुआ और जैसे समाधि में स्थित होकर गढ़ में गिरा है पर उसको सर्व शान्तरूप है, यह कर्तव्य में भी अकर्तव्य हुआ, क्योंकि शय्या पर सोया था उसका मन चलता था इससे अकर्तव्य में उसको कर्तव्य हुआ और दुःख का अनुभव करने लगा और दूसरे को सुख का अनुभव हुआ। इससे यह निश्चय हुआ कि जैसा मन होता है तैसी ही सिद्धता प्राप्त होती है। तुम भी असंसक्त होकर कर्म करो तब अकर्ता हो रहोगे। जो कुछ जगत् भासता है वह आत्मा से व्यतिरेक नहीं। जिसको यह निश्चय होता है उस ज्ञानवान् को सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते; उसे आधार, आधेय, द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, इच्छा, आत्मा से भिन्न कुछ नहीं भासता जब ऐसे निश्चय होता है कि मैं देह नहीं, सब पदार्थों से व्यतिरेक और बाल के अग्र के सौवें भाग से भी सूक्ष्म हूँ अथवा जो कुछ दृश्य जगत् है सो सर्व मैं ही हूँ, सर्वतत्त्व का प्रकाशक और सर्वव्यापी हूँ; इस निश्चय से उसको सुख-दुःख का क्षोभ नहीं होता और विगतज्वर होकर स्थित होता है। यद्यपि दुःख और संकट ज्ञानवान् को भी आ प्राप्त होते हैं तो भी उसको वास्तव से नहीं भासते वह परमानन्द से आनन्दवान् लीलामात्र विचरता है। जैसे चन्द्रमा की चाँदनी शीतल प्रकाशित होती है तैसे ही वह पुरुष शीतल प्रकाशवान् होता है; उसको न चिन्ता होती है, न कोई दुःख है। वह शान्तरूप कर्म को कर्त्ता भी है पर अकर्ता है, क्योंकि मन से सदा अलेप रहता है। हे रामजी! हस्त, पादादिक इन्द्रियों से करने का नाम कर्म नहीं; मन के करने का नाम कर्म है। मन ही सब कर्मों का कर्ता है। अहं त्व सब भाव सब लोकों का बीज, सर्वगत मन है। जब मन नाश हो तब सब कर्म नष्ट हो जाते हैं और सब दुःख मिट जाते हैं। जैसे बालक मन से नगर रचे और फिर लीन कर ले तो उसको उपजाने और लीन करने में हर्ष-शोक कुछ नहीं होता तैसे ही परमार्थदर्शी को किसी कर्म का लेप नहीं होता; वह करता हुआ भी कुछ नहीं करता और उसमें कर्तव्य,

कर्तव्य, सुख, दुःख अज्ञानी मोह से अध्यारोप करते हैं और कुछ नहीं। नवान् को बन्ध, मोक्ष, सुख, दुःख कुछ नहीं भासता, क्योंकि वह असंसक्त मन है। जिसका मन आसक्त है उसको नाना दृश्य भासता और ज्ञानवान् को केवल आत्मसत्ता, जो एक द्वैत कलना से रहित भासती है। जैसे जल से तरङ्ग भिन्न नहीं तैसे ही आत्मा से जगत् न नहीं। न कोई बन्ध है, न कोई मोक्ष है, न कोई बाँधने योग्य है; ज्ञानदृष्टि से दुःख है, बोध से लीन हो जाते हैं। बन्ध और मोक्ष ल्प से कल्पित मिथ्यारूप हैं। तुम इस मिथ्या कल्पना अनात्म अहंकार को त्यागके आत्मा में निश्चय करो और धीरज बुद्धिमान् होकर आचार को करो। तब तुम्हें कुछ स्पर्श न करेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे मोक्षोपदेशो नाम
अष्टत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३८ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! सच्चिदानन्द, अद्वैत, निर्विकारादिक गुणों सम्पन्न ब्रह्मतत्त्व में अविद्यमान विचित्र जगत् और अविद्या कहाँ से आई? वशिष्ठजी बोले, हे राजपुत्र! यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप है और ब्रह्मसत्ता सर्वशक्ति है; इस कारण दृश्यरूप हो रहा है और सत्य, असत्य, क, अद्वैत आदिक विश्वरूप भासता है जैसे जल में जल उल्लासरूप नाना प्रकार के तरङ्ग, बुद्बुदे, आवृत्त आकार हो भासता है तैसे ही चिद्न में चिद्घन सर्वशक्ति और सर्वरूप होकर फुरता है। कहीं कर्मरूप, कहीं वाणीरूप, कहीं गुञ्जेरूप, कहीं मनरूप और कहीं भरण, पोषण और नाश का कारण होता है। सब पदार्थों का बीज उत्पन्नकर्ता ब्रह्मसत्ता है; जैसे समुद्र से तरङ्ग उपजकर उसी में लय हो जाते हैं तैसे ही सब पदार्थ उपजकर ब्रह्म में लय होते हैं। रामजी ने फिर पूछा कि हे भगवन्! आपके वचन का उच्चार प्रकट है तो भी कठिन और अति गम्भीर है; इनका तोल नहीं पाया जाता और इनका यथार्थभाव मैं पा नहीं सकता। कहाँ मन संयुक्त षट्इन्द्रियों की वृत्तियों से और सब पदार्थ की रचना से रहित स्वरूप और कहाँ जगत्? जो पदार्थ जिससे उपजता है वह उसी का होता है। जैसे दीपक से उपजा दीपक, मनुष्य से मनुष्य और अग्नि से

अग्नि होता है; इसी प्रकार कारण से जो कार्य उपजता है सो भी उसी के सदृश होता है। तैसे ही जो निर्विकार आत्मा से जगत् उपजा है वह भी निर्विकार होना चाहिये पर वह तो ऐसे नहीं; आत्मा निर्विकार और शान्तिरूप है और जगत् विकारी और दुःखरूप है; उससे कलङ्क रूप जगत् कैसे उपजा? इतना कह वाल्मीकिजी बोले कि जब इस प्रकार रामजी ने कहा तब ब्रह्मऋषि वशिष्ठजी बोले कि हे रामजी! यह सब जगत् ब्रह्मरूप है पर नाना प्रकार मलीनरूप जो भासता है सो मलीनता सत् नहीं। जैसे तरङ्ग के समूह समुद्र में फुरते हैं सो मलीनतारूप धूल नहीं हैं, वही रूप है; तैसे ही आत्मा में जगत् कुछ कलङ्क नहीं है वही रूप है। जैसे अग्नि में उष्णता अग्निरूप है तैसे ही आत्मा में जगत् आत्मारूप है, भिन्न नहीं। रामजी ने फिर पूछा कि हे ब्रह्मन्! निर्दुःख और निर्धर्म से जो यह दुःखरूप जगत् उपजा है यही कलङ्क है। आपके वचन प्रकाशरूप हैं और मुझे स्पष्ट नहीं भासते। मैं इसको नहीं जान सकता। तब मुनिशार्दूल वशिष्ठजी ने विचारा कि परम प्रकाश को अभी इसकी बुद्धि नहीं प्राप्त हुई; कुछ निर्मल हुई है और पद पदार्थ को जानता है परन्तु परमार्थवेत्ता नहीं हुआ। जिसको परमार्थ बोध प्राप्त होता है और जिसका मन शान्त होता है; वह ज्ञात ज्ञेय पुरुष मोक्ष उपाय की वाणी के पार प्राप्त होता है और संसाररूपी अविद्या मल उसको नहीं भासता। वह केवल अद्वैत सत्ता देखता है। जब तक मैं और उपदेश रामजी को न करूँगा तब तक इसको विश्राम न होगा। जो अर्द्धप्रबुद्ध है उसको सब ब्रह्म ही कहना नहीं शोभता, क्योंकि उसका चित्त भोगों से सर्वथा व्यतिरेक नहीं हुआ। सर्वब्रह्म के वचन सुनके वह भोगों में आसक्त होगा जो नाश का कारण है। जिसको परमदृष्टि प्राप्त हुई है उसको भोग की इच्छा नहीं उपजती। इससे सर्वब्रह्म का कहना रामजी को सिद्धान्त काल में शोभेगा। गुरु को शिष्य के प्रति प्रथम सर्वब्रह्म कहना नहीं बनता। प्रथम शम-दम आदिक गुणों से शिष्य को शुद्ध करे, फिर सर्वब्रह्म शुद्ध तू है ऐसे उपदेश करे तो उससे वह जाग उठता है। जो अज्ञानी अर्द्धप्रबुद्ध है उसको ऐसा उपदेश करनेवाला गुरु उसको महानरक में डालता है। जो प्रबुद्ध है उसको भोग की इच्छा क्षीण हो जाती है और वह निष्काम पुरुष है इससे उसको अविद्यारूपी मल नहीं रहता और उसको उपदेश करने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार विचार कर अज्ञानरूपी तम के नाशकर्ता और ज्ञान के सूर्य भगवान् वशिष्ठजी ने रामजी के प्रति कहा। वशिष्ठजी बोले, हे राघव! कलनारूप कलङ्क ब्रह्म में है वा नहीं है, यह मैं तुमसे सिद्धान्तकाल में कहूँगा अथवा तुम आपही जानोगे। ब्रह्मसत्ता सब शक्तिरूप, सर्वव्यापक (सर्वगत) है और सब उसी में रचे हैं। जैसे इन्द्रजाली विचित्र शक्ति से अनेकरूप रचता है और सत्य को असत्य और असत्य को सत्य कर दिखाता है तैसे ही आत्मा मायावी परम इन्द्रजाली अघटन घटना है अर्थात् जो न बने उसको भी बनाता है। वह अपनी शक्ति से पहाड़ को गढ़ा करता है; बेल में पाषाण लगाता है और पाषाण में बेल लगाता है। वन की पृथ्वी को आकाश करता है और आकाश को पृथ्वी करता है; और आकाश में वन लगाता है—जैसे आकाश में गन्धर्वनगर भासता है, वन को आकाश करता है—जैसे पुरुष की छाया आकाश हो जाती है और आकाश को पृथ्वीभाव प्राप्त करता है—जैसे रत्न की कन्दरा पृथ्वी पर हो और उसमें आकाश का प्रतिबिम्ब पड़े। हे रामजी! यह विचित्ररूप दृश्य जो तुमसे कहा है सो शुद्ध अव्यक्ततत्त्व—अचैत्य—चिन्मात्र में जो चेतनता का लक्षण जानना है उसी ने रचा है और कैसा रचा है कि वही चित्त संवेदन फुरने से जगत्रूप हो भासता है। उसमें सब प्रकार और सर्वरूप वही है जो एकरूप अविद्यमान है तो हर्ष, शोक और आश्चर्य किसका मानिये? यह अन्यथा कोई नहीं, सब एकरूप है। इसी कारण हमको समता भाव रहता है और हर्ष, शोक, आश्चर्य और मोह नहीं प्राप्त होता। ममता और चपलता आदिक विकार हमको कोई नहीं होता और ऐसे हम कदाचित् जानते ही नहीं। देश, काल, वस्तु जगत् अवस्थान को प्राप्त हो भासते हैं और उनका विपर्यय होना भी भासता है पर वह अपने स्वभाव में स्थित है, क्योंकि यह दृश्य उनको अपने स्वरूप का आभास फुरता भासता है। जो कुछ दृश्य प्रपञ्च है वह सत्य चित्त

संवित् की स्पन्द कला से फुरता है और नाना प्रकार देश, काल, क्रिया और द्रव्य होकर भासता है। उसको आत्मसत्ता किसी यत्न से नहीं रचती बल्कि स्वाभाविक ही फुरने से फुरते हैं। जैसे समुद्र तरङ्गों को किसी यत्न से नहीं उपजाता और लीन करता स्वाभाविक ही चमत्कार फुरता और लीन होता है; तैसे ही आत्मा में स्वाभाविक ही सृष्टि फुरती है और लय होती है। जैसे समुद्र और तरङ्ग में कुछ भेद नहीं तैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं—वही रूप है। जैसे दूध घृतरूप है। घट पृथ्वीरूप है और रेशम तंतुरूप है तैसे ही जगत् आत्मरूप है जैसे वटधान्य-वृक्षरूप हो भासता है और समुद्र तरङ्गरूप हो भासता है तैसे ही आत्मा जगत्‌रूप हो भासता है। हे रामजी! इन दृष्टान्तों का एक अङ्ग लेना, कारण कार्य भाव न लेना क्योंकि आत्मा में न कोई कर्ता है, न कोई भोक्ता है और न कोई विनाश होता है केवल आत्मतत्त्व, साक्षी, निरामय और अद्भुत अपने आप स्वभावसत्ता में स्थित है। यह जगत् आत्मा का प्रकाश है; जैसे दीपक और सूर्य का प्रकाश। जैसे पुष्प का स्वभाव सुगन्ध है तैसे ही आत्मा का स्वभाव जगत् है; किसी कारण कार्य से नहीं हुआ। जगत् आत्मा का स्वभाव आभासरूप है और आत्मा से कुछ भिन्न नहीं हुआ। जैसे पवन का स्वभाव स्पन्दरूप है और जब निःस्पन्द होता है तब नहीं भासता तैसे ही आत्मा में संवेदन फुरता है तब जगत् हो भासता है और जब लय होता है तब जगत् नहीं भासता। जगत् कुछ नहीं है न सत् है और न असत् है। कहीं प्रकट भासता है और कहीं अप्रकट भासता है और नाना प्रकार का विचित्ररूप भासता है। जैसे वन में पुष्प का रस होता है पर उनके उपजने और नष्ट होने से न वन उपजता है और न नष्ट होता है तैसे ही आत्मसत्ता जगत् के उपजने और नष्ट होने से रहित है वास्तव में उपजा कुछ नहीं इससे आत्मा ही अपने आपमें स्थित है पर असम्यक्ज्ञान से जगत् भासता है और अनन्त शाखाओं से फैल रहा है, इसलिये इसको ज्ञानरूपी कुठार से काटो तब सुखी होगे। जगत्‌रूपी वृक्ष का असम्यक्ज्ञान बीज है, शुभ अशुभरूपी फूल है और आशारूपी बेल से वेष्टित है; दुःखरूपी उसकी

शाखा हैं, भोग और जरारूपी फल हैं और तृष्णारूपी लता से घिरे हुए भासते हैं। ऐसे संसाररूपी वृक्ष को आत्मविवेकरूपी कुठार से यत्न करके काटकर मुक्त हो। जैसे गजपति अपने बल से बन्धन तोड़के सुखचित्त विचरता है तैसे ही तुम भी निर्बन्ध होकर विचरो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे सर्वैकताप्रतिपादनन्नाम
एकोनचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३६ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! ये जो जीव हैं वे ब्रह्म से कैसे उत्पन्न हुए और कितने हुए हैं, मुझसे विस्तारपूर्वक कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे महाबाहो! जैसी विचित्रता से ये उपजते, नाश होते, बढ़ते और स्थित होते हैं वह क्रम सुनो। हे निष्पाप राम! शुद्ध ब्रह्मतत्त्व की वृत्ति जो चेतन शक्ति है सो निर्मल है; जब वह स्फुरणरूप होती है तब कल्पनारूप घनभाव को प्राप्त होती है और संकल्परूप धारण करती है; और फिर तन्मय होकर मनरूप होती है। वह मन संकल्पमात्र से जगत् को रचता है और विस्तारभाव को प्राप्त करता है। जैसे गन्धर्वनगर विस्तार को प्राप्त होता है तैसे ही मन से जगत् का विस्तार होता है। ब्रह्मदृष्टि को त्याग के जो जगत् रचता है सो सब आत्मसत्ता का चमत्कार है। हमको तो सब आकाशरूप भासता है पर अदूरदर्शी को जगत् भासता है। जैसे चित्त संवित् में संकल्प फुरता है तैसा ही रूप होता है। प्रथम ब्रह्मा का संकल्प फुरा है इसलिये उस चित्त संवित् ने आपको ब्रह्मारूप देखा और ब्रह्मारूप होकर जब जगत् को कल्पा तब प्रजापति होकर चतुर्दश प्रकार के भूतजात उत्पन्न किये; वास्तव में सब ज्ञप्तिरूप हैं। उसके फुरने से जो जगत् भासता है सो चित्तमात्र शून्य आकाशरूप है। वास्तव में शरीर कुछ नहीं संकल्पमात्र है स्वप्ननगरवत् भ्रान्ति से भासते हैं। उस भ्रान्तिरूप जगत् में जो जीव हुए हैं और कोई मोह से संयुक्त है, कोई अज्ञानी है, कोई मध्यस्थित है और कोई ज्ञानी उपदेष्टा है, जो कुछ भूतजात हैं वे सब आधिव्याधि दुःख से दीन हुए हैं। उनमें कोई ज्ञानवान् सात्त्विकी हैं और कोई राजसी सात्त्विकी हैं। जो शान्तात्मा पुरुष हैं उनको संसार के दुःख कदाचित् स्पर्श नहीं करते वे सदा ब्रह्म में स्थित हैं। हे रामजी!

यह जो मैंने तुमसे भूतजात कहे हैं सो ब्रह्म, शान्त, अमृतरूप, सर्वव्यापी, निरामय, चैतन्यस्वरूप, अनन्तात्मा और आधिव्याधि दुःख से रहित निर्भ्रम है। जैसे अनन्त सोमजल के किसी स्थान में तरङ्ग फुरते हैं तैसे ही परमब्रह्म सत्ता के किसी स्थान में जगत्प्रपञ्च फुरता है। फिर रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! ब्रह्मतत्त्व तो अनन्त, निराकार, निरवयवरूप है उसका एक अंश एक स्थान कैसे हुआ ? निरवयव में अवयवक्रम कैसे होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! उस करके उपजे हैं अथवा उससे उपजे हैं यह जो कारण और उपादान है वह भ्रान्तिमात्र है। यह शास्त्र रचना व्यवहार के निमित्त कही है परमार्थ में कुछ नहीं है अवयव से जो देशादिक कल्पना है वह क्रम से नहीं उपजी ; उदय और अस्त पर्यन्त दृष्टिमात्र भी होती है पर कल्पनामात्र है। वह कल्पना भी आत्मरूप है। आत्मा से रहित कल्पना भी न कुछ वस्तु है न हुई है और न कुछ होगी। उसमें जो शब्द, अर्थ आदिक युक्ति है वह व्यवहार के निमित्त है परमार्थ में कुछ नहीं शब्द अर्थमात्र जगत्कलना उस करके उपजी है और उससे उपजी है यह द्वितीय कल्पना भी नहीं यह तो तन्मय शान्तरूप आत्मा ही है और कुछ नहीं। जैसे अग्नि से अग्नि की लाटें फुरती हैं सो अग्निरूप हैं और 'उससे उपजी' और 'उस करके उपजी' यह कल्पना अग्नि में कोई नहीं, अग्नि ही अग्नि है; तैसे ही जन और जनक अर्थात् कार्य और कारणभेद आत्मा में कोई नहीं। कार्य कारणभाव कल्पनामात्र है; जहाँ अधिकता और न्यूनता होती है वहाँ कारण कार्यभाव होता है कि यह अधिक कारण है और वह कार्य है। भिन्न-भिन्न कारण कार्य शब्द बनता भी है और जहाँ भेद होता है वहाँ भेद कल्पना भी हो पर एक अद्वैत में शब्द कैसे हो और शब्द का अर्थ कैसे हो? जैसे अग्नि और अग्नि की लपट में भेद नहीं होता तैसे ही कारण कार्यभाव आत्मा में कोई नहीं—शब्द अर्थ कल्पनामात्र है। जहाँ प्रतियोगी, व्यवच्छेद और संख्या भ्रम होता है वहाँ द्वैत और नानात्व होता है। जैसे चेतन का प्रतियोगी जड़ और जड़ का प्रतियोगी चेतन है; व्यवच्छेद अर्थात् परिच्छिन्न वह है जैसे घट में आकाश होता है और संख्या यह है कि जैसे जीव और ईश्वर। यह शब्द अर्थ द्वैतकल्पना में होते हैं और जहाँ एक अद्वैत आत्मा ही है वहाँ शब्द अर्थ कोई नहीं। जैसे समुद्र में तरङ्ग बुद्बुदे सब ही जल हैं और जल से कुछ भिन्न नहीं, तैसे ही शब्द और अर्थकल्पना वास्तव से ब्रह्म है। जो बोधवान् पुरुष हैं उनको सब ब्रह्म ही भासता है; चित्त भी ब्रह्म है, मन भी ब्रह्म है और ज्ञान, शब्द, अर्थ ब्रह्म ही है, ब्रह्म से कुछ भिन्न नहीं और उससे जो भिन्न भासता है वह मिथ्याज्ञान है जैसे अग्नि और अग्नि की लाटों की कल्पना भ्रान्तिमात्र है तैसे ही आत्मा में जगत् की भिन्न कल्पना असतरूप है। जो ज्ञान से रहित है उसको दृष्टिदोष से सत्य हो भासती है। इससे सर्व ब्रह्म है, ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। निश्चय करके परमार्थ ब्रह्म से सब ब्रह्म ही है। सिद्धान्तकाल में तुमको यही दृष्टि उपजेगी। यह जो सिद्धान्तपिञ्जर मैंने तुमसे कहा है उस पर उदाहरण कहूँगा कि यह क्रम अविद्या का कुछ भी नहीं; अज्ञान के नाश हुए अत्यन्त असत् जानोगे। जैसे तम से रस्सी में सर्प भासता है और जब प्रकाश उदय होता है तब ज्यों का त्यों भासता है और सर्पभ्रम नष्ट हो जाता है; तैसे ही अज्ञान दृष्टि से जगत् भासता है। जब शुद्ध विचार से भ्रान्ति नष्ट होगी तब निर्मल प्रकाश सत्ता तुमको भासेगी इसमें संशय नहीं। यह निश्चितार्थ है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे ब्रह्मप्रतिपादनन्नाम
चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४० ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! आपके ये वचन क्षीरसमुद्र के तरङ्गवत् उज्ज्वल; तीनों तापों के नाशकर्ता; हृदय के मल दूर करने को निर्मलरूप और अज्ञानरूपी तम के नाशकर्ता प्रकाशरूप हैं और गम्भीर हैं; मैं इनकी तोल नहीं पा सकता एक क्षण में मैं संशय से अन्धकार को प्राप्त होता हूँ और एक क्षण में निःसंशयरूप प्रकाश को प्राप्त होता हूँ जैसे चपलमेघ से सूर्य का प्रकाश कभी भासता और कभी घिर जाता है। इससे मेरा संशय दूर करो कि अप्रमेयरूप आत्मानन्द सत्ता प्रकाशरूप और असत्यभाव से रहित साररूप है तो उस अद्वैततत्त्व में कल्पना कहाँ से आई ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जो कुछ मैंने तुमसे कहा है वह

यथार्थ है और जैसे कहा है तैसे ही है। यह वचन असमर्थ भी नहीं, क्योंकि जिसके हृदय में ठहरें उसको आत्मपद में प्राप्त करें; विरूप भी नहीं है, क्योंकि इनका रूपफल प्रकट है जिसके धारण से संसार के सब दुःख मिट जाते हैं और पूर्वापरविरोध भी नहीं है कि प्रथम कुछ और कहा और पीछे कुछ और कहा। जो कुछ मैंने कहा है सो यथार्थ कहा है परन्तु ज्ञानदृष्टि से जब तुम्हारा हृदय निर्मल होगा और विस्तृत बोधसत्ता हृदय में प्रकाशेगी तब तुम मेरे वचनों के तात्पर्य को हृदय में ठीक जानोगे। तुमको जो मैं उपदेश करता हूँ सो वाच्य वाचक शास्त्र के सम्बन्ध जताने के निमित्त करता हूँ। जब इन युक्त वचनों से तुम जानोगे तब तुम्हें अद्वैतसत्ता निर्मल भासेगी और जो कुछ वाच्य-वाचक शब्द अर्थरचना है उसको त्याग करोगे। ज्ञानवान् को सदा परमार्थ अद्वैत सत्ता भासती है आत्मा में इच्छादिक कल्पना कुछ नहीं; निर्दुःख निर्द्वन्द्व है और जगत्‌रूप होकर स्थित हुआ है। इस प्रकार मैं तुमको विचित्र युक्ति से कहूँगा। जबतक सिद्धान्त उपदेश की आवश्यकता है तबतक आत्मसत्ता नहीं प्रकाशती। जब आत्मबोध होगा तब आप ही जानोगे। अज्ञानरूपी तम वाक्विस्तार विना शान्त नहीं होता। इस कारण मैं तुमको अनेक युक्तियों से कहूँगा। जबतक सिद्धान्त उपदेश का अवकाश है। हे रामजी! शुद्ध आत्मसत्ता के आश्रय जो संवेदन भास फुरता है उसी का नाम अविद्या है। वह दो रूप रखती है—एक उत्तम और दूसरा मलिन। जो स्पन्दकला अविद्या के नाश निमित्त प्रवर्तती है वह उत्तम है और विद्या भी उसी का नाम है और सब दुःख नाश करती है और जो संसार की ओर फुरती है वह अविद्या है अर्थात् आत्मा की ओर फुरती है सो विद्या है और दृश्य की ओर जो फुरती है वह अविद्या है पर दोनों स्पंदरूप हैं। इससे विद्या से अविद्या का नाश करो। जैसे ब्रह्मअस्त्र से ब्रह्मअस्त्र शान्त होता है; विष को विष नाश करता है और शत्रु को शत्रु मारता है; तैसे ही विद्या से अविद्या नाश होती है। इसी प्रकार तुम भी इसको नाश करो तब सुखी होगे। विचार से जब इसका नाश होता है तब जानी नहीं जाती कि कहाँ गई; जैसे दीपक से अन्धकार देखिये तो नहीं दीखता कि कहाँ गया। बड़ा आश्चर्य है कि जीव का ज्ञान इसने ढाँप लिया है आत्मसत्ता सदा अनुभव और उदयरूप है, पर अज्ञानी जीव को नहीं भासती। जब तक अविद्या नहीं जानी तब तक फुरती है और जब जानी तब नहीं जानता कि कहाँ गई इससे भ्रममात्र सिद्ध है। बड़ा आश्चर्य है कि माया ने संसार को बाँध रक्खा है और सत्य की नाईं प्राप्त हुई है पर असत्य है। बुद्धिमानों को भी यह नाशकर छोड़ती है तो और जीवों का क्या कहना है। निरन्तर अभेदरूप आत्मा में अविद्या भेद कल्पना कोई नहीं; जिस पुरुष ने संसार माया को ज्यों का त्यों जाना है वही पुरुषोत्तम है। जिसको यह भावना हुई है कि अविद्या परमार्थ से कुछ नहीं, असत्यरूप है सो ज्ञानवान् है। जो कुछ जानने योग्य है वह उसने जाना है—इसमें संशय नहीं जब तक तुम स्वरूप में न जागो तब तक मेरे वचन में आसक्तबुद्धि करो और निश्चय धारो कि अविद्या नाशरूप है और है नहीं। जो कुछ जगत्‌दृश्य भासता है वह मन का मनन असत्‌रूप है जिसको यह निश्चय हुआ है वही पुरुष मोक्षभागी है। यह जो मन का फुरनारूप जगत् दृश्यभाव को प्राप्त हुआ है वह सब ब्रह्मरूप है। जिसके हृदय में यह निश्चय स्थित है वही पुरुष मोक्षभागी है और जिसको चराचर जगत् में दृढ़ भावना है वह बन्ध है—जैसे पक्षी जाल में बन्धायमान होता है। हे रामजी! संपूर्ण जीव इस संसार की सत्यदृष्टि से बाँधे हुए हैं। सब जगत् स्वप्न भ्रान्तिरूप है पर उसमें जिसको असत् बुद्धि है अथवा सतब्रह्म बुद्धि है वह आसक्त होकर संसारदुःख में नहीं डूबता और जिसको अनात्मधर्म देहादिक में भावना है और स्वरूप का बोध नहीं वह हर्ष-शोक आपदा को प्राप्त होता है जिसको स्वरूप का बोध है और अनात्मधर्म का त्याग है उसको संसाररूप अविद्या नहीं रहती और दुःख विकार स्पर्श नहीं कर सकता। जैसे जल में धूल नहीं उड़ती तैसे ही उस महात्मा पुरुष के चित्त में दुःख उदय नहीं होते। ज्ञानवान् पुरुष के हृदय में जगत् के शब्द अर्थ का रङ्ग नहीं चढ़ता। जैसे सूत विना वस्त्र नहीं होता—तन्तु ही पटरूप है तैसे ही आत्मा विना जगत्

नहीं होता–जगत् आत्मारूप है। ऐसे जानके जो व्यवहार में वर्तता है वह पुरुष मानसी दुःख को नहीं प्राप्त होता और जो अविद्या से संसार में भटकता है वह आत्मतत्त्व को नहीं पा सकता और विद्यमान आत्मा उसको नहीं भासता। केवल आत्मज्ञान से अविद्या का नाश होता है; जिसको आत्मज्ञान हुआ है वह अविद्यारूपी नदी को तर जाता है। आत्मसत्ता के प्राप्त हुए अविद्या क्षीण हो जाती है; जिनको अविद्यारूपी संसार के पदार्थ की इच्छा उदय होती है वे अविद्यारूपी नदी में बह जाते हैं। हे रामजी! यह अविद्या बड़े मोह और भ्रम को दिखाती है। जब यह दृढ़ होकर स्थित होती है तब तत्पद को घेर लेती है; इससे तुम यह न विचारो कि अविद्या कहाँ से उपजी है और कौन इसका कारण है यही विचारो कि यह नष्ट कैसे होती है। इसके क्षय का उद्यम करो, जब यह नष्ट होगी तब इसकी उत्पत्ति भी जान लोगे कि इस प्रकार उपजी है और यह इसका स्वरूप है यह कारण है और यह कार्य है। हे रामजी! अविद्या वास्तव में कुछ है नहीं, अविचारसिद्ध है और विचारदृष्टि से नष्ट हो जाती है, तब जानी नहीं जाती कि कहाँ गई, पर जब स्वरूप विस्मरण होता है तब उपजकर दृढ़ होती है और फिर दुःख देती है। इससे बल करके इसका नाश करो। बड़े बड़े शूरमा हुए हैं पर उनको भी अविद्या ने व्याकुल किया है; ऐसा बुद्धिमान् कोई नहीं जिसको अविद्या ने व्याकुल नहीं किया। अविद्या सर्वरोगों का मूल है; यत्न करके इसकी औषध करो कि जिससे जन्म-दुःख कुहिरा न प्राप्त हो। जो कुछ आपदा है उसकी यह अधिष्ठाता सखी है; अज्ञानरूपी वृक्ष की बेलि है और अनर्थरूपी अर्थ की जननी है। ऐसी अविद्यारूपी मलीनता को दूर करो जो मोह, भय, आपदा और दुःख की देनेवाली है और हृदय में मोह उपजाकर जीवों को व्याकुल करती है। अज्ञान चेष्टा से इसकी वृद्धि होती है जब अविद्यारूपी संसारसमुद्र से पार होगे तब शान्ति होगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे अविद्याकथनन्नाम
एकचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४१ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! अविद्यारूपी रोग को काटकर जब शान्तरूप स्थित होते हैं और विचाररूपी नेत्र से देखते हैं तब यह नष्ट हो जाती है। इस विस्तृत व्याधि की औषध सुनो, जीव जगत् का विस्तार मैं तुमसे कहता हूँ। सात्त्विक, राजस आदिक मन की वृत्ति विचारने के लिये मैं प्रवृत्त हुआ था। जो तत्त्व अमृत और ब्रह्मस्वरूप है वह सर्वव्यापी, निरामय, चैतन्यप्रकाश, अनन्त और आदि अन्त से रहित निर्भ्रम है। जब वह चैतन्यप्रकाश स्पन्दरूप हो फुरता है तब दीपकवत् तेज प्रकाश चेतनरूप चित्तकला जगत् को चेतने लगता है–तब जगत् फुरता है। जैसे सोमजल समुद्र में द्रवता से तरङ्ग होता है सो जल से भिन्न नहीं है तैसे ही सर्वात्मा से भिन्न किसी कला का रूप कुछ नहीं–यह स्पन्दरूप भी अभेद है। जैसे आकाश में आकाश स्थित है तैसे ही आत्मा में चित्तशक्ति है; जैसे नदी में वायु के संयोग से तरङ्ग उठते हैं तैसे ही आत्मा में चित्तकला दृश्य जगत् होता है, बल्कि ऐसे भी नहीं; आत्मा अद्वैत है, स्वतः उसमें चित्तकला हो आती है। जैसे वायु में स्वाभाविक स्पन्द होता है। स्पन्द और निःस्पन्द दोनों वायु के रूप हैं पर जब स्पन्द होता है तब भासता है और निःस्पन्द होता है तब अलक्ष्य हो जाता है तैसे ही चित्तकला फुरती है तब लक्ष्य में आती है और निःस्पन्द हुई अलक्ष्य होती है तब शब्द की गम नहीं होती। स्पन्द से जगत्भाव को प्राप्त होती है। जैसे समुद्र में तरङ्ग और चक्र फुरते हैं तैसे ही चेतन में चित्तकला फुरती है। जैसे आकाश में मुक्तमाल भासती है सो है नहीं तैसे ही आत्मा में वास्तव कुछ है नहीं पर स्पन्दभाव से कुछ भूषित दूषित हो भासती है। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं परन्तु भिन्न की नाईं भासती है। जैसे प्रकाश की लक्ष्मी कोटि रविसम स्थित होती है तैसे ही आत्मा में चित्तशक्ति है और देश, काल, क्रिया और द्रव्य को जैसे जैसे चेतती है तैसे ही तैसे हो भासती है। फिर नामसंज्ञा होती है और अपने स्वरूप को विस्मरण करके दृश्य से तन्मय होती है तो भी स्वरूप से व्यतिरेक नहीं होती परन्तु व्यतिरेक की नाईं भावना होती है। जैसे समुद्र से तरङ्ग और सुवर्ण से भूषण भिन्न नहीं तैसे ही आत्मा से चित्तशक्ति भिन्न नहीं; परन्तु अपने अनन्त स्वभाव

को विस्मरण करके देश, काल, क्रिया, द्रव्य को मानती है संकल्प के धारने से ही कल्पना भाव को प्राप्त होती है और विकल्प कलना से क्षेत्रज्ञरूप होती है शरीर का नाम क्षेत्र है। और शरीर को भीतर बाहर जानने से क्षेत्रज्ञ नाम होता है। वह क्षेत्रज्ञ चित्तकला अहंभाव की वासना करती है और उस अहंकार से आत्मा से भिन्नरूप धारती है। फिर अहंकार में निश्चय कलना होती है उसका नाम बुद्धि होता है। अहंभाव से जब निश्चय संकल्प कलना होती है उसका नाम मन होता है; वही चित्कला मनभाव को प्राप्त होती है। जब मन में घन विकल्प उठते हैं तब शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की भावना से इन्द्रियाँ फुर आती हैं और फिर हाथ, पाँव, प्राण संयुक्त देह भासि आती है। इस प्रकार जगत् से देह को पाकर जीव जन्म मृत्यु को प्राप्त होता है; वासना में बँधा हुआ दुःख के समूह को पाता है; कर्म से चिन्ता में दीन रहता है और जैसे कर्म करता है तैसे ही आकार धारता है। जैसे समय पाके फल परिपक्वता को प्राप्त होता है तैसे ही स्वरूप के प्रमाद से जीव दृश्यभाव को प्राप्त होता है; आपको कारण, कार्य मान के अहंभाव को प्राप्त होता है; निश्चय वृत्ति से बुद्धिभाव को प्राप्त होता है और संकल्प संयुक्त मनभाव को प्राप्त होता है। वही मन तब देह और इन्द्रियाँरूप होकर स्थित होता है और अपना अनन्तरूप भूल जाता है और परिच्छिन्नभाव को ग्रहण करके प्रतियोग और व्यवच्छेदभाव भासता है और तभी इच्छा, मोहादिक शक्ति को प्राप्त होता है। जैसे समुद्र में नदियाँ प्रवेश करती हैं तैसे ही सब आपदा और दुःख आय प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार अहंकार अपनी रचना से आप ही बन्धवान् होता है; जैसे कुसवारी अपने स्थान को रचकर आप ही बन्धवान् होती है। बड़ा खेद है कि मन आप ही संकल्प से दृश्य को रचता है और फिर उसी देह में आस्था करता है, जिससे आप ही दुःखी होता है; भीतर से तपता रहता है और आपको बन्धायमान कर संसार जङ्गल में अविद्यारूप आशा को लेके फिरता है। अपने ही संकल्पकलना से तन्मात्रा और देह हुई है और उसमें अहं प्रतीति होती है। जैसे जल में तरङ्ग होते हैं तैसे ही देहादिक उदय हुए हैं और उनसे बँधा हुआ जीव दुःखित होता है; जैसे सिंह ज़ंजीर से बाँधा जावे। एकस्वरूप है वही फुरने के वश से नानाभाव को प्राप्त हुआ है; कहीं मन, कहीं बुद्धि, कहीं अहंकार, कहीं ज्ञान, कहीं क्रिया, कहीं पुर्यष्टक, कहीं प्रकृति, कहीं माया, कहीं कर्म, कहीं विद्या, कहीं अविद्या और कहीं इच्छा कहाता है। हे रामजी! इसी प्रकार जीव अपने चित्त से भ्रम में प्राप्त हुआ है और तृष्णारूपी शोकरोग से दुःख पाता है। तुम यत्न करके इससे तरो। जरा मरण आदिक विकार और संसार की भावना ही जीव को नष्ट करती है। यह भला है, ग्रहण कीजिए; यह बुरा है, त्याग करने योग्य है; इसी संकल्प-विकल्प में ग्रसा अविद्या के रङ्ग से रञ्जित हुआ है; इच्छा करने से इसका रूप सकुच गया है और कर्मरूपी अंकुर से संसाररूपी वृक्ष बढ़ गया है जिससे अपना वास्तवस्वरूप विस्मरण हुआ है और कलना से आपको मलीन जानकर अविद्या के संयोग से नरक भोगता है और संसारभावनारूपी पर्वत के नीचे दबकर आत्मपद की ओर नहीं उठ सकता। संसाररूपी विष का वृक्ष जरामरणरूपी शाखा से बढ़ गया है और आशारूपी फाँस से बाँधे हुए जीव भटककर चिन्तारूपी अग्नि में जलते हैं और क्रोधरूपी सर्प ने जीवों का चर्बण किया है जिससे अपनी वास्तवता विस्मरण हो गई है। जैसे अपने यूथसमूह से भूला हरिण शोक से दुःखी होता है; पतङ्ग दीपक की शिखा में जल मरता है और मूल से काटा कमल विरूप होता है तैसे ही आशा से क्षुद्र हुआ मूर्ख बड़ा दुःख पाता है। जैसे कोई मूढ़ विष को सुखरूप जानके भक्षण करे तो दुःख पाता है तैसे ही इसको भोग में मित्रबुद्धि हुई है परन्तु वह इसका परम शत्रु है, इसको उन्मत्त करके मूर्च्छा करता और बड़ा दुःख देता है। जैसे बाँधा हुआ पक्षी पिंजरे में दुःख पाता है तैसे ही यह दुःख पाता है। इससे इसको काटो। यह जगत्जाल असत् और गन्धर्वनगरवत् शून्य है और इसकी इच्छा अनर्थ का कारण है; तुम इस संसारसमुद्र में मत डूबो। जैसे हाथी कीचड़ से अपने बल से निकलता है तैसे ही अपना उद्धार करो। संसाररूपी गढ़े में मनरूपी बैल गिरा है जिससे अङ्ग जीर्ण हो गये हैं। अभ्यास

और वैराग्य के बल से इसको निकालके अपना उद्धार करो। जिस पुरुष को अपने मन पर भी दया नहीं उपजती कि संसारदुःख से निकले; वह मनुष्य का आकार है परन्तु राक्षस है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे जीवतत्त्ववर्णनन्नाम द्विचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार जो जीव परमात्मा से फुरकर संसारभावना करते हैं उनकी संख्या कुछ नहीं कही जाती; कोई पूर्व उपजे हैं, कोई अपूर्व उपजे हैं और कोई अब तक उपजते हैं। जैसे फुरने से जल के कणके प्रकट होते हैं तैसे ही ब्रह्मसत्ता से जीव फुरते हैं पर अपनी वासना से बाँधे हुए भटकते हैं और विवश होकर नाना प्रकार की दशा को प्राप्त होते हैं; चिन्ता से दीन हो जाते हैं और दशों दिशा जल थल में भ्रमते हैं। जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजते हैं और नष्ट होते हैं तैसे ही जीव जन्म और मरण पाते हैं। किसी का प्रथम जन्म हुआ है, किसी के सौ जन्म हो चुके हैं; कोई असंख्य जन्म पा चुके हैं; कोई आगे होंगे, कोई होकर मिट गये हैं और कोई अनेक कल्पपर्यन्त अज्ञान से भटकेंगे। कोई अब जरा में स्थित हैं; कोई यौवन में स्थित हैं; कोई मोह से नष्ट हुए हैं; कोई अल्पवय होकर स्थित हैं; कोई अनन्त आनन्दी हुए हैं; कोई सूर्यवत् उदितरूप हैं; कोई किन्नर हैं; कोई विद्याधर हैं; और कोई सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र, वरुण, कुबेर, रुद्र, ब्रह्मा, विष्णु, यक्ष, वैताल और सर्प हैं। कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रगण कहाते हैं और कोई क्रान्त, चाण्डाल आदिक हैं। कोई तृण, औषध, पत्र, फूल, मूल को प्राप्त हुए हैं और कोई लता, गुच्छे, पाषाण, शिखर हुए हैं। कोई कदम्बवृक्ष, ताल और तमाल हैं और कोई मण्डलेश्वर चक्रवर्ती हुए भ्रमते हैं। कोई मुनीश्वर मौनपद में स्थित हैं; कोई कृमि, कीट, पिपीलिका आदिक रूप हैं। कोई सिंह, मृग, घोड़े, खच्चर, गर्दभ, बैल आदिक पशुयोनि में हैं और कोई सारस, चक्रवाक, कोकिला, बगुलादिक पक्षी हैं। कोई कमल कली, कुमुद, सुगन्धादिक हैं और कोई आपदा से दुःखी हैं। कोई सम्पदावान् हैं, कोई स्वर्ग और कोई नरक में स्थित हैं। कोई

नक्षत्र चक्र हैं, कोई आकाश में वायु हैं, कोई सूर्य की किरणों में और कोई चन्द्रमा की किरणों में रस लेते हैं। कोई जीवन्मुक्त हैं, कोई अज्ञान से भ्रमते हैं; कोई कल्याणभागी चिरपर्यन्त भोग को भोगते हैं; कोई परमात्मा में मिल गये हैं। कोई अल्पकाल और कोई शीघ्र ही आत्मतत्त्व में लय हुए हैं; कोई चिरकाल में जीवन्मुक्त होवेंगे; कोई मूढ़ दुर्भावना करते अनात्मा में भ्रमते हैं; कोई मृतक होकर इस जगत् में जन्मते हैं; कोई और जगत् में जा स्थित होते हैं और कोई न यहाँ और न वहाँ उपजते हैं केवल आत्मतत्त्व में लय होते हैं। कोई मन्दराचल, सुमेरु आदि पर्वत होकर स्थित होते हैं; कोई क्षीरसमुद्र, घृतसमुद्र, इक्षुरस, जल आदिक समुद्र हुए हैं। कोई नदियाँ, तड़ाग, वापिकादि भये हैं; कोई स्त्रियाँ, कोई पुरुष और कोई नपुंसकरूप हुए हैं। कोई मूढ़, कोई प्रबुध, कोई अत्यन्त मूढ़ हुए हैं; कोई ज्ञानी, कोई अज्ञानी, कोई विषयतप्त और कोई समाधि में स्थित हैं। इसी प्रकार जीव अपनी वासना से बाँधे हुए भ्रमते हैं और संसारभावना से जगत् में कभी अधः और कभी ऊर्ध्व को जाकर काम, क्रोधादिक दुःख की पीड़ा पाते हैं। वे कर्म और आशारूपी फाँसी से बाँधे हुए हैं और अनेक देह को उठाये फिरते हैं। जैसे भारवाही भार को उठाते हैं तैसे ही कोई मनुष्य शरीर से फिर मनुष्य शरीर को धारते हैं; कोई वृक्ष से वृक्ष होते हैं और कोई और से और शरीर धारते हैं। इसी प्रकार आत्मरूप को भुलाकर जो देह से मिले हुए वासनारूप कर्म करते हैं वे उनके अनुसार अधः ऊर्ध्व भ्रमते हैं। जिनको आत्मबोध हुआ है वे पुरुष कल्याणरूप हैं और सब दुःखी मायारूप संसार में मोहित हुए हैं। यह संसाररचना इन्द्रजाल की नाईं है; जब तक जीव अपने आनन्दस्वरूप को नहीं पाता और साक्षात्कार नहीं होता तब तक संसारभ्रम में भ्रमता है और जिस पुरुष ने अपने स्वरूप को जाना है और जीवों की नाईं त्याग नहीं किया और बारम्बार संसार के पदार्थों से रहित आत्मा की और भावता है वह समय पाकर आत्मपद को प्राप्त होगा और फिर जन्म न पावेगा। कोई जीव अनेक जन्म भोगके ज्ञान से अथवा तप से ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं तब परमपद पाते हैं; कोई सहस्र जन्म भोग

भोगकर फिर संसार में प्राप्त होते हैं; कोई बुद्धिमान् विवेक को भी प्राप्त होते हैं और फिर संसार में गिरते हैं अर्थात् मोक्षज्ञान को पाके फिर संसारी होते हैं; कोई इन्द्रपद पाकर तुच्छ बुद्धि से फिर तिर्यक् पशुयोनि पाते हैं और फिर मनुष्याकार धारते हैं; कोई महाबुद्धिमान् ब्रह्मपद से उपजकर उसी जन्म में ब्रह्मपद को प्राप्त होते हैं; कोई अनेक जन्म में और कोई थोड़े जन्म में प्राप्त होते हैं। कितने एक जन्म से और ब्रह्माण्ड को प्राप्त होते हैं; कोई इसी में देवता से पशु जन्म पाते हैं; कोई पशु से देवता हो जाते हैं और कोई नाग हो जाते हैं। निदान जैसी-जैसी वासना होती है तैसा ही रूप हो जाता है। जैसे यह जगत् विस्ताररूप है तैसे ही अनेक जगत् हैं; कोई समानरूप है, कोई विलक्षण आकार है; कोई हुए हैं, कोई होवेंगे; विचित्ररूप सृष्टि उपजती है और मिटती है और कोई गन्धर्व भाव, कोई यक्ष, देवता आदिक भाव को प्राप्त हुए हैं। जैसे जीव इस जगत् में व्यवहार करते हैं तैसे ही और जगतों में भी व्यवहार करते हैं पर आकार विलक्षण हैं और अपने स्वभाव के वश हुए जन्म मरण पाते हैं। जैसे समुद्र से तरंग उपजते हैं और मिट जाते हैं तैसे ही सृष्टि की प्रवृत्ति, उत्पत्ति और लय होती है। जब संवित् स्पन्द होते हैं तब उपजते हैं और जब निःस्पन्द होते हैं तब लय होते हैं। जैसे दीपक का प्रकाश लय होता है; सूर्य से किरणें निकलती हैं; तप्त लोहे और अग्नि से चिनगारी निकलती हैं; काल में ऋतु निकलती हैं; पुष्प से सुगन्ध प्रकट होती है और समुद्र से तरंग उपजते और फिर लय होते हैं तैसे ही आत्मसत्ता से जीव उपजते हैं और लय होते हैं। जितने जीव हैं वे सब समय पाके अपने पद में लय होंगे और स्वरूप में इनका उपजना, स्थित, बन्धन, नष्ट होना मिथ्या है। त्रिलोकीरूप महामाया के मोह से उपजते हैं और समुद्र के तरंग की नाईं नाश होते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे जीवबीजसंस्थावर्णनन्नाम
त्रिचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४३ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जीव इस क्रम से आत्मस्वरूप में स्थित है फिर अस्थि, मांस से पूर्ण देहपिंजर इसको कैसे प्राप्त हुआ है?

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मैंने प्रथम तुमको अनेक प्रकार से कहा है पर तुम अब तक जाग्रत् नहीं हुए। पूर्वापर के विचार करनेवाली तुम्हारी बुद्धि कहाँ गई? जो कुछ शरीरादिक स्थावर-जङ्गम जगत् दृष्टि आता है वह सब आभासमात्र है और स्वप्न की नाईं उठा है पर दीर्घ स्वप्न है और मिथ्या भ्रम से भासता है। जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा भ्रममात्र है और भ्रमने से पर्वत भ्रमते भासते हैं; तैसे ही जगत् अज्ञान से भासता है। जिन पुरुषों की अज्ञाननिद्रा नष्ट हुई है और निश्चय से संसार की वासनायें गल गई हैं वे प्रबुद्धचित्त हैं। संसार को वे स्वप्नरूप देखते हैं और स्वरूपभाव से कुछ नहीं देखते अपने ही स्वभाव में संसार कल्पित है। अज्ञानी जीव संसार को मोक्ष से प्रथम सर्वदा सत्रूप देखते हैं और उनकी संसारभावना असत् नहीं होती। वे जगतआकार सर्वदा अपने भीतर कल्पते हैं और जीव के अनेक आकार चपलरूप क्षणभङ्गुर होते हैं। जैसे जल में तरंग चञ्चलरूप होते हैं और बीज में अंकुर रहता है उसी के भीतर पत्र, फूल और फल होते हैं तैसे ही कल्पनारूपी देह मन के फुरने में रहती है। हे रामजी! देह न हो परन्तु जहाँ मन फुरता है वहाँ ही देह रच लेता है। जैसे स्वप्न में और मनोराज में देह रच लेता है तैसे ही यह देह और जगत् भी भ्रम से रचा हुआ है। जैसे चक्र पर चढ़ाया मृत्तिका का पिण्ड घटरूप हो जाता है तैसे ही मन के फुरने से देह बनता है। यह देह मन के फुरने में स्थित है और जो कुछ जगत् भासता है वह सब संकल्पमात्र है। जैसे मृगतृष्णा का जल असत्रूप होता है तैसे ही यह जगत् असत्य है। जैसे बालक को अपनी परछाहीं में वैताल भासता है तैसे ही जीव को अपने फुरने से देहादिक भासते हैं। हे रामजी! सृष्टि के आदि में जो शरीर उत्पन्न हुए हैं वे आभासमात्र संकल्प से उपजे हैं। प्रथम ब्रह्मा पद्म में स्थित हुए और उन्होंने संकल्प के क्रम से संकल्पपुर की नाईं विस्तार किया सो सब मायामात्र है। माया की घनता से यह जगत् भासता है—स्वरूप में कुछ नहीं। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! आदि जीव जो मनरूप फुरने को पाकर ब्रह्मपद को प्राप्त हुआ वह ब्रह्मा कैसे हुआ है और कैसे

स्थित है वह मुझसे क्रम से कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे महाबाहु, रामजी ! प्रथम जिस प्रकार ब्रह्मा ने शरीर को पाकर ग्रहण किया है उसको सुनकर स्थिति भी जानोगे । देश काल आदिक के परिच्छेद से रहित आत्मतत्त्व अपने आपमें स्थित है । वह अपनी लीलाशक्ति से देश, काल, क्रिया को कल्पता है और उसी से जीव के इतने नाम हुए हैं । वासना से तद्रूप हुई चित्तकला चपलरूप मन हुआ और वह दृश्य-कलना के सम्मुख हुई । प्रथम उसी चित्तकला ने मानसी शक्ति होकर आकाश की भावना की, और स्वच्छ बीजरूप जो शब्द है उसके सम्मुख हुई । जैसे नूतन बालक प्रकट होता है तैसे ही आकाश पोलरूप फुर आया । फिर स्पर्श बीज के सम्मुख हुई तब पवन फुर आया । जब शब्द, स्पर्श, आकाश और पवन का संघर्षण हुआ तब मन के तन्मय होने से अग्नि उपजा और बड़ा प्रकाश हुआ । फिर रस तन्मात्रा की भावना की, तब शीतल भावना से जल फुर आया जैसे अति उष्णता से स्वेद निकल आता है । फिर गन्ध तन्मात्रा की भावना की उससे घ्राण इन्द्रिय निकली ; स्थूल की भावना से जल चक्र पृथ्वी होकर स्थित हुआ और आकाश में बड़ा प्रकाश हुआ । अहंकार की कला से युक्त और बुद्धिरूपी बीज से समुच्चयरूप हुए और अष्टम जीवसत्ता हुई । इन अष्ट का नाम पुर्यष्टक हुआ और वही देहरूपी कमल का भँवरा हुआ । आत्मसत्ता में तीव्र भावना करके उस चित्तसत्ता ने बड़ा स्थूल वपु देखा । जैसे बीज से वृक्ष फूल होने से रस प्रणमता है तैसे ही निर्मल आकाश में वृत्तिस्पन्द, अस्पन्दरूप हुई है । जैसे भूषण बनाने के निमित्त साँचे में स्वर्ण आदिक धातु डालते हैं तो वह भूषणरूप हो जाती है तैसे ही ब्रह्माजी ने अपनी चैतन्य संवेदन मनरूपी संवित् में तीव्र भावना की उससे स्थूलता को प्राप्त हुए । स्वतः यह दृश्य का रूप फुरना क्रम से हुआ कि ऊर्ध्व शीश है, अधः पाद है, चारों दिशा हाथ हैं और मध्य में उदर धर्म है । जैसे नूतन बालक प्रकट होता है और महा उज्ज्वल प्रकाशज्वाला की लाटों के समान उसके अङ्ग होते हैं तैसे ही ब्रह्मा का शरीर उत्पन्न हुआ । इस प्रकार वासनारूप कल्पित मन से शरीर उत्पन्न

कर लिया है । आदि ब्रह्मा का प्रकाश ही शरीर हुआ है जो सदा ज्ञानरूप, संपूर्ण ऐश्वर्य, शक्ति, तेज और उदारता से सम्पन्न स्थित है । इस प्रकार ब्रह्माजी सब जीवों का अधिपति द्रव स्वर्णवत् कान्ति परम आकाश से उपजकर आकाररूप स्थित हुआ और अपनी लीला के निमित्त अपने निवास का गृह रचा । हे रामजी ! कभी ब्रह्माजी परम आकाश में रहते हैं ; कभी कल्पान्तर महाभास्कर अग्नि में रहते हैं और कभी विष्णुजी के नाभिकमल में रहते हैं । इसी भाँति अनेक प्रकार के आसन रचकर कभी कहीं, कभी कहीं स्थित होते हैं और लीला करते हैं । जब परम तत्त्व से प्रथम वह इस प्रकार फुरते हैं तब अपने साथ शरीर देखते हैं ; जैसे बालक निद्रा से जागकर अपने साथ शरीर देखता है—जिसमें बाण के प्रवाहसदृश प्राण अपान जाते आते हैं—तब पञ्चतत्त्व जो द्रव्य हैं उनको रचते हैं । इस शरीर में बत्तीस दाँत; तीन थम्भ ; तीन देवता अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, सदाशिव ; नवद्वार ; दो जङ्घस्थल ; दो पाँव ; दो भुजा ; बीस अँगुली ; बीस नख ; एक मुख और दो नेत्र हैं । कभी अपनी इच्छा से अनेक भुजा और अनेक नेत्र कर लेता है और मांस की कहगिल है । ऐसा शरीर चित्तरूपी पक्षी का घर है; कामदेव भोगने का स्थान है; वासनारूपी पिशाचिनी का गृह है; जीवरूपी सिंह की कन्दरा है और अभिमानरूपी हस्ती का वन है । इस प्रकार ब्रह्माजी ने शरीर को देखा और बड़े उत्तम कान्तिमान् शरीर को देखकर ब्रह्माजी जो त्रिकालदर्शी हैं चिन्तवन करने लगे कि इसके आदि क्या हुआ है और अब हमें क्या करना है, तो उन्होंने क्या देखा कि जो आगे भूत का सर्ग वेदसंयुक्त व्यतीत हुआ है ऐसे अनेक सर्ग हुए हैं । उनके सब धर्म स्मरण करके देखा और वाङ्मय भगवती और वेद का स्मरण किया और सर्वसृष्टि के धर्म, गुण, विकार, उत्पत्ति, स्थिति, बढ़ना, परिणाम, क्षीण और नाश को स्मृतिशक्ति से देखा जैसे योगेश्वर अपना और अन्यों का अनुभव करता है और चित्तशक्ति में स्थित होकर स्मृतिशक्ति से देख लेता है तैसे ही ब्रह्माजी ने दिव्यनेत्रों से अनुभव किया । फिर इच्छा हुई कि विचित्ररूप प्रजा को उत्पन्न करूँ । ऐसे विचारकर

प्रजा को उत्पन्न किया और जैसे गन्धर्वनगर तत्काल हो जाता है तैसे ही सृष्टि हो गई। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पदार्थ उनके साधन रचे और फिर उनमें विधि निषेध रचे कि यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है उनके अनुसार फल की रचना की और शुभ अशुभ विचित्रता रची। हे रामजी ! इस प्रकार फुरने से सृष्टि हुई है और फुरने की दृढ़ता से ही स्थित है। उसमें तीन काल, क्रिया, द्रव्य, कर्म, धर्म रचे हैं। जैसे नीति रची है तैसे ही स्थित है। जैसे वसन्त ऋतु में पुष्प उत्पन्न होते हैं तैसे ही ब्रह्मा के मन ने सृष्टि रची है। यह विचित्ररूप रचना का विलास चित्ररूप ब्रह्मा के चित्त में कल्पित है; काल से उत्पन्न हुई है और काल ही से स्थित है। स्वरूप में न कुछ उपजा है औरं न कुछ नष्ट होता है जैसे स्वप्नसृष्टि होती है तैसे ही यह संसाररचना है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे संसारप्रतिपादनन्नाम
चतुश्चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रकार जो उपजा है वह कुछ नहीं उपजा और न स्थित है—शून्य आकाशरूप है और मन के फुरने से सृष्टि भासती है। बड़े देश, काल, क्रियासंयुक्त जो ब्रह्माण्ड दृष्टि आता है उसने परमार्थ में कुछ भी स्थान नहीं रोका, स्वप्नपुरवत् संकल्पमात्र है और आधार विना चित्र है। जैसे मूर्ति का चित्र आधार विना मिथ्या होता है तैसे ही यह जगत् बड़ा भासता है पर मिथ्या है, असत्य तमरूप है और आकाश में चित्त की नाईं है। जैसे स्वप्न में भासरूप जगत् भासता है वह असत्रूप है तैसे ही यह शरीरादिक जगत् मन के फुरने से भासता है—मन का फुरना ही इसका कारण है। जैसे नेत्र का कारण प्रकाश है तैसे ही जगत् का कारण चित्त है। सब जगत् आकाशमात्र है और घट, पट, गढ़ा आदिक क्रमसहित भी असत्रूप है। जैसे जल में जो चक्रावर्त्त भासते हैं वे असत्यरूप हैं तैसे ही पर्वतादिक जगत् असत्यरूप हैं; अपने निवास के निमित्त मन ने यह शरीर रचा है। जैसे कुसवारी अपने निवास के निमित्त गृह रचती है और आप ही बन्धन में आती है तैसे ही मन शरीरादिक को रचकर आप ही दुःखी होता है। ऐसा पदार्थ कोई नहीं जो संकल्प से रहित सिद्ध हो और मन के यत्न से सिद्ध न हो, कठिन क्रूर पदार्थ भी मन से सिद्ध होता है। परमात्मा जो देव है वह सर्वशक्तिमान् है, मन भी उसी की शक्ति है, वह कौन पदार्थ है जो मन से सिद्ध न हो; मन से सब कुछ बन जाता है, क्योंकि जो कुछ पदार्थ हैं उनमें सत्ता परमात्मा की है—उससे कुछ भिन्न नहीं। इससे परमात्मा देव में सब कुछ सम्भव है। आदि चित्तकला ब्रह्मारूप होकर उदय हुई है। भावना के अनुसार उसने आपको ब्रह्मा का शरीर देखा और उसने कलनारूप देवता, दैत्य, मनुष्य, स्थावर, जङ्गमरूप जगत् रचा है और संकल्प में स्थित है। जब तक उसका संकल्प है तब तक तैसे ही स्थित है। जब संकल्प मिट जावेगा तब सृष्टि भी नष्ट हो जावेगी। जैसे तेल से रहित दीपक निर्वाण हो जाता है तैसे ही जगत् भी हो जावेगा क्योंकि आकाशवत् सब ही कलनामात्र है और दीर्घस्वप्नवत् स्थित है। वास्तव में न कोई उपजा है, न मरता है। परमार्थ से तो ऐसे हैं और अज्ञान से सब पदार्थ विकारसंयुक्त भासते हैं। न कोई वृद्धि है, न कोई नष्ट होता है उसमें और विकार कैसे मानिये ? जैसे पत्र की रेखा के उपजने और नाश होने में वन को कुछ अधिकता और न्यूनता नहीं होती तैसे ही शरीर के उपजने और नष्ट होने में आत्मा को लाभ हानि कुछ नहीं। सब जगत् दृश्यभ्रान्ति से भासता है। ज्ञानदृष्टि से देखो अज्ञानीवत् क्यों मोहित होते हो ? जैसे मृगतृष्णा का जल प्रत्यक्ष भासता है तो भी मिथ्या भ्रममात्र होता है तैसे ही ब्रह्मा से आदि तृणपर्यन्त सब भ्रान्तिमात्र है। जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है तैसे ही मिथ्या ज्ञान से जगत् भासता है। जैसे नौका पर बैठे को तट के वृक्ष, स्थान चलते दृष्टि आते हैं तैसे ही भ्रमदृष्टि से जगत् भासता है। इस जगत् को तुम इन्द्रजालवत् जानो; यह देह पिंजर है और मन के मनन से असत्यरूप ही सत्य की नाईं स्थित हुआ है। जगत् द्वैत नहीं है माया से रची ब्रह्मसत्ता ही ज्यों की त्यों स्थित है और शरीरादिक कैसे किसकी नाईं स्थित कहिये। पर्वत तृणादिक जो जगत्आडम्बर है वह भ्रान्तिमात्र मन की भावना से दृढ़ हो

भासता है और असत्य ही सत्यरूप हो स्थित हुआ है। हे रामजी! यह प्रपञ्च नाना प्रकार की रचनासंयुक्त भासता है पर भीतर से तुच्छ है। इसकी तृष्णा त्यागके सुखी हो; जैसे स्वप्न में बड़े आडम्बर भासते हैं सो भ्रान्तिमात्र असत्यरूप हैं वास्तव में कुछ नहीं तैसे ही यह जगत् दीर्घकाल का स्वप्न है, चित्त से कल्पित है और देखने में बड़ा विस्ताररूप भासता है विचार करके ग्रहण करिये तो कुछ हाथ नहीं आता। जैसे स्वप्नसृष्टि जाग्रत् में कुछ नहीं मिलती और कुसवारी को अपना रचा गृह बन्धन करता है तैसे ही अपना रचा जगत् मन को दुःख देता है; इससे इसको त्याग करो। जिस पुरुष ने इसको असत्य जाना है वह जगत् की भावना फिर नहीं करता। जैसे मृगतृष्णा के जल को जिसने असत्य जाना है वह पान के निमित्त नहीं धावता और जैसे अपने मन की कल्पी स्त्री से बुद्धिमान् राग नहीं करता; तैसे ही ज्ञानवान् जगत् के पदार्थों में राग नहीं करता और जो अज्ञानी है वह राग करके बन्धायमान होता है। जैसे स्वप्न में असत्य स्त्री से चेष्टा करता है तैसे ही अज्ञानी असत्य जगत् को सत्य जानके चेष्टा करता है; बुद्धिमान् असत्य मानकर नहीं करता। जैसे रस्सी में सर्प भासता है तैसे ही मन के मोह से जगत् भासता है और भयदायक होता है पर सब भावनामात्र है। जैसे जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब चञ्चल भासता है और उसके ग्रहण की इच्छा बालक करता है, बुद्धिमान् नहीं करता; तैसे ही जगत् के पदार्थों की इच्छा अज्ञानी करते हैं ज्ञानवान् नहीं करते। हे रामजी! यह मैंने परम गुणों का समूह तुमको उपदेश किया है। इसकी भावना करके तुम सुखी होगे। जो मूर्ख इन वचनों को त्यागके दृश्य को सुखरूप जानके उसमें लगते हैं वे ऐसे हैं जैसे कोई शीत से दुःखी हो और प्रत्यक्ष अग्नि को त्यागकर जल में प्रतिबिम्बित अग्नि का आश्रय करे और उससे जाड़ा निवृत्त किया चाहे तो वह मूढ़ है, तैसे ही आत्मविचार को त्यागके जो जगत् के पदार्थों की सुख के निमित्त इच्छा करते हैं वे मूढ़ हैं। सब जगत् असत्यरूप है और मन के मनन से रचा है। जैसे स्वप्न में चित्त से नगर भासता है तो यदि वह नगर जलता भासे तो पुरुष कदाचित् नहीं जलता

तैसे ही जगत् के नाश हुए आत्मा का नाश नहीं होता। वह उपजने, बढ़ने, घटने और नाश होने से रहित है। जैसे बालक अपनी क्रीड़ा के निमित्त हाथी घोड़ा नगर रचता है और समेट लेता है तो वह उसके उपजने मिटने में ज्यों का त्यों है और जैसे बाजीगर बाजी को फैलाता है और फिर लय करता है तो उत्पत्ति लय में बाजीगर ज्यों का त्यों है तैसे ही आत्मा जगत् की उत्पत्ति लय में ज्यों का त्यों है उसका कुछ कदाचित् नष्ट नहीं होता। जो सब सत्य है तो किसी का नाश नहीं होता इस कारण जगत् में हर्ष शोक करना योग्य नहीं और जो सब असत् है तो भी नाश किसी का न हुआ और दुःख भी किसी को न हुआ। सत्य असत्य दोनों प्रकार हर्ष शोक नहीं होता। स्वरूप से किसी का नाश नहीं और सब जगत् ब्रह्मरूप है तो दुःख सुख कहाँ है? ब्रह्मसत्ता में कुछ द्वैत जगत् बना नहीं, सब जगत् प्रत्यक्षरूप भासता है तो भी असत्‌रूप है। उस असत्‌रूप संसार में ज्ञानवान् को ग्रहण करने योग्य कोई पदार्थ नहीं और सब जगत् में ब्रह्मतत्त्व है—कुछ भिन्न नहीं तो त्रिलोकी में किस पदार्थ के ग्रहण त्याग की इच्छा कीजिये? जगत् सत्यरूप हो अथवा असत्य ज्ञानवान् को सुख दुःख कोई नहीं। और भ्रान्तिदृष्टि अज्ञानी को दुःखदायक होती है। जो वस्तु आदि अन्त में असत्य है उसे मध्य में भी असत्य जानिये और उसके पीछे जो शेष रहता है वह सत्यरूप है जिससे असत्य भी सिद्ध होता है। जिनकी बालबुद्धि मोह से आवृत है वे जगत् के पदार्थों की इच्छा करते हैं—बुद्धिमान् नहीं करते। बालक को जगत् विस्ताररूप भासता है; उससे वे अपना प्रयोजन चाहते हैं और सुख दुःख भोगते हैं। तुम बालक मत हो, जगत् अनित्य है, इसकी आस्था त्यागकर सत्यात्मा में स्थित हो। जो आप संयुक्त सम्पूर्ण जगत् असत्‌रूप जानो तो भी विषाद कुछ नहीं और जो आप संयुक्त सब सत्य जाना तो भी इस दृष्टि से हर्ष शोक नहीं। ये दोनों निश्चय सुखदायक हैं। आप संयुक्त सब असत्यरूप जानोगे तो दुःख न होगा। वाल्मीकिजी बोले कि जब इस प्रकार वशिष्ठजी ने कहा तब सूर्य अस्त हुआ और सब सभा नमस्कार करके अपने-अपने स्थान को गई और सूर्य की

किरणों के निकलते ही फिर अपने अपने आसन पर आ बैठे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे यथार्थोपदेशयोगो नाम
पञ्चचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जो धन, स्त्री आदि नष्ट हो जावें तो इन्द्रजाल की बाजीवत् जानिये। इससे भी शोक का अवसर नहीं होता। जो क्षण में दृष्टि आये और फिर नष्ट हो गये उनका शोक करना व्यर्थ है। जैसे गन्धर्वनगर जो रत्नमणि से भूषित किया हो अथवा दूषित हुआ हो उसमें हर्ष शोक का स्थान कहाँ है; तैसे ही अविद्या से रचे पुत्र, स्त्री, धनादिक के सुखदुःख का क्रम कहाँ है ? जो पुत्र, धनादिक बढ़े तो भी हर्ष करना व्यर्थ है, क्योंकि मृगतृष्णा का जल बढ़ा भी अर्थ सिद्ध नहीं करता; तैसे ही धन, दारादिक बढ़े तो हर्ष कहाँ है? शोकवान् ही रहता है। वह कौन पुरुष है जो मोहमाया के बढ़े शान्तिमान् हो ? वह तो दुःखदायक ही है। जो मूढ़ हैं वे भोगों को देखके हर्षवान् होते हैं और अधिक से अधिक चाहते हैं और बुद्धिमानों को उन भोगों से वैराग्य उपजता है। जिनको आत्मा का साक्षात्कार नहीं हुआ और भोगों को अन्तवन्त नहीं जानते उनको भोग की तृष्णा बढ़ती है और जो बुद्धिमान् हैं वे भोगों को आदि से ही अन्तवन्त जानते हैं और दुःखरूप जानकर उनकी इच्छा नहीं करते। इससे हे राघव ! ज्ञानवान् की नाईं व्यवहारों में बिचरो। जो नष्ट हो सो हो और जो प्राप्त हो सो हो उसमें हर्ष शोक न करना। उसको यथाशास्त्र हर्ष शोक से रहित भोगो और जो न प्राप्त हो उसकी इच्छा न करो। यह पण्डितों का लक्षण है। हे रामजी ! यह संसार दुःखरूप है, इसमें मोह को प्राप्त न होना; जैसे ज्ञानवान् बिचरते हैं तैसे ही बिचरना, मूढ़वत् नहीं बिचरना। यह संसार आडम्बर अज्ञान से रचा है; जो इसको ज्यों का त्यों नहीं देखते वे कुबुद्धि नष्ट होते हैं संसार के जिन जिन पदार्थों की इच्छा होती है वे सब बन्धन के कारण हैं और उनमें जीव डूब जाता है। जो बुद्धिमान् हैं वे जगत् के पदार्थों में प्रीति नहीं करते और जिसने निश्चय से जगत् को असत्यरूप जाना है वह किसी पदार्थ में बन्धवान् नहीं होता; अविद्यारूप पदार्थ उसको खेद नहीं देते और वस्तुबुद्धि से वे खैंच नहीं सकते। जिसकी बुद्धि में यह निश्चय हुआ कि सर्व मैं हूँ वह किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करता। हे रामजी ! शुद्ध तत्त्व जो सत्य असत्य जगत् के मध्यभाव में है उसका हृदय से आश्रय करो और जो भीतर बाहर जगत् दृश्य पदार्थ हैं उनको मत ग्रहण करो। इनकी आस्था त्याग करके परमपद को प्राप्त होकर अति विस्तृत स्वच्छरूप आत्मा में स्थित हो और रागद्वेष से रहित सब कार्य करो। जैसे आकाश सब पदार्थों में व्यापक और निर्लेप है तैसे ही सब कार्य करते भी निर्लेप हो। जिस पुरुष को पदार्थों में न इच्छा है, न अनिच्छा है और जो कर्मों में स्वाभाविक स्थित है उसको कर्म का स्पर्श नहीं होता वह कमलवत् सदा निर्लेप रहता है। देखना, सुनना आदिक व्यवहार इन्द्रियों से होता है; इससे तुम इन्द्रियों से व्यवहार करो अथवा न करो परन्तु इनमें निरिच्छित रहो और अभिमान से रहित होकर आत्मतत्त्व में स्थित हो। इन्द्रियों के अर्थ का सार जो अहंकार है जब यह हृदय में न फुरेगा तब तुम गौरव पद को प्राप्त होगे और राग द्वेष से रहित संसारसमुद्र को तर जावोगे। जब इन्द्रियों के राग द्वेष से रहित हो तब मुक्ति की इच्छा न करे तो भी मुक्तिरूप है। हे रामजी ! इस देह से आपको व्यतिरेक जानकर जो उत्तम आत्मपद है उसमें स्थित हो जावो तब तुम्हारा ऐसा परम यश होगा जैसे पुष्प से सुगन्ध प्रकट होती है। इस संसाररूपी समुद्र में वासनारूपी जल है उसमें जो आत्मवेत्ता बुद्धिरूपी नाव पर चढ़ते हैं वे तर जाते हैं और जो नहीं चढ़ते वे डूब जाते हैं। यह बोध मैंने तुमसे क्षुरधार की नाईं तीक्ष्ण कहा है। यह अविद्या का काटनेवाला है इसको विचारकर आत्मतत्त्व में स्थित हो। जैसे तत्त्ववेत्ता आत्मतत्त्व को जानकर व्यवहार में बिचरते हैं तैसे ही तुम भी बिचरो, अज्ञानी की नाईं न विचरना। जैसे जीवन्मुक्त पुरुष का आचार है उसको तुम भी अङ्गीकार करना, भोगों से दीन न होना और मूढ़ के आचारवत् आचार न करना जो परावर परमात्मवेत्ता पुरुष हैं वे न कुछ ग्रहण करते न त्याग करते हैं और न किसी की वाञ्छा करते हैं। वे जैसा व्यवहार प्रारब्धवेग से प्राप्त होता है

उसी में बिचरते हैं और राग द्वेष किसी में नहीं करते। बड़ा ऐश्वर्य हो; बड़े गुण हों; लक्ष्मी आदिक बड़ी विभूति हो तो भी ज्ञानवान् अज्ञानीवत् अभिमान नहीं करते। महाशून्य वन में वे खेदवान् नहीं होते और देवता का सुन्दर वन विद्यमान हो तो उससे हर्षवान् नहीं होते उन्हें न किसी की इच्छा है, न त्याग है; जैसी अवस्था आन प्राप्त हो रागद्वेष से रहित उसी में बिचरते हैं। जैसे सूर्य समभाव से बिचरता है तैसे ही वे अभिमान से रहित देहरूपी पृथ्वी में बिचरते हैं। अब तुम भी विवेक को प्राप्त हो जावो, बोध के बल में स्थित हो और किसी पदार्थ की ओर दृष्टि न करो। निर्वैर, निर्मनदृष्टिसहित बिचरो और समतासहित पृथ्वी में स्थित होकर संसार की इच्छा दूर से त्यागकर यथाव्यवहार में बिचरो और परम शान्तरूप रहो। वाल्मीकिजी बोले कि जब इस प्रकार निर्मल वाणी से वशिष्ठजी ने कहा तब रामजी का निर्मल चित्त अमृत से शीतल और पूर्ण हुआ। जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा अमृत से शीतल और पूर्ण होता है तैसे ही रामजी शान्त होकर पूर्ण हुए।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे यथाभूतार्थबोधयोगो नाम
षट्चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४६ ॥

रामजी बोले, हे भगवन्! आप सर्वधर्म और वेदवेदान्त के पारज्ञ हैं; आपके शुद्ध, उदार, विरक्तरूप, कोमल और उचित वचनों से मैं स्वस्थ हुआ हूँ और उन अमृतरूपी वचनों को पानकर मैं तृप्त नहीं होता। हे भगवन्! आप राजस-सात्त्विक जगत् कहने लगे थे सो कुछ संक्षेप से कहा था कि उसमें अवकाश पाकर आपने ब्रह्माजी की उत्पत्ति कही उसमें मुझको यह संदेह उत्पन्न हुआ कि कहीं ब्रह्मा की उत्पत्ति कमल से कही है, कहीं आकाश से कही, कहीं अण्डे से कही और कहीं जल से कही है सो विचित्ररूप शास्त्र ने कैसे कहा। आप सब संशय के नाशकर्ता हैं कृपा करके शीघ्र मुझको उत्तर दीजिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! कई लक्ष ब्रह्मा और अनेक विष्णु और रुद्र हुए हैं और अब भी अनेक ब्रह्माण्ड में अनेक प्रकार के व्यवहार-संयुक्त प्रस्तुत हैं। कितने तुल्य होते हैं; कितने बड़े छोटे काल के

स्वप्न जगत् की नाईं उत्पन्न होते हैं; कितने बीते हैं और कितने आगे होंगे उनमें से तुमने एक ब्रह्मा की उत्पत्ति पूछी है सो सुनो। यह भी अनेक प्रकार के होते हैं; कभी सृष्टि सदाशिव से उत्पन्न होती है, कभी ब्रह्मा से; कभी विष्णु से और कभी मुनीश्वर रच लेते हैं। कभी ब्रह्मा कमल से उपजते हैं; कभी जल से; कभी पवन से और कभी अण्डे से उपजे हैं। कभी किसी ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा, कभी विष्णु और कभी सदाशिव होते हैं। कभी सृष्टि में पर्वत उपजते हैं और कभी मनुष्यों से और कभी वृक्षों से पूर्ण होती है। सृष्टि की उत्पत्ति भी अनेक प्रकार से होती है, किसी ब्रह्माण्ड में मृत्यु का भय होता है, कभी पाषाणमय होती है, कभी मांसमय होती है और कभी सुवर्णमय होती है। कई सृष्टियों में चतुर्दश लोक हैं; किसी सृष्टि में कई लोक हुए हैं और किसी सृष्टि में ब्रह्मा नहीं हुए। इसी प्रकार अनेक सृष्टि चिदाकाश ब्रह्मतत्त्व से फुरी हैं और फिर लय हुई हैं। जैसे समुद्र में तरंग उपजकर लय होते हैं तैसे ही आत्मा में अनेक सृष्टि उपजकर लय हो जाती हैं। जैसे मरुस्थल में मृगतृष्णा की नदी भासती है और पुष्प में सुगन्ध होती है तैसे ही परमात्मा में जगत् है। जैसे सूर्य की किरणों में त्रसरेणु भासते हैं और उनकी संख्या नहीं कही जाती, यदि कोई ऐसा समर्थ भी हो कि उनकी संख्या करे, परन्तु ब्रह्मतत्त्व में जो सृष्टि फुरती हैं उनकी संख्या वह भी न कर सकेगा। जैसे वर्षाऋतु में ईखों के खेत में मच्छर होते हैं और नष्ट हो जाते हैं तैसे ही आत्मा में सृष्टि उपजकर नष्ट हो जाती है। वह काल नहीं जाना जाता जिस काल में सृष्टि का उपजना हुआ है। आत्मतत्त्व में नित्य ही सृष्टि का उपजना और लय होना है। जैसे समुद्र में पूर्वापर तरंग फुरते हैं उनका अन्त नहीं, इसी प्रकार सृष्टि का आदि और अन्त कुछ नहीं जाना जाता। देवता, दैत्य, मनुष्य आदिक कितने उपजकर लय हुए हैं और कितने आगे होंगे। जैसे यह ब्रह्माण्ड ब्रह्मा से रचा गया है तैसे ही अनेक ब्रह्माण्ड हो गये हैं और जैसे अनेक घटिका एक वर्ष में व्यतीत होती हैं तैसे बीते हैं। जैसे समुद्र में तरङ्ग होते हैं तैसे ही ब्रह्मतत्त्व में असंख्य जगत् होते हैं। कितनी सृष्टि हो

बीती हैं, कितनी अब हैं और कितनी आगे होंगी। जैसे मृत्तिका में घट होता है; वृक्ष में अनेक पत्र होते हैं फिर मिट जाते हैं और जैसे जब तक समुद्र में जल है तब तक तरङ्ग—आवर्त्त निवृत्त नहीं होते उपजते और लय होते हैं तैसे ही ब्रह्म चिदाकाश है। त्रिलोकीरूप जगत् उपज-उपजकर उसी में लय होते हैं। जब तक अपने स्वरूप का प्रमाद है तब तक विकारसंयुक्त जगत् है और बड़े विस्तार से भासता है। जब आत्मस्वरूप देखोगे तब कोई विकार न भासेगा। जब तक आत्मदृष्टि से नहीं देखा तब तक आभास दशा में उपजते और मिटते हैं पर न सत्य कहे जा सकते हैं और न असत्य कहे जा सकते हैं। वास्तव में ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं, समुद्र में तरङ्ग की नाईं अभेद है; अविद्या से भिन्न होकर भासते हैं और विचार किये से निवृत्त हो जाते हैं। चर अचररूप जगत् जो नाना प्रकार की चेष्टा संयुक्त अनन्त सर्वेश्वर आत्मा में फुरते हैं सो उससे भिन्न नहीं जैसे शाखा और फूल, फल वृक्ष से भिन्न नहीं और भिन्न भासते हैं तो भी अभिन्न हैं; तैसे ही आत्मा में जगत् भिन्न भासते हैं तो भी भिन्न नहीं आत्मरूप हैं। हे रामजी! मैंने जो तुमसे चतुर्दशभुवनसंयुक्त सृष्टि कही हैं उनमें कोई अल्परूप है और कोई बड़ी है पर सब परमात्मा आकाश में उपजती हैं और वही रूप है। ब्रह्मतत्त्व से कभी प्रथम ब्रह्म आकाश उपजता है और प्रतिष्ठा पाता है फिर उससे ब्रह्मा उपजता है और उसका नाम आकाशज होता है। कभी प्रथम पवन उपजता है और प्रतिष्ठित होता है फिर उससे ब्रह्मा उपजता सो वायुज कहाता है। कभी प्रथम जल उत्पन्न होता है उससे ब्रह्मा उपजकर जलज नाम होता है और कभी प्रथम पृथ्वी उत्पन्न होके विस्तारभाव को प्राप्त होती है और उससे ब्रह्मा उपजता है और पार्थिव उसका नाम होता है एवम् अग्नि से उपजता है तब अग्निज नाम पाता है। हे रामजी! यह पञ्चभूत से जो ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई वह तुमसे कही। जब चार तत्त्व पूर्ण होते हैं और पञ्चम तत्त्व सबसे बढ़ता है तब उससे प्रजापति उपजकर अपने जगत् को रचता है और कभी ब्रह्मतत्त्व से आप ही फुर आता है। जैसे पुष्प से सुगन्ध फुर आती है तैसे ही

ब्रह्माजी उपजकर पुरुषभावना से पुरुषरूप स्थित होता है और उसका नाम स्वयंभू होता है। कभी पुरुष जो विष्णुदेव है उसकी पीठि से उपजता है; कभी नेत्र से प्रकट होता है और कभी नाभि से उत्पन्न होता है तब प्रजापति, नेत्रज, पद्मज नाम होता है। वास्तव में सब मायामात्र है और स्वभवत् मिथ्यारूप हो सत्य हो भासता। जैसे मनोराज की सृष्टि भास आती है तैसे ही यह जगत् है और जैसे नदी में तरङ्ग अभिन्नरूप फुरते हैं तैसे ही आत्मा में अभेद जगत् फुरता है वास्तव में दूसरा कुछ नहीं है जब शुद्धसत्ता का आभास संवेदन फुरता है तब वही जगत्रूप हो भासता है। जैसे बालक के मनोराज में सृष्टि फुरती है सो वास्तव में कुछ नहीं होती तैसे ही यह है। कभी शुद्ध आकाश में मननकला फुरती है उससे अण्डा उपजता है और अण्डा से ब्रह्मा उपज आता है और कभी पुरुष विष्णुदेव जल में वीर्य डालता है उससे पद्म उपजता है और उसी पद्म से ब्रह्मा प्रकट होते हैं और कभी सूर्य से उपज आते हैं। इसी प्रकार विचित्ररूप रचना ब्रह्मपद से उपजती है और फिर लय हो जाती है। तुम्हारे दिखाने के निमित्त मैंने अनेक प्रकार की उत्पत्ति कही है पर वह सब मन के फुरनेमात्र है और कुछ नहीं। हे रामजी! तुम्हारे प्रबोध के निमित्त मैंने सृष्टि का क्रम कहा है पर इसका रूप मनोमात्र है, उपज उपजकर लय हो जाता है। फिर फिर दुःख, सुख; अज्ञान, ज्ञान; बन्ध-मोक्ष होते हैं और मिट जाते हैं। जैसे दीपक का प्रकाश उपजकर नष्ट हो जाता है तैसे ही देह उपजकर नष्ट हो जाते हैं। काल की न्यूनता और विशेषता यही है कि कोई चिरकालपर्यन्त रहता है और कोई शीघ्र ही नष्ट हो जाता है परन्तु सब ही विनाशरूप हैं। ब्रह्मा से आदि कीट पर्यन्त जो कुछ आकार भासता है वह काल के को त्यागकर देखो कि सब नाशरूप हैं। कभी सत्ययुग, कभी त्रेतायुग, कभी द्वापर और कभी कलियुग फिर फिर आते और जाते हैं इसी प्रकार काल का चक्र भ्रमता है। मन्वन्तर का आरम्भ होता है और काल की परम्परा व्यतीत होती है। जैसे प्रातःकाल से फिर प्रातःकाल आता है तैसे ही जगत् की यही गति है अन्धकार से प्रकाश होता

है और जगत् ब्रह्मतत्त्व से स्फुरणरूप होकर फिर लीन होता है। जैसे तप्त लोहे से चिनगारियाँ उड़ती हैं सो लोहे में ही होती हैं तैसे ही यह सब भाव चिदाकाश से उपजता है और चिदाकाश में ही स्थित है। कभी अव्यक्त रूप होता है और कभी प्रकट होता है। जैसे समुद्र में तरङ्ग और वृक्ष में पत्र होते हैं तैसे ही आत्मा में जगत् है और जैसे नेत्रदूषण से आकाश में दो चन्द्रमा भासते हैं तैसे ही चित्त के फुरने से आत्मा में जगत् भासते हैं और उसी में स्थित और लय होते हैं। जैसे चन्द्रमा की किरणें उत्पन्न और स्थित होकर लय होती हैं तैसे ही आत्मा में जगत् है सो स्वरूप से कहीं आरम्भ नहीं हुआ, मन के फुरने से भासता है। हे रामजी! आत्मा सर्वशक्ति है जो शक्ति उससे फुरती है वह उसी का रूप हो भासती है। सब जगत् असत्यरूप है जिसके चित्त में महाप्रलय की नाईं असत्य का निश्चय है वह पुरुष फिर संसारी नहीं होता। स्वरूप में लगा रहता है। ऐसे महामती ज्ञानवान् की दृष्टि में सर्वब्रह्म का निश्चय होता है। हमको यही निश्चय है कि संसार नहीं, सर्व ब्रह्मतत्त्व ही है और सदा विद्यमान है। अज्ञानी को जगत् सत्य भासता है सो फिर फिर उपजकर नष्ट होता है। स्वरूप विनशने से नष्ट नहीं होता परन्तु अज्ञानी जगत् को असत्य नहीं जानते सदा स्थित जानते हैं उससे नष्ट होते हैं। जगत् के सब पदार्थ विनाशरूप हैं परन्तु दृश्य से जगत् असत्य नहीं भासता। जिन पदार्थों की सत्यता दृढ़ हो गई है वे नाशरूप हैं—कुछ न रहेगा। कोई पदार्थ सत्य भासता है, कोई असत्य भासता है, इस जगत् में ऐसा कौन पदार्थ है जो कलना से विस्ताररूप ब्रह्म में न बने। यह जगत् महाप्रलय में नष्ट हो जाता है और फिर उत्पन्न होता है। जन्म और मरण होता है और सुख, दुख, दिशा, आकाश, मेघ, पृथ्वी, पर्वत सब फिर फिर उपज आते हैं। जैसे सूर्य की प्रभा उदय अस्त को प्राप्त होती रहती है तैसे ही सृष्टि उदय अस्त होती भासती है। देवता और दैत्य लोकान्तर क्रम होते हैं और स्वर्ग, मोक्ष, इन्द्र, चन्द्रमा, नारायण, देव, पर्वत, सूर्य, वरुण, अग्नि आदिक लोकपाल फिर फिर होते हैं। सुमेरु आदिक स्थान फुर आते हैं और तमरूप हस्ति के भेदने को सूर्यरूप केशरीसिंह उपज आते हैं। स्वर्ग, इन्द्र, अप्सरागण अमृतमय होते हैं और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, क्रिया, कर्म, शुभ, अशुभ रूप हो आते हैं और यज्ञ, दान, होम आदिक सर्वक्रियासंयुक्त संसारी जीव होते हैं। शुभ कर्म करनेवाले स्वर्ग में विचरते हैं और सुख भोगते हैं पर पुण्य के क्षीण हुए गिरा दिये जाते हैं और मृत्युलोक में आते हैं। इस प्रकार कर्म करते, उपजते और नष्ट होते हैं। स्वर्गरूपी कमल में इन्द्ररूपी भँवरा है जो स्वर्गकमल की सुगन्ध को लेने आता है। जितना पुण्य कर्म क्रिया होती है उतने काल सुख भोगकर नष्ट हो जाते हैं और सत्ययुग आदिक युग और सर्व देश, काल, क्रिया, द्रव्य, जीव उपज आते हैं। जैसे कुलाल चक्र से बासन बनाता है तैसे ही चित्तकला फुरने से जगत् के अनेक पदार्थों को उत्पन्न करती है। जीवसंयुक्त सुन्दर स्थान होते हैं और फिर नष्ट हो जाते हैं। असत्यमात्र जगत्जाल जीव से रहित शून्य मसान हो जाता है और कुलाचल पर्वत के आकारवत् मेघ जल की वर्षा करते हैं उसमें जीव बुद्बुदेरूप होकर स्थित होते हैं। द्वादश सूर्य उदय होते हैं, शेषनाग के मुख से अग्नि निकलती है उससे सब जगत् दग्ध हो जाता है और फिर अग्नि की ज्वाला शान्त हो जाती है, एक शून्य आकाश ही शेष रहता है। और रात्रि हो जाती है। जब रात्रि का भोग हो चुकता है तब फिर जीव जीर्ण देह से संयुक्त मनरूप ब्रह्मा रच लेता है। इस प्रकार शून्य आकाश में मन जगत् को रचता है। जैसे शून्य स्थान में गन्धर्व माया से नगर रच लेता है तैसे ही जगत् को मन रच लेता है और फिर प्रलय हो जाता है। इस प्रकार जगत्गण उपजकर महाप्रलय में नष्ट होते हैं और ब्रह्मा के दिन क्षय हुए फिर जब ब्रह्मा का दिन होता है तब फिर रच लेता है, फिर महाप्रलय में ब्रह्मादिक सब अन्तर्धान हो जाते हैं। इसी प्रकार प्रलय महाप्रलय होके अनेक जगत्गण व्यतीत होते हैं और महादीर्घ मायारूपी कालचक्र फिरता है उसमें मैं तुमको सत्य और असत्य क्या कहूँ? सब भ्रान्तरूप दासुर के आख्यानवत् है और कल्पनामात्र रचित चक्र वास्तव में शून्य आकाशरूप है और बड़े आरम्भसंयुक्त विस्ताररूप भासता है, पर असत्यरूप है। जैसे भ्रम से दूसरा चन्द्रमा भासता है तैसे

ही यह जगत् मूढ़ों के हृदय में सत्य भासता है। तुम मूढ़ न होना, ज्ञानवान्वत् विचारकर जगत् को असत्य जानना।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे जगत्सत्यासत्यनिर्णयो
नाम सप्तचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जिनका भोग और ऐश्वर्य में चित्त खिंचा है वे नाना प्रकार के राजस, तामस और सात्त्विक कर्म बड़े आरम्भ से करते हैं। पर वे मूढ़ आत्मा शान्ति नहीं पाते, जब वे भोग की तृष्णा से रहित हों तब आत्मा को देखें। जिस पुरुष को इन्द्रियाँ वश नहीं कर सकतीं वह आत्मा को हाथ में बेलफलवत् प्रत्यक्ष देखता है और जिस पुरुष ने विचार करके अहंकाररूपी मलीन शरीर का त्याग किया है उसका शरीर आत्मरूप हो जाता है। जैसे सर्प कञ्चुकी को त्यागता है और नूतन पाता है तैसे ही मिथ्या शरीर को त्यागकर आत्मविचार से वह आत्मशरीर को पाता है। ऐसे जो निरहंकार आत्मदर्शी पुरुष हैं वे जगत् के पदार्थों में आसक्त भासते हैं, पर जन्ममरण नहीं पाते। जैसे अग्नि से भूना बीज खेत में नहीं उपजता तैसे ही ज्ञानवान् फिर जन्म नहीं पाता। जिस अज्ञानी की भोगों में आसक्त बुद्धि है वह मन और शरीर के दुःख से दुःखी होकर बारम्बार जन्म और मरण पाता है। जैसे दिन होता है और फिर रात्रि होती है तैसे ही वह जन्ममरण पाता है। इससे तुम अज्ञानी की नाईं न होना। व्यवहारचेष्टा जैसे अज्ञानी की होती है तैसे ही करो परन्तु हृदय से भोगादिक की ओर चित्त न लगाकर आत्मपरायण हो। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! आपने जो कहा कि संसारचक्र दासुर के आख्यानवत् है, कल्पना करके रचित है और उसका आकार वास्तव में शून्य है यह आपने क्या कहा? इसको प्रकट करके कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मायारूप जगत् मैंने वर्णन के निमित्त तुमसे कहा है और दासुर के प्रसंग से कुछ प्रयोजन न था परन्तु तुमने पूछा है तो अब सुनो। हे रामजी! इस सृष्टि में मगध नाम एक देश है जो बड़े बड़े कदम्बों, वनस्पतियों और तालों से विचित्ररूप पंखों सहित मन के मोहनेवाला अनेक वृक्षों

और फूलों फलों से पूर्ण है जिन पर कोकिला आदिक पक्षी शब्द करते हैं। उस नगर में एक परम धर्मात्मा तपसी दासुर नाम हुआ जो वन में जाकर कदम्ब वृक्ष पर बैठके तप करता था। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! वह ऋषीश्वर तपसी वन में किस निमित्त आया था और कदम्ब वृक्ष पर किस निमित्त बैठा वह कारण कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! सरलोमा नाम ऋषीश्वर उसका पिता मानो दूसरा ब्रह्मा उस पर्वत पर रहता था। उसके गृह में दासुर नाम पुत्र हुआ—जैसे बृहस्पति के गृह में कच हो। निदान दासुर संयुक्त उसने वन में चिरकाल व्यतीत किया और आयु के क्षीण हुए देह का त्यागकर स्वर्गलोक में गया—जैसे पक्षी आलय को त्यागकर आकाश में उड़ता है। तब उस वन में दासुर अकेला रह गया और पिता के वियोग से ऐसे रुदन करने लगा जैसे हथिनी वियोग से कुरलाती है और जैसे हिमऋतु में कमल की शोभा नष्ट हो जाती है तैसे ही दीन हो गया। वहाँ अदृष्ट शरीर वनदेवी थी। उसने दया करके आकाशवाणी की कि हे ऋषिपुत्र! अज्ञानी की नाईं क्या रुदन करता है? यह सर्व संसार असत्रूप है। तू इस संसार को देखता नहीं कि यह नाशरूप और महाचञ्चल है; सब काल उत्पन्न और विनाश होता है और कोई पदार्थ स्थित नहीं रहता। ब्रह्मा से आदि कीट पर्यन्त जो कुछ जगत् तुझको भासता है वह सब नाशरूप है—इसमें कुछ संदेह नहीं। इससे तू पिता के मरने का विलाप मत कर। यह बात अवश्य इसी प्रकार है कि जो उत्पन्न हुआ है वह नष्ट होगा, स्थिर कोई न रहेगा—जैसे सूर्य उदय होकर अस्त होता है। हे रामजी! जब इसी प्रकार उस देवी की वाणी दासुर ने सुनी तो धैर्यवान् हुआ और जैसे मेघ का शब्द सुनकर मोर प्रसन्न होता है तैसे शान्तिमान् होकर यथाशास्त्र पिता की सब क्रिया की। इसके अनन्तर सिद्धता के निमित्त तत्पद का उद्यम किया परन्तु अज्ञात हृदय था। ऐसा [illegible] होकर तप के निमित्त उठ विचार किया कि कोई पवित्र स्थान हो वहाँ जाकर तप करूँ। निदान देखता देखता पृथ्वी के किसी स्थान में चित्त विश्रान्तवान् न हुआ। सब पृथ्वी उसको अशुद्ध ही दीखी, कहीं

कोई विघ्न भासे और कहीं कोई विघ्न दृष्टिगोचर हो। निदान उसने विचार किया कि और स्थान तो सब अशुद्ध हैं परन्तु वृक्ष की शाखा पर बैठकर तप करूँ। ऐसा कोई उपाय हो जो वृक्ष की शाखा के अग्रभाग में मैं स्थिति पाऊँ। ऐसी चिन्तना करके उसने अग्नि जलाई और अपने मुख का मांस काट काटकर होमने लगा। तब देवता का मुख जो अग्नि है उसने विचारा कि ब्राह्मण का मांस मेरे मुख में न आवे और बड़े प्रकाश से देह धरकर ब्राह्मण के निकट आया और कहा, हे ब्राह्मणकुमार! जो कुछ तुझको वाञ्छित वर है वह माँग। जैसे कोई भण्डार को खोलकर मणि लेता है तैसे ही तू मुझसे वर ले। तब दासुर ने पुष्प, धूप, सुगन्ध आदिक से अग्नि का पूजन किया और प्रसन्न होकर कहा, हे भगवन्! प्राणाहुती के पवन शरीर से मैंने तप करने के निमित्त उद्यम किया है सो और कोई शुद्ध स्थान मुझको नहीं भासता इसलिए मैं चाहता हूँ कि इस वृक्ष की अग्र शिखा में स्थित होने की मुझको शक्ति हो और यहाँ बैठकर मैं तप करूँ। यही वर मुझको दो। तब अग्निदेव ने कहा ऐसे ही हो। इस प्रकार कहकर अग्नि अन्तर्धान हो गया जैसे संध्याकाल के मेघ अन्तर्धान हो जाते हैं। तब वर पाके ब्राह्मणकुमार ऐसा प्रसन्न हुआ जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा पूर्ण कलाओं से प्रसन्न होता है और जैसे चन्द्रमा के प्रकाश को पाकर कमलिनी शोभित होती है तैसे ही वर पाके वह शोभित हुआ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे दासुरोपाख्याने वनोपरुदनं
नामाष्टचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार वर को पाकर दासुर कदम्ब वृक्ष की टास पर, जो अद्भुत और बड़ा सुन्दर था और जिसका पत्र आकाश में लगता था, जा बैठा तो उसने दिशा का चञ्चलरूप कौतुक देखा कि दृश्यरूप मानों चञ्चल पुतली है, श्याम आकाश उसका शीश है, श्यामकेश ही प्रकाशरूप है, पाताल उसके चरण हैं, मेघरूपी वस्त्र हैं और पुष्पवत् गौर अङ्ग है। ऐसी दृश्यरूपी एक स्त्री है, समुद्र कैलास जिसके भूषण हैं, प्राणरूपी फुरने से चलती है, मोहरूपी शरीर है,

वनस्पति रोम हैं, सूर्य चन्द्रमा उसके कुण्डल हैं, पर्वत कड़े हैं, पवन प्राणवायु है, दिशा हस्त हैं, समुद्र आरसी है, सूर्यादिक उष्णता उसका पित्त है और चन्द्रमा कफ है। ऐसी त्रिलोकीरूप एक पुतली है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे दासुरोपाख्याने अवलोकनं
नामैकोनपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ४९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! कदम्ब वृक्ष के ऊपर स्थित होकर वह तप करने लगा इसलिए उसका नाम कदम्बतपासुर हुआ। एक क्षण उसने दिशा को देख वहाँ से वृत्ति को खींचा और पद्मासन बाँधकर मन को एकाग्र किया। दासुर परमार्थपद से अज्ञात था इसलिये कर्म में स्थित था और फल की ओर उसका मन था। मन से उसने यज्ञ का आरम्भ किया और जो कुछ सामग्री की विधि थी वह सब यथाशास्त्र मन से ही की और दश वर्ष मन में व्यतीत किये। उसने सब देवताओं का पूजन किया और गोमेध, अश्वमेध, नरमेध सब यथाविधि संयुक्त मन से किये और ब्राह्मणों को बहुत दक्षिणा दी। इस प्रकार समय पाकर उसका अन्तःकरण शुद्ध हुआ और आत्मपद में निर्मलचित्त से स्थित हुआ। बलात्कार से उसके हृदय में ज्ञान प्रकाशित होकर आत्मा के आगे मलीन वासना का जो आवरण था सो नष्ट हो गया और जैसे शरत्काल में तड़ाग निर्मल होता है तैसे ही उस मुनीश्वर का चित्त संकल्प से रहित हुआ। एक दिन उसने एक वन- सी को जिसके बड़े विशाल नेत्र, चपलरूप, पुष्पों की नाईं दाँत और ति के समान महासुन्दर शरीर था, काम के मदसे पूर्ण, मन के हरनेवाली अग्रभाग में देखी कि नम्र होकर देखती है। मुनीश्वर ने उससे कहा, हे कमलनयनि! तू कौन है? कैसी तू शोभितरूप है और इन पुष्पों से संयुक्त लता में किस निमित्त आई है? तब कामदेव के मोहनेवाली गौरी बोली, हे मुनीश्वर! जो पदार्थ इस पृथ्वी में बड़े कष्ट से प्राप्त होता है वह महापुरुषों की कृपा से सुगमता से मिलता है। हम इस वन की देवियाँ लीला करती फिरती हैं और जिस निमित्त मैं तुम्हारे आगे आई हूँ वह सुनो। हे मुनीश्वर! पिछले दिन चैत्र शुक्ल त्रयोदशी थी, उस दिन

इन्द्र के नन्दनवन में उत्साह हुआ था। सब वनदेवियाँ एकत्र होकर त्रिलोकी से आईं और सब पुत्रों संयुक्त पुष्पों से बड़े विलास क्रीड़ा करती थीं पर मैं अपुत्र थी इस कारण मैं दुःखित हुई और उस दुःख के दूर करने के लिये तुम्हारे पास आई हूँ। तुम अर्थ के सिद्ध कर्ता हो और बड़े वृक्ष पर स्थित हो। मैं अनाथ पुत्र की वाञ्छा कर तुम्हारे निकट आई हूँ, इससे मुझको पुत्र दो और जो न दोगे तो मैं अग्नि जलाकर जल मरूँगी और इस प्रकार पुत्र का दुःखदाह निवृत्त करूँगी। हे रामजी ! जब इस प्रकार वनदेवी ने कहा तब मुनीश्वर हँसे और दया करके हाथ में पुष्प दिया और कहा, हे सुन्दरि ! जा तेरे एक मास के उपरांत पूजने योग्य और महासुन्दर पुत्र होगा परन्तु तूने जो इच्छा धारी थी कि जो पुत्र न प्राप्त होगा तो जल मरूँगी, इससे अज्ञानी पुत्र होगा पर यत्न से उसको ज्ञान प्राप्त होगा। जब इस प्रकार मुनीश्वर ने कहा तब प्रसन्न होकर वनदेवी ने कहा, हे मुनीश्वर ! मैं यहाँ रहकर तुम्हारी टहल करूँगी। परन्तु मुनीश्वर ने उसका त्याग किया और कहा, हे सुन्दरि ! तू अपने स्थान में जा रह। तब वह वनदेवियों में जा रही और समय पाके उसके पुत्र उत्पन्न हुआ। जब वह दश वर्ष का बालक हुआ तब वह उसे मुनीश्वर के निकट ले आई और पुत्रसंयुक्त प्रणाम करके पुत्र को मुनीश्वर के आगे रखकर कहा, हे भगवन् ! यह कल्याणमूर्त्ति बालक तुम हम दोनों का पुत्र है। इसको मैंने सम्पूर्ण विद्या सिखाकर परिपक्क किया है और अब वह सर्व का वेत्ता हुआ है, परन्तु केवल ज्ञान इसे प्राप्त नहीं हुआ जिससे इस संसारयन्त्र में फिर दुःख पावेगा। इसलिये आप कृपा करके इसको ज्ञान उपदेश करो। हे प्रभो! ऐसा कौन कुलीन है जो अपने पुत्र को मूर्ख रखना चाहे। हे रामजी ! जब इस प्रकार देवी ने कहा तब मुनीश्वर बोले तुम उसको यहाँ छोड़ जावो। तब वह देवी उसको छोड़कर चली गई। बालक पिता के पास रहा और बड़े यत्न से उसको ज्ञान की प्राप्ति हुई। मुनीश्वर ने नाना प्रकार के उक्त आख्यान, इतिहास और अपने दृष्टान्त कल्पकर चिरपर्यन्त पुत्र को जगाया और वेद वेदान्त का निश्चय अनुद्वेग होकर उपदेश किया। विस्तारपूर्वक कथा के क्रम जो अनुभव और बड़े गूढ़ अर्थ

हैं वे भी कहे और जो अपने अनुभववश से प्रत्यक्ष था सो भी बल करके उपदेश किया कि जिससे वह जागा और शान्त आत्मा हुआ। तब तो जैसे मेघ के शब्द से मोर प्रसन्न होता है तैसे ही वह बालक प्रसन्न हुआ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे दासुरसुतबोधनं नाम
पञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! उसी समय मैं भी कैलासवाहिनी गङ्गाजी के स्नान के निमित्त अदृष्ट शरीरसंयुक्त आकाश की वीथी में सप्तर्षियों के मण्डल से चला जाता था। जिस वृक्ष पर वह बैठा था जब उसके नीचे मैं आया तो कुछ शब्द सुना कि उस वृक्ष के ऊपर से शब्द होता है। मूँदे कमल में भँवरे के शब्दवत् कोई इस प्रकार कहता है कि हे पुत्र ! सुन। मैं तुझसे वस्तु के निरूपण के निमित्त एक आश्चर्यमय आख्यान कहता हूँ। महापराक्रमी और त्रिलोक में प्रसिद्ध स्वेतथ नाम का एक राजा है जो बड़ा लक्ष्मीवान् जगत् की रचनाक्रम करता है। सब ...नि जो जगत् में बड़े नायक हैं वे भी उत्तम चूड़ामणि करके उसको शीश में धरते हैं और वह असंख्य कर्म और नाना प्रकार के आश्चर्य व्यवहार करता है। उस महात्मा पुरुष को त्रिलोकी में किसी ने वश नहीं किया; सहस्रों उसके आरम्भ हैं और सुख और दुःख देनेवाला है। उसके आरम्भों की संख्या कुछ नहीं कही जाती—जैसे समुद्र के तरङ्गों की कुछ संख्या नहीं कही जाती तैसे ही उसके आरम्भ हैं—और उसका पराक्रम किसी शस्त्र, अस्त्र और अग्नि से नष्ट नहीं होता। जैसे आकाश को मुष्टि प्रहार से तोड़ नहीं सकते तैसे ही वह है। उसकी विस्तृत भुजा है और लीला करके आरम्भ रचता है। उसके आरम्भ को कोई दूर नहीं कर सकता; इन्द्र, विष्णु और सदाशिव भी समर्थ नहीं हैं। हे महाबाहो ! उसके तीन देह हैं जो दिशा को भर रहे हैं। उन तीनों देहों से वह जगत में उत्तम, अधम, मध्यम रूप से फैल रहा है और बड़े विस्तारवाली आकाश से उत्पन्न हुआ है और वही शरीर में स्थित हुआ है। जैसे आकाश का पक्षी आकाश में रहता है और जैसे पवन आकाश में है ऐसे ही वह पुरुष जगत् में फैल रहा है। उस परम आकाश में

उसने बगीचे संयुक्त एक स्थान अपनी क्रीड़ा के निमित्त रचा है और पर्वत के शिखर में मोती की बेलें रची हैं। उसमें सात बावलियों से वह स्थान शोभता है और दो दीपक उसमें रचे हैं जो तेल और बाती विना प्रकाशते हैं और शीत और उष्णरूप हैं, कभी अधः को और कभी ऊर्ध्व को नगर में भ्रमते हैं। उसने मूर्ख मनुष्य भी रचे हैं, कोई ऊर्ध्व में स्थित हैं कोई मध्य में और कोई अधः में स्थित हैं। कोई दीर्घकाल में नष्ट होते हैं, कोई शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, कोई वस्त्रों से आच्छादित हैं और कोई वस्त्ररहित हैं। उस नगर में उसने नवद्वार स्थान किये हैं और उसमें निरन्तर बहुत से वृक्ष रोपे हैं। उसने पञ्चदीप देखने निमित्त किये हैं और तीन स्तम्भ रचना किये हैं, जिनमें और छोटे स्तम्भ भी हैं। मूल में के स्तम्भों पर लेपन किया है और पादतल संयुक्त किये हैं। निदान महामाया से उस राजा ने वह नगर रचा है और नगर की रक्षा निमित्त सेना रची है। एक नीति देखनेवाले यक्ष हैं, विवरकगण से वे चलते नाना प्रकार की क्रीड़ा करते हैं। उन शरीरों से वह सब ठौरों में विचरता है; यक्ष सब ठौरों में समीप रहता है और लीला करके एक स्थान को त्यागकर और स्थान में जाकर चेष्टा करता है। कभी इच्छा होती है तब चञ्चल चित्त से भविष्यत् पुर को रचकर उसमें स्थित होता है और कभी भय से वेष्टित हुआ वहाँ से उठ आता है और वेग करके गन्धर्व नगर रचता फिरता है। जब इच्छा करता है कि मैं उपजूँ तब उपज आता है और जब इच्छा करता है कि मैं मर जाऊँ तब मर जाता है। जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजते हैं और फिर लय हो जाते हैं उसी प्रकार वह राजा बड़े व्यवहार करता है और बारम्बार रचना करके कभी आप ही रुदन करने लगता है कि मैं क्या करूँ; मैं अज्ञानी दुःखी हूँ; और चिन्ता से आतुर होता है और कभी विचार करके उदय होकर बड़ा स्थूल हो जाता है—जैसे वर्षाकाल की नदी बढ़ती है तैसे ही बढ़कर आपको सुखी मानता है और विस्तार पाकर चलताफिरता है और बड़े प्रकाश से प्रकाशता है। उस महीपति की बड़ी महिमा है और उचितरूप होकर नगर में स्थित है॥५१॥

इति श्रीयो० स्थितिप्र० स्वेतथवैभववर्णनं नामैकपञ्चाशत्तमस्सर्गः॥५१॥

हे रामजी! जब इस प्रकार दासुर ने कहा तब पुत्र ने प्रश्न किया कि हे भगवन्! वह स्वेतथ राजा कौन है कि जगत् में जिसकी कीर्ति प्रसिद्ध है और उसने कौन नगर रचा है जो भविष्यत्नगर में रहता है? रहना तो वर्त्तमान में होता है भविष्यत् में कैसे रहता है? यह विरुद्ध अर्थ कैसे है? इन वचनों से मेरी बुद्धि मोहित हुई है। दासुर बोले, हे पुत्र! मैं तुझसे यथार्थ कहता हूँ तू सुन; जिसके जाने से संसारचक्र को ज्यों का त्यों देखेगा कि यह वास्तव में क्या है। यह संसार आरम्भ मात्र विस्तारसंयुक्त भासता है तो भी असत्यरूप है कुछ हुआ नहीं। जैसे यह संसार स्थित है तैसे मैं तुझसे कहता हूँ। यह आख्यान मैंने तुझसे जगत् निरूपण के निमित्त कहा है। हे पुत्र! जो शुद्ध अचैत्य चिन्मात्र चिदाकाश है उससे जो संकल्प उठा है उस संकल्प का नाम स्वेतथ है। वह आप ही उपजता है और आप ही लीन हो जाता है। यह जगत् उसका रूप है जो बड़े विस्तार संयुक्त भासता है और उसके उपजने से जगत् उपजता और नष्ट होने से नष्ट होता है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्रादिक सब उसके अवयव हैं। जैसे वृक्ष के अङ्ग टास होते हैं और पर्वत के अङ्ग शिखर होते हैं तैसे ही उसके अङ्ग शून्य आकाश में हैं जिसमें यह जगत्रूपी नगर रचा है। प्रतिभास के अनुसन्धान से वही चित्कला विरञ्चिपद को प्राप्त हुआ है। चतुर्दश स्थान जो कहे हैं वे विस्तार संयुक्त चतुर्दश लोक हैं और वन, बगीचे, उपवन संयुक्त पर्वत महाचल, मन्दराचल, सुमेरु आदिक क्रीड़ा के स्थान हैं। उष्ण शीत जो दो दीपक तेल बाती विना कहे हैं वे सूर्य और चन्द्रमा हैं जो जगत्रूपी नगर में अधःऊर्ध्व को प्रकाशते हैं। सूर्य की किरणों का जो प्रकाश है वही मानों मोती के तरङ्ग फुरते हैं और क्षीर जल आदि जो सात समुद्र हैं वे बावलियाँ हैं। उसमें जीव व्यवहार करते, लेते, देते, अधःऊर्ध्व को जाते हैं—पुण्य से स्वर्गलोक में जाते हैं और पाप से नरक में चले जाते हैं। जगत् में संकल्प से जो क्रीड़ा के निमित्त उसने विवरगण रचे हैं वे देह हैं; कोई देवता होकर ऊर्ध्व स्वर्ग में रहते हैं, कोई मनुष्य होकर मध्यलोक में रहते हैं और कोई दैत्य होकर नागलोक आदिक पाताल

में रहते हैं। पवनरूपी प्रवाह से समस्त यन्त्र चलते फिरते हैं, अस्थिरूपी उनमें लकड़ियाँ हैं और रक्त-मांस से लेपन किये हैं। कोई दीर्घकाल में और कोई शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। शीश पर केश श्यामवस्त्र हैं और कर्ण, नासिका, नेत्र, जिह्वा और मूत्र पुरीष के स्थान, लिङ्ग इन्द्रिय और गुदा ये नवद्वार हैं जिनसे निरन्तर पवन चलता है। शीत उष्णरूप पान अपान हैं, नासिका आदिक उसके झरोखे हैं; भुजारूप गलियाँ हैं और पञ्चदीपक पञ्चइन्द्रियाँ हैं। हे महाबुद्धिमन्! ये सर्व संकल्परूपी माया से रचे हैं; अहंकाररूपी यक्ष है; महाभय का स्थान यह अहंकार से होता है और देहरूपी विवरगण अहंकाररूपी यक्षसंयुक्त विचरते हैं। वे असत्यरूप हैं, परन्तु सत्य होकर इसके साथ क्रीड़ा करते हैं। जैसे भाण्ड में बिलाव, बांबी में सर्प और बाँस में मोती हैं तैसे ही देह में अहंकार है जो क्षण में उदय होता है और क्षण में शान्त हो जाता है। दीपकवत् देहरूपी गृह में संकल्प उठता है, जैसे समुद्र में तरङ्ग उठते हैं और भविष्यत् नगर भासता है। सुन, अपना जो कोई स्वार्थ चितवता है कि यह कार्य इस प्रकार करूँगा और फलाने दिन इस देश में जाऊँगा तो जैसे चितवता है तैसे ही भासि आता है और उसमें जा प्राप्त होता है। जब तक दुर्वासना है तब तक अनेक दुःख होते हैं और यह दु मन अहंकार से स्थूल हो जाता है और संकल्प से रहित हुए शीघ्र ही इसका नाश होता है। जब तू संकल्प नाश करेगा तब शीघ्र ही कल्याण पावेगा। अपना संकल्प उठकर आप ही को दुःखदायक होता है—जैसे बालक को अपनी परछाहीं में वैतालकल्पना होती है और आप ही भय पाता है तैसे ही अपना संकल्प अनन्त दुःखदायक होता है, उससे सुख कोई नहीं पाता। सम्पूर्ण जगत् विस्तार संकल्प से होता है और आत्मा की सत्ता से बढ़ता और फिर नष्ट हो जाता है—विचार किये से नहीं रहता। जैसे सायंकाल में धूप का अभाव हो जाता है और प्रकाश उदय हुए तम का अभाव हो जाता है तैसे ही विचार से संकल्प आप ही नष्ट हो जाते हैं। मन आप ही क्रिया करता है और आप ही दुःख पाता है और रुदन करने लगता है—जैसे वानर काष्ठ के यन्त्र

की कील को हिलाकर फँसता है और दुःख पाता है; तैसे ही अपना ही संकल्प आपको दुःखदायक होता है। संकल्प से कल्पित विषय का आनन्द जब जीव को प्राप्त होता है तब वह ऊँची ग्रीवा करके हर्षवान् होता है—जैसे किसी वृक्ष के फल ऊँट के मुख में आ लगें और वह ऊँची ग्रीवा करके बिचरे तैसे ही अज्ञानी जीव विषय की प्राप्ति में ऊँची ग्रीवा करके हर्षवान् होते हैं। क्षण में जीव को विषय की प्राप्ति उपजती है और विशेष करके इष्ट की—प्राप्ति में बढ़ते हैं, पर जब कोई दुःख होता है तब वह प्रीति की प्रसन्नता उठ जाती है और क्षण में विकारी होता है और क्षण में प्रसन्न होकर वस्तुगुण की प्राप्ति में हर्षवान् होता है। शुभ संकल्प से शुभ को देखता और अशुभ संकल्प से अशुभ को देखता है। शुभ से निर्मल होता है और अशुभ से मलीन होता है; आगे जैसे तेरी इच्छा हो तैसे कर। स्वेतथ के जो मैंने तुझसे तीन शरीर कहे थे—उत्तम, मध्यम और अधम, वे सात्त्विक, राजस, तामस यही तीन गुण तीन देह हैं। ये ही सबके कारण जगत् में स्थित हैं; जब तामसी संकल्प से मिलता है तब नीचरूप पाप चेष्टा कर्म करके महाकृपणता को प्राप्त होता है और मृतक होकर कृमि और कीट योनि में जन्म पाता है। जब राजसी संकल्प से मिलता है तब लोकव्यवहार अर्थात् स्त्री, पुत्रादिक के राग से रञ्जित होता है और पापकर्म नहीं करता तो मृतक होकर संसार में मनुष्य शरीर पाता है। जब सात्त्विकी भाव में स्थित होता है तब ब्रह्मज्ञान परायण होता है; मोक्षपद की उसको अन्तर्भावना होती है और ब्रह्मज्ञान पाकर चक्रवर्ती राजा की नाईं स्थित होता है। जब उन भावों को त्याग करता है तब संकल्प भाव नष्ट हो जाता है और अक्षय परम पद शेष रहता है। इससे संसार-दृष्टि को त्याग करके और मन से मन को वश करके भीतर बाहर जो दृश्य का अर्थ चित्त में स्थित है उस संस्कार को निवृत्त करके शान्तात्मा हो। हे पुत्र! इस विना और उपाय नहीं। जो तू सहस्रवर्ष दारुण तप करे अथवा लीलावत् आपको शिलासम चूर्ण करे; समुद्र में प्रवेश करे, बड़वाग्नि में प्रवेश करे; गढ़े में गिरे; खड्गधारा के सम्मुख युद्ध करे अथवा सदाशिव, ब्रह्मा, विष्णु वा बृहस्पति दया करके तुझे उपदेश करें

और पाताल, पृथ्वी, स्वर्ग इत्यादिक और स्थानों में जावे तो भी और उपाय कल्याण के निमित्त कोई नहीं। जैसे संकल्प का उपशम करना उपाय है तैसे जो अनादि, अविनाशी, अविकारी, परम पावन सुख है वह संकल्प के उपशम से पाता है। इससे यत्न से संकल्प को उपशम करो। जो कुछ भाव पदार्थ हैं वे सब संकल्परूपी तत्त्व से पिरोये हुए हैं। जब संकल्परूपी ताँत टूटता है तब नहीं जाना जाता कि पदार्थ कहाँ गये। सत्य असत्य सब पदार्थ संकल्पमात्र हैं। जब तक संकल्प है तब तक ये भासते हैं और संकल्प के निवृत्त हुए असत्य हो जाते हैं। संकल्प से जैसी जैसी चिन्तना करता है क्षण में तैसे ही हो जाता है। संसार-भ्रम संकल्प से उदय हुआ है और संकल्प निवृत्त किये से चित्त अद्वैत के सम्मुख होता है। सर्वजगत् असत्यरूप है और माया से रचा है; जब संकल्प को त्यागकर यथाप्राप्ति में बिचरेगा तब तुझको खेद कुछ न होगा। असत्य-रूप जगत् के कार्य में दुःखित होना व्यर्थ है; जब आप संयुक्त जगत् को असत्य जानोगे तब दुःखी भी न होगे। जब तक जगत् का सद्भाव होता है तब तक दुःख होता है और जब असत्य जाना तब दुःख भी नहीं रहता। बोधवान् को कोई दुःख भी नहीं भासता; इससे जो नित्यप्राप्त सत्तारूप है उसमें स्थित होकर विकल्प के बड़े समूहों को त्याग करो और अद्वैत आत्मा में विश्राम सुख को प्राप्त होकर सुषुप्तिरूप चित्तवृत्ति को धारके बिचरो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे संसारविचारो नाम
द्विपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५२ ॥

इतना सुन पुत्र ने पूछा, हे भगवन्! संकल्प कैसा है और वह उत्पन्न, वृद्ध और नाश कैसे होता है? दासुर बोले, हे पुत्र! अनन्त जो आत्मतत्त्व है वह सत्ता समानरूप है; जब वह चैतन्यसत्ता द्वैत के सम्मुख होती है तब चेतनता का लक्षण जो वृत्ति ज्ञानरूप है वही बीजरूप संवित् उल्लासमात्र सत्ता को पाकर घनभाव को प्राप्त होता है; फुरने से आकाश को चेतता है और आकाश को पूर्ण करता है। जैसे जल से मेघ होता है तैसे ही फुरने की दृढ़ता से आकाश होता है। अपना स्वरूप आत्म-सत्ता से भिन्न भासता है—यह भावना चित्त में भावित हो जाती है। जैसे बीज अंकुरभाव को प्राप्त होता है तैसे ही चित् संवित् संकल्पभाव को प्राप्त होता है। संकल्प ही से संकल्प उपजता है और आप ही बढ़ता है जिससे सुखी दुःखी होता है। जब अचलरूप में चित्त संवेदन दृश्य की ओर फुरता है तब उस फुरने का नाम संकल्प होता है और स्वरूप से उछलकर जब दृश्य की ओर फुरता है तब संकल्प वृद्ध होता है और जगत्-जाल रचता है। जो कुछ प्रपञ्च है वह संकल्प का रचा संकल्पमात्र है—जैसे समुद्र जलमात्र होता है, जल से भिन्न नहीं; तैसे ही जगत् भी संकल्प से भिन्न नहीं। आकाशमात्र से भ्रान्तिरूप जगत् फुर आया है—जैसे मृगतृष्णा का जल और आकाश में द्वितीय चन्द्रमा भासता है तैसे ही तुम्हारा उपजना और बढ़ना भ्रममात्र है। जैसे तम का चमत्कार होता है तैसे ही यह जगत् मिथ्या संकल्प से उदय हुआ तुझको भासता है। हे पुत्र! तेरा उपजना भी असत्य है और बढ़ना भी असत्य है; जब तू इस प्रकार जानेगा तब इसकी आस्था लीन हो जावेगी। 'यह पुरुष है', 'वह है', 'मैं हूँ' ये सब भाव दुःख सुख सहित पदार्थ अज्ञान से व्यर्थ भासते हैं। और इनमें आस्था करके हृदय से तपता रहता है। 'अहं', 'त्वं' आदिक दृश्य सब असत्यरूप हैं—जब यह भावना करेगा तब तू पृथ्वी में कल्याण-रूप होकर विचरेगा और फिर संसार को प्राप्त न होगा। अहं त्वं से आदि लेकर जब सब दृश्य की भावना हृदय से जावेगी तब इसका अभाव हो जावेगा। हे पुत्र! फल को तोड़कर मर्दन करने में भी कुछ यत्न होता है परन्तु आप से सिद्ध और भावमात्र संकल्प के त्याग करने में कुछ यत्न नहीं; फूल के ग्रहण करने में भी यत्न है, क्योंकि हाथ का स्पन्द होता है पर इसमें जो कुछ भावरूप है वह है नहीं तो उसके त्यागने में क्या यत्न है? इससे कुछ है नहीं, इस दृश्य प्रपञ्च से विपर्ययभाव करना कि 'न मैं हूँ, न जगत् है', जिस पुरुष ने इस दृश्य जगत् का सद्भाव, संकल्प नाश किया है वह शान्तिरूप होता है। यह संकल्प तो एक निमेष में लीला से जीत लेता है। भावरूप जो आत्मसत्ता है उसमें जब अपना आप उपशम करे तब स्वस्थ होता है। जो शुद्ध मन से मन को छेदेगा वह आत्मतत्त्व में स्थित होगा, इसमें क्या यत्न है। संकल्प के उपशम हुए

जगत् उपशम होता है और संसार के सब दुःख मूल से नाश हो जाते हैं। संकल्प, मन, बुद्धि, जीव, अहंकार आदिक जो सब नाम हैं ये भेद कहनेमात्र हैं, इनके अर्थ में कुछ भेद नहीं। जो कुछ दृश्य प्रपञ्चजाल है वह सब संकल्पमात्र है; संकल्प के अभाव हुए कुछ नहीं रहता। इससे संकल्प को हृदय से काटो—आकाश की नाईं जगत् शून्य है; जैसे आकाश में नीलता भ्रान्ति से भासती है तैसे ही यह जगत् असत्य विकल्प से उठा है। संकल्प और जगत् दोनों असत्य हैं इससे सब असत्यरूप है। असत्यरूप संकल्प ने यह सब सिद्ध किया है इसकी भावना में आस्था करनी मिथ्या है। जब ऐसे जाना तब इष्टरूप किसको जाने; वासना किसकी करे और अनिष्ट किसको जाने; तब सब वासना नष्ट हो जाती है और वासना के नष्ट हुए सिद्धि प्राप्त होती है। हे पुत्र! जो यह जगत् सत्य होता तो विचार किये से भी दृष्टि आता सो तो विचार किये से इसका शेष कुछ नहीं रहता। जैसे प्रकाश के देखे से तम दृष्टि नहीं आता तैसे ही विचार कर देखे से जगत् सत्य नहीं भासता। इससे यह अविचार से सिद्ध है; असत्यरूप है और बुद्धि की चपलता से भासता है। जिस पुरुष को जगत्भावना उठ गई है उसको जगत् के सुख दुःख स्पर्श नहीं करते। निर्णय से जो असत्यरूप जाना उसमें फिर आस्था नहीं उदय होती और जब आस्था गई तब भाव अभाव बुद्धि भी नहीं रहती। संसार के सुख दुःख सब मिथ्या मन के फुरने से रचे हैं और मनोराज के नगरवत् स्थित हुए हैं। भूत, भविष्य, वर्त्तमान जगत् मन की वासना से फुरता है और मानसी शक्ति में स्थित है। वह मन क्षण में बड़ा दीर्घ आकार करता है और क्षण में ऐसा सूक्ष्म आकार धरता है कि ग्रहण करिये तो ग्रहण नहीं किया जाता। जैसे समुद्र की लहर को ग्रहण करिये तो पकड़ी नहीं जाती तैसे ही मन है। यद्यपि बड़े आकार संयुक्त जगत् भासता है तो भी कुछ वस्तु नहीं है; क्षणभंगुर है और असार वासना से भासता है और वासना के क्षय हुए शान्त हो जाता है। जब तुझको वासना फुरे, तब उसी काल में उसको शीघ्र ही त्याग कर ऐसी भावना कर कि यह दृश्यप्रपञ्च कुछ है नहीं, असत्यरूप है तो वासना नष्ट हो जावेगी—इसमें कुछ संदेह नहीं। जो यह जगत् हो तो इसके त्याग करने में यत्न भी हो पर यह तो असत्य भूतों का प्रपञ्च है इसके अर्थ चिकित्सा करने में तुझको खेद कुछ न होगा। जो है ही नहीं तो उसके त्याग में क्या यत्न है? यदि यह संसार सत्य होता तो इसके नाश निमित्त कोई न प्रवर्त्तता, पर यह तो सब असत्यरूप है और विचार किये से कुछ नहीं पाया जाता। इससे असत्य अहंकाररूप दृश्य को त्याग कर सत्य आत्मा को अङ्गीकार करो। जैसे धान से भूसी निकालकर चावल को अङ्गीकार करते हैं तैसे ही यत्न करके सर्व दृश्य को त्यागके आत्मपद में प्राप्त हो। यह परम पुरुषार्थ है और क्रिया किस निमित्त करता है? मलरूप संसार का नाशकर और युक्ति करके जान कि संसार असत्य कृत्रिमरूप है तो उसके नाश में क्या यत्न है? जैसे ताँबे से युक्तिपूर्वक मल दूर होता है तब निर्मल भासता है; तैसे ही युक्ति से दृश्य मल जब दूर हो तब बोध स्वरूप प्राप्त हो, इस कारण उद्यमवान् हो। हे पुत्र! यह संसार संकल्प विकल्प से उत्पन्न हुआ है और विचारकर अल्पयत्न से ही निवृत्त हो जाता है। देख कि वह कौन है जो सदा स्थिर रहता है? सब पदार्थ असत्यरूप हैं और देखते देखते नष्ट हो जाते हैं—जैसे दीपक के प्रकाश से अन्धकार का अभाव हो जाता है और भ्रान्ति दृष्टि से आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है और स्वच्छ दृष्टि से अभाव हो जाता है तैसे ही विचार करके जगत्भ्रम नष्ट होता है। न यह जगत् तेरा है; न तू इसका है; यह केवल भ्रम से भासता है इससे भ्रम को त्यागकर देख कि असत्यरूप है। अपनी गुरुत्वता का बड़ा ऐश्वर्य विलास है सो तेरे हृदय में मत हो। यह मिथ्या भ्रमरूप है हृदय से उठे तो आपको और जगत् को भी असत्य जान। आत्मतत्त्व से कुछ भिन्न नहीं। जब ऐसे निश्चय करेगा तब जगत्भावना नष्ट हो जावेगी और सर्वात्मा भासेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे दासुरोपाख्याने जगत्चिकित्सावर्णनं नाम त्रिपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रघुकुलरूपी आकाश के चन्द्रमा रामजी! जब इस प्रकार दासुर ने पुत्र को उपदेश किया तब मैं उसके पीछे आकाश में स्थित था सो कदम्बवृक्ष के अग्रभाग में जा स्थित हुआ—जैसे मेघ वर्षा से रहित तूष्णी होकर पर्वत के शिखर पर जा स्थित होता है तैसे ही मैं भी जा स्थित हुआ। दासुर शूरमा ने जो अज्ञानरूपी शत्रु का नाशकर्त्ता और परम शक्ति से प्रकाशवान् था; तप से उसकी देह ऐसी हो गई थी मानो सुवर्ण का चमत्कार है; मुझको अपने आगे देखा कि वशिष्ठ मुनि आये हैं। ऐसे जानकर उसने उठके अर्घ्य पाद्य से पूजन किया और फिर हम दोनों वृक्ष के पत्र पर बैठ गये। उसने फिर पूजन किया और जब पूजन कर चुका तब हम दोनों कथा का प्रसंग चलाने लगे। और उस चर्चा से उसके पुत्र को संसारसमुद्र के पार करने के निमित्त जगाया। फिर मैंने वृक्ष की ओर देखा जो महा सुन्दर फूलों और फलों से शोभायमान था और दासुर की इच्छा द्वारा मृग और पक्षी उसके आश्रय रहते थे। उसके पुत्र को हमने विज्ञान दृष्टि से रमणीय दृष्टान्त और युक्ति सहित उपदेश किया और नाना प्रकार के विचित्र इतिहासों से उस बालक को जगाया। रात्रि को हम सिद्धांत कथा में लगे रहे और हमको एक मुहूर्त्तवत् रात्रि व्यतीत हुई; जब प्रातःकाल हुआ तब मैं उठ खड़ा हुआ और दासुर अपने पुत्र संयुक्त मेरे साथ चला। जहाँ तक कदम्ब का आकाशतल था वहाँ तक वे मेरे संग आये, पर मैंने बहुत करके उनको ठहराया और मैं गङ्गाजी की ओर चला और स्नान करके सप्तर्षि के मण्डल में जाय स्थित हुआ। हे रघुनन्दन! यह दासुर का आख्यान मैंने तुमसे कहा है। यह जगत् प्रतिबिम्ब आभास के सदृश है; प्रत्यक्ष भासता है तो भी असत्यरूप है। जगत् के निरूपण निमित्त मैंने यह आख्यान तुमको सुनाया है। यह जगत् असत्यरूप है, कुछ वस्तु नहीं बुद्धि से तुम इसमें राग मत करो। जब इस कथा का सिद्धान्त हृदय में धारण करके विचारोगे तब संसाररूपी मल तुमको स्पर्श न करेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे दासुरोपाख्यानसमाप्तिर्नाम
चतुष्पञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! 'यह प्रपञ्च है ही नहीं' ऐसे जानके सब पदार्थों से निराग हो। जो वस्तु है ही नहीं उसकी आस्था करनी क्या है? इस प्रपञ्च के भासने, न भासने से तुमको क्या है? तुम निर्विघ्न होकर आत्मतत्त्व में स्थित हो और ऐसे जानो कि जगत् है भी और नहीं भी है। इस निश्चय से भी तुम असंग हो जाओ। इस चल अचल दृष्टि आने में तुमको क्या खेद है? हे रामजी! यह जगत् न आदि है, न अनादि है; केवल स्वेतथ का जो चित्त संवित् मनरूप था उसके फुरने से इस प्रकार भासता है; वास्तव में कुछ नहीं। यह जगत् किसी कर्ता ने नहीं किया और न किसी अकर्ता ने किया है केवल आभासरूप है और आभास में कर्ता अकर्ता पद को प्राप्त हुआ है पर अकृत्रिमरूप है और किसी का किया नहीं इससे तुमको इससे सम्बन्ध न हो। यह भावना हृदय में धारो कि कुछ नहीं है, क्योंकि किसी कर्ता से नहीं उत्पन्न हुआ, आत्मा सर्व इन्द्रियों से अतीत, जड़ की नाईं, अकर्तारूप है उसको कर्ता कैसे कहिये। यह कहना नहीं बनता। यह जो जगत्जाल अकस्मात् फुर आया है सो आभासरूप है उसमें आसक्त होना क्या है? यह असत् भ्रान्तिरूप है इसमें आस्था मूढ़ बालक करते हैं, बुद्धिमान् नहीं करते। स्वरूप में जगत् उपजा नहीं और नाश भी नहीं होता; निरन्तर दृष्टि में आता है और अज्ञान से बारम्बार भावना होती है तो भी कुछ है नहीं असत्‌रूप है और निरन्तर प्रत्यक्ष नष्ट होता जाता है। तुम विचार करके देखो कि अवस्था और स्थान कहाँ जाते हैं और कहाँ गये हैं? इसमें तुम सब इन्द्रियों से अतीत जो आत्मतत्त्व अकर्तारूप है उसमें स्थित होकर विगतज्वर हो जाओ। वास्तव में जगत् कुछ बना नहीं पर आभाससत्ता में बना भासता है। तुम सत्ता में नित्य दृढ़ हो जाओ। जैसे हुआ है, तैसे है; भाव-अभाव दुःखदशा है। आदर्शरूपी आभास में दीर्घरूप दृश्य स्थित हुआ जैसे हुआ है तैसे ही है; विपर्यय नहीं होता। हे रामजी! दृश्य धर्म में अपराजितकाल है सो अनन्त है; दृश्य पदार्थ का कुछ अन्त नहीं। जो आत्मविचार से देखिये तो स्वप्नवत् है कुछ है नहीं। जो वास्तव में ऐसे हो तो उसमें आस्था करके यत्न करना

व्यर्थ है। जगत् के पदार्थ नाशरूप हैं इनमें आस्था नहीं बनती, क्योंकि आत्मा सत् है और जगत् असत् है इससे अन्योन्य विलक्षण स्वभाव है—जड़ और चैतन्य का संयोग कुछ नहीं बनता। जगत् के पदार्थ यदि स्थिर मानिये तो नहीं रहते; इस कारण आस्था शोभा नहीं पाती। जैसे जल के तरङ्ग का आश्रय लेकर कोई पार हुआ चाहे तो दुःख पाता है, तैसे ही जगत् के पदार्थों का आश्रय करने से जीव दुःखी होता है। जगत् की आस्था करना ही बन्धन है और नाशरूप है। तुम स्थिररूप हो इससे आस्था नहीं संभवती। कभी जल के तरङ्ग और पर्वत का सम्बन्ध हुआ है? जो तुमने जगत् को असत्य और आपको सत्य जाना तो भी जगत् के पदार्थों की वाञ्छा नहीं बनती, क्योंकि सत्य को असत्य की वाञ्छा नहीं हो सकती और असत्य की असत्य में भावना करनी क्या है? जो आप संयुक्त जगत् सत्य जानते हो तो भी वाञ्छा नहीं हो सकती, क्योंकि सत्य अद्वैत आत्मा है उसके समीप कुछ द्वैत वस्तु नहीं। तुम तो एक अद्वैत हो, वाञ्छा किसकी करते हो? इससे तुमको किसी पदार्थ की इच्छा अनिच्छा नहीं बनती। हेयोपादेय से रहित केवल स्वस्थ होकर अपने आपमें स्थित हो जाओ। वह आत्मतत्त्व है जो सबका कर्ता और सर्वदा अकर्ता है कदाचित् कुछ नहीं करता और उदासीन की नाईं स्थित है। जैसे दीपक सब पदार्थों को प्रकाश करता है और किसी की इच्छा अपने अर्थ के सिद्ध करने के निमित्त नहीं करता—स्वाभाविक ही प्रकाशरूप है; तैसे ही आत्मतत्त्व सबका कर्ता है और उसका कर्ता कोई नहीं। जैसे सूर्य सबकी क्रिया को सिद्ध करता है और आप किसी क्रिया के आश्रय नहीं, क्योंकि आप ही प्रकाशरूप है; चलता है और कदाचित् चलायमान नहीं होता और जो सूर्य का प्रतिबिम्ब चलता भासता है सो प्रतिबिम्ब का चलना सूर्य में नहीं है; तैसे ही तुम्हारा स्वरूप आत्मा सदा अकर्ता अचल है, उसमें स्थित हो। जितना कुछ जगत् भासता है उसमें बिचरो, परन्तु सद्भावना करके उसमें बन्धायमान मत हो, यह असत्‌रूप है। हे रामजी! यद्यपि प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणों से जगत् सत् भासता है तो भी है नहीं। स्वतः चित्त होकर आपको बिचारो और आपमें स्थित हो तब जगत् कुछ न भासेगा। जो प्रत्यक्ष बड़े तेज, बल और वीर्य से सम्पन्न भासता है यदि अन्तर्धान हो गया तो सत्य कैसे कहिये? इस विचार से भी तुमको जगत् की भावना नहीं बनती। जैसे चक्र पर आरूढ़ होने से सब स्थान भ्रमते दृष्टि आते हैं और स्वप्ननगर भ्रम से भासता है सो किसी कारण से नहीं होता—आभासरूप मन के फुरने से उपज आता है। जैसे कोई जीव अकस्मात् आ निकलता है तो वह मित्रता का भागी नहीं होता और विचार किये विना बुद्धिमान् उसमें रुचि नहीं करते, न वह सुहृदता का पात्र होता है; तैसे ही भ्रम से जो जगत् भासा है वह आस्था करके भावना बाँधने योग्य नहीं। जैसे चन्द्रमा में उष्णता, सूर्य में शीतलता और मृगतृष्णा की नदी में जल की भावना करनी अयोग्य है तैसे ही जगत् में सत्यभावना अयोग्य है। यह संकल्पपुर, स्वप्ननगर, द्वितीय चन्द्रमावत् असत्य है; भ्रम करके सत्य भासता है। हे रामजी! हृदय से भाव पदार्थ की आस्था लक्ष्मी को त्याग करो और बाहर लीला करते विचरो पर हृदय से अकर्ता पद में स्थित रहो और सब भाव पदार्थों में स्थित पर सबसे अतीत रहो। आत्मा सब पदार्थों में सर्वदाकाल स्थित है और सबसे अतीत है; उसकी सत्ता से जगत् नीति में स्थित है। जैसे दीपक से सब पदार्थ प्रकाशवान् होते हैं पर दीपक इच्छा से रहित प्रकाशता है—उससे सबकी क्रिया सिद्ध होती हैं और जैसे सूर्य आकाश में उदय होता है और उसके प्रकाश से जगत् का व्यवहार होता है; तैसे ही अनिच्छित आत्मा की प्रकाशसत्ता से सब जगत् प्रकाशता है। जैसे इच्छा से रहित रत्न का प्रकाश होता है और स्थान में फैल जाता है; तैसे ही आत्मदेव की सत्ता से जगत्गण प्रवर्त्तते हैं। वह कर्ता है पर सब इन्द्रियों के विषय से अतीत है इस कारण अकर्ता-अभोक्ता है; सब इन्द्रियों के अन्तर्गत स्थित है इस कारण कर्ता भोक्ता वही है। इस प्रकार दोनों आत्मा में बनते हैं—कर्ता भोक्ता हो सकता है और अकर्ता अभोक्ता भी है; जिसमें तुम अपना कल्याण जानो उसमें स्थित हो जाओ। हे रामजी! इस प्रकार निश्चय करो कि सब मैं ही हूँ और अकर्ता-अभोक्ता हूँ। ऐसी दृढ़ भावना से जगत

के कार्य को करते भी कुछ बन्धन न होगा और आत्मा कर्तव्य भोक्तव्य से रहित है, इस प्रकार निश्चय करने से भोग की वासना निवृत्त हो जावेगी तब भोग की ओर फिर न चित्त आवेगा। जिसको यह निश्चय है कि मैंने कदाचित् कुछ किया नहीं और सदा अक्रियरूप हूँ, वह भोग के समूहों की कामना किस निमित्त करेगा और त्याग किसका करेगा? इससे तुम यही निश्चय धरो कि मैं नित्य अकर्तारूप हूँ। जब यह बुद्धि दृढ़ होगी तब परम अमृतरूप समानसत्ता शेष रहेगी। अथवा यही निश्चय धरो कि सबका कर्ता मैं ही हूँ; मैं महाकर्ता हूँ और सबके हृदय में स्थित होकर सब कार्य करता हूँ। हे रामजी! यह दोनों निश्चय तुमको कहे हैं कि जिसमें तुम्हारी इच्छा हो उसमें स्थित हो। जहाँ यह निश्चय होता है कि सबका कर्ता मैं हूँ और सब जगत्भ्रम भी मैं हूँ तब इन पदार्थों के भाव-अभाव में रागद्वेष न होगा। जो सब आप ही हुआ तो रागद्वेष किसका करे? उसको यह निश्चय होता है कि यह शरीर मेरा दग्ध होता है, वह शरीर सुगन्धादिक से लीला करता है उसको खेद और उल्लास किसका हो। इससे तुमको जगत् के क्षोभ, उल्लास, उदय, अस्त में सुख-दुःख न होगा सबका कर्ता मैं हूँ तो खेद उल्लास भी मैं करता हूँ और जब आत्मा और कर्तव्य की एकता हुई तब खेद उल्लास सब आप ही लय हो जाता है और सत्ता समान शेष रहता है। वही सत्ताभाव पदार्थ में अनुस्यूत होकर स्थित है और उसमें जब चित्त स्थित होता है तब फिर दुःख नहीं पाता। हे रामजी! सबका कर्ता आपको जानो कि कर्ता पुरुष मैं हूँ व अकर्ता जानो कि मैं कुछ नहीं करता अथवा दोनों निश्चय त्यागकर निस्संकल्प निर्मन हो जाओ तो तुम्हारा जो स्वरूप है वही सत्ता शेष रहेगी। यह जगत् है, यह मैं हूँ, यह मेरा है, इस कुत्सित भावना को त्याग करो। इस अभिमान में स्थित न होना; इस देह में अहंकार कालसूत्र नाम करके नरक की प्राप्ति का कारण है, नरक का जाल है; शस्त्र की वर्षा होती है; इससे देहाभिमान दुःखों का कारण है अर्थात् अनन्त दुःखदायक है। इससे पुरुष प्रयत्न करके इसका त्याग करो, यह सबको नाश करता है। भावी कल्याण जो श्रेष्ठ पुरुष हैं वे इससे स्पर्श नहीं करते—जैसे

डाली की गोद में श्वान का मांस हो तो उसके साथ श्रेष्ठ पुरुष सङ्ग हीं करते तैसे ही देहाभिमान से स्पर्श न करना—यह महानीच है। यह काररूपी बादल नेत्रों के आगे पटल है इससे आत्मा नहीं भासता। विचार करके इस पटल को दूर करोगे तब आत्मसत्ता का प्रकाश होगा। जैसे मेघघटा के दूर होने से चन्द्रमा प्रकाशित होता है तैसे ही कार के अभाव से आत्मा प्रकाशता है। जब तुम इन निश्चयों में कोई श्चय धारोगे तब सब दुःखों से रहित शान्तपद को प्राप्त होगे। यह र्णय सबसे उत्तम है और उत्तम पुरुष इस निश्चय में सदा स्थित हैं। तुम भी विधि अथवा निषेध दोनों में कोई निश्चय धारण करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे कर्तव्यविचारो नाम
पञ्चपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५५ ॥

मजी ने पूछा, हे ब्रह्मन्! जो कुछ तुमने सुन्दर वचन कहे हैं वह हैं। अकर्तारूप, आत्मा, कर्ता, अभोक्ता, सबका भोक्ता, भूतों को नेवाला, सबका आश्रयभूत और सर्वगत व्यापक, चिन्मात्र, निर्मल-, अनुभवरूप देव सर्वभूतों के भीतर स्थित है। हे प्रभो! ऐसा जो तत्त्व है वह मेरे हृदय में रम रहा है और आपके वचनों से प्रकाशने गा है। आपके वचन शीतल और शान्तरूप हैं; तप्तता को मिटाते हैं र जैसे वर्षा से पृथ्वी शीतल होती है तैसे ही मेरा हृदय शीतल हुआ है। आत्मा उदासीन की नाईं अनिच्छित स्थित है कर्तव्य-भोक्तव्य से हित है, सब जगत् को प्रकाशता है और सब क्रिया उससे सिद्ध होती है। इस कारण कर्ता भी वही है और भोक्ता भी वही है, परन्तु मुझको संशय है उसको अपनी वाणी से निवृत्त करो। जैसे चन्द्रमा का काश तम को नाश करता है तैसे ही आप मेरे संशय को दूर करो। सत्य है; यह असत्य है; यह मैं हूँ; वह और है इत्यादिक द्वैतकल्पना अद्वैत विस्तृत शान्तरूप में कहाँ से स्थित हुई है? निर्मल में मल हुआ है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस तुम्हारे प्रश्न का उत्तर में द्धान्तकाल में कहूँगा अथवा तुम आप ही जान लोगे। इस मोक्ष उपाय का सिद्धान्त जब भली प्रकार तुम्हारे हृदय में स्थित होगा तब तुम

इस प्रश्न के पात्र होगे अन्यथा योग्य न होगे—उस अवस्था में अन्यथा प्राप्त नहीं होते। हे रामजी! जैसे सुन्दर स्त्रियों की सुन्दर वाणी से सुन्दर गीत होता है और उसके अधिकारी यौवनवान् पुरुष होते हैं तैसे ही सिद्धान्त-अवस्था में मेरे वचन के तुम अधिकारी होगे। जैसे रागमयी कथा बालक के आगे कहनी व्यर्थ होती है तैसे ही बोध समय विना उदार कथा कहानी व्यर्थ होती है। जैसे शरत्काल में वृक्ष पत्रसंयुक्त और वसंत ऋतु में पुष्प से शोभता है तैसा ही जैसी अवस्था पुरुष की होती है तैसा ही उपदेश कहना शोभता है और उपदेश भी तब दृढ़ लगता है जब बुद्धि शुद्ध होती है—मलीन बुद्धि में दृढ़ नहीं होता। जैसे निर्मल वस्त्र पर केसर का रङ्ग शीघ्र ही चढ़ जाता है और मलीन वस्त्र पर नहीं चढ़ता; तैसे ही प्राप्तरूप जो आत्मा है उसका विज्ञान उपदेश सिद्धान्त अवस्था वाले को लगता है जिसको बोधसत्ता प्राप्त होती है। तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मैंने संक्षेपमात्र कहा भी है—विस्तार से नहीं कहा पर जो तुम नहीं जानते तो भी प्रत्यक्ष है। जब तुम आपसे आपको प्राप्त होगे तब आपही इस प्रश्न के उत्तर को जान लोगे—इसमें कुछ संदेह नहीं। सिद्धान्तकाल में जब तुम बोध को प्राप्त होकर स्थित होगे तब मैं भी इस प्रश्न का उत्तर विस्तार से कहूँगा। जब आपसे अपना आप निर्मल करोगे तब अपने आपको जान लोगे। हे रामजी! कर्त्ता और कर्म का विचार जो मैंने तुमको कहा है उसको विचारकर वासना का त्याग करो। जब तक संसार की वासना इस हृदय में होती है तब तक बन्धवान् है और जब वासना दूर होती है तब मुक्ति होती है; इससे तुम वासना को त्यागो और मोक्ष के अर्थ जो वासना है उसका भी त्याग करो तब सुखी होगे। इस क्रम से वासना को त्यागकर प्रथम शास्त्रविरुद्ध तामसी वासना का त्याग करो; फिर विषय की वासना का त्याग करो और मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इस निर्मल वासना को अंगीकार करो। मैत्री के अर्थ यह हैं कि, सबमें ब्रह्मभाव जानना द्रोह किसी का न करना। दुःखी पर दया करनी करुणा कहलाती है; धर्मात्मा पुरुष को देखके प्रसन्न होने का नाम मुदिता है और पापी को देखके उदासीन रहना और निन्दा न करना उपेक्षा कह-

---

ाती है। इन चारों प्रकार की वासनाओं से संपन्न हो हृदय से इनका भी त्याग करके इनका अभिमान न रखना चाहिये यदि बाहर से इनका व्यवहार हो पर हृदय से दुर्वासना त्यागकर चिन्मात्र वासना रखनी चाहिये और पीछे इसको भी मन बुद्धि के साथ मिश्रित त्याग करना तब जिससे वासना त्यागी हैं वह शेष रहेगा तो उसको भी त्याग करना। हे रामजी! चिन्मात्रतत्त्व से कल्पना करके देह, इन्द्रियाँ, प्राण, तम, प्रकाश, वासनादिक भ्रममात्र भासि आये हैं। जब मूल अर्थात् अहंकारसंयुक्त इनको त्याग करोगे तब आकाशवत् सम स्वच्छ होगे। इस प्रकार सबको त्यागकर पीछे जो तुम्हारा स्वरूप है वह प्रत्यक्ष होगा जो हृदय से इस प्रकार त्यागकर स्थित होता है वह पुरुष मुक्तिरूप परमेश्वर होता है; चाहे वह समाधि में रहे; अथवा कर्म करे वा न करे। जिसके हृदय से सब अर्थों की आस्था नष्ट हुई है वह मुक्त और उत्तम उदारचित्त है। उसको करने, न करने में कुछ हानि-लाभ नहीं और न समाधि करने में अर्थ है, न तप से है; क्योंकि उसका मन वासना से रहित हुआ है। हे रामजी! मैंने चिरकाल पर्यन्त अनेक शास्त्र विचारे हैं और उत्तम उत्तम पुरुषों से चर्चा की है परन्तु परस्पर यही निश्चय किया है कि भी प्रकार वासना का त्याग करे। इससे उत्तम और पद पाने योग्य नहीं। जो कुछ देखने योग्य है वह मैंने सब देखा है और दशों दिशाओं भ्रमा हूँ; कई जन यथार्थदर्शी दृष्ट आये हैं और कितने हेयोपादेय-युक्त देखे पर सब यही यत्न करते हैं और इससे भिन्न कुछ नहीं करते। ब्रह्माण्ड का राज्य करे अथवा अग्नि और जल में प्रवेश करे पर ऐसे ऐश्वर्य से संपन्न होकर भी आत्मलाभ विना शान्ति नहीं प्राप्त होती। बड़े बुद्धिमान् और शान्त भी वही हैं जिन्होंने अपनी इन्द्रियरूपी शत्रु जीते और वही शूरमे हैं उनको जरा, जन्म और मृत्यु का अभाव है—वह उपासना करने योग्य है। हे रामजी! ज्ञानवान् को किसी दृश्य में प्रीति नहीं होती; क्योंकि पृथ्वी आदिक पञ्चभूत ही सब ठौर हैं—त्रिलोकी में इनसे भिन्न और कोई पदार्थ नहीं तो प्रीति किस हो। युक्ति से ज्ञानवान् संसारसमुद्र को गोपदवत् तर जाते हैं पर

जिन्होंने युक्ति का त्याग किया है उनको सप्तसमुद्र की नाईं संसार हो जाता है। जो पुरुष उदारचित्त हैं उनको यह सम्पूर्ण जगत् कदम्ब स्व के वृक्षवत् हो जाता है; उसमें वे त्याग किसका करें और भोग किसका करें। हेयोपादेय से रहित पुरुष को जगत् तुच्छसा भासता है इस कारण जगत् के पदार्थों के निमित्त वह यत्न नहीं करता और जो दुर्बुद्धि जीव होते हैं वे तुच्छ ब्रह्माण्डरूप पृथ्वी पर युद्ध करते हैं, अनेक जीवों का घात करते हैं और ममता में बन्धायमान हैं यह जगत् संकल्पमात्र में नष्ट हो जाता है क्षण क्षण में आस्था से यत्न करना बड़ी मूढ़ता है। सब जगत् आत्मा के एक अंश से कल्पित है; इसकी उपमा तृण समान भी नहीं। इस प्रकार तुच्छरूप त्रिलोकी को जानकर आत्मवेत्ता किसी पदार्थ के हर्ष शोक में बन्धायमान नहीं होते और ग्रहण और त्याग से रहित हैं। सदाशिव के लोक आदि पाताल पर्यन्त जल, रस, देह, राजस, सात्त्विक, तामस संयुक्त जगत् के पदार्थ ज्ञानवान् को प्रसन्न नहीं कर सकते और उसकी इच्छा किसी में नहीं होती; क्योंकि वह तो एक अद्वितीयात्मभाव को प्राप्त हुआ है; आकाशवत् व्यापक उसकी बुद्धि होती है; अपने आप में स्थित है और चित्त दृश्य से रहित, अचेतन चिन्मात्र है। शरीररूपी जाल जो भयानक कुहिरा है और जिससे जगत् धूसर हो रहा है सो तिस पुरुष का शान्त हो जाता है और द्वितीय वस्तु का अभाव होता है ब्रह्मरूपी बड़ा समुद्र है उसके झागवत् कुलाचल पर्वत हैं; चेतनरूपी सूर्य में मृगतृष्णा की नदीरूप जगत् की लक्ष्मी है और ब्रह्मरूपी समुद्र में जगत्रूपी तरङ्ग उठते और लय होते हैं; ऐसे जाननेवाला जो ज्ञानवान् है उसको यह जगत् आनन्ददायक कैसे हो? सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि जो तुमको प्रकाशरूप भासते हैं वे भी घट, काष्ठ आदिकवत् जड़रूप हैं और जिससे यह प्रकाशते हैं वह सबको सिद्धकर्ता आत्मसत्ता है और कोई नहीं। देह जो रुधिर, मांस और अस्थि से बनी है और इन्द्रियों से वेष्टित है; उस देहरूपी डब्बे में चेतन जीवरूपी रत्न विराजता है; चेतन विना जड़ मुग्धरूप है। हे रामजी! यह जो स्त्री का देह भासता है सो चर्म की पुतली बनी है; उसको देखके मूढ़ प्रसन्न होता है। जैसे वायु के

लने से पर्वत चलायमान नहीं होता तैसे ही ज्ञानवान् संसार के पदार्थों प्रसन्न नहीं होता। ज्ञानवान् उस उत्तम पद में बिराजता है जिसकी क्षा से चन्द्रमा और सूर्य पाताल में भासते हैं अर्थात् इनका बड़ा काश भी तुच्छ भासता है। ज्ञानवान् परम उत्तम पद में बिराजते हैं। ये सारी मूढ़ जीव संसारसमुद्र में सर्प की नाईं बहे जाते हैं। जैसे ये हमको भासते हैं तैसे कहते हैं। इस जगत् में ऐसा भावपदार्थ कोई नहीं जो ानवान् को राग से रञ्जित करे। जैसे राजा के गृह में महासुन्दर विचित्र र रानियाँ हों तो उसको ग्राम की मूढ़ नीच स्त्रियाँ प्रसन्न नहीं कर सकतीं से ही ये जगत् के भावपदार्थ तत्त्ववेत्ता को प्रसन्न नहीं कर सकते और सके चित्त में प्रवेश नहीं करते। जैसे आकाश में मेघ रहते हैं परन्तु आकाश को स्पर्श नहीं कर सकते तैसे ही वे निर्लेप रहते हैं। जैसे सदाशिव महासुन्दर गौरी के नृत्य देखनेवाले और गौरीसंयुक्त हैं उनको वानरी का त्य हर्षदायक नहीं होता; तैसे ही ज्ञानवान् को जगत् के पदार्थ हर्षदायक नहीं होते। जैसे जल से पूर्ण कुम्भ में रत्न का प्रतिबिम्ब देखके बुद्धिमान् ा चित्त उसे ग्रहण नहीं करता तैसे ही ज्ञानवान् का चित्त जगत् के पदार्थों नहीं चाहता। यह संसारचक्र जो बड़ा विस्ताररूप भासता है सो सत्यरूप है; उसको देखके ज्ञानवान् कैसे इच्छा करे, क्योंकि यह तो न्द्रमा के प्रतिबिम्बवत् है। शरीर भी असत्य है; इसकी इच्छा मूढ़ करते —जैसे सेवार को मच्छ भोजन करते हैं और राजहंस नहीं करते तैसे ही सार के विषयों की इच्छा अज्ञानी करते हैं—ज्ञानी नहीं करते।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे पूर्णस्वरूपवर्णनन्नाम
षट्पञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह सिद्धान्त जो परम उचित वस्तु है सकी गाथा बृहस्पति के पुत्र कच ने गाई थी—वह परम पावनरूप है। क काल में सुमेरु पर्वत के किसी गहन स्थान में देवगुरु का पुत्र कच ा बैठा। अभ्यास के वश से कदाचित् उसको आत्मतत्त्व में विश्रान्ति ई; उसका अन्तःकरण सम्यक् ज्ञानरूपी अमृत से पूर्ण हुआ; पञ्च-ौतिक जो मलीन दृश्य है उनसे विरक्त हुआ और ब्रह्मभाव में अस्फुर

होकर रमने लगा। तब उसे ऐसा भासा कि निराभास आत्मतत्त्व से कुछ भिन्न नहीं—एक अद्वैत ही है; ऐसे देखता हुआ गद्गद वाणी से बोला कि मैं क्या करूँ; कहाँ जाऊँ; क्या ग्रहण करूँ और किसका त्याग करूँ सब विश्व एक आत्मा से पूर्ण हो रहा है? जैसे महाकल्प में सब ओर से जल पूर्ण हो जाता है तैसे ही दुःख भी आत्मा है सुख भी आत्मा है और आकाश, दशोदिशा और अहं त्वं आदि सब जगत् आत्मा ही है। बड़ा कष्ट है कि मैं अपने आपमें नष्ट हुआ बन्धवान् था। देह के भीतर-बाहर, अधः-ऊर्ध्व, यहाँ-वहाँ सब आत्मा ही है, आत्मा से कुछ भिन्न नहीं। सब ओर से एक आत्मा ही स्थित है और सब आत्मा में स्थित है; यह सब मैं हूँ और अपने आप में स्थित हूँ। अपने आपमें मैं नहीं समाता अर्थात् आदि अन्त से रहित अनन्त आत्मा हूँ। अग्नि, वायु, आकाश, जल, पृथ्वी मैं ही हूँ; जो पदार्थ मैं नहीं वह है ही नहीं और जो कुछ है वह सब विस्तृतरूप मैं ही हूँ। एक पूर्ण परम आकाश भैरव अर्थात् भर रहा हूँ; सब जगत् भी अज्ञानरूप है और समुद्रवत् एक पूर्ण आत्मा स्थित है। वह कल्याणमूर्ति इस प्रकार भावना करता हुआ स्वर्ण के पर्वत के कुञ्ज में स्थित हुआ और ओंकार का उच्चार बड़े स्वर से करने लगा। ओंकार की जो अर्द्धकला है; जिसको अर्द्धमात्रा भी कहते हैं; वह फूल से भी कोमल है उसमें वह स्थित हुआ। वह अर्द्धमात्रा कैसी है कि न अन्तःस्थित है और न बाहर है; हृदय में भावना करता हुआ उसमें स्थित हुआ और कलनारूपी जो मल था उससे रहित होकर निर्मल हुआ और उसकी चित्त की वृत्ति निरन्तर लीन हो गई। जैसे मेघ के नष्ट हुए शरत्काल का आकाश निर्मल होता है, तैसे ही कलङ्कित कलना के दूर हुए से वह निर्मल हुआ। जैसे पर्वत की पुतली अचलरूप होती है तैसे ही कच समाधि में स्थित अचल हुआ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे कचगाथावर्णनं नाम
सप्तपंचाशत्तमस्सर्गः॥ ५७॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! अङ्गनाओं के शरीरादिक भोग और जगत् के पदार्थों में कुछ सुख नहीं। ज्ञानवानों को ये पदार्थ तुच्छ

भासते हैं, वे इनमें आस्था नहीं करते तो फिर किस पदार्थ की इच्छा करें। इन भोग ऐश्वर्य पदार्थों से मूढ़ असाधु संतोष पाते हैं पर जो ज्ञानवान् साधु हैं वे इनमें प्रीति नहीं करते जो कृपण अज्ञानी हैं उनको भोग ही सरस है पर भोग आदि, अन्त और मध्य में दुःखरूप है। जो पुरुष इनमें आस्था करते हैं वे गर्दभ और नीच पशु हैं। हे रामजी! स्त्री रक्त, मांस और अस्थि आदि से पूर्ण है; जो इसको पाकर संतुष्ट होते हैं वे सियार हैं—मनुष्य नहीं। जो ज्ञानवान् हैं वे जगत् के पदार्थों में प्रीति नहीं करते। पृथ्वी सर्व मृत्तिका; वृक्ष काष्ठ; देह मांस और पर्वत पाषाणरूप हैं। पाताल अधः है और आकाश ऊर्ध्व है सो दिशाओं से व्यापा है सर्वविश्व पञ्चभौतिकरूप है इसमें तो अपूर्व सुख कोई नहीं जिसमें ज्ञानवान् प्रीति करें। इन्द्रियों के पञ्चविषय मोक्ष के हरनेवाले और विवेक मार्ग के रोकनेवाले हैं और जो कुछ जगत्जाल की संपूर्ण विभूति है वह सब दुःखरूप है। प्रथम इनका प्रकाश भासता है पर पीछे कलङ्क को प्राप्त करते हैं। जैसे दीपक प्रथम प्रकाश को दिखाता है और फिर काजल कलङ्क को देता है, तैसे ही इन्द्रियों के विषय आगमापायी हैं—इनसे शान्ति नहीं होती। अज्ञानी को स्त्री आदिक पदार्थ रमणीय भासते हैं पर ज्ञानवान् की वृत्ति इनकी ओर नहीं फुरती। अज्ञानी को ये स्थिररूप भासते हैं, स्वाद देते और तुष्ट करते हैं पर ज्ञानवान् को असत्य और चलरूप भासते हैं और तुष्टता के कारण नहीं होते। ये विषम भोग हैं विष की नाईं हैं और स्मरणमात्र से भी विषवत् मूर्च्छा करते हैं और सत्यविचार भूल जाता है। इससे तुम इनको त्याग करके अपने स्वभाव में स्थित हो जाओ और ज्ञानवानों की नाईं बिचरो। हे रामजी! जब इस जीव को अनात्म में आत्माभिमान होता है तब असङ्गरूप जगत्जाल भी सत्य हो भासता है। ब्रह्मा को भी वासना के वश से कल्प देह का संयोग होता है। जैसे सुवर्ण का प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है और उसकी झलक कन्धे पर पड़ती है पर कन्धे से सुवर्ण का कुछ संयोग नहीं होता तैसे ही ब्रह्म का संयोग देह से वास्तव कुछ नहीं—कल्पनामात्र देह है। रामजी ने पूछा, हे महामते! आत्मा विरञ्चि के पद को प्राप्त होकर फिर यह

सघनरूप जगत् कैसे रचते हैं वह क्रम से कहिए? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब प्रथम ब्रह्मा उत्पन्न हुए तब जैसे गर्भ से बालक उपजता है तैसे ही उपजकर बारम्बार इस शब्द का उच्चार किया कि 'ब्रह्म'! 'ब्रह्म'! इस कारण उसको ब्रह्मा कहते हैं। फिर संकल्प जालरूप और कल्पित आकार मन हो आया; उस मन ने संकल्पलक्ष्मी फैलाई। प्रथम संकल्प से माया उपजती है; फिर तेज अग्नि के चक्रवत् फुरने लगा और उससे बड़ा आकार हो गया। फिर वह ज्वाला की नाईं, सुवर्ण लतारूप, बड़ी जटा संयुक्त, प्रकाश को धारे और शरीर मनसंयुक्त सूर्यरूप होकर स्थित हुआ और अपने समान आकार बड़े प्रकाशसंयुक्त कल्पा और ज्वाला का मण्डल आकाश के मध्य स्थित हुआ—अग्निरूप और जिसके अग्नि ही अङ्ग हैं। हे महाबुद्धिमन्, रामजी! इस प्रकार तो ब्रह्मा से सूर्य हुए हैं और दूसरी जो तेज किरणें फुरती हैं वे आकाश में तारागण बिम्ब पर आरूढ़ फिरते हैं। फिर ज्यों ज्यों वह संकल्प करता गया त्यों त्यों तत्काल ही सिद्ध होकर भासने लगा। इसी प्रकार आगे जगत् रचा। जिस प्रकार इस सृष्टि में ब्रह्मा रचता है उसी प्रकार और सृष्टि में रचते हैं। प्रथम प्रजापति, फिर कालकलना, नक्षत्र और तारागण; फिर देवता, दैत्य, मनुष्य, नाग, गन्धर्व, यक्ष, नदियाँ, समुद्र, पर्वत सब इसी प्रकार कल्पे और जैसे समुद्र में तरङ्ग कल्पित होते हैं तैसे ही सिद्ध रच के उनके कर्म रचे। वे भी शुभ संकल्परूप हैं जैसा संकल्प करें वही सिद्ध होकर भासने लगे। इसी प्रकार फिर भूत और तारागण उत्पन्न किये और उन्होंने और उत्पन्न किये। तब ब्रह्माजी ने वेद उत्पन्न किया और जीवों के नाम, आचार, कर्मवृत्ति बनाये और जगत्मर्यादा के लिये नीतिरूप स्त्री को रचा। इसी प्रकार ब्रह्म की माया ब्रह्मारूप से बड़े शरीर धर रही है। आगे सृष्टि का विस्तार है, लोक और लोकपालों के क्रम किये हैं और सुमेरु और पृथ्वी के मध्य दशोंदिशा रचकर सुख, मृत्यु, राग, द्वेष प्रकट किये। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् त्रिगुणरूप ब्रह्माजी ने रचा और जैसे उसने रचा है तैसे ही स्थित है। यह जो कुछ सम्पूर्ण दृश्य भासता है वह सब मायामात्र है। हे रामजी! इस प्रकार जगत् का क्रम हुआ है। संकल्परूप संसार बड़ा स्थित होकर अज्ञान से भासता है। यह तो संकल्प से रचा है, संकल्प के वश से जगत् की क्रिया फैलाता है; संकल्प वश से दैवनीति होकर स्थित हुआ है और सब ब्रह्मा के संकल्प में स्थित है। जब उसका संकल्प निर्वाण होता है तब जगत् भी लय हो जाता है। एक समय ब्रह्माजी पद्मासन धर बैठे थे और विचारने लगे कि यह जगत्जाल मन के संकल्प फुरनेमात्र है मन के फुरने से उपज आता है और नाना प्रकार के विकारसंयुक्त व्यवहार, इन्द्र, उपेन्द्र, मनुष्य, दैत्य, समुद्र, पर्वत, पाताल, पृथ्वी से लेकर सर्व जगत्जाल मायामात्र और बड़ा फैल रहा है इसलिये अब मैं इससे निवृत्त होऊँ। ऐसे विचार उन्होंने अनर्थरूप संकल्प को दूर करके, आदि-अन्तरहित अनादिमत परम ब्रह्मस्फार आत्मारूप आत्मतत्त्व में मन लय किया और आनन्दरूप आत्मा होकर अपने आप में स्थित होकर निर्मल निरहंकार परमतत्त्व को प्राप्त हुए। जैसे कोई व्यवहार से थका हुआ विश्राम करता है तैसे ही वह अपने आपसे आत्मतत्त्व में स्थित हुए। जैसे समुद्र अक्षोभ होता है तैसे ही वह अक्षोभ हुए और ध्यान में लगे और फिर जब ध्यान से जगे तो जैसे द्रवता से समुद्र से तरङ्ग फुर आवें तैसे ही चित्त के वश से ब्रह्माजी फुरनरूप हो गये तब जगत् को देखके फिर चिन्तन करने लगे कि संसार दुःख, सुख से संयुक्त अनन्त फाँसी से बन्धायमान है और राग, द्वेष, भय, मोह से दूषित है। हे रामजी! इस प्रकार जीवों को देख के ब्रह्माजी को दया उपजी तो अध्यात्मज्ञान से सम्पन्न वेद उपनिषद् और वेदान्त प्रकट किये और बड़े अर्थसंयुक्त नाना प्रकार के शास्त्र रचे। फिर जीवों की मुक्ति के निमित्त पुराण रचे और परमपद जो आपदा से रहित है उसमें स्थित हुआ। जैसे मन्दराचल पर्वत के निकले से क्षीरसमुद्र शान्त होता है तैसे ही शान्तरूप होकर स्थित हुआ और फिर उसी प्रकार जाग के जगत् को देख मर्यादा में लगाया फिर कमलपीठ में स्थित होकर आत्मतत्त्व के ध्यानपरायण हुआ। इसी प्रकार जो कुछ अपने शरीर की मर्यादा ब्रह्माजी ने की है उसी प्रकार नीति के संस्कारपर्यन्त क्रीड़ा करते हैं और कुलाल के चक्रवत् नीति के अनुसार विचरते हैं। जैसे

ताड़ना और वासन से रहित चक्र फिरता है तैसेही वह जन्म मरण से रहित है। उसको शरीर के रखने और त्यागने की कुछ इच्छा नहीं और न कुछ जगत् की स्थिति और न अनस्थिति में इच्छा है। वह किसी पदार्थ के ग्रहण और त्याग की भावना में आसक्त नहीं होता और सबमें समबुद्धि परिपूर्ण समुद्रवत् स्थित है। कभी सब संकल्प से रहित शान्तरूप हो रहते हैं और कभी अपनी इच्छा से जगत् रचते हैं परन्तु उनको जगत् के रचने में कुछ भेद नहीं—सर्व पदार्थों की अवस्था में तुलता है। हे रामजी! यह मैंने तुमसे ब्रह्माजी की स्थिति कही है यह परमदशा और भी किसी देवता को उपजे तो उसको समता जानिये, क्योंकि वह शुद्ध सात्त्विकरूप है। सृष्टि के आदि जो शुद्ध ब्रह्मतत्त्व में चित्तकला फुरी है वही मनकला ब्रह्मारूप होकर स्थित हुई है। जब फिर जगत् के स्थिति क्रम में कलना उत्पन्न होती है तब वही ब्रह्मारूप आकाश, पवन को आश्रय लेकर औषध और पत्रों में प्रवेश करती है। कहीं देवताभाव को, कहीं मनुष्यभाव को, कहीं पशुपक्षी तिर्यगादिकभाव में प्राप्त होती है और कहीं चन्द्रमा की किरणद्वारा अन्नादिक औषध में प्राप्त होती है। जैसे भाव को लेकर चित्तकला फुरती है तैसा ही भाव शीघ्र उत्पन्न हो आता है। कोई उपजकर संसार के संसर्गवश से उसी जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें अपने स्वरूप का चमत्कार होता है; कोई अनेक जन्म से मुक्त होते हैं और कोई थोड़े जन्म से मुक्त होते हैं। हे रामजी! इस प्रकार जगत् का क्रम है। कोई प्रत्यक्ष, संकट, कर्म, बन्ध, मोक्षरूप उपजते हैं और कोई मिट जाते हैं। इस प्रकार संसार बन्धमोक्ष से पूर्ण है। जब यह कलनामल नष्ट होता है तब संसार से मुक्त होता है और जबतक कलनामल है तबतक संसार भासता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे कमलजाव्यवहारो
नामाष्टपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे महाबाहो, रामजी! इस प्रकार ब्रह्माजी ने निर्मल पद में स्थित होकर सर्ग फैलाया। संसाररूपी कूप में जीव भ्रमते हैं और जीवरूपी टीड़ी तृष्णारूपी रस्सी से बँधे हुए कभी अधः और कभी ऊर्ध्व

को जाते हैं। जब वासनारूपी रस्सी टूट पड़ती है तब ब्रह्मतत्त्व से उठे ब्रह्मतत्त्व में एकत्र हो जाते हैं। ब्रह्मसत्ता से जीव उपजते हैं और फिर ब्रह्मसत्ता में ही लय होते हैं। जैसे समुद्र से मेघ जलकण के धूम्र द्वारा उपजते हैं और फिर वर्षा से उसी में प्रवेश करते हैं; तैसे ही जब तन्मात्रा मण्डल से चित्तकला निकलती है तब उसी के साथ जीव एकरूप हो जाते हैं। जैसे मन्दारवृक्ष के पुष्प की सुगन्ध वायु से मिलकर एकरूप हो जाती है तैसे ही चित्तकला जीवतन्मात्रा से मिलकर प्राण नाम पाती है। इस प्रकार प्राणवायु से आदि तन्मात्रा जीवकला को खैंचने लगता है जैसे बड़े प्रचण्ड दैत्य के समूह देवताओं को खैंचें तैसे ही खैंचा हुआ जीव तन्मात्रा से एकरूप हो जाता है। जैसे गन्ध और वायु तन्मय होते हैं तैसे ही वह प्राण तन्मात्रा जीव के शरीर में वीर्यस्थान में जा प्राप्त होता है और जगत् में उपजकर प्राण प्रत्यक्ष होते हैं। कई धूम्रमार्ग से देहवान् के शरीर में प्रवेश करते हैं और कई मेघ में प्रवेश कर बुन्द मार्ग से औषध में रसरूप होकर स्थित होते हैं और उसको भोजन करनेवाले के भीतर वीर्यरूप होकर स्थित होते हैं। कई और प्राणवायु द्वारा प्रकट होते हैं और चर स्थावररूप होते हैं, कई पवनमार्ग से धान के खेत में चावलरूप स्थित होते हैं और उनको जीव भोजन करते हैं तो वीर्य में प्राप्त होते हैं और नाना प्रकार के रङ्ग भेद से प्राण गर्भ उपजते हैं और कोई उपजनेमात्र से जीव की परम्परा तन्मात्रा से वेष्टित जबतक चन्द्रमा उदय नहीं हुआ आकाश में स्थित होते हैं और जब चन्द्रमा उदय होता है तब उसका रस जो शीतल किरणों और श्वेत क्षीरसमुद्रवत् है उसमें जा प्राप्त होते हैं और उसके अन्तर्गत होकर पत्र औषध में स्थित होते हैं। जैसे कमल पर भँवरे आ स्थित होते हैं तैसे ही औषध में जाकर जीव स्थित होते हैं और फल में स्वादरूप होकर स्थित होते हैं। जैसे गन्ना रस से पूर्ण होता है तैसे ही जीव से औषध और फल पूर्ण हो जाते हैं। जैसे दूध से स्तन पूर्ण होते हैं तैसे ही जीव से फल पूर्ण होते हैं। जब वे फल परिपक्व होते हैं तो उनको देहधारी भक्षण करते हैं और उसमें जीव वीर्य और जड़ात्मकरूप होकर स्थित होते हैं।

वह सुषुप्ति वासना से वेष्टित हुए गर्भपिंजरे में जा पड़ते हैं। हे रामजी! जैसे मृत्तिका में घटादिक, काष्ठ में अग्नि और दूध में घृत सदा रहता है तैसे ही वीर्य में जीव रहता है इस प्रकार परमात्मा महेशरूप से जीव की परम्परा उपजती है। वायु, धूम्र, मेघ, औषध, प्राण, चन्द्रमा की किरणें इत्यादिक अनेक मार्गों से जीव उपजते हैं जो उपजने से आत्मसत्ता से अप्रमादी रहते हैं और जिनको अपना स्वरूप विस्मरण नहीं होता वे शुद्ध सात्त्विकी हैं और महाउदार व्यवहारवान् होते हैं और जिनको उपजना विस्मरण हो जाता है और फिर उसी शरीर में आत्मा का साक्षात्कार होता है वह सात्त्विकीरूप है और जो उपजकर नाना प्रकार के व्यवहार करते हैं और जिनको स्वरूप विस्मरण हो जाता है जन्म की परम्परा पाकर स्वरूप का साक्षात्कार होता है वे राजस सात्त्विकी कहाते हैं। जिनको अन्त का जन्म आ रहता है उनको जिस प्रकार मोक्ष होता है वह क्रम अब तुमसे कहता हूँ। हे रामजी! उपजनेमात्र से जो अप्रमादी हुए हैं वे शुद्ध सात्त्विकी हैं और वे ही ब्रह्मादिक हैं और जो प्रथम जन्म से बोधवान् हुए हैं वे सात्त्विकी हैं और जो कभी किसी जन्म में मोक्ष हुए हैं वे राजसी सात्त्विकी हैं। इससे भिन्न नाना प्रकार के मूढ़, जड़ और तमसयुक्त स्थावरादिक अनेक हैं। जिनको आत्मपद प्राप्त हुआ है उनको जो मिलते हैं उनका अन्त जन्म है। ऐसे पुरुष विचारते हैं कि मैं कौन हूँ और यह जगत् क्या है और इस विचार के क्रम से मोक्षभागी होते हैं वे राजस से सात्त्विकी होते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे विचारपुरुषनिर्णयो नाम
एकोनषष्टितमस्सर्गः ॥ ५९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जो राजस से सात्त्विकी होते हैं वे पृथ्वी पर महागुणों से शोभायमान होते हैं और सदा उदितरूप रहते हैं। जैसे आकाश में चन्द्रमा रहता है। वे पुरुष खेद नहीं पाते—जैसे आकाश को मलीनता नहीं स्पर्श करती तैसे ही उनको आपदा स्पर्श नहीं करती। जैसे रात्रि के आये से सुवर्ण के कमल नहीं मुँदते; जो कुछ प्रकृति आचार है उसके अनुसार चेष्टा करते हैं और जैसे सूर्य अपने आचार में विचरता है और

आचार नहीं करता; तैसे ही वे सत्यमार्ग में विचरते हैं और हृदय से पूर्ण शान्तरूप हैं। जैसे चन्द्रमा की कला क्षीण होती है तो भी वह अपनी शीतलता नहीं त्यागता; तैसे ही ज्ञानवान् आपदा के प्राप्त हुए भी मलीनता को नहीं प्राप्त होते। वे सर्वदाकाल मैत्री आदिक गुणों से सम्पन्न रहते हैं, और सदा उनसे शोभते हैं। समतारूप जो समरस है उससे वे पूर्ण और शान्तरूप हैं और निरन्तर शुद्ध समुद्रवत् अपनी मर्यादा में स्थित रहते हैं। हे रामजी! तुम भी महापुरुषों के मार्ग में सदा चलो और जो मार्ग परमपावन, आपदा से रहित और सात्त्विकी है उसके अनुसार चलो तब आपदा के समुद्र में न डूबोगे। जैसे वे खेद से रहित जगत् में विचरते हैं तैसे ही विचरो। जिस क्रमसे राजस से सात्त्विकी मोक्षभागी होता है सो सुनो। प्रथम आर्यभाव को प्राप्त होना अर्थात् यथाशास्त्र सद्व्यवहार करना तो उससे अन्तःकरण शुद्ध होता है। उस आर्यपद को पाकर सन्तों के साथ मिलकर बारम्बार सत्शास्त्रों को विचारना और जो संसार के अनित्य पदार्थ हैं उनमें प्रीति न करनी। विरक्तता उपजानी और जो त्रिलोकी के पदार्थों के उपजने विनशने में सत्यरूप है बारम्बार उसकी भावना करनी और दूसरी भावना शीघ्र ही मिथ्या जानकर त्यागनी। जो कुछ दृश्य जगत् भासता है वह असम्यक् दृश्य है। निष्फल, नाशरूप और व्यर्थ जानकर भावना त्यागनी और सम्यक्ज्ञान को स्मरण करना। सन्तजन और सत्शास्त्र जो ज्ञान के सहायक हैं उनके साथ मिलके विचार करना कि मैं कौन हूँ और जगत् क्या है? भली प्रकार प्रयत्न करके विवेक संयुक्त सदा अध्यात्मशास्त्र का विचार करना और सत्य व्यवहार और सात्त्विकी कर्म करना और अवज्ञा करके मृत्यु को विस्मरण न करना। जो मृत्यु विस्मरण करके संसार कार्य में लग जाता है वह डूबता है; इससे स्मरण करके सन्मार्ग में लगना और जिस पद में महाउदार और शीतलचित्त ज्ञानी पुरुष स्थित है उस पद के मार्ग और दर्शन में सदा इच्छा रखनी। जैसे मोर को मेघ की इच्छा रहती है। हे रामजी! अहंकार जो देह में स्थित है यह देह संसार में उपजी है; इसको भली प्रकार विचार करके नाश करो। यह सांसारिक देह रुधिर, मांस, मज्जा आदिक

की बनावट है। जितने भूतजात हैं वे सब चेतनरूपी तागे में मोती पिरोये हैं; उन भूतों को त्याग करके चिन्मात्रतत्त्व को देखो। चेतनसत्ता सत्य, नित्य और विस्तृतरूप है और शुद्ध, सर्वगत और सर्वभाव उसमें हैं। वह त्रिलोकी का भूषण आश्रयभूत है जो चेतनआकाश सूर्य में है। वही चेतन पृथ्वी के छिद्र में कीट है जैसे घटाकाश और महाकाश में भेद कुछ नहीं तैसे ही शरीर और चेतन में भेद नहीं। जैसे सब मिरचों में तीक्ष्णता एकही है तैसे ही सर्वभूतों में चेतनता एकही अनुस्यूत है—अनुभव से जानता है। उस एक चिन्मात्र में भिन्नता कहाँ से हो? एक सत्यसत्ता जो निरन्तर चिन्मात्र वस्तुरूप है उसमें जन्म मरण आदिक अज्ञान से भासता है; वास्तव में न कोई उपजा है और न मरता है, एक आत्मतत्त्व सदा ज्यों का त्यों स्थित है। और उसमें जगत् विकार आभासमात्र है; न सत्य है न असत्य है। चित्त के फुरने से भासता है और चित्त के शान्त हुए शान्त हो जाता है। जो जगत् को सत्य मानिये तो अनादि हुआ इससे भी शोक किसी का नहीं बनता और जो जगत् असत्य मानिये तो भी शोक का स्थान नहीं बनता। इससे दृढ़ विचार करके स्थित हो और शोक को त्यागो। तुमको न जन्म है और न मरण है—आकाशवत् निर्मल सम शान्तरूप हो जाओ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे स्थितिप्रकरणे मोक्षविचारो नाम षष्टितमस्सर्गः॥६०॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जो धैर्यवान् पुरुष बुद्धिमान् हैं वे सत्शास्त्र को विचारें; सन्तजनों का संग करके उनका आचार ग्रहण करें और जो दुःख की नाशकर्ता श्रेष्ठ ज्ञानदृष्टि हैं उनको यत्न करके अङ्गीकार करें तब सज्जनता प्राप्त होगी। सन्तजन जो विरक्तात्मा हैं उनसे मिलकर जब सत्शास्त्र को विचारे तब परमपद मिलता है। हे रामजी! जो पुरुष सत्शास्त्र का विचारनेवाला है और सन्तजनों का संग तथा वैराग्य अभ्यास आदरसंयुक्त करता है वह तुम्हारी नाईं विज्ञान का पात्र है। तुम तो उदारात्मा हो और धैर्यवान् के जो गुण शुभाचार हैं उनके समुद्र हो निर्दुःख होकर स्थित हो। अब राजसी से सात्त्विकी और मननशील हुए हो फिर ऐसे दग्धरूप संसार में दुःख के पात्र न होगे। यह तुम्हारा

अन्त का जन्म है जो अपने स्वभाव की ओर धावते हो, अन्तर्मुख यत्न करते हो, निर्मल दृष्टि तुमको प्रकट हुई है और आत्म वस्तु को जानते हो। जैसे सूर्य के प्रकाश से यथार्थ वस्तु का ज्ञान होता है। अब मेरे वचनों की पंक्ति से सर्वमल दूर हो जावेंगे—जैसे अग्नि से धातु का मल जल जाता है तैसे ही तुम्हारा मल जल जावेगा और निर्मलता से शोभायमान होगे। जैसे मेघ के नष्ट हुए शरत्काल का आकाश शोभता है तैसे ही संसार की भावना से मुक्त होकर चिन्ता से रहित निर्मलभाव से शोभोगे। अहं, ममादि कल्पना से मुक्त हुए ही मुक्त हैं इसमें कुछ संशय नहीं। हे रामजी! तुम्हारा जो यह अनुभव और उत्तम व्यवहार है उसके अनुसार बिचरोगे तो तुम अशोक पद पावोगे। और कोई इस व्यवहार को बर्तेगा वह भी संसारसमुद्र को अनुभवरूपी बेड़े से तर जावेगा। तुम्हारे तुल्य जिसकी मति होगी वह समदर्शी जन ज्ञानदृष्टि योग्य है। जैसे सर्व कान्तिमान् सुन्दरता का पात्र पूर्णमासी का चन्द्रमा होता है। तुम तो अशोकदशा को प्राप्त हुए हो और यथाप्राप्ति में वर्त्तते हो। जब तक देह है तब तक राग द्वेष से रहित स्थिरबुद्धि रहो और यथाशास्त्र जो उचित आचार हैं उन्हें बर्त्ता करो पर हृदय में सर्वकल्पना से रहित शीतल चित्त हो—जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा शीतल होता है। हे रामजी! इन सात्त्विक और राजस से—सात्त्विक से भिन्न जो तामसी जीव हैं उनका विचार यहाँ न करना; ये मूढ़ सियार हैं और मद्यादिक के पीनेवाले हैं, उनके विचार से क्या प्रयोजन है? जो मैंने तुमसे सात्त्विकी जन कहे हैं उनके संग से बुद्धि अन्त के जन्म की होती है और जो तामसी हैं वह भी उनको सेवे तो उनकी बुद्धि भी उदार हो जाती है। जिस जिस जाति में जीव उपजता है उस जाति के गुण से शीघ्र ही संयुक्त हो जाता है। पूर्व जो कोई भाव होता है वह जाति के वश से वहाँ जाता रहता है और जिस जाति में वह जन्मता है उसके गुणों को जीतने का पुरुषार्थ करता है, तब यत्न से पूर्व के स्वभाव को जीत लेता है। जैसे धैर्यवान् शूरमा शत्रु को जीत लेता है। जो पूर्व संस्कार मलीन है तो धैर्य करके मलीन बुद्धि का उद्धार करे—जैसे मुग्ध

हुआ पशु गढ़े में फँस जावे और उसको काढ़ लेवे तैसे ही बुद्धि को मलीन संस्कार से काढ़ि ले। हे रामजी ! जो तामस-राजसी जाति है उसको भी जन्म और कर्म के संस्कारवश से सात्त्विक प्राप्त होता है और वह भी अपने विचार द्वारा सात्त्विक जाति को प्राप्त होता है। पुरुष के भीतर अनुभवरूपी चिन्तामणि है उसमें जो कुछ निवेदन करता है वही रूप हो जाता है। इससे पुरुषार्थ करके अपना उद्धार करो। पुरुषप्रयत्न से पुरुष बड़े गुणों से संपन्न हो मोक्ष पाता है और उसका अन्त का जन्म होता है, फिर जन्म नहीं पाता और अशुभ जाति के कर्म निवृत्त हो जाते हैं। ऐसा पदार्थ पृथ्वी, आकाश और देवलोक में कोई नहीं जो यथाशास्त्र प्रयत्न करके न पाइये। हे रामजी ! तुम तो बड़े गुणों से संपन्न हो और धैर्य उत्तम वैराग्य और दृढ़ बुद्धि से संयुक्त हो और उसके पाने को धर्मबुद्धि से वीतशोक हो। तुम्हारे क्रम को जो कोई जीव ग्रहण करेगा वह मूढ़ता से रहित होकर अशोक पद को प्राप्त होगा। अब तुम्हारा अन्त का जन्म है, और बड़े विवेक से संयुक्त हो तुम्हारी बुद्धि में शान्ति आदि गुण फैल गये हैं और उनसे तुम शोभते हो। सात्त्विक गुण से सबमें रम रहे हो और संसार की बुद्धि, मोह और चिन्ता तुमको मिथ्या है—तुम अपने स्वस्थस्वरूप में स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे महारामायणे स्थितिप्रकरणे मोक्षोपायवर्णनं नामैकषष्टितमस्सर्गः ॥ ६१ ॥

इति

ॐसच्चिदानन्दाय नमः।

श्रीयोगवाशिष्ठ

पञ्चम उपशम प्रकरण प्रारम्भ।

इतना कहकर बाल्मीकिजी बोले, हे साधो ! अब स्थितिप्रकरण के अनन्तर उपशम प्रकरण कहता हूँ जिसके जानने से निर्वाणता पावोगे। जब वशिष्ठजी ने इस प्रकार वचन कहे तब सब सभा ऐसी शोभित हुई जैसे शरत्काल के आकाश में तारागण शोभते हैं। वशिष्ठजी के वचन परमानन्द के कारण हैं। ऐसे पावन वचन सुनके सब मौन हो गये और जैसे कमल की पंक्ति कमल की खानि में स्थित हो तैसे ही सभा के लोग और राजा स्थित हुए। स्त्रियाँ जो झरोखों में बैठी थीं उनके महाविलास की चञ्चलता शान्त हो गई और घड़ियालों के शब्द जो गृह में होते थे वे भी शान्त हो गये। शीश पर चमर करनेवाले भी मूर्तिवत् अचल हो गये और राजा से आदि लेकर जो लोग थे वे कथा के सम्मुख हुए। रामजी बड़े विकाश को प्राप्त हुए—जैसे प्रातःकाल में कमल विकाशमान होता है और वशिष्ठजी की कही वाणी से राजा दशरथ ऐसा प्रसन्न हुआ जैसे मेघ की वर्षा से मोर प्रसन्न होता है। सबके चञ्चल वानररूपी मन विषयभोग से रहित हो स्थित हुए और मन्त्री भी सुन के स्थित हो रहे और अपने स्वरूप को जानने लगे। जैसे चन्द्रमा की कला प्रकाशती है तैसे ही आत्मकला प्रकाशित हुई और लक्ष्मण ने अपने लक्षस्वरूप को देखके तीव्रबुद्धि से वशिष्ठजी के उपदेश को जाना। शत्रुघ्न जो शत्रुओं को मारनेवाले थे उनका चित्त अति आनन्द से पूर्ण हुआ और जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा स्थित होता है तैसे मन्त्रियों के हृदय में निश्चलता हो गई और मन शीतल और हृदय प्रफुल्लित हुआ। जैसे सूर्य के उदय हुए कमल तत्काल विकाशमान होता है। और और जो मुनि, राजा और ब्राह्मण स्थित थे उनके रत्नरूपी चित्त स्वच्छ और निर्मल हो

गये। जब मध्याह्न काल का समय हुआ और बाजे बजकर उनके ऐसे शब्द हुए जैसे प्रलयकाल में मेघों के शब्द होते हैं और उन बड़े शब्दों से मुनीश्वरों का शब्द आच्छादित हो गया—जैसे मेघ के शब्द से कोकिला का शब्द दब जाता है। तब वशिष्ठजी चुप हो गये और एक मुहूर्त्तपर्यन्त शब्द होता रहा। जब घनशब्द शान्त हुआ तब मुनीश्वर ने रामजी से कहा, हे रामजी! जो कुछ आज मुझे कहना था वह मैं कह चुका अब कल फिर कहूँगा। यह सुन सर्वसभा के लोग अपने-अपने स्थानों को गये और वशिष्ठजी ने राजा से लेकर रामजी आदि से कहा कि तुम भी अपने-अपने घरों में जावो। सबने चरणवन्दना और नमस्कार किया और जो नभचारी, वनचारी और जलचारी थे उन सबको विदाकर आप भी अपने-अपने स्थानों को गये और ब्राह्मण की सुन्दरवाणी को बिचारते और अपने-अपने अधिकार की क्रिया दिन को करते रहे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे पूर्वदिनवर्णनं नाम प्रथमस्सर्गः॥ १॥

इतना कहकर फिर बाल्मीकिजी बोले, हे भारद्वाज! इस प्रकार अपने-अपने स्थानों में सब यथाउचित क्रिया करने लगे। वशिष्ठजी, राजा, राघव, मुनि और ब्राह्मणों ने अपने-अपने स्थानों में स्नान आदिक क्रिया की और गौ, सुवर्ण, अन्न, पृथ्वी, वस्त्र, भोजन आदिक ब्राह्मणों को यथायोग्य पात्र दान दिये। सुवर्ण और रत्नों से जड़े स्थानों में आकर राजा ने देवताओं का पूजन किया और कोई विष्णु का और सदा-शिव का, कोई अग्नि का और किसी ने सूर्य आदिक का पूजन किया। तदनन्तर पुत्र, पौत्र, सुहृद्, मित्र, बान्धवसंयुक्त नानाप्रकार के उचित भोजन किये। इतने में दिन का तीसरा पहर आया तब सबने अपने सम्बन्धियों संयुक्त और और क्रिया की और जब साँझ हुई और सूर्य अस्त हुआ तब सायंकाल की विधि की और अघमर्षण गायत्री आदिक का जाप किया और पाठश्रोत्र और मनोहर कथा मुनीश्वरों की कही। फिर रात्रि हुई तब स्त्रियों ने शय्या बिछाई और उन पर वे बिराजे पर रामजी विना सबको रात्रि एक मुहूर्तवत् व्यतीत हुई रामजी स्थित होकर वशिष्ठजी के वचन की पंक्तियों को विचारने लगे कि जिसका नाम

संसार है इसमें भ्रमने का पात्र कौन है; नाना प्रकार के भूतजात कहाँ से आते हैं; कहाँ जाते हैं; मन का स्वरूप क्या है; शान्ति कैसे होती है, यह माया कहाँ से उठी है, और कैसे निवृत्त होती है; निवृत्त हुए विशेषता क्या होती है, नष्ट किसकी होती है; अनन्तरूप जो विस्तृत आत्मा है उसमें अहंकार कैसे होता है; मनके क्षय होने और इन्द्रियों केजीतने में मुनीश्वरों ने क्या कहा है और आत्मा के पाने में क्या युक्ति कही है? जीव, चित्त, मन और माया सब ही एकरूप है; विस्ताररूप संसार इसने ही रचा है और जैसे ग्राह ने हाथी को बाँधा था और वह कष्ट पाता था तैसे ही असत्‌रूप संसार में बँधकर जो जीव कष्ट पाते हैं उस दुःख के नाश करने के निमित्त कौन औषध है। भोगरूपी मेघमाला में मोहित हुई मेरी बुद्धि मलिन हो गई है; इसको मैं किस प्रकार शुद्ध करूँ। यह तो भोग के साथ तन्मय हो गई है और मुझको भोगों के त्यागने की सामर्थ्य भी नहीं; भोगों के त्यागने के विना बड़ी आपदा है और उनके संहारने की भी सामर्थ्य नहीं। बड़ा आश्चर्य है और इसको बड़ा कष्ट प्राप्त हुआ है। आत्मपद की प्राप्ति मन के जीतने से होती है और वेद शास्त्र के कहने का प्रयोजन भी यही है। गुरु के वचनों से भ्रम नष्ट हो जाता है—जैसे बालक को परछाहीं में वैताल भासता है—उस भ्रमको जैसे बुद्धिमान् दूर करता है तैसे ही मनरूपी भ्रम को पुरुष दूर करते हैं। वह कौन समय होगा कि मैं शान्ति पाऊँगा और संसारभ्रम नष्ट हो जावेगा। जैसे यौवनवान् स्त्री प्रियपति को पाके सुख से विश्राम करती है; तैसे ही मेरी बुद्धि आत्मा को पाके कब विश्रामवान् होगी। नाना प्रकार के संसार के आरम्भ मेरे कब शान्त होंगे और कब मैं आदि अन्त से रहित पद में विश्रान्तवान् होऊँगा। मेरा मन कब पावन होगा और पूर्णमासी के चन्द्रमावत् सम्पूर्ण कला से सम्पन्न होकर स्वच्छ, शीतल और प्रकाशरूप पद में कब स्थित होऊँगा। मैं कब आनन्द को देख के हँसूँगा और कब मलीन कलना को त्याग के आत्म-पद में स्थित होऊँगा। कब मैं मन को संकल्प विकल्प से रहित शान्त-रूप देखूँगा—जैसे तरङ्ग से रहित नदी शान्तरूप दीखती है। तृष्णा-

रूपी तरङ्ग से व्याकुल जो संसारसमुद्र है वह मायाजाल से पूर्ण है और रागद्वेषरूपी मच्छों से संयुक्त है, उसको त्याग के मैं वीतज्वर कब होऊँगा। उस उपशम सिद्धिपद को मैं कब पाऊँगा जो बुद्धिमानों ने मूढ़ता को त्याग के पाया है। मैं कब निर्दोष और समदर्शी होऊँगा और अज्ञानरूपी ताप मेरा कब नाश होगा जिससे सम्पूर्ण अङ्ग मेरे तपते हैं। सब धातु क्षोभरूप हो गई हैं और उनसे बड़ा दीर्घज्वर हुआ है इससे कब मेरा चित्त शान्तवान् होगा—जैसे वायु विना दीपक स्थिर होता है। कब मैं भ्रम त्याग के प्रकाशवान् हूँगा और कब मैं लीला करके इन्द्रियों के दुःखों को तर जाऊँगा। दुर्गन्धरूप देह से मैं कब न्यारा होऊँगा और 'अहं, 'त्वं' आदिक मिथ्याभ्रम का नाश मैं कब देखूँगा। जिस पद के आगे इन्द्रादिकों का सुख ऐश्वर्य मन्दारादिक वृक्षों की सुगन्ध और नाना प्रकार के भोग तृणवत् भासते हैं वह आत्मसुख हमको कब प्राप्त होगा। वीतराग मुनीश्वर ने जो हमसे ज्ञान की निर्मल दृष्टि कही है उसको पाके मन विश्रामवान् होता है। संसार तो दुःखरूप है मन तू किस पदार्थ को पाके विश्रामवान् हुआ है। माता, पिता, पुत्रादिक जो सम्बन्धी हैं उनका पात्र मैं नहीं हूँ, इनका पात्र भोगी होता है। बुद्धि तू मेरी बहन है, तू मेरा शीघ्र ही अर्थ भ्राता की नाईं पूर्ण कर कि तुम हम दोनों दुःख से मुक्त हों। मुनीश्वर के वचनों को विचार के हमारी आपदा नाश होगी, हम भी परमपद को प्राप्त होंगे और तुझको भी शान्ति होगी। हे मेरी बुद्धि! तू ज्यों का त्यों स्मरण कर कि वशिष्ठजी ने क्या कहा है प्रथम तो वैराग्य कहा है, फिर मोक्षव्यवहार कहा है; फिर उत्पत्ति प्रकरण कहा है कि संसार की उत्पत्ति इस क्रम से हुई है और फिर स्थिति प्रकरण में कहा है कि ईश्वर से जगत् की स्थिति है और नाना प्रकार के दृष्टान्तों संयुक्त उसे निरूपण किया है। निदान जितने प्रकरण कहे हैं वे ज्ञान विज्ञानसंयुक्त और हैं। हे बुद्धे! जिस प्रकार वशिष्ठजी ने कहा है तैसे तू स्मरण कर और अनेकबार विचारकर। बुद्धि में निश्चय न हो तो वह क्रिया भी निष्फल है। जैसे शरत्काल का मेघ बड़ा घन भी दृष्टि आता है परन्तु वर्षा से रहित निष्फल होता है तैसे ही धारणा से रहित विचार किया हुआ निष्फल होता है। जब धारणा कीजिये वह विचार सफल होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे उपदेशानुसारवर्णनंनाम
द्वितीयस्सर्गः ॥ २ ॥

वाल्मीकिजी बोले, हे भारद्वाज! जब इस प्रकार बड़े उदार आत्मा रामजी ने चित्तसंयुक्त रात्रि व्यतीत की तो कुछ तमसंयुक्त तारागण हुए और दिशा भासने लगीं। प्रातःकाल के नगारे नौबत बजने लगे तब रामजी ऐसे उठे जैसे कमलों की खानि से कमल उठे और भाइयों के साथ प्रातःकाल के सन्ध्यादिक कर्म करके कुछ मनुष्यों के संयुक्त वशिष्ठजी के आश्रम में आये। वशिष्ठजी एकान्त समाधि में स्थित थे उनको दूर से देख रामजी ने नमस्कारसहित चरणवन्दना की और प्रणाम करके हाथ बाँध खड़े रहे। जब दिशा का तम नष्ट हुआ तब राजा और राजऋषि, ब्राह्मण जैसे ब्रह्मलोक में देवता आवें तैसे आये। वशिष्ठजी का आश्रम जनों से पूर्ण हो गया और हाथी, घोड़े, रथ, प्यादा चार प्रकार की सेना से स्थान शोभित हुआ। तब तत्काल वशिष्ठजी समाधि से उतरे और सर्वलोगों ने प्रणाम किया। वशिष्ठजी ने उन सबका प्रणाम यथायोग्य ग्रहण किया और विश्वामित्र को संग लेकर सबसे आगे चले। बाहर निकलकर रथ पर आरूढ़ हुए—जैसे पद्म में ब्रह्मा बैठे और दशरथ के गृह को चले। जैसे ब्रह्माजी देवताओं से वेष्टित इन्द्रपुरी को आते हैं तैसे ही वशिष्ठजी बड़ी सेना से वेष्टित दशरथ के गृह आये और जो विस्तृत रमणीय सभा थी उसमें प्रवेश किया जैसे राजहंस कमलों में प्रवेश करे। तब राजा दशरथ ने जो बड़े सिंहासन पर बैठे थे उठकर आगे आ चरणवन्दना की और नम्र होकर चरण चूँबे। वशिष्ठजी सबके आगे होकर शोभित हुए और अनेक मुनि, ऋषि और ब्राह्मण आये। दशरथ से लेकर राजा सर्वमन्त्री और बन्दीजन और रामजी से आदि लेकर राजपुत्र, मण्डलेश्वर; जगत् के अधिष्ठाता और मालव आदि सर्व भृत्य और टहलुये आकर यथायोग्य अपने-अपने आसन पर बैठे और सबकी दृष्टि वशिष्ठजी की ओर हुई। बन्दीजन जो स्तुति करते थे और सर्वलोक जो शब्द करते थे चुप हो गये निदान सूर्य उदय हुआ और

किरणों ने झुककर झरोखों से प्रवेश किया; कमल खिल आये; पुष्पों से स्थान पूर्ण हो गये और उनकी महासुगन्ध फैली; झरोखे में स्त्रियाँ चञ्चलता त्यागकर मौन हो बैठीं और चमर करनेवाली मौन होकर शीश पर चमर करने लगीं और सब वशिष्ठजी की महासुन्दर कोमल मधुर वाणी को स्मरणकर आपस में आश्चर्यवान् होने लगे। तब आकाश से राजऋषि, सिद्ध, विद्याधर और मुनि आये और वशिष्ठजी को प्रणाम किया पर गम्भीरता से मुख से न बोले और यथायोग्य आसन पर बैठ गये। पुष्पों की सुगन्धयुक्त वायु चली और अगर चन्दनादि की सभा में बड़ी सुगन्ध फैल गई। भँवरे शब्द करते फिरते थे और कमलों को देखकर प्रसन्न होते थे। रत्न मणि भूषण जो राजा और राजपुत्रों ने पहिने थे उन पर सूर्य की किरणें पड़ने से बड़ा प्रकाश होता था।

इति श्रीयोगवाशिष्ठेउपशमप्रकरणे सभास्थानवर्णनन्नाम तृतीयस्सर्गः॥३॥

बाल्मीकिजी बोले कि उस समय दशरथजी ने वशिष्ठजी से कहा, हे भगवन् ! कल के श्रम से आप श्रमित हैं और आपका शरीर गरमी से अति कृश सा हो गया है इस निमित्त विश्राम कीजिये। हे मुनीश्वर ! आप जो आनन्दित वचन कहते हैं वे प्रकटरूप हैं और आपके उपदेशरूपी अमृत की वर्षा से हम आनन्दवान् हुए हैं। हमारे हृदय का तम दूर होकर शीतल चित्त हुआ है--जैसे चन्द्रमा की किरणों से तम और तपन दोनों निवृत्त होते हैं तैसे ही आपके वचनों से हम अज्ञानरूपी तम और तपन से रहित हुए हैं। आपके वचन अमृतवत् अपूर्व रस आनन्द देते हैं और ज्यों ज्यों ग्रहण करिये त्यों-त्यों विशेषरस आनन्द आता है। ये वचन शोकरूपी तप्त को दूर करनेवाले और अमृत की वर्षारूप हैं। आत्मारूपी रत्न को दिखानेवाले परमार्थरूपी दीपक हैं; सन्तजनरूपी वृक्ष की बेलि हैं; और दुरिच्छा और दुष्ट आचरण के नाश करनेवाले हैं। जैसे तम को दूर करने और शीतलता करने को शान्तरूप चन्द्रमा है तैसे ही सन्तजनरूपी चन्द्रमा को किरणरूपी वचनों से अज्ञानरूपी तप्त का नाश करते हैं। हे मुनीश्वर ! तृष्णा और लोभादिक विकार आपकी वाणी से ऐसे नष्ट हो गये हैं जैसे शरत्काल का पवन मेघ को नष्ट करता है और आपके वचनों से हम निष्पाप हुए हैं। आत्मदर्शन के निमित्त हम प्रवर्त्तते हैं। आपने हमको परम अञ्जन दिया है उससे हम सचक्षु हुए हैं और संसाररूपी कुहिरा हमारा निवृत्त हुआ है। जैसे कल्पवृक्ष की लता और अमृत का स्नान आनन्द देता है तैसे ही उदारबुद्धि की वाणी आनन्ददायक होती है। इतना कहकर बाल्मीकिजी बोले कि ऐसे वशिष्ठजी से कहकर रामजी की ओर मुख करके दशरथजी ने कहा, हे राघव ! जो काल सन्तों की संगति में व्यतीत होता है वही सफल होता है और जो दिन सत्संग विना व्यतीत होता है वह वृथा जाता है। हे कमलनयन, रामजी ! तुम फिर वशिष्ठजी से कुछ पूछो तो वे फिर उपदेश करें--वे हमारा कल्याण चाहते हैं। बाल्मीकिजी बोले कि जब इस प्रकार राजा दशरथ ने कहा तब रामजी की ओर मुख करके उदार आत्मा वशिष्ठ भगवान् बोले कि हे राघव ! अपने कुलरूपी आकाश के चन्द्रमा ! मैंने जो वचन कहे थे वे तुमको स्मरण आते हैं ? उन वाक्यों का अर्थ स्मरण में है और पूर्व और अपर का कुछ विचार किया है ? हे महाबोधवन्, महाबाहो ! और अज्ञानरूपी शत्रु के नाशकर्त्ता ! सात्त्विक, राजस और तामस गुणों के भेद की उत्पत्ति जो विचित्ररूप है वह मैंने कही है। तुम्हारे चित्त में है सर्व भी वही है, असर्व भी वही है, सत्य भी वही है और असत्य भी वही है और सदा शान्त अद्वैतरूप है। परमात्मादेव का विस्तृतरूप स्मरण है। जैसे विश्व ईश्वर से उदय हुआ है वह स्मरण है; यह जो देववाणी है इसका पात्र शुद्ध चित्त है; अशुद्ध नहीं। हे सत्यबुद्धे, रामजी ! अविद्या जो विस्तृतरूप भासती है उसका रूप स्मरण है ? अर्थ से शून्य, क्षणभंगुररूप, सम्यक् दर्शन से रहित, निर्जीव है। यह जो लवण के विचारद्वारा मैंने प्रतिपादन किया है वह भली-भाँति स्मरण है ? और वाक्यों का समूह जो मैंने तुमसे कहा है उनका रात्रि में विचार के हृदय में धारा है ? जब पुरुष बारम्बार विचारते हैं और तात्पर्य हृदय में धारते हैं तब बड़ा फल पाते हैं और जो अवज्ञा से अर्थ का विस्मरण करते हैं तो फल नहीं पाते। हे रामजी ! तुम तो इन वचनों के पात्र हो जैसे उत्तम बाँस में मोती फलीभूत होते हैं और मैं

नहीं उपजते; तैसे ही जो विवेकी उदार आत्मचित्त पुरुष हैं उनके हृदय में ये वचन फलीभूत होते हैं। वाल्मीकिजी बोले कि इस प्रकार जब ब्रह्माजी के पुत्र वशिष्ठजी ने कहा तब महाओजवान् गम्भीर रामजी अवकाश पाके बोले; हे भगवन्! सब धर्मों के वेत्ता आपने जो परमउदार वचन कहे हैं उनसे मैं बोधवान् हुआ हूँ और जैसे आप कहते हैं तैसे ही सत्य है; अन्यथा नहीं। हे भगवन्! मैंने समस्त रात्रि आपके वाक्यों के विचार में व्यतीत की है। आप तो हृदय के अज्ञानरूपी तम के नाशकर्ता पृथ्वी पर सूर्यरूप विचरते हैं। हे भगवन्! आपने जो व्यतीत दिन में आनन्ददायक, प्रकाशरूपी, रमणीय और पवित्र वचन कहे थे वे मैंने सब अपने हृदय में भली प्रकार धरे हैं। जैसे समुद्र से नाना प्रकार के रत्न निकलते हैं तैसे ही आपके वचन कल्याणकर्ता और बोधवान् हैं अर्थात् सबके सहायक और हृदयगम्य आनन्द का कारण हैं। वह कौन है जो आपकी आज्ञा शिर पर न धरे? जो मुमुक्षु जीव हैं वे सब आपकी आज्ञा शीश पर धरते हैं और अपने कल्याण के निमित्त जानते हैं। हे मुनीश्वर! आपके वचनों से मेरे संशय निवृत्त हुए हैं—जैसे शरत्काल में मेघ और कुहिरा नष्ट हो जाता है और निर्मल आकाश भासता है। यह संसार आपातरमणीय भासता है; जब तक पदार्थों का विभाग नहीं होता तब तक सुखदायक भासते हैं और जब विषय इन्द्रियों से दूर होते हैं तब दुःखदायक हो जाते हैं आपके वचन ऐसे हैं कि जिनके आदि में भी यत्न कुछ नहीं, सुगम मधुर आरम्भ है; मध्य में सौभाग्य मधुर है अर्थात् कल्याण करता है और पीछे से अनुत्तमपद को प्राप्त करते हैं जिसके समान और कोई पद नहीं। यह आपके पुण्यरूप वचनों का फल है और आपके वचनरूपी पुष्प सदा कमल समान खिले हुए निर्मल आनन्द के देनेवाले हैं और उदित फूल हैं, उनका फल हमको प्राप्त होगा। सब शास्त्रों में जो पुण्यरूपी जल है उसका यह समुद्र है, अब मैं निष्पाप हुआ हूँ मुझको उपदेश करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे राघववचनं नाम चतुर्थस्सर्गः॥ ४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे सुन्दरमूर्ते, रामजी! यह उत्तम सिद्धान्त जो उपशमप्रकरण है उसे सुनो, तुम्हारे कल्याण के निमित्त मैं कहता हूँ। यह संसार महादीर्घरूप है और जैसे दृढ़थम्भ के आश्रय गृह होता है तैसे ही राजसी जीवों का आश्रय संसार मायारूप है। तुम सरीखे जो सात्त्विक में स्थित हैं वे शूरमे हैं; जो वैराग, विवेक आदिक गुणों से सम्पन्न हैं वे लीला करके यत्न विना ही संसार माया को त्याग देते हैं और जो बुद्धिमान् सात्त्विक जागे हुए हैं और जो राजस और सात्त्विक हैं वे भी उत्तम पुरुष हैं। वे पुरुष जगत् के पूर्व अपूर्व को बिचारते हैं। जो सन्तजन और सत्शास्त्रों का संग करता है उसके आचरणपूर्वक वे बिचरते हैं और उससे ईश्वर परमात्मा के देखने की उन्हें बुद्धि उपजती है और दीपकवत् ज्ञानप्रकाश उपजता है। हे रामजी! जबतक मनुष्य अपने विचार से अपना स्वरूप नहीं पहिंचानता तबतक उसे ज्ञान प्राप्त नहीं होता। जो उत्तम कुल, निष्पाप, सात्त्विक—राजसी जीव हैं उन्हीं को विचार उपजता है और उस विचार से वे अपने आपसे आपको पाते हैं। वे दीर्घदर्शी संसार के जो नाना प्रकार के आरम्भ हैं उनको बिचारते हैं और विचार द्वारा आत्मपद पाते हैं और परमानन्द सुख में प्राप्त होते हैं। इससे तुम इसी को विचारो कि सत्य क्या है और असत्य क्या है? ऐसे विचार से असत्य का त्याग करो और सत्य का आश्रय करो। जो पदार्थ आदि में न हो और अन्त में भी न रहे उसे मध्य में भी असत्य जानिये। जो आदि, अन्त एकरस है उसको सत्य जानिये और जो आदि अन्त में नाशरूप है उसमें जिसको प्रीति है और उसके राग से जो रञ्जित है वह मूढ़ पशु है; उसको विवेक का रङ्ग नहीं लगता। मनही उपजता है और मनही बढ़ता है; सम्यक् ज्ञान के उदय हुए मन निर्वाण हो जाता है। मनरूपी संसार है और आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है। रामजी ने पूछा, हे ब्रह्मन्! जो कुछ आप कहते हैं वह मैंने जाना कि यह संसार मनरूप है और जरा मरण आदिक विकार का पात्र भी मनही है। उसके तरने का उपाय निश्चय करके कहो। हम सब रघुवंशियों के कुल के अज्ञानरूपी तम को हृदय से दूर करने को आप ज्ञान के सूर्य हैं। वशिष्ठजी

बोले, हे रामजी ! प्रथम तो जीव को विचारपूर्वक वैराग कहा है कि सन्तजनों का संग और सत्शास्त्रों से मन को निर्मल करे। जब मन को निर्मल करेगा तब स्वजनता से सम्पन्न होगा और वैराग उपजेगा। जब वैराग प्राप्त होगा तब अज्ञानवान् गुरु के निकट जावेगा और जब वह उपदेश करेंगे तब ध्यान, अर्चनादि के क्रम से परमपद को प्राप्त होगा। जब निर्मल विचार उपजता है तब अपने आपको आपसे देखता है—जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा अपने बिम्ब को आपसे देखता है। जब तक विचाररूपी तट का आश्रय नहीं लिया तब तक संसार में तृणवत् भ्रमता है और जब विचार करके ज्यों की त्यों वस्तु जानता है तब सब दुःख नष्ट हो जाते हैं। जैसे सोमजल के नीचे रेत जा रहती है तैसे ही आधी पीड़ा उसकी निवृत्त हो जाती है फिर उत्पन्न नहीं होती। जैसे जब तक सुवर्ण और राख मिली हुई है तब तक सोनार संशय में रहता है और जब सुवर्ण और राख भिन्न हो जाती है तब संशय रहित सुवर्ण को प्रत्यक्ष देखता है और तभी निःसंशय होता है; तैसे ही अज्ञान से जीवों को मोह उत्पन्न होता है और देह इन्द्रियों से मिला हुआ संशय में रहता है। जब विचार से भिन्न-भिन्न जाने तब मोह नष्ट हो और तभी संशय से रहित शुद्ध अविनाशीरूप आत्मा को देखता है। विचार किये से मोह का अवसर नहीं रहता—जैसे अज्ञानी पुरुष चिन्तामणि की क़ीमत नहीं जान सकता, जब उसको ज्ञान प्राप्त होता है तब ज्यों का त्यों जानता है और मोह संशय निवृत्त हो जाता है; तैसे ही जीव जब तक आत्मतत्त्व को नहीं जानता तब तक दुःख का भागी होता है और जब ज्यों का त्यों जानता है तब शुद्ध शान्ति को प्राप्त होता है। हे रामजी ! आत्मा देह से मिश्रित भासता है पर वास्तव में कुछ मिश्रित नहीं; इससे अपने स्वरूप में शीघ्र ही स्थित हो जावो। निर्मल स्वरूप जो आत्मा है उसको रञ्चकमात्र भी देह से सम्बन्ध नहीं—जैसे सुवर्ण कीच में मिश्रित भासता है तौ भी सुवर्ण को कीच का लेप नहीं निर्लेप रहता है तैसे ही जीव को देह से कुछ सम्बन्ध नहीं निर्लेपही रहता है—आत्मा भिन्न है; देह भिन्न है। जैसे जल और कमल भिन्न रहते हैं। मैं ऊँची भुजा करके पुकारता हूँ, मेरा कहा मूर्ख नहीं मानते कि संकल्प से रहित होना परमकल्याण है। यही भावना हृदय में क्यों नहीं करते ? जब तक जड़ धर्मी है अर्थात् विषय भोगों में आस्था करता है और आत्मतत्त्व से शून्य रहता है तबतक मूढ़ रहता है; जबतक स्वरूप का प्रमाद है तबतक हृदय से संसार का तम और किसी प्रकार दूर नहीं होता। चन्द्रमा उदय हो और अग्नि का समूह हो वा द्वादश सूर्य इकट्ठे उदय हों तो भी हृदय का तम किंचित्मात्र भी दूर नहीं होता और जब स्वरूप को जानकर आत्मा में स्थित हो तब हृदय का तम नष्ट हो जावेगा। जैसे सूर्य के उदय हुये जगत् का अन्धकार नष्ट होता है। जबतक आत्मपद का बोधनहीं होता और भोगों में मन तद्रूप है तबतक संसार समुद्र में बहे जावोगे और दुःख का अन्त न आवेगा। जैसे आकाश में धूलि भासती है परन्तु आकाश को धूलि का सम्बन्ध कुछ नहीं और जैसे जल में कमल भासता है परन्तु जल से स्पर्श नहीं करता, सदा निर्लेप रहता है; तैसे ही आत्मा देह से मिश्रित भासता है परन्तु देह से आत्मा का कुछ स्पर्श नहीं, सदा विलक्षण रहता है जैसे सुवर्ण कीच और मलसे अलेप रहता है। देह जड़ है; आत्मा उससे भिन्न है और सुख दुःख का अभिमान आत्मा में भासता है वह भ्रममात्र असत्यरूप है। जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा और नीलता असत्यरूप है तैसे ही आत्मा में सुख दुःखादि असत्यरूप हैं। सुख दुःख देह को होता है; सबसे अतीत आत्मा में सुख दुःख का अभाव है। यह अज्ञान करके कल्पित है, देह के नाश हुए आत्मा का नाश नहीं होता; इससे सुख दुःख भी आत्मा में कोई नहीं, सर्वात्मामय शान्तरूप है। यह जो विस्तृतरूप जगत् दृष्टि आता है वह मायामय है; जैसे जल में तरङ्ग और आकाश में तरवरे भासते हैं तैसे ही आत्मा में जो जगत् भासता है सो आत्मा ही है; न एक है, न दो हैं; सब आभासमात्र हैं और मिथ्यादृष्टि से आकार भासते हैं। जैसे मणि का प्रकाश मणिसे भिन्न नहीं और जैसे अपनी छाया दृष्टि आती है तैसे ही आत्मा का प्रकाशरूप जो जगत् भासता है वह सब ब्रह्मरूप है। मैं और हूँ, यह जगत् और है; इस भ्रम को त्याग करो; विस्तृतरूप ब्रह्मघनसत्ता में और कोई कल्पना नहीं। जैसे जल में तरङ्ग कुछ भिन्न वस्तु नहीं

जलरूप ही है; तैसे ही सर्वरूप आत्मा एक है, उसमें द्वितीय कल्पना कोई नहीं। जैसे अग्नि में बरफ़ के कणके नहीं होते; तैसे ही ब्रह्म में दूसरी वस्तु कुछ नहीं। इससे अपने स्वरूप की आपही भावना करो कि 'मैं चिन्मात्ररूप हूँ' "जगत्जाल सब मेराही स्वरूप है" और 'मैंही विस्तृतरूप हूँ'। जो कुछ है वह देवही है; न शोक है, न मोह है, न जन्म है, न देह है। ऐसे जानके विगतज्वर हो जावो; तुम्हारी स्थिरबुद्धि है और तुम शान्तरूप, श्रेष्ठ, मणिवत् निर्मल हो। हे राघव ! तुम निर्द्वन्द्व होकर नित्यस्वरूप में स्थित हो जावो और सत्यसंकल्प, धैर्य सहित हो, यथा प्राप्ति में बर्तो। तुम वीतराग, निर्यत्न, निर्मल, वीतकल्मष हो; न देते हो, न लेते हो; ग्रहण त्याग से रहित शान्तरूप हो। विश्वसे अतीत जो पद है उसमें प्राप्त होकर जो पाने योग्य पद है उसको पाकर परिपूर्ण समुद्रवत् अक्षोभरूप, सन्ताप से रहित बिचरो। हे रामजी ! संकल्पजाल से मुक्त और मायाजाल से रहित अपने आपसे तृप्त और विगतज्वर हो जावो। आत्मवेत्ता का शरीर अनन्त है और तुमभी आदि अन्त से रहित पर्वत के शिखरवत् विगतज्वर हो। हे रामजी ! तुम अपने आपसे उदार होकर अपने आप आनन्द से आनन्दी होवो। जैसे समुद्र और पूर्णमासी का चन्द्रमा अपने आनन्द से आनन्दवान् हैं तैसे ही तुम भी आनन्दवान् हो। यह जो प्रपञ्चरचना भासती है सो असत्य है; जो ज्ञानवान् हैं वे असत्य जानकर इसकी ओर नहीं धावते। तुम तो ज्ञानवान् हो असत्य कल्पना त्याग करके दुःख से रहित हो और नित्य, उदित, शान्तरूप, शुभगुण संयुक्त उपदेशद्वारा चक्रवर्ती होकर पृथ्वी का राज्य करो, प्रजा की पालना करो और समदृष्टि से बिचरो। बाहर से यथाशास्त्र शुभ चेष्टा करो और राज्य की मर्यादा रक्खो पर हृदय से निर्लेप रहना। तुमको त्याग और ग्रहण से कुछ प्रयोजन नहीं और ग्रहण त्याग में समदृष्टि होकर राज्य करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे प्रथमउपदेशोनाम पञ्चमस्सर्गः॥५॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जिसकी हृदय से वासना नष्ट हुई है वह पुरुष जो कार्यों में बर्तता है तौ भी मुक्त है। हमारे मत में बन्धन का कारण वासना है; जिसकी वासना क्षय हुई है वह मुक्तस्वरूप है और जिसकी वासना पदार्थों में सत्य है वह बन्ध में है। कोई पुरुष अपने पुरुषार्थ का आश्रय कर कर्तव्य भी करते हैं और प्रीति करके प्रवर्तते हैं तो वे अपनी वासना से स्वर्ग में जाते हैं और फिर स्वर्ग को त्यागकर दुःख और नरक भोगते हैं। वे अपनी वासना से बँधे हुए पशु आदिक और स्थावर योनि को प्राप्त होते हैं और कोई आत्मवेत्ता पुण्यवान् पुरुष मन की दशा को बिचारते हैं और तृष्णारूपी बन्धन को काटकर निर्मल आत्मपद को प्राप्त होते हैं। जो पुरुष पूर्वजन्मों को भोगकर इस जन्म में मुक्त होते हैं वे राजस–सात्त्विकी होते हैं। जिनका यह जन्म अन्त का होता है वे क्रम करके पूर्ण पद को प्राप्त होते हैं–जैसे शुक्लपक्ष का चन्द्रमा क्रम से पूर्णमासी का होता है और सब कलाओं से पूर्ण होता है। जैसे वर्षाकाल में कण्टक वृक्ष की मञ्जरी बढ़ जाती है तैसे ही सौभाग्य और लक्ष्मी उनकी बढ़ती जाती है। हे रामजी ! जिनका यह जन्म अन्त का होता है उनमें निर्मल गुण जो वेद ने कहे हैं अर्थात् मैत्री, सौम्यता, मुक्तता, ज्ञातव्यता और आर्यता प्रवेश करते हैं। सब जीवों पर दया करनी मैत्री है, हृदय में सदा समताभाव रहना और कोई क्षोभ न उठना मुक्तता कहाता है; सदा प्रसन्न रहना सौम्यता है; यथाशास्त्र आचार करना आर्यता है और ज्ञान का नाम ज्ञातव्यता है। जैसे राजा के अन्तःपुर में श्रेष्ठ अङ्गना आ प्रवेश करती हैं तैसे ही जिसको अन्त का यही जन्म है सो राजस–सात्त्विकी है और उसके हृदय में मैत्री आदिक सर्वगुण आ प्रवेश करते हैं। ब्रह्मज्ञानी सब कार्यों को करता है परन्तु उसके हृदय में लाभ अलाभ का राग द्वेष नहीं होता और सर्वदाकाल समभाव रहता है। वह न तोषवान् होता है और न शोकवान् होता है। जैसे सूर्य के उदय हुए तम नष्ट हो जाता है तैसे ही आत्मभाव से राग द्वेष नष्ट हो जाते हैं और सर्वगुण सिद्धता को प्राप्त होते हैं। जैसे शरत्काल का आकाश शुद्ध होता है तैसे ही वह कोमल और सुन्दर होता है और उसका मधुर आचार होता है; सब जीव उसके आचार की वाञ्छा करते हैं और उसको देखके मोहित हो जाते हैं। जैसे मेघ की ध्वनि से बगुले आ प्रवेश करते हैं तैसे ही उस पुरुष में

सब गुण प्रवेश करते हैं और गुणों से पूर्ण होकर वह गुरु की शरण जाता है। तब वह उसे विवेक का उपदेश करता है और उस विवेक से वह परमपद में स्थित होता है। हे रामजी ! जो वैराग्य और विचार से सम्पन्न चित्त है वह आत्मदेव को देखता है, उसको दुःख स्पर्श नहीं करता; वह यथार्थ एक आत्मरूप को देखता है। तुम विचार का आश्रय करके मन को जगावो ; जिसमें मनन ही मथन है अर्थात् सदा प्रपञ्च दृश्य का मननभाव करता है जो अन्त का जन्मवान् पुरुष है वह मनरूपी मृग को जगाता है। प्रथम तो साधारण गुणों से जगाता है; फिर बड़े गुणों से जगाता है और फिर जानके सेवन का यत्न करता है। वह निर्मल बुद्धि से विचार करता है; उस विचार से जगत् को आत्मरूप देखता है और आत्मा के प्रकाश (विचार) से अविद्या मल नष्ट हो जाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे क्रमोपदेशवर्णनं नाम षष्ठस्सर्गः ॥ ६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह तुमसे मैंने क्रम कहा सो वह सब जीवों को समान है इससे जो विशेष है वह तुम सुनो। इस जगत् के आरम्भ में जो देहधारी जीव हैं उन जीवों का आत्मप्रकाश से मोक्ष होता है। एक उत्तम क्रम है और एक समान क्रम है। जो गुरु के निकट जावे और वह उपदेश करे तो उस उपदेश के धारण से शनैश्शनैः एक जन्म से अथवा अनेक जन्मों से सिद्धता प्राप्त होती है और दूसरा क्रम यही है जो अपने आपसे वह उत्पन्न होता है अर्थात् समझ लेता है। जैसे वृक्ष से फल गिरे और किसी को आ प्राप्त हो तैसे ही ज्ञान प्राप्त होता है। इसी पर पूर्व का वृत्तान्त मैं तुमसे कहता हूँ सो तुम सुनो। वह महापुरुषों का वृत्तान्त है शुभ अशुभ गुणों के समूह जिनके नष्ट हुए हैं और अकस्मात् फल जिनको प्राप्त हुआ है उनका निर्मल क्रम सुनो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे क्रमसूचनानाम सप्तमस्सर्गः ॥ ७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जिसकी सब सम्पदा उदय हुई थी और सब आपदा नष्ट हुई थी; ऐसा एक उदार बुद्धि विदेहनगर का राजा जनक हुआ है। वह बड़ा धैर्यवान् था, अर्थी का अर्थ कल्पवृक्ष की नाईं पूर्ण करे; मित्ररूपी कमलों को सूर्यवत् प्रफुल्लित करे; बान्धवरूपी पुष्पों

को वसन्त ऋतुवत् और स्त्रियों को कामदेववत् था। ब्रह्मरूपी चन्द्रमुखी कमल का वह शीतल चन्द्रमा था, दुष्टरूपी तम का नाशकर्ता सूर्य था और स्वजनरूपी रत्नों का समुद्र पृथ्वी में मानों विष्णुसूर्य स्थित हुआ था ऐसा राजा जनक एक समय लीला करके अपने बाग़ में जिसमें मीठे फल लगे थे और नाना प्रकार के सुन्दर बेलों पर कोकिला शब्द करती थीं इसभाँति गया जैसे नन्दनवन में इन्द्र प्रवेश करे। उस सुन्दर वन में पुष्पों से सुगन्ध फैल रही थी। राजा अपने संग के अनुचरों को दूर त्यागकर आप अकेला कुञ्जों में बिचरने लगा। वहाँ शाल्मलीनामक एक वृक्ष था उसके नीचे राजा ने शब्द सुना कि अदृष्टसिद्ध जो विरक्त चित्त और नित्य पर्वतों में बिचरनेवाले हैं आत्मगीता का उच्चारण करते हैं जिससे आत्मबोध प्राप्त होता है। उस गीता को राजा ने सुना कि, पहला सिद्ध बोला; यह द्रष्टा जो पुरुष है और दृश्य जो जगत् है उस द्रष्टा और दृश्य के मिलाप में जो बुद्धि में निश्चित आनन्द होता है और इष्ट के संयोग और अनिष्ट के वियोग का जो आनन्द चित्त में दृढ़ होता है वह आनन्द आत्मतत्त्व से उदय होता है। उस आत्मा की हम उपासना करते हैं। दूसरा सिद्ध बोला कि द्रष्टा, दर्शन और दृश्य को वासना सहित त्याग करो। जो दर्शन से प्रथम प्रकाशरूप है और जिसके प्रकाश से यह तीनों प्रकाशते हैं उस आत्मा की हम उपासना करते हैं तीसरा सिद्ध बोला जो निराभास और निर्मल है; जिसमें मन का अभाव है; अर्थात् अद्वैतरूप है उसकी हम उपासना करते हैं। चौथा सिद्ध बोला कि जो द्रष्टा, दृश्य दोनों के मध्य में है और अस्ति नास्ति दोनों पक्षों से रहित प्रकाशरूप सत्ता है और सूर्य आदिक को भी प्रकाशता है उस आत्मा की हम उपासना करते हैं। पञ्चम सिद्ध बोला कि जो ईश्वर सकार और हकार है अर्थात् सकार जिसके आदि में है और हकार जिसके अन्त में है सो अन्त से रहित, आनन्द, अनन्त, शिव, परमात्मा सर्वजीवों के हृदय में स्थित है और निरन्तर जो अहंरूप होकर उच्चार होता है उस आत्मा की हम उपासना करते हैं। छठा सिद्ध बोला कि हृदय में स्थित जो ईश्वर है उसको त्यागकर जो और देव के पाने की

यत्न करते हैं वे पुरुष कौस्तुभमणि को त्यागकर और रत्नों की वाञ्छा करते हैं। सातवाँ सिद्ध बोला कि जो सब आशा त्यागता है उसको फल प्राप्त होता है और आशारूपी विष की बेल वह मूल संयुक्त नष्ट हो जाती है अर्थात् जन्म मरण आदिक दुःख नष्ट हो जाते हैं और फिर नहीं उपजते। जो पदार्थों को अत्यन्त विरसरूप जानता है और फिर उनमें आशा बाँधता है वह दुर्बुद्धि गर्दभ है—मनुष्य नहीं। जहाँ जहाँ विषयों की ओर दृष्टि उठती है उनको विवेक से नष्ट करो—जैसे इन्द्र ने वज्र से पर्वतों को नष्ट किया था। जब इस प्रकार शुद्ध आचरण करोगे तब समभाव को प्राप्त होगे और उससे मन उपशम आत्मपद को प्राप्त होकर अक्षय अविनाशी पद पावोगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे सिद्धगीतावर्णनं नाम अष्टमस्सर्गः ८॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! महीपति इस प्रकार सिद्धों की गीता सुनकर जैसे संग्राम में कायर विषाद को प्राप्त होता है तैसे ही विषाद को प्राप्त हुआ और सेना संयुक्त अपने गृह में आया। नौकर और सब लोग किनारे खड़े रहे और राजा उनको छोड़कर चौखण्डे पर गया और झरोखे में संसार की चञ्चल गति को इधर उधर देखकर विलाप करने लगा कि बड़ा कष्ट है कि मैं भी संसार में लोगों की चञ्चल दशा से आस्था बाँध रहा हूँ। ये तो सबजीव जड़रूप हैं, चैतन्य कोई नहीं; जैसे और जीव पाषाणरूप हैं तैसे ही मैं भी इनमें जड़रूप हो रहा हूँ। काल अन्त से रहित अनन्त है और उसके कुछ अंश में मेरा जीना है—इस जीने में मैं आस्था कर रहा हूँ। मुझको धिक्कार है कि मैं अधम चेतन हूँ। ये मेरे मन्त्री और राज्य और जीना सब क्षणभंगुर हैं। ये जो सुख हैं वे दुःखरूप हैं; इनसे रहित मैं किस प्रकार स्थित होऊँ—जैसे महापुरुष बुद्धिमान् स्थित होते हैं जीवन आदि अन्त में तुच्छरूप हैं और मध्य में पैलवरूप हैं उनमें मैंने क्या मिथ्या आस्था बाँधी है—जैसे बालक चित्र के चन्द्रमा को देख चन्द्रमा मानकर आस्था बाँधे। यह प्रपञ्चरचना इन्द्रजाल की बाजीवत् है; बड़ा कष्ट है इसमें मैं क्यों मोहित हुआ हूँ? जो वस्तु उचित, रमणीय, उदार और अकृत्रिम है वह इस संसार में रञ्चक भी नहीं; मेरी बुद्धि क्यों नष्ट हुई है। यदि पदार्थ दूर हो और उसके पाने का मेरे मन में यत्न हो तो वह प्राप्त हो ही जावेगा। यह निश्चय करो अथवा अर्थाकार जो संसार के पदार्थ हैं उनकी आस्था मैं त्यागता हूँ। ये लोग सब आगमापायी हैं अर्थात् उदय होते और मिट जाते हैं और जल के तरङ्गों के सदृश सब पदार्थ क्षणभंगुर हैं। जितने सुख दृष्टि आते हैं वे दुःख से मिश्रित हैं उनमें मैंने क्या आस्था बाँधी है। सुख कदाचित् दिन, पक्ष, मास, वर्षादिक में आते हैं और दुःख बारम्बार आते हैं; मैं किस सुख से जीने की आस्था बाँधूँ? जो बड़े बड़े हुए हैं वे सब नष्ट हो गये हैं और स्थिर कोई न रहेगा। मैं बारम्बार विचार कर देखता हूँ इससे मैंने जाना है कि इस जगत् में सत्य पदार्थ कोई नहीं—सब नाशरूप हैं। ऐसा कौन पदार्थ है कि जिसमें आस्था बाँधे? जो अब बड़े ऐश्वर्यवान् विराजते हैं सो कुछ दिन पीछे नीचे गिर पड़ेंगे। हे चित्त! बड़ा खेद है तूने किस बड़ाई में आस्था बाँधी है और मैं किसमें बँधा हुआ कलङ्कित हुआ हूँ? ऊँचे पद में स्थित होके भी मैं अधःको गिरा हूँ। बड़ा कष्ट है कि मैं आत्मा हूँ और नाश को प्राप्त होता हूँ। किस कारण अकस्मात् मुझको मोह आया है और मेरी बुद्धि को इसने उपहत किया है—जैसे सूर्य के आगे मेघ आता है और सूर्य नहीं भासता तैसे ही मुझे आत्मा नहीं भासता। भोगों से मेरा क्या है और बाँधवों से मेरा क्या है? इनमें मैं क्यों मोहित हुआ हूँ? देह अभिमान से जीव आपही बन्धायमान होता है। देह में अहंकार ही जरा मरणादिक विकारों का कारण होता है, इससे इनसे मेरा क्या प्रयोजन है। इन अर्थों में क्या बड़ाई है और राज्य में मैं क्यों धैर्य धरके बैठा हूँ। ये सब पदार्थ क्षोभ के कारण हैं और वे ज्यों के त्यों रहते हैं। इनमें न मुझको ममता है न संग है—ये सर्व असत्यरूप हैं। संसार के सुख विषरूप हैं और इनमें आस्था करनी मिथ्या है; जो बड़े-बड़े ऐश्वर्यवान् और बड़े पराक्रमी गुणवान् हुए हैं वे सब परिवारसंयुक्त मर गये हैं तो वर्तमान में क्या धैर्य करना है। कहाँ वह धन और राज और कहाँ उस ब्रह्मा का जगत्? कई पुरुषों की पंक्ति बीत गई है हमको उनमें क्या विश्वास है। देवताओं के नायक अनेक इन्द्र नष्ट हो गये

हैं—जैसे जल में बुद्बुदे उपजकर नष्ट हो जाते हैं—तो मैं क्या इस संसार में आस्था बाँधकर जीऊँगा। सन्तजन मुझको हँसेंगे; कई ब्रह्मा हो गये हैं, कई पर्वत हो गये हैं और कई धूल की कणिकावत् राजा हो गये हैं तो मुझको इस जीने में क्या धैर्य है? संसाररूपी रात्रि में देहरूपी शून्य दृष्टि स्वप्न है; उस भ्रमरूप में जो मैंने आस्था बाँधी है इससे मुझको धिकार है। यह, वह और मैं इत्यादिक भ्रम आत्मा में मिथ्या कल्पना उठी है और अज्ञानियों की नाईं मैं स्थित हुआ हूँ। अहंकाररूपी पिशाच करके क्षण क्षण में आयु व्यतीत होती है; देखते हुए भी नहीं दीखती। काल की सूक्ष्मगति है जो सबको चरण के नीचे धरे है; सदाशिव और विष्णु को जिसने खेलने का गेंद किया है और वह सबको भोजन करता है इससे मुझको जीने में क्या आस्था बाँधनी है? जितने पदार्थ हैं वे निरन्तर नाश होते हैं; कोई दिन में, कोई पक्ष में और कोई वर्ष में नष्ट हो जाता है। जो अविनाशी वस्तु है वह अब तक नहीं देखी, वर्षों व्यतीत हो गये हैं, जीवों की चित्तरूपी नदी में भोगों की तृष्णारूपी तरङ्ग उछलती है; शान्त कदाचित् नहीं होती—जैसे वायु से नदी में तरङ्ग उछलते हैं और सोमता से रहित हो जाते हैं। जिनको चित्त में भोगों की अभिलाषा है उनको अतुच्छपद दृष्टि नहीं आता और वे कष्ट से कष्ट को प्राप्त होते हैं और उन्हें दुःख से दुःखान्तर प्राप्त होता है। अब तक मैं विरक्त नहीं हुआ इससे मुझको धिक्कार है। जिसका अन्तःकरण नीच है उसने जिस जिस वस्तु में कल्याणरूप जानके आस्था बाँधी है वह नष्ट होती दीखती है। यह शरीर अस्थि-मांस से बना है और आदि अन्त संयुक्त इसका आकार है; मध्य में कुछ रमणीय भासता है परन्तु सब अपवित्र पदार्थों से रचा विनाशरूप है; स्पर्श करने के भी योग्य नहीं, उससे मुझको क्या प्रयोजन है। जिस जिस पदार्थ से लोग आस्था बाँधते हैं उस उस में मैं दुःख ही देखता हूँ और ये जीव ऐसे जड़ मूढ़ हैं कि सदा इसमें लगे रहते हैं कि कल यह पदार्थ मुझको प्राप्त होगा, अगले दिन यह मिलेगा। दिन दिन पाप करते और खेद पाते हैं तो भी त्याग नहीं करते। बालक अग्नि में पूर्ण मूढ़ता से विचरते हैं; यौवन अवस्था कामादि विकार

से मिश्रित है और शेष जो वृद्धावस्था है उसमें चित्त से दुःखी होता है तो यह जड़ मूर्ख परमार्थ कार्य को किस काल में साधेगा। ये सब जगत् के पदार्थ आगमापायी विरस हैं और विषमदशा से दूषित हैं अर्थात् एक भाव में नहीं रहते। सब जगत् असाररूप है और सत्यबुद्धि से रहित असत्यरूप है; सार पदार्थ इसमें कोई नहीं। जो राजसूय और अश्वमेध आदि यज्ञ करते हैं वे महाकल्प के किसी अंशकाल में स्वर्ग पाते हैं अधिक तो नहीं भोगते? जो अश्वमेध यज्ञ करता है वह इन्द्र होता है पर जो ब्रह्माका एकदिन होता है उसमें चतुर्दश इन्द्र राज्य भोगकर नष्ट हो जाते हैं। जब सहस्र चौकड़ी युगों की व्यतीत होती हैं तब ब्रह्मा का एक दिन होता है ऐसे तीस दिनों का एकमास और द्वादश मास का एक वर्ष होता है। सौवर्ष ब्रह्मा की आयु है उस आयु को भोगकर ब्रह्माजी भी अन्तर्धान हो जाते हैं उसका नाम महाप्रलय है। उस महाप्रलय के अन्त में इसने स्वर्ग भोग किया तो असार सुख की आस्था क्या योग्य है? ऐसा सुख स्वर्ग में कोई नहीं; न पृथ्वी में है और न पाताल में है जो आपदा और दुःख से मिश्रित न हो। सब लोक आपदा संयुक्त हैं और सब दुःखों का मूल चित्त है जो शरीररूपी बाँबी में सर्पवत् रहता है और आधि-व्याधि बड़े दुःखरूपी विष देता है। यह जब किसी प्रकार निवृत्त हो तब सुखी हो। इससे सब जीव नीच प्रकृति हो रहे हैं; कोई बिरला साधु है जिसके हृदय में चित्तरूपी सर्वभोगों की तृष्णारूप विषसंयुक्त नहीं होता। ये जगत् के पदार्थ असत्य हैं; जो रमणीय भासता है उसके मस्तक पर अरमणीयता स्थित है और जो सुखरूप है उसके मस्तक पर दुःख स्थित है जिसका मैं आश्रय करूँ वह दुःख से मिश्रित है; दुःख तो दुःख से मिश्रित क्या कहिये वह तो आपही दुःख है और जो सुख सम्पदा है सो आपदा दुःख से मिश्रित है; फिर मैं किसका आश्रय करूँ? ये जीव जन्मते और मरते हैं, इनमें कोई बिरला दुःख से रहित है। ये सुन्दर स्त्रियाँ जिनके नील कमलवत् नेत्र हैं और परम हास्य विलास आदिक भूषणों से संयुक्त हैं, इनको देखके मुझको हँसी आती है कि ये तो अस्थि-मांस की पुतली हैं और क्षणमात्र इनकी स्थिति है। जिन पुरुषों के निमेष

खोलने से जगत् होता है और उन्मेष मूँदने से जगत् का अभाव हो जाता है वे भी नष्ट हुए हैं तो हमारी क्या गिनती है ? जो पदार्थ बड़े रमणीय भासते हैं वे अस्थित रूप हैं उन पदार्थों की चिन्ता और क्या इच्छा करनी है ? नाना प्रकार की सम्पदा प्राप्त होती हैं पर इनमें जब कोई चित्त को आ लगता है तब सब सम्पदा आपदारूप हो जाती हैं और जो बड़ी आपदा आ प्राप्त होती है और चित्त में क्षोभ नहीं होता शान्तरूप है तब वे ही आपदा सम्पदारूप हैं ? इससे यही सिद्ध हुआ कि सब मन के फुरनेमात्र है। क्षण भंगुररूप मन की वृत्ति है अकस्मात् जगत् में इसकी स्थिति भई है और अज्ञान से अहं की कल्पना है उसमें त्याग और ग्रहण की भावना मिथ्या है। क्षीणरूप संसार में सुख आदि अन्तसंयुक्त है। जो सुख जानकर जीव इसकी ओर धावता है वह सुख फिर नष्ट हो जाता है—जैसे पतङ्ग दीपकशिखा को सुखरूप जानकर उसकी ओर धावता है तो दग्ध हो जाता है तैसे ही संसार के सुख ग्रहण करनेवाले तृष्णा से दग्ध हुए हैं। जैसे नरक का अग्नि दग्ध करता है पर वह भी श्रेष्ठ है परन्तु क्षणभंगुर जो संसार के सुख हैं वे महानीच हैं—नष्ट हुए भी दुःख दे जाते हैं। और दुःखों की सीमा हैं पर जो इस संसारसमुद्र में गिरते हैं वे सुख नहीं पाते। संसार में दुःख स्वाभाविक हैं और दुःख से मिश्रित है। मैं भी अज्ञानी की नाईं काष्ठलोष्ठवत् स्थित होरहा हूँ और बड़ा खेद है कि अज्ञानीवत् शमादिक सुख को त्याग करके क्षणभंगुर संसार के सुख के निमित्त यत्न करता हूँ। जैसे बरफ़ से अग्नि नहीं उपजती तैसे ही संसार से सुख नहीं उपजते; जितने जीव हैं वे जड़ धर्मात्मक हैं संसाररूपी एक वृक्ष है और सहस्रों अंकुर, शाखा, पत्र, फल, फूलों से पूर्ण है। उस संसाररूपी वृक्ष का मूल मन है उसके संकल्परूपी जल से विस्तार को प्राप्त हुआ है और संकल्प के उपशम हुए नष्ट हो जाता है। इससे जिस प्रकार यह नष्ट हो वही उपाय मैं करूँगा। संसार में भोग देखनेमात्र सुन्दर भासते हैं और भीतर से दुःखरूप हैं। मन मर्कटवत् चञ्चलरूप है, उसने यह रचना रची है। जबतक इसको वास्तव में नहीं जाना तब तक चञ्चल है और जब विचार से जानता है तब पदार्थों की रमणीयता

सहित मन का अभाव हो जाता है; इससे मैं नाशरूप पदार्थों में नहीं रमता। संसार की वृत्ति अनेक फाँसियों से मिश्रित है उसमें गिरके जीव फिर उछलते हैं और शान्त कदाचित् नहीं होते। ऐसी संसार की वृत्ति को मैंने चिरकाल पर्य्यन्त भोगा है अब मैं भोग से रहित होकर ब्रह्म ही होता हूँ। इस संसार में बारम्बार जन्म मरण होता है और शोकही प्राप्त होता है इससे अब संसार की वृत्ति से रहित हो शोक से रहित होता हूँ अब मैं प्रबुद्ध और हर्षवान् हुआ हूँ। मैंने अपने चोर आपही देखे हैं। जिसका नाम मन है इसी को मारूँगा। इस मन ने मुझको चिरपर्यन्त मारा है। इतने कालपर्यन्त मेरा मनरूपी मोती अबेध रहा था अब मैंने इसको बेधा है अर्थात् आत्मविचार से रहित था सो अब उसको आत्मविचार में लगाया है; और अब यह आत्मज्ञान के योग्य है। मनरूपी एक बरफ़ का कण जड़ता को प्राप्त हुआ था अब विवेकरूपी सूर्य से गल गया है और अब मैं अक्षय शान्ति को प्राप्त हुआ हूँ। अनेक प्रकार के वचनों से साधुरूप जो सिद्ध थे उन्होंने मुझको जगाया है और अब मैं आत्मपद को प्राप्त हुआ हूँ। परमानन्द से अब मैं आत्मरूपी चिन्तामणि को पाकर एकान्त सुखी होकर स्थित होऊँगा। जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है तैसे होऊँगा। मनरूपी शत्रु ने मुझको भ्रम दिखाया था वह अब विवेक से नाश किया है और उपशम को प्राप्त हुआ हूँ। हे विवेक ! तुझको नमस्कार है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे जनकविचारो नाम
नवमस्सर्गः ॥ ९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रकार जब राजा चिन्तन करता था तब एक दासी ने राजा के निकट आकर कहा, हे देव ! अब उठिये और दिन का उचित विचार अर्थात् स्नानादिक कीजिये। स्नानशाला में पुष्प, केसर और गङ्गाजल आदि के कलशे लेकर स्त्रियाँ खड़ी हैं और कमल पुष्प उनमें पड़े हैं जिनपर भँवरे फिरते हैं, छत्र, चमर पड़े हैं, स्नान का समय है। हे देव ! पूजन के निमित्त सब सामग्री आई है और रत्न और औषध ले आये हैं। हाथों में ब्राह्मण स्नान करके और पवित्रे डालकर

अघमर्षण जाप कर रहे हैं और आपके आगमन की राह देखते हैं। हाथों में चमर लेकर सुन्दर कान्ता तुम्हारे सेवन के निमित्त खड़ी हैं और भोजनशाला में भोजन सिद्ध हो रहा है; इससे शीघ्र उठिये और जो कार्य है वह कीजिये; जैसा काल होता है उसके अनुसार कर्म बड़े पुरुष करते हैं उनका त्याग नहीं करते। इससे काल व्यतीत न कीजिये। हे रामजी! जब इस प्रकार दासी ने कहा तब राजा ने विचारा कि संसार की जो विचित्र स्थिति है वह कितेक मात्र है। राजसुखों से मुझको कुछ प्रयोजन नहीं, यह क्षणभंगुर हैं; इस सम्पूर्ण मिथ्या आडम्बर को त्यागके मैं एकान्त जा बैठता हूँ—जैसे समुद्र तरङ्गों से रहित शान्तरूप होता है तैसे ही शान्तरूप होऊँगा। यह जो नाना प्रकार के राजभोग और क्रिया कर्म हैं उनसे अब मैं तृप्त हुआ हूँ और सब कर्मों को त्यागकर केवल सुख में स्थित होऊँगा। मेरा चित्त जिन भोगों से चञ्चल था वे भोग तो भ्रमरूप हैं इनसे शान्ति नहीं होती और तृष्णा बढ़ती जाती है। जैसे जल पर सेवाल बढ़ती जाती है और जल को ढाँप लेती है तैसे ही तृष्णा ढाँप लेती है। अब मैं इसको त्याग करता हूँ। हे चित्त! तू जिस-जिस दशा में गिरा है और जो-जो भोग भोगे हैं वे सब मिथ्या हैं; तृप्ति तो किसी से न हुइ? इससे भ्रमरूप भोगों को जब मैं त्यागूँगा तब परमसुखी होऊँगा। बहुत उचित अनुचित भोग बारम्बार भोगे हैं परन्तु तृप्ति कभी न हुई; इससे, हे चित्त! इनको त्याग करके परमपद के आश्रय हो जा। जैसे बालक एक को त्यागकर दूसरे को अङ्गीकार करता है तैसे ही यत्न विना तू भी कर। जब इन तुच्छ भोगों को त्यागेगा और परमपद का आश्रय करेगा तब आनन्दी तृप्ति को प्राप्त होगा और उसको पाकर फिर संसारी न होगा। हे रामजी! इस प्रकार चिन्तन करके जनक तूष्णी हो रहा और मन की चपलता त्याग करके सोमाकार से स्थित हुआ जैसे—मूर्ति लिखी होती है तैसे ही हो गया और प्रतिहारी भी भयभीत होकर फिर कुछ न कह सकी। इसके अनन्तर मन की समता के निमित्त फिर राजा ने चिन्तन किया कि मुझको ग्रहण और त्याग करने योग्य कुछ नहीं है; किसको मैं साधूँ और किस वस्तु में मैं धैर्य धारूँ; सब पदार्थ नाशरूप हैं मुझको करने से क्या प्रयोजन है और न करने से क्या हानि है। जो कुछ कर्तव्य है वह शरीर करता है निर्मल अचलरूप चैतन्य न करता है, न भोगता है। इससे मुझको कुछ कर्तव्य नहीं। जो त्याग करूँगा तो शरीर करने से रहित होगा और जो करूँगा तो भी शरीर करेगा, मुझको क्या प्रयोजन है? इससे करने और न करने में मुझको लाभ हानि कुछ नहीं जो कुछ प्राप्त हुआ है उसमें बिचरता हूँ अप्राप्त की मैं वाञ्छा नहीं करता और प्राप्त में त्याग नहीं करता अपने स्वरूप में स्थित होकर स्वस्थ होऊँगा और जो कुछ प्राप्त कर्म है वही करता हूँ, न कुछ मुझको करने में अर्थ है और न करने में दोष है जो क्रिया हो सो हो, करु अथवा न करु और युक्त हो अथवा अयुक्त हो मुझको ग्रहण त्याग करने योग्य कुछ नहीं। इससे जो कुछ प्राप्त करने योग्य कर्म हैं वेही करूँगा कर्म का करना प्राकृत शरीर से होता है; आत्मा को तो कुछ कर्तव्य नहीं, इससे मैं इनमें निस्संग हो रहूँगा। जो निस्पन्द चेष्टा हो तो क्या सिद्ध हुआ और क्या किया। जो मन कामना से रहित स्थित विगतज्वर हुआ अर्थात् हृदय में राग द्वेष मलीनता न उपजी तो देह से कम हो तो भी इष्ट अनिष्ट विषय की प्राप्ति में तुलना रहेगी और जो देह से मिलकर मन कर्म करता है तब कर्ता भोक्ता है और इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में राग द्वेषवान् होता है। जब मन का मनन उपशम होता है तब कर्तव्य में भी अकर्तव्य है। जैसा निश्चय हृदय में दृढ़ होता है वही रूप पुरुष का होता है; जिसके हृदय में अहंकृत नहीं है और बाहर कम चेष्टा करता है तो भी उसने कुछ नहीं किया और जिसके हृदय में अहंकृत अभिमान है वह बाहर से अकर्ता भासता है तो भी अनेक कर्म करता है। इससे जैसा निश्चय हृदय में दृढ़ होता है तैसा ही फल होता है। जो बाहर कर्ता है परन्तु हृदय में कर्तव्य का अभिमान नहीं रखता तो वह धैर्यवान् पुरुष अनामय पद को प्राप्त होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे जनकनिश्चयवर्णनन्नाम दशमस्सर्गः ॥ १० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रकार विचार के राजा यथाप्राप्त क्रिया के करने को उठ खड़ा हुआ और जो इष्ट-अनिष्ट की वासना थी वह चित्त से त्याग दी। जैसे सुषुप्तिरूप पुरुष होता है तैसे ही वह जाग्रत में हो रहा। निदान दिन को यथाशास्त्र क्रिया करे और रात्रि को लीला करके ध्यान में स्थित हो। मन को समरस कर जब रात्रि क्षीण हुई तब इस प्रकार चित्त को बोध किया कि हे चञ्चलरूप, चित्त ! परमानन्दस्वरूप जो आत्मा है वह क्या तुझको सुखदायक नहीं भासता जो इस मिथ्या संसारसुख की इच्छा करता है। जब तेरी इच्छा शान्त हो जावेगी तब तू सार सुख आत्मपद को प्राप्त होगा। ज्यों-ज्यों तू संकल्प लीला से उठाता है त्यों-त्यों संसार जाल विस्तार होता जाता है। इस दुःखरूप संसार से तुझको क्या प्रयोजन है ? हे मूर्ख, चित्त ! ज्यों-ज्यों संकल्प (इच्छा) करता है त्यों-त्यों संसार का दुःख बढ़ता जाता है। जैसे जल सींचने से वृक्ष की शाखायें बढ़ती हैं तैसे ही संसार के सुखों से परिणाम में अधिक दुःख प्राप्त होता है। ऐसे दुःखरूप भोगों की इच्छा क्यों करता है ? यह संसार चित्तजाल से उपजा है; जब तू इसका त्याग करेगा तब दुःख मिट जावेगा। फुरने का नाम दुःख है इसके मिटे से दुःख भी कोई न रहेगा। यह महाचञ्चल संसार देखने में सुन्दर है वास्तव में कुछ नहीं। जो तुझको इससे कुछ सार प्राप्त हो तो इसका आश्रय कर परन्तु यह तो क्षणभंगुर है और दुःख की खानि है; इसकी आस्था त्याग, आत्मतत्त्व का आश्रय कर और शुद्ध निर्मल होकर जगत् में विचर, तब तुझको दुःख स्पर्श न करेगा। जगत् स्थित हो अथवा शान्त हो इसके उदय अस्त की वासना से इसके गुण अवगुण में आसक्त मत हो। जो अविद्यमान असत्यरूप हो उसकी आस्था क्या करनी ? यह असत्यरूप है और तू सत्यरूप है, असत्य और सत्य का सम्बन्ध कैसे हो ? मृतक और जीते का कभी सम्बन्ध हुआ है ? जो तू कहे कि चेतनतत्त्व ही दृश्यरूप होता है तो दोनों सत्यस्वरूप हैं और विस्तृतरूप आत्मा ही हुआ तो हर्ष विषाद किसका करता है ? इससे तू मूढ़ मत हो; समुद्र की नाईं अक्षोभरूप अपने आप में स्थित हो और संसार की भावना

त्याग करके मान मोह मल को त्याग कर। इसकी इच्छा ही दुःख का कारण है; इसको त्याग करके आत्मतत्त्व में स्थित हो तब पूर्णपद को प्राप्त होगा। इसलिये बल करके इसका आश्रय करके चञ्चलता को त्याग।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे चित्तानुशास-
नन्नाम एकादशस्सर्गः ॥ ११ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रकार विचार करके राजा ने सब काम किये और आनन्दवृत्ति में उसका प्रबोधवान् मन मोह को न प्राप्त हुआ। वह इष्ट में हर्षवान् न हो और अनिष्ट में द्वेषवान् न हो केवल सम और स्वच्छ अपने स्वरूप में स्थित हुआ और जगत् में बिचरने लगा; न कुछ त्याग करे, न कुछ ग्रहण करे और न कुछ अङ्गीकार करे, केवल वीतशोक होकर सन्ताप से रहित वर्त्तमान में कार्य करे और उसके हृदय में कोई कल्पना स्पर्श न करे—जैसे आकाश को धूल की मलीनता स्पर्श नहीं करती। मलीनता से रहित अपने स्वरूप के अनुसंधान और सम्यक् ज्ञान के अनन्त प्रकाश में उसका मन निश्चलता को प्राप्त हुआ; मन की जो संकल्पवृत्ति थी वह नष्ट हो गई और महाप्रकाशरूप चेतन आत्मा अनामय हृदय में प्रकाशित हुआ। जैसे आकाश में सूर्य प्रकाशता है तैसे ही अनन्त आत्मा प्रकट हुआ और सम्पूर्ण पदार्थ उसमें प्रतिबिम्बित देखे। जैसे शुद्ध मणि में प्रतिबिम्ब भासता है तैसे ही उसने सब पदार्थ अपने स्वरूप में आत्मभूत देखे; इन्द्रियों के इष्ट अनिष्ट विषयों की प्रीति में हर्ष खेद मिट गया और सर्वदा समान हो प्रकृत व्यवहार करके जीवन्मुक्त हो विचरने लगा। हे रामजी ! जनक को ज्ञान की दृढ़ता हुई उससे लोकों के परावर को जानकर उसने विदेह नगर का राज्य किया और जीवों की पालना में हर्ष विषाद को न प्राप्त हुआ। वह संताप से रहित होकर कोई अर्थ उदय हो अथवा अस्त हो जावे परन्तु हर्ष शोक कदाचित् न करे और कार्यकर्ता दृष्टि आवे परन्तु हृदय से कुछ न करे। हे रामजी ! तैसे ही तुम भी कार्य सब करो परन्तु निरन्तर आत्मस्वरूप में स्थित रहो। तुम जीवन्मुक्त वपु हो। राजा जनक की सब पदार्थभावना अस्त हो गई थी, उसकी सुषुप्तिवत् वृत्ति हुई थी, भविष्यत् की इच्छा नहीं करता था

और व्यतीत की चिन्तना नहीं करता था। जो वर्तमान कार्य प्राप्त हो उसको यथाशास्त्र करे और अपने विचार के वश से उसने पाने योग्य पद पाया और इच्छा कुछ न की। हे रामजी! जीव आत्मपद को तभी तक नहीं प्राप्त होता जब तक हृदय में अपना पुरुषार्थरूपी विचार नहीं उपजा; जब अपने आपसे अपना विचाररूप पुरुषार्थ जागे तब सब दुःख मिट जावें और परम समता को प्राप्त हो। ऐसा पद शास्त्र अर्थ और पुण्य क्रिया से नहीं प्राप्त होता जैसा अपने हृदय में विचार करने से होता है। वह पद निर्मल और स्वच्छ है और हृदय की तपन को निवृत्त करता है। बुद्धि के विचाररूपी प्रकाश से हृदय का अज्ञान नष्ट हो जाता है; और किसी उपाय से नहीं नष्ट होता। जो बड़ा आपदारूप दुःख तरने को कठिन है वह अपनी बुद्धि से तरना सुगम होता है—जैसे जहाज़ से समुद्र को पार करता है। जो बुद्धि से रहित मूर्ख है उसको थोड़ी आपदा भी बड़ा दुःख देती है—जैसे थोड़ा पवन भी तृण को बहुत भ्रमाता है। जो बुद्धिमान् है उसको बड़ी आपदा भी दुःख नहीं देती—जैसे बड़ा वायु भी पर्वत को चला नहीं सकता। इसी कारण प्रथम चाहिये कि सन्तों का संग और सत्शास्त्रों का विचार करे और बुद्धि बढ़ावे। जब बुद्धि सत्यमार्ग की ओर बढ़ेगी तब परमबोध प्राप्त होगा—जैसे जल के सींचने और रखने से फूल फल प्राप्त होता है तैसे ही जब बुद्धि सत्यमार्ग की ओर धावती है तब परमानन्द प्राप्त होता है। जैसे शुक्लपक्ष का चन्द्रमा पूर्णमासी को बहुत प्रकाशता है; जितने जीव संसार के निमित्त यत्न करते हैं वही यत्न सत्यमार्ग की ओर करें तो दुःख से मुक्त हों और परम संपदा के भण्डार को पावें। संसाररूपी वृक्ष का बीज बुद्धि की मूढ़ता है; इससे मूढ़ता से रहित होना बड़ा लाभ है। स्वर्ग पाताल का राज आदिक जो कुछ पदार्थ प्राप्त होते हैं सो अपने प्रयत्न से मिलते हैं। संसाररूपी समुद्र के तरने को अपनी बुद्धिरूपी जहाज़ है और तप तीर्थ आदिक शुभआचार से जहाज़ चलता है। बोधरूपी पुष्पलता के बढ़ाने को दैवीसंपदा जल है उसके बढ़ने से सुन्दर फल प्राप्त होता है। जो बोध से रहित बल ऐश्वर्य से बड़ा भी है उसको तुच्छ अज्ञान नाश कर डालता है—जैसे बल से रहित

सिंह को गीदड़ हरिण भी जीत लेते हैं। इससे जो कुछ प्राप्त होता दृष्टि आता है वह अपने प्रयत्न से होता है। अपनी बोधरूपी चिन्तामणि हृदय में स्थित है उससे विवेकरूपी फल मिलता है—जैसे कल्पलता से जो माँगिये वह पाते हैं तैसे ही सब फल बोध से पाते हैं। जैसे जाननेवाला केवट समुद्र से पार करता है अजान नहीं उतार सकता तैसे ही सम्यक् बोध संसारसमुद्र से पार करता है और असम्यक् बोध जड़ता में डालता है। जो अल्प भी बुद्धि सत्यमार्ग की ओर होती है तो बड़े संकट दूर करती है—जैसे छोटी नाव भी नदी से उतार देती है हे रामजी! जो पुरुष बोधवान् है उसको संसार के दुःख नहीं बेध सकते—जैसे लोहे आदिक का कवच पहिने हो तो उसको बाण बेध नहीं सकते। बुद्धि से मनुष्य सर्वात्मपद को प्राप्त होता है, जिस पद के पाने से हर्ष, विषाद, संपदा, आपदा कोई नहीं रहती। अहंकाररूपी मेघ जब आत्मरूपी सूर्य के आगे आता है तो मायारूपी मलीनता से आत्मरूपी सूर्य नहीं भासता। बोधरूपी वायु से जब यह दूर हो तब आत्मारूपी सूर्य ज्यों का त्यों भासता है—जैसे किसान प्रथम हल आदिक से पृथ्वी को शुद्ध करता, फिर बीज बोता है और जब जल सींचता है और नाश करनेवाले पदार्थों से रक्षा करता है तब फल पाता है; तैसे ही जब आर्यवादि गुणों से बुद्धि निर्मल होती है तब शास्त्र का उपदेशरूपी बीज मिलता है और अभ्यास वैराग करके करता है उससे परमपद की प्राप्ति होती है वह अतुलपद है, उसके समान और कोई नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे प्राज्ञमहिमावर्णनं नाम
द्वादशस्सर्गः ॥ १२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार जनक की नाईं अपने आपसे आपको विचार करो और पीछे जो विदितवेद पुरुषों ने किया है उसी प्रकार तुम भी करके निर्वाण हो जाओ। जो बुद्धिमान् पुरुष हैं और जिनका अन्त का जन्म है वे राजस-सात्त्विकी पुरुष आप ही परमपद को प्राप्त होते हैं। जब तक अपने आपसे आत्मदेव प्रसन्न न हो तब तक इन्द्रीरूपी शत्रुओं के जीतने का यत्न करो और जब आत्मदेव जो सर्ववत् परमात्मा

ईश्वरों का भी ईश्वर है प्रसन्न होगा तो आपही स्वयंप्रकाश देखेगा और सब दोष दृष्टि क्षीण हो जायगी। मोहरूपी बीज को जो मुट्ठी भर भर बोता था और नाना प्रकार की आपदारूपी वर्षा से महामोह की बेलि जो होती दृष्टि आती थी वह सब नष्ट हो जाती है। जब परमात्मा का साक्षात्कार होता है तब भ्रान्तिदृष्टि नहीं आती। हे रामजी ! तुम सदा बोध से आत्मपद में स्थित हो, जनकवत् कार्यों का आरम्भ करो और ब्रह्म लक्षवान् होकर जगत् में बिचरो तब तुमको खेद कुछ न होगा। जब नित्य आत्मविचार होता है तब परमदेव आपही प्रसन्न होता है और उसके साक्षात्कार हुए से तुम चञ्चलरूपी संसारीजनों को देखकर जनक की नाईं हँसोगे। हे रामजी ! संसार के भय से जो जीव भयभीत हुए हैं उनको अपनी रक्षा करने को अपना ही प्रयत्न चाहिये और दैव अथवा कर्म वा धन, बान्धवों से रक्षा नहीं होती। जो पुरुष दैवको ही निश्चय कर रहे हैं पर शास्त्रविरुद्ध कर्म करते हैं और संकल्प विकल्प में तत्पर होते हैं वे मन्दबुद्धि हैं उनके मार्ग की ओर तुम न जाना उनकी बुद्धि नाश करती है, तुम परम विवेक का आश्रय करो और अपने आपको आपसे देखो। वैराग्यवान् शुद्ध बुद्धि से संसार समुद्र को तर जाता है। यह मैंने तुमसे जनक का वृत्तान्त कहा है—जैसे आकाश से फल गिर पड़े तैसे ही उसको सिद्धों के विचार में ज्ञान की प्राप्ति हुई। यह विचार ज्ञानरूपी वृक्ष की मञ्जरी है। जैसे अपने विचार से राजा जनक को आत्मबोध हुआ तैसे ही तुमको भी प्राप्त होगा। जैसे सूर्यमुखी कमल सूर्य को देखकर प्रसन्न होता है तैसे ही इस विचार में तुम्हारा हृदय प्रफुल्लित हो आवेगा और मन का मननभाव जैसे बरफ़ का कणका सूर्य से तप्त हो गल जाता है शान्त हो जावेगा। जब अहं आदिक रात्रि विचाररूपी सूर्य से क्षीण हो जावेगी तब परमात्मा का प्रकाश साक्षात् होगा; भेद कल्पना नष्ट हो जावेगी और अनन्त ब्रह्माण्ड में जो व्यापक आत्मतत्त्व है वह प्रकाशित होगा। जैसे अपने विचार से जनक ने अहंकाररूपी वासना का त्याग किया है तैसे ही तुम भी विचार करके अहंकाररूपी वासना का त्याग करो। अहंकाररूपी मेघ जब नष्ट होगा और चित्ताकाश निर्मल होगा तब आत्मरूपी सूर्य प्रकाशित होगा। जबतक अहंकाररूपी य आवरण है तबतक आत्मरूपी सूर्य नहीं भासता। विचाररूपी वायु जब अहंकाररूपी मेघ नाश हो तब आत्मरूपी सूर्य प्रकट भासेगा। रामजी ! ऐसे समझो कि न मैं हूँ न कोई और है; न नास्ति है; न अस्ति है; जब ऐसी भावना दृढ़ होगी तब मन शान्त हो जावेगा और योपादेय बुद्धि जो इष्ट पदार्थों में होती है उसमें न डूबोगे। इष्ट अनिष्ट ग्रहण त्याग में जो भावना होती है यही मन का रूप है और यही न्धन का कारण है—इससे भिन्न बन्धन कोई नहीं। इससे तुम इन्द्रियों के -अनिष्ट में हेयोपादेय बुद्धि मत करो और दोनों के त्यागे से जो प रहे उसमें स्थित हो। इष्ट अनिष्ट की भावना उसकी की जाती है सको हेयोपादेय बुद्धि नहीं होती और जबतक हेयोपादेय बुद्धि क्षीण हीं होती तबतक समता भाव नहीं उपजता। जैसे मेघ के नष्ट हुए विना न्द्रमा की चाँदनी नहीं भासती तैसे ही जबतक पदार्थों में इष्ट अनिष्ट द्धि है और मन लोलुप होता है तबतक समता उदय नहीं होती। बतक युक्त अयुक्त लाभ अलाभ इच्छा नहीं मिटती तबतक शुद्ध समता र निरसता नहीं उपजती। एक ब्रह्मतत्त्व जो निरामयरूप और नानात्व रहित है उसमें युक्त क्या और अयुक्त क्या ? जबतक इच्छा-अनिच्छा र वाञ्छित-अवाञ्छित यह दोनों बातें स्थित हैं अर्थात् फुरते और क्षोभ ते हैं तबतक सौम्यता भाव नहीं होता। जो हेयोपादेय बुद्धि से रहित नवान् है उस पुरुष को यह शक्ति आ प्राप्त होती है—जैसे राजा के :पुर में पट्ट (चतुर) रानी स्थित होती हैं। वह शक्ति यह है; भोगों में रसता, देहाभिमान से रहित निर्भयता, नित्यता, समता, पूर्णआत्मा-ह, ज्ञाननिष्ठा, निरिच्छता, निरहंकारता, आपको सदा अकर्ता जानना, अनिष्ट की प्राप्ति में समचित्तता, निर्विकल्पता, सदा आनन्द-रूप रहना, धैर्य से सदा एकरस रहना, स्वरूप से भिन्नवृत्ति न फुरना, जीवों से मैत्रीभाव, सत्यबुद्धि, निश्चयात्मकरूप से तुष्टता, मुदिता मृदुभाषणा; इतनी शक्ति हेयोपादेय से रहित पुरुष को आ प्राप्त ती है। हे रामजी ! संसार के पदार्थों की ओर जो चित्त धावता है

उसको वैराग्य से उलटाके खैंचना—जैसे पुल से जल के वेग का निवारण होता है तैसे ही जगत् से रोक कर मन को आत्मपद में लगाने से आत्मभाव प्रकाशता है। इससे हृदय से सब वासना का त्याग करो और बाहर से सब क्रिया में रहो। वेग चलो, श्वास लो और सर्वदा सब प्रकार चेष्टा करो, पर सर्वदा सब प्रकार की वासना त्याग करो। संसाररूपी समुद्र में वासनारूपी जल है और चिन्तारूपी सिवार है; उस जल में तृष्णावान् रूपी मच्छ फँसे हैं। यह विचार जो तुमसे कहा है उस विचाररूपी शिला से बुद्धि को तीक्ष्ण करो और इस जाल को छेदो तब संसार से मुक्त होगे। संसाररूपी वृक्ष का मूल बीज मन है। ये वचन जो कहे हैं—उनको हृदय में धरकर धैर्यवान् हो तब आधि व्याधि दुःखों से मुक्त होगे। मन से मन को छेदो; जो बीती है उसका स्मरण न करो और भविष्यत् की चिन्ता न करो, क्योंकि वह असत्यरूप है और वर्तमान को भी असत्य जानके उसमें बिचरो। जब मन से संसार का विस्मरण होता है तब मन में फिर न फुरेगा। मन में असत्यभाव जानके चलो, बैठो, श्वास लो, निश्वास करो, उछलो, सोवो, सब चेष्टा करो परन्तु भीतर सब असत्यरूप जानो तब खेद न होगा। अहं मम रूपी मलको त्याग करो प्राप्ति में बिचरो अथवा राज आ प्राप्त हो उसमें बिचरो परन्तु भीतर से इसमें आस्था न हो। जैसे आकाश का सब पदार्थों में अन्वय है परन्तु किसी से स्पर्श नहीं करता, तैसे ही बाहर कार्य करो परन्तु मन से किसी में बन्धायमान न हो तुम चेतनरूप अजन्मा महेश्वर पुरुष हो; तुम से भिन्न कुछ नहीं और सबमें व्याप रहे हो। जिस पुरुष को सदा यही निश्चय रहता है उसको संसार के पदार्थ चलायमान नहीं कर सकते और जिनको संसार में आसक्त भावना है और स्वरूप भूले हैं उनको संसार के पदार्थों से विकार उपजता है और हर्ष, शोक और भय खींचते हैं; उससे वे बाँधे हुए हैं। जो ज्ञानवान् पुरुष राग द्वेष से रहित हैं उनको लोहा, बट्टा, (ढेला) पाषाण और सुवर्ण सब एक समान है। संसार वासना के त्यागने का ही नाम मुक्ति है। हे रामजी! जिस पुरुष को स्वरूप में स्थिति हुई है और सुख दुःख में समता है

वह जो कुछ करता, भोगता, देता, लेता इत्यादिक क्रिया करता है सो करता हुआ भी कुछ नहीं करता। वह यथाप्राप्त कार्य में बर्तता है। और उसे अन्तःकरण में इष्ट अनिष्ट की भावना नहीं फुरती और कार्य में राग द्वेषवान् होकर नहीं डूबता। जिसको सदा यह निश्चय रहता है कि सर्वचिदाकाशरूप है और जो भोगों के मनन से रहित है वह समताभाव को प्राप्त होता है। हे रामजी! मन जड़रूप है और आत्मा चेतनरूप है; उसी चेतन की सत्ता से जीव पदार्थों को ग्रहण करता है इसमें अपनी सत्यता कुछ नहीं। जैसे सिंह के मारे हुए पशु को बिल्ली भी खाने जाती है, उसको अपना बल कुछ नहीं; तैसे ही चेतन के बल से मन दृश्य का आश्रय करता है, आप असत्यरूप है चेतन की सत्ता पाकर जीता है; संसार के चिन्तवन को समर्थ होता है और प्रमाद से चिन्ता से तपायमान होता है। यह वार्त्ता प्रसिद्ध है कि मन जड़ है और चेतनरूपी दीपक से प्रकाशित है। चेतन सत्ता से रहित सब समान है और आत्मसत्ता से रहित उठ भी नहीं सकता। आत्मसत्ता को भुलाकर जो कुछ फुरता है उस फुरने को बुद्धिमान् कलना कहते हैं। जब वही कलना शुद्ध चेतनरूप आपको जानती है तब आत्मभाव को प्राप्त होता है और प्रमाद से रहित आत्मरूप होता है। चित्तकला जब चैत्य दृश्य से अस्फुर होती है उसका नाम सनातन ब्रह्म होता है और जब चैत्य के साथ मिलती है तब उसका नाम कलना होता है; स्वरूप से कुछ भिन्न नहीं केवल ब्रह्मतत्त्व स्थित है और उसमें भ्रान्ति से मन आदि भासते हैं। जब चेतनसत्ता दृश्य के सम्मुख होती है तब वही कलनारूप होती है और अपने स्वरूप के विस्मरण किये से और संकल्प की ओर धावने से कलना कहाती है। वह आपको परिच्छिन्न जानती है उससे परिच्छिन्न हो जाती है और हेयोपादेय धर्मिणी होती है। हे रामजी! चित्तसत्ता अपने ही फुरने से जड़ता को प्राप्त हुई है और जबतक विचार करके न जगावे तबतक स्वरूप में नहीं जागती इसी कारण सत्य शास्त्रों के विचार और वैराग से इन्द्रियों का निग्रह करके अपनी कलना को आप जगाओ। सब जीवों की कलना विज्ञान और सम करके जगाने से ब्रह्म-

तत्त्व को प्राप्त होती है और इससे भिन्न मार्ग से भ्रमता रहता है। मोहरूपी मदिरा से जो पुरुष उन्मत्त होता है वह विषयरूपी गढ़े में गिरता है। सोई हुई कलना आत्मबोध से नहीं जगाते अप्रबोध ही रहते हैं सो चित्तकलना जड़ रहती है; जो भासती है तो भी असत्यरूप है। ऐसा पदार्थ जगत् में कोई नहीं जो संकल्प से कल्पित न हो; इससे तुम अजड़धर्मा हो जाओ। कलना जड़ उपलब्धरूपिणी है और परमार्थसत्ता से विकाशमान होती है—जैसे सूर्य से कमल विकाशमान होता है। जैसे पाषाण की मूर्ति से कहिए कि तू नृत्य कर तो वह नहीं करती क्योंकि जड़रूप है; तैसे ही देह में जो कलना है वह चेतन कार्य नहीं कर सकती। जैसे मूर्त्ति का लिखा हुआ राजा गुर गुर शब्द करके युद्ध नहीं कर सकता और मूर्त्ति का चन्द्रमा औषध पुष्ट नहीं कर सकता तैसे ही कलना जड़ कार्य नहीं कर सकती। जैसे निरवयव अङ्गना से आलिङ्गन नहीं होता; संकल्प के रचे आकाश के वन की छाया के नीचे कोई नहीं बैठता और मृगतृष्णा के जल से कोई तृप्त नहीं होता तैसे ही जड़रूप मन क्रिया नहीं कर सकता। जैसे सूर्य की धूप से मृगतृष्णा की नदी भासती है तैसे ही चित्तकलना के फुरने से जगत् भासता है। शरीर में जो स्पन्दशक्ति भासती है वही प्राणशक्ति है और प्राणों से ही बोलता, चलता, बैठता है। ज्ञानरूप संवित् जो आत्मतत्त्व है उससे कुछ भिन्न नहीं; जब संकल्पकला फुरती है तब अहं त्वं इत्यादिक कलना से वही रूप हो जाता है और जब आत्मा और प्राण का फुरना इकट्ठा होता है अर्थात् प्राणों से चेतन संवित् मिलता है तब उसका नाम जीव होता है। और बुद्धि, चित्त, मन, सब उसी के नाम हैं। सब संज्ञा अज्ञान से कल्पित होती हैं। अज्ञानी को जैसे भासती है, तैसे ही उसको है; परमार्थ से कुछ हुआ नहीं; न मन है, न बुद्धि है, न शरीर है केवल आत्मामात्र अपने आप में स्थित है—द्वैत नहीं। सब जगत् आत्मरूप है और काल क्रिया भी सब आत्मरूप है; आकाश से भी निर्मल, अस्ति, नास्ति, सब वही रूप है और द्वितीय फुरने से रहित है इस कारण है और नहीं ऐसा स्थित है और सबरूप से सत्य है।

आत्मा सब पदों से रहित है इस कारण असत्य की नाईं है और अनुभवरूप है इससे सत्य है और सब कलनाओं से रहित केवल अनुभवरूप है। ऐसे अनुभव का जहाँ ज्ञान होता है वहाँ मन क्षीण हो जाता है—जैसे जहाँ सूर्य का प्रकाश होता है वहाँ अन्धकार क्षीण हो जाता है। जब आत्मसत्ता में संवित् करके इच्छा फुरती है तो वह संकल्प के सम्मुख हुई थोड़ी भी बड़े विस्तार को पाती है; तब चित्तकला को आत्मस्वरूप विस्मरण हो जाता है; जन्मों की चेष्टा से जगत् स्मरण हो आता है और परम पुरुष को संकल्प से तन्मय होने करके चित्त नाम कहाता है। जब चित्तकला संकल्प से रहित होती है तब मोक्षरूप होता है। चित्तकला फुरने का नाम चित्त और मन कहते हैं और दूसरी वस्तु कोई नहीं। एकतामात्र ही चित्त का रूप है और सम्पूर्ण संसार का बीज मन है। संकल्प के सम्मुख हो करके चेतन संवित् का नाम मन होता है और निर्विकल्प जो चित्तसत्ता है वह जब संकल्प करके मलीन होती है तब उसको कलना कहते हैं। वही मन जब घटादिक की नाईं परिच्छिन्न भेद को प्राप्त होता है तब क्रियाशक्ति से अर्थात् प्राण और ज्ञानशक्ति से मिलता है; उस संयोग का नाम संकल्प विकल्प का कर्ता मन होता है। वही जगत् का बीज है और उसके लीन करने के दो उपाय हैं—एक तत्त्वज्ञान दूसरा प्राणों का रोकना। जब प्राणशक्ति का निरोध होता है तब भी मन लीन हो जाता है और जब सत्य शास्त्रों के द्वारा ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान होता है तो भी लीन हो जाता है। प्राण किसका नाम है और मन किसको कहते हैं? हृदयकोश से निकलकर जो बाहर जाता है और फिर बाहर से भीतर आता है वह प्राण है, शरीर बैठा है और वासना से जो देश देशान्तर भ्रमता है उसका नाम मन होता है; उसको वैराग और योगाभ्यास से वासना से रहित करना और प्राणवायु को स्थित करना ये दोनों उपाय हैं। हे रामजी! जब तत्त्वज्ञान होता है तब मन स्थिर हो जाता है, क्योंकि प्राण और चित्तकला का आपस में वियोग होता है और जब प्राण स्थित होता है तब भी मन स्थिर हो जाता है, क्योंकि प्राण स्थित हुए चेतनकला से नहीं मिलते तब मन भी स्थित हो जाता है और नहीं

रहता। मन चेतनकला और प्राण फुरने विना नहीं रहता। मन को भी अपनी सत्ताशक्ति कुछ नहीं, स्पन्दरूप जो शक्ति है वह प्राणों की है सो चलरूप जड़ात्मक है और आत्मसत्ता चेतनरूप है और वह अपने आप में स्थित है। चेतनशक्ति और स्पन्दशक्ति के सम्बन्ध होने से मन उपजा है सो उस मन का उपजना भी मिथ्या है। इसी का नाम मिथ्याज्ञान है। हे रामजी! मैंने तुमसे अविद्या जो परम अज्ञानरूप संसाररूपी विष के देनेवाली है कही है। चित्तशक्ति और स्पन्दशक्ति का सम्बन्ध संकल्प से कल्पित है; जो तुम संकल्प न उठावो तो मन संज्ञा क्षीण हो जावेगी। इससे संसार-भ्रम से भयवान् मत हो। जब स्पन्दरूप प्राण को चित्तसत्ता चेतती है तब चेतने से मन चित्तरूप को प्राप्त होता है और अपने फुरने से दुःख प्राप्त होता है जैसे बालक अपनी परछाहीं में वैताल कल्प कर भयवान् होता है। अखण्डमण्डलाकार जो चेतनसत्ता सर्वगत है उसका सम्बन्ध किस के साथ हो और अखण्डशक्ति उन्निद्ररूप आत्मा को कोई इकट्ठा नहीं कर सकता इसी कारण सम्बन्ध का अभाव है। जो सम्बन्ध ही नहीं तो मिलना किससे हो और मिलाप न हुआ तो मन की सिद्धता क्या कहिये? चित्त और स्पन्द की एकता मन कहाती है, मन और कोई वस्तु नहीं। जैसे रथ, घोड़ा, हस्ति, प्यादा इनके सिवा सेना का रूप और कुछ नहीं, तैसे ही चित्त स्पन्द के सिवा मन का रूप और कुछ नहीं—इस कारण दुष्टरूप मन के समान तीनों लोकों में कोई नहीं। जब सम्यक्ज्ञान हो तब मृतकरूप मन नष्ट हो जाता है मिथ्या अनर्थ का कारण चित्त है इसको मत धरो अर्थात् संकल्प का त्याग करो। हे रामजी! मन का उपजना मिथ्या है; परमार्थ से नहीं। संकल्प का नाम मन है इस कारण कुछ है नहीं। जैसे मृगतृष्णा की नदी मिथ्या भासती है तैसे ही मन मिथ्या है हृदयरूपी मरुस्थल है, चेतनरूप सूर्य है और मनरूपी मृगतृष्णा का जल भासता है। जब सम्यक्ज्ञान होता है तब इसका अभाव हो जाता है। मन जड़ता से निःस्वरूप है और सर्वदा मृतकरूप है उसी मृतक ने सब लोगों को मृतक किया है। यह बड़ा आश्चर्य है कि अङ्ग भी कुछ नहीं, देह भी नहीं और न आधार है, न आधेय है पर

जगत् को भक्षण करता है और विना जाल के लोगों को फँसाये है। सामग्री से बल, तेज, विभूति, हस्त पदादि रहित लोगों को मारता है; मानों कमल के मारने से मस्तक फट जाता है। जो जड़ मूक अधम हैं वे पुरुष ऐसे मानते हैं कि हम बाँधे हैं; मानों पूर्णमासी के चन्द्रमा की किरणों से जलते हैं। जो शूरमा होते हैं वे उसको हनन करते हैं। जो अविद्यमान मन है उसी ने मिथ्या ही जगत् को मारा है और मिथ्या संकल्प से उदय और स्थित हुआ है। ऐसा दुष्ट है जोकि किसी ने उसको देखा नहीं। मैंने तुमसे उसकी शक्ति कही है सो तो बड़ा आश्चर्यरूप विस्तृतरूप है, चञ्चल असत्रूप चित्त से मैं विस्मित हुआ हूँ। जो मूर्ख है वह सब आपदा का पात्र है कि मन है नहीं पर उससे वह इतना दुःख पाता है। बड़ा कष्ट है कि सृष्टि मूर्खता से चली जाती है और सब मन से तपते हैं। यह मैं मानता हूँ कि सब जगत् मूढ़रूप है और तृष्णारूपी शस्त्र से कण कण हो गया है; पैलवरूप है जो कमल से विदारण हुआ है, चन्द्रमा की किरणों से दग्ध हो गये हैं; दृष्टिरूपी शस्त्र से बेधे हैं और संकल्परूपी मन से मृतक हो गये हैं। वास्तव में कुछ नहीं, मिथ्या कल्पना ने नीच कृपण करके लोगों को हनन किया है; इससे वे मूर्ख हैं। मूर्ख हमारे उपदेश योग्य नहीं, उपदेश का अधिकारी जिज्ञासु है। जिसको स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हुआ पर संसार से उपराम हुआ है, मोक्ष की इच्छा रखता है और पदपदार्थ का ज्ञाता है वही उपदेश करने योग्य है। पूर्ण ज्ञानवान् को उपदेश नहीं बनता और अज्ञानी मूर्ख को भी नहीं बनता। मूर्ख वीणा की धुनि सुनकर भयवान् होता है और बान्धव निद्रा में सोया पड़ा है; उसको मृतक जानके भयवान् होता है और स्वप्न में हाथी को देखकर भय से भागता है। इस मन ने अज्ञानियों को वश किया है और भोगों का लव जो तुच्छ सुख है उसके निमित्त जीव अनेक यत्न करते हैं और दुःख पाते हैं। हृदय में स्थित जो अपना स्वरूप है उसको वे नहीं देख सकते और प्रमाद से अनेक कष्ट पाते हैं। अज्ञानी जीव मिथ्या ही मोहित होते हैं।

इति श्रीयोग० उपशमप्र० मननिर्वाणवर्णनं नाम त्रयोदशस्सर्गः॥१३॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! संसाररूपी समुद्र में राग द्वेषरूपी बड़े कल्लोल उठते हैं और उसमें वे पुरुष बहते हैं जो मन को मूढ़ जड़रूप नहीं जानते। उनको जो आत्मफल है सो नहीं प्राप्त होता। यह विचार और विवेक की वाणी मैंने तुमसे कही है सो तुम सरीखों के योग्य है। जिन मूढ़ जड़ों को मन के जीतने की सामर्थ्य नहीं है उनको यह नहीं शोभती और वे इन वचनों को नहीं ग्रहण कर सकते; उनको कहने से क्या प्रयोजन है ? जैसे जन्म के अन्धे को सुन्दर मञ्जरी का वन दिखाइये तो वह निष्फल होता है, क्योंकि वह देख नहीं सकता तैसे ही विवेक वाणी का उपदेश करना उनको निष्फल होता है। जो मन को जीत नहीं सकते और इन्द्रियों से लोलुप हैं उनको आत्मबोध का उपदेश करना कुछ कार्य नहीं करता। जैसे कुष्ठ से जिसका शरीर गल गया है उसको नाना प्रकार की सुगन्ध का उपचार सुखदायक नहीं होता, तैसे ही मूढ़ को आत्मउपदेशक बोध सुखदायक नहीं होता। जिसकी इन्द्रियाँ व्याकुल और विपर्यय हैं और जो मदिरा से उन्मत्त है उसको धर्म के निर्णय में साक्षी करना कोई प्रमाण नहीं करता। ऐसा कुबुद्धि और कौन है जो श्मशान में शव की मूर्ति पाकर उससे चर्चा विचार और प्रश्नोत्तर करे ! अपने हृदयरूपी बाँबी में मूकजड़ सर्पवत् मन स्थित है जो उसको निकाल डाले वह पुरुष है और जो उसको जीत नहीं सकता है उस दुर्बुद्धि को उपदेश करना व्यर्थ है। हे रामजी ! मन महातुच्छ है जो वस्तु कुछ नहीं उसके जीतने में कठिनता नहीं। जैसे स्वप्ननगर निकट होता है और चिरपर्यन्त भी स्थित है पर जागकर देखिये तो कुछ नहीं, तैसे ही मन को जो विचारकर देखिये तो कुछ नहीं। जिस पुरुष ने अपने मन को नहीं जीता वह दुर्बुद्धि है और अमृत को त्यागकर विषपान करता है और मर जाता है। जो ज्ञानी है वह सदा आत्मा ही देखता है। इन्द्रियाँ अपने-अपने धर्म में बिचरती हैं प्राण की स्पन्द शक्ति है और परमात्मा की ज्ञानशक्ति है, इन्द्रियों को अपनी शक्ति है फिर जीव किससे बन्धायमान होता है ? वास्तव में सर्वशक्ति सर्वात्मा है उससे कुछ भिन्न नहीं। यह मन क्या है ? जिसने सब जगत् नीच

किया है ? हे रामजी ! मूढ़ों को देखकर मैं दया करता और तपता हूँ कि ये क्यों खेद पाते हैं ? और वह दुःखदायक कौन है जिससे वे तपते हैं ? जैसे उष्ट्र कण्टक के वृक्षों की परम्परा को प्राप्त होता है तैसे ही मूढ़ प्रमाद से दुःखों की परम्परा पाता है। और वह दुर्बुद्धि देह पाकर मर जाता है। जैसे समुद्र में बुद्बुदे उपजकर मिट जाते हैं तैसे ही संसारसमुद्र में उपजकर वह नष्ट हो जाता है; उसका शोक करना क्या है, वह तो तुच्छ और पशु से भी नीच है ? तुम देखो कि दशो दिशाओं में पशु आदिक होते हैं और मरते हैं उनका शोक कौन करता है ? मच्छरादिक जीव नष्ट हो जाते हैं और जलचर जल में जीवों को भक्षण करते हैं उनका विलाप कौन करता है ? आकाश में पक्षी मृतक होते हैं उनका कौन शोक करता है ? इसी प्रकार अनेक जीव नष्ट होते हैं उनका विलाप कुछ नहीं होता; तैसे ही अब जो हैं उनका विलाप न करना, क्योंकि कोई स्थिर न रहेगा सब नाशरूप और तुच्छ हैं। सबका प्रतियोगी काल है और अनेक जीवों को भोजन करता है। जूँ आदिकों को मक्षिका और मच्छर आदिक खाते हैं और मक्षिका मच्छरादिकों को दादुर खाते हैं मेढ़कों को सर्प; सर्पों को नेवला; नेवले को बिल्ली; बिल्ली को कुत्ते; कुत्तों को भेड़िया; भेड़ियों को सिंह; सिंहों को सरभ और सरभ को मेघ की गर्जना नष्ट करती है। मेघ को वायु; वायु को पर्वत; पर्वत को इन्द्र का वज्र और इन्द्र के वज्र को विष्णुजी का सुदर्शनचक्र जीत लेता है और विष्णु भी अवतारों को धरके सुख दुःख जरा मरण संयुक्त होते हैं। इसी प्रकार निरन्तर भूत जाति को काल जीर्ण करता है; परस्पर जीव जीवों को खाते हैं और निरन्तर नाना प्रकार के भूत जात दशो दिशाओं में उपजते हैं। जैसे जल में मच्छ, कच्छ; पृथ्वी में कीट आदि; अन्तरिक्ष में पक्षी; वनवीथी में सिंहादिक; मृगस्थावर में पिपीलिका, दर्दुर, कीटादि; विष्ठा में कृमि और और नाना प्रकार के जीवगण इसी प्रकार निरन्तर उपजते और मिट जाते हैं। कोई हर्षवान् होता है, कोई शोकवान् होता है, कोई रुदन करता है और कोई सुख और दुःख मानते हैं। पापी पापों के दुःख से निरन्तर मरते हैं

और सृष्टि में उपजते और नष्ट होते हैं। जैसे वृक्ष से पत्ते उपजते हैं तैसे ही कितने भूत उपजकर नष्ट हो जाते हैं, उनकी कुछ गिनती नहीं। जो बोधवान् पुरुष हैं वे अपने आपसे आप पर दया करके आपको संसारसमुद्र से पार करते हैं। हे रामजी! और जितने जीव हैं वे पशुवत् हैं; मूढ़ों और पशुओं में कुछ भेद नहीं। और उनको हमारी कथा का उपदेश नहीं। वे पशुधर्मा इस वाणी के योग्य नहीं; देखनेमात्र मनुष्य हैं परन्तु मनुष्य का अर्थ उनसे कुछ सिद्ध नहीं होता। जैसे उजाड़ वन में ठूँठ वृक्ष छाया और फल से रहित किसी को विश्रामदायक नहीं होते तैसे ही मूढ़ जीवों से कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता। जैसे गले में रस्सी डालकर पशु को जहाँ खैंचते हैं वहाँ चले जाते हैं तैसे ही जहाँ चित्त खैंचता है वे वहीं चले जाते हैं। मूढ़ जीव पशुवत् विषयरूपी कीच में फँसे हैं और उससे बड़ी आपदा को प्राप्त होते हैं। उन मूढ़ों को आपदा में देखके पाषाण भी रुदन करते हैं। जिन मूर्खों ने अपने चित्त को नहीं जीता उनको दुःखों के समूह प्राप्त होते हैं और जिन्होंने चित्त को बन्धन से निकाला है वे संपदावान् हैं; उनकें सब दुःख मिटजाते हैं और वे संसार में फिर नहीं जन्मते। इससे अपने चित्त के जीते विना दुःख नष्ट नहीं होते। जो चित्त जीतने से परमसुख न प्राप्त होता तो बुद्धिमान् इसमें न प्रवर्त्तते पर बुद्धिमान् इसके जीतने में प्रवर्त्तते हैं इससे जानिये कि चित्त भी वश होता है और मनरूपी भ्रम के नष्ट हुए आत्मसुख प्राप्त होता है हे रामजी! मन भी कुछ है नहीं मिथ्याभ्रम से कल्पित है। जैसे बालक को अपनी परछाहीं में वैतालबुद्धि होती है और उससे वह भयवान् होता है तैसे ही भ्रमरूप मन से जीव नष्ट होते हैं। जबतक आत्मसत्ता का विस्मरण है तबतक मूढ़ता है और हृदय में मनरूप सर्प विराजता है; जब अपना विवेकरूपी गरुड़ उदय हो तब वे नष्ट होजाते हैं। अब तुम जागेहो और ज्यों का त्यों जानते हो। हे शत्रुनाशक, रामजी! अपने ही संकल्प से चित्त बढ़ता है। इसलिए उस संकल्प का शीघ्र ही त्याग करो तब चित्त शान्त होगा। जो तुम दृश्य का आश्रय करोगे तो बन्धन होगा और अहंकार आदिक दृश्य का त्याग करोगे तो मोक्षवान् होगे। यह गुणों का सम्बन्ध मैंने तुमसे कहा है कि दृश्य का आश्रय करना बन्धन है और इससे रहित होना मोक्ष है। आगे जैसी इच्छा हो वैसा करो। इस प्रकार ध्यान करो कि न मैं हूँ और न यह जगत् है। मैं केवल अचलरूप हूँ। ऐसे निःसंकल्प होने से आनन्द चिदाकाश हृदय में आ प्रकाशेगा। आत्मा और जगत् में जो विभाग कलना आ उदय हुई है वही मल है। इस तभाव के त्याग किये से जो शेष रहेगा उसमें स्थित हो। आत्मा और जगत् में अन्तर क्या है? द्रष्टा और दृश्य के अन्तर जो दर्शन और अनुभवसत्ता है सर्वदा उसी की भावना करो और स्वाद और अस्वाद लेनेवाले को त्यागकर उनके मध्य जो स्वादरूप है उसमें स्थित हो। वही आत्मतत्त्व है उसमें तन्मय हो जाओ। अनुभव जो द्रष्टा और दृश्य है सके मध्य में जो निरालम्ब साक्षीरूप आत्मा है उसी में स्थित हो जाओ। रामजी! संसार भाव अभावरूप है उसकी भावना को त्याग करो और भावरूप आत्मा की भावना करो वही अपना स्वरूप है। प्रपञ्चदृश्य को त्याग किये से जो वस्तु अपना स्वरूप है वही रहेगा—जो परमानन्द स्वरूप है। चित्तभाव को प्राप्त होना अनन्त दुःख है और चित्तरूपी संकल्प ही बन्धन है; उस बन्धन को अपने स्वरूप के ज्ञान युक्त बल काटो तब मुक्ति होगी। जब आत्मा को त्याग कर जगत् में गिरता है नाना प्रकार संकल्प विकल्प दुःखों में प्राप्त होता है। जब तुम आत्मा को भिन्न जानोगे तब मन दुःख के समूह संयुक्त प्रकट होगा और व्यतिरेक भावना त्यागने से सब मन के दुःख नष्ट होजावेंगे। यह सर्व आत्मा है—आत्मा से कुछ भिन्न नहीं; जब यह ज्ञान उदय हो तब चैत्य, चित्त और चेतना—तीनों का अभाव हो जावेगा। मैं आत्मा नहीं—जीव हूँ इसी कल्पना का नाम चित्त है। इससे अनेकदुःख प्राप्त होते हैं। जब यह निश्चय हुआ कि मैं आत्मा हूँ—जीव नहीं; वह सत्य है कुछ भिन्न नहीं इसीका नाम चित्त उपशम है। जब यह निश्चय हुआ कि; सब आत्मतत्त्व है आत्मा से कुछ भिन्न नहीं तब चित्त शान्त हो जाता है—इसमें कुछ संशय नहीं। इस प्रकार आत्मबोध करके मन नष्ट हो जाता है जैसे सूर्य के उदय हुए तम नष्ट

हो जाता है। मन सब शरीरों के भीतर स्थित है, जबतक रहता है तबतक जीव को बड़ा भय होता है। यह जो परमार्थयोग मैंने तुमसे कहा है इससे मन को काट डालो। जब मन का त्याग करोगे तब भय भी न रहेगा। यह चित्त भ्रममात्र उदय हुआ है। चित्तरूपी वैताल का सम्यक् ज्ञानरूपी मन्त्र से अभाव हो जाता है। हे बलवानों में श्रेष्ठ निष्पाप रामजी! जब तुम्हारे हृदयरूपी गृह में से चित्तरूपी वैताल निकल जावेगा तब तुम दुःखों से रहित और स्थित होगे और फिर तुम्हें भय उद्वेग कुछ न व्यापेगा। अब तुम मेरे वचनों से वैरागी हुए हो और तुमने मन को जीता है। इस विचार विवेक से चित्त नष्ट और शान्त हो जाता है और निर्दुःख आत्मपद को प्राप्त होता है। सब एषणा को त्याग करके शान्तरूप स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे चित्तचैत्यरूपवर्णनं
नाम चतुर्दशस्सर्गः ॥ १४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार तुम देखो कि चित्त आप विचित्ररूप है और संसाररूपी बीज की कणिका है। जीवरूपी पक्षी के बंधन का जाल संसार है। जब चित्त संवित् आत्मसत्ता को त्यागता है तब दृश्यभाव को प्राप्त होता है और जब चित्त उपजता है तब कलनारूप मल धारण करता है। वह चित्त बढ़कर मोह उपजता है, मोह संसार का कारण होता है और तृष्णारूपी विष की बोलि प्रफुल्लित होती है उससे मूर्च्छित हो जाता है और आत्मपद की ओर सावधान नहीं होता। ज्यों-ज्यों तृष्णा उदय होती है त्यों-त्यों मोह को बढ़ाती है। तृष्णारूपी श्यामरात्रि अनन्त अन्धकार को देती है; परमार्थसत्ता को ढाँप लेती है और प्रलयकाल की अग्निवत् जलाती है उसको कोई संहार नहीं सकता वह सबको व्याकुल करती है। तृष्णारूपी तीक्ष्ण खड्ग की धारा दृष्टिमात्र कोमल, शीतल और सुन्दर है, पर स्पर्श करने से नाश कर डालती है और अनेक संकट देती है। जो बड़े असाध्य दुःख हैं व जिनकी प्राप्ति बड़े पापों से होती हैं वे तृष्णारूपी फूल का फल हैं। तृष्णारूपी कुतिया चित्तरूपी गृह में सदा रहती है; क्षण में बड़े हुलास को प्राप्त होती है और क्षण में शून्यरूप हो जाती है और बड़े ऐश्वर्यसंयुक्त है।

जब मनुष्य को तृष्णा उपजती है तब वह दीन हो जाता है। जो देखने में निर्धन कृपण भासता है पर हृदय में तृष्णा से रहित है वह बड़ा ऐश्वर्यवान् है। जिसके हृदयछिद्र में तृष्णारूपी सर्पिणी नहीं पैठी उसके प्राण और शरीर स्थित हैं और उसका हृदय शान्तरूप होता है। निश्चय जानो कि जहाँ तृष्णारूपी काली रात्रि का अभाव होता है वहाँ पुण्य बढ़ते हैं–जैसे शुक्लपक्ष का चन्द्रमा बढ़ता है। हे रामजी! जिस मनुष्यरूपी वृक्ष का तृष्णारूपी घुन ने भोजन किया है उसकी पुण्यरूपी हरियाली नहीं रहती और वह प्रफुल्लित नहीं होता। तृष्णारूपी नदी में अनन्त कल्लोल आवर्त उठते हैं और तृणवत् बहती है; जीवरूपी खेलने की पुतली है और तृष्णारूपी यन्त्री को भ्रमावती है और सब शरीरों के भीतर तृष्णारूपी तागा है उससे वे पिरोये हैं और तृष्णा से मोहित हुए कष्ट पाते हैं पर नहीं समझते–जैसे हरे तृण से ढँपे हुए गढ़े को देखकर हरिण का बालक चरने जाता है और गढ़े में गिर पड़ता है। हे रामजी! ऐसा और कोई मनुष्य के कलेजे को नहीं काट सकता जैसे तृष्णारूपी डाकिनी इसका उत्साह और बलरूपी कलेजा निकाल लेती है और उससे वह दीन हो जाता है। तृष्णारूप अमङ्गल इन जीवों के हृदय में स्थित होकर नीचता को प्राप्त करती है तृष्णा करके विष्णु भगवान् इन्द्र के हेतु से अल्पमूर्ति धारकर बलि के द्वार गये और जैसे सूर्य नीति को धरकर आकाश में भ्रमता है तैसे ही तृष्णारूपी तागे से बाँधे जीव भ्रमते हैं। तृष्णारूपी सर्पिणी महाविष से पूर्ण होती है और सब जीवों को दुःखदायक है; इससे इसको दूर से त्याग करो। पवन तृष्णा से चलता है; पर्वत तृष्णा से स्थित है; पृथ्वी तृष्णा से जगत् को धरती है और तृष्णा से ही त्रिलोकी वेष्टित है निदान सब लोक तृष्णा से बाँधे हुए हैं। रस्सी से बाँधा हुआ छूटता है परन्तु तृष्णा से बँधा नहीं छूटता तृष्णावान् कदाचित् मुक्त नहीं होता; तृष्णा से रहित मुक्त होता है। इस कारण; हे राघव! तुम तृष्णा का त्याग करो सब जगत् मन के संकल्प में है उस संकल्प से रहित हो। मन भी कुछ और वस्तु नहीं है युक्ति से निर्णय करके देखो कि, संकल्प प्रमाद का

नाम मन है। जब इसका नाश हो तब सब तृष्णा नाश हो जावे अहं, त्वं, इदं इत्यादिक चिन्तन मत करो; यह महामोहमय दृष्टि है; इसको त्याग करके एक अद्वैत आत्मा की भावना करो। अनात्मा में जो आत्मभाव है वह दुःखों का कारण है। इसके त्यागने से ज्ञानवानों में प्रसिद्ध होगे। अहंभावरूपी अपवित्र भावना है उसको अपने स्वरूप शलाका की भावनारूप से काट डालो। यह भावना पञ्चम भूमिका है; वहाँ संसार का अभाव है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठेउपशमप्रकरणे तृष्णावर्णनन्नाम पञ्चदशस्सर्गः॥१५॥

रामजी ने पूछा, हे मुनीश्वर! ये आपके वचन गम्भीर और तोल से रहित हैं। आप कहते हैं कि अहंकार और तृष्णा मत करो। जो अहंकार त्यागें तो चेष्टा कैसे होगी? तब तो देह का भी त्याग हो जावेगा। जैसे वृक्ष स्तम्भ के आश्रय होते हैं। स्तम्भ के नाश हुए वृक्ष नहीं रहते तैसे ही देह को अहंकार धारण कर रहा है; उससे रहित देह गिर जावेगी, इससे मैं अहंकार को त्याग करके कैसे जीता रहूँगा? यह अर्थ मुझको निश्चय करके कहिये, क्योंकि आप कहनेवालों में श्रेष्ठ हैं। वशिष्ठजी बोले, हे कमलनयन, रामजी! सर्व ज्ञानवानों ने वासना का त्याग किया है सो दो प्रकार का है। एक का नाम ध्येयत्याग है और दूसरे का नाम नेयत्याग है। मैं यह पदार्थरूप हूँ; मैं इनसे जीता हूँ; इन विना मैं नहीं जीता और मेरे सिवा यह भी कुछ नहीं, यह जो हृदय में निश्चय है उसको त्यागकर मैंने विचार किया है कि न मैं पदार्थ हूँ और न मेरे पदार्थ हैं। ऐसी भावना करनेवाले जो पुरुष हैं उनका अन्तःकरण आत्मप्रकाश से शीतल हो जाता है और वे जो कुछ क्रिया करते हैं वह लीलामात्र है। जिस पुरुष ने निश्चय करके वासना का त्याग किया है वह सर्व क्रियाओं में सर्व आत्मा जानता है। उसको कुछ बन्धन का कारण नहीं होता; उसके हृदय में सर्व वासना का त्याग है और बाहर इन्द्रियों से चेष्टा करता है। जो पुरुष जीवन्मुक्त कहाता है उसने जो वासना का त्याग किया है उस वासना के त्याग का नाम ध्येयत्याग है और जिस पुरुष ने मनसंयुक्त देहवासना का त्याग किया है और उस वासना का भी त्याग किया है वह नेयत्याग है। नेयवासना के त्याग से विदेहमुक्त कहाता है। जिस पुरुष ने देहाभिमान का त्याग किया है; संसार की वासना लीला से त्याग की है और स्वरूप में स्थित होकर क्रिया भी करता है वह जीवन्मुक्त कहाता है। जिसकी सब वासनायें नाश हुई हैं और भीतर बाहर की चेष्टा से रहित हुआ है अर्थात् हृदय का सकल्प और बाहर की क्रिया त्यागी है उसका नाम नेयत्याग है—वह विदेहमुक्त जानो। जिसने ध्येयवासना का त्याग किया है और लीला करके कर्ता हुआ स्थित है वह जीवन्मुक्त महात्मा पुरुष जनकवत् है। जिसने नेयवासना त्यागी है और उपशमरूप हो गया है वह विदेहमुक्त होकर परमतत्त्व में स्थित है। परात्पर जिसको कहते हैं वही होता है। हे राघव! इन दोनों वासनाओं को त्यागकर ब्रह्म में लय हो जाता है। ये विगतसन्ताप उत्तमपुरुष दोनों मुक्तस्वरूप हैं और निर्मल पद में स्थित होते हैं। एक की देह स्फुरणरूप होती है और दूसरे की अस्फुर होती है। यह विदेहमुक्तरूप देह में स्थित होता है और क्रिया करता सन्ताप से रहित जीवन्मुक्त ज्ञान को धरता है और फिर दूसरी देह त्याग के विदेहपद में स्थित होता है; उसके साथ वासना और देह दोनों नहीं भासते। इससे विदेहमुक्त कहाता है। जीवन्मुक्त के हृदय में वासना का त्याग है और बाहर क्रिया करता है। जैसे समय से सुख दुःख प्राप्त होता है तैसे ही वह निरन्तर राग द्वेष से रहित प्रवर्त्तता है और सुख में हर्ष नहीं दुःख में शोक नहीं करता वह जीवन्मुक्त कहाता है। जिस पुरुष ने संसार के इष्ट अनिष्ट पदार्थों की इच्छा त्यागी है सो सब कार्य में सुषुप्ति की नाईं अचल वृत्ति है, वह जीवन्मुक्त कहाता है। हेयोपादेय, मैं और मेरा इत्यादि सब कलना जिसके हृदय से क्षीण हो गई हैं वह जीवन्मुक्त कहाता है जिसकी वृत्ति सम्पूर्ण पदार्थों से सुषुप्ति की नाईं हो गई है; जिसका चित्त सदा जाग्रत् है और जो कलना क्रियासंयुक्त भी दृष्टि आता है परन्तु हृदय से आकाशवत् निर्मल है वह जीवन्मुक्त पूजने योग्य है। इतना कहकर बाल्मीकिजी बोले कि इस प्रकार जब वशिष्ठजी ने कहा तब सूर्य भगवान् अस्त हुए; सभा के सब लोग स्नान के निमित्त परस्पर

नमस्कार करके उठे और रात्रि व्यतीत करके सूर्य उदय होते ही परस्पर नमस्कार करके यथायोग्य अपने अपने आसन पर आ बैठे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे तृष्णाचिकित्सोपदेशो
नाम षोडशस्सर्गः ॥ १६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जो पुरुष विदेहमुक्त है वह हमारी वाणी का विषय नहीं; इससे तुम जीवन्मुक्त का ही लक्षण सुनो । जो कुछ प्रकृत कर्म है उसको जो करता है परन्तु तृष्णा और अहंकार से रहित है और निरहंकार होकर विचरता है वह जीवन्मुक्त है। दृश्य पदार्थों में जिसकी दृढ़ भावना है वह तृष्णा से सदा दुखी रहता है और संसार के दृढ़ बन्धन से बन्ध कहाता है और जिसने निश्चय करके हृदय से संकल्प का त्याग किया है और बाहर से सब व्यवहार करता है वह पुरुष जीवन्मुक्त कहाता है। जो बाहर जगत् में बड़े आरम्भ करता है और इच्छासंयुक्त दृष्टि आता है पर हृदय में सब अर्थों की वासना और तृष्णा से रहित है वह मुक्त कहाता है। जिस पुरुष को भोगों की तृष्णा मिट गई है और वर्तमान में निरन्तर विचरता है वह निर्दुःख निष्कलङ्क कहाता है। हे महाबुद्धिमन् ! जिसके हृदय में इदं अहंकार निश्चय है और जो उसको धारकर संसार की भावना करता है उसको तृष्णारूप ज़ंजीर से बँधा और कलना से कलङ्कित जानो। इससे तुम, मैं और मेरा; सत् और असत्य बुद्धि संसार के पदार्थों का त्याग करो और जो परम उदार पद है सर्वदा काल उसमें स्थित हो जाओ। बन्ध, मुक्त, सत्य, असत्य की कल्पना को त्यागके समुद्रवत् अक्षोभचित्त स्थित हो ; न तुम पदार्थजाल हो; न यह तुम्हारे हैं; असत्यरूप जानके इनका विकल्प त्यागो। यह जगत् भ्रान्तिमात्र है और इसकी तृष्णा भी भ्रान्तिमात्र है; इनसे रहित आकाश की नाइ सन्मात्र तुम सत्यस्वरूप हो और तृष्णा मिथ्यारूप है। तुम्हारा और इसका क्या संग है ? हे रामजी ! जीव को चार प्रकार का निश्चय होता है और वह बड़े आकार को प्राप्त होता है। चरणों से लेकर मस्तक पर्यन्त शरीर में आत्मबुद्धि होना और माता पिता से उत्पन्न हुआ जानना; यह निश्चय बन्धनरूप है और असम्यक् दर्शन

(भ्रान्ति) से होता है। यह प्रथम निश्चय है। द्वितीय निश्चय यह है कि मैं सब भावों और पदार्थों से अतीत हूँ; बाल के अग्र से भी सूक्ष्म हूँ और साक्षीभूत सूक्ष्म से अतिसूक्ष्म हूँ। यह निश्चय शान्तिरूप मोक्ष को उपजाता है। जो कुछ जगत्जाल है वह सब पदार्थों में मैं ही हूँ और आत्मारूप मैं अविनाशी हूँ। यह तीसरा निश्चय है; यह भी मोक्षदायक है। चौथा निश्चय यह है कि मैं भी असत्य हूँ और जगत् भी असत्य है; इनसे रहित आकाश की नाईं सन्मात्र है। यह भी मोक्ष का कारण है। हे रामजी ! ये चार प्रकार के निश्चय जो मैंने तुमसे कहे हैं उनमें से प्रथम निश्चय बन्धन का कारण है और बाक़ी तीनों मोक्ष के कारण हैं और वे शुद्ध भावना से उपजते हैं। जो प्रथम निश्चयवान् है वह तृष्णारूप सुगन्ध से संसार में भ्रमता है और बाक़ी तीनों भावना शुद्ध जीवन्मुक्त विलासी पुरुष की हैं। जिसको यह निश्चय है कि सर्वजगत् मैं आत्मस्वरूप हूँ उसको तृष्णा और रागद्वेष फिर नहीं दुःख देते। अधः, ऊर्ध्व, मध्य में आत्मा ही व्यापा है और सब मैं ही हूँ, मुझसे कुछ भिन्न नहीं है; जिसके हृदय में यह निश्चय है वह संसार के पदार्थों में बन्धायमान नहीं होता। शून्य प्रकृति माया, ब्रह्मा, शिव, पुरुष, ईश्वर सब जिसके नाम हैं वह विज्ञानस्वरूप एक आत्मा है। सदा सर्वदा एक अद्वैत आत्मा मैं हूँ, द्वैतभ्रम चित्त में नहीं है और सदा विद्यमान सत्ता व्यापक रूप हूँ। ब्रह्मा से आदि तृण पर्यन्त जो कुछ जगत्जाल है वह सब परिपूर्ण आत्मतत्त्व भर रहा है—जैसे समुद्र में तरङ्ग और बुद्बुदे सब जलरूप हैं तैसे ही सब जगत्जाल आत्मरूप ही है। सत्यस्वरूप आत्मा से द्वैत कुछ वस्तु नहीं है जैसे बुद्बुदे और तरङ्ग कुछ समुद्र से भिन्न नहीं हैं और भूषण स्वर्ण से भिन्न नहीं होते तैसे ही आत्मसत्ता से कोई पदार्थ भिन्न नहीं। द्वैत और अद्वैत जो जगत्रचना में भेद है वह परमात्मा पुरुष की स्फुरण शक्ति है और वही द्वैत और अद्वैतरूप होकर भासती है। यह अपना है, यह और का है; यह भेद जो सर्वदा सबमें रहता है और पदार्थों के उपजने और मिटने में सुख दुःख भासता है उनको मत ग्रहण करो; भावरूप अद्वैत आत्मसत्ता का आश्रय करो और भ्रमद्वैत को त्याग करके

अद्वैत पूर्णसत्ता हो जाओ; संसार के जो कुछ भेद भासते हैं उनको मत ग्रहण करो इस भूमिका की भावना जो भेदरूप है वह दुःखदायी जानो। जैसे अन्धहस्ती नदी में गिरता है और फिर उछलता है तैसे ही तुम पदार्थों में मत गिरो। तुम पूर्णस्वरूप हो; महात्मा पुरुष के रागद्वेष कुछ सम्भव नहीं होते। सर्वगत आत्मा एक, अद्वैत, निरन्तर, उदयरूप और सर्वव्यापक है। एक और द्वैत से रहित भी है; सर्वरूप भी वही है और निष्किञ्चनरूप भी वही है। न मैं हूँ, न यह जगत् है, सब अविद्यारूप है; ऐसे चिन्तन करो और सबका त्याग करो। अथवा ऐसे विचारो कि ज्ञानस्वरूप सत्य असत्य सब मैं ही हूँ। तुम्हारा स्वरूप सर्व का प्रकाशक, अजर, अमर, निर्विकार, निष्प्रिय, निराकार और परम अमृतरूप है और निष्कलङ्क जीवशक्ति का जीवनरूप और सर्व कलना से रहित कारण का कारण है। निरन्तर उद्वेगरहित ईश्वर विस्तृतरूप है और अनुभव स्वरूप सबका बीज है। सबका अपना आप आत्मपद उचित स्वरूप ब्रह्म, मैं और मेरा भाव से रहित है। इससे अहं और इदं कलना को त्याग करके अपने हृदय में यह निश्चय धारो और यथाप्राप्त क्रिया करो। तुम तो अहङ्कार से रहित शान्तरूप हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे तृष्णाउपदेशो
नामसप्तदशस्सर्गः॥ १७॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जिनका हृदय मुक्तस्वरूप है उन महात्मा पुरुषों का यह स्वभाव है कि असम्यक् दृष्टि और देहाभिमान से नहीं रहते पर लीला से जगत् के कार्यों में बिचरते हैं और जीवन्मुक्त शान्तस्वरूप हैं। जगत् की गति आदि, अन्त, मध्य में विरस और नाशरूप है इससे वे शान्तरूप हैं और सब प्रकार अपना कार्य करते हैं। सब वृत्तियों में स्थित होकर उन्होंने हृदय से ध्येयवासना त्यागी है; निरालम्ब तत्त्व का आश्रय लिया है और सबमें उद्वेग से रहित सब अर्थ में सन्तुष्टरूप हैं। विवेकरूपी वन में वे सदा बिचरते हैं; बोधरूपी बाग़ीचे में स्थित हैं और सबसे अतीतपद का अवलम्बन किया है। उनका अन्तःकरण पूर्णमासी के चन्द्रमावत् शीतल भया है; संसार के पदार्थों से वे कदाचित् उद्वेगवान् नहीं होते और उद्वेग और असन्तुष्टत्व दोनों से रहित हैं। वे संसार में कदाचित् दुःखी नहीं होते। वे चाहे शत्रुओं के मध्य में होकर युद्ध करें अथवा दया वा बड़े भयानक कर्म करते दृष्टि आवें तौ भी जीवन्मुक्त हैं। संसार में वे न दुःखी होते और न किसी पदार्थ में आनन्दवान् होते हैं; न किसी में कष्टवान् होते हैं न किसी पदार्थ की इच्छा करते हैं और न शोक करते हैं; मौन में स्थित यथाप्राप्त कार्य करते हैं और संसार में दुःख से रहित सुखी होते हैं। जो कोई पूछता है तो वे यथाक्रम ज्यों का त्यों कहते हैं और पूछे विना मूकजड़ वृक्षवत् हो रहते हैं। इच्छा अनिच्छा से मुक्त संसार में दुःखी नहीं होते और सबसे हित करके और कोमल उचित वाणी से बोलते हैं। वे यज्ञादि कर्म भी करते हैं परन्तु सांसारिक कार्यों में नहीं डूबते। हे रामजी! जीवन्मुक्त पुरुष युक्त अयुक्त नाना प्रकार की उग्रदशा संयुक्त जगत् की वृत्ति को हाथ में बेल-फलवत् जानता है परन्तु परमपद में आरूढ़ होकर जगत् की गति देखता रहता है और अपना अन्तःकरण शीतल और जीवों को तप्त देखता है। वह स्वरूप में कुछ द्वैत नहीं देखता है परन्तु व्यवहार की अपेक्षा से उसकी महिमा कही है। हे राघव! जिन्होंने चित्त जीता है और परमात्मा देखा है उन महात्मा पुरुषों की स्वभाववृत्ति मैंने तुमसे कही है और जो मूढ़ हैं और जिन्होंने अपना चित्त नहीं जीता और भोगरूपी कीच में मग्न हैं; ऐसे गर्दभों के लक्षण हमसे नहीं कहते बनते। उनको उन्मत्त कहिये। उन्मत्त इस प्रकार होते हैं कि महानरक की ज्वाला स्त्री है और वे उस उल्वणनरक अग्नि के इन्धन हैं। उसी में जलते हैं और नाना प्रकार के अर्थों के निमित्त अनर्थ उत्पन्न करते हैं। भोगों की अनर्थरूप दीनता से उनके चित्त हत हुए हैं और संसार के आरम्भ से दुःखी होते हैं। नाना प्रकार के कर्म जो वे करते हैं उनके फल हृदय में धारते हैं और उन कर्मों के अनुसार सुख दुःख भोगते हैं। ऐसे जो भोग लम्पट हैं उनके लक्षण हम नहीं कह सकते। हे रामजी! ज्ञानवान् पुरुषों की दृष्टि पूर्व जो कही है उसी का तुम आश्रय करो। हृदय से ध्येयवासना को त्यागो और जीवन्मुक्त होकर जगत् में बिचरो। हृदय की संपूर्ण इच्छायें त्यागके वीत-

राग और निर्वासनिक हो रहो। बाहर सब आचारवान् होकर लोगों में बिचरो और सर्वदिशा और अवस्था को भली प्रकार विचारकर उनमें जो अतुच्छ पद है उसका आश्रय करो पर भीतर सब पदार्थों से निरस और बाहर इच्छा के संमुख हो। भीतर शीतल रहो और बाहर तपायमान हो; बाहर से सब कार्यों का आरम्भ करो और हृदय से सब आरम्भ से विवर्जित हो रहो। हे रामजी! अब तुम ज्ञानवान् हुए हो और सब पदार्थों की भावना का तुम्हें अभाव हुआ है; जैसे इच्छा हो तैसे बिचरो। जब इन्द्रियों का इष्टपदार्थ हो आवे तब कृत्रिम हर्षवान् होना और दुःख आय प्राप्त हो तब कृत्रिम शोक करना। क्रिया का आरम्भ करना और हृदय में सारभूत रहना अर्थात् बाहर क्रिया करो पर भीतर अहंकार से रहित आकाशवत् निर्मल रहो। कार्यकलना से रहित होकर जगत में बिचरो और आशारूप फाँसी से मुक्त होकर इष्ट अनिष्ट से हृदय में सम रहो और बाहर कार्य करते लोगों में बिचरो। इस चेतन पुरुष को वास्तव में न बन्ध है और न मोक्ष है; मिथ्या इन्द्रजालवत् बन्ध मोक्ष संसार का बर्तना है। सब जगत् भ्रान्तिमात्र है पर प्रमाद से जगत् भासता है। जैसे तीक्ष्ण धूप से मरुस्थल में जल भासता है तैसे ही अज्ञान से जगत् भासता है। आत्मा अबन्ध और सर्वव्यापकरूप है, उसे बन्ध कैसे हो और जो बन्ध नहीं तो मुक्त कैसे कहिये। आत्मतत्त्व के अज्ञान से जगत् भासता है और तत्त्वज्ञान से लीन हो जाता है—जैसे रस्सी के अज्ञान से सर्प भासता है और रस्सी के जाने से सर्प लीन हो जाता है। हे रामजी! तुम जो ज्ञानवान् हुए हो और अपनी सूक्ष्मबुद्धि से निरहंकार हुए हो अब आकाश की नाईं निर्मल स्थित हो रहो। जो तुम असत्यरूप हो तो संपूर्ण मित्र भ्रात भी तैसे ही हैं उनकी ममता को त्याग करो, क्योंकि जो आप ही कुछ न हुआ तो भावना किसकी करेगा और जो तुम सत्यस्वरूप हो तो अत्यन्त सत्य आत्मा की भावना करके दृश्य जगत् की कलना से रहित हो। यह जो अहं मम भोगवासना जगत् में है वह प्रमाद से भासती है और अहं मम और बान्धवों का शुभकर्म आदिक जो जगत्जाल भासता है इनसे आत्मा का कुछ संयोग नहीं तुम क्यों शोकवान् होते हो? तुम आत्मतत्त्व की भावना करो; तुम्हारा सम्बन्ध किसी से नहीं—यह प्रपञ्च भ्रममात्र है। जो निराकार अजन्मा पुरुष हो उसको पुत्र बान्धव दुःख सुख का क्रम कैसे हो? तुम स्वतः, अजन्मा, निराकार, निर्विकार हो तुम्हारा सम्बन्ध किसी से नहीं, तुम इनका शोक काहे को करते हो? शोक करने का स्थान वह होता है जो नाशरूप हो सो न तो कोई जन्मता है और न मरता है और जो जन्म मरण भी मानिये तो आत्मा उसको सत्ता देनेवाला है जो इस शरीर के आगे और पीछे भी होगा। आगे जो तुम्हारे बड़े बुद्धिमान्, सात्त्विकी और गुणवान् अनेक बान्धव व्यतीत हुए हैं उनका शोक क्यों नहीं करते? जैसे वे थे तैसे ही तो ये भी हैं? जो प्रथम थे वे अब भी हैं। तुम शान्तरूप हो; इससे मोह को क्यों प्राप्त होते हो जो सत्यस्वरूप है उसका न कोई शत्रु है और न वह नाश होता है। जो तुम ऐसे मानते हो कि मैं अब हूँ आगे न हूँगा तो भी वृथा शोक क्यों करते हो? तुम्हारा संशय तो नष्ट हुआ है; अपनी प्रकृति में हर्ष शोक से रहित होकर बिचरो और संसार के सुख दुःख में समभाव रहो। परमात्मा व्यापकरूप सर्वत्र स्थित है और उससे कुछ भिन्न नहीं। तुम आत्मा आनन्द आकाशवत् स्वच्छ विस्तृत और नित्य शुद्ध प्रकाशरूप हो जगत् के पदार्थों के निमित्त क्यों शरीर सुखाते हो? सर्व पदार्थ जाति में एक आत्मा व्यापक है—जैसे मोती की माला में एक तागा व्यापक होता है तैसे ही आत्मा अनुस्यूत है; ज्ञानवानों को सदा ऐसे ही भासता है और अज्ञानियों को ऐसे नहीं भासता। इससे ज्ञानवान् होकर तुम सुखी रहो। यह जो संसरणरूप संसार भासता है वह प्रमाद से सारभूत हो गया है। तुम तो ज्ञानवान् और शान्तबुद्धि हो। दृश्य भ्रममात्र संसार का क्या रूप है? भ्रम और स्वप्नमात्र से कुछ भिन्न नहीं। स्वप्न में जो क्रम और जो वस्तु है; सब मिथ्या ही है तैसे ही यह संसार है। सर्वशक्त जो सर्वात्मा है उसमें जो भ्रममात्र शक्ति है उससे यह संसारमाया उठी है, सो सत्य नहीं है। वास्तव में पूछो तो केवल ज्ञानस्वरूप एक आत्मसत्ता ही स्थित है। जैसे सूर्य प्रकाशता है तो उसको न किसी से विरोध है और न किसी से स्नेह है, तैसे ही

वह सर्वरूप, सर्वत्र, सर्वदा सबका ईश्वर है। उस सत्ता का आभास संवेदन स्फूर्ति है और उससे नानारूप जगत् भासता है और भिन्न भिन्नरूप निरन्तर ही उत्पन्न होते हैं। जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजते हैं तैसेही देहधारी जैसी वासना करता है उसके अनुसार जगत् में उपजकर बिचरता और चक्र की नाईं भ्रमता है। स्वर्ग में स्थित जीव नरक में जाते हैं और जो नरक में स्थित हैं वे स्वर्ग में जाते हैं; योनि से योन्यन्तर और द्वीप से द्वीपान्तर जाते हैं और अज्ञान से धैर्यवान् कृपणता को प्राप्त होता है और कृपण धैर्य को प्राप्त होता है। इसी प्रकार भूत उछलते और गिरते हैं और अज्ञान से अनेक भ्रम को प्राप्त होते हैं पर आत्मसत्ता एकरूप, स्थित, स्थिर, स्वच्छ और अपने आपमें अचल है और दुःख, भ्रम उसमें कोई नहीं। जैसे अग्नि में बर्फ़ का कणका नहीं पाया जाता तैसे ही जो आत्मसत्ता में स्थित है उसको दुःख क्लेश कोई नहीं होता। उसका हृदय जो शीतल रहता है सो आत्मसत्ता की बड़ाई है। संसार की यही दशा है कि जो बड़े २ ऐश्वर्य से सम्पन्न दृष्टि आते थे वे कितनेक दिन पीछे नष्ट होते देखे हैं। तुम और मैं इत्यादिक भावना आत्मा में मिथ्याभ्रम से भासती हैं। जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है तैसे ही ये बान्धव हैं, ये अन्य हैं यह मैं हूँ इत्यादिक मिथ्यादृष्टि तुम्हारी अब नष्ट हुई है। संसार की जो विचारदृष्टि है जिससे जीव नष्ट होते हैं उसे मूल से काटकर तुम जगत् में क्रिया करो। जैसे ज्ञानवान् जीवन्मुक्त संसार में बिचरते हैं तैसे ही बिचरो—भारवाहक की नाईं भ्रम में न पड़ना। जहाँ नाश करनेवाली वासना उठे वहाँ यह विचार करो कि यह पदार्थ मिथ्या है तब वह वासना शान्त हो जावेगी। यह बन्ध है, यह मोक्ष है, यह पदार्थ नित्य है इत्यादिक गिनती लघुचित्त में उठती हैं, उदारचित्त में नहीं उठतीं। उदारचित्त जो ज्ञानवान् पुरुष हैं उनके आचरण के बिचारने में देहदृष्टि नष्ट हो जावेगी। ऐसे बिचारो कि जहाँ मैं नहीं वहाँ कोई पदार्थ नहीं और ऐसा पदार्थ कोई नहीं जो मेरा नहीं; इस विचार से देहदृष्टि तुम्हारी नष्ट हो जावेगी। ऐसे ज्ञानवान् पुरुष संसार के किसी पदार्थ से उद्वेगवान् नहीं होते और किसी पदार्थ के अभाव हुए आतुर भी नहीं होते। वे चिदाकाशरूप सबको सत्य और स्थितरूप देखते हैं; आकाश की नाईं आत्मा को व्यापक देखते हैं और भाई, बान्धव भूतजात को अत्यन्त असत्यरूप देखते हैं। नाना प्रकार के अनेक जन्मों में भ्रम से अनेक बान्धव हो गये हैं—वास्तव में त्रिलोकी और बान्धवों में भी बान्धव वही है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे जीवन्मुक्तवर्णनंनामाष्टादशस्सर्गः१८॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रसंग पर एक पुरातन इतिहास है जो बड़े भाई ने छोटे भाई से कहा है सो सुनो। इसी जम्बूद्वीप के किसी स्थान में महेन्द्र नाम एक पर्वत है वहाँ कल्पवृक्ष था और उसकी छाया के नीचे देवता और किन्नर आकर विश्राम करते थे। उस पर्वत के बड़े शिखर बहुत ऊँचे थे और ब्रह्मलोकपर्यन्त गये थे जिन पर देवता सामवेद की ध्वनि करते थे। किसी ओर जल से पूर्ण बड़े मेघ बिचरते थे, कहीं पुष्प से पूर्ण लता थीं, कहीं जल के झरने बहते थे और कन्दरा के साथ उछलते मानों समुद्र के तरङ्ग उठते थे, कहीं पक्षी शब्द करते थे, कहीं कन्दरा में सिंह गर्जते थे, कहीं कल्प और कदम्ब वृक्ष लगे थे, कहीं अप्सरागण बिचरती थीं, कहीं गङ्गा का प्रवाह चला जाता था और किसी स्थान में महासुन्दर रमणीय रत्नमणि बिराजते थे। वहाँ गङ्गा के तट पर एक उग्र तपस्वी स्त्रीसंयुक्त तप करता था और उसके महासुन्दर दो पुत्र थे। जब कुछ काल व्यतीत हुआ तो पुण्यक नामक पुत्र ज्ञानवान् हुआ पर पावन अर्धप्रबुद्ध और लोलुप अवस्था में रहा। जब कालचक्र के फिरते हुए कई वर्ष व्यतीत हुए तो उस दीर्घतपस्वी का शरीर जर्जरीभूत हो गया और उसने शरीर की क्षणभंगुर अवस्था देखकर चित्त की वृत्ति देह से विरक्त अर्थात् विदेह होने की इच्छा की। निदान दीर्घतपा की पुर्यष्टका कलनारूप शरीर को त्यागती भई और जैसे सर्प कञ्चुकी को त्याग दे तैसे ही पर्वत की कन्दरा में जो आश्रय था उसमें उसने शरीर को उतार दिया और कलना से रहित अचैत्य चिन्मात्र ऐसा स्वरूप में स्थित हुआ और राग द्वेष से रहित जो पद है उसमें प्राप्त हुआ। जैसे धूम्र आकाश में जा स्थित हो तैसे ही चिदाकाश में स्थित हुआ। तब मुनीश्वर की स्त्री ने भर्ता का शरीर प्राणों से रहित

देखा और जैसे दण्ड से कमल काटा हो तैसे ही चित्त विना शरीर देखती भई। निदान चिरपर्यन्त योगकर्म कर उसने अपना शरीर प्राण और पवन को वश करके त्याग दिया और जैसे भवँरा कमलिनी को त्यागे तैसे ही शरीर त्यागकर भर्ता के पद को प्राप्त हुई। जैसे आकाश में चन्द्रमा अस्त होता है और उसकी प्रभा उसके पीछे अदृष्ट होती है तैसे ही दीर्घतपा की स्त्री दीर्घतपा के पीछे अदृष्ट हुई। जब दोनों विदेह मुक्त हुए तब पुण्य जो बड़ा पुत्र था उनके दैहिककर्म में सावधान होकर कर्म करने लगा, पर पावन माता पिता विना दुःख को प्राप्त हो शोक करके उसका चित्त व्याकुल हो गया और वनकुञ्जों में भ्रमने लगा। पुण्य जो माता पिता की देहादिक क्रिया करता था जहाँ पावन शोक से विलाप करता था आया और भाई को शोकसंयुक्त देखकर पुण्य ने कहा, हे भाई! शोक क्यों करते हो जो वर्षाकाल के मेघवत् आँसुओं का प्रवाह चला जाता है? हे बुद्धिमन्! तुम किसका शोक करते हो? तुम्हारे पिता और माता तो आत्मपद को प्राप्त हुए हैं जो मोक्षपद है। वही सब जीवों का स्थान है और ज्ञानवानों का स्वरूप है। यद्यपि सबका अपना आप स्वरूप एक ही है पर तौ भी ज्ञानवान् को इस प्रकार भासता है और अज्ञानी को ऐसे नहीं भासता। वे तो ज्ञानवान् थे और अपने स्वरूप में प्राप्त हुए हैं उनका शोक तुम किस निमित्त करते हो? यह क्या भावना तुमने की है? संसार में जो शोक मोक्षदायक है वह तू नहीं करता और जो शोक करने योग्य नहीं वह करता है। न वह तेरी माता थी; न वह तेरा पिता था और न तू उनका पुत्र है; कई तेरे माता पिता हो गये हैं और कई पुत्र हो गये हैं; असंख्यबार तू उनका पुत्र हुआ है और असंख्य पुत्र उन्होंने उत्पन्न किये हैं और अनेक पुत्र, मित्र, बान्धवों के समूह तेरे जन्म जन्म के बीत गये हैं। जैसे ऋतु ऋतु में बड़े वृक्षों की शाखाओं में फल होते और नष्ट हो जाते हैं तैसे ही जन्म होते हैं; तू काहे को पिता माता के स्नेह में शोक करता है? जो तेरे सहस्रों माता पिता होकर बीत गये हैं उनका शोक काहे को नहीं करता जो तू इस जन्म के बान्धवों का शोक करता है तो उनका भी शोककर!

हे महाभाग! जो प्रपञ्च तुझको दृष्ट आता है वह जाग्रत्भ्रम है; परमार्थ में न कोई जगत् है, न कोई मित्र है और न कोई बान्धव है। जैसे मरुस्थल में बड़ी नदी भासती है परन्तु उसमें जल का एक बूँद भी नहीं होता तैसे ही वास्तव में जगत् कुछ नहीं। बड़े बड़े लक्ष्मीवान् जो छत्र चामरों से सम्पन्न शोभते हैं वे विपर्यय होंगे क्योंकि, यह लक्ष्मी तो चञ्चलस्वरूप है कोई दिनों में अभाव हो जाती है। हे भाई! तू परमार्थ दृष्टि से विचार देख, न तू है और न जगत् है; यह दृश्य भ्रान्तिरूप है इसको हृदय से त्याग। इसी माया दृष्टि से बार बार उपजता और बिनशता है। यह जगत् अपने संकल्प से उपजा है, इसमें सत्पदार्थ कोई नहीं। अज्ञानरूपी मरुस्थल में जगत्रूपी नदी है और उसमें शुभ अशुभरूपी तरङ्ग उपजते और फिर नष्ट हो जाते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे पावनबोधवर्णनं
नामैकोनविंशतितमस्सर्गः ॥ १६ ॥

पुण्य बोले, हे भाई! तेरे कई माता और कई पिता हो होकर मिट गये हैं। जैसे वायु से धूल के कणके उड़ते हैं तैसे ही बान्धव हैं; न कोई मित्र है; और न कोई शत्रु है सम्पूर्ण जगत् भ्रान्तिरूप है और उसमें जैसी भावना करती है; तैसे ही हो भासती है। बान्धव, मित्र, पुत्र आदिकों में जो स्नेह होता है सो मोह से कल्पित है और अपने मन से माता पितादिक संज्ञा कल्पी है। जगत् प्रपञ्च में जैसी संज्ञा कल्पता है तैसे ही हो भासती है; जहाँ बान्धव की भावना होती है वहाँ बान्धव भासता है और जहाँ और की भावना होती है वहाँ और ही हो भासता है। जो अमृत में विष की भावना होती है तो अमृत भी विष हो जाता है सो कुछ अमृत में विष नहीं भावनारूप भासता है; तैसे ही न कोई बान्धव है और न कोई शत्रु है, सर्वदा काल विद्यमान एक सर्वगत सर्वात्मा पुरुष स्थित है उसमें अपने और और की कल्पना कोई नहीं और जो कुछ देहादि हैं वे रक्त मांसादि के समूह से रचे हैं उनमें अहंसत्ता कौन है और अहंकार, चित्त, बुद्धि और मन कौन है? परमार्थदृष्टि से यह तो कुछ नहीं है, विचार किये से न तू है, न मैं हूँ, यह सब मिथ्या ज्ञान से भासते हैं। एक अनन्त चिदाकाश आत्मसत्ता सर्वदा है उसमें

तेरी माता कौन है और पिता कौन है, यह सब मिथ्याभ्रम से भासता है, वास्तव में कुछ नहीं। शरीर से देखिये तो जो कुछ शरीर है वह पञ्चतत्त्वों से रचा जड़रूप है, उसमें चैतन्य एकरूप है और अपना और पराया कौन है। इस भ्रमदृष्टि को त्याग के तत्त्व का विचार करो; मिथ्या भावना करके माता पिता के निमित्त क्यों शोकवान् हुए हो? जो सम्यक्दृष्टि का आश्रय करके उस स्नेह का शोक करते हो तो और जन्मों के बान्धव और मित्रों का शोक क्यों नहीं करते? अनेक पुष्पों और लताओं में तू मृगपुत्र हुआ था, उस जन्म के तेरे अनेक मित्र बान्धव थे उनका शोक क्यों नहीं करता? अनेक कमलों संयुक्त तालाब में हाथी बिचरते थे वहाँ तू हाथी का पुत्र था; उन हस्ति बान्धवों का शोक क्यों नहीं करता? एक बड़े वन में वृक्ष लगे थे और तेरे साथ फल पत्र हुए थे और अनेक वृक्ष तेरे बान्धव थे, उनका शोक क्यों नहीं करता? फिर नदी तालाब में तुम मच्छ हुए थे और उसमें मच्छयोनि के बान्धव थे। उनका शोक क्यों नहीं करता? दशार्णवदेश में तू काक और वानर हुआ; तुषार्णदेश में तू राजपुत्र हुआ और फिर वनकाक हुआ, बङ्गदेश में तू हाथी हुआ; बिराजदेश में तू गर्दभ हुआ; मालवदेश में सर्प और वृक्ष हुआ और बङ्गदेश में गृद्ध हुआ; मालवदेश के पर्वत में पुष्पलता हुआ और मन्दराचल पर्वत में गीदड़ हुआ; कोशलदेश में ब्राह्मण हुआ; बङ्गदेश में तीतर हुआ; तुषारदेश में घोड़ा हुआ; कीट अवस्था में हुआ; एक नीच ग्राम में बछरा हुआ और पन्द्रह महीने वहाँ रहा, एक वन में तड़ाग था वहाँ कमलपुष्प में भ्रमरा हुआ और जम्बूद्वीप में तू अनेक बार उत्पन्न हुआ है। हे भाई! इस प्रकार वासनापूर्वक वृत्तान्त मैंने कहा है। जैसी तेरी वासना हुई है तैसे तूने जन्म पाये हैं। मैं सूक्ष्म और निर्मलबुद्धि से देखता हूँ कि ज्ञान विना तूने अनेक जन्म पाये हैं। उन जन्मों को जानके तू किस किस बान्धव का शोक करेगा और किसका स्नेह करेगा? जैसे वे बान्धव थे तैसे ही यह भी जान लो। मेरे भी अनेक बान्धव हुए हैं; जिन जिनमें मैंने जन्म पाया है और जो जो बीत गये हैं तैसे ही सब मेरे स्मरण में आते हैं और अब मुझको अद्वैत ज्ञान हुआ है। हे भाई! त्रिरागदेश में मैं तोता हुआ; तड़ाग के तट पर हंस हुआ; पक्षियों में काक हुआ; बेल हुआ; बङ्गदेश में वृक्ष हुआ; इस वन पर्वत में बड़ा उष्ट्र होकर बिचरा; पौंड्रदेश में राजा हुआ और सह्याचल पर्वत की कन्दरा में भेड़िया हुआ जहाँ तू मेरा बड़ा भाई था। फिर मैं दश वर्ष मृग होकर रहा; पाँच महीने तेरा भाई होकर मृग रहा सो तेरा बड़ा भ्राता हूँ। इस प्रकार ज्ञान से रहित वासना कर्म के अनुसार कितने जन्मों में हम भ्रमते फिरे हैं। मैंने तुझसे सब कहा है और सब मुझको स्मरण है। इस प्रकार जगत्जाल की स्थिति मैंने तुझसे कही है। तेरे और मेरे अनेक जन्म के माता, पिता, भाई और मित्र हुए हैं उनका शोक तू क्यों नहीं करता? यह संसार दुःख सुखरूप अप्रमाण भ्रमरूप है, इस कारण सबको त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ। यह सब प्रपञ्च भ्रान्तिरूप हैं; इनकी वासना त्याग जब अहंकार वासना को त्याग करोगे तब उस पद को प्राप्त होगे जहाँ ज्ञानवान् प्राप्त होते हैं। इससे, हे भाई! यह जो जीवभाव अर्थात् जन्म, मरण, ऊर्ध्व जाना और फिर गिरना व्यवहार है उसमें बुद्धिमान् शोकवान् नहीं होते; वे दुःख की निवृत्ति के अर्थ अपना स्वरूप स्मरण करते हैं जो भाव, अभाव और जरा मरण विना नित्य शुद्ध परमानन्द हैं। तू उसको स्मरणकर, और मूढ़ मत हो; तुझको न सुख है, न दुःख है; न जन्म है, न मरण है; न माता है, न पिता है, तू तो एक अद्वैतरूप आत्मा है और किसी से सम्बन्ध नहीं रखता, क्योंकि कुछ भिन्न नहीं है, हे साधो! यह जो नाना प्रकार का संसार विषय संयुक्त यन्त्र है इसको अज्ञानरूप नटुआ ग्रहण करता है और इष्ट अनिष्ट से बन्धायमान होता है। जो आत्मदर्शी पुरुष हैं उनको कुछ क्रिया स्पर्श नहीं करती; वे केवल सुखरूप हैं और जो अज्ञानी हैं वे देह इन्द्रियों के गुणों में तद्रूप हो जाते हैं और इष्ट अनिष्ट से सुखदुःख के भोक्ता होते हैं। जो ज्ञानवान् पुरुष हैं वे देखनेवाले साक्षीभूत होते हैं; करते हुए भी अकर्तारूप हैं और इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में राग द्वेष से रहित हैं। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब आ पड़ता है परन्तु दर्पण भले बुरे रङ्ग से रञ्जित नहीं

होता तैसे ही ज्ञानवान् राग द्वेष से रञ्जित नहीं होता। सब इच्छा और भय कलना से रहित स्वच्छ आत्मसत्ता सदा प्रफुल्लितरूप है और पुत्र, कलत्र, बान्धवों के स्नेह से रहित है और उसका हृदयकमल सर्व इच्छा और अहं मम से रहित अपने स्वरूप में सन्तुष्टवान् होता है। इससे मिथ्या देहादिकों की भावना को त्यागकर अपने नित्य, शुद्ध, शान्त और परमानन्दस्वरूप में तू भी स्थित हो। तू तो परब्रह्म और निर्मलरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे पावनबोधोनाम विंशतितमस्सर्गः २०॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब इस प्रकार पुण्य ने पावन से बोध उपदेश किया तब पावन बोधवान् हुआ। तब दोनों ज्ञान के पारगामी और निरिच्छित आनन्दित पुरुष होकर चिरकाल पर्यन्त बिचरते रहे और फिर दोनों विदेहमुक्त निर्वाण पद को प्राप्त हुए। जैसे तेल से रहित दीपक निर्वाण हो जाता है तैसे ही प्रारब्ध कर्म के क्षीण हुए दोनों विदेहमुक्त हुए। हे रामजी! इसी प्रकार तू भी जान। जैसे वे मित्र, बान्धव, धनादिक के स्नेह से रहित होकर बिचरे तैसे ही तुम भी स्नेह से रहित होकर बिचरो और जैसे उन्होंने विचार किया था तैसे ही तुम भी करो। इस मिथ्यारूप संसार में किसकी इच्छा करे और किसका त्याग करे; ऐसे विचारकर अनन्त इच्छा और तृष्णा का त्याग करना, यही औषध है; तृष्णारूपी इच्छा का पालना औषध नहीं; क्योंकि पालने से पूर्ण कदाचित् नहीं होती। जो कुछ जगत् है वह चित्त से उत्पन्न हुआ है और चित्त के नष्ट हुए संसार-दुःख नष्ट हो जाता है। जैसे काष्ठ के पाने से अग्नि बढ़ता जाता है और काष्ठ से रहित शान्त हो जाता है तैसे ही चित्त की चिन्तना से जगत् विस्तार पाता है और चिन्तना से रहित शान्त हो जाता है। हे रामजी! ध्येय वासनावान् त्यागरूपी रथ पर आरूढ़ होकर रहो; करुणा, दया और उदारता संयुक्त होकर लोगों में बिचरो और इष्ट अनिष्ट में राग द्वेष से रहित हो। यह ब्रह्मस्थित मैंने तुमसे कही। निष्काम, निर्दोष और स्वस्थरूप को पाकर फिर मोह को नहीं प्राप्त होता। परम आकाश ही इसका हृदयमात्र विवेक है और बुद्धि इसकी सखी है जिनके निकट विवेक और बुद्धि है वे परमव्यवहार करते भी संकट

को नहीं प्राप्त होते; इससे तुम परम विवेक और बुद्धि का संग लेकर जगत् में बिचरोगे तब संकट और दुःख से मोहित न होगे। नाना प्रकार के दुःख, संकट, स्नेह आदिक विकाररूप जो समुद्र है उसके तरने के निमित्त एक अपना धैर्यरूपी बेड़ा है और कोई उपाय नहीं सो धैर्य क्या है—दृश्य जगत् से वैराग्य और सत् शास्त्र का विचार। इन श्रेष्ठ गुणों के अभ्यास से आत्मपद की प्राप्ति होती है। वह आत्मपद त्रिलोकी के ऐश्वर्यरूपी रत्नों का भण्डार है। जो त्रिलोकी के ऐश्वर्य से भी नहीं प्राप्त होता। वह वैराग्य, विचार, अभ्यास और चित्त के स्थिर करने से होता है। जब तक मनुष्य जगत् कोष में उपजता है और मन तृष्णारूपी ताप से रहित नहीं होता तब तक कष्ट है और जब आत्मविवेक से मन पूर्ण होता है तब सब जगत् अमृतरूप भासता है। जैसे जूती के पहिरने से सब पृथ्वी चर्म से वेष्टितसी हो जाती है तैसे ही पूर्णपद इच्छा और तृष्णा के त्यागने से पाता है। जैसे शरद्काल का आकाश मेघों से रहित निर्मल होता है तैसे ही इच्छा से रहित पुरुष निर्मल होता है। जिन पुरुषों के हृदय में आशा फुरती है उनके वश हुए चित्त शून्य हो जाता है और जैसे अगस्त्य मुनि ने समुद्र को पान किया था तब समुद्र जल से रहित हो गया था तैसे ही आत्मजल से रहित समुद्रवत् चित्त शून्य हो जाता है। जिस पुरुष के चित्तरूपी वृक्ष में तृष्णारूपी चञ्चल मर्कटी रहती है उसको वह स्थिर होने नहीं देती और सदा शोभायमान होती है और जिसका चित्त तृष्णा से रहित है उस पुरुष को तीनों जगत् कमल की कली के समान हो जाते हैं, योजनों के समूह गोपदवत् सुगम हो जाते हैं और महाकल्प अर्ध निमेषवत् हो जाता है। हे रामजी! चन्द्रमा और हिमालय पर्वत भी ऐसा शीतल नहीं और केले का वृक्ष और चन्दन भी ऐसा शीतल नहीं जैसा शीतलचित्त तृष्णा से रहित होता है। पूर्णमासी का चन्द्रमा और क्षीरसमुद्र भी ऐसा सुन्दर नहीं और लक्ष्मी का मुख भी ऐसा नहीं जैसा इच्छा से रहित मन शोभायमान हो जाता है। जैसे चन्द्रमा की प्रभा को मेघ ढाँप लेता है और शुद्ध स्थानों को अपवित्र लेपन मलीन करता है तैसे ही अहंतारूप पिशाचिनी

पुरुषों को मलीन करती है। चित्तरूपी वृक्ष के बड़े बड़े टास दिशा विदिशा में फैल रहे हैं सो आशारूप हैं, जब विवेकरूपी कुल्हाड़े से उनको काटेंगे तब अचित पद की प्राप्ति होगी और तभी एक स्थानरूपी चित्त रहेगा अविवेक और अधैर्य तृष्णा शाखा संयुक्त हैं उनकी अनेक शाखा फिर होंगी इसलिये आत्मधैर्य को धरो कि चित्त की वृद्धि न हो। उत्तम धैर्य करके जब चित्त नष्ट हो जावेगा तब अविनाशी पद प्राप्त होगा। हे रामजी! उत्तम हृदय क्षेत्र में जब चित्त की स्थिति होती है तब आशारूपी दृश्य नहीं उपजने देती केवल ब्रह्मरूप शेष रहता है। जब तुम्हारा चित्त वृत्ति से रहित अचितरूप होगा तब मोक्षरूप विस्तृत पद प्राप्त होगा। चित्तरूपी उलूक पक्षी की तृष्णारूपी स्त्री है। ऐसा पक्षी जहाँ बिचरता है तहाँ अमङ्गल फैलाता है। जहाँ उलूक पक्षी बिचरते हैं वहाँ उजाड़ होता है विवेकादि जिससे रहित हो गये हैं ऐसे चित्त की वृत्ति से तुम रहित हो रहो। ऐसे होकर बिचरोगे तब अचिन्त्य पद को प्राप्त होगे। जैसी जैसी वृत्ति फुरती है तैसा ही तैसा रूप जीव हो जाता है; इस कारण चित्त उपशम के निमित्त तुम वही वृत्ति धरो जिससे आत्मपद की प्राप्ति हो। हे महात्मा पुरुष! जिसको संसार के पदार्थों की इच्छा और ईर्षणा उपशम हुई है और जो भाव अभाव से मुक्त हुआ है वह उत्तमपद पाता है और जिसका चित्त आशारूपी फाँसी से बाँधा है वह मुक्त कैसे हो? आशा संयुक्त कदाचित् मुक्त नहीं होता और सदा बन्धायमान रहता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे तृष्णाचिकित्सोपदेशोनामैकविंशतितमस्सर्गः ॥ २१ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मैंने जो तुमको उपदेश किया है उस को बुद्धि से विचारो! रामजी बोले, हे भगवन्! सर्वधर्मों के वेत्ता! तुम्हारे प्रसाद से जो कुछ जानने योग्य था वह मैंने जाना; पाने योग्य पद पाया और निर्मल पद में विश्राम किया, भ्रमरूपी मेघ से रहित शरत्काल के आकाशवत् मेरा चित्त निर्मल हुआ है; मोहरूपी अहंकार नष्ट हो गया है; अमृत से हृदय पूर्णमासी के चन्द्रवत् शीतल हुआ है और संशयरूपी मेघ नष्ट हो गया है, परन्तु आपके वचनरूपी अमृत को पान करता मैं तृप्त नहीं होता। जिस प्रकार बलि को विज्ञानबुद्धि भेद प्राप्त हुआ है, बोध की वृद्धि के निमित्त वह मुझसे ज्यों का त्यों कहिये। नम्रभूत शिष्यप्रति कहते हुए बड़े खेद नहीं मानते। वशिष्ठजी बोले, हे राघव! बलि का जो उत्तम वृत्तान्त है वह मैं कहता हूँ सुनो; उससे निरन्तर बोध प्राप्त होगा। हे रामजी! इस जगत् के नीचे पाताल है। वह स्थान महाक्षीर समुद्र की नाईं सुन्दर उज्ज्वल है और वहाँ कहीं महासुन्दर नागकन्या बिराजती हैं; कहीं विषधर सर्प, जिनके सहस्रशीश हैं बिराजते हैं; कहीं दैत्यों के पुत्र रहते और कट कट शब्द करते हैं; कहीं सुन्दर सुख के स्थान हैं; कहीं जीवों के परंपरा समूह नरकों में जलते हैं और कहीं दुर्गन्ध के स्थान हैं। सात पाताल हैं उन सबमें जीव स्थित हैं कहीं रत्नों से खचित स्थान हैं; कहीं कपिलदेवजी, जिनके चरण कमलों पर देवता और दैत्य शीश धरते हैं, बिराजते हैं और कहीं सुगन्धित बाग लगे हैं। ऐसी दो भुजाओं से पाली हुई पृथ्वी में दानवों में श्रेष्ठ विरोचन का पुत्र राजा बलि रहता था जिसने सर्व देवताओं और विद्याधरों और किन्नरों को लीला करके जीता था और त्रिलोकी अपने वश की थी। सब देवताओं का राजा इन्द्र उसके चरण सेवन की वाञ्छा करता है; त्रिलोकी में जो जाति-जाति के रत्न हैं वे सब उसके विद्यमान रहते हैं और सब शरीरों की रक्षा करने और भावना के धर्मों के धरनेवाले विष्णुदेव द्वारपाल हैं। ऐरावत हाथी जिसके गण्डस्थल से मद झरता है उसकी वाणी सुन ऐसा भयवान् होता है जैसे मोर की वाणी सुनकर सर्प भयवान् होता है उसका ऐसा तेज था जैसे सप्तसमुद्रों का जल कुहीड़ शोष लेती है और जैसे प्रलयकाल के द्वादश सूर्यों से समुद्र सूखने लगता है। उसने ऐसे यज्ञ करे जिसके क्षीर घृत की आहुति का धुवाँ मेघ बादल होकर पर्वतों पर बिराजा। जिस की दृढ़ दृष्टि देखकर कुलाचल पर्वत भी नम्रीभूत होता था। जैसे फूलों से पूर्णलता नमती है तैसे ही लीला करके उसने भुवनों को विस्तार सहित जीता और त्रिलोकी को जीतकर दशकोटि वर्ष पर्यन्त राजा बलि

राज्य करता रहा। राजा बलि ने युगों के समूह व्यतीत हुए देखे थे और अनेक देवता और दैत्य भी उपजते मिटते अनेक बार देखे थे। त्रिलोकी के अनेक भोग भी उसने भोगे थे। निदान उनसे उद्वेग पाकर सुमेरु के शिखर पर एक ऊँचे झरोखे में अकेला जा बैठा और संसार की स्थिति की चिन्तना करने लगा कि इस बड़े चक्रवर्त्ती राज्य से मुझको क्या प्रयोजन है? यद्यपि त्रिलोकी का राज्य बड़ा है तौ भी इसमें आश्चर्य क्या है। इसमें मैं चिरकाल भोग भोगता रहा हूँ परन्तु शान्ति न हुई। ये भोग उपजकर फिर नष्ट हो जाते हैं, इन भोगों से मुझे शान्ति सुख प्राप्त नहीं हुआ पर बारम्बार मैं वही कर्म और वही व्यवहार करता हूँ और दिन रात्रि वही क्रिया करने में लज्जा भी नहीं आती। वही स्त्री आलिङ्गन करनी, फिर भोजन करना; पुष्पों की शय्या पर शयन करना और क्रीड़ा करनी; ये कर्म बड़ों को लज्जा के कारण हैं। वही निरस व्यवहार फिर करना जो एक बार निरस हुआ और उस काल में तृप्त करता है; फिर बारम्बार दिन दिन करते हैं। यह मैं मानता हूँ कि यह काम बुद्धिमानों को हँसने योग्य और लज्जा का कारण है। जीवों के चित्त में वृथा संकल्प विकल्प उठते हैं—जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजते और मिटते हैं तैसे ही यह संकल्प और इच्छा जाल जो उठते और मिटते हैं सो उन्मत्त की नाईं जीवों की चेष्टा है। यह तो हँसी करने योग्य बालकों की लीला है और मूर्खता से अनर्थ फैलाती है। इसमें जो कुछ बड़ा उदार फल हो वह मैं नहीं देखता बल्कि इसमें भोगों से भिन्न कार्य कुछ नहीं मिलता, इसलिये जो कुछ इससे रमणीय और अविनाशी हो उसको शीघ्र ही चिन्तन करूँ। ऐसे विचार कर कहने लगा कि मैंने प्रथम भगवान् विरोचन से पूछा था। मेरा पिता विरोचन आत्मतत्त्व का ज्ञाता था और सब लोकों में गया था। उससे मैंने प्रश्न किया था कि हे भगवन्, महात्मन्! जहाँ सब दुःखों और सुखों का अन्त हो जाता है और सब भ्रम शान्त हो जाता है वह कौन स्थान है? वह पद मुझसे कहिये जहाँ मन का मोह नष्ट हो जाता है; सब इच्छा से मुक्त होता है और रागद्वेष से रहित जिसमें सर्वदा विश्राम होता है फिर कुछ क्षोभ नहीं रहता।

हे तात! वह कौन पद है जिसके पाने से और कुछ पाना नहीं रहता और जिसके देखे से और कुछ देखना नहीं रहता? यद्यपि जगत् के अत्यन्त भोग पदार्थ हैं तो भी सुखदायक नहीं भासते हैं, क्योंकि क्षोभ करते हैं और उनसे योगिश्वरों के मन भी मोहित होकर गिर पड़ते हैं। हे तात! जो सुख सुन्दर विस्तीर्ण आनन्द है वह मुझसे कहिये। उसमें स्थित हुआ मैं सदा विश्राम पाऊँगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे विरोचनवर्णनं नाम
द्वाविंशतितमस्सर्गः ॥ २२ ॥

विरोचन बोले, हे पुत्र! एक अति विस्तीर्ण विपुल देश है उसमें अनेक सहस्र त्रिलोकियाँ भासती हैं। वहाँ समुद्र, जल, धारा, पर्वत, वन, तीर्थ, नदियाँ, तालाब, पृथ्वी, आकाश, नन्दनवन, पवन, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्यलोक, देश, देवता, दैत्य, यक्ष, राक्षस, कमलों की शोभा, काष्ठ, तृण, चर, अचर, दिशा, ऊर्ध्व, अधः, मध्य, प्रकाश, तम, अहं, विष्णु, इन्द्र, रुद्रादिक नहीं हैं; केवल एक ही है—जो महान्ता नाना प्रकार प्रकाश को धरनेवाला है; सबका कर्ता, सर्वव्यापक है और सर्वरूप तूष्णींभाव से स्थित है। उसने सब मन्त्रियों सहित एक मन्त्री संकल्प किया। वह मन्त्री जो न बने उसको शीघ्र ही बना लेता है और जो बने उसको न बनाने को भी समर्थ है वह आपसे कुछ नहीं भोगता और सब जानने को समर्थ है। केवल राजा के अर्थ वह सब कार्यों को करता है। यद्यपि वह आप अज्ञ है तौ भी राजा के बल से तनुता से ज्ञाता और कार्य करता है। यह सब कार्यों को करता है और उसका राजा एकता में केवल अपने आप में स्थित है। बलि ने पूछा, हे प्रभो! आधि-व्याधि दुःखों से रहित जो प्रकाशवान् है वह देश कौन है, उसकी प्राप्ति किस साधन से होती है और आगे किसने पाया है? ऐसा मन्त्री कौन है और वह महाबली राजा कौन है जो जगत् जाल संयुक्त हमने भी नहीं जीता? हे देव! यह अपूर्व आख्यान तुमने कहा है जो आगे मैंने नहीं सुना था। मेरे हृदय आकाश में संशयरूपी बादल उदय हुआ है सो वचनरूपी पवन से निवृत्त करो। विरोचन बोले, हे पुत्र! उस देश का मन्त्री

भगवान् और अनेक कल्प के देवता और असुरगणों से वश नहीं होता; सहस्रनेत्र जो इन्द्र है उसके वश भी नहीं होता; यम, कुबेर उसे वश कर नहीं सकते और देवता और असुरों से भी जीता नहीं जाता। मुसल, वज्र, चक्र, गदादिक खड्ग उस पर चलाये कुण्ठित हो जाते हैं–जैसे पाषाण पर चलाने से कमल कुण्ठित हो जाते हैं। वह मन्त्री अस्त्र और शस्त्र से वश नहीं होता और बड़े युद्धकर्मों से भी नहीं पाया जाता। देवता और दैत्य सबको उसने वश किया है; विष्णु पर्यन्त देवता और हिरण्यकशिपु आदिक असुर उसने डाल दिये हैं। जैसे प्रलयकाल का पवन सुमेरु के कल्पवृक्ष को गिरा देता है। प्रमाद से इस त्रिलोकी को वशकर चक्रवर्त्ती राजावत् वह स्थित है और सुर असुरों के समूह उससे भासते हैं। यद्यपि वह गुह्य और गुणहीन है तौ भी दुर्मति, दुष्ट अहंकार और क्रोध उससे उदय होते हैं। देवता और दैत्यों के समूह फिर फिर उपजाता है सो इसकी क्रीड़ा है। ऐसा मन्त्रों से संयुक्त मन्त्री है। हे पुत्र! जब उसके राजा को वश कीजिये तब उसके मन्त्री को वश करना सुगम होता है। राजा को वश किये विना मन्त्री वश नहीं होता; कभी भीतर रहता है कभी बाहर जाता है। जिस काल में राजा की इच्छा होती है कि मन्त्री अपने को जीते तब यत्न विना जीत लेता है। वह ऐसा बली मल्ल है जिससे तीनों जगत् उल्लास को प्राप्त हुए हैं। वह मन्त्री मानों सूर्य है जिसके उदय होने से त्रिलोकीरूपी कमलों की खानि विकाश को प्राप्त होती है और जिसके लय होने से जगत्रूपी कमल लय हो जाते हैं। हे पुत्र! यदि उसके जीतने की तुझको शक्ति है तब तो तू पराक्रमवान् है और यदि मोह से रहित एकत्र बुद्धि हो उनमें से एक को जीत सकेगा तब तू धैर्यवान् है और तेरी सुन्दर वृत्ति है, क्योंकि उसके जीतने से जो नहीं जीता उस पर भी जीत पाता है और जो उसको नहीं जीता पर और और लोक सब जीते हैं तौ भी जीते अजीत हो जावेंगे। इस कारण जो तू अनन्त सुख चाहता है तो जो नित्य अविनाशी है उसके जीतने के निमित्त यत्न से स्थित हो और बड़े कष्ट और चेष्टा करके भी उसको वश कर। देवता, दैत्य, यक्ष, मनुष्य, महासर्प और किन्नरों संयुक्त अतिबली हैं तौ भी सब ओर से यत्न करने से वश होते हैं। इससे उसको वश कर।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे बलिवृत्तान्तविरोचनगाथानाम त्रयोविंशतितमस्सर्गः॥ २३॥

बलि ने पूछा, हे भगवन्! किस उपाय से वह जीता जाता है और ऐसा महावीर्यवान् मन्त्री कौन है और राजा कौन है? यह वृत्तान्त सब मुझसे शीघ्र ही कहिये कि उपाय करूँ। विरोचन बोले, हे पुत्र! स्थित हुआ भी त्यागने योग्य है। ऐसा मन्त्री जिस उपाय से जीतिये सो भली प्रकार कहता हूँ तू सुन। उस युक्ति के ग्रहण करने से शीघ्र ही वश होता है; युक्ति विना वश नहीं होता। जैसे बालक को युक्ति से वश करते हैं तैसे ही जो पुरुष युक्ति से उस मन्त्री को वश करता है उसको राजा का दर्शन होता है। और उससे परमपद पाता है। जब राजा का दर्शन होता है तब मन्त्री वश हो जाता है और उस मन्त्री के वश करने से फिर राजा का दर्शन होता है। जब तक राजा को न देखा तब तक मन्त्री वश नहीं होता और जब तक मन्त्री को वश नहीं किया तब तक राजा का दर्शन नहीं होता। राजा के देखे विना मन्त्री का जीतना कठिन है और मन्त्री के जीते विना राजा को देखना कठिन है। इस कारण दोनों का इकट्ठा अभ्यास कर। राजा का दर्शन और मन्त्री का जीतना अपने पुरुष प्रयत्न और शनैः शनैः अभ्यास से होता है और दोनों के सम्पादन से मनुष्य शुभता को प्राप्त होता है। जब तू अभ्यास करेगा तब उस देश को प्राप्त होगा; यह अभ्यास का फल है। हे दैत्यराज! जब उसको पावेगा तब रञ्चक भी शोक तुझको न रहेगा और सब यत्नों से शान्त होकर नित्य प्रफुल्लित और प्रसन्न रहेगा। जो साधुजन हैं वे सब संशयों से रहित उस देश में स्थित होते हैं। हे पुत्र! सुन, वह देश अब मैं तुझसे प्रकट करके कहता हूँ। देश नाम मोक्ष का है जहाँ सब दुःख नष्ट हो जाते हैं और राजा उस देश का आत्म भगवान् है जो सब पदों से अतीत है। उस महाराजा ने मन्त्री मन को किया है सो मन परिणाम को पाकर सर्व ओर से विश्वरूप हुआ है। जैसे मृत्तिका का पिण्ड घट-

भाव को प्राप्त होता है और जैसे धूम्र बादल को धरता है तैसे ही मन ने विश्वरूप धरा है। उस मन को जीते से सब विश्व पर जीत पाता है। मन का जीतना कठिन है परन्तु युक्ति से वश होता है। बलि ने पूछा, हे भगवन्! उस मन के वश करने की युक्ति मुझसे कहिये। विरोचन बोले, हे पुत्र! शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के रस की सर्वदा सब ओर से आस्था त्यागनी अर्थात् नाशवन्त और भ्रमरूप जानना, यही मन के जीतने की परम युक्ति है। मनरूपी हाथी विषयरूपी मद से मस्त है वह इस युक्ति से शीघ्र ही दमन हो जाता है। यह युक्ति कठिन है और अति दुःख से प्राप्त होती है परन्तु अभ्यास से सुलभ ही प्राप्त हो जाती है। ब्रह्म के अभ्यास किये से और विरक्तता से यह युक्ति सब ओर से प्रकट होती है—जैसे रसवान् पृथ्वी से लता उपजती हैं तैसे ही जो जो शठ जीव हैं वे इसकी वाञ्छा करते हैं परन्तु अभ्यास विना उन्हें नहीं प्राप्त होती और अभ्यासवान् को प्रकट होती है। इससे तुम भी अभ्यास सहित युक्ति का आश्रय करो। जब तक विषयों से विरक्तता नहीं उपजती तब तक संसाररूपी वन के दुःखों में भ्रमता है पर विषयों से विरक्तता अभ्यास विना किसी को नहीं प्राप्त होती। जैसे अभ्यास विना नहीं पहुँचता तैसे ही जब आत्मा ध्येय को पुरुष निरन्तर धरता है तब अभ्यासवान् की वृत्ति विषयों में अप्रीत होती है। जैसे जल के अभ्यास से बेल को सींचते हैं तब लता वृद्धि होती है; ऐसे ही पुरुषार्थ से सब कार्यों की प्राप्ति होती है; अन्यथा नहीं होती। यह निश्चय किया है कि जो क्रिया आपही करिये उसका फल अवश्य प्राप्त होता है। वही पुरुषार्थ कहाता है। जो अवश्य होना है उसकी जो नीति है वह दूर नहीं होती उसे ही दैवशब्द कहिये वा नीति कहिये पर अपने ही पुरुषार्थ का फल पाता है—जैसे मरुस्थल में भ्रम से जल भासता है और सम्यक्ज्ञान से भ्रम निवृत्त हो जाता है। इस दैव और नीति को अपने पुरुषार्थ से जीतो। जैसा पुरुषार्थ से संकल्प दृढ़ करता है तैसा ही भासता है। जैसे आकाश को नीलता ग्रहण करती है पर वह नीलता कुछ है नहीं; तैसे ही सुख दुःख देनेवाला और कोई नहीं; जैसा संकल्प करता है तैसा ही हो भासता है और जैसी नीति होती है तैसा ही संकल्प करता है उसी नीति से मिलकर कदाचित् कर्म करता है तो उससे इस जगत्कोश में जीव शरीर धारकर फिरता है—जैसे आकाश में पवन फिरता है पर वह कदाचित् नीति सहित और कदाचित् नीति से रहित फिरता है; तैसे ही दोनों सीढ़ियाँ मन में होती हैं। आकाशरूपी मन में नीति अनीतिरूपी वायु फिरता है इस कारण, जब तक मन है तब तक नीति है और दैव है। मन से रहित न नीति है, न दैव है; मन के अस्त हुए जो है वही रहता है; तैसे ही पुरुषार्थ करके जैसा संकल्प इस लोक में दृढ़ होता है सो कदाचित् अन्यथा नहीं होता। हे पुत्र! अपने पुरुषार्थ विना यहाँ कुछ सिद्ध नहीं होता; इससे परम पुरुषार्थ करके विषय से विरक्त हो। जब तक विरक्तता नहीं उपजती तबतक परम सुख के देनेवाली मोक्षपदवी और (संसारभय का नाशकर्त्ता) ज्ञान नहीं प्राप्त होता। जब तक विषयों में प्रीति है तबतक सांसारिक दशा डोलायमान करती है; दुःखदायक होती है और सर्प की नाईं विष फैलाती है; अभ्यास किये विना निवृत्त नहीं होती। फिर बलि ने पूछा कि हे सब असुरों के ईश्वर! चित्त में भोगों से विरक्तता कैसे स्थित होती है; जो जीवों को दीर्घ जीने का कारण है? विरोचन बोले; हे पुत्र! जैसे शरत्काल की महालता में फूल से फल परिपक्व होता है तैसे ही आत्मावलोकन करनेवाले पुरुष को भोगों में विरक्तता प्रकट होती है। आत्मा के देखने से विषयों की प्रीति निवृत्त हो जाती है और हृदय में शान्ति प्राप्त होती है। जैसे कमलों में शोभा होती है तैसे ही बीजलक्ष्मी स्थित होती है। इससे सूक्ष्मबुद्धि विचारवेत्ता जैसे आत्मदेव को देखकर विषयों की प्रीति त्यागते हैं ऐसे तुम भी त्यागो। प्रथम दिन के दो भाग देह के कार्य करो; एक भाग शास्त्रों का श्रवण विचार करो और एक भाग गुरु की सेवा करो। जब कुछ विचार संयुक्त मन हो तब दो भाग वैराग्य संयुक्त शास्त्रों को विचारो और दो भाग ध्यान और गुरु के पूजन में रहो। इस क्रम से जीव ज्ञानकथा के योग्य होता है और क्रम से निर्मल भाव को ग्रहण करता है; तब शनैश्शनैः उत्तम-

पद की भावना होती है। इस प्रकार शास्त्रों के अर्थ विचार में चित्तरूपी बालक को परचावो। जब परमात्मा में ज्ञान प्राप्त होता है तब कर्म फाँसी से छूट जाता है। जैसे चन्द्रमा के उदय हुए चन्द्रकान्तमणि द्रवीभूत होता है तैसे ही वह शीतल हो विराजता है। बुद्धि के विचार से सर्वदा सम और आत्मदृष्टि देखनी और तृष्णा का बन्धन त्यागना यह परस्पर कारण है। परमात्मा के देखने से तृष्णा दूर हो जाती है और तृष्णा के त्याग से आत्मा का दर्शन होता है। जैसे नौका को केवट ले जाता है और नौका केवट को ले जाती है तैसे ही परमात्मा का दर्शन होता है और भोगों का त्याग होता है। परब्रह्म में जो अनन्त विश्रान्ति नित्य उदय होती है सो मोक्षरूप आनन्द उदय होता है उसका अभाव कदाचित् नहीं होता। जीवों को आनन्द आत्मविश्रान्ति के सिवा न तपों से प्राप्त होता न दानों से प्राप्त होता है और न तीर्थों से प्राप्त होता है। जब आत्मस्वभाव का दर्शन होता है तब भोगों से विरक्तता उपजती है, पर आत्मस्वभाव का दर्शन अपने प्रयत्न विना और किसी युक्ति से नहीं प्राप्त होता है। हे पुत्र! भोगों के त्याग करने और परमार्थ दर्शन के यत्न करने से ब्रह्मपद में विश्रान्त और परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होता है। ब्रह्मा से आदि काष्ठपर्यन्त को इस जगत् में ऐसा आनन्द कोई नहीं जैसा परमात्मा में स्थित हुए से है। इससे तुम पुरुष प्रयत्न का आश्रय करो और दैव को दूर से त्यागो। इस मार्ग के रोंकनेवाले भोग हैं, उनकी निन्दा बुद्धिमान् करते हैं। जब भोगों की निन्दा दृढ़ होती है तब विचार उपजता है—जैसे वर्षाकाल गये से शरत्काल की सब दिशा निर्मल हो जाती हैं तैसे ही भोगों की निन्दा से विचार और विचार से भोगों की निन्दा परस्पर होती हैं जैसे समुद्र की अग्नि से धूम्र उदय होता है और बादलरूप हो वर्षाकर फिर समुद्र को पूर्ण करता है और जैसे मित्र आप से परस्पर कार्य सिद्ध कर देते हैं। इससे प्रथम तो दैव का अनादर करो और पुरुष प्रयत्न करके दाँतों से दाँतों को पीसकर भोगों की प्रीति त्यागो और फिर पुरुषार्थ से प्रथम अविरोध उपजावो और उसको भगवान् के अर्पण करो और भोगों से असंग होकर उनकी निन्दा करो तब विचार उपजेगा। फिर शास्त्रज्ञान को संग्रह करो तब परमपद की प्राप्ति होगी। हे दैत्यराज! समय पाकर जब तू विषयों से विरक्त चित्त होगा तब विचार के वश से परमपद पावेगा। अपने आप में जो पावनपद है उसमें तब तू भली प्रकार अत्यन्त विश्राम पावेगा। और फिर कल्पना दुःख में न गिरेगा। देशाचार के कर्म से अल्पधन उपजाना फिर उसे साधू के संग में लगाना। उनके संग से वैराग्य और विचार संयुक्त हुए तुझको आत्मलाभ होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे बल्युपाख्याने चित्तचिकित्सोपदेशो नाम चतुर्विंशतितमस्सर्गः ॥ २४ ॥

बलि ने विचार किया कि इस प्रकार मुझसे पूर्व पिता ने कहा था। अब मैं स्मृति दृष्टि से प्रसन्न हुआ हूँ और भोगों से विरक्तता उपजी है कि इसलिये शान्त और सम, निर्मल, अमृतरूपी, शीतल सुख में स्थित होऊँ। धन एकत्र होता है और नाश हो जाता है फिर आशा उपजती है और फिर धन से पूर्ण होता है; फिर स्त्रियों की वाञ्छा उपजती है और फिर उन्हें अङ्गीकार करता है। अब मैं विभूति की स्थिति से खेदवान् हुआ हूँ। अहो आश्चर्य है कि इस रमणीय पृथ्वी से अब मैं सम शीतलचित्त होता हूँ और दुःख सुख से रहित सर्व शान्ति को प्राप्त होता हूँ। जैसे चन्द्रमा के मण्डल में स्थित हुआ सम शीतल होता है तैसे भीतर से मैं हर्षवान् और शीतल होता हूँ। दुःखरूपी विभूति ऐश्वर्य से रहित हो अब मैं अक्षोभ हूँगा। यह सब मनरूपी बालक की दिनदिन प्रति कला है। प्रथम मैं स्त्री से चिपटता था फिर मोह से मेरी प्रीति बढ़ गई थी; जो कुछ दृष्टि से देखने योग्य था वह मैंने देखा है; और जो कुछ भोगने योग्य था वह चिरकालपर्यन्त अखण्ड भोगा है और सर्वभूतजातों को वश कर रहा हूँ पर उससे क्या शोभनीक हुआ। फिर फिर उनमें वही चेष्टा से और और देखे, इससे चित्त अपूर्व पदार्थ को नहीं देखता फिर फिर जगत् के वही पदार्थ हैं। इससे अपनी बुद्धि से इनका निश्चय त्यागकर पूर्ण समुद्रवत् अपने आपसे आपमें स्वच्छ, स्वस्थ और स्थित हूँ। पाताल, पृथ्वी और स्वर्ग में, जो स्त्री और रत्न, पन्नगादिक सार हैं वे भी तुच्छ हैं, समय पाकर उन्हें काल ग्रस लेता

है। इतने काल पर्यन्त मैं बालक था और जो तुच्छ पदार्थ मन के रचे हुए हैं उनमें आसक्त होकर देवतों के साथ द्वेष करता था। उन दुःखों के त्यागने से क्या अनर्थ होगा ? बड़ा कष्ट है कि मैंने चिरकाल अनर्थ में अर्थबुद्धि की थी; अज्ञानरूपी मद से मतवाला था और चञ्चल तृष्णा से इस जगत् में क्या नहीं किया। जो कार्य पीछे ताप बढ़ाते हैं वही मैंने किये हैं पर अब पूर्व तुच्छ चिन्ता से मुझको क्या है। वर्तमान चिकित्सा पुरुषार्थ से सफल होगा। जैसे समुद्र मथने से अमृत प्रकट भया है तैसे ही अपरिमितरूप आत्मा की भावना से अब सब ओर से सुख होगा। मैं कौन हूँ; और आत्मा के दर्शन की युक्ति गुरु से पूछूँगा। इसलिये अब मैं अज्ञान के नाशनिमित्त शुक्र भगवान् का चिन्तन करूँ; वह जो प्रसन्न होकर उपदेश करेंगे उससे अनन्त विभव अपने आपमें आपसे स्थित होगा और निष्काम पुरुषों का उपदेश मेरे हृदय में फैलेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे बलिचिन्तासिद्धान्तोपदेशं
नाम पञ्चविंशस्सर्गः ॥ २५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रकार चिन्तन करके बलि ने नेत्रों को मूँदा और शुक्रजी जिनका आकाश में मन्दिर है और जो सर्वत्र पूर्ण चिन्मात्र तत्त्व के ध्यान में स्थित हैं आवाहनरूप ध्यान किया; और शुक्रजी ने जाना कि हमारे शिष्य बलि ने हमारा ध्यान किया है। तब चिदात्मस्वरूप भार्गव अपनी देह वहाँ ले आये जहाँ रत्न के झरोखे में बलि बैठा था और बलि उज्ज्वल प्रभाववाले गुरु को देखकर उठा और जैसे सूर्यमुखी कमल सूर्य को देखकर प्रफुल्लित होते हैं तैसे ही उसका चित्त प्रफुल्लित हो गया। तब उसने रत्न अर्घ्य पुष्पों से चरणवन्दना की और रत्नों से अर्घ दिया और बड़े सिंहासन पर बैठाकर कहा, हे भगवन् ! तुम्हारी कृपा से मेरे हृदय में जो प्रतिभा उठती है वह स्थिर होकर मुझको प्रश्न में लगाती है। अब मैं उन भोगों से जो मोह के देनेवाले हैं विरक्त हुआ हूँ और तत्त्वज्ञान की इच्छा करता हूँ जिससे महामोह निवृत्त हो। इस ब्रह्माण्ड में स्थिर वस्तु कौन है और उसका कितना प्रमाण है ? इदं क्या है और अहं क्या है ? मैं कौन हूँ ? तुम कौन हो और यह लोक क्या है ? इन प्रश्नों का उत्तर कृपा करके कहिये। शुक्र बोले, हे दैत्यराज ! बहुत कहने से क्या है; मैं आकाश में जाना चाहता हूँ इससे सबका सार संक्षेप से मैं तुमसे कहता हूँ सो सुनो। जो चेतन तत्त्व विस्तृतरूप है वही चिन्मात्र है और चेतन ही व्यापक है। तू भी चेतनस्वरूप है, मैं भी चेतन हूँ और यह लोक भी चेतनरूप है। यही सबका सार है। इस निश्चय को हृदय में दृढ़कर धारोगे तब निर्मल निश्चयात्मकबुद्धि से अपने को आपसे देखोगे और उससे विश्रान्तिमान् होगे। हे राजन् ! यदि तुम कल्याणमूर्ति हो तो इसी कहने से सब सिद्धान्त को प्राप्त होगे और सबका सार जो चिदात्मा है उसको पावोगे और यदि कल्याणमूर्ति नहीं हो तो फिर कहना भी निरर्थक होता है। चेतन को जो चैत्यकला का सम्बन्ध है वही बन्धन है। इससे जो मुक्त है वही मुक्त है। आत्मतत्त्व चेतनस्वरूप चैत्यकलना से रहित है। यह सब सिद्धान्तों का संग्रह है। हे राजन् ! इस निश्चय को धारो और निर्मलबुद्धि से अपने आपसे आपको देखो; यही आत्मपद की प्राप्ति है। सप्तऋषियों से देवताओं का कोई कार्य है उस निमित्त मैं अब आकाश जाता हूँ। जब तक यह देह है तब तक मुक्तबुद्धि को यथाप्राप्त कार्य त्यागने योग्य नहीं। इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! ऐसे कहकर शुक्र बड़े वेग से आकाश में चले और जैसे समुद्र से तरङ्ग उठकर लीन होजावें तैसे ही शुक्रजी अन्तर्धान होगये ॥

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे बल्युपदेशो नाम षट्विंशस्सर्गः २६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! देवता और दैत्यों के पूजने योग्य शुक्र के गये से बलवानों में श्रेष्ठ बलि मन में विचारने लगा कि भगवान् शुक्रजी यह क्या कह गये कि त्रिलोकी चिन्मात्ररूप है; मैं भी चेतन हूँ, दिशा भी चेतनरूप हैं; परमार्थ से आदि जो सत्स्वरूप है वह भी चेतन है उससे भिन्न नहीं; यह जो सूर्य है उसमें चेतन होने से ही सूर्यत्वभाव भासता है और यह जो भूमि है उसको चेतन न चेते तो इसमें भूमित्व भाव नहीं। यह जो दशों दिशा हैं यदि इनको चेतन न चेते तो दिशा में दिशात्वभाव न रहे; पर्वत में पर्वतता भी चेतन विना नहीं

इस जगत् में जगत्भाव; आकाश में आकाशता; शरीर में लक्षण भी चेतन विना न पाइयेगा; इन्द्रियाँ भी चेतन हैं; मन भी चेतन है; भीतर बाहर सब चेतन है और चिदात्मा ही अहं त्वं भावरूप होकर स्थित है। चेतन मैं हूँ; सब इन्द्रियों संयुक्त विषयों का स्पर्श मैं करता हूँ और कदाचित् कुछ नहीं किया। काष्ठ लोष्ठतुल्य शरीर से मेरा क्या है? मैं तो सम्पूर्ण जगत् में आत्मा चेतन हूँ और आकाश में भी एक मैं आत्मा हूँ। सूर्य और भूत, पिञ्जर, देवता, दैत्य और स्थावरजङ्गम सबका चेतन आत्मा एक अद्वैत चेतन है और द्वैतकलना नहीं। बस यदि इस लोक में द्वैत का असम्भव है तो शत्रु कौन है और मित्र किसको कहिये? जिस शरीर का नाम बलि है उसका शिर काटा तो आत्मा का क्या काटा? सब लोगों में आत्मा पूर्ण है पर जब चित्त दुःख चेतता है तब दुःखी होता है चेतने विना दुःख नहीं पाता। इस कारण जो दुःखदायक भाव-अभाव पदार्थ भासते हैं वे सर्व आत्मरूप हैं, चेतन तत्त्व से भिन्न कुछ नहीं। सब ओर से आत्मा पूर्ण है, आत्मा से भिन्न जगत् का कुछ व्यवहार नहीं। न कोई दुःख है; न कोई रोग है; न मन है; न मन की वृत्ति है; एक शुद्ध चेतनमात्र आत्मतत्त्व है और विकल्प कलना कोई नहीं। सब ओर से चेतन स्वरूप, व्यापक, नित्य आनन्द, अद्वैत, सबसे अतीत और अंशांशीभाव से रहित चेतनसत्ता व्यापक है। चेतन आदिक नाम से भी मैं रहित हूँ वे चेतन आदिक नाम भी व्यवहार के निमित्त कल्पे हैं। चेतन जो आत्मा की स्फुरणशक्ति है वही विस्तार में जगत्रूप होकर भासती है; द्रष्टा, दर्शन से मुक्त केवल अद्वैतरूप है और प्रकाश प्रकाशकभाव से रहित निराभास द्रष्टा परमेश्वर रूप हूँ। न मैं कर्ता हूँ और न मैं भोक्ता हूँ; मैं केवल द्रष्टा निरामयरूप कलना कलङ्क से रहित हूँ। इनसे परे हूँ और यह स्वरूप भी मैं हूँ। यह मेरे में आभासमात्र है और मैं उदित नित्य और आभास से भी रहित एक प्रकाशरूप हूँ। स्वरूप होने से मेरा चित्त दृश्य के राग से रहित मुक्तरूप है। प्रत्यक्ष चेतन जो मेरा स्वरूप है उसको नमस्कार है। चित्त दृश्य से रहित है और युक्ति अयुक्ति सबका प्रकाशस्वरूप मैं हूँ, मुझको नमस्कार है। मैं चित्त से रहित चेतन हूँ; सब ओर से शान्तरूप हूँ; फुरने से रहित हूँ और आकाश की नाईं अनन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म; दुःख सुख से मुक्त और संवेदन से रहित असंवेदनरूप हूँ। मैं चैत्य से रहित चेतन हूँ, जगत् के भाव अभाव पदार्थ मुझको नहीं छेद सकते। अथवा यह जगत् के पदार्थ छेदते हैं वह भी मुझसे भिन्न नहीं, क्योंकि छेद मैं हूँ और छेदनेवाला मैं हूँ। स्वभावभूत वस्तु से वस्तु ग्रहण होती है अथवा नहीं होती तौ भी किससे किसका नाश हो, मैं सर्वदा, सर्व प्रकार सर्व शक्तिरूप हूँ; संकल्प विकल्प से अब क्या है। मैं एक ही चेतन अजड़रूप होकर प्रकाशता हूँ। जो कुछ जगत्जाल है वह सब मैं ही हूँ मुझसे भिन्न कुछ नहीं। इतना कहि वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब इस प्रकार तत्त्व के वेत्ता राजा बलि ने बिचारा तब ओंकार की अर्धमात्रा तुरीयापद की भावना से ध्यान में स्थित हुआ और उसके संकल्प भली प्रकार शान्त हो गये। वह सब कलना और चित्त चैत्य निःसंग होकर स्थित हुआ और ध्याता जो है अहंकार; ध्यान जो है मन की वृत्ति और ध्येय जिसको ध्याता था तीनों से रहित हुआ और मन से सब वासना नष्ट हो गईं। जैसे वायु से रहित अचलरूप दीपक प्रकाशता है तैसे ही बलि शान्तरूप पद को प्राप्त हुआ और रत्नों के झरोखे में बैठे दीर्घकाल बीत गया। जैसे स्तम्भ में पुतली हों तैसे ही सर्व एषणा से रहित वह समाधि में स्थित रहा और सब क्षोभ, दुःख, विघ्न से रहित निर्मल चित्त शरत्काल के आकाशवत् हो रहा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे बलिविश्रान्तिवर्णनं
नाम सप्तविंशस्सर्गः ॥ २७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब इस प्रकार दैत्यराज बहुत काल पर्यन्त समाधि में बैठा रहा तब बान्धव, मित्र, टहलुये, मन्त्री रत्नों के झरोखे में देखने चले कि राजा को क्या हुआ। ऐसा विचारकर उन्होंने किवाड़ों को खोला और ऊपर चढ़े। यक्ष, विद्याधर और नाग एक ओर खड़े रहे और रम्भा और तिलोत्तमादिक अप्सरागण हाथों में चमर ले खड़ी हुईं और नदियाँ, समुद्र, पर्वत आदिक मूर्ति धारकर और रत्न

आदिक भेंट लेकर सब प्रणाम के निमित्त खड़े हुए और त्रिलोकी के उदरवर्ती जो कुछ थे वे सब आये, पर राजा बलि ध्यान में ऐसा स्थित था मानो चित्र की मूर्ति लिखी है और पर्वतवत् स्थित है। उसको देखकर सब दैत्यों ने प्रणाम किया, कोई उसे देखकर शोकवान् हुए, कोई आश्चर्यवान्, कोई आनन्दवान् हुए और कोई भय को प्राप्त हुए। तब मन्त्री विचारने लगे कि राजा की क्या दशा हुई है। इसलिये उसने शुक्रजी का ध्यान किया और भार्गवमुनि झरोखे में आये। उनको देखकर दैत्यगणों ने पूजन किया और बड़े सिंहासन पर गुरु को बैठाया। बलि को ध्यानस्थित देखकर शुक्रजी अतिप्रसन्न हुए कि जो पद मैंने उपदेश किया था, उसमें इसने विश्राम पाया है इसका भ्रम अब नष्ट हुआ है और क्षीरसमुद्रवत् प्रकाश है। ऐसे देखकर शुक्रजी ने कहा बड़ा आश्चर्य है कि दैत्यराज ने विचार करके निर्मल आत्मप्रकाश पाया है। अब भगवान् सिद्ध हुआ है और अपने स्वरूप में जो सब दुःखों से रहित पद है उसमें यह स्थित हुआ है और चिन्ताभ्रम इसका क्षीण हुआ है। अब इसको मत जगाओ। यह आत्मज्ञान को प्राप्त हुआ है और यत्न और क्लेश इसका दूर हो गया है जैसे सूर्य के उदय होने से अन्धकार नष्ट हो जाता है। अब मैं इसको नहीं जगाता यह आपही दिव्य वर्षों में जागेगा, क्योंकि प्रारब्ध अंकुर इसके रहता है और उठकर अपना राजकार्य करेगा। अब तुम इसको मत जगाओ, अपने राजकार्य में जा लगो। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब इस प्रकार शुक्रजी ने कहा तब सब सुनकर सूखे वृक्ष की मञ्जरी ऐसे हो गये और शुक्रजी अन्तर्धान हो गये। दैत्य भी अपने राजा विरोचन की सभा में जाकर अपने अपने व्यवहार में लगे और खेचर, भूचर और पातालवासी अपने अपने स्थान में गये और देवता, दिशा, पर्वत, समुद्र, नाग, किन्नर, गन्धर्व सब अपने अपने व्यवहार में जा लगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे बलिविज्ञानप्राप्ति-
र्नामाष्टाविंशतितमस्सर्गः ॥ २८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब सहस्र दिव्य वर्ष व्यतीत हुए तब दैत्यराज समाधि से उतरे; नौबत नगारे बाजने लगे; देवता और दैत्य बड़े जय जय शब्द करने लगे नगरवासी देखकर बड़े प्रसन्न हुए और जैसे सूर्य के उदय हुए कमल खिल आते हैं तैसे ही खिल आये। जब तक दैत्य न आये थे तबतक राजा ने विचारा कि बड़ा आश्चर्य है कि परमपद जो ऐसी रमणीय, शान्तरूप और शीतल पद है उसमें स्थित होकर मैंने परम विश्राम पाया है। इससे फिर उसी पद का आश्रय करूँ और उसी में स्थित होऊँ, राज्य विभूति से मेरा क्या प्रयोजन है। ऐसा आनन्द शीतल चन्द्रमा के मण्डल में भी नहीं होता जैसा अनुभव में स्थित होने से पाया जाता है। हे रामजी! इस प्रकार चिन्तन कर वह फिर समाधि करने लगा कि जिससे गलित मन हो। तब दैत्यों की सेना, मन्त्री, भृत्य, बान्धवों ने आनकर उनको घेर लिया और जैसे चन्द्रमा को मेघ घेर लेता है तैसे ही घेर करके प्रणाम करने लगे। बलिराज ने मन में विचारा कि मुझको त्यागने और ग्रहण करने योग्य क्या है; त्याग उसका करना चाहिये जो अनिष्ट और दुःखदायक हो और ग्रहण उसका कीजिये जो आगे न हो पर आत्मा से व्यतिरेक कुछ नहीं उसमें ग्रहण और त्याग किसका करूँ। मोक्ष की इच्छा भी मैं किस कारण करूँ, क्योंकि जो बन्ध होता है तो मोक्ष की इच्छा करता है सो जब बन्ध ही नहीं तो मोक्ष की इच्छा कैसे हो? यह बन्ध और मोक्ष बालकों को क्रीड़ा कही है वास्तव में न बन्ध है, न मोक्ष है। यह कल्पना भी मूढ़ता में है सो मूढ़ता तो मेरी नष्ट हुई है; अब मुझको ध्यान विलास से क्या प्रयोजन है और ध्यान से क्या है। अब मुझको न परमतत्त्व की इच्छा है और न कुछ ध्यान से प्रयोजन है अर्थात् न विदेहमुक्त की इच्छा है, न जगत् में स्थित रहने की इच्छा है; न मैं मरता हूँ; न जीता हूँ; न सत्य हूँ; न असत्य हूँ; न सम हूँ; न विषम हूँ; न कोई मेरा है और न कोई और है; अद्वैतरूप मैं एक आत्मा हूँ सो मुझको नमस्कार है। इस राजक्रिया में मैं स्थित हूँ तो भी आत्मपद कार्य में स्थित हूँ; और सदा शीतल हूँ। ध्यानादिशा से मुझको सिद्धता नहीं और न राज-

कार्य विभूति से कुछ सिद्ध होना है। इससे राजकार्य से मेरा कुछ प्रयोजन नहीं; मैं आकाशवत् ही रहता हूँ। मैं न कुछ इच्छा करूँगा, न राज्य करूँगा तौ भी मेरा कुछ सिद्ध नहीं होता इससे जो कुछ प्रकृत आचार है उसी को मैं करूँ। बन्धन का कारण अज्ञान है सो तो नष्ट हुआ है अब कोई क्रिया मुझको बन्धनरूप नहीं। हे रामजी! इसी प्रकार निर्णय करके बलि ने दैत्यों की ओर देखा तब देवता और दैत्यों ने शीश से प्रणाम किया और राजा ने दृष्टि करके उनकी प्रणाम वन्दना अङ्गीकार की। तब राजा बलि ने ध्येयवासना को मन से त्याग किया और राज्य के कार्य करने लगा। ब्राह्मण, देवता और गुरु का पूर्ववत् पूजन किया, जो कोई अर्थी और मित्र, बान्धव, टहलुये थे उनका अर्थ पूर्ण किया; स्त्रियों को नाना प्रकार के वस्त्र आभूषण दिये और जो दण्ड देने योग्य थे उनको दण्ड दिया। फिर उसने यज्ञ का आरम्भ करके सुरगणों का पूजन किया और शुक्रजी से आदि ले मुख्य-मुख्य देवता यज्ञ कराने के निमित्त बैठे। फिर विष्णु भगवान् ने इन्द्र के अर्थ सिद्ध करने के निमित्त छल करके बलि राजा को वञ्चित कर लिया और बाँधकर पाताल में स्थित किया। वह आगे इन्द्र होगा अब जीवन्मुक्त, स्वस्थवपु, सदा ध्यानस्थित और एषणा से रहित पुरुष पाताल में है। हे रामजी! जीवन्मुक्त पुरुष राजा बलि सम्पदा और आपदा में समचित्त बिचरता है; वह सम्पदा में हर्ष नहीं करता और आपदा में शोक नहीं करता। अनेक जीवों का उपजना और लय होना बलि ने देखा है; दश करोड़ वर्ष पर्यन्त तीनों लोकों का कार्य किया और बड़े विषयभोग भोगे हैं। अन्त में भोगों को विरस जानकर उसका मन विरस हुआ, विचार करने से तृष्णा नष्ट हो गई और मन उपशम हुआ। हेयोपादेय की नाना प्रकार की चेष्टा बलि ने देखीं पर पदार्थों के भाव अभाव में मन शान्ति को ही प्राप्त हुआ। अब भोगों की अभिलाषा त्याग आत्मारामी हो नित्य स्वरूप में स्थित पाताल में बिराजता है। हे रामजी! इस बलि को फिर इस जगत् का इन्द्र होना है और सम्पूर्ण जगत् का कार्य करना है वह अनेक वर्ष आज्ञा चलावेगा परन्तु इन्द्रपद को पाकर भी तुष्टवान् न होगा और अपने ऐश्वर्य पद के गिरने से खेदवान् भी न होगा और सब पदार्थों और विभूतियों के उदय और अस्त में अमर होगा। यह बलि की विज्ञान प्राप्ति का क्रम वृत्तान्त कहा है। इसी दृष्टि का आश्रय करके तुम भी स्थित हो और बलि की नाईं अपने विवेक से नित्य तृप्ति आत्मनिश्चय को धारो कि सब मैं ही हूँ। इस निश्चय से निर्द्वन्द्व और परमपद प्राप्त होगा। हे रामजी! दस करोड़ वर्ष तीन लोकों का राज्य बलि ने भोगा और अन्त में विरक्त हुआ तैसे ही तुम भी भोगों से विरक्त हो जाओ। ये भोग तुच्छ हैं, इनको त्यागकर परमपद में प्राप्त हो जाओ। यह जो दृश्य प्रपञ्च नाना प्रकार के विकार संयुक्त भासता है वह न कोई तेरा है और न तू किसी का है। जैसे पर्वत और शिला में बड़ा भेद है तैसे ही जिस पुरुष का मन संसार की ओर धावता है वह मन की वृत्ति में डूबता है। जब तुम मन को हृदय में धरोगे तब सब जगत् में तुम प्रकाशवान् होगे। तुम आत्मस्वरूप हो तो अपना क्या और पराया क्या—यह सब मिथ्या कल्पना है। तुम सबके आदि पुरुषोत्तम हो, तुम हीं साकाररूप पदार्थ और तुमहीं सब ओर पूर्ण और सब जगत् में चेतनरूप हो और स्थावर-जङ्गम जगत् सब तुम में पिरोया है—जैसे सूत में माला के दाने पिरोये हैं। तुम नित्य शुद्ध, उदित, बोधस्वरूप और भ्रान्ति से रहित हो। जन्म आदिक सब रोग के नाश निमित्त आत्मविचार करके बलात्कार से भोगों का त्याग कर सबके भोक्ता हो जाओ। तुम केवल स्वरूप जगत् के नाथ हो और चैतन्य सूर्य प्रकाशरूप सर्वदा स्थित हो। सब जगत् तुम्हारे प्रकाश से प्रकाशता है और सुख दुःख की कल्पना तुम्हारे में कोई नहीं। तुम तो शुद्ध, सर्वात्मा और सर्वप्रकाशक हो; इष्ट अनिष्ट को त्याग करके केवल अपने स्वरूप में स्थित हो। इष्ट अनिष्ट के त्याग से निरन्तर सत्यता उदय होती है उस सत्यता को हृदय में धार फिर जन्म मरण भी नहीं आता। जिस जिस पदार्थ में मन लगे उससे निकालकर आत्मतत्त्व में लगाओ। जब इस प्रकार तुम दृढ़ अभ्यास करोगे तब मन जो उन्मत्त हाथी है वह बाँधा जावेगा और तभी सब सिद्धान्तों के परमसार को प्राप्त होगे। हे रामजी! तुम मूढ़ों

की नाईं मत हो। क्योंकि मूढ़ जीव सब चेष्टा मिथ्या ही करता है। मिथ्या चेष्टा से जिनकी बुद्धि नष्ट हुई है और अविद्यारूपीधूर्त से बिके हैं उनके तुल्य न होना। यह जगत् अणुमात्र भी कुछ नहीं है। पर बड़ा विस्ताररूपी जो दृष्ट आता है सो निर्णय से देखा है कि मूढ़ता से भासित हुआ है। मूढ़ता परम दुःखरूप है, इससे अधिक दुःख कोई नहीं। आत्मारूपी सूर्य के आगे आवरणकर्ता जो अज्ञानरूपी मेघ है उसको विवेकरूपी पवन से नाश करो तब आत्मा का साक्षात्कार होगा। आत्मविचार के अभ्यास और विषयों से वैराग्य विना आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता। वेदरूप वेदान्तशास्त्र जो दृष्टान्त और तर्कयुक्त है उनसे भी अपने विचार विना साक्षात्कार नहीं होता। आत्मविचार और पुरुषार्थ से आत्मा की प्रसन्नता होती है और बुद्धि की निर्मलता बोध से प्राप्त होती है। इससे संकल्प विकल्प से रहित होकर चैतन्यतत्त्व में स्थित हो जाओ। विस्तृत और व्यापकरूप आत्मतत्त्व की स्थिति मेरे वचनों के ग्रहण करने से सब संकल्प तुम्हारे लीन हो गये हैं, संवेदनरूपी भ्रम शान्त हुआ है और संसाररूपी कुहिरा तुम्हारा नष्ट हुआ है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे बल्युपाख्यानसमाप्तिवर्णनं
नामैकोनत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥२६॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! अब तुम विज्ञानप्राप्ति के निमित्त और क्रम सुनो जैसे दैत्य असुर प्रह्लाद को आत्मा की सिद्धता हुई तैसे तुम भी हो जाओ। पाताल में एक हिरण्यकशिपु दैत्य महाबलिष्ठ हुआ है जिसने इन्द्र आदि भगाये थे और विष्णुजी के सम उसका पराक्रम था। सम्पूर्ण भुवन उसने वशकर छोड़े थे और सब देवता और दैत्यों को वश करके जगत् का कार्य करता था। वह दैत्यों और तीनों भुवनों का ईश्वर हुआ और समय पाकर कई पुत्र उत्पन्न किये—जैसे बसन्त ऋतु अंकुर उत्पन्न करती है। उसके पुत्रों में बड़ा पुत्र प्रह्लाद सबसे अधिक प्रकाशवान् हुआ और तिस पुत्र से हिरण्यकशिपु ऐसा शोभित हुआ जैसे सब सुन्दर लताओं से बसन्तऋतु शोभता है। जैसे प्रलय काल में सूर्य सब लोकों को तपाता है तैसे ही वह सबको तपाने लगा। जब दुष्ट क्रीड़ा

से देवताओं को दैत्य दुःख देने लगे तब सब देवता मिलकर विष्णु की शरण गये और बिनती की कि यह हिरण्यकशिपु महादुष्ट है इसका नाश करो और हमारी रक्षा करो। बारम्बार दुखावने से महापुरुष भी क्रोधवान् हो जाते हैं। हे रामजी! जब इस प्रकार देवताओं ने प्रार्थना की तब विष्णुदेव ने कहा अब तुम जाओ मैं उसको पुत्र के हेतु से मारूँगा। ऐसे कहकर विष्णु भगवान् अन्तर्धान हो गये और हिरण्यकशिपु अपने ऐश्वर्य की शिक्षा प्रह्लाद को देने लगा परन्तु वह ग्रहण न करे और बहुत प्रकार ताड़ना भी दे तौ भी उसकी शिक्षा को प्रह्लाद अङ्गीकार न करे। वह ईश्वर विष्णुजी की आराधना में रहता था इस कारण ताड़ना का दुःख प्रह्लाद को कुछ न हो। तब दैत्य अपने हाथ में खड्ग लेकर कहने लगा कि हे दुष्ट! तेरा ईश्वर कहाँ है, जिसका तू आराधन करता है? मेरे सिवा ईश्वर और कौन है? प्रह्लाद ने कहा मेरा ईश्वर सर्वव्यापक है। तब हिरण्यकशिपु ने कहा इस खम्भे में कहाँ है? जो है तो दिखादे और यदि न दिखावेगा तो तुझको मारूँगा। तब सर्वव्यापक विष्णु खम्भे से भासने लगे और बड़े शब्द होने लगे। फिर उस खम्भे को फोड़कर बड़ी भुजा और तीक्ष्ण नखों के संयुक्त महाभयानकरूप से विष्णु भगवान् ने नरसिंहरूप प्रकट करके हिरण्यकशिपु को नखों से विदारण किया और ऐसा कोपवान् रूप धरा जिससे दैत्यों के स्थान जलने लगे और दृष्टि से मानों पर्वत चूर्ण होते थे। दैत्यों के कई समूह मारे गये कई भागे और बहुत से दिशाविदिशा को दौड़ गये—जैसे वायु के मारे मच्छर उड़ जाते हैं और कुछ पाताल छिद्र में नाश हो गये। निदान प्रलयकालवत् स्थान शून्य हो गये मानों अकाल प्रलय आया है और दैत्यों को नाश करके फिर विष्णुदेव अन्तर्धान हो गये। कुछ दैत्य बान्धव और टहलुये जो रहे थे वे प्रह्लाद के निकट मुख कुम्हिलाये हुए आये—जैसे जल से रहित कमल होता है और भाई, बान्धव मिलकर प्रह्लाद को समझाने लगे। प्रह्लाद ने सबसे मिलकर पिता का शोच किया और फिर उठकर सब कर्म किये। निदान संशयसंयुक्त सब दैत्य बैठे और विचार करके शोकवान् हुए और सब सूखकर चित्र की

पुतलीवत् हो गये। जैसे दग्धवृक्ष सूखकर रस से रहित हो जाता है तैसे ही हिरण्यकशिपु विना दैत्य शोकवान् और महादुःखी हुए।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे हिरण्यकशिपुवधोनाम
त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब हिरण्यकशिपु के मारने से दैत्य बहुत दुःखी हुए तब प्रह्लाद ने मौन होकर विचारा कि पाताल में सब दैत्य मिलकर चिन्तासंयुक्त बैठे हैं। उनसे जाकर प्रह्लाद ने कहा कि अब अपनी रक्षा के निमित्त कौन उपाय कीजियेगा, हमारे दैत्यों के नाश करनेवाले विष्णु बड़े बली हैं; जिनके नख तीक्ष्ण खड्ग की धारवत् हैं। जैसे सिंह मृगों को मारता है तैसे वे हमको मारते हैं और पाताल में दैत्य शान्तिमान् कदाचित् नहीं होने पाते। जब दैत्य बढ़ते हैं तब विष्णु आ उन्हें नाश करते हैं और जैसे कमलों पर पर्वत आ पड़े तैसे उन्हें चूर्ण करते हैं। बड़े आकाश गौरवशब्द करनेवाले दैत्य उपज उपजकर नष्ट हो जाते हैं—जैसे जल में तरङ्ग उपज उपजकर नष्ट हो जाते हैं। भीतर बाहर वह हमको बड़ा कष्ट देता है। हमारा शत्रु बड़ा दृढ़ और बड़ा अपूर्वतम आ बढ़ा है; हमारा हृदय तम से पूर्ण हो गया है और सम्पदा नष्ट हो गई है। जो देवता हमारे पिता से चूर्ण हुए थे उनका बल अब हमसे अधिक हो गया है और वे हमारी स्त्रियों को वश कर ले गये हैं—जैसे मृग को व्याध ले जाता है। वे हमारा सब धन भी ले गये हैं और हम दीन हो रहे हैं। जैसे जल विना कमल कुम्हिला जाता है तैसे ही हम भी बान्धव विना हुए हैं। हमारे घरों में धूल उड़ती है, जो बड़े स्थान मणियों से खचित थे वे शून्य हो गये और हमारे स्थानों में जो बड़े कल्पवृक्ष लगे थे वे उखाड़कर नन्दनवन में लगाये हैं। नरसिंहजी की सहायता से देवताओं ने ऐसा बल पाया है। हमारे वृक्ष और स्थान नरसिंहजी ने जला दिये हैं जिन देवताओं की स्त्रियों के मुख दैत्य देखते थे, उन सब दैत्यों की स्त्रियों के मुख अब देवता देखते हैं। जिस सुमेरु पर्वत पर कल्प और मन्दारवृक्ष विराजते थे वे स्थान अब शून्य हो गये, वहाँ धूल उड़ती है और शोभा से रहित हो गया है। जो दैत्यों की स्त्रियाँ अपने स्थानों में बैठी थीं वे अब देवाङ्गनाओं के शिर पर चमर करती हैं और वे हासविलास करती हैं; यह बड़ा कष्ट है। हमको आपदा ने दीन किया है। हे दैत्यो! हमको और उपाय कोई दृष्टि नहीं आता जब उस ही विष्णु की शरण में जावें तब सुखी होंगे वह कैसा पुरुष है, जिसके दो भुजारूपी वृक्षों की छाया में देवता विश्राम करते हैं और जैसे हिमालय पर्वत कदाचित् तपायमान नहीं होता तैसे ही जो पुरुष विष्णु की शरण जाता है वह तपायमान नहीं होता। तुम देखते हो कि जो देवाङ्गना असुरों की स्त्रियों का पूजन करती थीं वे अब अपने को पुजानेलगी हैं और हम दैत्यों की स्त्रियों के मुख कुम्हिला गये हैं। जैसे बरफ़ की वर्षा से कमल सूख जाता है तैसे ही हमारे मण्डप टूट गये हैं और नीलमणि के खम्भे गिर पड़े हैं। दैत्यसेना जो आपदा के समुद्र में डूबती थी उसके रक्षा करने को हमारे पितादि बड़े समर्थ थे और डूबने न देते थे। जैसे क्षीरसमुद्र में मन्दराचल को कच्छपरूप ने डूबने न दिया था हमारे पितादि जो बड़े बड़े बली रक्षा करनेवाले थे उनको विष्णुजी ने मारके चूर्ण किया—जैसे प्रलयकाल का पवन पर्वतों को चूर्ण करता है। ऐसे मधुसूदन की गति अति विषम है वे दैत्यों की भुजारूपी दण्ड के काटनेवाले कुठार हैं. उनकी सहायता से इन्द्रादिक देवता दैत्य सेना को जीतने और मारने लगे हैं—जैसे बालक को वानर मारें। इस पुण्डरीकाक्ष विष्णु को जीतना कठिन है। जो वे शस्त्रों विना हों तौ भी हमारे शस्त्र इनको छेद नहीं सकते और वज्र भी छेद नहीं सकता। वे महापराक्रमी हैं, इन्होंने युद्ध का बड़ा अभ्यास किया है और पर्वतों के साथ युद्ध करते रहे हैं। हमारा पिता जो बड़ा बली था और जिसने त्रिलोकी के राजा और सब देवता वश किये थे उसको भी इसने मार डाला तो हमारा मारना कौन कठिन है। यह महाबली है इसको हम नहीं जीत सकते; इसलिये एक उपाय मैं तुमसे कहता हूँ उससे विष्णु वश होंगे। उपाय यह है कि विष्णु जो सर्वात्मा, सबका प्रकाशक और सबका कारण है उसकी हम शरण हों; और हमारी कोई गति आश्रय नहीं। हे दैत्यो! उससे अधिक इस त्रिलोकी में कोई नहीं; जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और

प्रलयकर्ता वही देवता है। उसके ध्यान में लगो और एक निमेष भी उसके ध्यान से न उतरो। मैं भी उसके ध्यान में लगता हूँ। वह नारायण अजन्मा पुरुष है और मैं सदा उसके परायण हूँ और सब प्रकार नारायण मैं हूँ। 'ओंनमोनारायणाय' यह मन्त्र सब अर्थों को सिद्ध करता है, इस मंत्र के ध्यान जाप करते हुए हमारे हृदय में स्फुरणरूप होगा। वह हरि सबका आत्मा है, पृथ्वी भी हरि है, यह सब जगत् भी हरि है, मैं भी हरि हूँ, आकाश भी हरि है और सबका आत्मा भी हरि है। अविष्णु होकर जो विष्णु का पूजन करते हैं वे पूजने का फल नहीं पाते और जो विष्णु होकर विष्णु का पूजन करते हैं वे परम उत्तम फल पाते हैं। इससे मैं विष्णुरूप होकर स्थित होता हूँ। मैं अनन्त आत्मा आकाश गरुड़ पर आरूढ़ हूँ और सुवर्ण के भूषण पहिरे हूँ मेरे हाथरूप वृक्ष पर जीवरूप सब पक्षी विश्राम पाते हैं। यह मेरी चतुर्भुजा हैं। जब मैंने क्षीरसमुद्र मथन किया था तब यह परस्पर घिसे हैं और यह मेरे पार्षद हैं, सुन्दर चमर जिनके हाथों में है, इनको मैंने क्षीरसमुद्र से उपजाया है। त्रिलोकीरूपी वृक्ष की यह सुन्दर मञ्जरी जो महाधवल मन के हरनेवाली है। यह मेरे पार्षदों में माया है जिसने अनन्त जगत्जाल निरन्तर उत्पत्ति, प्रलय किया है और इन्द्रजाल की विलासिनी है। यह मेरे पार्षदों में जो शक्ति है इन्होंने लीला करके त्रिलोकीखण्ड वश किया है। जैसे कल्पवृक्ष लता फूलती है तैसे ही मेरे पार्षदों में यह फूलती है शीत उष्ण मेरे दो नेत्र हैं जो सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशते हैं और चन्द्रमा और सूर्य उनके नाम हैं यह मेरा नीलकमल और महासुन्दर श्याम मेघवत् स्फुरणदेह महाप्रकाशरूप है। यह मेरे हाथ में पाञ्चजन्य शंख जिसकी ब्रह्मारूप ध्वनि है क्षीरसमुद्र से निकला है। यह नाभिकमल है जिससे ब्रह्मा उत्पन्न हुए और इसमें निवास करते हैं—जैसे भ्रमरा कमल में निवास करता है। यह मेरे हाथ में कौमोदकी गदा है जो सुमेरु के शिखरवत् रत्नों की बनी हुई है और दैत्यदानवों के नाश करनेवाली है। यह मेरे हाथों में महाप्रकाशरूप सुदर्शनचक्र है। जिसका तेज ज्वाला के पुञ्जवत् है और साधु को सुख देनेवाला है। यह मेरे हाथों में अग्नि के समूहवाला कुठार है सो दैत्यरूपी वृक्षों को काटनेवाला है और साधुओं को आनन्ददायक है। यह मेरे हाथ में शार्ङ्गधनुष है, इसकी महाप्रकाशवत् ध्वनि है। यह मेरे पीतवर्ण वस्त्र हैं यह वैजयन्तीमाला है और कौस्तुभमणि मेरे कण्ठ में है। ऐसा मैं विष्णुदेव हूँ। अनन्त जगत् जो उत्पत्ति और लय हो गये हैं सबों का धारनेवाला हूँ। यह पृथ्वी मेरे चरण हैं, आकाश मेरा शीश है, तीनों लोक मेरा वपु है, दशोदिशा मेरे वक्षःस्थल हैं और मैं साक्षात् विष्णु हूँ। नील मेघवत् मेरी कान्ति है; गरुड़ पर आरूढ़, शंख, चक्र, गदा, पद्म का धारनेवाला हूँ। जिसका चित्त दुष्ट है वह हमको देखकर भाग जाता है। यह सुन्दर, शीतल चन्द्रमावत् मेरी कान्ति है और पीतवस्त्र श्याम वदन गदाधारी हूँ। लक्ष्मी मेरे वक्षःस्थल में है और अच्युतरूपी विष्णु मैं हूँ। वह कौन है जो मेरे साथ विरोध कर सके? मैं त्रिलोकी जला सकता हूँ; जो मेरे साथ युद्ध करने को सम्मुख आवे उसको मैं नाश का कारण हूँ। जैसे अग्नि में पतङ्ग जल मरते हैं तैसे ही मेरा तेज है। मेरी दृष्टि कोई सह नहीं सकता। मैं विष्णु ईश्वर हूँ, ब्रह्म, इन्द्र और यमादिक नित्य मेरी स्तुति करते हैं और तृण काष्ठ स्थावर जङ्गम जो कुछ जाल है सबके भीतर व्यापकरूप हूँ। त्रिलोकी में मैं प्रकाशरूप अजन्मा और भयनाशकर्ता हूँ। ऐसे मेरे स्वरूप को मेरा नमस्कार है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे प्रह्लादविज्ञानन्नाम एकात्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३१ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार प्रह्लाद ने अपना नारायणस्वरूप करके ध्यान किया। फिर पूजन के निमित्त विष्णु का चिन्तन किया और मन में विष्णुजी की दूसरी मूर्ति जो गरुड़ पर आरूढ़ और चार शक्ति—अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से सम्पन्न चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये श्याम रङ्ग है; चन्द्रमा और सूर्य की नाईं सुन्दर नेत्र हैं और हाथ में शार्ङ्गधनुष है; धारण करके परिवारसंयुक्त भली प्रकार धूप दीप और नाना प्रकार के विचित्र वस्त्र और भूषणों सहित पूजन किया और अर्घ दिया। चन्दन का लेपन, धूप, दीप, नाना प्रकार के भूषणों सहित पिस्ता, खजूर, बादाम आदिक मेवों से भक्ष्य, भोज्य, चोष्य और

लेह्य चार प्रकार के भोजन कराये। फिर अपना आप विष्णु को अर्पण किया और परम भक्ति को प्राप्त हुआ। जिस प्रकार मन से पूजन किया उसी प्रकार अन्तःपुर में विष्णु की मूर्ति देखकर पूजा। इसी प्रकार दिन प्रति दिन विष्णु का पूजन किया और जिस प्रकार प्रह्लाद मन की चिन्तन से पूजा करे उसी प्रकार और दैत्य भी मानसी पूजा करें। उनको प्रह्लाद ने सिखाया और उस पुर में सब दैत्य कल्याणमूर्ति विष्णुभक्त हो गये। जैसा राजा होता है तैसी ही उसकी प्रजा होती है। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। यह वार्ता देवलोक में प्रकट हुई कि दैत्यों ने विष्णु का द्वेष त्याग किया है और भक्त हुए हैं तब देवता आश्चर्य को प्राप्त हुए और इन्द्रादिक अमरगण विचारने लगे कि यह क्या हुआ जो दैत्यों ने विष्णु की भक्ति ग्रहण की और इनको यह प्राप्त कैसे हुई। ऐसे आश्चर्यवान् होकर क्षीरसमुद्र में दैत्यों की वार्ता करने के निमित्त वे विष्णु के निकट गये और कहा, हे भगवन्! यह आपने क्या माया फैलाई कि जो दैत्य सर्वदा विरोध करते थे वे अब तुम्हारे साथ तन्मयरूप हो रहे हैं; कहाँ वह दुर्वृत्ति पर्वत को चूर्ण करनेवाले दैत्य और कहाँ तुम्हारी भक्ति, जो अनेक जन्मों से भी दुर्लभ है। हे जनार्दन! तुम्हारी भक्ति कहाँ और उनकी वृत्ति कहाँ। यह तो अपूर्व वार्त्ता हुई है। जैसे समय विना पुष्पों की माला नहीं शोभती तैसे ही पात्र विना तुम्हारी भक्ति नहीं शोभती और यह हमको सुखदायक नहीं भासती। जैसा जैसा कोई होता है तैसे ही तैसे स्थान में शोभता है। जैसे काँच में महामणि नहीं शोभती तैसे ही दैत्यों में तुम्हारी भक्ति नहीं शोभती। जैसा गुण किसी में होता है तैसी ही पंक्ति में वह शोभता है और में स्थित हुआ नहीं शोभता है। जो सुदेश नहीं होता तो दुःखदायक होता है। जैसे अङ्गों में वज्र दुःखदायक होता है। जैसा गुणवान् हो तैसा पदार्थ जब प्राप्त होता है तो वह शोभा पाता है, विपर्यय हो तब शोभा नहीं पाता। जैसे कमलिनी जल में शोभती है, मरुस्थल में नहीं शोभती तैसे ही कहाँ वह अधर्म नीचजन भयानक कर्म करनेवाले और कहाँ तुम्हारी आश्चर्य भक्ति। जैसे कमलिनी पृथ्वी पर नहीं शोभती तैसे ही तुम्हारी भक्ति दैत्यों में नहीं

शोभती और तैसे ही भक्ति हमको उनमें सुखदायक नहीं भासती।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे प्रह्लादोपाख्याने विविध-
व्यतिरेको नाम द्वात्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब इस प्रकार बड़े शब्द से देवता कहने लगे तब माधव आकर बोले, हे देवगण! तुम शोक मत करो। प्रह्लाद मेरा भक्त है; इसका यह अन्त का जन्म है, और अब मोक्ष को प्राप्त होकर फिर जन्म न पावेगा। हे देवगण! गुणवान् के गुणों को त्यागकर द्वेष ग्रहण करना अनर्थरूप होता है और जो प्रथम गुणों से रहित निर्गुण हो और फिर उनको त्यागकर गुण ग्रहण करे और शास्त्रमार्ग में बिचरे तो यह सुखदायक होता है। प्रह्लाद की विचित्र चेष्टा तुमको सुखदायक होगी। अब तुम अपने स्थानों में जाओ, प्रह्लाद मेरा भक्त है। इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार कहकर भगवान् क्षीरसमुद्र में अन्तर्धान हो गये देवता नमस्कार करके अपने-अपने स्थानों में गये और प्रह्लाद से द्वेषभावना त्याग की। प्रह्लाद दिन प्रति दिन अपने घर में जनार्दन की मनसा, वाचा और कर्मणा से भक्ति करने लगा और समय पाकर दैत्यों में बड़ी भक्ति हो गई। तब उन्हें परम विवेक प्राप्त हुआ और विषयभोग से वैराग्यवान् हुए। वे विषयों से प्रीति न करें; सुन्दर स्त्रियों से न रमें; दृश्य में उनकी प्रीति न उपजे और यह भोग जो रोगरूप हैं उनमें उनका चित्त विश्राम न पावे और राग भी न करें परन्तु मुक्तकर्ता जो आत्मबोध है सो उन्हें प्राप्त न हुआ वे मुक्तफल के निकट आ स्थित हुए और भोगों की अभिलाष त्यागकर निर्मल हो गये पर परम समाधि को न प्राप्त हुए चित्त अवस्था में डोलासमान हो रहे। तब श्याममूर्ति विष्णुदेव प्रह्लाद की वृत्ति विचारकर पाताल में उसके गृह पूजा के स्थान में महाप्रकाश सुन्दररूप से प्रकटे और उनको देखकर प्रह्लाद ने विशेष पूजा की और प्रेम से गद्गद हो कहा, हे ईश्वर! त्रिलोकी में सुन्दरमूर्ति, सबके धारनेवाले, सब कलङ्कों के हरनेवाले, प्रकाशस्वरूप, अशरणों के शरण, अजन्म और अच्युत! मैं तुम्हारी शरण हूँ। हे नीलोत्पल और कमलों के पर्वत, श्यामरूप, अनेक चरित्रों को धरनेवाले! मैं तुम्हारी शरण हूँ। हे निर्मलरूप, केलेवत्

कोमलअङ्ग और श्वेत कमल की नाईं श्वेतशंख हाथ में धारण किये! तुम्हारे नाभिकमल में भँवरेरूप ब्रह्मा स्थित हो वेद का उच्चाररूपी ओ३म् शब्द करते हैं और हृदयकमल में विराजनेवाले जल के ईश्वररूप! मैं तुम्हारी शरण हूँ! जिसके श्वेतनख तारागणवत् प्रकाशरूप; हँसता मुख चन्द्रमा के मण्डलवत्, हृदयमणि सबका प्रकाशक और शरत्काल के आकाशवत् निर्मल विस्तृतरूप! मैं तेरी शरण हूँ। हे त्रिभुवनरूपी कमलिनियों के प्रकाशनेवाले चन्द्रमा! मोहरूपी अन्धकार के नाशकर्ता, सूर्य! अजड़, चिदात्मा, सम्पूर्ण जगत् के कष्ट हरनेवाले! मैं तुम्हारी शरण हूँ। हे नूतनविकासितरूप कमलपुष्पों से भूषित अङ्ग और स्वर्णवत् पीताम्बरधारी महासुन्दरस्वरूप! मैं तेरी शरण हूँ। हे ईश्वर! लीला करके सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और नाश करनेवाले और परमशक्ति शङ्करवत् दृढ़देह! मैं तेरी शरण हूँ। हे दामिनीवत् प्रकाशरूप, सबको संहारकर जल में बालकरूप धर वट के नीचे शयन करनेवाले! मैं तेरी शरण हूँ। हे देवतारूप, कमलों के प्रकाश करनेवाले सूर्यमण्डल; दैत्यपुत्ररूपी कमलिनियों के तुषाररूपी बरफ़ को जलानेवाले और हृदयरूपी कमलों के आश्रयभूत! मैं तेरी शरण हूँ। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार जब अनेक गुणों से आठश्लोक प्रह्लाद ने कहे तब विष्णुजी ने प्रह्लाद से कहा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे प्रह्लादाष्टकानन्तरनारायणागमनं
नाम त्रयस्त्रिंशतितमस्सर्गः ॥ ३३ ॥

श्रीभगवान्‌जी बोले, हे गुणनिधि; दैत्यकुल के शिरोमणि! जो तुझको वाञ्छित फल है सो माँगो और जन्मदुःख के शान्ति निमित्त वर माँगो। प्रह्लाद बोले, हे सर्व संकल्प के फलदायक और सर्वलोकों में व्यापकरूप! जो वस्तु दुर्लभतर है वह शीघ्र ही मुझसे कहिये और दीजिये। श्रीभगवान्‌जी बोले, हे पुत्र! सब भ्रम के नाश करनेवाले और परम फलरूप ब्रह्म से विश्रान्ति होती है और वह जिस आत्मविवेक की समता से प्राप्त होती है वही आत्मविवेक तुझको होगा। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार दैत्येन्द्र से कहकर विष्णु अन्तर्धान हो गये। फिर प्रह्लाद ने पुष्पाञ्जली दी और पूजा करके श्रेष्ठ आसन बिछा उसपर आप पद्मासन धरके बैठा और

विधिसंयुक्त उत्तम शास्त्रों का पाठ करने लगा। जब पाठ करके निश्चिन्त हुआ तब विचारने लगा कि विष्णु ने मुझसे क्या कहा था, उन्होंने कहा था कि तुझको विवेक होगा। इसलिये संसारसमुद्र तरने के निमित्त शीघ्र ही विचार करूँ। इस संसार आडम्बर में मैं कौन हूँ जो बोलता हूँ; देह और यह जगत् तो मैं नहीं; यह तो असत्य उपजा है और जड़रूप पवन से स्फुरणरूप होता है सो मैं कैसे होऊँ? यह देह भी मैं नहीं क्योंकि यह तो क्षण-क्षण में काल से लीन होता है और जड़रूप है। श्रवणरूपी जड़ भी मैं नहीं, क्योंकि जो शब्द सुनते हैं वह शून्य से उपजा है। त्वचा इन्द्रिय भी मैं नहीं इसका क्षण-क्षण में विनाश स्वभाव है। प्राप्त हुआ अथवा न हुआ; यह इष्ट है, यह अनिष्ट है; इन्द्रियाँ आप जड़ हैं पर इनके जाननेवाला चैतन्यतत्त्व है और चैतन्य के प्रमाद से ये विषय उपलब्ध होते हैं। इससे न मैं त्वचा इन्द्रिय हूँ और न स्पर्श विषय हूँ; यह जड़ात्मक हैं। यह जो जलरूपी तुच्छ जिह्वा इन्द्रिय है और जिसके अग्र में अल्प जल अणु स्थित है वही रस ग्रहण करता है; वह रस भी आत्मसत्ता करके लब्धरूप होता है आप जड़ है; इससे यह जड़रूप जिह्वा और रस मैं नहीं ये जो विनाशरूप नेत्र दृश्य के दर्शन में लीन हैं सो मैं नहीं और न मैं इनका विषयरूप हूँ, ये जड़ हैं। यह जो नासिका पृथ्वी का अंश है सो केवल आत्मा के आधार है यह आप जड़ है पर इसका जाननेवाला चैतन्य है; सो न मैं नासिका हूँ, न गन्ध हूँ; मैं अहं मम से और मन के मनन से रहित शान्तरूप और ये पञ्च इन्द्रियाँ मेरे में नहीं, मैं शुद्ध चैतन्यरूप कलना कलङ्क और चित्त से रहित चिन्मात्र और सबका प्रकाशक सबके भीतर बाहर व्यापक और निःसंकल्प निर्मल शान्तरूप हूँ। आश्चर्य है कि अब मुझको अपना स्वरूप स्मरण आता है। प्रकाशरूप चैतन्यअनुभव अद्वैत मेरे अनुभव से स्थित है। सूर्य, घट, पटादिक सब पदार्थ में प्रकाशता हूँ। जैसे दीपक से उत्तम तेज भासे तैसे ही चैतन्य अनुभव से इन्द्रियों की शक्ति स्फुरणरूप होती है। जैसे तेज से चिनगारे स्फुरणरूप होते हैं तैसे ही सर्वज्ञ अनुभव सत्ता से मन की मननरूप शक्ति फुरती है। जैसे सूर्य के तेज से मरुस्थल में मृगतृष्णा की नदी फुरती है तैसे ही अनुभव सत्ता

से पदार्थ भासते हैं जैसे दीपक में शुक्लादि रङ्ग भासते हैं, तैसे ही इन पदार्थों में अहं आदिक पदार्थ भासते हैं वह जाग्रद्वत् सब पदार्थों का प्रकाशक है, सबको अनुभव से भासता है और सबके भीतर आत्मभाव से स्थित है। जैसे बीज में अंकुर स्थित होता है तैसे ही चैतन्यरूप दीपक के प्रकाश से विकल्परूपी पदार्थों की शक्ति भासती है। उष्णरूपी सूर्य, शीतलरूपी चन्द्रमा, घनरूपी पर्वत, द्रवतारूपी जल है और इसी प्रकार अनुभव सत्ता से सकल पदार्थ प्रकट होते हैं जैसे सूर्य के प्रकाश से घटपटादिक होते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र ये सबके कारणरूप जगत् में स्थित हैं और इनका कारण अनुभव तत्त्व आदि अन्त से रहित और सब कारणों का कारण है। जैसे बरफ़ से शीतलता उपजती है तैसे ही अनुभव से जगत् उदय होता है। चित्त, चैत्य, दृश्य, दर्शन कलना से रहित प्रकाशरूप सत्ता मेरा आत्मा मुझको नमस्कार है। इसी से सर्वभूत उत्पन्न और स्थित होकर फिर लय होते हैं सो निर्विकल्प चैतन्य सबका आश्रयभूत आत्मा है। जो इस चित्त से अन्तःकरण में कल्पती है। वही होता है। आत्मा से रहित सत्य भी असत्य हो जाता है। जो चैतन्य संवित् में कल्पितरूप होता है सो ही उलटकर अपने स्वरूप को पाता है और जो चित्तसंवित् में कल्पितरूप नहीं होता वह नहीं भासता है। ये जो घट, पटादि पदार्थों के समूह भासते हैं वे विस्तृतरूप चिदाकाश दर्पन में प्रतिबिम्बित हैं और अनुभव सत्ता सब भूतों का आदर्शरूप है। जिनका चित्त नष्ट हो जाता है उन सन्त पुरुषों को ऐसे दृढ़भाव प्राप्त हैं और वे परम आकाशरूप आत्मा में अभ्यास से तन्मय हो जाते हैं अनुभवसत्ता पदार्थों के वृद्ध होने से वृद्ध नहीं होती और नष्ट होने से नष्ट नहीं होती। पदार्थों के भाव अभाव में सत्ता सामान्य ज्यों की त्यों है जैसे सूर्य के प्रतिबिम्ब में घट सत्य हो अथवा असत्य हो सूर्य ज्यों का त्यों है। संसाररूप नाना प्रकार की विचित्र रचना ऐसे आत्मा में स्थित है जैसे विचित्र गुच्छों के संयुक्त वृक्षों की पंक्ति की विचित्र रचना पर्वत पर स्थित होती है तैसे ही संसाररूप दृश्य नाना प्रकार की मञ्जरी को धरनेवाला आत्मसत्ता वृक्ष है जितने भूतगण त्रिलोकी उदर में बर्तते हैं वे सब आत्मा से अभिन्नरूप हैं, ब्रह्मा से आदि तृणपर्यन्त सबका प्रकाशक आत्मा है। यह अनुभवसत्ता आदि अन्त से रहित है; जिसके सब आकार हैं और स्थावर जङ्गम सब जगत् भूत जाति अन्तर अनुभवरूप स्थित है वह एक अनुभव आत्मा मैं हूँ; द्रष्टा दर्शन दृश्य सर्वरूप आत्मा मैं हूँ और सहस्रनेत्र सहस्रहस्त मेरे हैं। मैं हीं चिदाकाशरूप हूँ; सूर्य देह से आकाश में बिचरता हूँ और पवन देह से बहता वायु वाहन पर आरूढ़ हूँ। मैं विष्णुरूप शंख, चक्र, गदा, पद्म के धरनेवाला हूँ; सब सौभाग्य देखनेवाला हूँ और सब दैत्यों को भगाता और नाशकर्ता मैं ही हूँ। मैं नाभिकमल से उत्पन्न हुआ हूँ; पद्मासन से निर्विकल्प समाधि में स्थितरूप ब्रह्मा हूँ और मनवृत्तिरूप को प्राप्त हुआ हूँ मैंने ही त्रिनेत्र आकार लिया है; गौरी मेरी अर्धाङ्गना हैं और सृष्टि के अन्त में सबको मैं ही संहार करता हूँ। जैसे कोई अपने अंगों को संकोच ले तैसे ही मैं संहार करता हूँ। त्रिलोकीरूपी मढ़ी की इन्द्ररूप होकर मैं पालना करता हूँ और कर्मों के अनुसार जैसा कोई भाव करे तैसा फल देता हूँ। तृणबेल और गुच्छों में रस होकर मैं स्थित हूँ; मैं ही उत्पत्तिकर्ता और चेतनरूप हूँ और लीला के निमित्त जगत् आडम्बर विस्ताररूप मैंने ही किया है, जैसे मृत्तिका के खिलौने बालक रच लेता है। मेरे में सब कर्म अर्पण करने से सब शान्ति प्राप्त होती है और मुझसे रहित कुछ वस्तु नहीं; मैं सत्ता स्वरूप आदर्श हूँ, सब पदार्थ मेरे में प्रतिबिम्बित होते हैं, तब यह असत्यरूप भी सत्यता को प्राप्त होता है—इससे मुझसे भिन्न कुछ नहीं। पुष्पों में सुगन्ध, स्त्रियों में सुन्दरता, पुरुषों में अनुभव और स्थावर जङ्गमरूप जो जगत् दृष्ट आता है वह सब मैं हूँ। मैं सब संकल्प से रहित परम चैतन्य हूँ और अहं त्वं आदिक से परे हूँ, जल में रसशक्ति, अग्नि में उष्णता और बरफ़ में शीतलता मैं ही हूँ। जैसे काष्ठ में अग्नि है तैसे ही सबमें स्थित हूँ, सब पदार्थों में मैं परमात्मा व्यापक हूँ और सबको अपनी इच्छा से उपजाता हूँ। जैसे दूध में घृतशक्ति, जल में रसशक्ति और सूर्य में प्रकाशशक्ति है तैसे ही मैं चैतन्यस्वरूप सब पदार्थों में स्थित हूँ। त्रिकाल का जगत सब मेरे में स्थित है और मैं चित्त के उपचार, फुरने से रहित शुद्ध-

स्वरूप और सबका भरण और पोषण करनेवाला और वैराट्राज होकर स्थित भया हूँ। त्रिलोकी का राज्य मुझको अपूर्व प्राप्त हुआ है जो शस्त्रों और देवों के दल विना निरक्षित विस्तृत है। बड़ा आश्चर्य है कि मैं इतना बड़ा विस्तृतरूप हूँ और अपने आपमें नहीं समाता, जैसे कल्पान्तर के वायु से उछला समुद्र आपमें नहीं समाता। मैं अनन्तरूप आत्मा अपनी इच्छा से आप प्रकाशता हूँ। जैसे क्षीरसमुद्र अपनी उज्ज्वलता से शोभता है तैसे ही मैं भी अपने आपसे शोभता हूँ। यह जगत्रूपी मटकी महाअल्परूप है—जैसे बिल में हाथी नहीं समाता तैसे ही मैं अपने आप में विस्तृतरूप से जगत् में नहीं समाता। मैं कोटि ब्रह्माण्ड में व्यापक हूँ और ब्रह्मलोक से परे जो तत्त्वों का अन्त आता है उससे भी परे मैं अनन्तरूप हूँ। यह मैं हूँ, यह मैं नहीं, यह निर्बलता मेरे में तुच्छरूप है; मैं तो आदि अन्त से रहित चैतन्य आकाश हूँ और मेरे में परिच्छिन्नता मिथ्या भासती थी। मैं, तू, यह, वह आदिक मिथ्या भ्रम है। देह क्या, पर क्या और अपर क्या; मैं तो सर्वव्यापक चैतन्य तत्त्व हूँ। मेरे पितामह बड़े नीचबुद्धि थे जो ऐसे ऐश्वर्य को त्यागकर तुच्छ ऐश्वर्य में खचित हुए थे। कहाँ यह महादृष्टि सर्वका कर्ता ब्रह्मवपु और कहाँ वह संसारभ्रम का राज अनित्यरूप सुखभोग दुःखदायक। अनन्त सुख, परम उपशम स्वभाव, शुद्धचैतन्य दृष्टि अब मेरे में हुई है। सब भाव पदार्थों में चैत्य से रहित मैं चैतन्य आत्मा स्थित हूँ। अब मुझको नमस्कार है, क्योंकि मेरी जय हुई है और जीर्णरूप संसारभ्रम से निकला हूँ। इससे मेरी जीत हुई है, पाने योग्य आत्मपद पाया है और जीवन सार्थक हुआ है। ऐसा उत्तम समराज चक्रवर्ती में भी नहीं मिलता। ये जीव निरन्तर बोध को त्यागकर दुःखरूपी कार्यों में रमते हैं। काष्ठ, जल और मृत्तिका से संयुक्त जो पृथ्वी है उसको पाकर जो भुलायमान हुए हैं उनको धिक्कार है; वे कीट हैं। यह द्रव्य ऐश्वर्य अविद्यारूप हैं, अविद्या से उपजे हैं और अविद्यारूप इनका बढ़ना है। इनमें क्या गुण है जिस निमित्त यत्न करते हैं? इस जगत्रूपी मढ़ी में कई वर्ष हिरण्यकशिपु ने राजसुख भोगा परन्तु उपशम जो शान्तिसुख है उसको न प्राप्त हुआ। उसने एक जगत का राज किया है परन्तु जो सौ जगतों का राजसुख हो तौ भी अनास्वाद है इससे वह जो समतारूप आत्मानन्द है सो नहीं प्राप्त होता। जब उस आत्मानन्द के स्वाद का यत्न हो तब प्राप्त हो, अन्यथा नहीं होता। जिस पुरुष को बड़े ऐश्वर्य और इन्द्रियों के सुख प्राप्त हुए हैं पर समतासुख से रहित है तो जानिये कि उसको कुछ ऐश्वर्य और सुख नहीं मिला और जिनको कुछ ऐश्वर्य और सुख नहीं प्राप्त हुआ पर समता सुख संयुक्त हैं उनको सब कुछ प्राप्त हुआ जानिये। वे परम अमृत से संपन्न हैं और अखण्डित सुख जो आत्मा है उस परमसुख को प्राप्त हुए हैं और आनन्दरूप हैं। जो अखण्डपद को त्यागकर परिच्छिन्नता को प्राप्त है वह मूढ़ है और जो पण्डित और ज्ञानवान् है वह परिच्छिन्नता में प्रीति नहीं करता। जैसे ऊँट दूसरे पदार्थों को त्यागकर कण्टकों के पास धावता है और दूसरा पशु नहीं जाता तैसे ही मूढ़ विना ऐसा कौन है जो आत्मसुख को त्यागकर जले हुए राजसुख में रमै और अमृत को त्यागकर नीम का पान करे। मेरे पितामह और जो बड़े सब मूढ़ हुए हैं वे इस परम अमृतरूप दृष्टि को त्यागकर राजकण्टक में प्रीतिमान् हुए हैं। कहाँ फूल फलादिक से संयुक्त नन्दनवन की भूमिका और कहाँ जले हुए मरुस्थल की भूमिका। तैसे ही कहाँ यह शान्तरूप बोधदृष्टि और कहाँ भोगों में आत्मबुद्धि। इससे ऐसा पदार्थ त्रिलोकी में कोई नहीं जिसकी मैं इच्छा करूँ। सब चैतन्यस्वरूप हैं और अनुभव कर्ता चैतन्यतत्त्व स्वच्छसमभाव और निर्विकार, सर्वदा, सर्व में, सर्व ओर से स्थित है। यह जैसे है तैसा पाया जाता है—ज्ञानवान् को प्रत्यक्ष है। सूर्य में प्रकाश, चन्द्रमा में अमृत स्रवन, ब्रह्मा में महत्, इन्द्र में त्रिलोकपालन, विष्णुजी में सब ओर से पूर्ण लक्ष्मीशक्ति है, शीघ्र मननकर्ता शक्ति मन की है, बलवान् शक्ति पवन में, दाहक अग्नि में, रसशक्ति जल में है और मौन से महातप की सिद्धता शक्ति और बृहस्पति में विद्या, देवताओं में विमानों पर आरूढ़ होकर आकाशमार्ग गमन करने की शक्ति है। पर्वतों में स्थिरता, वसन्त ऋतु में पुष्प, सबकाल मेघों की शान्तशक्ति, यक्षों में ममत्वशक्ति, आकाश में निर्लेपता, बरफ़ में शीतलता, ज्येष्ठ आषाढ़ में तप्तता इत्यादिक देश,

काल, क्रियारूप नाना प्रकार के आकार विकार जो त्रिकाल के उदर में स्थित हैं सो सर्वशक्ति, स्वच्छ, निर्विकार कलनारूप कलङ्क से रहित चैतन्य की है सो इस प्रकार हो भासती है और वही आत्मतत्त्व सब पदार्थ जाति में व्यापक हुआ है। जैसे सूर्य का प्रकाश सर्व ओर से समान उदय होता है तैसे ही वह सर्व देश पदार्थों का भण्डार और सर्व का आश्रयभूत है; त्रिकाल उसी में कल्पितरूप होते हैं। जैसे अनुभव उसमें होता है तैसा ही तत्काल हो भासता है। जैसे जैसे चैतन्यतत्त्व में देश, काल और क्रिया द्रव्य का फुरना होता है तैसा ही तैसा भासता है। आत्मा में त्रिकालों की सम प्रतिभा फुरी है, उसमें फिर अनन्तकाल की प्रतिभा हुई है और शुद्ध चैतन्यतत्त्व सर्व ओर से पूर्ण है। त्रैकालिक दृश्यसंयुक्त भासता है तो भी चैतन्यतत्त्व शेष रहता है और इसी को त्रिकाल का ज्ञान होता है। मधुर, कटुक आदिक भिन्न भिन्न रसों में एक समता भासती है। जैसे मधुरता पान करनेवाले जीवों को मधुरता भासती है और को नहीं भासती तैसे ही जो संकल्पकलना है सबको भोगता है। सूक्ष्म चैतन्यसत्तास्वरूप सब पदार्थों का अधिष्ठान है उससे अनागत होकर द्वैत जगत् भासता है और नाना प्रकार की जो पदार्थ लक्ष्मी है वह अत्यन्त दुःख को प्राप्त करती है। जब त्रिकाल का अनुभव होता है तब सबही सम भासता है। भाव पदार्थों में जो पदार्थ हैं वे ईश्वर के हैं; उन भाव पदार्थों को त्यागकर अभाव की भावना करने से दुःख सब नष्ट हो जाते हैं और संतुष्टता प्राप्त होती है। इससे त्रिकाल को मत देखो, यह बन्धनरूप है। त्रिकाल से रहित जो चैतन्यतत्त्व है उसके देखने से विभाग कल्पना काल का अभाव हो जाता है और एक सम आत्मा शेष रहता है जिसको वाणी वश कर नहीं सकती और जो असत्य की नाईं निरन्तर स्थित है उसकी प्राप्ति होती है। अनामय सिद्धान्त शून्यवादी की नाईं स्थित होता है निष्किञ्चन आत्मा ब्रह्म होता है अथवा सर्वरूप परम उपशम में लीन होता है और जिसका अन्तःकरण मलीन है और संकल्प में स्थित है उसको ज्यों का त्यों नहीं भासता—जगत् भासता है और जिसकी इच्छा नष्ट हुई है और परमपद का अभ्यास करता है उसको आत्मतत्त्व भासता है जो किसी जगत् के पदार्थ की वाञ्छा

करता है और हेयोपादेय फांसी से बांधा है वह परमपद नहीं पा सकता—जैसे पेटसे बांधा पक्षी आकाशमार्ग में नहीं उड़ सकता। जो पुरुष संकल्पकलना संयुक्त है वह मोहरूपी जाल में गिर पड़ता है—जैसे नेत्रों विना मनुष्य गिर पड़ता है। संकल्प कलनाजाल से जिसका चित्त वेष्टित है वह विषयरूपी गढ़े में गिरा है और अच्युतपदवी को प्राप्त नहीं होता। मेरे पितामह कई दिन पृथ्वी में फुर फुर के लीन हो गये हैं वे बालकवत् नीच थे। जैसे गढ़े में मच्छर लीन हो जाते हैं तैसे ही अज्ञान से वे परमतत्त्व को न जानते थे। भोगों की वाञ्छा जो दुःखरूप है अज्ञानी करते हैं और उससे भाव अभावरूप गढ़ और अन्धकूप में नष्ट होते हैं। और इच्छा और द्वेष से जो उठा है उससे बन्धायमान हुए हैं। जैसे पृथ्वी में कीट मग्न होते हैं वे जीव उनके तुल्य हैं और जिनको मृगतृष्णारूप जगत् के पदार्थों में ग्रहण त्याग की बुद्धि शान्त हुई है वे पुरुष जीते हैं, और सब नीच मृतकरूप हैं। कहाँ निर्मल और अविच्छिन्नरूप चैतन्यचन्द्रमावत् शीतलता और कहाँ उष्णकाल कलङ्क संयुक्त चित्त की अवस्था। अब मेरे आत्मा को नमस्कार है जो अविच्छिन्न प्रकाशता है और प्रकाश और तम दोनों का प्रकाशरूप है। हे चिदात्मा देव! मुझको तू चिरकाल से प्राप्त होकर परमानन्द हुआ है जो विकल्परूपी समुद्र से मेरा उद्धार किया है। जो तू है, वह मैं हूँ और जो मैं हूँ सो तू है तुझको नमस्कार है। संकल्प विकल्प कलना के नष्ट हुए अनन्तशिव आत्मतत्त्व का चन्द्रमा सदा निर्मल और उदितरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे प्रह्लादोपदेशो नाम
चतुस्त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३४ ॥

प्रह्लाद बोले कि जिसका नाम 'ओं' है वह विकार से रहित ब्रह्म में हैं। जो कुछ जगत् है वह सब आत्मस्वरूप, सत्य-असत्य से अतीत, चैतन्यस्वरूप और सब जीवों के भीतर है। सूर्यादिक में प्रकाश वही है, अग्नि आदिक को उष्णकर्ता वही है और चन्द्रमा में शीतकर्ता वही है। अमृत का स्रवना आत्मा से ही है और इन्द्रियों के भोगों का भोक्ता अनुभवरूप वही है। राजा की नाईं खड़ा बैठा हूँ तो मैं कभी नहीं बैठा और चलता हूँ तो कभी नहीं चलता और न व्यवहार करता हूँ। मैं सदा

शान्तरूप कर्ता हूँ किसी से लेपायमान नहीं होता। त्रिकालों में समरूप हूँ और सर्वदा सर्व अवस्था में पदार्थों के उपजने और मिटने में सदा ज्यों का त्यों हूँ। ब्रह्मा से आदि तृणपर्यन्त सब जगत् में आत्मतत्त्व स्थित है पवन जो स्पन्दरूप है उसमें भी मैं अतिसूक्ष्म स्पन्दरूप हूँ; पर्वत स्थान जो अचल पदार्थ हैं उनसे भी मैं अचल हूँ; आकाश से भी अति निर्लेप हूँ। मन को भी आत्मा चलाता है—जैसे पत्रों को पवन चलाता है और इन्द्रियों को आत्मा फेरता है—जैसे घोड़े को सवार चलाता है। समर्थ चक्रवर्ती राजा की नाईं मैं भोग भोगता हूँ और अपने ऐश्वर्य से आप शोभता हूँ। संसारसमुद्र में जरा मरणरूपी जल के पार करनेवाला आत्मा है। यह सबसे सुलभ है और अपने आपसे जाना जाता है और बान्धव की नाईं प्राप्त होता है। आत्मा शरीररूपी कमलों के छिद्रों का भँवरा है और विना खेंचे बुलाये सुलभ आ प्राप्त होता है। जो कोई अल्प भी उसको बुलाता है तो उसी क्षण वह उसके सम्मुख होता है इसमें कोई संशय और विकल्प नहीं। वह निष्कलंक और परम सम्पदावान् है और सदा स्वस्थरूप है। रसदायक पदार्थों में जैसे रस स्वाद है, पुष्पों में सुगन्ध और तिलों में तेल है तैसे ही वह देव परमात्मा देहों में स्थित है तो भी अविचार के वश से नहीं जाना जाता; जैसे चिरकाल उपरान्त आया बान्धव अपने आगे आन स्थित हो तो भी उसको नहीं पहिचाना जाता। जब विचार उदय होता है तब आत्मा परमेश्वर को जान लेता है। जैसे किसी प्रियतम बान्धव के पाने से आनन्द उदय होता है तैसे ही आत्मा देव के साक्षात्कार से परम-आनन्द उदय होता है और सब बान्धवपन नष्ट हो जाता है; जितनी कुछ दुष्ट चेष्टा है उसका अभाव हो जाता है, सब ओर से बन्धन फाँस टूट जाती है; सब शत्रु क्षय हो जाते हैं और आशा फिर नहीं फुरती—जैसे पर्वत को चूहा तोड़ नहीं सकता। ऐसे देव के देखे से सब कुछ देखना होता है और सुने से सब कुछ सुनना होता है; उसके स्पर्श किये से सब जगत् का स्पर्श होता है और उसकी स्थिति से सर्वजगत् स्थित भासता है। यह जो जाग्रत् है सो संसार की ओर से स्वप्न है; उसी जाग्रत् से

अज्ञान नष्ट हो जाता है और जितनी आपदा हैं उनका कष्ट दूर हो जाता है। आत्मा के प्राप्त हुए आत्मामय हो जाता है और वह विस्तृतरूप आत्मा दीपकवत् साक्षीभूत होता है। जगत् की स्थिति में भोगों से राग उठा है, सब ओर से आत्मतत्त्व का प्रकाश भासता है और भीतर शान्तरूप सबको अनुभव करनेवाला सब देहों में मैं स्थित हूँ। जैसे मिरचों में तीक्ष्णता स्थित है तैसे ही सब जगत् के भीतर बाहर मैं व्याप रहा हूँ। जो कुछ जगत् के पदार्थ भासते हैं उन सबमें ईश्वररूप सत्ता सामान्य स्थित है; आकाश में शून्यता; वायु में स्पन्दता; तेज में प्रकाश; जल में रस; पृथ्वी में कठोरता; चन्द्रमा में शीतलतारूप वही है और सब जगत् में अनुस्यूत एक आत्मतत्त्व ही व्याप रहा है। जैसे बरफ़ में श्वेतता; और पुष्पों में गन्ध है तैसे ही सब देहों में आत्मा व्यापक है। जैसे सर्वगत काल है और सर्वव्यापक आकाश है तैसे ही सब जगत् में आत्मा व्यापक है। जैसे राजा की प्रभुता सबमें होती है तैसे ही मुझसे भिन्न और कोई कलना नहीं है जैसे धूलि को पकड़ के आकाश को स्पर्श नहीं कर सकते; कमलों को जल स्पर्श नहीं करता और पाषाण को स्फुरणभ्रम स्पर्श नहीं करता तैसे ही मेरे साथ किसी का सम्बन्ध नहीं स्पर्श करता। सुख दुःख का सम्बन्ध देह को होता है यदि देह चिरकाल रहे अथवा अबहीं नष्ट हो तो मुझको लाभ हानि कुछ नहीं। जैसे दीपक की प्रभा रज्जु से नहीं बाँधी जाती तैसे ही आत्मा किसी से बाँधा नहीं जाता; सब पदार्थों के ग्रहण में अबन्धरूप है। जैसे आकाश किसी से बाँधा नहीं जाता और मन किसी से रोका नहीं जाता तैसे ही परमात्मा को देह इन्द्रिय का सम्बन्ध वास्तव में नहीं होता। यदि शरीर के टुकड़े हो जावें तो भी आत्मा का नाश नहीं होता—जैसे घट फूटे से दूध आदिक पदार्थ नहीं रहता परन्तु आकाश कहीं नहीं जाता वह ज्यों का त्यों ही रहता है तैसे ही देह के नाश हुए प्राणकला निकल जाती है आत्मा का कुछ नाश नहीं होता और पिशाच की नाईं उदय होकर भासता है। जिसका नाम मन है उस मन से जगत् भासित हुआ है और उसी में जड़ शरीर के नाश का निश्चय हुआ है, हमारा क्या नाश होता है? जिसके

मन से दुःख सुख की वासना नाश होती है सो भोगों से निवृत्त होकर सुख सम्पन्न होता है और ग्रहण करते भोगते अज्ञानी दुःख पाते हैं। यह बड़ा आश्चर्य है कि आत्मा के अज्ञान से मूढ़ दुःख पाता है। अब मैंने आत्मतत्त्व देखा है, उससे मेरा भ्रम शान्त हो गया है और कुछ भी किसी से मुझको क्षोभ नहीं अब मुझे न कुछ भोगों के ग्रहण करने की इच्छा है और न त्याग की वाञ्छा है; जो जावे सो जावे और जो प्राप्त हो सो हो, न मुझको देहादि के सुख की अपेक्षा है; न दुःख के निवृत्ति की अपेक्षा है सुख दुःख आवे और जावे मैं एकरस चिदानन्दस्वरूप हूँ जिस देह में वासना करने से नाना प्रकार की वासना उपजती है वह देह भ्रम मेरा नष्ट हो गया है, यह वासना नहीं फुरती। इतने कालपर्यन्त मुझको अज्ञानरूपी शत्रु ने नाश किया था अब मैंने आपको जाना है और अब इसको मैं चूर्ण करता हूँ। इस शरीररूपी वृक्ष में अहंकाररूपी पिशाच था सो मैंने परमबोधरूपी मन्त्र से दूर किया है इससे पवित्र हुआ हूँ और प्रफुल्लित वृक्षवत् शोभता हूँ। मोहरूपी दृष्टि मेरी शान्त हुई है, दुःख सब नष्ट हुए हैं और विवेकरूपी धन मुझको प्राप्त हुआ है। अब मैं परम ईश्वररूप होकर स्थित हुआ हूँ। जो कुछ जानने योग्य था सो मैंने जाना है और जो कुछ देखने योग्य था वह देखा है। अब मैं उस पद को प्राप्त हुआ हूँ जिसके पाने से कुछ पाने योग्य नहीं रहता। अब मैंने आत्मतत्त्व को देखा है; विषयरूपी सर्प मुझको त्याग गया है; मोहरूपी कुहिरा नष्ट हो गया है इच्छारूपी मृगतृष्णा शान्त हो गई और रागद्वेषरूपी धूलि से रहित सब ओर से निर्मल हुआ हूँ। अब मैं उपशमरूपी वृक्ष से शीतल हुआ हूँ और सब ओर से विस्तृतरूप को प्राप्त हुआ हूँ। अब मैंने सबसे उचित परमात्म देव को ज्ञान और विचार से पाया है और प्रकट देखा है। अधोगति का कारण जो अहंकार है उसको मैंने दूर से त्याग दिया है और अपना स्वभावरूप जो आत्मभगवान् सनातन ब्रह्म है जो अहंकार के वश से विस्मरण हुआ था उसे अब चिरकाल करके देखा है। इन्द्रियरूपी गढ़े में मैं गिरा था और रागद्वेषरूपी सर्प से दुःख पाकर मृत्यु को प्राप्त हुआ था। मृत्यु की भूमिका टोये विना तृष्णारूपी कंजुये की कुञ्जों में मैं भ्रमता रहा जहाँ कामरूपी कोयल के शब्द होते थे और जन्मरूपी कूप में दुःख पाता था। सुख के पाने की आशा में डूबा; वासनारूपी जाल में फँसा; दुःखरूपी दावाग्नि में जला और आशारूपी फाँसी से बँधा हुआ मैं कईबार जन्ममरण को प्राप्त हुआ था, क्योंकि अहंकार के वश हुए जन्म मृत्यु को प्राप्त होता ही है—जैसे रात्रि में पिशाच दिखाई दे और अधीरता को प्राप्त करे तैसे ही मुझको अहंकार ने किया था सो अब परमात्मरूप की मुझको तुमने प्रेरणा की है और अपनी शक्ति विष्णुरूप धारकर विवेक उपदेश किया और जगाया है। हे देव, ईश्वर! तुम्हारे बोध से अहंकाररूपी राक्षस नष्ट हुआ है। हे विभो! अब मैं उसको नहीं देखता जैसे दीपक से तम नहीं भासता। अहंकाररूपी जो यक्ष था और मन में जो वासना थी वह सब नष्ट हुई है। अब मैं नहीं जानता कि वे कहाँ गये—जैसे दीपक निर्वाण होता है तब नहीं जाना जाता कि प्रकाश कहाँ गया। हे ईश्वर! तुम्हारे दर्शन से मेरा अहंभाव नष्ट हुआ है। जैसे सूर्य के उदय हुए चोरभय मिट जाता है तैसे ही देहरूपी रात्रि में अहंकाररूपी पिशाच उठा था वह अब नष्ट हुआ है और अब मैं परम-स्वस्थ हुआ हूँ। जैसे वानरों से रहित वृक्ष स्वस्थ होता है तैसे ही मैं परम निर्वाण को प्राप्त हुआ हूँ। अब मैं सम और शान्त बोध में जागा हूँ और चिरपर्यन्त चोरों से जो घिरा था सो अब छूटा हूँ। अब मेरा हृदय शीतल हुआ है और आशारूपी मृगतृष्णा शान्त हो गई है। जैसे जल से पर्वत की तप्तता मिटे और वर्षा से शीतलता को प्राप्त हो तैसे ही विवेकरूपी विचार से अहंकाररूपी तप्तता दूर हो गई है। अब मोह कहाँ और दुःख कहाँ, आशारूपी स्वर्ग कहाँ और नरक कहाँ; बन्ध कहाँ और मुक्त कहाँ। अहंकार के होने से पदार्थ भासते हैं, अहंकार के गये इनका अभाव हो जाता है। जैसे मूर्ति दीवार पर लिखी जाती है आकाश पर नहीं लिखी जाती तैसे ही अहंकार संयुक्त जो चेतन है वह नहीं शोभता अहंकार से ही सुख दुःखादिक का पात्र होता है। जैसे मलीन वस्त्र पर केशर का रङ्ग नहीं शोभता तैसे ही उसमें ज्ञान नहीं शोभता जब अहंकाररूपी मेघ का अभाव हो तब तृष्णारूपी कुहिरा भी नहीं रहता और

शरत्काल के आकाशवत् स्वच्छ चित्त रहता है। निरहंकाररूपी जल में प्रसन्नतारूपी कमलों से शोभता है। हे आत्मा! तुझको नमस्कार है। इन्द्रियाँरूपी तेंदुये और चित्तरूपी बड़वाग्नि, दोनों जिससे नष्ट भये हैं ऐसे आत्मारूपी समुद्रआत्मा को नमस्कार है; जिससे अहंकार मेघ दूर हुआ है और दावाग्नि शान्त हुई है। ऐसा जो आत्मानन्दरूपी पर्वत है उस आनन्द के आश्रय मैंने विश्राम पाया है। हे देव! तुझको नमस्कार है। जिसमें आनन्दरूपी कमल प्रफुल्लित हैं और जिससे चित्तरूपी तरङ्ग शान्त हुआ है ऐसा जो मानसरोवर में आत्मा हूँ उसको नमस्कार है। आत्मारूपी हंस में संवित्‌रूपी पंख हैं और हृदयरूपी कमलों से पूर्ण मानसरोवर पर विश्राम करनेवाले को नमस्कार है। कालरूपी कलना से रहित निष्कलङ्क; सदा उदितरूप, सब ओर से पूर्ण और शान्त आत्मा तुझको नमस्कार है। मैं सदा उदित, शीतल हृदय का तम दूर करता, और सर्वव्यापक हूँ, परन्तु अज्ञान से अदृष्ट हुआ था सो उस चैतन्य सूर्य को नमस्कार है। मन के मन से जो उपजे थे वह अब शान्त हुए हैं और मन को मन से और अहं को अहं से छेद के जो शेष रहे सो ही मेरी जय है। भावरूप जो दृश्य पदार्थ हैं उनको आत्मभाव से तृष्णा को अतृष्णा के छेद से, अनात्मा को आत्मविचार द्वारा नष्ट किये से और ज्ञान से ज्ञेय को जाने से मैं निरहंकार पद को प्राप्त हुआ हूँ और भाव अभाव क्रिया नष्ट हो गई है। मैं अब केवल स्वस्थित हूँ और निर्भय, निरहंकार, निर्मन, निष्पन्द, शुद्धात्मा हूँ। मेरा शरीर शव की नाईं स्थित है, लीला करके मैंने अहंकार को जीता है; परम उपशम को प्राप्त हुआ हूँ और परम शान्ति मुझको प्राप्त हुई है मोहरूपी वैताल और अहंकाररूपी राक्षस नष्ट हुए हैं; वासनारूपी कुत्सित भूमिका से मुक्त और विगतज्वर हुआ हूँ और तृष्णारूपी रस्सी से जो बँधा हुआ देह पिंजर था और उसमें अहंकाररूपी पक्षी फँसा था सो तृष्णारूपी रस्सी विवेकरूपी कतरनी से काटी है। अब जाना नहीं जाता कि शरीररूपी पिंजरे से अहंकाररूपी पक्षी कहाँ निकल गया। अज्ञानरूपी वृक्ष में अहंकाररूपी पक्षी रहता था आत्मा के जानने से जाना नहीं जाता कि कहाँ गया? दुराशारूपी दुर्मति ने धूसर किया था; भोगरूपी भस्म ने शुद्ध दृष्टि दूर की थी और वासना से हम मृतक हो गये थे। इतने काल से मैं चित्त की भूमिका में मिथ्या अहंकार को प्राप्त हुआ था। अब मैं आनन्दित हुआ हूँ आज ही मेरी बड़ी शोभा बढ़ी है; अहंकाररूपी महामेघ नष्ट हुआ है और उसमें तृष्णारूपी श्यामता थी वह नष्ट हुई है। अब मैं निर्मल आकाशवत् शोभता हूँ; अब मैंने आत्म भगवान् देखा है और अपने स्वरूप को प्राप्त हुआ हूँ और अनुभवरूप सदा प्राप्त है। प्रभुता के समूह के आगे अज्ञान अल्परूप है।

इतिश्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे आत्मलाभचिन्तनं नाम पञ्चत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३५ ॥

प्रह्लाद बोले, हे महात्मा पुरुष! तुझको नमस्कार है। तू सर्वपद से अतीत आत्मा चिरकाल में मुझको स्मरण आया है और तेरे मिलने से मेरा कल्याण हुआ है। हे भगवन्! तुमको देखकर सब ओर से नमस्कार करता हूँ और हृदय से तुमको आलिंगन करूँगा। त्रिलोकी में तुझसे अन्य बान्धव कोई नहीं। तू सबसे सुखदायक है और सबका तू ही संहार करता और रक्षा करता है और देने और लेनेवाला भी तू ही है। अब तू क्या करेगा और कहाँ जावेगा? तूने अपनी सत्ता से विश्व को पूर्ण किया है और विश्वरूप भी तू ही है। अब सब ओर से मैं तुझको देखता हूँ और तूही नित्यरूप सर्वत्र है। तेरे और मेरे में अनेक जन्म का अन्तर पड़ा था पर अब कल्याण हुआ जो तुझको देखा है। तू अत्यन्त निकट है और परम बान्धवरूप है—तुझको नमस्कार है। तू सबका कृतसत्यस्वरूप कर्त्ता हर्त्ता है और संसार तेरा नृत्य है। हे नित्य, निर्मल स्वरूप! तुझको नमस्कार है। शंख, चक्र, गदा और पद्म के धारनेवाले विष्णु और अर्ध चन्द्रमा के धारनेवाले सदाशिवरूप तुझको नमस्कार है। हे सहस्रनेत्र, इन्द्र! तुझको नमस्कार है। पद्मज ब्रह्मा सब देवविद्या का सम्बन्ध तू ही है। तेरे में कुछ भेद नहीं तो तुम्हारे हमारे में भेद कैसे हो? जैसे समुद्र और तरङ्गों का संयोग अभेद है तैसे ही तेरा और मेरा संयोग अभेद है। तू ही अनन्त और विचित्ररूप है और भाव-अभावरूप जगत के धरनेवाली नीति है—जो जगत् की मर्यादा करती है। हे द्रष्टा

रूप ! तुझको नमस्कार है । हे सर्वज्ञ ! सर्वस्वभावरूप आत्मदेव ! जन्म प्रति जन्म मैं बहुत दुःखमार्ग में विचरा हूँ और तेरी माया से चिरकाल दग्ध हुआ हूँ । हे देवेश ! देशलोक मैंने अनन्त देखे हैं और दृश्य द्रष्टा भी अनेक देखे हैं परन्तु किसी से तृप्त न हुआ । जगत् को जिस ओर देखूँ उसी ओर से काष्ठ, पाषाण, जल, मृत्तिका, आकाश दृष्ट आता था अब तुझ विना कुछ और दृष्ट नहीं आता अब वाञ्छा किसकी करूँ जब तुझको देखा है और उपलब्धस्वरूप को प्राप्त हुआ हूँ । तुझको नमस्कार है । नेत्रों की श्यामता में जो पुतलीरूप स्थित है और रूप को देखता है वह साक्षीभूत भीतर कैसे नहीं देखता ? जो त्वचा में स्पर्श करता है और शीत उष्णादिक को जानता है ऐसा सर्व अङ्गों में व्यापक अनुभवकर्त्ता है—जैसे तिलों में तेल व्यापक होता है । उसको अनुभव कोई नहीं करता । जो शब्द को श्रवण इन्द्रिय के भीतर ग्रहण करता है उस शब्दशक्ति का जो जाननेवाली सत्ता है और जिसमें शब्दशक्ति का विचार होता है इससे रोम खड़े हो आते हैं सो सत्ता दूर कैसे हो ? जो जिह्वा के अग्र में रस स्वाद को ग्रहण करता है उस रस के अनुभव करनेवाली सत्ता दूर कैसे हो ? नासा में जो ग्रहणशक्ति है उसको गन्ध आती है उसको अनुभव करनेवाली अलेप सत्ता है सो सम्मुख कैसे न हो ? वेद वेदान्त, सप्तसिद्धान्त, पुराण और गीता से जो जानने योग्य आत्मा है उसको जब जाना तब विश्राम कैसे न हो ? वह तो परावर परमात्मा पुरुष है । जिन भोगों की मैं तृष्णा करता था वह भोग विद्यमान रमणीय हैं तो भी तेरे दर्शन से रस नहीं देते । हे स्वच्छरूप, निर्मलप्रकाश ! तू सूर्यभाव होकर प्रकट हुआ है और तेरी सत्ता से चन्द्रमा शीतल हुआ है; तेरी सत्ता से पृथ्वी स्थित है; तेरी सत्ता से देवता आकाशमार्ग में विचरते हैं और तेरी सत्ता से आकाश में आकाशभाव है । मेरी अहंता तेरे में तत्त्व को प्राप्त हुई है; तेरे और मेरे में भेद कुछ नहीं । तुझे और मुझे नमस्कार है । मैं सम, स्वच्छ, साक्षीरूप, निर्विकार और देश, काल पदार्थ के परिच्छेद से रहित हूँ । मन जब क्षोभ को प्राप्त होता है तब इन्द्रियों की वृत्ति स्फुरणरूप होती है और प्राण, अपानशक्ति जब उल्लास को प्राप्त

होती है तब देहरूपी यन्त्र बहता है उस यन्त्र में चर्म अस्थि आदिक लकड़ियाँ और रस्सी हैं; इन्द्रियरूपी घोड़े हैं और मनरूपी सारथी चलानेवाला है । उस देहरूपी रथ में मैं चेतनरूप स्थित हूँ, परन्तु मैं किसी में आस्था नहीं करता । देह रहे अथवा गिरे मुझको कुछ इच्छा नहीं; मैं अब आत्मलाभ को प्राप्त हुआ हूँ और चिरकाल से पीछे उपशम को प्राप्त हुआ हूँ । जैसे कल्प के अन्त में जगत् शान्ति को प्राप्त होता है तैसे ही दीर्घ संसारमार्ग में मैं चिरकाल तक भ्रमता २ अब विश्राम को प्राप्त हुआ हूँ । जैसे कल्प के अन्त में वायु चलता २ रह जाता है । हे सर्वरूपात्मा ! तुझको नमस्कार है—जो तुझको और मुझको इस प्रकार जानते हैं । हे देव ! सम्पूर्ण जगत्जाल जो विस्तृतरूप है उसका तुमने कदाचित् स्पर्श नहीं किया—तुम्हारी जय है । जैसे पुष्पों में गन्ध और तिलों में तेल रहता है तैसे ही तुम सब देहों में रहते हो । तुम सर्वजगत् के प्रकाशक दीपक हो । उत्पत्ति और प्रलयकर्ता और सदा अकर्तारूप तेरी जय है तेरे परमाणु चिद्अणु में यह विस्ताररूप जगत् स्थित है जैसे वटबीज में वृक्ष होता है; फिर और में और होता है तैसे ही चिद्अणु में जगत् है । जैसे आकाश में एक बादल के अनेक आकार दृष्ट आते हैं तैसे ही चित्तकला फुरने से अनेक पदार्थ भ्रमरूप भासते हैं । इस संसार के जो क्षणभंगुररूप पदार्थ हैं इनकी अभावना किये से अब भाव अभाव से रहित भाव को देखता हूँ । मुझे अब यह निश्चय हुआ है कि मान, मद, क्रोध और कलुषता, कठोरता आदिक विकारों में महापुरुष नहीं डूबते पर जिनकी नीच प्रकृति है वे इन दोषों और अवगुणों में डूबते हैं । पूर्व जो मेरी महादुरात्मा नीच अवस्था थी उसको स्मरण करके अब मैं हँसता हूँ कि मैं कौन था और क्या जानता था । हे मेरे आत्मा ! मैं उस पद को प्राप्त हुआ था जहाँ चिन्तारूपी अग्नि की ज्वाला थी और दग्ध हुए जीर्णसंसार के आरम्भ थे पर अब देहरूपी नगर में स्फाररूपी परमार्थ की जय है और अब दुःख ग्रहण कर नहीं सकते । जहाँ दुष्ट इन्द्रियाँरूपी घोड़े और मनरूपी हाथी जाता था उस भोगरूपी शत्रु को अब चारों ओर से भक्षण किया है और निष्कण्टक राजा चक्रवर्ती हुआ हूँ । तू परम सूर्य है और परम आकाश में तेरा मार्ग

है; उदय-अस्त से रहित तू नित्य प्रकाशरूप है और सबके भीतर बाहर प्रकाशता है। अब मैं भोगों को लीलारूप देखता हूँ—जैसे कामी कामिनी को देखे परन्तु इच्छा से रहित हो तैसे ही तू ग्रहण करता है। नेत्ररूपी झरोखे में बैठकर तू रूप विषय को ग्रहण करता है और अपनी शक्ति से इसी प्रकार सब इन्द्रियों में वही रूप धारकर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विषयों को ग्रहण करता है। ब्रह्मकोटर में जो देश हैं उनमें प्राण अपान शक्ति से तू ही बिचरता है, ब्रह्मपुरी में जाता है और क्षण में फिर आता है और सब जगत् देहों में तू ही बिचरता है। देहरूपी पुष्पों में तू सुगन्ध है; देहरूपी चन्द्रमा में तू अमृत है; देहरूपी वृक्ष में तू रस है और देहरूपी बरफ़ में तू शीतलता है। दूध में घृत, काष्ठ में अग्नि, उत्तम स्वादों में स्वाद; तेज में प्रकाश और सर्व असर्व को सिद्धकर्ता पूर्ण तू ही है और सर्व जगत् का प्रकाशक भी तू ही है। वायु में स्पन्द, मन में मुदिता और अग्नि में तेज तुझी से सिद्ध है; प्रकाश में प्रकाश तू है और सब पदार्थों को सिद्धकर्ता दीपक तू है पर लीन हुए से जाना नहीं जाता कि कहाँ गया। संसार में जितने पदार्थ और अहं त्वं आदिक शब्द हैं वे ऐसे हैं जैसे सुवर्ण में भूषण होते हैं सो तूने अपनी लीला के निमित्त किये हैं और आपही प्रसन्न होता है। जैसे मन्द वायु से खण्ड-खण्ड हुए बादल के हाथी आदिक आकार हो भासते हैं तैसे ही तू भौतिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न रूप भासता है। हे देव! ब्रह्माण्डरूपी मोती में तू निरिच्छत व्यापक है भूतोंरूपी जो अन्न का तू खेत है और चेतनरूपी रस से बढ़नेवाला है। तू अस्त की नाईं स्थित है अर्थात् इन्द्रियों के विषयों से रहित अव्यक्तरूप है और सब पदार्थों का प्रकाशक है। जो पदार्थ शोभा संयुक्त विद्यमान होता है पर यदि तेरी सत्ता उसमें नहीं होती तो वह अस्त होता है—जैसे सुन्दर स्त्री भूषणों सहित अन्धे के आगे स्थित हो तो वह अस्तरूप होती है तैसे ही विद्यमान पदार्थ हो और तू न कल्पे तो अस्त हो जाता है। जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब होता है उसको देखकर अपनी सुन्दरता विना कोई प्रसन्न नहीं होता। हे आत्मा! तेरे संकल्प विना देह काष्ठलोष्टवत् होती है। जब पुर्यष्टक शरीर से अदृष्ट होती है तब सुख दुःख आदिक क्रम नष्ट हो जाता है और किसी का ज्ञान नहीं होता—जैसे तम में कोई पदार्थ दृष्टि नहीं आता। तेरे देखने से सुख दुःख आदिक स्थित होते हैं—जैसे सूर्य की दृष्टि से प्रातःकाल शुक्लवर्ण से प्रकाश आता है। जब अपने स्वरूप को प्राप्त होता है तब अज्ञानरूप सर्वविकार नष्ट हो जाते हैं—जैसे प्रकाश से अन्धकार नष्ट होता है तो पदार्थ ज्यों का त्यों भासता है तैसे ही अज्ञान के नष्ट हुए से आत्मा ज्यों का त्यों भासता है। यह जो मनरूप तू है तेरे उपजने से सुख दुःख की लक्ष्मी उपज आती है और तेरे अभाव हुए से सर्व नष्ट हो जाते हैं। स्वरूप से तू अनामयरूप है और क्षणभंगुर देह में जो मन ने आस्था की है सो महासूक्ष्म अणु निमेष के लक्षभाग ऐसा सूक्ष्म है सुख दुःखादिक की भावना करके अनीश्वरता को प्राप्त हुआ है। तेरे प्रमाद से फुरनरूप होता है और तेरे देखने से सर्व लीन हो जाते हैं। यह जो पुर्यष्टक तेरा रूप है उसके देखने से क्षीण पदार्थ जाति भासि आते हैं—जैसे नेत्रों के खोलने से रूप भासता है और मन के अन्तर्धान होने से सर्व नष्ट हो जाता है और फिर किसी से ग्रहण नहीं होता। जो वस्तु क्षण भंगुर है उससे कुछ कार्य सिद्ध नहीं होता—जैसे बिजली के चमकने से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता तैसे ही अन्तर्धान होने से देह से कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता। जो उपजकर तत्काल नष्ट हो जाता है उससे क्या कार्य सिद्ध हो? देहादिक जड़ और नाशवन्त हैं और जो सबको प्रकाशता है वह सदा निर्विकार सच्चिदानन्दरूप है। सुख दुःख आदिक अज्ञानी के चित्त को स्पर्श करते हैं और जिसका सम चित्त है उसको स्पर्श नहीं करते। हे देव! ये जो सुख दुःख आदिक अविवेक के आश्रय हैं सो अविवेक नष्ट हो गया है। तू निरीह निरंश निराकार है और सत्य असत्य से परे भैरवरूप परमात्मा तेरी सदा जय है। तू सर्वशास्त्रों का असि पद है। जात अजातरूप सदा तेरी जय है; तेरे नाश और अविनाशरूप की जय है और तेरे भाव और अभावरूप की जय है और जीतने और न जीतने योग्य तेरी जय है! माया हुलास और उपशान्ति को प्राप्त हुआ है तुझको नमस्कार है। हे निर्दोष! तेरे में स्थित होने से मेरे राग द्वेष मिट गये हैं। अब बन्ध

है; उदय-अस्त से रहित तू नित्य प्रकाशरूप है और सबके भीतर बाहर प्रकाशता है। अब मैं भोगों को लीलारूप देखता हूँ—जैसे कामी कामिनी को देखे परन्तु इच्छा से रहित हो तैसे ही तू ग्रहण करता है। नेत्ररूपी झरोखे में बैठकर तू रूप विषय को ग्रहण करता है और अपनी शक्ति से इसी प्रकार सब इन्द्रियों में वही रूप धारकर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विषयों को ग्रहण करता है। ब्रह्मकोटर में जो देश हैं उनमें प्राण अपान शक्ति से तू ही बिचरता है, ब्रह्मपुरी में जाता है और क्षण में फिर आता है और सब जगत् देहों में तू ही बिचरता है। देहरूपी पुष्पों में तू सुगन्ध है; देहरूपी चन्द्रमा में तू अमृत है; देहरूपी वृक्ष में तू रस है और देहरूपी बरफ़ में तू शीतलता है। दूध में घृत, काष्ठ में अग्नि, उत्तम स्वादों में स्वाद; तेज में प्रकाश और सर्व असर्व को सिद्धकर्ता पूर्ण तू ही है और सर्व जगत् का प्रकाशक भी तू ही है। वायु में स्पन्द, मन में मुदिता और अग्नि में तेज तुम्हीं से सिद्ध है; प्रकाश में प्रकाश तू है और सब पदार्थों को सिद्धकर्ता दीपक तू है पर लीन हुए से जाना नहीं जाता कि कहाँ गया। संसार में जितने पदार्थ और अहं त्वं आदिक शब्द हैं वे ऐसे हैं जैसे सुवर्ण में भूषण होते हैं सो तूने अपनी लीला के निमित्त किये हैं और आपही प्रसन्न होता है। जैसे मन्द वायु से खण्ड-खण्ड हुए बादल के हाथी आदिक आकार हो भासते हैं तैसे ही तू भौतिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न रूप भासता है। हे देव! ब्रह्माण्डरूपी मोती में तू निरिच्छत व्यापक है भूतोंरूपी जो अन्न का तू खेत है और चेतनरूपी रस से बढ़नेवाला है। तू अस्त की नाईं स्थित है अर्थात् इन्द्रियों के विषयों से रहित अव्यक्तरूप है और सब पदार्थों का प्रकाशक है। जो पदार्थ शोभा संयुक्त विद्यमान होता है पर यदि तेरी सत्ता उसमें नहीं होती तो वह अस्त होता है—जैसे सुन्दर स्त्री भूषणों सहित अन्धे के आगे स्थित हो तो वह अस्तरूप होती है तैसे ही विद्यमान पदार्थ हो और तू न कल्पे तो अस्त हो जाता है। जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब होता है उसको देखकर अपनी सुन्दरता विना कोई प्रसन्न नहीं होता। हे आत्मा! तेरे संकल्प विना देह काष्ठलोष्टवत् होती है। जब पुर्यष्टक शरीर से अदृष्ट होती है तब सुख

दुःख आदिक क्रम नष्ट हो जाता है और किसी का ज्ञान नहीं होता—जैसे तम में कोई पदार्थ दृष्टि नहीं आता। तेरे देखने से सुख दुःख आदिक स्थित होते हैं—जैसे सूर्य की दृष्टि से प्रातःकाल शुक्लवर्ण से प्रकाश आता है। जब अपने स्वरूप को प्राप्त होता है तब अज्ञानरूप सर्वविकार नष्ट हो जाते हैं—जैसे प्रकाश से अन्धकार नष्ट होता है तो पदार्थ ज्यों का त्यों भासता है तैसे ही अज्ञान के नष्ट हुए से आत्मा ज्यों का त्यों भासता है। यह जो मनरूप तू है तेरे उपजने से सुख दुःख की लक्ष्मी उपज आती है और तेरे अभाव हुए से सर्व नष्ट हो जाते हैं। स्वरूप से तू अनामयरूप है और क्षणभंगुर देह में जो मन ने आस्था की है सो महासूक्ष्म अणु निमेष के लक्षभाग ऐसा सूक्ष्म है सुख दुःखादिक की भावना करके अनीश्वरता को प्राप्त हुआ है। तेरे प्रमाद से फुरनरूप होता है और तेरे देखने से सर्व लीन हो जाते हैं। यह जो पुर्यष्टक तेरा रूप है उसके देखने से क्षीण पदार्थ जाति भासि आते हैं—जैसे नेत्रों के खोलने से रूप भासता है और मन के अन्तर्धान होने से सर्व नष्ट हो जाता है और फिर किसी से ग्रहण नहीं होता। जो वस्तु क्षण भंगुर है उससे कुछ कार्य सिद्ध नहीं होता—जैसे बिजली के चमकने से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता तैसे ही अन्तर्धान होने से देह से कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता। जो उपजकर तत्काल नष्ट हो जाता है उससे क्या कार्य सिद्ध हो? देहादिक जड़ और नाशवन्त हैं और जो सबको प्रकाशता है वह सदा निर्विकार सच्चिदानन्दरूप है। सुख दुःख आदिक अज्ञानी के चित्त को स्पर्श करते हैं और जिसका सम चित्त है उसको स्पर्श नहीं करते। हे देव! ये जो सुख दुःख आदिक अविवेक के आश्रय हैं सो अविवेक नष्ट हो गया है। तू निरीह निरंश निराकार है और सत्य असत्य से परे भैरवरूप परमात्मा तेरी सदा जय है। तू सर्वशास्त्रों का असि पद है। जात अजातरूप सदा तेरी जय है; तेरे नाश और अविनाशरूप की जय है और तेरे भाव और अभावरूप की जय है और जीतने और न जीतने योग्य तेरी जय है। माया हुलास और उपशान्ति को प्राप्त हुआ है तुझको नमस्कार है। हे निर्दोष! तेरे में स्थित होने से मेरे राग द्वेष मिट गये हैं। अब बन्ध

कहाँ और मोक्ष कहाँ और आपदा, सम्पदा और भाव-अभाव कहाँ। अब मेरे सर्वविकार शान्त हुए हैं और सम समाधि में स्थित हुआ हूँ।

इति श्रीयोग० उप० प्रह्लादोपाख्याने संस्तवननाम षट्त्रिंशत्तमस्सर्गः ३६

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार चिन्तनकर महाधैर्यवान् प्रह्लाद निर्विकार निरानन्द समाधि में ऐसे स्थित हुआ जैसे मूर्ति का पर्वत हो। जब बहुतकाल अपने भुवन में सुमेरुवत् समाधि में स्थित रहा तब दैत्य उसको जगाने लगे परन्तु वह न जागा—जैसे समय विना बीज अंकुर नहीं लेता—और पाँचसहस्र वर्ष समाधि में व्यतीत भये पर शरीर उसी प्रकार पुष्ट रहा। दैत्यों के नगर में शान्ति हो गई और वह परमानन्द आत्मा को प्राप्त हुआ; निरानन्द जो प्रकाश है सो प्रकाशमात्र रह गया और कलना सब मिट गई। इतना काल जब इस प्रकार व्यतीत हुआ तब रसातलमण्डल में राजभय दूर हो गया और छोटे को बड़ा भक्षण करने लगा। निदान दैत्यमण्डली की विपर्यय दशा हो गई और निर्बल को बलवान् मारके लूट ले गये। तब अनेक मल्ल मिलकर प्रह्लाद को जगाने लगे पर तौ भी वह न जागा—जैसे सूर्यमुखी कमल को रात्रि में भँवरे गुञ्जार करें और तौ भी वह प्रफुल्लित नहीं होता, मुँदा ही रहता है। संवित्कला जो चित् धातु है सो उसके भीतर फुर्ती न भासती थी जैसे मूर्तिका लीला सूर्यप्रकाश से रहित होता है तैसे ही उसे देखकर दैत्य उद्वेगवान् हुए और जहाँ किसी को सुखदायक देश स्थान मिला वहाँ जा रहे; मर्यादा सब दूर हो गई, मत्सर होने लगा और पुरुष स्त्रियाँ रुदन करने और शोकवान् होने लगे। कोई मारे जावें, कोई लूटे जावें और कोई व्यर्थ अनर्थ कदर्थ करनेवाले हो गये। सब दैत्यतापरायण हुए, बान्धव नष्ट हो गये और उपद्रव उत्पन्न होने लगे। दिशा के मुख अग्नि रूप हो गये, देवता आन दिखाई देने लगे और दैत्य निर्बल को बाँध ले जाने लगे। दैत्यमूल भूमि से रहित निर्लक्ष्मी उजाड़ से हो गये और दैत्यपुर में अनीति अकाण्ड उपद्रव हुआ। जैसे कल्प के अन्त में जीव दुःख पाते हैं तैसे ही दैत्य दुःख पाने लगे।

इति श्रीयोग० उप० दैत्यपुरीप्रभञ्जनवर्णनंनाम सप्तत्रिंश[illegible]र्गः ॥३७।

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार जब दैत्यपुरी की दशा हुई तब सम्पूर्ण जगत्जाल के क्रम पालनेवाले विष्णुदेव, जो क्षीरसमुद्र में शेषनाग की शय्या पर शयन करनेवाले हैं, चतुर्मास वर्षाकाल की निद्रा से जागे और बुद्धि के नेत्रों से जगत् की मर्यादा विचारी तो देखा कि पाताल में प्रह्लाद दैत्य समाधि में पद्मासन बाँधकर स्थित हुआ है और सृष्टि दैत्यों से रहित हुई है। बड़ा कष्ट है कि अब देवता जीतने की इच्छा से रहित होकर आत्मपद में स्थित हो जावेंगे और जब देवता और दैत्यों का विरोध रहता है तब जीतने के निमित्त याचना करते हैं कि दैत्य नष्ट होवें। अब सब देवता निर्द्वन्द्वरूप होकर परमपद को प्राप्त होवेंगे। जैसे रस से रहित बेलि सूख जाती है तैसे ही अभिमान और इच्छा से रहित देवता जगत् की ओर से सूखकर आत्मपद को प्राप्त होंगे। जब देवताओं के समूह शान्ति को प्राप्त होंगे तब पृथ्वी में यज्ञ तपादिक उत्तम क्रिया निष्फल हो जावेंगी, न कोई करेगा, न किसी को प्राप्त होगा, और जब पृथ्वीलोक से शुभक्रिया नष्ट हुई तब लोक भी नष्ट हो जावेंगे, अकाण्ड प्रलय प्रसंग होगा और सब मर्यादा क्रम जगत् का नष्ट हो जावेगा। जैसे धूप से बरफ़ नष्ट होती है तैसे ही जगत् क्रम सब नष्ट होवेगा। इसके नष्ट हुए भी मुझको कुछ नहीं, परन्तु मैंने अपनी लीला रची है सो सब नष्ट हो जावेगी। तब मैं भी इस शरीर को त्यागकर परमपद में स्थित हूँगा और अकारण ही जगत् उपशम को प्राप्त होगा, इसमें मैं कल्याण नहीं देखता। जो दैत्यों के उद्वेग से रहित देवता भी शान्त हो जावेंगे तो तपक्रिया नष्ट हो जावेगी और जीव दुःखी होकर नष्ट हो जावेंगे। इससे मैं जगत्कर्म को स्थापन करूँ और कि परमेश्वर की नीति इसी प्रकार है। अब रसातल को जाऊँ और जगत् की मर्यादा ज्यों की त्यों स्थापन करूँ पर जो मैं प्रह्लाद से भिन्न पाताल का राज्य करूँगा तो वह देवताओं का शत्रु होगा इससे ऐसे भी न करूँगा। प्रह्लाद का यह अन्त का जन्म है और परम पावन देह है; [illegible] कल्प पर्यन्त रहेगी। यह ईश्वर की नीति है सो ज्यों की त्यों है; प्यारा [illegible]कर दैत्येन्द्र प्रह्लाद को जगाऊँ कि अब वह जागकर जीवन्मुक्त

हुआ है दैत्यों का राज्य करे। जैसे मणि मल से रहित प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है तैसे ही प्रह्लाद भी इच्छा से रहित होकर प्रवर्त्तै। इस प्रकार सृष्टि देवता दैत्यों से संयुक्त रहेगी और परस्पर इनका द्वेष न होगा और मेरी क्रीड़ा (लीला) अच्छी होगी। यद्यपि सृष्टि का होना न होना मुझको तुल्य है तो भी जो नीति है वह जैसे स्थित है तैसे ही रहे। जो वस्तु भाव में तुल्य हो उसका नाश और स्थित में प्रयत्न करना कुबुद्धि है; आकाश के हनन के यत्न के तुल्य है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे भगवान्चित्तविवेको
नामाष्टत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रकार चिन्तन कर सर्वात्मा विष्णुदेव अपने परिवार सहित क्षीरसमुद्र से चले—जैसे मेघघटा एकत्र होकर चले—और आकर प्रह्लाद के नगर को प्राप्त हुए। वह नगर मानो दूसरा इन्द्रलोक था और प्रह्लाद के मन्दिर में देखा कि निकट दैत्य थे वे विष्णुजी को दूर से देखकर भाग गये—जैसे सूर्य से उलूकादिक भाग जावें। तब जो मुख्य दैत्य थे उनके साथ विष्णुजी ने दैत्यपुरी में प्रवेश किया—जैसे तारासंयुक्त चन्द्रमा आकाश में प्रवेश करता है तैसे ही विष्णुजी गरुड़ पर आरूढ़ लक्ष्मी साथ चमर करतीं और अनेक ऋषि, देव सहित प्रह्लाद के गृह आये। आते ही विष्णुजी ने कहा, हे महात्मापुरुष ! जाग ! जाग ! ऐसे कहकर पाञ्चजन्य शंख बजाया जिससे महाशब्द हुआ। फिर उस प्रह्लाद के कानों के साथ लगाया और जैसे प्रलयकाल में इकट्ठा मेघ का शब्द हो तैसे ही बड़े शब्द को सुनकर दैत्य पृथ्वी पर गिर पड़े। निदान शनैःशनैः दैत्येन्द्र को जगाया और प्राणशक्ति जो ब्रह्मरन्ध्र में थी वहाँ से विष्णुजी ने उठाई और वह शरीर में प्रवेश कर गई। जैसे सूर्य के उदय हुए सूर्य की प्रभा वन में प्रवेश कर जाती है तैसे नवद्वारों से प्रवेश कर गई। तब प्राणरूपी दर्पण में चित्तसंवित् प्रतिबिम्बित होकर चैतन्य मुखत्व हुई और मनभाव को प्राप्त हुई और तब जैसे प्रातःकाल में कमल खिल आते हैं तैसे ही उसके नेत्र प्रफुल्लित हो आ और प्राण और अपान नाड़ी में छिद्रों के मार्ग बिचरने लगे। जै

से कमल स्फुरने लगते हैं तैसे ही मन और प्राणशक्ति से अङ्ग फुरने लगे और जाग जाग शब्द जो भगवान् कहते थे उससे वह जगा और उसने जाना कि मुझको विष्णु भगवान् ने जगाया है और जैसे मेघ का शब्द सुनकर मोर प्रसन्न होता है तैसे वह प्रसन्न हुआ और मन में दृढ़ स्मृति हो आई। तब त्रिलोकी के ईश्वर विष्णुदेव ने, जैसे पूर्व कमलोद्भव ब्रह्मा से कहा था कहा कि हे साधु ! तू अपनी महालक्ष्मी को स्मरण कर कि तू कौन है। समय विना देह के त्यागने की इच्छा क्यों की थी। जो ग्रहण त्याग के संकल्प से रहित पुरुष हैं उनको भाव अभाव के होने में क्या प्रयोजन है ? उठकर अपने आचार में सावधान हो, तेरा यह शरीर कल्पपर्यन्त रहेगा और नष्ट नहीं होगा। इस नीति को ज्यों की त्यों मैं जानता हूँ। हे आनन्दित ! तू जीवन्मुक्त हुआ राज्य में स्थित हो। हे क्षीणमन ! गतउद्वेग तेरा देह कल्पपर्यन्त रहेगा और फिर कल्प के अन्त में तू शरीर त्यागकर अपनी महिमा में स्थित होगा—जैसे घट के फूटे से घटाकाश महाकाश को प्राप्त होता है। अब तू निर्मल दृष्टि को प्राप्त हुआ है; लोकों का परावर तू ने देखा है और अब तू जीवन्मुक्त विलासी हुआ है। हे साधु ! द्वादश सूर्य जो प्रलयकाल में तपते हैं उदय नहीं हुए तो तू क्यों शरीर त्यागता है; उन्मत्त पवन जो त्रिलोकी की भस्म उड़ानेवाला वह तो नहीं चला है और देवताओं के विमान उससे नहीं गिरे तू क्यों व्यर्थ शरीर त्यागता है ? सब लोगों के शरीर सूखे वृक्ष की मञ्जरीवत् नहीं सूखे; पुष्कर मेघ और वह बिजली फुरने नहीं लगी पर्वत तो युद्ध करके परस्पर नहीं गिरने लगे अब तक मैं भूतों को खेंचने नहीं लगा लोकों में बिचरता हूँ। यह अर्थ है, यह मैं हूँ, यह पर्वत है, ये भूत प्राणी हैं, यह जगत् है, यह आकाश है, तू देह मत त्याग; देह को धारे रह। हे साधो ! जो जीव अज्ञानयोग से शिथिल हुआ है अर्थात् जिसकी देह में आत्म अभिमान है कि मैं और म से व्याकुल रहता है और दुःखों से जीर्ण होता है उसको मरना न्ना है। जिसको तृष्णा जलाती है और हृदय में संसारभावना जीर्ण प्यारा है और जिसके मनरूपी वन में चित्तरूपी लता दुःख सुखरूपी

पुष्पों से प्रफुल्लित हैं और उदय होती है उसको मरना श्रेष्ठ है। जो पुरुष अपनी देह में आधि व्याधि दुःखों से जलता है और जिसके हृदय में काम क्रोधरूपी सर्प फुरते हैं और देहरूपी सूखा वृक्ष निष्फल है और चित्त चञ्चल है ऐसी देह के त्यागने को लोक में मरना कहते हैं; स्वरूप से नाश किसी का नहीं होता। क्या ज्ञानी का हो क्या अज्ञानी का हो। हे साधो ! जिसकी बुद्धि आत्मतत्त्व के अवलोकन से उपराम नहीं होती ऐसा जो यथार्थदर्शी ज्ञानवान् है और जिसका हृदय राग द्वेष से रहित शीतल हुआ है और दृश्यवर्ग को साक्षीभूत होकर देखता है उसका जीना श्रेष्ठ है। जो पुरुष सम्यक् ज्ञान द्वारा हेयोपादेय से रहित है और चेतनतत्त्व में तद्रूप चित्त हुआ है; जिसने संकल्प मल से रहित चित्त को आत्मपद में लगाया है और जिस पुरुष को जगत् के इष्ट-अनिष्ट पदार्थ समान भासते हैं और शान्तचित्त हुआ लीलावत् जगत् के कार्य करता है; जो इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में राग द्वेष नहीं करता, जिसे ग्रहण त्याग की बुद्धि उदय नहीं होती और जिसके श्रवण और दर्शन किये से औरों को आनन्द उपजता है उसका जीना शोभता है। जिसके उदय हुए से जीवों के हृदय कमल प्रफुल्लित होते हैं उसका चिरजीना प्रकाशवान् शोभता है और वही पूर्णमासी के चन्द्रमावत् सफल प्रकाशता है—नीच नहीं शोभते।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे प्रह्लादोपाख्याने नारायणवनोपन्यासयोगोनामैकोनचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३९ ॥

श्रीभगवान् बोले, हे साधो ! यह जो देहसंग दृष्टि आती है उसका नाम जीना कहते हैं और इस देह को त्यागकर और देह में प्राप्त होने का नाम मरना है। हे बुद्धिमन् ! इन दोनों पक्षों से अब तू मुक्त है; तुझको मरना क्या है और जीना क्या है—दोनों भ्रममात्र हैं। इस अर्थ के दिखाने के निमित्त मैंने तुझसे मरना और जीना कहा है कि गुणवानों का जीना श्रेष्ठ है और मूढ़ों का मरना श्रेष्ठ है पर तू न जीता है, न मरेगा; देह के होते भी तू विदेह है और तेरे आकाश की नाईं अङ्ग हैं। आकाश में वायु नित्य चलता है परन्तु उससे आकाश [illegible]गः ॥३७।

से ही तू देह में निर्लेप रहेगा। देह, इन्द्रियाँ, मन आदिक की क्रिया सब
झसे होती हैं, सबका कर्त्ता और सत्ता देनेवाला तू ही है और स्वरूप से
दा अकर्ता है। जैसे वृक्ष की उँचाई का कारण आकाश है तैसे ही तेरे में
र्तव्य है। तू अब जागा है, तू ने वस्तु ज्यों की त्यों जानी है और तू
स्ति नास्ति सर्व का आत्मा है। यह परिच्छिन्नरूप जो देह है सो
ज्ञानी का निश्चय है और यह केवल दुःखों का कारण है। तू तो सर्व
कार सर्वात्मा चेतन प्रकाश है, तेरी बुद्धि आत्मपरायण है और तुझको
ह अदेह क्या और ग्रहण और त्याग क्या। जो तत्त्वदर्शी पुरुष हैं उनका
भावपदार्थ उदय हो अथवा लीन हो और प्रलयकाल का पवन चले तो
भी उसको चला नहीं सकता और जिसका मन भाव अभाव से रहित
है वह जो पर्वत के ऊपर पर्वत पड़े और चूर्ण हो और कल्प की अग्नि
में जलने लगे तौ भी अपने आप में स्थित है—चलायमान नहीं होता।
ब भूत स्थित होवें; इकट्ठे नष्ट हो जावें अथवा वृद्ध होवें वह सदा अपने
आप में स्थित है इस देह के नष्ट हुए नाश नहीं होता और विरोधी हुए
ाश नहीं होता। इस देह में जो परमेश्वर आत्मा स्थित है वह मैं हूँ।
रा अनात्मा भ्रम नष्ट हो गया है और ग्रहण त्याग मिथ्या कल्पना
दय नहीं होती। जो विवेकी तत्त्ववेत्ता है उसका संकल्पभ्रम नष्ट हो
ाता है और जो प्रबुद्ध पुरुष है वह सब क्रिया करता भी अकर्तापद को
ास होता है। वह सर्व अर्थों में अकर्ता, अभोक्ता रहता है और जगत्
किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करता। जब कर्तृत्व भोक्तृत्व शान्त होता
है तब आत्मपद शेष रहता है। इस निश्चय की दृढ़ता को बुद्धिमान्
और मुक्त कहते हैं। प्रबुद्ध पुरुष चिन्मात्रस्वरूप है और सबको अपने
श करके स्थित है; वह ग्रहण किसका करे और त्याग किसका करे।
ाह्य और ग्राहक शब्द भाव अविद्या है और देह इन्द्रियों से होता है
ग्रहण करना क्या और त्याग करना क्या ? जब ग्राह्य-ग्राहक भाव
से दूर हुआ उसी का नाम मुक्त है। जिसको ऐसी स्थिति उदय होती
ार्थसत्ता में सदा स्थित रहता है और वह पुरुषों में पुरुषोत्तम
प्यारा हो[illegible] है; उसके अङ्गों की चेष्टा बोध को प्राप्त हुई है। परम

विश्रान्तिमान् निर्वासनिक पुरुषों की वासना भी जगत् में स्थित दृष्टि आती है और अर्द्ध सुषुप्त की नाईं चेष्टा करते हैं पर वे सब जगत् में आत्मा देखते हैं। वे आत्मविषयिणी बुद्धि से सुख में हर्षवान् नहीं होते और दुःख में भी शोकवान् नहीं होते एकरस आत्मपद में स्थित रहते हैं। नित्य प्रबुद्ध पुरुष कार्यभाव को ग्रहण करता है पर जैसे इच्छा से रहित दर्पण प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है तैसे ही भली बुरी भावना उसको स्पर्श नहीं करती। वह आत्मपद में जाग्रत् है और संसार की ओर से सोया है और सुषुप्तिरूप है। जैसे पालने में सोया हुआ बालक स्वाभाविक अङ्ग हिलाता है तैसे ही उसका हृदय सुषुप्तिरूप है और व्यवहार करता है। हे पुत्र ! तू अजात परमपद को प्राप्त हुआ है। तू इस देह से ब्रह्मा का एक दिन भोगेगा और इस राजलक्ष्मी को भोगकर फिर अच्युत परमपद को प्राप्त होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे प्रह्लादबोधो नाम चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! अद्भुत जिसका दर्शन है ऐसे जगत्रूपी रत्नों के डब्बे विष्णुदेव ने जब शीतल वाणी से इस प्रकार कहा तब प्रह्लाद ने नेत्रों को खोलकर धैर्य सहित कोमल वचन और मननभाव को ग्रहण करके देखा और चर्मदृष्टि से बाहर देखा कि बड़ा कल्याण हुआ है। परमेश्वर अपना आपस्वरूप अनन्त आत्मा है और सर्वसंकल्प से रहित आकाशवत् निर्मल है। अब मुझको न शोक है, न मोह है और न वैराग से देहत्याग की चिन्ता है। जो कुछ कार्य भयदायक होता है सो एक आत्मा के विद्यमान रहते शोक कहाँ; नाश कहाँ; देहरूपी संसार कहाँ; संसार की स्थिति कहाँ, भय कहाँ और अभयता कहाँ; मैं यथा इच्छित अपने आपमें स्थित हूँ। इस प्रकार मैं निर्मल विस्तृतरूप केवल पावन में स्थित हूँ और संसारबन्धन को त्यागकर विरक्त हुआ हूँ। जो अप्रबुद्ध मू हैं उनकी बुद्धि में हर्ष, शोक, चिन्ता, विकार सदा रहता है। वे देह भाव में सुख मानते हैं और अभाव में दुःखी होते हैं। यह चिन्तारू की पंक्ति मूढ़ों को लेपायमान होती है। यह इष्ट है, यह

हण करने योग्य है; यह त्यागने योग्य है; इस प्रकार मूर्खों के चित्त ी अवस्था डोलायमान होती है पण्डितों की नहीं होती। मैं भिन्न हूँ र वह भिन्न है यह अज्ञान से अन्धवासना है, शुद्ध बुद्धि के विद्यान नहीं रहती जैसे सूर्य की किरणों से रात्रि दूर रहती है तैसे ही ह वासना दूर रहती है। यह त्याग और यह ग्रहण कीजिये सो मिथ्या स का भ्रम है और उन्मत्त अज्ञानी के हृदय में होता है; ज्ञानवान् हृदय में यह भ्रम उदय नहीं होता। हे कमलनयन ! सर्व तू ही है र विस्तृत आत्मरूप है। हेयोपादेय और द्वैतभाव कल्पना कहाँ है? ह संपूर्ण जगत् विज्ञानरूप सत्ता का आभास है। सत्य असत्यरूप गत् में ग्रहण त्याग किसका कीजिये। केवल अपने स्वभाव से द्रष्टा र दृश्य का विचार किया है उसमें मैं प्रथम क्षीण विश्रान्तवान् हुआ ब भाव अभाव जगत् के पदार्थों से मुक्त हुआ हूँ और हेयोपादेय रहित आत्मतत्त्व मुझको भासता है और समभाव को प्राप्त हुआ हूँ। मुझको संशय कुछ नहीं रहा, जो कुछ करता हूँ वह आत्मा से करता । त्रिलोकी में तबतक तू पूजने योग्य है जबतक प्रलय नहीं हुआ इससे आदरसंयुक्त पूजन करता हूँ तुम ग्रहण करो। वशिष्ठजी बोले, हे जी ! इस प्रकार दैत्यराज ने कहकर क्षीरसमुद्र में शयन करनेवाले णु को श्रेष्ठ सुमेरु की मणियों से पूजा और फिर शंख, चक्र, गदा, पद्म दिक शस्त्रों का पूजन करके गरुड़ की पूजा की और फिर देवता और धरों की पूजा की। इस प्रकार भगवान् के आत्मस्वरूप का हृदय में न रखके परिवार संयुक्त पूजन किया, तब लक्ष्मीपति बोले; हे दैत्ये- ! तू उठकर सिंहासन पर बैठ, मैं तुझको अपने हाथ से अभिषेक ता हूँ और पाञ्चजन्य शंख बजाता हूँ उसका शब्द सुनकर सब सिद्ध देवता आकर तेरा मङ्गल करेंगे। इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे जी ! इस प्रकार कहकर विष्णुजी ने दैत्य को इस भाँति सिंहासन पर या जैसे सुमेरु पर मेघ आ बैठे और फिर क्षीरसमुद्र और गङ्गादि तीर्थों मँगाके पाञ्चजन्य शंख बजाया जिसके शब्द से सब सिद्धगण, प्यारा हो ण, विद्याधर, देवता और मुनियों के समूह आये और सबने

स्तुति की। इस प्रकार अभिषेक देकर मधुसूदन बोले, हे निष्पाप! जब तक सुमेरु के धरनेवाली पृथ्वी और सूर्य चन्द्रमा का मण्डल है तबतक तू इष्ट अनिष्ट में समबुद्धि; वीतराग और क्रोध से रहित होकर राजभोग और राज्य की पालना कर। तुझको पूर्ण भूमिका प्राप्त हुई है उसमें स्थित होकर जैसे प्राप्त हो तैसे ही हर्ष, शोक और उद्वेग से रहित होकर विचरो। हेयोपादेय से रहित हो। तू बन्धवान् न होगा। संसार की स्थिति तू ने सब देखी है और सबको जानता है अब मैं तुझको क्या उपदेश करूँ। तू राग द्वेष से रहित होकर राज भोग, अब दैत्यों का रुधिर धरती पर न पड़ेगा अर्थात् देवताओं के साथ विरोध न होगा। आज से देवता और दैत्यों का संग्राम गया। जैसे मन्दराचल से रहित क्षीरसमुद्र शान्तिमान् हुआ था तैसे ही सब जगत् स्वस्थ रहेगा। मोहरूपी तम तेरे हृदय से दूर हुआ है और सदा प्रकाशस्वरूप लक्ष्मी हुई है और अनन्त विलासों को राजलक्ष्मी से भोगता आत्मपद में स्थित रह।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे प्रह्लादाभिषेकोनामैक
चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४१ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार कहकर पुण्डरीकाक्ष परिवार संयुक्त चले मानो दूसरी संसार की रचना दैत्य के मन्दिर से चली है। तिस पीछे प्रह्लाद ने पुष्पाञ्जलि दी और क्रम से क्षीरसमुद्र में पहुँचे और देवताओं को बिदा करके आप शेषनाग के आसन पर जैसे श्वेतकमल पर भँवरा बैठे तैसे स्वस्थ होकर बैठे। हे रामजी! यह दृष्टि अज्ञान के सम्पूर्ण मल के नाश करनेवाली है। प्रह्लाद को बोध की प्राप्ति की जो अवस्था मैंने तुमसे कही है वह चन्द्रमा के मण्डलवत् शीतल है। जो मनुष्य बड़ा पापी हो और इसको विचारे तो वह भी शीघ्र ही परमपद को प्राप्त हो और जो पाप से रहित है उसकी क्या वार्त्ता कहिये केवल सम्यक् विचार करके पाप नष्ट हो जाता है। वह कौन है जो इन वाक्यों को विचार के परमपद को न प्राप्त हो। हे रामजी! अज्ञानरूप पाप इसके विचार नष्ट हो जाते हैं और पापों का कारण जो अज्ञान है उसका नाश करने यह विचार है—इससे विचार का त्याग कदाचित् न करो। यह

गः ॥३७।

की सिद्धता कही है इसको जो मनुष्य विचारे उसके अनेक जन्मों के पाप नष्ट हो जावें इसमें कुछ संशय नहीं। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! प्रह्लाद का मन तो परमपद में लग गया था पाञ्चजन्य शब्द से उसको विष्णुजी ने कैसे जगाया? वशिष्ठजी बोले, हे निष्पाप, रामजी! लोक में मुक्ति दो प्रकार की है एक सदेह और दूसरी विदेह, उनका भिन्न-भिन्न विभाग सुन। जिस पुरुष की बुद्धि देहादिकों से असंशक्ति है और जिसको ग्रहण त्याग की इच्छा नहीं और निरहंकार हुआ चेष्टा करता है उसको तुम सदेह मुक्त जानो और देहादिक सब नष्ट हो जावें फिर न जन्म धारण करे उसको विदेह मुक्त जानो। वह उस पद को प्राप्त होता है जो अदृश्यरूप है। अज्ञानी की वासना कच्चे बीज की नाईं है जो जन्मरूपी अंकुर को प्राप्त करती है और ज्ञानवान् मुक्त की वासना भूने बीज की नाईं जो जन्मरूपी अंकुर से रहित होती है। विदेहमुक्त की वासना का अंकुर दृष्टि नहीं आता जीवन्मुक्त पुरुष के हृदय में शुद्ध वासना होती है और पावनरूप परम उदारता सत्तामात्र नित्य आत्मध्यान में है और संसार की ओर से सुषुप्ति की नाईं शान्तरूप है। सहस्र वर्ष का अन्त हो जावे और शुद्ध वासना का बीज हृदय में हो तो वह पुरुष समाधि से जागेगा—वह जीवन्मुक्त है। इससे प्रह्लाद के हृदय में शुद्धवासना थी उससे पाञ्चजन्य शंख के शब्द से वह जागा। विष्णुजी सब भूतों के आत्मा हैं जैसे जिसकी इच्छा फुरती है तैसे ही तत्काल होता है और वे सर्वज्ञ और सबके कारण हैं। जब विष्णु ने चिन्तना की तब प्रह्लाद जागा। आप अकारण है कोई इसका कारण नहीं यही सब भूतों का कारण है सृष्टि की स्थितिनिमित्त आत्मापुरुष ने विष्णुवपु धारा है और आत्मा के देखने ही से विष्णुजी का दर्शन होता है और विष्णु की आराधना से शीघ्र ही आत्मा का दर्शन होता है। आत्मा के देखने के निमित्त तुम भी इसी दृष्टि का आश्रय करो। तुम विराट्रूप हो, इसी दृष्टि से शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति होगी। यह वर्षाकाल की नदीवत् संसार तु ार बादल है सो विचाररूपी सूर्य के देखे विना जड़ता दिखाता है। प्यारा हो प जो आत्मा है उसकी प्रसन्नता से बुद्धिमान् को यह भास्वररूप

माया नहीं बेधती। जैसे यक्ष माया यन्त्रमन्त्रवाले को नहीं बेध सकती तैसे ही आत्मा की इच्छा से यह संसार माया घनता को प्राप्त होती है और आत्मा की इच्छा से निवृत्त होती है। यह संसारमाया ईश्वर की इच्छा से वृद्ध होती है—जैसे अग्नि की ज्वाला वायु से वृद्ध होती है और वायु ही से नष्ट होती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे प्रह्लादव्यवस्थावर्णनन्नाम
द्विचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४२ ॥

इतना सुनकर रामजी ने पूछा, हे भगवन्, सब धर्मों के वेत्ता! आपके वचन परम शुद्ध और कल्याणस्वरूप हैं जिनको सुनकर मैं आनन्दवान् हुआ हूँ—जैसे चन्द्रमा की किरणों से औषध पुष्ट होती है—और आपके वचनों के सुनने को, जो पावन और कोमल हैं, जिसकी वाञ्छा है वह पुरुष जैसे पुष्पों की माला से सुन्दर छाती शोभती है तैसे ही शोभता है। हे गुरुजी! आप कहते हैं कि सब कार्य अपने पुरुष प्रयत्न से सिद्ध होते हैं; जो ऐसे है तो प्रह्लाद माधव के वर बिना क्यों न जागा—जब विष्णु ने वर दिया तब उसको ज्ञान प्राप्त हुआ? वशिष्ठजी बोले, हे राघव! प्रह्लाद को जो कुछ प्राप्त हुआ वह पुरुषार्थ से प्राप्त हुआ; पुरुषार्थ बिन कुछ प्राप्त नहीं होता। जैसे तिलों और तेल में कुछ भेद नहीं तैसे ही विष्णु भगवान् और आत्मा में कुछ भेद नहीं। जो विष्णु है वह आत्मा है और जो आत्मा है वह विष्णु है; विष्णु और आत्मा दोनों एक वस्तु के नाम हैं, जैसे विटप और पादप दोनों एक वृक्ष के नाम हैं। प्रह्लाद ने जो प्रथम अपने आपसे अपनी प्रेमशक्ति विष्णुभक्ति में लगाई सो आत्मशक्ति से लगाई; आत्मा से आप ही वर पाया और आप ही विचारकर अपने मन को जीता। कदाचित् आत्मा में आप ही अपनी शक्ति से जागता है अथवा विष्णुशक्ति से जागता है। हे रामजी! प्रह्लाद चिरपर्यन्त आराधना करता प्रतापवान् हुआ। विचार से रहित को विष्णु भी ज्ञान नहीं दे सकता। आत्मा के साक्षात्कार में मुख्य कारण अपने पुरुषार्थ से उपजा विचार है और गौण कारण वर आदिक हैं इससे तू मुख्य कारण का आश्रय कर। प्रथम पाँचों इन्द्रियों को

और चित को आत्मविचार में लगा। जो कुछ किसी को प्राप्त होता है वह अपने पुरुषार्थ से होता है; पुरुषार्थ विना नहीं होता। अपने पुरुषार्थ प्रयत्न से इन्द्रियरूपी पर्वत को लाँघे तो फिर संसारसमुद्र से तर जावे और तब परमपद की प्राप्ति हो। जो पुरुष के प्रयत्न विना जनार्दन मुक्ति दें तो मृगपक्षियों को क्यों दर्शन देकर उद्धार नहीं करता जो गुरु अपने पुरुषार्थ विना उद्धार करते तो अज्ञानी अविचारी ऊँट, बैल आदिक पशुओं को क्यों नहीं कर जाते। इससे विष्णु, गुरु इत्यादि और किसी के पाने की इच्छा बुद्धिमान् नहीं करते हैं। अपने मन के स्वस्थ किये विना परम सिद्धता की प्राप्ति महात्मा पुरुष नहीं जानते। जिन्होंने वैराग्य और अभ्यास से इन्द्रियरूपी शत्रु वश किये हैं वे अपने आपसे उसको पाते हैं और किसी से नहीं पाते। हे रामजी! आपसे अपनी आराधना और अर्चना करो; आपसे आपको देखो और आपसे आपमें स्थित रहो। शास्त्रविचार से रहित मूढ़ों की प्रकृति के स्थिति के निमित्त वैष्णव भक्ति कल्पी है प्रथम जो अभ्यास यत्न का सुख कहा है उससे जो रहित पुरुष है उसको गौणपूजा का क्रम कहा है, क्योंकि उसने इन्द्रियों को वश नहीं किया और जिसने इन्द्रियों को वश किया उसको भेदपूजा से क्या प्रयोजन है। विचार और उपशम विना भी विष्णुभक्ति सिद्ध नहीं होती और जब विचार और उपशम संयुक्त हुआ तब कमल और पाषाण से क्या प्रयोजन है। इससे विचार संयुक्त होकर आत्मा का आराधन करो; उसकी सिद्धता से तुम सिद्ध होगे जिसने उसको सिद्ध नहीं किया वह वन का गर्दभ है जो प्राणी विष्णु के आगे प्रार्थना करते हैं वे अपने चित्त के आगे क्यों नहीं करते? सब जीवों के भीतर विष्णुजी स्थित हैं उनको त्यागकर जो बाहर के विष्णुपरायण हो जाते हैं वे बुद्धिमान् नहीं। हृदयगुफा में जो चेतनतत्त्व स्थित है वह ईश्वर का मुख्य सनातन वपु है और शंख, चक्र, गदा, पद्म जिसके हाथ में है वह आत्मा का गौणवपु है। जो मुख्य को त्यागकर गौण की ओर धावते हैं वे बुद्धिमान अमृत को त्यागकर जो साधन से सिद्ध हो उसकी प्राप्ति निमित्त प्यारा है हैं। हे रामजी! मनरूपी हाथी को जिस पुरुष ने आत्मविवेक

से वश नहीं किया उस अविवेकी चित्त को राग द्वेष ठहरने नहीं देते। जिसके हाथों में शंख, चक्र, गदा पद्म है उस ईश्वर की जो अर्चना करते हैं वे कष्ट तपस्या से पूजन करते हैं; उनका चित्त समय पाकर निर्मलभाव, अभ्यास और वैराग्य को प्राप्त होता है। नित्य अभ्यास से भी चित्त निर्मल होता है तो आत्मफल को प्राप्त होता है; चित्त निर्मल विना आत्मफल को प्राप्त नहीं होता और जब चित्त निर्मल हुआ तब वैराग्य और अभ्यासवान् होकर आत्मफल का भोगी होता है—जैसे बोया बीज समय पाकर फल देता है तैसे ही क्रम करके फल होता है। हे रामजी! विष्णुपूजा का क्रम भी निमित्तमात्र है। आत्मतत्त्व के अभ्यासरूपी शाखा से फल प्राप्त होता है और जो सबसे उत्तम परम संपदा का अर्थ है वह अपने मन के निग्रह से सिद्ध होता है। अपने मन का निग्रह करना ही बीज है जो चेतनरूपी क्षेत्र से प्रफुल्लित होकर फलदायक होता है। संपूर्ण पृथ्वी की निधि और शिलामात्र बड़ी-बड़ी मणि की होवें तौ भी मन के निग्रह के समान नहीं। जैसा दुःख का नाशकर्ता और बड़ा पदार्थ मन का निग्रह है वैसा और कोई नहीं। तबतक जीव अनेक जन्म पाता है जबतक अनउपशम मनरूपी मत्स्य संसारसमुद्र में भ्रमाता है। हे रामजी! ब्रह्मा, विष्णु और महेश को चिरकालपर्यन्त पूजता रहे पर यदि मन उपशम और विचार संयुक्त न हुआ तो देवता कृपालु हों तौ भी उसको संसारसमुद्र से नहीं तार सकते। यह जो भास्वर आकार जगत के पदार्थ भासते हैं उनको इन्द्रियों से त्याग कीजिये तब जन्म के अभाव का कारण जानिये। विषयों की चिन्तना से रहित होकर, निरामय और सब दुःखों से रहित आत्मसुख में स्थित हो और जो सत्तामात्र तत्त्व और सबका साररूप है उसका स्वाद लेकर मनरूपी नदी के पार हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे प्रह्लादविश्रान्तिवर्णनं
नाम त्रिचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह संसार नाम्नी माया अनन्त है और किसी प्रकार इसका अन्त नहीं आता। जब चित्त वश हो तब यह हो जाती है, अन्यथा नहीं निवृत्त होती। जितना जगत

सुनने में आता है वह सब मायामात्र है और मायारूप जगत् भ्रम से भासता है। इस पर एक पूर्व इतिहास हुआ है सो तुम सुनो। हे रामजी! इस पृथ्वी पर कोसल नाम एक देश है जो सुमेरु पर्वतवत् रत्नों से पूर्ण है और जो जो उत्तम पदार्थ हैं वे सब उस देश में हैं। वहाँ गाधि नाम एक ब्राह्मण जो वेदों में प्रवीण—मानो वेद की मूर्ति था—रहता था। बाल्यावस्था से वह वैराग्यादिक गुणों से प्रकाशित भुवनवत् शोभता था। एक समय वह कुछ कार्य मन में धरके तप करने के निमित्त वन में गया और उस वन में एक कमलों से पूर्ण ताल देख कण्ठपर्यन्त जल में खड़ा होकर तप करने लगा। आठ मास पर्यन्त दिन रात्रि जब जल में खड़ा रहा तो उसके दृढ़ तप को देखकर विष्णु प्रसन्न हुए और जहाँ वह ब्राह्मण तप करता था वहाँ, ज्येष्ठ आषाढ़ की तपी पृथ्वी पर मेघवत् आकर कहा, हे ब्राह्मण! जल से बाहर निकल और जो कुछ वाञ्छित फल है वह माँग। तब गाधि ने कहा कि हे भगवन्! असंख्य जीवों के हृदयरूपी कमल के छिद्र में आप भँवरे हैं और त्रिलोकीरूपी कमलों के आप तड़ाग हैं आप ऐसे ईश्वर को मेरा नमस्कार है। हे भगवन्! यही इच्छा मुझको है कि आपकी आश्चर्यरूप माया को, जिससे यह जगत् रचा है, किसी प्रकार देखूँ। तब विष्णुजीने कहा, हे ब्राह्मण! तुम माया देखोगे और देखकर फिर त्याग भी दोगे। ऐसे कहकर जब विष्णु अन्तर्धान हो गए तब ब्राह्मण वर पाकर आनन्दवान् हुआ और जल से निकला जैसे निर्धन पुरुष धन पाकर आनन्दवान् होता है तैसे ही वह ब्राह्मण वर पाकर आनन्दवान् हुआ। चलते बैठते उसकी सुरति विष्णु के वर की ओर लगी रहे और यही विचारे कि मैं माया कब देखूँगा। एक काल में उसी तालाब पर वह स्नान करने लगा और डुबकी मार मन में अघमर्षणमन्त्र जपने लगा (अघमर्षण पापों के नाश करनेवाले मंत्र को कहते हैं) उस मन्त्र को जपते जपते जब उसका चित्त विपर्यय होकर निकल गया तब वह गायत्रीमन्त्र भूल गया और आपको फिर अपने गृह में स्थित देखा। फिर उसने आपको बुड्ढा हुआ देखा और देखा कि सब कुटुम्ब के लोग रुदन करते हैं और प्यारा हो। कान्ति ऐसी जाती रही है जैसे टूटे कमलों की शोभा जाती

रहती है। जैसे पवन के ठहरे से वृक्ष अचल हो जाते हैं तैसे ही अङ्ग अचल हो गया और होठ फटकर विरस हो गये मानो अपने जीने को हँसते हैं। माता गाधि को पकड़े बैठी रही और सब परिवारवाले ऐसे इकट्ठे हुए जैसे वृक्षपर पक्षी आन इकट्ठे होते हैं और जैसे पुलके टूटे जल चलता है तैसे ही रुदन करते हैं। फिर बान्धव लोग कहने लगे कि अब यह अमङ्गलरूप है, इसको जलाना चाहिये। ऐसे कहकर उसे सब जलाने ले चले और चितामें डाल के जला दिया और फिर अपने गृह में आकर क्रियाकर्म किया। हे रामजी ! उसके उपरान्त वह ब्राह्मण एक देश में चाण्डाल हुआ। उस देश में एक चाण्डालों का ग्राम था वहाँ उसने एक चाण्डाली के गर्भ में, श्वान की विष्ठा में कृमिवत् प्रवेश हुए देखा और समय पाकर गर्भ से बाहर निकला—जैसे पका फल वृक्ष से गिरता है, तो वहाँ वह बहुत सुन्दर बालक जन्मा और चाण्डाली इससे प्रीति करने लगी। इस प्रकार दिन दिन बढ़ने लगा जैसे छोटा वृक्ष बढ़ जाता है। निदान वह बारह वर्ष का होके फिर सोलह वर्ष का हुआ तब श्वानों को साथ लेकर वन में जावे और मृगों को मारे और इसी प्रकार बहुत स्थानों में बिचरे। फिर उसका विवाह हुआ तब उसने यौवन अवस्था को यौवन में व्यतीत किया और बहुत बड़ा कुटुम्बी हुआ। फिर जब वृद्ध होकर शरीर जर्जरीभूत हो गया तो तृणों की कुटी बनाकर बाहर जा रहा—जैसे मुनीश्वर रहते हैं। दैववशात् वहाँ दुर्भिक्ष पड़ा और इसके बान्धव क्षुधा से मरने लगे तब वहाँ से अकेला निकला और बहुतेरे स्थान लाँघता हुआ क्रान्त देश में पहुँचा। उस सुन्दर देश का राजा मर गया था और उसके मन्त्रियों ने एक बड़े हाथी को इस निमित्त छोड़ा था कि जो कोई पुरुष इसके मुख से लगे उसको राजा कीजिये यह राजमार्ग में चला जाता था उस हाथी को देखा कि बहुत सुन्दर चरणों से सुमेरु पर्वतवत् चला आता है। जब निकट आया तब उसने इसको शीश पर ऐसे चढ़ा लिया जैसे सूर्य को सुमेरु शीश पर बैठाले। इस हाथी पर आरूढ़ होते ही नगारे और तुरियाँ बजने लगे और बड़े होने लगे—मानो प्रलयकाल के मेघ गर्जते हैं; भाट आदिक

स्तुति करने लगे और हाथी पर बैठे से इसके मुख की शोभा और ही हो गई। निदान सेना सहित राजा ऐसा शोभायमान हुआ जैसे तारों में चन्द्रमा शोभता है और अन्तःपुर में जाकर रानियों में बैठा और सब रानियाँ और सहेलियाँ इसके निकट आईं और इससे मिलने लगीं। सहेलियों ने स्नान कराके, नाना प्रकार के हीरे, मोती, भूषण और सुन्दर वस्त्र पहिराये। निदान सब प्रकार सुशोभित होकर राज्य करने लगा और सब स्थान और सब देशों में इसकी आज्ञा चलने लगी और सब लोग इससे भय पावें। वहाँ वह बड़े तेज और लक्ष्मी से सम्पन्न हुआ और तेजवान् होकर ऐसे बिचरने लगा जैसे वन में सिंह बिचरता है और हाथी पर चढ़कर शिकार खेलने जाता था। वहाँ उसका नाम गावल हुआ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे गावलोपाख्यानचाण्डालनाम
चतुश्चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रकार लक्ष्मी पाकर वह आनन्दवान् हुआ और जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा शोभता है तैसे ही शोभित हुआ। जब आठ वर्ष पर्यन्त इस प्रकार राज्य किया तब एक दिन उसके मन में संकल्प फुरा कि मुझको वस्त्र और भूषणों के पहिरने से क्या है और इनकी सुन्दरता क्या है; मैं तो राजाधिराज हूँ और अपने तेज से तेजस्वी शोभायमान हूँ। हे रामजी ! ऐसे विचारकर उसने भूषण उतार डाले; शुद्ध श्याम मूर्ति होकर स्थित हुआ और जैसे प्रातःकाल में तारागणों से रहित श्याम आकाश होता है तैसे ही होकर फिर अपनी चाण्डाल अवस्था के वस्त्र पहिन अकेला निकलकर बाहर डेवढ़ी पर जा खड़ा हुआ। निदान उस देश के बड़े चाण्डाल जिनको यह दुर्भिक्ष से छोड़ आया था उस मार्ग में आ निकले; उनमें एक चाण्डाल तन्द्री हाथ में लिये आता था उसने राजा को देखकर पहिचाना और श्याम पर्वतवत् राजा के सम्मुख आकर कहा, हे भाई ! इतने काल तू कहाँ था ? हमको छोड़कर यहाँ आकर सुख भोगने लगा है ? हे भाई ! यहाँ के राजा ने तुझको सुखी किया होगा, क्योंकि तू गाता भला है ? राजा को राग प्यारा होता है और तू कोकिला की नाईं गाता है। इस कारण प्रसन्न

होकर उसने तुझे बहुत धन दिया होगा। अथवा किसी और धनी ने तुझसे प्रसन्न होकर मन्दिर और धन दिया होगा। हे रामजी! इस प्रकार वह चाण्डाल मुख से कहता और भुजा फैलाता इसके सम्मुख चला और यह नेत्रों और हाथों से उसको संकेत करे कि चुप रह, पर वह चाण्डाल कुछ न समझे सम्मुख होकर चला ही आवे। ज्यों-ज्यों वह पास आता था त्यों-त्यों राजा की कान्ति घटती जाती थी कि इतने में झरोखों में से सहेलियों ने देखा और देखकर विचार किया कि यह राजा चाण्डाल है। ऐसे विचारकर वे महाशोक को प्राप्त हुई और कहने लगीं कि हमको बड़ा पाप हुआ कि इसके साथ हमने स्पर्श और भोजन किया। इस शोक से सबकी कान्ति नष्ट हो गई जैसे बरफ़ पड़ने से कमलपंक्ति की कान्ति जाती रहती है और जैसे वन में अग्नि लगने से वृक्षों की कान्ति जाती रहती है तैसे ही उनकी कान्ति जाती रही। सब नगरवासी भी यह सुनकर शोकवान् हुए और हाय-हाय शब्द करने लगे। जब वह चाण्डाल राजा अपने अन्तःपुर में आया तो उसको देख करके सब भागे और निकट कोई न आता था। जैसे पर्वत में अग्नि लगे तो वहाँ से पशु पक्षी भाग जाते हैं तैसे ही चाण्डाल राजा के निकट कोई न आवे। उस देश में जो बुद्धिमान् पण्डित थे उन्होंने विचार किया कि बड़ा अनर्थ हुआ जो हम इतने काल तक चाण्डाल राजा से जिये। हमको बड़ा पाप लगा है इसलिये इस पाप का और पुरश्चरण कोई नहीं, हम सब ही चिता बनाके अग्नि में प्रवेश कर जल मरेंगे तब यह पाप निवृत्त होगा। हे रामजी! ब्राह्मण और क्षत्रियों ने यह विचार करके चिता बना पुत्र, कलत्र और बान्धवों को छोड़कर चिता में प्रवेश करने लगे और जैसे दीपक में पतङ्ग प्रवेश करें तैसे ही जलने लगे। जैसे आकाश में तारे दृष्ट आवें तैसे ही चिता का अनेक चमत्कार दृष्ट आता था और धुवें से अन्धकार हो गया। कोई धर्मात्मा मनुष्य अपनी इच्छा से जलें और जो अपनी इच्छा से न जलें उनको औ [illegible] ले जलावें। चाण्डाल राजा ने विचारा कि मुझ एक के निमित्त [illegible] नगरवासी व्यर्थ जलते हैं; इस संसार में उसका जीना श्रेष्ठ है जिसमें

शोभा उत्पत्ति हो और जिसके जीने से पाप की उत्पत्ति हो उसका मरना श्रेष्ठ है। हे रामजी! ऐसे विचार कर उस राजा ने भी चिता बनाई और जैसे दीपक में पतङ्ग प्रवेश करता है तैसे ही प्रवेश कर गया। जब अग्नि का तेज शरीर में लगा तब गाधि का शरीर जो तलाव में डुबकी लगाये था काँपा और जल से बाहर शीश निकाला परन्तु सावधान न हुआ। इतना कहकर वाल्मीकिजी बोले कि जब इस प्रकार वशिष्ठजी ने कहा तब सूर्य अस्त हुआ और सब सभा परस्पर नमस्कार करके स्थान को गई।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे राजप्रध्वंसवर्णनन्नाम
पञ्चचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इतना भ्रम उसने दो मुहूर्त में देखा और अर्धघटी पर्यन्त उसे कुछ बोध न हुआ पर उसके उपरान्त बोधवान् हुआ और वह संसारभ्रम से रहित हुआ। जैसे मद्यपी नशे के क्षीण हुए बोधवान् हो तैसे ही वह बोधवान् हुआ और बाहर निकलकर विचारने लगा कि मुझको कुछ भ्रमसा हुआ है। कहाँ वह मेरा गृह में मरना, फिर चाण्डाल के गृह में जन्म लेना, फिर कुटुम्ब में रहना और फिर राज्य करना। बड़ा भ्रम मुझको हुआ है। हे रामजी! ऐसे विचारकर फिर उसने सन्ध्यादिक कर्म किये और इस भ्रम को फिर फिर स्मरण करके आश्चर्यवान् हो पर यह न जान सके कि भगवान् का वर पाकर मैंने यह माया देखी है। जब कुछ काल व्यतीत हुआ तब एक क्षुधार्थी दुर्बल ब्राह्मण थका हुआ इसके आश्रम पर आया—मानो ब्रह्मा के आश्रमपर दुर्वासा ऋषि आये—तब गाधि ने उस ब्राह्मण को आदर संयुक्त बैठाया और फल फूल इकट्ठे करके जैसे वसन्त ऋतु में फल फूल से वृक्ष पूर्ण होता है तैसे ही उसको पूर्ण किया। वह ब्राह्मण कई दिन वहाँ रहा। संध्यादिक कर्म और मन्त्र जाप दोनों इकट्ठे करें और रात्रि को पत्रों की शय्या बनाकर शयन करें। एक रात्रि के समय शय्या पर बैठे दोनों चर्चा वार्त्ता करते थे कि प्रसङ्ग पाकर गाधि ने पूछा, हे ब्राह्मण! तेरा शरीर जो ऐसा कृश और थका हुआ है इसका क्या कारण है? उसने कहा, हे साधो! जो कुछ तूने पूछा है सो मैं कहता हूँ, हम सत्यवादी हैं—जैसे वृत्तान्त हुआ है सो तू सुन। एक काल में मैं

देशान्तर फिरता फिरता उत्तर दिशा की ओर गया और क्रान्तदेश में जा पहुँचा और वहाँ रहने लगा। वहाँ के गृहस्थ भली प्रकार मेरी टहल करें और उनके भले भोजन और वस्त्रों से मैं प्रसन्न हो रसस्वाद से मेरा चित्त मोह गया। एक दिन मेरे मुख से यह शब्द निकला कि यहाँ के लोग बहुत श्रद्धावान् और दयावान् हैं तब जो लोग पास बैठे थे कहने लगे, हे साधो! आगे यहाँ दया धर्म बहुत था अब कुछ कम हो गया है। तब मैंने पूछा कि क्यों? तब उन्होंने कहा कि इस देश का राजा मृतक हुआ तब एक चाण्डाल राजा हुआ था। प्रथम किसी ने न जाना और वह आठ वर्ष पर्यन्त राज्य करता रहा। जब उसकी वार्ता प्रकट हुई कि यह चाण्डाल है तब देश के रहनेवाले ब्राह्मण क्षत्रिय चिता बना करके जल मरे और फिर राजा भी जल मरा। ऐसा पाप इस देश में हुआ है इस कारण दया धर्म कुछ कम हो गया है। हे ब्राह्मण! जब मैंने इस प्रकार नगरवासियों से सुना तब मैं बहुत शोकवान् हुआ और वहाँ से यह विचारता चला कि हाय हाय मैं बड़े पापी देश में रहा हूँ। ऐसे विचारकर मैं प्रयागादि तीर्थों पर चला और तीर्थ करके कृच्छ्र और चान्द्रायण व्रत करे अर्थात् कृष्णपक्ष में एक एक ग्रास घटाता जाऊँ और जब अमावास्या आवे तब निराहार रहूँ और जब शुक्लपक्ष आवे तब एक एक ग्रास बढ़ाता जाऊँ और पूर्णमासी के चन्द्रमा के कला से बढ़ाना और कला के घटने से घटाना इस प्रकार मैंने तीन कृच्छ्र चान्द्रायण किये हैं। वहाँ से चलते चलते आश्रम पर आकर व्रत खोला है। हे साधो! इस निमित्त मेरा शरीर कृश और निर्बल हुआ। हे रामजी! जब इस प्रकार ब्राह्मण ने कहा तब गाधि विस्मय को प्राप्त हुआ कि मैं जानता था कि मुझको भ्रम ऐसा हो गया है सो इसने प्रत्यक्ष वार्त्ता कह सुनाई। ऐसे विचारकर फिर गाधि ने पूछा और फिर उसने ऐसे ही कहा तब सुनकर आश्चर्यवान् हुआ। जब रात्रि व्यतीत हुई और सूर्य उदय हुआ तब सन्ध्या आदिक कर्म किये और फिर एकान्त में विचारने लगा कि मैंने कैसा भ्रम देखा है और ब्राह्मण ने सत्य कैसे देखा, इससे अब उस देश को चलकर देखूँ जहाँ मुझको चाण्डाल का शरीर हुआ था। हे रामजी! इस प्रकार विचारकर

मनोराज के भ्रम को देखने को गाधि ब्राह्मण चला और चलता चलता उस देश में जा पहुँचा। जैसे ऊँट काँटों को ढूँढ़ता कण्टकों के वन में जाता है तैसे ही यह जब चाण्डालों के स्थानों को प्राप्त हुआ तब चाण्डालों के स्थान देखे और जहाँ अपना स्थान था उसको देखा और अपनी खेती लगाने का स्थान देखा कि कुछ बेल खड़ी है और कुछ गिर गई है और पशु के हाड़ चर्म जो अपने हाथ से डाले थे वे प्रत्यक्ष देखे और आश्चर्यवान् हुआ कि हे देव! क्या आश्चर्य है कि चित्त का भ्रम मैंने प्रत्यक्ष देखा। जो बालक अवस्था में क्रीड़ा करने के और भोजन और मद्य पीने के और पात्र इत्यादिक जो खान पान भोग के स्थान थे वह प्रत्यक्ष देखे और महावैराग्य को प्राप्त हुआ। ग्रामवासी मनुष्यों से भी पूछा कि हे साधो! यहाँ एक चाण्डाल बड़े श्याम शरीरवाला हुआ था तुमको भी कुछ स्मरण है? हे रामजी! जब इस प्रकार ब्राह्मण ने पूछा तब ग्रामवासियों ने कहा, हे ब्राह्मण! यहाँ एक कटजल नाम चाण्डाल क्रम करके बड़ा हुआ, फिर उसका विवाह हुआ और बेटे बेटी परिवार सहित बड़ा कुटुम्बी हुआ। फिर जब वृद्ध हुआ तो दैव संयोग से अकेला कहीं चला गया और जाता जाता क्रान्तदेश में वहाँ के राजा के मरने के कारण वहाँ का राज इसको मिला और आठ वर्ष पर्यन्त राज करता रहा। जब नगरवासियों ने सुना कि यह चाण्डाल है तब वह बहुत शोकवान् हुए और चिता बनाकर जल मरे। इस प्रकार सुनकर गाधि बहुत आश्चर्यवान् हुआ और एक से सुनकर और से पूछा उसने भी इसी प्रकार कहा। ऐसे बारम्बार लोगों से पूछता रहा और एक मास वहाँ रह फिर आगे चला और नदियाँ, पहाड़, देश, हिमालय पर्वतों की उत्तर दिशा क्रान्तदेश में पहुँचा। जिन स्थानों का वृत्तान्त सुना था सो सबही देखे। जहाँ सुन्दर स्त्रियाँ थीं और जहाँ चमर झूलते थे उनको प्रत्यक्ष देखा। फिर नगरवासियों से पूछा कि यहाँ कोई चाण्डाल राजा भी हुआ है; तुमको कुछ स्मरण है तो मुझसे कहो। नगरवासियों ने कहा, हे साधो! यहाँ का राजा मर गया था और मन्त्रियों ने एक हाथी छोड़ा था कि जो कोई मनुष्य इस हाथी के सम्मुख आवे उसको राजा करें। जब वह हाथी चला तब उसके सम्मुख

एक चाण्डाल आया और हाथी ने जब उस चाण्डाल को शीश पर चढ़ा लिया तब और विचार किसी ने न किया और उसको राजतिलक दिया। आठवर्ष पर्यन्त वह राज करता रहा पीछे जब उसके बान्धव आये और उससे चर्चा करने लगे तब सहेलियों ने ऊपर से देखा कि यह चाण्डाल है। ऐसे देख उन्होंने उसका त्याग किया और विचारवान् लोग जो उसके साथ चेष्टा करते थे वे उसे चाण्डाल जानकर जल मरे और वह राजा भी आपको धिक्कार कर जल मरा। अब उसको बारहवर्ष मृत्यु पाये व्यतीत हुए हैं। हे रामजी! इस प्रकार सुनके गाधि ब्राह्मण आश्चर्य को प्राप्त हुआ कि कहाँ मैं जल में स्थित था और कहाँ इतनी अवस्था देखी। ऐसे विचार करता था कि इतने में पूर्व का वृत्तान्त स्मरण आया कि यह आश्चर्य भगवान् की माया है। मैंने वर माँगा था इस माया से इतना भ्रम देखा है। यह आश्चर्य है कि यहाँ दो मुहूर्त बीते हैं और वहाँ स्वप्नभ्रम की नाईं इतना काल मुझको भासित हुआ और सत्यसा स्थित हुआ है सो बड़ा आश्चर्य है। इससे संशय निवृत्त करने के निमित्त फिर उन विष्णुजी का ध्यान करूँ जिनकी माया से मैंने इतना भ्रम देखा है, और कोई इस संशय को दूर नहीं कर सकता। हे रामजी! इस प्रकार विचारकर गाधि ब्राह्मण फिर पहाड़ की कन्दरा में जाकर तप करने लगा और केवल एक अञ्जली जल पान करे और कुछ भोजन न करे। इस प्रकार डेढ़वर्ष पर्यन्त उसने तप किया तब त्रिलोकी के नाथ विष्णु भगवान् प्रसन्न होकर उसके निकट आये और कहा, हे ब्राह्मण! मेरी माया को देख जो जगत्जाल की रचनेवाली है। अब और क्या इच्छा करता है? हे रामजी! जब विष्णु भगवान् ने ऐसे कहा तब ब्राह्मण इस प्रकार बोला जैसे मेघ को देखकर पपीहा बोलता है। हे भगवन्! तेरी माया तो मैंने देखी परन्तु एक संशय मुझको है कि यह जो स्वप्नभ्रम की नाईं मैंने देखा इसमें काल की विषमता कैसे हुई कि यहाँ दो मुहूर्त व्यतीत हुए हैं और वहाँ चिरकालपर्यन्त भ्रमता रहा और उन [illegible] पदार्थों को जाग्रत् में प्रत्यक्ष कैसे देखा? श्रीभगवान् बोले, हे ब्राह्मण! और कुछ नहीं तेरे चित्त ही का भ्रम है। जिसके चित्त में तत्त्व की

अदृष्टता है उसको यह चित्तभ्रम होता है। और वह क्या भ्रम था, जितना कुछ जगत् प्रत्यक्ष देखता है वह तेरे मन में स्थित है। पृथ्वी आदिक तत्त्व कोई नहीं; जैसे बीज के भीतर फूल, फल, पत्र होते हैं तैसे ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश जो पांचभौतिक हैं वह सब विस्तार चित्त में स्थित है। जैसे वृक्ष का विस्तार बीज में दृष्टि नहीं आता पर जब बोया हुआ उगता है तब विस्तार से दृष्टि आता है; तैसे ही जब चित्त ज्ञान में लीन होता है तब जगत् नहीं भासता और जब स्पन्दरूप होता है तब बड़े विस्तारसंयुक्त भासता है। हे ब्राह्मण! जो कुछ जगत् देखता है वह सब चित्त का भ्रम है। जैसे एक कुलाल घटादिक वासन उत्पन्न करता है तैसे ही एक चित्त ही अनेक भ्रमरूप पदार्थों को उत्पन्न करता है और जो चित्त वासना से रहित है उससे भ्रमरूप पदार्थ कोई नहीं उपजता। इससे चित्त को स्थित कर। हे ब्राह्मण! इस चित्त में कोटि ब्रह्माण्ड स्थित हैं। जो तुझको चाण्डाल अवस्था का अनुभव हुआ तो इसमें क्या आश्चर्य हुआ और तू कहता है कि मैंने बड़ी आश्चर्यरूप माया देखी है सो उसको ही माया कहता है। अब जो तुझको विद्यमान भासता है वह सब ही माया है। जो तुझको अपने गृह में अनुभव हुआ था और चाण्डाल के गृह में जन्म लिया, कुटुम्बी हुआ और राज किया, फिर चिता में जला, फिर अतिथि ब्राह्मण से मिला, फिर जाकर सब स्थान देखे सो भी माया थी। जैसे इतना भ्रम तूने माया से देखा तैसे ही यह फैलाव भी सब माया है। हे साधो! जैसे स्वप्न में नाना प्रकार के पदार्थ भासते हैं और जैसे मदिरापान करनेवाले को सब पदार्थ भ्रमते दिखते हैं तैसे ही यह जगत् भी भ्रम से भासता है। जैसे नौका पर बैठे को तटवृक्ष भ्रमते भासते हैं तैसे ही यह जगत् भी भ्रममात्र भासता है और चित्त के स्थित करने से जगत्भ्रम नष्ट हो जावेगा—अन्यथा निवृत्त न होवेगा। जैसे पत्र, फूल, फल, टास काटने से वृक्ष नष्ट नहीं होता जब मूल से काटिये तब नष्ट हो जाता है तैसे ही जब जगत्भ्रम का मूल चित्त ही नष्ट हो जावेगा तब संपूर्ण भ्रम निवृत्त हो जावेगा। यह चित्त का नाश होना क्या है? चित्त की चैत्यता जो दृश्य की ओर धावती है

वही जगत् का बीज है; जब यही चैत्यता दृश्य की ओर फुरने से रहित हो तब जगत्भ्रम भी मिट जावेगा और जगत् की ओर फुरना तब मिटे जब जगत् को मायामात्र जानोगे। हे साधो! यह सब जगत् मायामात्र है, कोई पदार्थ सत्य नहीं। जैसे वह भ्रम मायामात्र भासित है तैसे ही यह भी सब मायामात्र जानो। इससे इस भ्रम को त्यागकर अपने ब्राह्मण के कर्म करो। हे रामजी! इस प्रकार कहकर जब विष्णुदेव उठ खड़े हुए तब गाधि और और ऋषीश्वर जो वहाँ थे उन्होंने विष्णु की पूजा की और विष्णु क्षीरसमुद्र को गये। तब वह ब्राह्मण फिर उसी भ्रम को देखने चला। निदान वह फिर क्रान्तदेश में गया और उसको देखकर आश्चर्यवान् हुआ। विष्णु मायामय कहते थे जो कुछ मैंने भ्रम में देखा था सोई प्रत्यक्ष देखता हूँ। ऐसे विचारकर फिर कहा कि जो इस संशय को और कोई दूर नहीं कर सकता इससे फिर मैं विष्णु की आराधना करूँगा। हे रामजी! इस प्रकार विचारकर गाधि फिर पहाड़ की कन्दरा में जाकर तप करने लगा तब थोड़े काल में विष्णु भगवान् प्रसन्न होकर आये और जैसे मेघ मोर से कहे तैसे ही ब्राह्मण से बोले, हे ब्राह्मण! अब क्या चाहता है? तब गाधि ने कहा, हे भगवन्! तुम कहते हो सब भ्रममात्र है और यह तो प्रत्यक्ष भासता है। जो भ्रम होता है सो प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता और मैंने फिर वह स्थान देखे और थोड़े काल से बहुत काल देखने का मुझको संशय है सो दूर करो। हे रामजी! जब इस प्रकार गाधि ने कहा तब भगवान् ने कहा, हे ब्राह्मण! जो कुछ तुझको यह भासता है वह सब मायामात्र है। और जिस प्रकार तुझको यह भासता है वह सुन; वह सब मायामात्र है। जिस प्रकार तुझको यह अनुभव हुआ है वह सुन; हे ब्राह्मण! कण्टकजल नाम चाण्डाल एक चाण्डाल के गृह में उत्पन्न हुआ था और क्रम से बड़ा होकर बड़ा कुटुम्बी हुआ। फिर वहाँ दुर्भिक्ष पड़ा तब उस देश को त्यागकर क्रान्त देश का राजा हुआ। फिर लोगों ने सुना तब सबही अग्नि में जले और वह चाण्डाल आप भी अग्नि जला। वह कण्टकजल चाण्डाल और था, यह अवस्था उसकी हुई थी और वही प्रतिभा तुमको आन फुरी है। जैसी अवस्था उसकी हुई थी सो तेरे चित्त में आन फुरी, इस कारण तूने जाना कि यह अवस्था मैंने देखी है। हे साधो! अकस्मात् ऐसे भी होता है कि और की प्रतिभा और को फुर आती है। कहीं अन्यथा भी होती है, कहीं एक जैसी भी होती है; इस भ्रम का अन्त लेना नहीं बनता, क्योंकि यह चित्त के फुरने से होता है। जब चित्त आत्मपद में स्थित होता है तब जगत्भ्रम निवृत्त हो जाता है। काल की विषमता भी होती है—जैसे जाग्रत् की दो घड़ी में अनेक वर्षों का स्वप्न देखता है तैसे ही यह सब चित्त का भ्रम जान। तू इस भ्रम को न देख; चित्त को स्थित करके अपने ब्राह्मण का आचार कर। हे रामजी! ऐसे कहकर विष्णु गुप्त हो गये परन्तु ब्राह्मण का संशय दूर न हुआ। वह मन में विचारे कि और की प्रतिभा मुझको कैसे हुई यह तो मैंने प्रत्यक्ष भोगी है और जाकर देखी है यह और की वार्त्ता कैसे हो। जो आँखों से नहीं देखी होती उसका अनुभव भी नहीं होता और मैंने तो प्रत्यक्ष अनुभव किया है। ऐसे ऐसे विचारकर फिर वही स्थान देखे और आश्चर्यवान् हुआ फिर विचार किया कि यह मुझको बड़ा संशय है इसके दूर करने का उपाय भगवान् से पूछूँ। हे रामजी! ऐसे चिन्तनकर फिर तप करने लगा और जब कुछ काल पहाड़ की कन्दरा में तप करते बीता तब फिर विष्णु ने आकर कहा, हे ब्राह्मण! अब तेरी क्या इच्छा है? ऐसे जब विष्णु ने कहा तब गाधि ब्राह्मण बोला, हे भगवन्! तुम कहते हो कि यह और की प्रतिभा तुझको फुर आई है और अपनी होकर भासती है और काल की विषमता भी भासती है। यह संशय जिस प्रकार मेरे चित्त से दूर हो सो उपाय कहो। और मेरा प्रयोजन कुछ नहीं है केवल यह भ्रम निवृत्त करो। श्रीभगवान् बोले, हे ब्राह्मण! यह जगत् सब मेरी माया से रचा है इससे मैं तुझसे सत्य क्या कहूँ और असत्य क्या कहूँ। जो कुछ तुझको भासता है वह सब मायामात्र है और चित्त के भ्रम से भासता है। उस चाण्डाल की अवस्था तेरे चित्त में भासि आई थी। जैसे किसी को भ्रम से रस्सी में सर्प भासे इसी प्रकार औरों को भी रस्सी में सर्प भासता है तैसे ही प्रतिभा तुझको भासि आई है। काल का रूप आकार कुछ नहीं पर काल भी तुझको

एक पदार्थ की नाईं फुर आया है। चित्त में पदार्थ काल से भासते हैं और काल पदार्थों से भासता है। अन्यान्य न्यून अधिक जो भासता है सो स्वप्न की नाईं है—जैसे जाग्रत् के एक मुहूर्त में स्वप्न के अनन्तकाल का अनुभव होता है। यह चित्त का फुरना जैसे जैसे फुरता है तैसे तैसे हो भासता है; रोगी को थोड़ा काल भी बहुत भासता है और भोगी को बहुत काल भी थोड़ा भासता है। हे साधो ! जो नहीं भोगा होता उसका भी अनुभव होता है। जैसे त्रिकालदर्शी को भविष्यत् वृत्तान्त भी वर्त्तमान की नाईं भासता है; तैसे ही तुझको भी अनुभव हुआ है। एक ऐसे भी होता है कि प्रत्यक्ष अनुभव किया विस्मरण हो जाता है। यह सब मायारूप चित्त का भ्रम है। जबतक चित्त आत्मपद में स्थित नहीं हुआ तब तक अनेक भ्रम भासते हैं और जब चित्त स्थित होता है तब भ्रम मिट जाता है और तब केवल एक अद्वैत आत्मतत्त्व ही भासता है जैसे सम्यक् मन्त्र का पाठकर ओलों का मेघ नष्ट हो जाता है—असम्यक् मन्त्र से नष्ट नहीं होता तैसे ही तेरा चित्त अबतक वश नहीं हुआ। चित्त को आत्मपद में लगाने से सब भ्रम निवृत्त हो जावेगा। अहं त्वं आदिक जो कुछ शब्द हैं वे अज्ञानी के चित्त में दृढ़ होते हैं, ज्ञानवान् इनमें नहीं फँसता। हे साधो ! जो कुछ जगत् है सो अज्ञान से भासता है और आत्मज्ञान हुए से नाश हो जाता है। जैसे जल में तूम्बी नहीं डूबती तैसे ही अहं त्वं आदिक शब्दों में ज्ञानवान् नहीं डूबता। सब शब्द चित्त में वर्तते हैं सो ज्ञानी का चित्त अचित्तपद को प्राप्त होता है इससे तू दशवर्ष पर्यन्त तप में स्थित हो तब तेरा हृदय शुद्ध होगा। जब चित्तपद प्राप्त होगा तब सब संकल्प से रहित आत्मपद तुझको प्राप्त होगा और जब आत्मपद प्राप्त होगा तब सब संशय जगत्भ्रम मिट जावेगा। हे रामजी ! ऐसे कहकर जब त्रिलोकी के नाथ विष्णु अन्तर्धान हो गये तब गाधि ब्राह्मण ऐसे मन में धरकर तप करने लगा और मन के संसरने को स्थित कर दशबर्ष पर्यन्त समाधि में चित्त को स्थित किया। जब ऐसे परम तप किया तब उसे शुद्ध चिदानन्द आत्मा का साक्षात्कार हुआ। फिर शान्तवान् होकर बिचरा और जो कुछ रागद्वेष आदिक विकार हैं उनसे रहित होकर शान्ति को प्राप्त हुआ। ४६॥

इति श्रीयोग०उप०गाधिबोधप्राप्तिवर्णनं नाम षट्चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ४६॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह गाधि का आख्यान मैंने तुझसे माया की विषमता जताने के निमित्त कहा है कि परमात्मा की माया मोह को देनेवाली है और विस्तृत रूप और दुर्गम है। जो आत्मतत्त्व को भूला है उसको यह आश्चर्यरूप भ्रम दिखाती है। तू देख कि दो मुहूर्त कहाँ और इतना काल कहाँ ? चाण्डाल और राजभ्रम को जो वर्षों पर्यन्त देखता रहा। भ्रम से भासना और प्रत्यक्ष देखना यह सब माया की विषमता है सो असत्रूप भ्रम है और जो दृढ़ होकर प्रसिद्ध भासित होता है इससे आश्चर्यरूप परमात्मा की माया है, जब तक बोध नहीं होता तब तक यह अनेक भ्रम दिखाती है। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! यह माया संसारचक्र है उसका बड़ा तीक्ष्ण वेग है और सब अङ्गों को छेदनेवाला है; जिससे यह चक्र रुके और इस भ्रम से छूटूँ वही उपाय कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह जो मायामय संसारचक्र है उसका नाभिस्थान चित्त है। जब चित्त वश हो तब संसारचक्र का वेग रोका जावे; और किसी प्रकार नहीं रोका जाता। हे रामजी ! इस वार्त्ता को तू भली प्रकार जानता है। हे निष्पाप ! जब चक्र की नाभि रोकी जाती है तब चक्र स्थित हो जाता है—रोके विना स्थित नहीं होता। संसाररूपी चक्र की चित्तरूपी नाभि को जब रोकते हैं तब यह चक्र भी स्थित हो जाता है—रोके विना यह भी स्थित नहीं होता। जब चित्त को स्थित करोगे तब जगत्भ्रम निवृत्त हो जावेगा और जब चित्त स्थित होता है तब परब्रह्म प्राप्त होता है। तब जो कुछ करना था सो किया होता है और कृतकृत्य होता है और जो कुछ प्राप्त होना था सो प्राप्त होता है—फिर कुछ पाना नहीं रहता। इससे जो कुछ तप, ध्यान, तीर्थ, दान आदिक उपाय हैं उन सबको त्यागकर चित्त के स्थित करने का उपाय करो। सन्तों के सङ्ग और ब्रह्मविद् शास्त्रों के विचार से चित्त आत्मपद में स्थित होगा। जो कुछ सन्तों और शास्त्रों ने कहा है उसका बारंबार अभ्यास करना और संसार को मृगतृष्णा के जल और स्वप्नवत् जानकर इससे वैराग्य करना। इन दोनों उपायों से चित्त स्थित होगा और आत्मपद की प्राप्ति होगी और किसी उपाय से आत्मपद की प्राप्ति न

होवेगी। हे रामजी! बोलने चालने का बर्जन नहीं; बोलिये, दान दीजिये अथवा लीजिये परन्तु भीतर चित्त को मत लगाओ इनका साक्षी जाननेवाला जो अनुभव आकाश है उसकी ओर वृत्ति हो। युद्ध करना हो तौ भी करिये परन्तु वृत्ति साक्षी ही की ओर हो और उसी को अपना रूप जानिये और स्थित होइये। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध; ये जो पाँच विषय इन्द्रियों के हैं इनको अङ्गीकार कीजिये परन्तु इनके जाननेवाले साक्षी में स्थित रहिये! तेरा निजस्वरूप वही चिदाकाश है; जब उसका अभ्यास वारंवार करियेगा तब चित्त स्थित होगा और आत्मपद की प्राप्ति होगी। हे रामजी! जब तक चित्त आत्मपद में स्थित नहीं होता तब तक जगत्भ्रम भी निवृत्त नहीं होता। इस चित्त के संयोग से चेतन का नाम जीव है। जैसे घट के संयोग से आकाश को घटाकाश कहते हैं पर जब घट टूट जाता है तब महाकाश ही रहता है, तैसे ही जब चित्त का नाश होगा तब यह जीव चिदाकाश ही होगा। यह जगत् भी चित्त में स्थित है; चित्त के अभाव हुए जगत्भ्रम शान्त हो जावेगा। हे रामजी! जब तक चित्त है तब तक संसार भी है; जैसे जब तक मेघ तब तक बूँदें भी हैं और जब मेघ नष्ट हो जावेगा तब बूँदें भी न रहेंगी। जैसे जब तक चन्द्रमा की किरणें शीतल हैं तब तक चन्द्रमा के मण्डल में तुषार है तैसे ही जब तक चित्त है तब तक संसारभ्रम है। जैसे मांस का स्थान श्मशान होता है और वहाँ पक्षी भी होते हैं और ठौर इकट्ठे नहीं होते; तैसेही जहाँ चित्त है वहाँ रागद्वेषादिक विकार भी होते हैं और जहाँ चित्त का अभाव है वहाँ विकार का भी अभाव है। हे रामजी! जैसे पिशाच आदिक की चेष्टा रात्रि में होती है, दिन में नहीं होती; तैसेही राग, द्वेष, भय, इच्छा आदिक विकार चित्त में होते हैं। जहाँ चित्त नहीं वहाँ विकार भी नहीं—जैसे अग्नि विना उष्णता नहीं होती; शीतलता विना बरफ नहीं होती; सूर्य विना प्रकाश नहीं होता और जल विना तरङ्ग नहीं होते तैसे ही चित्त विना जगत्भ्रम नहीं होता। हे रामजी! शान्ति भी इसी का नाम है और शिवता भी वही है; सर्वज्ञता भी वही है जो चित्त नष्ट हुआ हो, आत्मा भी वही है और तृप्तता भी वही है पर जो चित्त नष्ट नहीं हुआ

तो इतने पदों में कोई भी नहीं है। हे रामजी! चित्त से रहित चेतन चैतन्य कहाता है और अमनशक्ति भी वही है; जबतक सब कलना से रहित बोध नहीं होता तबतक नाना प्रकार के पदार्थ भासते हैं और जब वस्तु का बोध हुआ तब एक अद्वैत आत्मसत्ता भासती है। हे रामजी! ज्ञानसंवित् की ओर वृत्ति रखना; जगत् की ओर न रखना और जाग्रत् की ओर न जाना। जाग्रत् के जाननेवाले की ओर जाना स्वप्न और सुषुप्ति की ओर न जाना। भीतर के जाननेवाली जो साक्षी सत्ता है उसकी ओर वृत्ति रखना ही चित्त के स्थित करने का परम उपाय है। सन्तों के संग और शास्त्रों से निर्णय किये अर्थ का जब अभ्यास हो तब चित्त नष्ट हो और जो अभ्यास न हो तौ भी सन्तों का संग और सत्शास्त्रों को सुनकर बल कीजिये तो सहज ही चमत्कार हो आवेगा। मन को मन से मथिये तो ज्ञानरूपी अग्नि निकलेगी जो आशारूपी फाँसी को जला डालेगी। जबतक चित्त आत्मपद से विमुख है तबतक संसारभ्रम देखता है पर जब आत्मपद में स्थित होता है तब सब क्षोभ मिट जाते हैं। जब तुमको आत्मपद का साक्षात्कार होगा तब कालकूट विष भी अमृत समान हो जावेगा और विष का जो मारना धर्म है सो न रहेगा। जीव जब अपने स्वभाव में स्थित होता है तब संसार का कारण मोह मिट जाता है और जब निर्मल निरंश आत्मसंवित् से गिरता है तब संसार का कारण मोह आन प्राप्त होता है। जब निरंश निर्मल आत्मसंवित् में स्थित होता है तब संसारसमुद्र से तर जाता है। जितने तेजस्वी बलवान् हैं उन सबों से तत्त्ववेत्ता उत्तम है; उसके आगे सब लघु हो जाते हैं और उस पुरुष को संसार के किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं रहती, क्योंकि उसका चित्त सत्यपद को प्राप्त होता है। इससे चित्त को स्थित करो तब वर्तमानकाल भी भविष्यतकाल की नाईं हो जावेगा और जैसे भविष्यत्काल का रागद्वेष नहीं स्पर्श करता तैसे ही वर्तमानकाल का रागद्वेष भी स्पर्श न करेगा। हे रामजी! आत्मा परम आनन्दरूप है, उसके पाने से विष भी अमृत के समान हो जाता है। जिस पुरुष को आत्मपद में स्थिति हुई है वह सबसे उत्तम है जैसे सुमेरु पर्वत के निकट हाथी तुच्छ भासता है तैसे ही उसके

निकट त्रिलोकी के पदार्थ सब तुच्छ भासते हैं वह ऐसे दिव्य तेज को प्राप्त होता है जिसको सूर्य भी नहीं प्रकाश कर सकता। वह परम प्रकाशरूप सब कलना से रहित अद्वैततत्त्व है। हे रामजी ! उस आत्मतत्त्व में स्थित हो रहो। जिस पुरुष ने ऐसे स्वरूप को पाया है उसने सब कुछ पाया है और जिसने ऐसे स्वरूप को नहीं पाया उसने कुछ नहीं पाया। ज्ञानवान् को देखकर हमको ज्ञान की वार्ता करते कुछ लज्जा नहीं आती और जो उस ज्ञान से विमुख है यद्यपि वह महाबाहु हो तौ भी गर्दभवत् है। जो बड़े ऐश्वर्य से सम्पन्न है और आत्मपद से विमुख है उसको तू विष्ठा के कीट से भी नीच जान। जीना उनका श्रेष्ठ है जो आत्मपद के निमित्त यत्न करते हैं और जीना उनका वृथा है जो संसार के निमित्त यत्न करते हैं। वे देखनेमात्र तो चेतन हैं परन्तु शव की नाईं हैं। जो तत्त्ववेत्ता हुए हैं वे अपने प्रकाश से प्रकाशते हैं और जिनको शरीर में अभिमान है वे मृतक समान हैं। हे रामजी ! इस जीव को चित्त ने दीन किया है। ज्यों ज्यों चित्त बड़ा होता है त्यों त्यों इसको दुःख होता है और जिसका चित्त क्षीण हुआ है उसका कल्याण हुआ है। जब आत्मभाव अनात्म में दृढ़ होता है और भोगों की तृष्णा होती है तब चित्त बड़ा हो जाता है और आत्मपद से दूर पड़ता है। जैसे बड़े मेघ के आवरण से सूर्य नहीं भासता तैसे ही अनात्म अभिमान से आत्मा नहीं भासता। जब भोगों की तृष्णा निवृत्त हो जाती है तब चित्त क्षीण हो जाता है। जैसे वसन्त ऋतु के गये से पत्र कृश हो जाते हैं तैसे ही भोगवासना के अभाव से चित्त कृश हो जाता है। हे रामजी ! चित्तरूपी सर्प दुर्वासनारूपी दुर्गन्ध, भोगरूपी वायु और शरीर में दृढ़ आस्थारूपी मृत्तिका स्थान से बड़ा हो जाता है; और उन पदार्थों से जब बड़ा हुआ तब मोहरूपी विष से जीव को मारता है। हे रामजी ! ऐसे दुष्टरूपी सर्प को जब मारे तब कल्याण हो। देह में जो आत्म अभिमान हो गया है, भोगों की तृष्णा फुरती है और मोहरूपी विष चढ़ गया है; इससे यदि विचाररूपी गरुड़मन्त्र का चिन्तन करता रहे तो विष उतर जावे इसके सिवाय और उपाय विष उतरने का कोई नहीं। हे रामजी ! अनात्मा में

आत्माभिमान और पुत्र, दारा आदिक में ममत्व से चित्त बड़ा हो जाता है और अहंकाररूपी विकार, ममतारूपी कीड़ा और यह मेरा इत्यादि भावना से चित्त कठिन हो जाता है। चित्तरूपी विष का वृक्ष है जो देहरूपी भूमि पर लगा है; संकल्पविकल्प इसके टास हैं; दुर्वासनारूपी पत्र हैं और सुखदुःख आधिव्याधि मृत्युरूपी इसके फल हैं; अहंकाररूपी कर्म जल है उसके सींचने से बढ़ता है और काम भोग आदि पुष्प हैं। चिन्तारूपी बड़ी बेल को जब विचार और वैराग्यरूपी कुठार से काटे तब शान्ति हो—अन्यथा शान्ति न होगी। हे रामजी ! चित्तरूपी एक हाथी है उसने शरीररूपी तालाब में स्थित होकर शुभ वासनारूपी जल को मलीन कर डाला है और धर्म, सन्तोष, वैराग्यरूपी कमल को तृष्णारूपी सूँड़ से तोड़ डाला है। उसको तुम आत्मविचाररूपी नेत्रों से देख नखों से छेदो। हे रामजी ! जैसे कौवा अपवित्र पदार्थों को भोजन करके सर्वदा काँ काँ करता है तैसे ही चित्त देहरूपी अपवित्र गृह में बैठा सर्वदा भोगों की ओर धावता है; उनके रस को ग्रहण करता है और मौन कभी नहीं रहता। दुर्वासना से वह काक की नाईं कृष्णरूप है—जैसे काक के एक ही नेत्र होता है तैसे ही चित्त एक विषयों की ओर धावता है। ऐसे चित्त-अमङ्गलरूपी कौवे को विचाररूपी धनुष से मारो तब सुखी होगे। चित्तरूपी चील पखेरू है जो भोगरूपी मांस के निमित्त सब ओर भ्रमता है। जहाँ अमङ्गलरूपी चील आती है वहाँ से विभूति का अभाव हो जाता है। वह अभिमानरूपी मांस की ओर ऊँची होकर देखती है और नम्र नहीं होती। ऐसा जो अमङ्गलरूपी चित्त चील है उसको जब नाश करो तब शान्तिमान् होगे। जैसे पिशाच जिसको लगता है वह खेदवान् होता है और शब्द करता है; तैसे ही इसको चित्तरूपी पिशाच लगा है और तृष्णारूपी पिशाचिनी के साथ शब्द करता है उसको निकालो जो आत्मा से भिन्न अभिमान करता है। ऐसे चित्तरूपी पिशाच को वैराग्यरूपी मन्त्र से दूर करो तब स्वभावसत्ता को प्राप्त होगे। यह चित्तरूपी वानर महाचञ्चल है और सदा भटकता रहता है; कभी किसी पदार्थ में धावता है—जैसे वानर जिस वृक्ष पर बैठता है उसको ठहरने नहीं देता। हे रामजी ! चित्तरूपी

रस्सी से सम्पूर्ण जगत् कर्ता, कर्म, क्रियारूपी गाँठ करके बँधा है। जैसे एक ज़ंजीर के साथ अनेक बँधते हैं और एक तागे के साथ अनेक दाने पिरोये जाते हैं तैसे ही एक चित्त से सब देहधारी बाँधे हैं। उस रस्सी को असंग शस्त्र से काटे तब सुखी हो। हे रामजी ! चित्तरूपी अजगर सर्प भोगों की तृष्णारूपी विष से पूर्ण है और उसने फुंकार के साथ बड़े-बड़े लोक जलाये हैं और शम, दम, धैर्यरूपी सब कमल जल गये हैं। इस दुष्ट को और कोई नहीं मार सकता; जब विचाररूपी गरुड़ उपजे तब इसको नष्ट करे और जब चित्तरूपी सर्प नष्ट हो तब आत्मरूपी निधि प्राप्त होगी। हे रामजी ! यह चित्त शस्त्रों से काटा नहीं जाता; न अग्नि से जलता है और न किसी दूसरे उपाय से नाश होता है, केवल साधु के संग और सत्शास्त्रों के विचार और अभ्यास से नाश होता है। हे रामजी ! यह चित्तरूपी गढ़े का मेघ बड़ा दुःखदायक है, भोगों की तृष्णारूपी बिजली इसमें चमकती है और जहाँ वर्षा इसकी होती है वहाँ बोधरूपी क्षेत्र और शम-दमरूपी कमलों को नाश करती है। जब विचाररूपी मन्त्र हो तब शान्त हो। हे रामजी ! चित्त की चपलता को असंकल्प से त्यागो। जैसे ब्रह्मास्त्र से ब्रह्मास्त्र छिदता है तैसे ही मन से मन को छेदो अर्थात् अन्तर्मुख हो। जब तेरा चित्तरूपी वानर स्थित होगा तब शरीररूपी वृक्ष क्षोभ से रहित होगा। शुद्ध बोध से मन को जीतो और यह जगत् जो तृण से भी तुच्छ है उससे पार हो जाओ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे राघवसेवनवर्णनं
नाम सप्तचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! मन की वृत्ति ही इष्ट व अनिष्ट को ग्रहण करती है और खड्ग की धारवत् तीक्ष्ण है; इसमें तुम प्रीति मत करो, बल्कि इसको मिथ्या जानकर त्याग करो। हे रामजी ! बोधरूपी बेलि जो शुभक्षेत्र और शुभकाल से प्राप्त हुई है उसको विवेकरूपी जल से सींचो तब परमपद की प्राप्ति हो। हे रामजी ! जबतक शरीर मलिनता को प्राप्त नहीं हुआ और जबतक पृथ्वी पर नहीं गिरा तबतक बुद्धि को उदार करके संसार से मुक्त हो। मैंने जो वचन तुझसे कहे हैं उनको तुमने जाना

है, अब इनका दृढ़ अभ्यास करो तब दृश्यभ्रम निवृत्त हो जावेगा। हे रामजी ! यह पञ्चभौतिक शरीर जो तुमको भासता है सो तुम्हारा रूप नहीं है; तुम तो शुद्ध चेतनरूप हो। शुद्धबोध से विचार करके पञ्चभौतिक अनात्म अभिमान को त्यागो। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! किस क्रम और किस प्रकार से इसका अभिमान त्यागकर उद्दालक सुखी हुआ है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! पूर्व में जैसे उद्दालक भूतों के समूह को विचार करके परमपद को प्राप्त हुआ है सो तुम सुनो। हे रामजी ! जगत्रूपी जीर्णघर के वायव्यकोण में एक देश है जो पर्वत और तमालादिक वृक्षों से पूर्ण है और महामणियों का स्थान है। उस स्थान में उद्दालक नाम एक बुद्धिमान् ब्राह्मण मान करने के योग्य विद्यमान था परन्तु अर्धप्रबुद्ध था, क्योंकि परमपद को उसने न पाया था। वह ब्राह्मण यौवन अवस्था के पूर्व ही शुभेच्छा से शास्त्रोक्त यम, नियम और तप को साधने लगा तब उसके चित्त में यह विचार उत्पन्न हुआ कि हे देव ! जिसके पाने से फिर कुछ पाने योग्य न रहे; जिस पद में विश्राम पाने से फिर शोक न हो और जिसके पाने से फिर बन्धन न रहे ऐसा पद मुझको कब प्राप्त होगा ? कब मैं मन के मनन भाव को त्यागकर विश्रान्तिमान् हूँगा—जैसे मेघ भ्रमने को त्यागकर पहाड़ के शिखर में विश्रान्ति करता है—और कब चित्त की दृश्यरूप वासना मिटेगी जैसे तरङ्ग से रहित समुद्र शान्तिमान् होता है तैसे ही कब मैं मन के संकल्प विकल्प से रहित शान्तिमान् हूँगा ? तृष्णारूपी नदी को बोधरूपी बेड़ी और सत्संग और सतशास्त्ररूपी मल्लाह से कब तरूँगा, चित्तरूपी हाथी जो अभिमानरूपी मद से उन्मत्त है उसको विवेकरूपी अंकुश से कब मारूँगा और ज्ञानरूपी सूर्य से अज्ञानरूपी अन्धकार कब नष्ट करूँगा ? हे देव ! सब आरम्भों को त्यागकर मैं अलेप और अकर्ता कब होऊँगा ? जैसे जल में कमल अलेप रहता है तैसे ही मुझको कर्म कब स्पर्श न करेंगे ? मेरा परमार्थरूपी भास्वर वपु कब उदय होगा जिससे मैं जगत् की गति को देखकर हँसूँगा, हृदय में सन्तोष पाऊँगा और पूर्णबोध विराट् आत्मा की नाईं होऊँगा ? वह समय कब होगा कि मुझ जन्मों के अन्धे को ज्ञानरूपी नेत्र प्राप्त होगा, जिससे

मैं परमबोध पद को देखूँगा? वह समय कब होगा जब मेरा चित्तरूपी मेघ वासनारूपी वायु से रहित आत्मरूपी सुमेरु पर्वत में स्थित होकर शान्तिमान् होगा? अज्ञानदशा कब जावेगी और ज्ञानदशा कब प्राप्त होगी? अब वह समय कब होगा कि मन और काया और प्रकृति को देखकर हँसूँगा? वह समय कब होगा जब जगत् के कर्मों को बालक की चेष्टावत् मिथ्या जानूँगा और जगत् मुझको सुषुप्ति की नाईं हो जावेगा। वह समय कब होगा जब मुझको पत्थर की शिलावत् निर्विकल्प समाधि लगेगी और शरीररूपी वृक्ष में पक्षी आलय करेंगे और निस्संग होकर छाती पर आन बैठेंगे? हे देव! वह समय कब होगा जब इष्ट-अनिष्ट विषय की प्राप्ति से मेरे चित्त की वृत्ति चलायमान न होगी और विराट् की नाईं सर्वात्मा होऊँगा? वह समय कब होवेगा जब मेरा सम असम आकार शान्त हो जावेगा और सब अर्थों से निरिच्छितरूप मैं हो जाऊँगा? कब मैं उपशम को प्राप्त होऊँगा—जैसे मन्दराचल से रहित क्षीरसमुद्र शान्तिमान् होता है—और कब मैं अपना चेतन वपु पाकर शरीर को अशरीरवत् देखूँगा? कब मेरी पूर्ण चिन्मात्र वृत्ति होगी और कब मेरे भीतर बाहर की सब कलना शान्त हो जावेंगी और सम्पूर्ण चिन्मात्र ही का मुझे भान होगा? मैं ग्रहण त्याग से रहित कब संतोष पाऊँगा और अपने स्वप्रकाश में स्थित होकर संसाररूपी नदी के जरामरणरूपी तरङ्गों से कब रहित होऊँगा और अपने स्वभाव में कब स्थित होऊँगा? हे रामजी! ऐसे विचारकर उद्दालक चित्त को ध्यान में लगाने लगा, परन्तु चित्तरूपी वानर दृश्य की ओर निकल जावे पर स्थित न हो। तब वह फिर ध्यान में लगावे और फिर वह भोगों की ओर निकल जावे। जैसे वानर नहीं ठहरता तैसे ही चित्त न ठहरे। जब उसने बाहर विषयों को त्यागकर चित्त को अन्तर्मुख किया तब भीतर जो दृष्टि आई तौ भी विषयों को चिन्तने लगा, निर्विकल्प न हो और जब रोक रक्खे तब सुषुप्ति में लीन हो जावे। सुषुप्ति और लय जो निद्रा है उसही में चित्त रहे। तब वह वहाँ से उठकर और स्थान को चला—जैसे सूर्य सुमेरु की प्रदक्षिणा को चलता है और गन्धमादन पर्वत की एक कन्दरा में स्थित हुआ जो फूलों से संयुक्त सुन्दर और पशुपक्षी मृगों से रहित एकान्त स्थान था और जो देवता को भी देखना कठिन था। वहाँ अत्यन्त प्रकाश भी न था और अत्यन्त तम भी न था; न अत्यन्त उष्ण था और न शीत जैसे मधुर कार्त्तिक मास होता है तैसे ही वह निर्भय एकान्त स्थान था। जैसे मोक्षपदवी निर्भय एकान्तरूप होती है तैसे ही उस पर्वत में कुटी बना और उस कुटी में तमाल पत्र और कमलों का आसनकर और ऊपर मृगछाला बिछाकर वह बैठा और सब कामना का त्याग किया। जैसे ब्रह्माजी जगत् को उपजाकर छोड़ बैठे तैसे ही वह सब कलना को त्याग बैठा और विचार करने लगा कि अरे मूर्ख मन! तू कहाँ जाता है, यह संसार मायामात्र है और इतने काल तू जगत् में भटकता रहा, पर कहीं तुझको शान्ति न हुई, वृथा धावता रहा। हे मूर्ख मन! उपशम को त्यागकर भोगों की ओर धावता है सो अमृत को त्यागकर विष का बीज बोता है, यह सब तेरी चेष्टा दुःखों के निमित्त है। जैसे कुशवारी अपना घर बनाकर आप ही को बन्धन करती है तैसे ही तू भी आपको आप संकल्प उठाकर बन्धन करता है। अब तू संकल्प के संसरने को त्यागकर आत्मपद में स्थित हो कि तुझको शान्ति हो। हे मन! जिह्वा के साथ मिलकर जो तू शब्द करता है वह दर्दुर के शब्दवत् व्यर्थ है। कानों के साथ मिलकर सुनता है तब शुभ अशुभ वाक्य ग्रहण करके मृग की नाईं नष्ट होता है; त्वचा के साथ मिलकर जो तू स्पर्श की इच्छा करता है सो हाथी की नाईं नष्ट होता है; रसना के स्वाद की इच्छा से मछली की नाईं नष्ट होता है और गन्ध लेने की इच्छा से भँवरे की नाईं नष्ट हो जावेगा। जैसे भँवरा सुगन्ध के निमित्त फूल में फँस मरता है तैसे तू फँस मरेगा और सुन्दर स्त्रियों की वाञ्छा से पतङ्ग की नाईं जल मरेगा। हे मूर्ख मन! जो एक इन्द्रिय का भी स्वाद लेते हैं वे नष्ट होते हैं तू तो पञ्चविषय का सेवनेवाला है क्या तेरा नाश न होगा। इससे तू इनकी इच्छा त्याग कि तुझको शान्ति हो। जो इन भोगों की इच्छा न त्यागेगा तो मैं ही तुझको त्यागूँगा। तू तो मिथ्या असत्यरूप है तुझसे मेरा क्या प्रयोजन है। विचारकर मैं तेरा त्याग करता हूँ। हे मूर्ख मन! जो तू देह में अहं अहं करता है सो तेरा अहं किस अर्थ

का है। अंगुष्ठ से लेकर मस्तक पर्यन्त अहं वस्तु कुछ नहीं। यह शरीर तो अस्थि, मांस और रक्त का थैला है; यह तो अहंरूप नहीं और श्वास वायुरूप और पोल आकाशरूप है। यह पञ्चतत्त्वों का जो शरीर बना है उसमें अहंरूप वस्तु तो कुछ नहीं है। हे मूर्ख मन ! तू अहं अहं क्यों करता है ? यह जो तू कहता है कि मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं सूँघता हूँ, मैं स्पर्श करता हूँ, मैं स्वाद लेता हूँ और इनके इष्ट-अनिष्ट में रागद्वेष से जलता है सो वृथा कष्ट पाता है। रूप को नेत्र ग्रहण करते हैं; नेत्र रूप से उत्पन्न हुए हैं और तेज का अंश उनमें स्थित है जो अपने विषय को ग्रहण करता है; इनके साथ मिलकर तू क्यों तपायमान होता है ? शब्द आकाश में उत्पन्न हुआ है और आकाश का अंश श्रवण में स्थित है जो अपने गुण शब्द को ग्रहण करता है; इसके साथ मिलकर तू क्यों रागद्वेष कर तपायमान होता है ? स्पर्श इन्द्रिय वायु से उत्पन्न हुई है और वायु का अंश त्वचा में स्थित है वही स्पर्श का ग्रहण करता है; उससे मिलकर तू क्यों रागद्वेष से तपायमान होता है ? रसना इन्द्रिय जल से उत्पन्न हुई है और जल का अंश जिह्वा है जो अग्रभाग में स्थित है वही रस को ग्रहण करती है; इससे मिल तू क्यों वृथा तपायमान होता है ? और घ्राण इन्द्रिय गन्ध से उपजी है और पृथ्वी का अंश घ्राण में स्थित है वही गन्ध को ग्रहण करती है; उससे मिलकर तू क्यों वृथा रागद्वेषवान् होता है ? हे मूर्ख मन ! इन्द्रियाँ तो अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं पर तू क्यों इनमें अभिमान करता है कि मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं सूँघता हूँ, मैं स्पर्श करता हूँ और रस लेता हूँ। यह इन्द्रियाँ तो सब आत्मभर हैं अर्थात् अपने विषय को ग्रहण करती हैं और के विषय को ग्रहण नहीं करतीं कि नेत्र देखते हैं श्रवण नहीं करते और कान सुनते हैं देखते नहीं इत्यादिक। सब इन्द्रियाँ अपना धर्म किसी को देती भी नहीं और न किसी का लेती हैं। वे अपने धर्म में स्थित हैं और विषयों को ग्रहण कर इनको रागद्वेष कुछ नहीं होता। इनको ग्रहण करने की वासना भी कुछ नहीं होती और तू ऐसा मूर्ख है कि औरों के धर्म आपमें मानकर रागद्वेष से जलता है। जो तू भी राग द्वेष से रहित होकर चेष्टा करे तो तुझको दुःख कुछ न हो। जो वासना सहित कर्म करता है वह बन्धन का कारण होता है; वासना विना कुछ दुःख नहीं होता। तू मूर्ख है जो विचार कर नहीं देखता। इससे मैं तुझको त्याग करता हूँ। तेरे साथ मिलके मैं बड़े खेद पाता हूँ। जैसे भेड़िये के बालक को सिंह चूर्ण करता है तैसे ही तूने मुझको चूर्ण किया है। तेरे साथ मिलकर मैं तुच्छ हुआ हूँ। अब तेरे साथ मेरा प्रयोजन कुछ नहीं, मैं तो निर्विकल्प शुद्ध चिदानन्द हूँ। जैसे महाकाश घट से मिलकर घटाकाश होता है तैसे ही तेरे साथ मिलकर मैं तुच्छ हो गया हूँ। इस कारण मैं तेरा संग त्यागकर परम चिदाकाश को प्राप्त होऊँगा। मैं निर्विकार हूँ और अहं त्वं की कल्पना से रहित हूँ। तू क्यों अहं त्वं करता है ? शरीर में व्यर्थ अहं करनेवाला और कोई नहीं तू ही चोर है। अब मैंने तुझको पकड़कर त्याग दिया है। तू तो अज्ञान से उपजा मिथ्या और असत्यरूप है जैसे बालक अपनी परछाहीं में वैताल जानकर आप भय पाता है तैसे ही तूने सबको दुःखी किया है। जब तेरा नाश होगा तब आनन्द होगा। तेरे उपजने से महादुःख है—जैसे कोई ऊँचे पर्वत से गिरके कूप में जा पड़े और कष्टवान् हो तैसे ही तेरे संग से मैं आत्मपद से गिरा देह अभिमानरूपी गढ़े में राग द्वेषरूपी दुःख पाता था, पर अब तुझको त्यागकर मैं निरहंकारपद को प्राप्त हुआ हूँ। वह पद न प्रकाश है, न तम है, न एक है, न दो है, न बड़ा है और न छोटा है; अहं त्वं आदि से रहित अचैत्य चिन्मात्र है। जरा, मृत्यु, राग, द्वेष और भय सब तेरे संयोग से होते हैं। अब तेरे वियोग से मैं निर्विकार शुद्ध पद को प्राप्त होता हूँ। हे मन ! तेरा होना दुःख का कारण है। जब तू निर्वाण हो जावेगा तब मैं ब्रह्मरूप होऊँगा। तेरे संग से मैं तुच्छ हुआ हूँ; जब तू निवृत्त होगा तब मैं शुद्ध होऊँगा—जैसे मेघ और कुहिरे के होने से आकाश मलीन भासता है पर जब वर्षा हो जाती है तब शुद्ध और निर्मल हो रहता है, तैसे ही तेरे निवृत्त हुए निर्लेप अपना आप आत्मा भासता है। हे चित्त ! ये जो देह इन्द्रियादिक पदार्थ हैं सो भिन्न हैं, इनमें अहंवस्तु कुछ नहीं; इनको एक तूने ही इकट्ठी किया है। जैसे

एक तागा अनेक मणियों को इकट्ठा करता है तैसे ही सबको इकट्ठा करके तू अहं अहं करता है। तू मिथ्या राग द्वेष करता है इससे तू शीघ्र ही सब इन्द्रियों को लेकर निर्वाण हो जिससे तेरी जय हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे उद्दालकविचारोनामाष्ट-
चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४८ ॥

उद्दालक बोले, आत्मा जो सूक्ष्म से सूक्ष्म है, स्थूल से स्थूल है और शुद्ध, निर्विकार और शान्तरूप है सो मैं अचैत्य चिन्मात्र हूँ मेरे में कोई विकार नहीं और जितने जन्म मरण आदिक विकार भासते हैं वे आत्मा में चित्त ने कल्पे हैं, वास्तविक आत्मा में कोई विकार नहीं। जन्म उसको कहते हैं जो पहले न हो और पीछे उपजे। आत्मा तो आगे ही सिद्ध है फिर जन्म कैसे कहिये? और मृत्यु वह कहाती है जो पीछे न हो पहले का अभाव हो जावे, पर आत्मा तो जगत् के अन्त में भी सिद्ध है इससे सब विकारों से रहित है; फिर मृत्युरूप प्रध्वंसाभाव कैसे कहिये? देह के आदि, मध्य, अन्त तीनों कालों में आत्मा सिद्ध है; इससे वह सब विकारों से रहित है और चित्त के संयोग से विकारों सहित भासता है। हे चित्त! तेरे संयोग से मैंने इतने भ्रम पाये थे और शरीर में व्यर्थ अहं अहं होता है सो जाना नहीं जाता कि कौन है। शरीर तो रक्त मांस का पिण्ड है, इन्द्रियाँ मन आदिक सब जड़ हैं तो अहं करनेवाला कौन है। जब अहं होता है तब भाव अभाव पदार्थ को ग्रहण करता है पर जहाँ अहं का अभाव है तहाँ भाव अभाव कैसे हो? अहंकार झूठ है, इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों का ग्रहण करती हैं और मनादिक भी अपने स्वभाव में स्थित हैं। यह अहं करनेवाला नहीं पाया जाता कि कौन है? अहं का रूप कुछ नहीं इससे निश्चय हुआ कि सब पदार्थ झूठ हैं। अहंकार का ग्रहण करनेवाला भी झूठ है और जितने पदार्थ हैं वे अहंकार से होते हैं। मैं इससे मिलकर देह इन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट में क्यों राग द्वेष करूँ? इसका और मेरा कुछ संयोग नहीं मैं तो निर्लेप और अद्वैत आत्मा हूँ संयोग किससे हो? मैं भावरूप ब्रह्म हूँ मेरा संयोग किससे हो? यह तो सब असत्यरूप है और जो कहिये देहादिक हैं तो भी संयोग नहीं बनता—जैसे लोहे और ढीले (मिट्टी) का संयोग नहीं होता। यह बड़ा आश्चर्य है कि सबका अहं करनेवाला कौन था? यह मिथ्या अहंकार अज्ञान से दुःखदायक था। जैसे अज्ञान से बालक को वैताल भासकर दुःख देता है तैसे ही अविचार से दुःख होता है। जैसे पहाड़ पर बादल स्थित होता है तो पहाड़ बादल नहीं होता और बादल पहाड़ नहीं होता; तैसे ही आत्मा अनात्मा नहीं होता और अनात्मा आत्मा नहीं होता। जैसे सूर्य की किरणों में जल, और रस्सी में सर्प भासता है तैसे ही आत्मा में अहंकार भासता है और विचार करने से अहंकार कुछ नहीं निकलता। जहाँ अहंकार होता है वहाँ दुःख भी आ स्थित होते हैं जैसे जहाँ मेघ होता है वहाँ बिजली भी होती है, तैसे ही जहाँ अहंकार होता है तहाँ शरीररूपी वृक्ष की मञ्जरी बढ़ती है। जैसे गरुड़ के विद्यमान होते सर्प नहीं रहता तैसे ही आत्मविचार के विद्यमान होते अहंकार नहीं रहता। इससे चित्तादिक सब झूठे हैं और अज्ञान से भासते हैं तो इनसे रचा हुआ जगत् कैसे सत्य हो। यह जगत् अकारण है इससे मिथ्याभ्रम से भासता है। जैसे भ्रांति से आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है; नौका में बैठे हुए को तट के वृक्ष चलते भासते हैं और गन्धर्व नगर भासता है। जब चित्त नष्ट होता है तब सब भ्रम का अभाव हो जाता है। देह में जो अभिमान है सो ही दुःख का कारण है। जबतक विचार नहीं उपजता तबतक भासता है—जैसे बरफ़ की पुतली तबतक होती है जब तक सूर्य का तेज नहीं लगा और जब सूर्य का तेज लगता है तब बरफ़ की पुतली गल जाती है। जैसे बालक को घूमने से पृथ्वी भ्रमती भासती है तैसे ही चित्त के भ्रम से यह जगत् भासता है और विचार के उपजे से अहंकार गल जाता है। हे मन! तेरे साथ मिलने से बड़ा दुःख होता है। तुझसे रहित मैंने आपको देखा है, अब तू सब इन्द्रियों सहित निर्वाण हो। आत्मविचार से आत्म अग्नि में स्थित हो कि सब मल तेरा जलकर शुद्धता को प्राप्त हो। इस देह के साथ तेरा मिलाप दुःख के निमित्त है। मन और देह के भीतर से आपस में शत्रुभाव है पर बाहर से स्नेह भासता है। भीतर दोनों परस्पर नाश करने की इच्छा करते हैं। जो दुःख होता है

तो मन उसके नाश की इच्छा करता है, और देह कहती है मन न हो तो मेरे में कोई दुःख नहीं—इसका मिलना ही दुःख का कारण है। हे मूर्ख मन! देह को तेरे संग से दुःख होता है। स्वतः नहीं। मन में देह का अभिमान न हो तो भी कोई दुःख नहीं, इनके संयोग से ही दुःख होता है और बिछुरने से दुःख कुछ नहीं—तैसे ही मन और देह का संयोग कुछ नहीं। जैसे जहाँ अंगारों की वर्षा होती है वहाँ बुद्धिमान् नहीं रहते तैसे ही इनमें मिलाप करना हमको योग्य नहीं। हे मूर्ख मन! जितना कुछ दुःख तुझको होता है सो देह के मिलाप से होता है तो फिर इसके साथ तू किस निमित्त मिलता है और आपको सुखी जानता है। इसके मिलने से तुझको दुःख ही होता है परन्तु तू ऐसा मूर्ख है जो बारम्बार देह की ओर ही दौड़ता है और सुख जानता है पर तेरा नाश होता है। जैसे पतङ्ग दीपक को सुखरूप जानकर मिलने की इच्छा करता है पर जल मरता है और मछली मांस की इच्छा करती है सो बंसी में फँस मरती है तैसे ही तू देह की इच्छा करता है और नाश को प्राप्त होता है; इससे इसका अभिमान त्याग तो तुझको शान्ति हो। देह कुछ वस्तु नहीं केवल मन ही का विकार है। पञ्चतत्त्वों की देह बनी हुई है सो भी कुछ वस्तु नहीं है, सब मन के फुरने से रचे हैं, इससे फुरने को त्यागकर आत्मपद में स्थित हो कि तुझको शान्ति हो। मैं तो इससे अतीत शुद्ध चिदानन्द-स्वरूप हूँ; मेरे पास न कोई मन है और न इन्द्रियाँ हैं। मैं अद्वैतरूप हूँ। जैसे राजा के समीप में कोई नहीं होता तैसे ही मेरे निकट मन और इन्द्रियाँ कोई नहीं—मैं शुद्ध आत्मतत्त्व हूँ। भोगों से मुझे क्या प्रयोजन है कि उनसे मिलकर दीनता को प्राप्त होऊँ! मुझको इनके साथ कुछ प्रयोजन नहीं, चिरपर्यन्त रहें अथवा अबहीं नष्ट हो जावें; इनके नाश होने से मेरा नाश नहीं होता और ठहरने से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता मैंने इनसे आपको भिन्न जाना है। जैसे तिलों से तेल निकाल लिया तब फिर तिलों में नहीं मिलता और दूध से माखन निकाल लिया तब फिर दूध में नहीं मिलता; तैसे ही विचार करके अपना आप निकाल लिया तब फिर इनके साथ नहीं मिलता। मैं शुद्ध चिदानन्द आत्मा हूँ, सब जगत् मेरे आश्रय है और सबमें मैं एक ही अनुस्यूत (व्यापा) हूँ। अब मैं उसी स्वरूप में स्थित होऊँ। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ऐसे विचारकर उद्दालक ब्राह्मण विषयों से वृत्ति को निवृत्त करके पद्मासन बाँध प्रणव अर्थात् अर्धमात्रा और अकार—उकार—मकार की क्रम से उपासना करने लगा और प्राणायाम करके मात्रा का ध्यान किया। अकार ब्रह्मा, उकार विष्णु, मकार शिव और अर्धमात्रा तुरीया इनको क्रमसहित करने लगा। प्रथम रेचक प्राणायाम करने लगा और अकार की ध्वनि के साथ रेचक किया उससे सब प्राणवायु भीतर से निकले और हृदय शून्य और शुद्ध हुआ—जैसे अगस्त्यमुनि ने समुद्र को शून्य किया था—और आकाश से ऐसी ध्वनि हुई जो ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रपर्यन्त चली गई और देहाभिमान को त्यागकर पुर्यष्टक को सुषुम्णा के मार्ग में प्राप्त किया। जैसे पक्षी आलय को त्यागकर आकाशमार्ग को उड़ता है तैसे ही उद्दालक ने पुर्यष्टक को ब्रह्मरन्ध्र में स्थित किया। हठ करने से दुःख होता है इस कारण जब तक सुख रहा तब तक स्थित रहा और जब थका और पुर्यष्टक का वायु अधः से आया तब उकार विष्णुरूप की ध्वनि और ध्यान के साथ कुम्भक किया। जब सब प्राणवायु को आधारचक्र में रोका—न नीचे जावे न ऊपर आवे—तो प्राण स्थित हुए और उससे अग्नि निकली जिससे इसके सब पाप पुण्य जल गये। उसमें जब तक सुख रहा तब तक स्थित रहा, क्योंकि हठयोग दुःखदायक है और फिर मकार की ध्वनि से रुद्र का ध्यान करके पूरक प्राणायाम किया। पूरक प्राणायाम करके सब स्थान वायु से पूर्ण किये और ऊर्ध्व को चित्तकला प्राप्त हुई उससे यह औरों को पवित्र करनेवाला हुआ। जैसे धुआँ आकाश को जाता है और जल पाकर औरों को शीतल करनेवाला होता है तैसे ही इसका शरीर औरों को पवित्र करनेवाला हुआ। जैसे मन्दराचल से मथे हुए क्षीरसमुद्र से कल्पवृक्ष निकला तैसे ही इसके शरीर में प्राणवायु स्थित हुई और पद्मासन बाँधकर इन्द्रियों को रोका जैसे हाथी बन्धनों से बँधता है तैसे ही इसने इन्द्रियों को रोका। अर्धमात्रा जो तुरीया-पद है उसके दर्शन के निमित्त यत्न करने लगा उसने नेत्रों को आधा

मूँदा और बाह्य विषयों को त्याग इन्द्रियों को भी त्याग किया और प्राण अपान को मूलचक्र में रोका जिससे नवों द्वार रोके गये। जैसे बालक के खेलने का पानी चोर होता है और उसके मूँदने से चलता पानी सब छिद्रों से रोका जाता है, तैसे ही मूलचक्र के रोकने से नवों द्वार रोके गये। इस प्रकार उसने चित्त को रोका और जब मनरूपी चञ्चलमृग दौड़ा तब वैराग्य और अभ्यास के बल से फिर उसे रोका। जैसे बाँध से जल का वेग रुकता है तैसे ही उसने जब चित्त को स्थित किया तब अन्तःकरण की जो सात्त्विकी वृत्ति है उसको भी त्यागकर स्थित हुआ। जब मन की वृत्ति जो निद्रारूप है उसमें मन मूर्च्छित हो गया तब राजस-तामस का प्रवाह फिर फुरने लगा और उसको आत्मविवेक से निवृत्त किया। जैसे प्रकाश तम को निवृत्त करता है तैसे ही इस विकल्परूपी तम को उसने निवृत्त किया और विवेक के बल से चित्तकला में लगा और चित्त की वृत्ति से साक्षात्कार किया पर उसमें एक क्षण चित्त स्थित रहा और फिर बाहर निकल गया। जैसे बाँध को तोड़कर जल निकल जाता है। निदान उसने फिर अभ्यास के बल से उसे आत्मकला में लगाया तब उस परमशान्त आत्मपद में चित्त की वृत्ति स्थित हुई और परमआनन्द अमृत में मग्न हुई जो अशब्द, आनन्द और परिणाम से रहित है और जिस पद में देवता, ऋषीश्वर, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र स्थित हैं। हे रामजी! जो उस पद में एक क्षण भी स्थित हुआ है और जो वर्ष पर्यन्त स्थित हुआ है दोनों तुल्य हैं। जिसको उस पद का अनुभव हुआ है वह भोगों की इच्छा नहीं करता। जैसे जिसने स्वर्ग का नन्दन वन देखा है वह कञ्ज के वन देखने की इच्छा नहीं करता, तैसे ही ज्ञानवान् भोगों की वाञ्छा नहीं करता और शोक कदाचित् नहीं उपजता। जैसे जिसको राज्य हुआ है वह दीनता को नहीं प्राप्त होता, तैसे ही जिसने आत्मपद में स्थिति पाई है उसको विषयों की तृष्णा और शोक नहीं उपजता। हे रामजी! जब इस प्रकार उद्दालक स्थित था तब सिद्ध, गन्धर्व और विद्याधरों के गण जिनके मुख चन्द्रमा की नाईं थे उसके निकट आये और नमस्कार करके बोले, हे भगवन्! स्वर्ग में चलके दिव्यभोग भोगो, तुमने बड़ी तपस्या की है। धर्म, अर्थ और पुण्य का सार काम है और काम का सार जो स्त्रियाँ हैं वे तुम्हारे भोगने के निमित्त हैं, जिनसे स्वर्ग भी शोभता है—जैसे वसन्त ऋतु की मञ्जरी और पुष्पों से पृथ्वी शोभती है। इससे तुम विमानों पर आरूढ़ होकर स्वर्ग में चलो और बहुत काल पर्यन्त भोग भोगो। हे रामजी! जब सिद्धों ने इस प्रकार बहुत कहा तब उद्दालक ने उनको अतिथि जानकर निरादर तो न किया किन्तु यथायोग्य पूजा करके हँसा और कहा कि हे सिद्धो! तुमको नमस्कार है, आवो। पर वह उनकी सिद्धता में आसक्त न हुआ, क्योंकि परमानन्द में स्थित था और विषयों के सुख तुच्छ जानता था। जैसे अमृत खानेवाला विष की इच्छा नहीं करता तैसे ही उद्दालक सुख को न चाहता था। कुछ दिन रहकर सिद्ध पुजते रहे और फिर उठ गये पर यह परमपद में स्थित रहकर अपने प्रकृत व्यवहार करता रहा। फिर मेरु और मन्दराचल पर्वत में विचरा और कन्दरा में ध्यान लगा बैठा। कहीं एक दिनभर बैठा रहे और कहीं वर्षों के समूह बीत जावें; इस प्रकार समाधि करके उतरा, फिर समाधि लग गई। हे रामजी! चित्ततत्त्व के अभ्यास से चैतन्य तत्त्व को प्राप्त होता है। दिशा में जैसे चित्र का सूर्य होता है तैसे ही उदय अस्त से रहित हो उसने परम उपशम पद को पाया, चित्त भली प्रकार शान्त हो गया और जन्मरूपी फाँसी को तोड़ उसका देहरूपी भ्रम क्षीण होकर शरत्काल के आकाशवत् निर्मल हुआ विस्तृत और उत्कृष्ट प्रकाशरूप उसका वपु हो गया। तब वह सत्ता सामान्य में स्थित होकर विचरने लगा और परमशान्ति को प्राप्त हुआ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे उद्दालकविश्रान्तिवर्णनं
नामैकोनपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ४६ ॥

रामजी ने पूछा, हे आत्मरूप! आप ज्ञान दिन के प्रकाशकर्ता सूर्य हैं; संशयरूपी तृणों के जलानेवाले अग्नि हैं और ज्ञानरूपी तापों के शान्ति कर्ता चन्द्रमा हैं। हे ईश्वर! सत्ता सामान्य का रूप क्या है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जगत् के अत्यन्त अभाव की भावना करके जब चित्त क्षीण हो और उससे जो शेष रहे सो सत्ता सामान्य है।

जब चित्त से रहित आत्मसत्ता हो और उसमें चित्त लीन हो जावे तब सत्ता सामान्य उदय हो; जो सत्य है सो ही सत्ता सामान्य है। हे रामजी! जब सब प्रपञ्च शान्त होकर शुद्धबोध हो भीतर बाहर का व्यवधान मिट जावे और सब जगत् एकरूप होकर समाधि और उत्थान एकसा हो जावे ऐसी दशा की जो प्राप्ति है सो ही सत्ता सामान्य है। वह देह के होते ही विदेहरूप है और उसको तुरीयातीत पद कहते हैं। समाधि में स्थिति हो तो भी केवलरूप है और उत्थान हो तो भी केवलरूप है। अज्ञानी समाधि के योग्य नहीं, क्योंकि ज्ञान से उपजी समाधि उसको नहीं प्राप्त हुई। हमसे आदि लेकर नारद, देवर्षि, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदिक जिनको ज्ञानरूप दृष्टि पुष्ट हुई है वे सत्तासामान्य में स्थित हैं और उनको समाधि और उत्थान में तुल्यता है। जैसे आकाश में पवन का चलना और ठहरना समान है और जैसे पृथ्वी में जल स्थित है और अग्नि में उष्णता स्थित है; तैसे ही सत्ता सामान्य में वह स्थित हुआ। जबतक जगत् में बिचरने को उसकी इच्छा थी तबतक वह ऐसे बिचरता रहा और जब विदेहमुक्ति होने की इच्छा हुई तब पहाड़ की कन्दरा में पत्रों का आसन बनाकर पद्मासन बाँध और दाँतों से दाँतों को मिलाकर सब संकल्पों का त्याग किया और प्राणवायु को मूल आधारचक्र करके नव द्वार खेचरीमुद्रा से रोंके। न भीतर, न बाहर, न अधः, न ऊर्ध्व सर्वभावअभाव विकल्पों को त्यागकर उसने जब आत्मतत्त्व में चित्त की वृत्ति को लगाया तब शुद्ध चिन्मात्र में चित्त की वृत्ति जा प्राप्त हुई और रोम खड़े हो आये। जब उस व्युत्थान को भी उसने त्याग किया तब सत्तासामान्य विश्वम्भर पद को प्राप्त हुआ, जो परम विश्रान्त, अनादि, आनन्द और सुन्दररूप है। तब पुतली की नाईं उसका शरीर हो गया और जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है, तैसे ही निर्मल पद को प्राप्त हुआ। जैसे सूर्य की किरणों के द्वारा वृक्ष में रस होता है और सूर्य उसे खैंच लेता है और जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजकर उसही में लीन होते हैं तैसे ही उसका चित्त जिससे उपजा था उसी में लीन हो गया; सम्पूर्ण उपाधि विलास से रहित होकर उस आनन्दपद को प्राप्त हुआ

जिसमें इन्द्रादिकों का आनन्द भी तुच्छ भासता है। ऐसा विश्वम्भर आनन्द जो उत्तम पुरुषों से सेवने योग्य है और जो अद्वैत और अशब्द सत्तासामान्य है उसमें जब उद्दालक प्राप्त हुआ तो परम शान्तिरूप हो गया। निदान कुछ काल पीछे उसका शरीर गिर पड़ा—जैसे रस सूखने से वृक्ष गिर पड़ता है। जैसे वीणा बजती है और उसका शब्द प्रकट होता है तैसे ही जब वायु चले और उसके शरीर में प्रवेश कर निकले तो शब्द प्रकट होता था। कुछ काल पीछे देवताओं की स्त्रियाँ; अश्विनीकुमार की शक्ति जिसका अग्नि की नाईं तेज है और देव देवी जो सब देवताओं में पूज्य हैं सखियों सहित आईं और उस शरीर को सुगन्धित पुष्पों की माला पहिराकर उसकी पूजा करके नृत्य करने लगीं और लीला की। हे रामजी! उद्दालक के चित्त की वृत्ति में कलना से रहित विवेकरूपी बेलि हुई और उसमें आत्मानन्दरूपी फल लगा। जिसके हृदय में ऐसे फूलों की सुगन्ध स्थित हो वह सब भ्रम से तर जावे। जिसको ऐसा विवेक प्राप्त हो तो वह सब भ्रम से मुक्त हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे उद्दालकनिर्वाणवर्णनं
नाम पञ्चाशत्तमस्सर्गः॥ ५०॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जिस प्रकार उद्दालक ऋषीश्वर आत्मपद को प्राप्त हुआ है उसी क्रम से अपने आपको विचार करके तू भी आत्मपद को प्राप्त हो। हे कमलनयन! कर्तव्य यही है कि गुरु और शास्त्रों के वचनों को धारण कर जगत्भ्रम से मुक्त हो और आत्म अभ्यास से शान्त पद को प्राप्त हो। प्रथम गुरु और शास्त्रों के वाक्यों को समझिये और उससे जो विषयभूत अर्थ है उसके अभ्यास में बुद्धि को लगाइये। इस प्रकार जब दृढ़ता हो तब परमपद की प्राप्ति हो। अथवा बुद्धि में एक तीक्ष्ण अभ्यास हो और कलङ्क कलना से रहित ऐसा बोध हो तो साधनादि सामग्री से रहित हो तो भी अविनाशी पद को प्राप्त हो अथवा वैरागादिक सामग्री से रहित हो। रामजी ने पूछा, हे भूतभविष्य के ईश्वर! एक ज्ञानवान् पुरुष तो समाधि में स्थित होता है और फिर जगत् व्यवहार में बिचरता है और एक समाधि में स्थित है जगत् का व्यवहार नहीं करता

इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! प्रथम समाधि का लक्षण सुनो कि समाधि किसको कहते हैं और व्युत्थान क्या है। यह गुणों का समूह अहंकार से लेकर पंच तत्त्वगुणात्मक है। जो इनको अनात्मरूप देखता है; आपको केवल इनका साक्षी चैतन्य जानता है और स्वाभाविक जिसका चित्त शीतल है उसको समाधि कहते हैं। जो मैत्री, करुणा, अमान्यता आदिक गुणों में स्थित हुआ है और जिसका मन आत्मविषय से शान्ति को प्राप्त होता है उसको समाधि कहते हैं। हे रामजी ! जिसको ऐसा निश्चय होता है कि मैं शुद्ध चिदानन्दस्वरूप दृश्य के सम्बन्ध से रहित हूँ वह चाहे वन में रहे अथवा गृह में रहे दोनों स्थान उसको तुल्य हैं और वे दोनों पुरुष तुल्य हैं। अन्तःकरण का शीतल होना बड़े तपों का अनन्त फल है। हे रामजी ! जो इन्द्रियों को शमन करके बैठा है और मन से जगत् के पदार्थों की चिन्तना करता है उसकी समाधि मिथ्या है। वह उन्मत्त की नाईं नृत्य करता है। और जिसके मन में कोई वासना नहीं और व्यवहार करता है उसको बुद्धिमानों की समाधि के तुल्य जानो। कोई ज्ञानी व्यवहार करता है और कोई ज्ञानवान् व्यवहार को त्याग कर वन में समाधि लगाकर स्थित हो बैठा है पर दोनों निश्चय से परमपद में प्राप्त होते हैं—इसमें संशय नहीं। ज्ञानवान् निर्वाह हेतु पुरुषार्थ करता भी दृष्ट आता है तो भी अकर्ता है और अज्ञानी जो कर्ता भी नहीं परन्तु वासना से कर्तव्यभाव को प्राप्त होता है। जैसे कोई पुरुष कथा सुनने बैठा हो और उसका मन किसी और ठौर निकल गया हो तो सुनता भी नहीं सुनता; तैसे ही ज्ञानवान् का चित्त आत्मपद की ओर लगा है इससे वह कर्ता भी नहीं कर्ता, क्योंकि उसको कर्तृत्व का अभिमान नहीं होता। घन वासनासहित अज्ञानी सब इन्द्रियों को स्थित करके सोगया हो तो उसको स्वप्न आवे और पर्वत से गढ़े में आपको गिरा देखता है और कष्टवान् होता है। इससे जहाँ वासना है वहाँ क्षोभ भी है और जहाँ कुछ वासना नहीं वहाँ शान्ति है। हे रामजी! जिसमें कर्तृत्व का अभिमान नहीं और निश्चय से आपको अकर्ता जानता है उसको केवलीभाव से समाधि में स्थित जानो और जिसमें

कर्तृत्व अभिमान है और समाधि में बैठा है तो भी उसको व्युत्थान जानो। हे रामजी ! चित्त के चलाने का कारण स्मृति है जो स्मृति जगत् को लेकर समाधि लगा बैठता है तो भी चित्त वासना से फैल जाता है। जैसे बीज से अंकुर उपजता है और फैल जाता है तैसे ही मन में जो वासना होती है उससे चित्त फैल जाता है और जो जगत् की वासना मन से जाती रहती है अर्थात् जगत् का सतत भाव निवृत्त हो जाता है तब चित्त अचल हो जाता है। हे रामजी ! जिस चित्त से वासना नष्ट होती है उसको अचल स्थिति कहते हैं; वह ध्यान में केवलीभाव में स्थित होता है और जिसके चित्त में सदा वासना फुरती है उसको सदा क्षोभ होता है। इससे निर्वासनिक होकर तुम परमपद को प्राप्त हो। हे रामजी ! जिस चित्त में वासना गन्ध होती है उसमें कर्तृत्व का अभिमान भी फुरता है और उससे सदा दुःखी होता है। वासना के क्षीण हुए से मुक्त होता है। जिस पुरुष के चित्त से जगत् की आस्था निवृत्त हुई है और वीतशोक हुआ है वह स्वस्थ आत्मा है तिसको समाधि कहते हैं। हे रामजी ! जिसके हृदय से संसार का राग द्वेष मिट गया है और शान्ति को प्राप्त हुआ है उसको सादिव्य समाधि कहते हैं। इससे चित्त में जो पदार्थभावना है उसको त्याग कर अपने स्वभाव में स्थित हो; तब गृह में रहो अथवा वन में जावो दोनों तुमको तुल्य हैं। हे रामजी ! जो गृह में स्थित है और चित्त समाहित है और अहंकार के दोष से रहित है उसको कुटुम्ब और जनों के समूह भी वन की नाईं हैं। ज्ञानवान् को गृह और वन तुल्य है और देह अभिमानी जो अज्ञानी है वह वनमें जाय और समाधि लगा बैठता है पर चित्त की वृत्ति विषयों की ओर रहती है तब वह जगत् के समूह को देखता है अथवा सुषुप्ति में जड़भूत हो जाता है। हे रामजी! चित्त उत्थान में स्वरूप से गिरा हुआ जगत्भ्रम दिखाता है और जब चित्त निर्वाणपद आत्मा में स्थित होता है तब उपशम होता है। हे रामजी ! जो पुरुष सब भाव पदार्थों से आत्मा को अतीत जानता है वह समाहित चित्त कहाता है और जिसको जाग्रत् जगत् स्वप्नवत् भासता है वह समाहितचित्त कहाता है। वह पुरुष जनके समूह में रहता है तो भी उसका सम्बन्ध किसी से नहीं। जैसे कोई

पुरुष राजमार्ग में चला जाता है तो मार्ग के किसी पदार्थ से सम्बन्ध नहीं रखता तैसे ही उस पुरुष का अभिमान किसी में नहीं फुरता। जिस पुरुष का चित्त अन्तर्मुख हुआ है वह सोवे अथवा बैठे; चले अथवा देखे उसे नगर और ग्राम सब महावनरूप भासता है और सब जगत् उसको आकाशरूप भासता है। जिस पुरुष को आत्मा में प्रीति हुई है वह अन्तर्मुखी कहाता है और जिसका हृदय आत्मज्ञान से शीतल हुआ है उसको सब जगत् शीतलरूप भासता है। वह जब तक जीता है तब तक विगतज्वर होकर जीता है और जिसका हृदय तृष्णा से जलता है उसको सब जगत् दावाग्नि से तपता भासता है। हे रामजी! यह सब जगत् चित्त में स्थित है; जैसी भावना चित्त में होती है उसके अनुसार जगत् भासता है। स्वर्ग, पृथ्वी, लोक, पाताल, वायु, नदियाँ, आकाश, देश, काल जो कुछ जगत् है वह सब चित्त (अन्तःकरण) में है और वही बाहर विस्तार होकर भासता है। जैसे वट के बीज से वट फैल जाता है तैसे ही चित्त में जगत् का विस्तार होता है। बाहर जो सूर्य आदिक भासते हैं वह भी चित्त के भीतर स्थित हैं—जैसे फूल खिलता है उसके भीतर की सुगन्ध बाहर भासती है और वास्तव में न कुछ भीतर है न बाहर है जैसा किंचन होता है तैसा ही चैत्यता से फुरता है—तैसे ही वही सत्ता जगत्रूप होकर भासती है। जगत् सब आत्मरूप है और न कोई सत्य है, न असत्य है; एक आत्मसत्ता ज्यों की त्यों स्थित है। जो ज्ञानवान् पुरुष हैं उनको सदा ऐसे ही भासता है। हे रामजी ; जिसके हृदय में शान्ति है उसको सब जगत् शान्तिरूप है और जिसका हृदय देहाभिमान में स्थित है सो नाश होता है और भय पाता है किसी ओर से उसको शान्ति नहीं प्राप्त होती। वह स्वर्ग, पृथ्वी, लोक, पाताल, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ, देश, काल सबको प्रलयकाल की अग्निवत् जलता देखता है। जिसके हृदय में ताप होता है उसको सब जगत् तपता भासता है पर आत्मज्ञानी को शान्तरूप भासता है—जैसे अन्धे को सब जगत् तमरूप भासता है और नेत्रोंवाले को सब जगत् प्रकाशरूप भासता है। हे रामजी! जिस पुरुष को आत्मपद की प्रतीति हुई है और इन्द्रियों से कर्म भी करता है

परन्तु हर्ष शोक के वश नहीं होता वह समाहित चित्त कहाता है। जो पुरुष सबको आत्मरूप देखता है, चित्त को नहीं चितवता; भविष्यत् की इच्छा नहीं करता और वर्तमान में राग द्वेष से रहित होकर विचरता है वह समाहितचित्त कहाता है। हे रामजी! जो पुरुष जगत् की पूर्वापर गति को देखकर हँसता है; समपद में स्थित होता है और किसी में ममता नहीं करता वह समाहितचित्त कहाता है। जो पुरुष अहंममता से और जगत् की विभाग कलना से रहित है और जिससे चेतन अचेतनभाव नहीं फुरता वह पुरुष सत्य है और आकाश की नाईं स्वच्छ निर्मल है और राग, द्वेष, क्रोध विकारों से काष्ठ लोष्ट समान हो रहता है। वह सब भूतों को अपने समान देखता है और अन्यों के द्रव्य को देखकर ईर्षा नहीं करता। वह स्वभाव ही से उसे नहीं चाहता द्वन्द्व के भय से नहीं त्यागता। ऐसे जो देखता है और अहंकार से रहित होता है वह न जगत् के सत्यभाव को देखता है, न असत्य भाव को देखता है; न ज्ञान को देखता है; न अज्ञान को देखता है; न जड़ को देखता है; न चेतन को देखता है; वह तो केवल अद्वैततत्त्व देखता है। वह महाशान्तपद में स्थित है; वह उठ खड़ा हो अथवा बैठा रहे; उदय हो अथवा अस्त हो; बड़े भोगों में रहे अथवा वन में जा बैठे; अथवा मद्यपान से उन्मत्त हो और नृत्य करे और गयादिक तीर्थों में निवास करे अथवा कन्दरा में निवास करे, शरीर को अगरचन्दन का लेपन करे अथवा कीचड़ के साथ लपेटे; देह अभी गिर पड़े अथवा कल्पपर्यन्त रहे; उस पुरुष को कदाचित् कुछ कलङ्क नहीं लगता। जैसे सुवर्ण को कीचड़ के मिलाप से दोष नहीं लगता तैसे ही ज्ञानवान् को कर्तृत्व का दोष नहीं लगता। हे रामजी! इस संवित् को अहन्ता ही कलङ्क है। महापुरुष अहंकार से रहित है इससे उनको कर्तृत्व स्पर्श नहीं करता। जैसे सीपी को रूपे का आभास नहीं स्पर्श करता तैसे ही ज्ञानवान् को क्रिया स्पर्श नहीं करती। हे रामजी! अहन्ता ही से जीव दीन होता है। जब अहन्ता फुरती है तब अनेक प्रकार के दुःख सुख देखता है और परम्परा जन्मों को देखता है और भय पाता है। जैसे किसी को रस्सी में सर्प भासता है और भय पाता है पर जब भली प्रकार दीपक के प्रकाश से

देखता है तब सर्पभय निवृत्त होता है; तैसे ही अहन्ता से यह दुःख पाता है और अहन्ताके शान्त हुए शान्तिमान् होता है। हे रामजी! ज्ञानवान् जो कुछ कर्म करता, खाता, पीता, लेता, देता, हवन करता है उसमें अहन्ता का अभिमान नहीं करता इससे करने में उसका कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता और जो नहीं करता उसमें भी कुछ अभिमान नहीं इससे करने से उसकी कुछ हानि नहीं होती वह अपने स्वभाव में स्थित है और जगत् को द्वैतभाव से नहीं देखता, सबको आत्मभाव से देखता है इससे उसे कर्म स्पर्श नहीं करते।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे ध्यानविचारो
नामैकपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५१ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! चित्त आदिक जो जगत् है सो वास्तव में आत्मा से भिन्न नहीं है। आत्मारूपी मिरच है उससे चित्त अहन्तारूपी देश, काल, तीक्ष्णता भिन्न नहीं जैसे ईख से मधुरता भिन्न नहीं तैसे आत्मा से जगत् भिन्न नहीं। जैसे पत्थर में कठोरता है तैसे ही आत्मा में जगत् है, जैसे पर्वत में जड़ता होती है तैसे ही आत्मा में अहन्ता होती है जैसे जल में द्रवता होती है तैसे ही आत्मा में अहन्ता आदिक होते हैं। जैसे फूल, फल, टास वृक्ष से भिन्न नहीं होते तैसे ही आत्मा में अहन्ता आदिक अभेद होते हैं; जैसे तीक्ष्णता मिरचों से भिन्न नहीं होती तैसे ही चित्त अहन्तारूपी देशकाल आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे अग्नि में उष्णता; बरफ़ में शीतलता; सूर्य में प्रकाश और गुड़ में मधुरता होती है; तैसे ही आत्मा में जगत् होता है। जैसे अमृत में स्वादवेदना होती है तैसे ही आत्मा में देश कालवेदना होती है। हे रामजी! जैसे मणि में प्रकाश होता है तैसे आत्मा में अहन्ता होती है और जैसे जल से तरङ्ग भिन्न नहीं होता तैसे ही आत्मा से अहन्ता आदिक भिन्न नहीं होते। जो कुछ जगत् भासता है सो आत्मतत्त्व का प्रकाश है जो अनन्त आत्मा सबमें पूर्ण है और एक ही ईश्वरभाव में स्थित महाघन शिला की नाईं स्थित है—उससे भिन्न कुछ नहीं। जैसे आकाश अपने भाव में स्थित है तैसे ही सत्य केवल आत्मा में स्थित है और अपने आपसे निर्वेद है पर वेदना भी उससे भिन्न नहीं। जैसे जल ही तरङ्गरूप हो भासता है तैसे ही आत्मा वेदनरूप हो भासता है और जैसे जल में द्रवता और पवन में चलना भासता है तैसे ही ज्ञानरूप आत्मा में अहन्ता से देश, काल, जगत् भासता है। हे रामजी! जीवों का जीना ज्ञान से होता है और ज्ञानसत्ता चैतन्य रूप है। चिन्मात्र और जीवों में रञ्चकमात्र भी कुछ भेद नहीं। जैसे ज्ञान चैतन्यसत्ता और जीव में भेद नहीं तैसे ही ज्ञाता और जगत् में कुछ भेद नहीं—एक ही अखण्डसत्ता ज्यों की त्यों स्थित है। हे रामजी! सर्वसत्ता एक, अज, अनादि और आदि, अन्त, मध्य से रहित, प्रकाशरूप, चिन्मात्र अद्वैततत्त्व अपने आपमें स्थित है। वह अवाच्यपद है उसमें वाणी प्रवेश नहीं कर सकती और जितने वाक्य हैं वह उसके जताने के निमित्त कहे हैं। वास्तव में द्वैतवस्तु कुछ नहीं है, एक आत्मतत्त्व को अपने हृदय में धारण कर स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे भेदनिराशावर्णनं नाम
द्विपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! एक आगे पुरातन इतिहास हुआ है उसको तुम सुनो। उत्तर दिशा में एक सुगन्धित पृथ्वी है वह मानो कपूर से लिपी हुई है और वहाँ सदाशिव के हंस स्थित हैं। हिमालय के शिखर पर वह कैलास पर्वत है जो सब पर्वतों से उत्तम और उज्ज्वल है वह रुद्र के रहने का स्थान है, वहाँ कल्पवृक्ष लगे हैं और गङ्गा का प्रवाह चलता है। और भी बहुतसी बड़ी नदियाँ वहाँ चलती हैं और कमलों सहित बहुत महासुन्दर तालाब स्थित हैं जहाँ बहुत मृग पक्षी हैं। उस हिमालय के नीचे स्वर्णवत् जटावाले क्रान्त रहते हैं—जैसे वृक्ष के मूल में पिपीलिका रहती हैं। उस क्रान्त देश का राजा सुरघ मानो प्रत्यक्ष लक्ष्मीमूर्ति धारे हुए, वेगवान् ऐसा मानो पवन की मूर्ति वैराग्यवान् मानो गजेन्द्र, बुद्धिमान् मानो बृहस्पति और शुक्र के समान कवि था। राजा ऐसा था मानो इन्द्र है; और धनी ऐसा मानो कुबेर था। ऐसा राजा होकर वह राज्य करता था और भली प्रकार प्रजा की पालना करता था। जो भले मार्ग में चलें उनकी वह रक्षा करे और जो पापकर्म चोरी आदिक करें उनको दण्ड दे और जैसा कर्म प्राप्त हो उसमें द्वेष से रहित होकर व्यती[illegible] करे। एक समय वह अपने स्थान में बैठा था तब चित्त में विचार

उपजा और संशयरूपी वायु से उसकी बुद्धिरूपी पक्षिणी डोलायमान हुई कि बड़ा अनर्थ है कि मैं जीवों को कष्ट देता हूँ। इससे मैं इनको धन देऊँ और कष्ट न देऊँ। जैसे तिलों को तेली पेलता है तैसे ही मैं पापियों को कष्ट देता हूँ। दुष्टों को कष्ट दिये विना राज्य नहीं चलता—जैसे जल विना नदी का प्रवाह नहीं चलता—और यदि दण्ड देता हूँ तो वे दुःख पावते हैं। मैं क्या करूँ दोनों बातों में कष्ट है। हे रामजी! ऐसे विचार में राजा बहुत भ्रमता रहा। निदान एक दिन उसके गृह में माण्डव मुनि आये—जैसे इन्द्र के घर में नारद आवें—तब राजा ने भली प्रकार उनका पूजन किया और संदेहवान् होकर पूछा; हे भगवन्! तुम सर्व धर्मगत हो, तुम्हारे आने से मैं बड़े आनन्द को प्राप्त हुआ हूँ जैसे वसन्त ऋतु से पृथ्वी प्रफुल्लित होती है तैसे ही मैं प्रफुल्लित हुआ हूँ मैं भी अब आपको पुण्यवान् जानता हूँ कि मैं भी पुण्यवानों में प्रसिद्ध होऊँगा, क्योंकि तुम मेरे गृह में आये हो। जैसे सूर्य के उदय हुए प्रकाश हो आता है तैसे ही मैं तुम्हारे दर्शन से प्रसन्न भया हूँ। हे भगवन्! मुझको एक संशय है उसके निवारण करने को आपही योग्य हो। जैसे सूर्य के उदय हुए अन्धकार नष्ट हो जाता है तैसे ही तुमसे मेरा संशय निवृत्त होगा। जो कोई महापुरुषों का संग करता है उसका संशय अवश्य निवृत्त होता है। संशय ही सब दुःखों का कारण है इससे मेरे संशय को तुम दूर करो। मुझे यह संशय है कि यदि कोई दुष्ट कर्म करता है तो उसको मैं दण्ड देता हूँ और जब उसको दुःखी देखता हूँ तो दया उपजती है। जैसे सिंह नख से हाथी को खैंचता है तैसे ही यह संशय मुझको खैंचता है। इससे वही उपाय कहो जिससे मुझको समता प्राप्त हो। जैसे सूर्य की किरणें सब ठौर में सम होती हैं तैसे ही इष्ट-अनिष्ट में मैं सम होऊँ। कृपा करके मुझसे वही उपाय कहिये। माण्डव बोले, हे राजन्! यह तो बहुत सुगम है और अपने अधीन है; आपही से सिद्ध होता है और अपने ही गृह में है। हे राजन्! सब उपाधि मनमें उठती है वह मन तुच्छ है और विचार किये से निवृत्त हो जाता है। जैसे उष्णता से बरफ़ जलमय हो जाता है तैसे ही विचार किये से जब मननभाव लीन हो जाता

है तब ताप भी निवृत्त हो जाता है। जैसे शरत्काल के आये से कुहिरा नष्ट हो जाता है तैसे ही विचार किये से मननभाव नष्ट हो जाता है। विचारो कि मैं कौन हूँ, इन्द्रियाँ क्या हैं; जगत् क्या है और जन्म मरण किसको कहते हैं? इस विचार से जब तुम अपने स्वभाव में स्थित होगे तब तुमको हर्ष, शोक, क्रोध और राग द्वेष चलायमान न कर सकेगा। जैसे वायु से पर्वत चलायमान नहीं होता तैसे ही तुम अचल रहोगे। हे राजन्! जब आत्मबोध होगा तब मन अपने मननभाव को त्याग देगा और तुम सन्ताप से रहित अपने स्वरूप को प्राप्त होगे। जैसे तरङ्ग भाव मिटने से जल निर्मल होता है तैसे ही तुम अचल होगे और मनधर्म भी रहेगा परन्तु मध्य से अज्ञान नष्ट हो जावेगा और आत्मसत्ताभाव होगा। जैसे काल वही रहता है परन्तु ऋतु और हो जाती है तैसे ही मन वही होगा परन्तु स्वभाव और हो जावेगा। तेरे नौकर और प्रजा भी साधु हो जावेंगे और तेरी आज्ञा में चलेंगे और तुझको देखकर प्रसन्न होंगे। हे राजन्! जब तुझको विवेकरूपी दीपक से आत्मारूपी मणि मिलेगा तब तेरी बड़ाई सुमेरु और समुद्र और आकाश से भी अधिक होगी। जब तुझको विवेक से आत्मतत्त्व का प्रकाश होगा तब तू संसार की तुच्छ वृत्ति में न डूबेगा। जैसे गोपद के जल में हाथी नहीं डूबता तैसे ही तू राग द्वेष में न डूबेगा। जिसको देह में अभिमान है और चित्त में वासना है वह तुच्छ संसार की वृत्ति में डूबता है; इससे जितना अनात्मभाव दृश्य है उसका त्याग कर, पीछे जो शेष रहे सो परमतत्त्व आत्मा है। हे राजन्! जो कुछ सत्य वस्तु है उसको हृदय में धरो और जो असत्य है उसका त्याग करो। जैसे तब तक कल्लर को सोनार धोता है जब तक सुवर्ण नहीं निकलता और जब सुवर्ण निकलता है तब धोने का त्याग करता है; तैसे ही तब तक आत्मविचार कर्तव्य है जब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं हुआ। जब आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है तब विचार से प्रयोजन नहीं रहता। हे राजन्! सबमें, सब प्रकार, सब काल, सब आत्मा की भावना करो अथवा जितना दृश्यभाव है सो सब त्याग करो तो जो शेष रहेगा सो तुमको भासि आवेगा। जब

तक सर्व दृश्य का त्याग न करोगे तबतक आत्मपद का लाभ न होगा। सर्व दृश्य के त्याग से आत्मपद भासेगा । हे राजन्! जब किसी वस्तु के पाने का यत्न करता है तो और का त्यागकर उसी का यत्न करिये तो प्राप्त होता है तो आत्मतत्त्व अनन्य हुए विना कैसे प्राप्त होगा । जब अपना सम्पूर्ण यत्न एक ही ओर लगाता है तब उस पद की प्राप्ति होती है।इससे आत्मपद के पाने के लिये सब दृश्य का त्यागकर सबके त्याग किये से जो शेष रहे सो परमपद है । हे राजन् ! सबके त्याग किये से जो सत्ता अधिष्ठान रहेगा सो तुझको आत्मभाव से प्राप्त होगा ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे सुरघवृत्तान्तमाण्डवोपदेशोनाम
त्रिपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार कहकर जब माण्डवमुनि अपने स्थान को गये तब सुरघ राजा एकान्त में बैठकर विचार करने लगा कि मैं कौन हूँ ? न मैं सुमेरु हूँ, न मेरा सुमेरु है; न मैं जगत् हूँ, न मेरा जगत् है; न मैं पृथ्वी हूँ; न मेरी पृथ्वी है; न मैं क्रान्त मण्डल हूँ और न मेरा क्रान्तमण्डल है, क्योंकि यह अपने भाव में स्थित है, मेरे भाव से तो नहीं । जो मैं न होऊँ तो भी यह ज्यों के त्यों स्थित हैं तो यह मेरे कैसे होवें और मैं इनका कैसे होऊँ ? न मैं नगर हूँ और न मेरा नगर है। हाथी, घोड़ा, मन्दिर, धन, स्त्री, पुत्रादिक जो कुछ पदार्थ हैं सो न मेरे हैं और न मैं इनका हूँ। इनमें आसक्त होना वृथा है; इनमें मेरा कुछ संबन्ध नहीं । जितने भोगों के समूह हैं ये न मैं हूँ और न ये मेरे हैं। नौकर, भृत्य और कलत्र सब अपने भाव से सिद्ध हैं, मेरा इनसे सम्बन्ध कुछ नहीं । न मैं राजा हूँ, न मेरा राज्य है । मैं एकाएकी शरीरमात्र हूँ और इनमें मैं ममत्व करता हूँ सो वृथा है । शरीर में जो मैं अहं करता हूँ सो भी व्यर्थ है, क्योंकि हाथ पाँव आदिक का स्वरूप भिन्न है; न यह मैं हूँ और न ये मेरे हैं । इनमें मेरा शब्द कुछ नहीं । यह रक्त, मांस, हाड़ आदिकरूप है सो मैं नहीं । यह जड़ है और मैं चेतन हूँ; इनके साथ मेरा कैसे सम्बन्ध हो । जैसे जल का स्पर्श कमल को नहीं होता तैसे ही इनका स्पर्श मुझको नहीं । न मैं कर्म इन्द्रियाँ हूँ और न मेरी कर्म

इन्द्रियाँ हैं । यह जड़ है, मैं चैतन्य हूँ । न मैं ज्ञानइन्द्रिय हूँ, न मेरी ज्ञान इन्द्रियाँ हैं । इनसे परे मन है सो भी मैं नहीं, क्योंकि यह जड़ है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये सब अनात्मा रूप हैं। मेरा इनके साथ अविद्या से सम्बन्ध है । भ्रान्ति से मैं इनको अपना स्वरूप जानता था पर यह सब भूतों का कार्य है । इनके पीछे चेतन जीव है जो चेतन दृश्य को चेतनेवाला है सो चेतन चेतना भी मैं नहीं । इन सबसे शेष अचेत चिन्मात्रसत्ता मेरा स्वरूप है। बड़ा कल्याण हुआ जो मैंने अपना आप पाया । अब मैं जागा हूँ । बड़ा आश्चर्य है कि मैं वृथा देहादिक को अपना जानकर शोक और मोह को प्राप्त होता था । मैं तो एक निर्विकल्प चेतन और अनन्त आत्मा सबमें व्याप रहा हूँ और ब्रह्मरूप आत्मा हूँ । इन्द्रियों से आदि जितने भूतगण हैं उन सबका मैं आत्मा हूँ । यह भगवान् आत्मा सबके भीतर व्यापा है। जैसे सबके भीतर पाँचतत्त्व होते हैं तैसे ही यह चेतनरूप सर्वभाव को भर रहा है और सर्व भावों में व्याप रहा है। भैरवरूप और उदय अस्त भाव आदि विकारों से वह रहित है। ब्रह्मा से आदि तृण पर्यन्त सबका आत्मा यही है। सब प्रकाशों का प्रकाशनेवाला दीपक वही है और संसाररूपी मोतियों के पिरोनेवाला तागा और सबका कारण कार्य यही है । वह साकार से रहित है और शरीरादिक सब उसी की सत्ता से उपलब्ध होते हैं । शरीररूपी रथ इसी से चलता है पर वास्तव में शरीरादिक कुछ वस्तु नहीं । यह जगत् चित्तरूपी नट की नृत्यलीलारूप है। चित्त में जगत् फुरता है वास्तव में और कुछ वस्तु नहीं। बड़ा कष्ट है कि मैं वृथा संग्रह असंग्रह की चिन्ता करता था । यह गुणों का प्रवाह है इसमें मैं क्यों शोकवान् होता था ? बड़ा आश्चर्य है कि असत्यभ्रम सत्य हो मुझको दीखता था । अब मैं निश्चय करके सम प्रबोध हुआ हूँ और दुर्दृष्टि मेरी दूर हुई है । दृष्टि की जो अलख दृष्टि है सो अब मैंने देखी है और जो कुछ पाने योग्य था सो मैंने पाया है और अचैत्य चिन्मात्र तत्त्व को प्राप्त हुआ हूँ । जो कुछ दृश्य है उसको मैं स्वरूप से देखता हूँ और अहं मम दुःख मेरा नष्ट हुआ है। मैं चिदानन्द पूर्ण और नित्य शुद्ध अनन्त आत्मा अपने आपमें स्थित हूँ । ग्रहण क्या और त्याग

क्या ? यह क्लेश कोई नहीं और न कोई दुःख है, न सुख है; सर्व ब्रह्म है और दूसरी वस्तु कुछ नहीं। मैं राग किसका करूँ और द्वेष किसका हो ? मैं मिथ्या मूढ़ता को प्राप्त होकर दुःखी होता था; अब कल्याण हुआ कि मैं अमूढ़ होकर अपने आप स्वभाव में स्थित हुआ हूँ। ऐसे आत्मा के साक्षात्कार विना मैं दुःखी था। इसके देखे से अब किसका शोक करूँ और मोह को कैसे प्राप्त होऊँ ? अब मैं क्या देखूँ; क्या करूँ और कहाँ स्थित होऊँ ? यह सब जगत् आत्मा के प्रकाश से है और सब आत्मारूप है। हे अतत्त्वरूप ! अर्थात् जिसमें तत्त्वों की उपाधि कुछ नहीं; तेरी दृष्टि निष्कलङ्क है। मैं अब सम्यक् ज्ञानवान् हुआ हूँ। मेरा मुझही को नमस्कार है। मैं अनन्त आत्मा, अनुभवरूप, निष्कलङ्क, सब इच्छा और भ्रमरहित, सुषुप्ति की नाईं शान्तरूप, अचैत्य, चिन्मात्र सदा अपने आपमें स्थित हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे सुरघवृत्तान्तवर्णनं
नाम चतुष्पञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! क्रान्त जो सुवर्णरूप देश है उसका राजा परमानन्द को प्राप्त हुआ। वह इस प्रकार विचार अभ्यास से ब्रह्मरूप हुआ। जैसे गाधि का पुत्र विश्वामित्र तपस्या करके उसी शरीर से क्षत्रिय से ब्राह्मण हुआ था तैसे ही राजा सुरघ अभ्यास करके ब्रह्मरूप ब्रह्मबोध हुआ और जैसे सूर्य इष्ट अनिष्ट में सम है और विगतज्वर होकर दिनों को व्यतीत करता है तैसे ही राग द्वेष से रहित वह राज्य का कार्य करता रहा। जैसे जल ऊँची नीची ठौर में जाता है और अपना जलभाव नहीं त्यागता, सम रहता है; तैसे ही राजा हर्षशोक से रहित होकर राज्यकार्य करता रहा और स्वभाव को न त्यागा। आत्मविचार को धार सुषुप्ति की नाईं उसकी वृत्ति हो गई और संसारभाव का फुरना रुक गया। जैसे वायु से रहित दीपक प्रकाशता है तैसे ही वह शुद्ध प्रकाश धारता भया। हे रामजी ! वह दया करता भी दृष्टि आवे परन्तु उसकी दृष्टि में कुछ दया नहीं और दया से रहित भी औरों को दीखे परन्तु उसकी दृष्टि में निर्दयता नहीं। न कुछ सुख, न दुःख, न अर्थ, न अनर्थ सब पदार्थों में एक समभाव आत्मा देखे और हृदय से पूर्णमासी के चन्द्रमावत् शीतल रहे। वह जगत् आत्मा का किञ्चनरूप जानता था और उसके सुख दुःख का भाव शान्त हो गया। जैसे सूर्य के उदय हुए अन्धकार नष्ट हो जाता है तैसे ही उसके सुख दुःख नष्ट हो गये थे। शोक, विलास करता, मत्त होता, स्थित होता, चलता, श्वास लेता और पाँचों विषयों को ग्रहण करता वह राग द्वेष को प्राप्त न होता था। जैसे पत्थर में फुरना कुछ नहीं फुरता तैसे ही उसको कर्तृत्व, भोक्तृत्व का मान कुछ न फुरा; सब कर्तव्य को करता भी निःसंग रहा। जैसे जल में कमल अलेप रहता है तैसे ही वह राज्य में निर्लेप होकर जीवन्मुक्त हुआ। इस प्रकार जब बहुत काल बीता तब उसने शरीर का त्याग किया। जैसे बरफ़ का कणका सूर्य के तेज से जलमय हो जाता है तैसे ही उसका शरीर अपने भाव को त्यागकर आत्मतत्त्व में लीन हो गया। जैसे नदी समुद्र में लीन होती है और फिर भिन्न नहीं भासती तैसे ही सुरघ अपने भाव को त्यागकर उज्ज्वलभाव को प्राप्त हुआ और कलनारूपी मल को त्यागकर निर्मल ब्रह्म हुआ। जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है तैसे ही यह निर्मल चिदानन्द ज्योतिभाव को प्राप्त हुआ और जैसे घट फूटे से घटाकाश महाकाश हो जाता है तैसे ही वह पूर्णब्रह्म चिदानन्द तत्त्व हुआ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे सुरघवृत्तान्तसमाप्तिर्नाम
पञ्चपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! तुम भी इसी दृष्टि का आश्रय करके विचारो तब सब भय मिट जावेगा। जैसे घोरतम में बालक भय पाता है और जब दीपक का प्रकाश होता है तब निर्भय होता है तैसे ही संसाररूपी घोरतम में आया पुरुष दुःख पाता है और जब ज्ञानरूपी दीपक उदय होता है तब निर्भय हो जाता है। हे रामजी ! जब आत्मविचार में कुछ भी मनुष्य का चित्त विश्राम पाता है तब उस विश्राम का आश्रयकर वह संसारसमुद्र से निकल जाता है; जैसे गढ़े में गिरे और तृण का वृक्ष हाथ लगे तो भी उसके आश्रय से निकल आता है। हे रामजी ! यह पावन दृष्टि मैंने तुमसे कही है इसको चित्त में विचारो और परस्पर मिलकर उदाहरण के साथ अभ्यासकर नित्य एक समाधि में स्थित हो और

पृथ्वी का भूषण होकर लोगों में विचरो। इतना सुन रामजी ने पूछा, हे मुनीश्वर! एक समाधि किसको कहते हैं और कैसे होती है सो कहो जिसमें मेरा चित्त जो फुरता है सो स्थित हो। जैसे वायु से मोर की पुच्छ हिलती है तैसे ही चञ्चलरूप चित्त सदा फुरता है। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब सुरघ प्रबुद्ध हुआ था तब उसका संवाद पर्णादि राजऋषि के साथ हुआ था वही अद्भुत समाधि है; उसको सुनकर विचारोगे तो तुमभी एक समाधिमान् होगे। उसने परस्पर मिलकर जो चर्चा की थी सो सुनो। हे रामजी! पारसदेश का राजा महावीर्यवान् था। उसका परघ नाम था और वह सुरघ का मित्र था। जैसे नन्दनवन में कामदेव और बसन्तऋतु का मित्रभाव होता है तैसे ही सुरघ और परघ का मित्रभाव था। एक काल में परघ के देश में प्रलयकाल विना प्रलयकाल की नाईं समय हुआ और उससे सब जीव दुःख पाने लगे। निदान प्रजा की पापबुद्धि का फल आन लगा और महादुर्भिक्ष पड़ा। कोई क्षुधा से मृतक हुए, कोई अग्नि से जल मरे और बहुतेरे झगड़ा करके मृतक हुए। प्रजा बहुत दुःख को प्राप्त हुई पर राजा को कुछ दुःख न प्राप्त हुआ। जब प्रजा ने बहुत दुःख पाया और राजा ने प्रजा को दुःखी देखा पर प्रजा का दुःख निवृत्त न कर सका तो प्रजा अपने अपने कुटुम्ब को त्यागकर चली गई—जैसे वन में अग्नि लगने से पक्षी त्याग जाते हैं। तब राजा एक पहाड़ की कन्दरा में तप करने लगा और ऐसा तप करने लगा जैसा कि जिनेन्द्र ने किया था। वह उस कन्दरा में फल न पाये केवल सूखे पत्ते लेकर खावे—जैसे अग्नि सूखे पत्तों को भक्षण करती है उससे उसका नाम पर्णाद हुआ। निदान चित्त की वृत्ति को आत्मपद में लगाकर सहस्रवर्ष पर्यन्त उसने तप किया तब अभ्यास के बल से चित्त स्थित हुए से केवल ज्ञानरूप आत्मतत्त्व हृदय की निर्मलता से प्रकाश आया और सब तप्तता मिट गई। तब वह राग द्वेष से रहित हो निष्क्रिय—आत्मदर्शी—जीवन्मुक्त होकर बिचरने लगा। जैसे सरोवरों में कमलों के निकट भँवरा हँसों के साथ जा मिलता है तैसे ही सिद्धों के साथ राजा जा मिले। ऐसे फिरता फिरता वह क्रान्तदेश में सुरघ के स्थानों को गया। सुरघ पूर्वमित्र को देखकर उठ खड़ा हुआ और परस्पर कण्ठ लगाके मिले। फिर परस्परभाव करके एक आसन पर चन्द्रमा और सूर्य के समान दोनों बैठ गये और आपस में कुशल पूछने लगे। प्रथम परघ बोले, हे मित्र! तेरे दर्शन से जैसे कोई चन्द्रमा के मण्डल में जा आनन्दवान् हो तैसे ही मैं आनन्दवान् हुआ हूँ। बहुत काल का जो वियोग होता है तो बहुत प्रीति बढ़ती है। जैसे वृक्ष को ऊपर काटे से बढ़ता है तैसे ही प्रीति बढ़ती है। हे साधो! अब मैं भी ज्ञानवान् हुआ और तू भी माण्डव मुनि और आत्मा के प्रसाद से ज्ञान को प्राप्त हुआ है। हे राजन्! मेरा अभीष्ट प्रश्न यह है कि तू अब दुःखों से मुक्त होकर विश्राम को प्राप्त हुआ है। आत्मपद पाने की बड़ाई मेरु आदिक से भी ऊँची है उसको तू प्राप्त हुआ है और परम कल्याणवान् आत्मारामी हुआ है। तुम राग द्वेष मल से रहित हुए हो—जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है—और सब कार्यों के करते भी समभाव में रहते हो। आधि-व्याधि ताप तुम्हारे दूर हुए हैं; तुम्हारी प्रजा भी विगतज्वर हुई है और धन, राज्य और माल में भी कुशल है। जैसे चन्द्रमा की किरणें शीतलता फैलाती हैं तैसे ही तुम्हारा यश दशों दिशाओं में फैल रहा है और तुम्हारा यश ग्रामवासी क्षेत्रों में लड़कियाँ गाती हैं। हे राजन्! तुम्हारे प्रजा, नौकर, पुत्र और कलत्र सब आधि-व्याधि से रहित हुए हैं। विषय पदार्थ आपातरमणीय हैं उनमें अब तुम्हारी प्रीति नहीं है और तृष्णारूपी सर्पिणी तुमको अब तो नहीं डसती। हे राजन्! तुम्हारी हमारी मित्रता हुई थी। समय पाकर तुम कहाँ रहे और हम कहाँ रहे; अब फिर इकट्ठे हुए हैं। बड़ा आश्चर्य है? ईश्वर की नीति जानी नहीं जाती; सुख से दुःख हो जाता है और दुःख गये से सुख हो जाता है। संसार की दशा आगमापायी है; संयोग का वियोग होता है और वियोग का संयोग होता है। तैसे ही तुम्हारा हमारा भी संयोग का वियोग हो गया था और अब फिर वियोग का संयोग हुआ है। बड़ा आश्चर्य है—ईश्वर की नीति अद्भुतरूप है। सुरघ बोले, हे देव! परमात्मा देव की नीति जान नहीं सकते। वह महागम्भीर, विस्मय के देनेवाली और दुर्ज्ञात है। तुम्हारा हमारा वियोग

हुआ तब दूर से दूर जा पड़े; तुम कहाँ थे और हम कहाँ थे अब फिर इकट्ठे हुए हैं। दैव की नीति आश्चर्यरूप है। तुमने जो मुझसे कुशल पूछी सो तुम्हारा आना ही पुण्य है उससे मैं परम पावन हुआ हूँ और तुम्हारे दर्शन से सब पाप नष्ट हो जाते हैं। आज हमारे पुण्य का फल लगा है जो तुम्हारा दर्शन हुआ और जो कुछ यश सम्पदा है, वह सब आज प्राप्त हुई है। हे भगवन्! सन्तों का आना मधुर अमृत की नाईं है। जैसे अमृत झरने से निकलता है तैसे ही तुम्हारे दर्शन और वचनों से परमार्थरूपी अमृत स्रवता है। जिसको पाकर जीव निर्भयता को प्राप्त होता है। सन्तों का मिलना परमपद के तुल्य है इसलिये हम परम शुद्धता को प्राप्त हुए हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे सुरघपरघसमागमवर्णनं नामषट्पञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार जब वे पूर्व वृत्तान्त कह रहे थे तब फिर परघ बोले, हे राजन्! समाहित चित्त इस जगज्जाल में जो-जो कर्म करता है सो सुखरूप होता है। संकल्प से रहित जो परम विश्राम और परम उपशम समाधि है उसमें अब तुम स्थित हुए हो। सुरघ बोले, हे भगवन्! तुम्हीं कहो कि सब संकल्पों से रहित परम उपशम समाधि किसको कहते हैं? और यदि तुम मुझसे पूछो तो सुनो। जो ज्ञानवान् महात्मा पुरुष हैं वे चाहे तूष्णीं रहें अथवा व्यवहार करें असमाहितचित्त कदाचित् नहीं होते। हे साधो! जिनका नित्य प्रबुद्ध चित्त है वे जगत् के कार्य भी करते हैं पर आत्मतत्त्व में स्थित हैं तो वह सर्वदा समाधि में स्थित हैं और जो पद्मासन बाँधकर बैठते हैं और ब्रह्मअञ्जली हाथ में रखते हैं पर चित्त आत्मपद में स्थित नहीं होता और विश्रान्ति नहीं पाते तो उनको समाधि कहाँ? वह समाधि नहीं कहाती। हे भगवन्! परमार्थ तत्त्वबोध आशारूपी सब तृणों के जलानेवाली अग्नि है। ऐसी निराशरूप जो समाधि है वही समाधि है। तूष्णीं होने का नाम समाधि नहीं है। हे साधो! जिसका चित्त समाहित, नित्य तृप्त और सदा शान्तरूप है और जो यथा भूतार्थ है अर्थात् जिसे ज्यों का त्यों ज्ञान हुआ है और उसमें निश्चय है वह समाधि कहाती है; तूष्णीं होने का नाम समाधि नहीं है जिसके हृदय में संसाररूप सत्यता का क्षोभ नहीं है, जो निरहंकार है और अनउदय ही उदय है वह पुरुष समाधि में कहाता है। ऐसा जो बुद्धिमान् है वह सुमेरु से भी अधिक स्थित है। हे साधो! जो पुरुष निश्चित है, जिसकी ग्रहण और त्याग बुद्धि निवृत्त हुई है; जिसे पूर्ण आत्मतत्त्व ही भासता है वह व्यवहार भी करता दृष्ट आता है तौ भी उसकी समाधि है। जिसका चित्त एक क्षण भी आत्मतत्त्व में स्थित होता है उसकी अत्यन्त समाधि है और क्षण-क्षण बढ़ती जाती है निवृत्त नहीं होती। जैसे अमृत के पान किये से उसकी तृष्णा बढ़ती जाती है तैसे ही एक क्षण की भी समाधि बढ़ती ही जाती है। जैसे सूर्य के उदय हुए सब किसी को दिन भासता है तैसे ही ज्ञानवान् को सब आत्मतत्त्व भासता है—कदाचित् भिन्न नहीं भासता। जैसे नदी की प्रवाह किसी से रोका नहीं जाता तैसे ही ज्ञानवान् की आत्मदृष्टि किसी से रोकी नहीं जाती और जैसे काल की गति काल को एक क्षण भी विस्मरण नहीं होती तैसे ही ज्ञानवान् को आत्मदृष्टि विस्मरण नहीं होती। जैसे चलने से ठहरे पवन को अपना पवनभाव विस्मरण नहीं होता तैसे ही ज्ञानवान् को चिन्मात्र तत्त्व का विस्मरण नहीं होता और जैसे सत् शब्द विना कोई पदार्थ सिद्ध नहीं होता तैसे ही ज्ञानवान् को आत्मा के सिवाय कोई पदार्थ नहीं भासता। जिस ओर ज्ञानवान् की दृष्टि जाती है उसे वहाँ अपना आप ही भासता है—जैसे दर्पण के मन्दिर में सर्व ओर अपना ही मुख भासता है। जैसे उष्णता विना अग्नि नहीं, शीतलता विना बरफ़ नहीं और श्यामता विना काजर नहीं होता तैसे ही आत्मा विना जगत् नहीं होता। हे साधो! जिसको आत्मा से भिन्न पदार्थ कोई नहीं भासता उसको उत्थान कैसे हो? मैं सर्वदा बोधरूप, निर्मल और सर्वदा सर्वात्मा समाहितचित्त हूँ; इससे उत्थान मुझको कदाचित् नहीं होगा। आत्मा से भिन्न मुझको कोई नहीं भासता सब प्रकार आत्मतत्त्व ही मुझको भासता है। हे साधो! आत्मतत्त्व सर्वदा जानने योग्य है। सर्वदा और सब प्रकार आत्मा स्थित है, फिर समाधि और उत्थान कैसे हो? जिसको कार्य कारण में

विभाग[1] कलना नहीं फुरती और जो आत्मतत्त्व में ही स्थित है उसको समाहित असमाहित क्या कहिये ? समाधि और उत्थान का वास्तव में कुछ भेद नहीं। आत्मतत्त्व सदा अपने आप में स्थित है, द्वैतभेद कुछ नहीं तो समाहित असमाहित क्या कहिये ?

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे समाधिनिश्चयवर्णनं नाम
सप्तपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५७ ॥

सुरघ बोले, हे राजन्! निश्चय करके अब तुम जागे हो और परमपद को प्राप्त हुए हो। तुम्हारा अन्तःकरण पूर्णमासी के चन्द्रमावत् शीतल हुआ है और परम शोभा से तुम्हारा मुख शोभित होकर तुम ब्रह्मलक्ष्मीसम्पन्न और परमानन्द से पूर्ण हुए हो। तुम्हारा हृदयकमल शीतल और स्निग्ध विराजमान है और निर्मल तुम्हारी विस्तृत गम्भीरता मुझको प्रकट भासती है। निर्मल शरत्काल के आकाशवत् तुम्हारा हृदय भासता है और अहंकाररूपी मेघ तेरा नष्ट हुआ है। हे राजन्! अब तुमको सर्वत्र स्वस्थ और सर्वथा सन्तुष्टता है और किसी में राग नहीं। तुम वीतराग होकर विराजते हो; सार असार को तुमने भली प्रकार जाना है और उसे जानकर असार संसाररूपी समुद्र से पार हुए हो और महाबोध को तुमने ज्यों का त्यों जानकर अखण्ड स्थिति पाई है और भाव अभाव पदार्थ दोनों को तुम जानते हो। तुम जगत् के सम असम पदार्थों से मुक्त हुए हो और तुम्हारा आशय पवित्र और मुदिता प्राप्त हुई है। इष्ट, अनिष्ट, ग्रहण, त्याग तुम्हारा निवृत्त हुआ है, राग द्वेष और तृष्णारूपी बादलों से रहित निर्मल आकाशवत् तुम शोभते हो और अपने आपसे तृप्त हुए हो कुछ इच्छा तुमको नहीं है। सुरघ बोले, हे मुनीश्वर! इस जगत् में ग्रहण करने योग्य वस्तु कोई नहीं। जो कुछ दृश्य पदार्थ हैं वे सब आभासरूप हैं तो ग्रहण किसको कीजिये ? और जो कहिये कि ग्रहण करने योग्य नहीं इससे त्याग करिये तो आभासरूप पदार्थों का त्याग क्या कीजिये और ग्रहण क्या कीजिये क्योंकि है नहीं सब तुच्छ पदार्थ हैं। जैसे सूर्य की किरणों में जल

भासता है तो उस जलाभास का कौन अङ्ग ग्रहण कीजिये और कौन अङ्ग त्याग कीजिये, तैसे ही यह जगत् भी है। हे मुनीश्वर! जगत् के कोई पदार्थ तुच्छ हैं और कोई अतुच्छ हैं। जो थोड़े काल में नष्ट हो जाते हैं सो तुच्छ हैं और जो चिरकालपर्यन्त रहते हैं वे अतुच्छ हैं परन्तु दोनों काल से उपजे हैं अब मैंने अकालरूप को देखा है इससे दोनों तुल्य हो गये हैं फिर इच्छा किसकी करूँ? हे मुनीश्वर! जो पदार्थों को रमणीय जानते हैं वे उनकी इच्छा करते हैं पर त्रिलोकी में रमणीय पदार्थ कोई नहीं, सब तुच्छ और नाशरूप हैं और अविचार से जीवों को भासते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध जो इन्द्रियों के विषय हैं वे भी सब असाररूप हैं। स्त्री को बड़ा पदार्थ जानते हैं पर वह भी देखनेमात्र सुन्दर है और भीतर से रक्त, मांस, विष्ठा और मूत्र का थैला बना हुआ है—इसमें भी कुछ सार नहीं। पर्वत बड़े पदार्थ हैं सो पत्थर बट्टे हैं, समुद्र जल है, वनस्पति काष्ठ—पत्र हैं और इनसे आदि जो पदार्थ हैं वे सब आपातरमणीय हैं विचार विना सुन्दर भासते हैं। इनकी जो इच्छा करते हैं वे अपने नाश के निमित्त करते हैं—जैसे पतङ्ग दीपक की इच्छा करता है सो अपने नाश के निमित्त करता है और हरिण राग की इच्छा से नाश को प्राप्त होता है, तैसे ही जो विषयों की तृष्णा करते हैं वे अपने नाश को करते हैं। इससे विचार से रहित जो अज्ञानी हैं वे पदार्थों को रमणीय जानकर अपने नाश के निमित्त इच्छा करते हैं और जो समदर्शी ज्ञानवान् हैं वे उन्हें अरमणीय जानकर किसी जगत् के पदार्थ की इच्छा नहीं करते। जैसे सूर्य के उदय हुए अन्धकार का अभाव होता है तैसे ही जब पदार्थों का राग उठ गया तब तृष्णा किसमें रहे ? हे साधो! राग, द्वेष, इच्छा, ग्रहण, त्याग जो कुछ विकार हैं उन सबसे रहित शुद्ध आत्मतत्त्व में स्थित हो। बहुत कहने से क्या है जिस पुरुष के मन से वासना नष्ट हो गई है वह उपशमवान् कल्याणमूर्ति परमपद को प्राप्त हुआ है और संसारसमुद्र से तर गया है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे सुरघपरघनिश्चयवर्णनं
नामाष्टपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५८ ॥

---

[1] "संयोगनाशको गुणो विभागः"।

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रकार सुरघ और परघ जगत् को भ्रमरूप विचारते परस्पर गुरु जानकर पूजते रहे, फिर कुछ दिन उपरान्त परघ चला गया। हे रामजी ! इनका जो परस्पर संवाद तुमको सुनाया है सो परमबोध का कारण है। इस विचार के क्रम से बोध की प्राप्ति होती है। तीक्ष्ण बोध से जब विचार करोगे तब अहंकाररूपी बादल का अभाव हो जावेगा और शुद्ध हृदयरूपी आकाश में आत्मरूपी सूर्य का प्रकाश हो जावेगा। इससे परमपद के लाभ के निमित्त अहंकाररूपी बादल के अभाव का यत्न करो। आत्मा जो सत्य और सब आनन्दों की सम्पदा चिदाकाश है उसमें स्थिति पावोगे। हे रामजी ! जो पुरुष नित्य अन्तर्मुखी अध्यात्ममय है और नित्य चिदानन्द में चित्त को लगाता है वह सदा सुखी है—उसको शोक कदाचित् नहीं होता और जो पुरुष आत्मपद में स्थित हुआ है वह बड़े व्यवहार करे और राग द्वेष सहित दृष्टि आवे तो भी उसको कुछ कलङ्क नहीं होता। जैसे कमल जल में दृष्ट आता है तो भी ऊँचा रहता है, जल उसको स्पर्श नहीं करता; तैसे ही ज्ञानवान् को व्यवहार का राग द्वेष हृदय में स्पर्श नहीं करता। हे रामजी ! जिसका मन शान्त हुआ है उसको संसार के इष्ट अनिष्ट पदार्थ चला नहीं सकते। जैसे सिंहों को मृग दुःख दे नहीं सकते, तैसे ही ज्ञानवान् को जगत् के पदार्थ दुःख नहीं दे सकते। जिस पुरुष को आत्मानन्द प्राप्त हुआ है उसको विषयों की तृष्णा नहीं रहती और न वह विषयों के निमित्त कदाचित् दीन होता है। जैसे जो पुरुष नन्दनवन में स्थित होता है वह कण्टकों के वृक्ष की इच्छा नहीं करता तैसे ही ज्ञानवान् जगत् के पदार्थों की इच्छा नहीं करता। हे रामजी ! जिस-जिस पुरुष ने जगत् को अविद्यारूप जानकर त्याग किया है उसके चित्त को जगत् के पदार्थ दुःख दे नहीं सकते। जैसे विरक्तचित्त पुरुष की स्त्री मर जावे तो उसको दुःख नहीं होता तैसे ही ज्ञानवान् के चित्त में भोगों की दीनता ऐसे नहीं उपजती जैसे नन्दनवन में कण्टक का वृक्ष नहीं उपजता। जिस पुरुष को आत्मबोध हुआ है और संसार का कारण मोह निवृत्त हुआ है वह जगत् का कार्यकर्ता दृष्टि आता है परन्तु वह कार्य उसको स्पर्श नहीं करते—जैसे आकाश में अन्धकार दृष्टि आता है परन्तु आकाश को स्पर्श नहीं करता। हे रामजी ! अविद्या के निवृत्ति का कारण विद्या है और किसी उपाय से निवृत्ति नहीं होती। जैसे प्रकाश विना तम निवृत्त नहीं होता तैसे ही विचार विना अविद्या निवृत्त नहीं होती। अविचार का नाम अविद्या है और विचार का नाम विद्या है; जब अविद्या नष्ट होगी तब विषय भोग स्वाद न देवेंगे और आत्मानन्द से संतुष्टवान् रहोगे। हे रामजी ! ज्ञानवान् को विचार के कारण इन्द्रियों के व्यवहार अन्धा नहीं कर सकते—जैसे जल में मछली रहती है उसको जल अन्धा नहीं कर सकता पर और अन्धे हो जाते हैं। जब ज्ञानरूपी सूर्य उदय होता है तब अज्ञानरूपी रात्रि निवृत्त हो जाती है; चित्त परमानन्द को प्राप्त हो जाता है और राग द्वेषरूपी निशाचर नष्ट हो जाता है। तब फिर वह मोह को नहीं प्राप्त होता। जिसके हृदय आकाश में आत्मज्ञानरूपी सूर्य उदय हुआ है उसका जन्म और कुल सफल होता है। जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा अपने अमृत को पाकर अपने में ही शीतल होता है तैसे ही जो पुरुष आत्मचिन्तना में अभ्यास करता है वह शान्ति पाता है। हे रामजी ! बुद्धि श्रेष्ठ और सत्शास्त्र वही है जिससे संसार से वैराग और आत्मतत्त्व की चिन्तना उपजे। जब जीव आत्मपद को पाता है तब उसका सब क्लेश मिट जाता है और जिनको आत्मचिन्तना में रुचि नहीं वे महाअभागी हैं। ऐसे पुरुष चिर पर्यन्त कष्ट पावेंगे और जन्मरूपी जङ्गल के वृक्ष होंगे। हे रामजी ! जीवरूपी बैल अनेक आशारूपी फाँसियों से बाँधा है, जरा अवस्थारूपी पत्थरों के मार्ग से जर्जरीभूत होता है, भोगरूपी गढ़े में गिरा है और कर्मरूपी भार को लिये जन्मरूपी जङ्गल में भटक कर कर्म कीचड़ में फँसा हुआ राग द्वेषरूपी मच्छरों से दुःखी होता है स्नेहरूपी रथ को पकड़ के खैंचता है और पुत्र, स्त्री आदिक की ममतारूपी कीचड़ में गोते खाता है और मोह संसाररूपी मार्ग में कर्मरूपी रथ के साथ लगता है और ऊपर से अज्ञानरूपी तप्तता से जलता है और सन्तजन और सत्शास्त्ररूपी वृक्ष की छाया नहीं पाता। हे रामजी ! जीवरूपी ऐसा बैल है। उसे निका-

लने का यत्न करो जब तत्त्व का अवलोकन करोगे तब चित्तभ्रम नष्ट हो जावेगा । हे रामजी ! संसाररूपी समुद्र के तरने का उपाय सुनो । महापुरुष और सन्तजन मल्लाह हैं, उनका युक्तिरूपी जहाज़ है उससे संसाररूपी समुद्र तर जावेगा; और उपाय कोई नहीं यही परम उपाय है। जिस देश में सन्तजनरूपी वृक्ष नहीं हैं और जिनकी फलों सहित शीतल छाया नहीं है उस निर्जन मरुस्थल में एक दिन भी न रहिये । हे रामजी! सन्तजनरूपी वृक्ष हैं; जिनके स्निग्ध और शीतल वचनरूपी पत्र हैं, प्रसन्न होना सुन्दर फूल है और निश्चय उपदेशरूपी फल है । जब यह पुरुष उनके निकट जावे तब महामोहरूपी तप्तता से छूटेगा और शान्ति पाकर तृप्त होगा । तभी तीनों को पाकर अघावेगा और सब दुःखों से मुक्त होगा । हे रामजी ! अपना आपही मित्र है और अपना आपही शत्रु है । अपने आपको जन्मरूपी कीचड़ में न डाले । जो देह में अहंभावना से विषयों की तृष्णा करता है वह अपना आपही नाश करता है । जो देहभाव को त्यागकर आत्मअभ्यास करता है वह अपना आप उद्धार करता है और वह अपना आपही मित्र है और जो आपको संसारसमुद्र में डालता है यह अपना आपही शत्रु है । हे रामजी ! प्रथम यह विचारकर देखे कि जगत् क्या है, कैसे उत्पन्न हुआ है और कैसे निवृत्त होगा ? मैं कौन हूँ; सत्य क्या और असत्य क्या है ? ऐसे विचार कर जो सत्य है उसको अङ्गीकार करे और जो असत्य है उसका त्याग करे। हे रामजी ! न धन कल्याण करता है न मित्र बान्धव और न शास्त्र कल्याण करते हैं; अपना उद्धार आप से होता है । इससे तुम अपने मन के साथ मित्रता करो। जब वह दृढ़ वैराग्य और अभ्यास करे तब संसार कष्ट से छूटे। जब वैराग्य अभ्यास से तत्त्व के अवलोकन से अहंतारूप बेड़ी कटे तब संसारसमुद्र से तर जाता है। हे रामजी! जीवरूपी हाथी जन्मरूपी गढ़े में गिरा हुआ है; तृष्णा और अहंकाररूपी ज़ंजीर से बँधा है और कामनारूपी मद से उन्मत्त है । जब इनसे छूटे तब मुक्त हो । हे रामजी ! हृदयरूपी नेत्रों में अनात्म अभिमानरूपी रक्त रोग हो गया है; जब विचाररूपी औषध से उसको दूर कीजिये तब आत्मरूपी सूर्य का दर्शन हो। हे रामजी ! और

उपाय कोई न करो तो एक उपाय तो अवश्य करो कि देह को काष्ठलोष्टवत् जानकर इसका अभिमान त्यागो। जब अहं अभिमानरूपी बादल नष्ट होगा तब आपही आत्मरूपी सूर्य प्रकाश आवेगा । जब अहंकाररूपी बादल लय होगा तब आत्मतत्त्वरूपी सूर्य भासेगा; वह परमानन्दस्वरूप है; सुषुप्ति रूप मौन है अर्थात् केवल अद्वैत तत्त्व है; वाणी से कहा नहीं जाता अपने अनुभव से आपही जाना जाता है। हे रामजी ! सब जगत् अनन्त आत्मा है। जब चित्त का दृढ़ परिणाम उसमें हो तब स्थावर जङ्गमरूप जगत् में वही दिव्यदेव भासेगा और वासना सब निवृत्त हो जावेगी । तब अनुभव से केवल परमानन्द आत्मतत्त्व दिखाई देगा सो स्वरूप पूर्ण और अद्वैत है। सब जगत् का त्याग कर उसी के पाने का यत्न करो ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे कारणोपदेशो
नामैकोनषष्टितमस्सर्गः ॥ ५९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मन से मन को छेदो और अहं ममभाव को त्यागो। जबतक मन नष्ट नहीं होता तबतक जगत् के दुःख निवृत्त नहीं होते। जैसे मूर्ति का सूर्य मूर्ति के नष्ट हुए विना अस्त नहीं होता–जब मूर्ति नष्ट हो तब सूर्य का आकार भी दूर हो; तैसे ही जब मन नष्ट हो तब संसार के दुःख नष्ट हो जावेंगे–अन्यथा नष्ट न होंगे। हे रामजी! जैसे प्रलयकाल में अनन्त दुःख होता है तैसे ही मन के होने से अनन्त दुःख होते हैं और जैसे मेघ के बर्षने से नदी बढ़ती जाती है तैसे ही मन के जागे से आपदा बढ़ती जाती है। इसही पर एक पुरातन इतिहास मुनीश्वर कहते हैं सो परस्पर सुहृदों का हेतु है। हे रामजी! सह्याचल सब पर्वतों में बड़ा पर्वत है। उस पर फूलों के समूह और नाना प्रकार के वृक्ष हैं; जल के झरने चलते हैं और मोतियों के स्थान और सुवर्ण के शिखर हैं। कहीं देवताओं के स्थान हैं और कहीं पक्षी शब्द करते हैं। नीचे क्रान्त रहते हैं ऊपर सिद्ध, देवता और विद्याधर रहते हैं, पीठ में मनुष्य रहते हैं और नीचे नाग रहते हैं–मानो सम्पूर्ण जगत् का गृह यही है। उसके उत्तर दिशा में सुन्दर वृक्ष और फलों से पूर्ण तालाब है

जिसकी महासुन्दररूप रचना स्वर्ग की सी है। वहाँ अत्रिनाम एक ऋषीश्वर साधुओं के श्रम दूर करनेवाला रहता था। उसके आश्रम के पास दो तपस्वी आ रहने लगे—जैसे आकाश में बृहस्पति और शुक्र आ रहे। उन दोनों के गृह में दो महासुन्दर पुत्र जैसे कमल उत्पन्न हो तैसे ही उत्पन्न हुए उनमें एकका नाम भास और दूसरे का नाम विलास हुआ। दोनों क्रम से बड़े हुए और जैसे अंकुर के दोनों पत्र बढ़ते हैं तैसे ही वे बढ़ने लगे। परस्पर उनकी प्रीति बहुत बढ़ी और इकट्ठे रहने लगे। जैसे तिल और तेल; और फूल और सुगन्ध इकट्ठे रहते हैं और जैसे स्त्री और पुरुष की प्रीति आपस में होती है; तैसे ही उनकी प्रीति बढ़ी। वे देखनेमात्र तो दो मूर्ति दृष्ट आते थे परन्तु मानो एक ही थे। उनकी स्नान आदिक क्रिया और मानसी क्रिया भी एक समान थी और वे महासुन्दर प्रकाशवान् थे जैसे चन्द्रमा और सूर्य हों। जब कुछ काल व्यतीत हुआ तब उनके माता पिता शरीर त्यागकर स्वर्ग को गये और उनके वियोग से वे दोनों शोकवान् हुए और जैसे कमल की कान्ति जल विना जाती रहे तैसे ही उनके मुख की कान्ति कुम्हिला गई। फिर उन्होंने उनके मरने की सब क्रिया की और उनके गुण सुमिरण करके विलाप करें और महाशोकवान् हों क्योंकि महापुरुष भी लोकमर्यादा नहीं लँघते। हे रामजी ! इस प्रकार शोक कर उनका शरीर कृश हो गया।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे भासविलासवृत्तान्तवर्णनं नाम षष्टितमस्सर्गः ॥ ६० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जैसे उजाड़ वन का वृक्ष जल विना सूख जाता है तैसे ही उनका शरीर सूख गया। तब वे दोनों शोकातुर होकर विचरने लगे। जैसे समूह से बिछुड़ा हरिण शोकवान् होता है तैसे ही वे दुःखी हुए, क्योंकि उनको निर्मल ज्ञान प्राप्त न था। जब कुछ काल व्यतीत हुआ तब वे फिर आ मिले। विलास ने कहा, हे भाई ! हृदय को आनन्द देनेवाला अमृत का समुद्र जीवनरूपी जो वृक्ष है उसका फल सुख है सो तुम इतने काल क्या सुखसे रहे ? तुम्हारा हमारा वियोग हो गया था तब तुम कैसी क्रिया करते रहे ? क्या तुमने अपना कुछ चित्त निर्मल किया है

और अब आत्मपद पाया है। क्या अब तुम्हारी बुद्धि शोक से रहित होकर विद्या तुमको फली है और तुम अब कुशलरूप हुए हो ? भास बोले, हे साधो ! अब हमको कुशल हुई जो तुम्हारा दर्शन हुआ। जगत् में कुशल कहाँ है; इस संसार में स्थित हुए हमको सुख और कुशल कहाँ है ? हे साधो ! जबतक ज्ञेय परमात्मतत्त्व को नहीं पाया, जबतक चित्तभूमिका क्षीण नहीं हुई और जबतक संसारसमुद्र को नहीं तरे तबतक कुशल कहाँ है ? जबतक चित्त से दुःख निवृत्त नहीं होता तबतक चित्त की भूमिका नष्ट नहीं होती। जबतक संसारसमुद्र से पार नहीं होते तबतक हमको सुख कहाँ है ? जबतक चित्तरूपी क्षेत्र में आशारूपी कण्टकों की बेलि बढ़ती जाती है और आत्मविचाररूपी हँसिये से नहीं काटी तबतक हमको कुशल कहाँ, जबतक आत्मज्ञान उदय नहीं हुआ तबतक हमको कुशल कहाँ है ? हे साधो ! संसाररूपी विसूचिका रोग आत्मज्ञानरूपी औषध विना दूर नहीं होता। सब जीव नित्य वही क्रिया करते हैं जिससे दुःख प्राप्त हो इससे सुख को नहीं पाते। देहरूपी वृक्ष में बालअवस्थारूपी पत्र हैं और यौवन और वृद्धअवस्थारूपी फल हैं सो मृत्यु के मुख में जा पड़ता है। उपजता है और फिर नष्ट होता है। यह सुख जो लवाकार है और दुःख जिसका दीर्घ से दीर्घ है। ऐसे जो शुभाशुभ आरम्भ हैं उनमें इनको दिन-रात्रि व्यतीत होते हैं। हे साधो ! चित्तरूपी हाथी वैरागरूपी ज़ंजीर विना तृष्णारूपी हथिनी के पीछे दूर से दूर चला जाता है। जैसे चील्ह पक्षी मांस की ओर चला जाता है तैसे ही चित्त विषयों की ओर धावता है और आत्मारूपी चिन्तामणि की ओर नहीं जाता। अहंकाररूपी चील्ह देहादिकरूपी मांस की ओर धावता है और सुखरूपी कमल अपमानरूपी धूलि से धूसर हो जाता है और भोगरूपी बरफ़ से नष्ट हो जाता है। हे साधो ! वह देहरूपी कूप में गिरा है, जिसमें भोगरूपी सर्प है, आशारूपी कण्टक हैं और तृष्णारूपी जल है उसमें दुःख पाता है। हे साधो ! नाना प्रकार के रङ्ग रञ्जनारूपी भोग हैं और जिसमें तृष्णारूपी चञ्चलता है ऐसे चैत्यदृश्य में मग्न हैं। चित्तरूपी ध्वजा कालरूपी वायु से हिलती है। चित्तरूपी समुद्र में चिन्तारूपी भँवर

हैं जिसमें जीवरूपी तृण आय कष्ट पाता है और बुद्धिरूपी पक्षिणी है जो वासनारूपी जाल से कष्ट पाती है। यह मैंने किया है; यह करती हूँ और यह करूँगी; इसी वासनारूपी जाल में बुद्धिरूपी पक्षिणी कष्ट पाती है—एक क्षण भी विश्रामवान् नहीं होती। हे भाई! इस चित्तरूपी कमल को राग-द्वेषरूपी हाथी चूर्ण करता है। यह मेरा सुहृद् है, यह मेरा शत्रु है; यह 'अहं' 'मम' ही इसको मारता है। शुद्ध आत्मरूप को त्यागकर देहादिक अनात्मरूप में अहंभाव करता है और दीनता को प्राप्त होता है। जैसे राज्य से रहित राजा कष्ट पाता है तैसे ही आत्मभाव से रहित कष्ट पाता है और देहाभिमानी जन्ममरण के दुःख देखता है। जब देहाभिमान को त्याग करे तब कुशल हो अन्यथा कुशल नहीं होती।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे अन्तरप्रसङ्गो नामैकषष्टितमस्सर्गः ६१॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार उन्होंने परस्पर कुशलप्रश्न किया। जब कुछ काल व्यतीत हुआ तब अभ्यास द्वारा उनको निर्मल ज्ञान प्राप्त हुआ और मोक्षपद को प्राप्त हुए। इससे हे रामजी! कल्याण के निमित्त ज्ञान के सिवा और मार्ग कोई नहीं। जिसका चित्त आशारूपी फाँसी से बँधा हुआ है वह संसारसमुद्र से पार नहीं हो सकता। इससे जीव संसारसमुद्र में गोते खाता है और ज्ञानवान् शीघ्र ही ऐसे तर जाता है जैसे गोपद लंघने में सुगम होता है। जैसे जिस पक्षी के पंख टूटे हैं सो समुद्र को नहीं तर सकता बीच में ही गिरके गोते खाता है और गरुड़ पंखों से शीघ्र ही लंघ जाता है; तैसे ही जिन पुरुषों के वैराग्य और अभ्यासरूपी पंख टूटे हैं वे संसारसमुद्र से पार नहीं हो सकते और जिन पुरुषों के वैराग्य और अभ्यासरूपी पंख हैं वे शीघ्र ही तर जाते हैं। हे रामजी! जो देह से अतीत महात्मा पुरुष चिन्मात्रतत्त्व में स्थित हुए हैं वे ऊँचे होकर देखते हैं और अपने देह को देखके हँसते हैं—जैसे सूर्य जनता को देख हँसता है अर्थात् जगत् की क्रिया से निर्लेप रहता है। जैसे रथ के टूटे से रथवाहक को कुछ खेद नहीं होता तैसे ही देह के दुःख से ज्ञानवान् को कदाचित् खेद नहीं होता और मन के क्षोभ से भी आत्मतत्त्व में कुछ क्षोभ नहीं होता। जैसे तरङ्ग पर धूलि पड़ती है तो उससे समुद्र को कुछ लेप नहीं होता तैसे ही मन के दुःख से आत्मा को क्षोभ नहीं होता। हे रामजी! जैसे जल और हंस का और जल और नौका का कुछ सम्बन्ध नहीं तैसे ही देह और आत्मा का कुछ सम्बन्ध नहीं। जैसे पहाड़ और समुद्र का सम्बन्ध नहीं; जैसे जल, पत्थर और काष्ठ एक ठौर रहते हैं परन्तु कुछ सम्बन्ध नहीं और जैसे जल और नौका का संसर्ग होता है तो जलकणके उठते हैं तैसे ही देह और आत्मा के संयोग से चित्तवृत्ति फुरती है। हे रामजी! जीव को दुःख संग से ही होता है। जहाँ अहं मम अभिमान होता है वहाँ दुःख भी होता है और जहाँ अहं मम का अभिमान नहीं वहाँ दुःख भी कुछ नहीं होता। जैसे मछली को जल में ममत्व होता है और उसके वियोग से कष्ट पाती है तैसे ही जिस पुरुष को देह में अहं ममभाव है वह बड़ा कष्ट पाता है और जिसको देह में अभिमान नहीं उसको दुःख नहीं होता। हे रामजी! ज्यों ज्यों मन से संसर्गता निवृत्त होती है त्यों त्यों भोग-प्रवाह कष्ट नहीं देता जैसे जल से पत्थर को कष्ट नहीं होता और जैसे दर्पण में पर्वत का प्रतिबिम्ब होता है सो दर्पण को प्रतिबिम्ब का संग नहीं होता और कष्ट भी नहीं होता तैसे ही जब देह से संसर्गभाव उठ जाता है तब कोई कष्ट नहीं होता। जैसे दर्पण को कुछ कष्ट नहीं होता तैसे ही आत्मा और जगत् की क्रिया है। हे रामजी! सर्वथा संवितमात्र आत्मत्व स्थित है। वह शुद्ध है और द्वैतशब्द के फुरने से रहित है। जो उसमें स्थित है उसको द्वैतशब्द नहीं फुरता और जो अज्ञानी है उसको द्वैतकलना उठती है। हे रामजी! यह सब जीव अदुःखरूप हैं परन्तु अज्ञान से आपको दुःखी जानते हैं। जैसे स्थाणु में चोरभावना अविचार से होती है तैसे ही आत्मा में दुःख की भावना अविचार से होती है। यह जीव अशब्दरूप है परन्तु कलना के वश से आपको सम्बन्धी जानता है। जैसे स्वप्न में अङ्गना बन्धन करती है और स्थाणु में वैताल भासता है और भय प्राप्त होता है तैसे ही अपनी कल्पना से जीव बन्धवान् होता है। हे रामजी! देह और आत्मा का सम्बन्ध असत्य है—जैसे जल और नौका का सम्बन्ध असत्य है। यदि जल का अभाव हो तो नौका को

कुछ चिन्ता नहीं होती और नौका का अभाव हो तो जल को कुछ चिन्ता नहीं; तैसे ही आत्मा और देह का सम्बन्ध असत्य है। जब ऐसे जानकर हृदय संग से रहित हो तब देह का दुःख कुछ नहीं लगता। देह के दुःख में आपको दुःखी मानना; देह से अहंभावना करके आत्मा दुःखी होता है। जब देह में अभिमान को त्याग दे तब सुखी हो। ऐसे बुद्धीश्वर कहते हैं। जैसे जल और पत्थर इकट्ठे रहते हैं परन्तु भीतर संग का अभाव है इससे उन्हें कुछ दुःख नहीं होता तैसे ही हृदय से संगरहित हो तब देह इन्द्रियों के होते भी दुःख का स्पर्श कुछ न हो और निर्दुःख पद में प्राप्त हो। हे रामजी! जिसको देह में आत्माभिमान है उसको जन्ममरण दुःखरूप संसार भी है। जैसे बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है तैसे ही देहाभिमान से सुखदुःखरूप संसार उत्पन्न होता है और संसारसमुद्र में डूबता है। जो हृदय संग से रहित होता है सो संसारसमुद्र के पार हो जाता है। हे रामजी! जिसके हृदय में देहाभिमान है उसके चित्तरूपी वृक्ष में मोहरूपी अनेक शाखा उत्पन्न होती हैं और जिसका हृदय संग से रहित है उसका मोह लीन हो जाता है। उसको चित्तलीन कहते हैं। जिसका चित्त देहादिकों में बन्धवान् है उसको नाना प्रकार का भ्रमरूप जगत् भासता है और जिसका चित्त देहादिकों में बन्धवान् नहीं वह एक आत्मभाव को देखता है जैसे टूटी आरसी में अनेक प्रतिबिम्ब भासते हैं और साजी एक ही प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है; तैसे ही संशययुक्त चित्त में नाना प्रकार का जगत् भासता है और शुद्ध चित्त में एक आत्मा ही भासता है। हे रामजी! जो पुरुष व्यवहार करते हैं और संग से रहित हैं ऐसे निर्मल पुरुष संसार से मुक्त हैं और जो सर्वव्यवहार को त्याग बैठते हैं पर तप भी करते हैं और चित्त आसक्त है सो बन्धन में है। जो हृदय में संग से रहित है वह मुक्त है और अन्तरचित्त किसी पदार्थ में बन्ध है वह बन्ध है। बन्ध और मुक्त का इतना ही भेद है। जिसका हृदय असंग है वह सब कार्यकर्ता भी अकर्ता है। जैसे नट सब स्वाँगों को धरता भी अलेप है तैसे ही वह पुरुष अलेप है। जो हृदय में अभिमान सहित है वह कुछ नहीं करता तो भी करता है। जैसे सर्वव्यवहार त्यागकर जीव शयन करता है और स्वप्न में अनेक सुखदुःख भोगता है तैसे ही वह सब कुछ करता है। चित्त के करने से कर्ता है चित्त के न करने से ही अकर्ता है। शरीर से करना सो करना नहीं और शरीर से न करना सो न करना नहीं। ब्रह्महत्या से भी असंसक्त पुरुष को कुछ पाप नहीं लगता और जो अश्वमेधयज्ञ करे तो कुछ पुण्य नहीं होता। जिसके चित्त से सब आसक्तता दूर हुई है वह पुरुष मुक्तस्वरूप है और धन्य-धन्य है और जिसका चित्त आसक्त है वह बन्ध और दुःखी है। जो पुरुष आसक्तता से रहित है वह आकाश की नाईं निर्मल है और समभाव, एक अद्वैत आत्मतत्त्व में स्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे अन्तरासङ्गविचारो
नाम द्विषष्टितमस्सर्गः ॥ ६२ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! संग किसको कहते हैं? बन्धरूप संग किसको कहते हैं; मोक्षरूप असंग किसको कहते हैं और संग बन्धनों से मुक्त किसका नाम है और किस उपाय से मुक्त होता है वह कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! देह और देही का जो संग है उसका त्याग करो और उसके साथ जो मिलकर करता है और देहमात्र में अपना विश्वास करता है कि इतना ही मैं हूँ; इसी को संग और बन्ध कहते हैं। हे रामजी! आत्मतत्त्व अनन्त है। देहमात्र में अहंभावना से आपको उतना ही मानना और उसमें अभिमान करके सुख की इच्छा करना इसी का नाम बन्ध है और इसी को संग कहते हैं। जिसको यह निश्चय हुआ है कि सर्व आत्मा ही है, मैं किसकी इच्छा करूँ और किसका त्याग करूँ; वह इस असंग से जीवन्मुक्त कहाता है। अथवा न मैं हूँ, न यह जगत् है; सर्वभाव अभाव को त्यागकर अद्वैतसत्ता में स्थित होने का नाम जीवन्मुक्त है। जिसे न कर्मों के त्याग की इच्छा है, न करने की इच्छा है और हृदय से कर्तृत्वभाव नहीं इस संग का जिसने त्याग किया है वह असंग कहाता है। हे रामजी! जिसको आत्मतत्त्व में निश्चय है और जो राग, द्वेष, हर्ष, शोक के वश नहीं होता है वही असंग कहाता है। जिसने सर्व कर्मों का फल यह समझकर

त्याग किया है कि मैं कुछ नहीं करता ऐसा जो मन से त्यागी है वह भी असंगी कहाता है और उसको कोई कर्म बन्धन नहीं कर सकता किंतु दैवी सम्पदा उसको प्राप्त होती है और जो संसक्त पुरुष कर्तृत्व भोक्तृत्व के अभिमान सहित है उसको अनन्त दुःख उत्पन्न होते हैं। जैसे कोई गढ़े में गिरे और उसमें कण्टकों के वृक्ष हों तो उनसे वह कष्ट पाता है तैसे ही संसक्त पुरुष कष्ट पाता है। हे रामजी ! संग के वश से विस्तृत दुःख की परम्परा उत्पन्न होती है—जैसे बबूल के वृक्ष से कण्टक उत्पन्न हों। हे रामजी ! जैसे नासिका में रस्सी डालकर ऊँट, बैल और गधे भार उठाते फिरते हैं और मार खाते हैं तैसे ही संसक्त पुरुष आशारूपी फाँसी से बाँधे हुए दुःख पाते हैं। उसी संसक्तता का फल ऊँटादिक भोगते हैं; इसी प्रकार संसक्तता का फल वृक्ष भोगते हैं; जल में रहते हैं; शीत-उष्ण से कष्टवान् होते हैं और कुल्हाड़े से काटे जाते हैं। पृथ्वी के छिद्र में कीट होते हैं और अङ्गपीड़ा से कष्ट पाते हैं। अन्नादिक उगते हैं; हँसिये से काटे जाते हैं और हृदय में दुःख पाते हैं; फिर बोये जाते हैं और फिर काटते हैं सो संसक्तता का ही फल भोगते हैं; इसी प्रकार जो योनि पाते हैं और कष्टवान् होते हैं सो संसक्त हैं। हरे तृणों को हरिण खाते हैं और बधिक उनको बाण से मारता है तब कष्टवान् होते हैं। जो जीव तुझको दृष्टि आते हैं वे इस प्रकार संसक्तता से बाँधे हुए हैं। संसक्तता भी दो प्रकार की है—एक बन्ध और एक बन्धन करने योग्य। जो तत्त्ववेत्ता है वह वन्दना करने योग्य है। हे रामजी ! जो आत्मतत्त्व से गिरा है और देहादिक में अभिमानी हुआ है वह मूढ़ है और संसार में जन्ममरण को प्राप्त होता है; और जिसको आत्मतत्त्व का ज्ञान हुआ है और निष्ठा है वह वन्दना करने योग्य है, उसको फिर संसार का जन्ममरण नहीं होता। जिसके हाथ में शंख, चक्र, गदा और पद्म हैं; जिसको आत्मतत्त्व में निश्चय है और आत्मतत्त्व में संसक्त है और जो तीनों लोकों की पालना करता है वह वन्दना करने योग्य है। निरालम्ब सूर्य जो आकाश में बिचरता है और सदा स्वरूपनिष्ठ है वह वन्दना करने योग्य है। महाप्रलय पर्यन्त जो जगत् को उत्पन्न करता है; जो सदा शिवस्वरूप में संसक्त है और जो ब्रह्मारूप होकर विराजता है वह वन्दना करने योग्य है। जो लीला से स्त्री को अर्धाङ्ग रखता है, उसके प्रेमरूपी बन्धन से बँधा है; विभूति लगाता है सदा स्वरूप में संसक्त है और शंकरवपु धारकर स्थित है वह वन्दना करने योग्य है। इनसे आदि लेकर सिद्ध, देवता, विद्याधर, लोकपाल जिनकी स्वरूप में संसक्ति है वे सब मुक्तस्वरूप हैं और वन्दना करने योग्य हैं और जो देहादिकों में संसक्त हैं वे बन्ध हैं और जन्म, जरा और मृत्यु पाते हैं और कष्टवान् होते हैं। हे रामजी ! जिनको शरीर में अभिमान है वे यदि बाहर से उदार भी दृष्टि आते हैं परन्तु जब भोगों को देखते हैं तब इस प्रकार गिरते हैं जैसे मांस को देखकर आकाश से चील पखेरू गिरते हैं तो वे वृथा यत्न करते हैं। हे रामजी ! जो संसक्त जीव हैं वे बाँधे हुए हैं; कोई देवतारूप धार स्वर्ग में रहते हैं और कोई मनुष्यलोक में रहते हैं, बहुत से सर्प आदिक होके पाताल में रहते हैं और तीनों लोकों में भटकते फिरते हैं। जैसे गूलर में मच्छर रहते हैं तैसे ही ब्रह्माण्ड में संसक्त जीव रहते और मिट जाते हैं। कालरूपी बालक का जीवरूपी गेंद है, वह उसे कभी नीचे को उछालता है और कभी ऊपर को उछालता है। हे रामजी ! जो कुछ जगत् है वह सब असत्यरूप है। मनरूपी चितेरे ने संगरूपी रङ्ग से शून्य आकाश में जो देहादिक जगत् लिखा है वह सब असत्यरूप है जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजते और मिट जाते हैं तैसे ही जीव ब्रह्माण्ड में उपजते रहते हैं। जिसका मन देहादिक में संसक्त है वह तृष्णारूपी अग्नि से तृणों की नाईं जलता है। हे रामजी ! जो संसक्त पुरुष है उसके शरीर पाने की कुछ संख्या नहीं। मेरु के शिखर से लेकर चरणों पर्यन्त यदि गङ्गा का प्रवाह चले तो उसके कणके चाहे गिने जा सकें परन्तु संसक्त जीव के शरीर की संख्या नहीं हो सकती जो कुछ आपदा है वह उनको प्राप्त होती है। जैसे समुद्र में सब नदियाँ प्राप्त होती हैं तैसे ही सब आपदा उसको प्राप्त होती हैं। हे रामजी ! जो देहाभिमानी सदा विषयों का सेवन करते हैं वे रौरव, कालसूत्र आदिक नरकों में जलेंगे और जो कुछ दुःख के स्थान हैं वे सब उनको प्राप्त होंगे। जो असंग संगती चित्त हैं उन पुरुषों को सब विभूति प्राप्त होती

हैं। जैसे वर्षाकाल में नदियाँ जल से पूर्ण होती हैं और मानसरोवर में सब हंस आन स्थित होते हैं तैसे ही असंसक्तचित्त पुरुष को दैवी सम्पदा प्राप्त होती हैं। जिस पुरुष को देहाभिमान बढ़ जाता है उसे विष की नाईं जानो और जिसका देहाभिमान घट जाता है उसको अमृतरूप जानो। विष ज्यों-ज्यों बढ़ता है त्यों-त्यों मारता है और अमृत ज्यों-ज्यों बढ़ता है त्यों-त्यों अमर होता है। हे रामजी! जो पुरुष देहाभिमान को त्यागकर स्वरूप में संसक्त होता है वह सुखी होता है और जिसके हृदय में दृश्य का संग है उसको यह संसक्तरूपी अङ्गार जलावेगा। जिसके हृदय में संग नहीं वह असंगरूपी अमृत से सुखी होवेगा और चन्द्रमा की नाईं शीतल मुक्तरूप होगा उसका अविद्यारूपी विसूचिका रोग नष्ट होकर वह शान्तरूप होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे संसक्तविचारो
नाम त्रिषष्टितमस्सर्गः ॥ ६३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह जो मैंने तुमको उपदेश किया है इसको विचार करके अभ्यास करो और सर्वदाकाल सर्वस्थान और सर्व कर्मों के कर्त्ता चित्त को देहादिक में मत संसक्त कर केवल आत्मचेतन में स्थित करो। हे रामजी! किसी वस्तु को सत्य जानके चित्त न लगाओ। न आकाश में, न अधः में, न ऊर्ध्व में, न दिशा में, न बाहर, न भीतर, न प्राण में, न उर में, न मूर्धा में, न तालु में, न भौंह के मध्य में, न नासिका में, न जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में, न तम में, न प्रकाश में, न श्याम में, न रक्त में, न पीत में, न श्वेत में, न स्थिर में, न चल में; न आदि में, न अन्त में, न मध्य में, न दूर में, न निकट में, न चित्तादि अन्तःकरण में, न शब्द में, न स्पर्श, रूप, रस, गन्ध में और न कलना, अकलना में, चित्त लगावे। सब ओर से चित्त को रोककर चेतनतत्त्व में विश्राम करो द्वैत को लेकर चेतनतत्त्व का आश्रय न करो। हे रामजी! जब सबसे निराश होगे और आत्मतत्त्व में स्थित होगे तब विगतसंग होगे और जीव का जीवत्व चला जावेगा, केवल चिदात्मा होकर स्थित होगे। तब सब व्यवहार करो अथवा न करो, करते भी अकर्ता होगे अथवा इसका भी

त्याग करो, केवल चिदानन्द शान्तरूप जो तत्त्व है उसमें स्थित हो तब अद्वैतरूप तत्त्व स्वाभाविक भासेगा। जैसे बादलों के दूर हुए सूर्य स्वाभाविक भासता है तैसे ही फुरने से रहित होने से चेतनतत्त्व भास आवेगा और जैसे प्रकाशरूप चिन्तामणि स्वाभाविक भासि आती है तैसे ही आत्मप्रकाश स्वाभाविक भास आवेगा। फिर जो कुछ क्रिया तुम करोगे वह सब फलदायक न होगी। जैसे कमल को जल नहीं स्पर्श करता तैसे ही तुमको क्रिया न स्पर्श करेगी और चित्त आत्मगति निर्वाणरूप होगा और क्रियाकर्ता भी अकर्ता रहोगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे शान्तसमाचारयोगोपदेशो
नाम चतुःषष्टितमस्सर्गः ॥ ६४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! असंसक्त पुरुष ध्यान करे अथवा व्यवहार करे वह सदा ध्यान में स्थित और शोक से रहित है। बाहर से यदि वह क्षोभमान दृष्टि आता है परन्तु हृदय उसका सर्वकलना से रहित है और वह सम्पूर्ण लक्ष्मी से शोभता है। हे रामजी! जिस पुरुष का चित्त चैत्य से रहित अचल है सो विगतज्वर है, उसको कुछ दुःख स्पर्श नहीं करता। जैसे जल कमलों को स्पर्श नहीं करता और औरों को निर्मल करता है और जैसे निर्मली मलीन जल को निर्मल करती है तैसे ही वह जगत् को निर्मल करता है। जो आत्मतत्त्व में लीन है सो क्षोभमान भी दृष्टि आता है परन्तु क्षोभ उसे कदाचित् नहीं। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब क्षोभमान दृष्टि आता है परन्तु सूर्य को कदाचित् क्षोभ नहीं; तैसे ही ज्ञानवान् का चित्त क्षोभायमान दृष्टि आता है पर क्षोभ उसे कदाचित् नहीं। हे रामजी! आत्मारामी पुरुष बाहर से मोर के पुच्छवत् चञ्चल भी दृष्टि आता है परन्तु हृदय से सुमेरु पर्वत की नाईं अचल है जिनका चित्त आत्मपद में स्थित हुआ है उनको सुखदुःख अपने वश नहीं कर सकते। जैसे स्फटिक को प्रतिबिम्ब का रङ्ग नहीं चढ़ता तैसे ही ज्ञानवान् को सुख दुःख का रङ्ग नहीं चढ़ता। जिस पुरुष को परावर ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ है उसका चित्त रागद्वेष से रञ्जित नहीं होता। जैसे आकाश में बादल दृष्टि आता है परन्तु आकाश को स्पर्श नहीं करता तैसे ही ज्ञान-

वान् के चित्त को रागद्वेष स्पर्श नहीं करते। जो आत्मध्यानी है और जो परमबोध का साक्षात्कार होकर कलनामल से मुक्त हुआ है वह पुरुष असंसक्त कहाता है। हे रामजी ! जो आत्मारामी पुरुष है उसको आत्मज्ञान के अभ्यास से संसक्तता निवृत्त हो जाती है अन्यथा संसक्तभाव निवृत्त नहीं होता। जब चित्त परिणाम आत्मा की ओर होगा—जैसे चन्द्रमा परिणाम के वश से अमावस्या को सूर्यरूप हो जाता है तब चित्त दृढ़ परिणाम के वश से आत्मारूप हो जावेगा। जब चित्त चैत्यभाव से हीन होता है तब क्षीणचित्त कहाता है और शान्त कलना कहाता है। तब जाग्रत् भी सुषुप्तिरूप हो जाता है। उस अवस्था में जो कुछ क्रिया करता है सो फल का आरम्भ नहीं होती, क्योंकि वह तो निरहंकार हो जाता है। जैसे यन्त्री की पुतली अहंकार से रहित चेष्टा करती है और संवेदन से रहित है उसको कोई दुःख नहीं होता; तैसे ही निरहंकार निःसंवेदन पुरुष निर्दुःख और निर्लेप कहाता है। हे रामजी ! इष्ट-अनिष्ट; भाव-अभावरूपी जगत् चित्त में होता है। जब चित्त आत्मभाव को प्राप्त हुआ तब किससे किसको बन्धन हो तब तो सर्व आत्मतत्त्व होता है। जैसे नट सर्व स्वाँग को धारता है और अपना अभिमान किसी में नहीं करता तैसे ही सुषुप्ति बोध पुरुष जगत् की क्रिया करता है और बन्धवान् नहीं होता; जीवन्मुक्त होकर स्थित होता है। हे रामजी ! सुषुप्ति बोध का आश्रय करके जगत् की क्रिया करो पर क्रिया, कर्म, कर्ता त्रिपुटी की भावना से रहित हो तब तुमको कुछ दुःख न होगा ग्रहण और त्याग में अभिमान न होगा यथाप्राप्त में स्थित होगे। सुषुप्तिबोध में जो स्थित है सो कर्ता हुआ भी कुछ नहीं करता। ऐसे निश्चय को धार करके जैसे इच्छा हो तैसे करो। हे रामजी! ज्ञानवान् की चेष्टा बालकवत् होती है जैसे बालक अभिमान से रहित पालने में अङ्गों को हिलाता है तैसे ही ज्ञानवान् अभिमान से रहित कर्म करता है और फल का स्पर्श उसे नहीं होता। जब चित्त अचित्तरूप हो जाता है तब जाग्रत् जगत् सुषुप्तिरूप हो जाता है और जो कुछ क्रिया करता है वह स्पर्श नहीं करती। हे रामजी ! जब जगत से सुषुप्ति दशा होती है तब हृदय शीतल हो जाता है; रागद्वेष कुछ नहीं फुरते और आत्मानन्द से पूर्ण होता है और जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा शोभता है तैसे ही वह शोभता है। जो सुषुप्तिबोध में स्थित है वह महातेजवान् होता है और आत्मानन्द से पूर्ण चन्द्रमा की नाईं हो जाता है। हे रामजी ! जो पुरुष सुषुप्तिबोध में स्थित है वह संसार के किसी क्षोभ से चलायमान नहीं होता—जैसे पर्वत सर्वदा काल में क्षोभायमान नहीं होता और भूकम्प में सब वृक्षादिक चलायमान होते हैं पर अस्ताचल पर्वत कम्पायमान नहीं होता; तैसे ही ज्ञानवान् चलायमान नहीं होता। जैसे पर्वत सब काल में सम रहता है और तरु गके गिर पड़ता है पर्वत ज्यों का त्यों रहता है तैसे ही ज्ञानवान् अनेक प्रकार की क्रिया में सम रहता है। हे रामजी ! ऐसी सुषुप्तिदशा अभ्यासयोग से प्राप्त होती है। जब यह दशा प्राप्त होती है तब उसको तत्त्ववेत्ता तुरीयापद कहते हैं सो परमानन्दरूप है उसमें सब दुःख नष्ट हो जाते हैं और असंसक्त हो जाता है। जब मन का मननभाव निवृत्त हो जाता है तब ज्ञानवान् को परम सुख उदय होता है और उससे वह परमानन्द हो जाता है। जो इस संसाररचना को लीलारूप देखता है और सर्वशोक से रहित निर्भय होता है उससे संसारभ्रम दूर हो जाता है। जब तुरीयापद में प्राप्त होता है तब संसार में फिर नहीं गिरता। जो ज्ञानवान् पुरुष परमपावनपद में स्थित हुए हैं वे संसार की अवस्था को देखकर हँसते हैं। जैसे पहाड़ पर बैठा पुरुष नगर को जलता देखकर हँसता है तैसे ही ज्ञानवान् आत्मानन्द को पाकर संसार के कार्यों में दुःख जानकर हँसता है। हे रामजी ! तुरीया अवस्था में स्थित होने से अविनाशी होता है और आनन्दरूप आनन्दबोध से आनन्दित है। जब ऐसे तुरीयातीतपद को प्राप्त होता है तब जन्ममरण के बन्धन से मुक्त होता है और अभिमान आदिक कलना से रहित परमज्योति में लीन होता है। जैसे नमक की गोली समुद्र में जलरूप हो जाती है तैसे ही वह आत्मरूप हो जाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे संसक्तिचिकित्सा
नाम पञ्चषष्टितमस्सर्गः ॥ ६५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जब तक तुरीयापद में स्थित रहता है तब तक केवल जीवन्मुक्त होता है और इससे उपरान्त विदेहमुक्त तुरीयातीत है सो वाणी का विषय नहीं। जैसे आकाश को भुजा से कोई नहीं पकड़ सकता तैसे ही तुरीयातीत वाणी का विषय नहीं। तुरीया विगत से विश्रान्त दूर है विदेह मुक्त से पाता है। अब तुम कुछकाल ऐसी अवस्था में स्थित हो रहो, फिर परमानन्दपद में स्थित होना। हे रामजी ! तुरीयावस्था में जो स्थित हुआ है वह निर्द्वन्द्वभाव को प्राप्त हुआ है। जब तुम अद्वैत दृष्टिरूप सुषुप्ति अवस्था में स्थित होगे तब जगत् के कार्य भी करते रहोगे और सदा पूर्ण रहोगे और तुमको उदय-अस्त का भाव कदाचित् न प्राप्त होगा। जैसे मूर्ति का लिखा चन्द्रमा उदय-अस्त को नहीं प्राप्त होता है तैसे ही तू उदय अस्तभाव को न प्राप्त होवेगा। हे रामजी ! इस शरीर को अपना जानकर जीव रागद्वेष से जलता है और जिस पदार्थ का सन्निवेश होता है उसके नष्ट हुए नष्ट हो जाता है। जैसे मृत्तिका का अन्वय घट में होता है पर घट के नाश हुए मृत्तिका का नाश नहीं होता तैसे ही तुम भ्रम को मत अङ्गीकार करो। तुम सदा ज्यों के त्यों हो तुम्हारा सन्निवेश इसमें कुछ नहीं। इससे ज्ञानवान् देह के नाश हुए शोकवान् नहीं होता और देह के स्थित हुए सुखी भी नहीं होता, क्योंकि उसका देह के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं। जो तत्त्वदर्शी पुरुष है वह यथाप्राप्ति में निर्दोष होकर बिचरता है और अभिमानादिक विकारों से रहित निर्मल आकाशवत् है। जैसे शरत्काल की रात्रि में चन्द्रमा से आकाश निर्मल होता है तैसे ही मन की वृत्ति विकारों से रहित होकर आत्मपद में स्थित होती है–संसार की ओर नहीं गिरती। जैसे योग, मन्त्र, तप और सिद्धि से सम्पन्न पुरुष आकाश में उड़ता जाता है वह फिर पृथ्वी पर नहीं गिरता। हे रामजी! तुम भी अपने प्रकृतभाव में स्थित होकर यथाप्राप्त क्रिया को करते निर्द्वन्द्व रहो। तुम भी अब स्वरूप के ज्ञाता हुए हो और परमपद में जागकर अपने स्वरूप को प्राप्त हुए हो इससे पृथ्वी में विशोकवान् होकर बिचरो तब अनिच्छा से इच्छा को त्यागकर शीतल, प्रकाश, अन्धकार, तप्त और मेघ से रहित शरत्काल के आकाशवत् निर्मल शोभोगे। हे रामजी! यह जगत्

दानन्दस्वरूप है और आदि अन्त से रहित है। जो अहं त्वं आदिक भ्रम रहित है उसमें स्थित हो। आत्मा केवल अव्यक्त और चिन्तना से रहित उसका शरीर के साथ सम्बन्ध कैसे हो ? आत्मा आदिक नाम भी देश व्यवहार के लिये कल्पे हैं; वह तो नामरूप भेद और भय से रहित नन्दपद है और वही जगत्‌रूप होकर स्थित हुआ है–जगत् कुछ भिन्न स्तु नहीं। जैसे जल तरङ्गरूप हो भासता है सो जल से भिन्न नहीं; तैसे ही त्मा से भिन्न जगत् नहीं और जैसे समुद्र सब जलरूप है जल से कुछ न्न नहीं; तैसे ही सब जगत् आत्मरूप है भिन्न नहीं। जैसे जल और ङ्ग में भेद नहीं और पट और तन्तु में भेद नहीं तैसे ही ब्रह्म और जगत् भेद नहीं। हे रामजी ! द्वैत कुछ वस्तु है नहीं, परन्तु मैं तेरे उपदेश निमित्त द्वैत अङ्गीकार करके कहता हूँ। यह जो शरीर है उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं। जैसे धूप और छाया का सम्बन्ध नहीं होता और काश और तम इकट्ठे नहीं होते; तैसे ही आत्मा और देह का सम्बन्ध हीं। देह जड़ और मलीन है और दृश्य असत्य है; आत्मा निर्मल, चेतन सत्य है तो उसका देह से सम्बन्ध कैसे हो? जैसे शीत और उष्ण का स्पर विरोध है तैसे ही आत्मा और देह का सम्बन्ध नहीं। जैसे वन में ग्नि लगने से जन्तु जलते हैं तैसे ही भ्रम दृश्यरूप देह में अहंभाव करके जलते हैं। हे रामजी ! जैसे दावाग्नि में कुबुद्धि नर जलबुद्धि तैसे ही अज्ञानी देह में आत्मबुद्धि करते हैं। जैसे मरुस्थल में सूर्य किरणों में जल भासता है तैसे ही आत्मा में देहभाव रखते हैं। हे मजी ! चिदात्मा निर्मल, नित्य और स्वयंप्रकाश है और देह मलीन अस्थि, मांस और रक्तमय है, इसके साथ आत्मा का सम्बन्ध कैसे हो? त्मा में देह का अभाव है–केवल एक अद्वैततत्त्व अपने आपमें स्थित है उसमें द्वैतभ्रम कैसे हो ? हे रामजी! स्वरूप से न कोई बन्ध है न कोई मुक्त है, सर्वसत्ता एक आत्मतत्त्व स्थित है और भीतर बाहर वही है। मैं सुखी हूँ; मैं दुःखी हूँ; मैं मूढ़ हूँ इस मिथ्यादृष्टि को दूर से गो और आपको केवल आत्मरूप जानकर स्थित हो। यह दृश्य मदुःख देनेवाला है और इसमें दुःख प्राप्त होवेगा। जैसे तृण और

पहाड़ की, और पट और पत्थर की एकता नहीं होती तैसे ही आत्मा और शरीर की एकता नहीं होती। जैसे तम और प्रकाश का संयोग नहीं होता तैसे ही देह और आत्मा का संयोग नहीं होता और दोनों तुल्य भी नहीं होते। जैसे शीत और उष्णता और जड़ और चेतन की एकता नहीं होती तैसे ही शरीर और आत्मा की एकता नहीं होती। हे रामजी ! शरीर जो चलता, बोलता है सो वायु के बल से चलता-बोलता है। आठ स्थानों में वायु के बल से, अक्षरों का उच्चार होता है—उर, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ, तालु यही आठ स्थान हैं। क, ख, ग और घ—इन चारों का उच्चार कण्ठ में होता है; च, छ, ज और झ—इन चारों का तालु स्थान में उच्चार होता है; ट, ठ, ड और ढ—इन वर्गों का मूर्धा में उच्चार होता है; त, थ, द और ध—इनका दाँतों में उच्चार होता है; प, फ, ब, भ और म—इन पाँचों का ओष्ठों में उच्चार होता है और ङ, ञ,न और ण—इनका नासिका में उच्चार होता है। जिह्वामूल का जिह्वा में उच्चार होता है और जिस पद के आदि हकार हो वह हृदय से बोला जाता है। आठों स्थानों में इन वर्गों का वायु से उच्चार होता है और सूक्ष्म नवस्वर का उच्चार होता है पर आत्मा इनसे निर्लेप होता है। जैसे बाँसुरी वायु से शब्द करती है तैसे ही इन पाँचतत्त्वों से शब्द होता है; इनमें आत्माभिमान करना महामूर्खता है। नेत्रादिक इन्द्रियाँ भी वायु से चेष्टा करती हैं; इससे इस भ्रम को त्यागकर आत्मपद में स्थित हो—आत्मा आकाशवत् सबमें पूर्ण है। जैसे आकाश सब ठौर में पूर्ण है परन्तु जहाँ आदर्श होता है वहाँ प्रतिबिम्ब होकर भासता है तैसे ही आत्मा सब ठौर में पूर्ण है परन्तु जहाँ हृदय होता है वहाँ भासता है। हे रामजी ! जहाँ वासना से चित्तरूपी पक्षी जाता है वहाँ आत्मा को ऐसा अनुभव होता भासता है कि मैं यहाँ हूँ। जैसे जहाँ पुष्प होता है वहाँ सुगन्ध भी होती है; तैसे ही जहाँ चित्त होता है वहाँ अहंभाव भी होता है। जैसे आकाश सब ठौर में है परन्तु जहाँ प्रतिबिम्ब होता है वहाँ भासता है और जैसे जल सब पृथ्वी में है परन्तु भासता वहीं है जहाँ खोदा जाता है तैसे ही आत्मा सब ठौर पूर्ण है परन्तु भासता वहीं है जहाँ चित्त है। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब सब ठौर है परन्तु जहाँ आदर्श अथवा जल है वहाँ भासता है तैसे ही आत्मा जहाँ तहाँ पूर्ण है परन्तु शुद्ध हृदय में भासता है। आत्मा का प्रतिबिंब चित्त ही में भासता है और वह चित्त आत्मा की सत्ता से जगत् रचना फैलाता है व जैसे सूर्य की किरणें धूप को फैलाती हैं। हे रामजी ! भूतों का कारण अन्तःकरण ही है; आत्मतत्त्व तो अतीत है; आदिकारण नहीं है वास्तव में कारण है। जगत् जो सत् भासता है सो अविचार से भासता है। उसी के निवृत्त का उपाय आत्मज्ञान है। हे रामजी ! संसार का कारण अन्तःकरण है और असम्यक्ज्ञान से सत्यरूप भासता है जैसे मरुस्थल में असम्यक्ज्ञान से जल भासता है। जब यथार्थ ज्ञान होता है तब जगत् का कारण चित्त से नष्ट हो जाता है। जैसे दीपक के प्रकाश से अन्धकार नष्ट हो जाता है तैसे ही आत्मज्ञान से चित्त नष्ट हो जाता है। संसार का कारण अपना चित्त ही है इसी का नाम जीव, अन्तःकरण, चित्त और मन है। रामजी ने पूछा, हे महाआनन्द के देनेवाले ! इतनी संज्ञा चित्त की कैसे हुई हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! सर्वभावरूप एक परमात्मतत्त्व है। जैसे समुद्र, नदियाँ, तरङ्गादि संज्ञा एक जल ही धरता है तैसे ही चित्तादिक अनेक संज्ञा को आत्मा धारता है पर सदा एकरूप है; संवेदन फुरने से अनेक रूप धरता है। जैसे एक जल कहीं तरङ्ग, कहीं बुद्बुदे, कहीं जल, कहीं चक्र और कहीं स्थिर—इतनी संज्ञा को धारता है परन्तु सबही जलरूप है तैसे ही सर्वशक्ति आत्मा सब शरीरों में सर्वरूप होता है। जब स्पन्दकलना दूर होती है तब शुद्धस्वरूप हो भासता है और जहाँ अज्ञानरूप संसरने को अङ्गीकार करता है तहाँ वही अनन्त आत्मा जीव कहाता है। जैसे केसरी सिंह पिंजड़े में फँसता है तैसे ही यह जीवरूप होता है। हे रामजी ! जहाँ अहंभाव फुरता है वहाँ जीव कहाता है; जहाँ निश्चय वृत्ति से फुरता है उसको बुद्धि कहते हैं; संकल्पविकल्प से मन, चिन्ता करने से चित्त, और प्रकृतिभाव से प्रकृति कहाता है। हे रामजी ! प्रकृतिरूप जो पदार्थ है वह जड़ कहाता है और चेतन है सो जीव कहाता है। जड़ जो दृश्यभाव में संवित्भाग है और अजड़ जो जीव

अहं सो द्रष्टाभाव से सिद्ध होता है; इनके जो मध्य है सो परमात्मतत्त्व है सो नानारूप हो भासता है। बृहदारण्यउपनिषद् और वेदान्तशास्त्रों में बहुत प्रकार से जीव का रूप कहा है। इससे भिन्न संज्ञा शास्त्रकारों ने कल्पना कर कही है सो वृथा कल्पना है। जब तक अहंभाव से चित्त संसरता है तबतक जगत्भ्रम होता है—जैसे जब तक सूर्य है तब तक प्रकाश होता है और जब सूर्य अस्त होता है तब प्रकाश जाता रहता है तैसे ही जब चित्त का अभाव हुआ तब जगत्भ्रम जाता रहता है। देह में आत्मबुद्धि करनी महामूर्खता है, क्योंकि यह अधःऊर्ध्वसंयोग है जो आत्मा का ऐसा संयोग न हो तो देह के नाश हुए आत्मा भी नष्ट हो जावे, पर देह के नाश हुए आत्मा का तो नाश नहीं होता। जैसे वृक्ष के पत्तों के नाश हुए वृक्ष का नाश नहीं होता और घट के नाश हुए आकाश का नाश नहीं होता तैसे ही शरीर के नाश हुए आत्मा का नाश नहीं होता। जैसे पुरातन वस्त्र को त्यागकर पुरुष नूतन वस्त्र पहिरता है तैसे ही आत्मा पुरातन शरीर को त्यागकर नूतन शरीर अङ्गीकार करता है। इसी का नाम मूर्ख मृत्यु कहते हैं, पर शरीर के नाश हुए आत्मा का नाश तो नहीं होता। हे रामजी! जिसका चित्त निर्वासनिक हुआ है उसका शरीर जब छूटता है तब उसका चित्त चिदाकाश में लीन हो जाता है और जिसका चित्त वासना सहित है वह एक शरीर को त्यागकर और शरीर पाता है। जो देह के नाश हुए अपना नाश मानता है वह मूर्ख है—जैसे स्थाणु में अज्ञान से वैताल भासता है और जैसे माता के स्तनों में मूर्ख बालक को वैताल भासता है तैसे ही अज्ञान से आत्मा में मृत्यु भासती है जो इसका अनात्मत्व नाश हो अर्थात् चित्त नाश हो जावे और फिर न फुरे तो आनन्द हो। जो शरीर के नाश हुए आत्मा का नाश कहते हैं वे मूढ़ हैं और मिथ्या कहते हैं। जैसे कोई देश से देशान्तर जाता है तो उसका अभाव नहीं होता तैसे ही एक शरीर को त्यागकर और शरीर को प्राप्त होता है तो आत्मा का नाश नहीं होता। जैसे जल में तरङ्ग फुरके फिर लीन होकर और ठौर में जा फुरते हैं तैसे ही आत्मा एक शरीर को त्यागकर और को धारता है। जैसे पक्षी उड़ता-उड़ता दूर जाता

है तब दृष्टि नहीं आता परन्तु नाश नहीं होता तैसे ही शरीर के नाश हुए आत्मा और ठौर प्रकट होता है नाश नहीं होता। हे रामजी! वासना के वश से यह जीव एक शरीर को त्यागकर और शरीर को प्राप्त होता है। इसी प्रकार वासना के अनुसार जीव फिरता है। वासनारूपी रस्सी से बँधा जीवरूपी वानर शरीररूपी स्थानों में भटकता है और कभी ऊर्ध्वलोक और कभी मनुष्यलोक में घटीयन्त्र की नाईं भ्रमता है। हे रामजी! जीव के हृदय में जो वासना होती है उसी से जरा, मृत्यु, जन्म आदि का दुःख पाता है और कर्मरूपी भार उठाकर कभी स्वर्ग, कभी पाताल और कभी मध्यस्थान में जाता है, शान्ति कदाचित् नहीं पाता। इससे हे रामजी! अविद्यारूपी जो संसार है इसको भ्रमरूप जानकर इसकी वासना को त्याग करो और अपने स्वरूप में स्थित हो। इतना कहकर बाल्मीकिजी बोले कि इस प्रकार जब वशिष्ठजी ने कहा तब सूर्य अस्त हुआ तो सब सभा स्नान के निमित्त उठी और परस्पर नमस्कार करके अपने-अपने स्थान को गये फिर रात्रि बिता के सूर्य की किरणों के निकलते ही आ बैठे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे संसारयोगोपदेशो नाम
षट्षष्टितमस्सर्गः ॥ ६६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! आत्मा देह के उपजे से नहीं उपजता और नाश हुए से नष्ट नहीं होता इसलिये तुम निष्कलङ्क आत्मा हो; तुमको देह के साथ सम्बन्ध कदाचित् नहीं। जैसे कुञ्ज में फूल और फल और घट में घटाकाश होता है सो परस्पर भिन्नरूप होते हैं, एक के नाश हुए दूसरे का नाश नहीं होता; तैसे ही देह के नाश हुए आत्मा का नाश नहीं होता। जो देह के नाश में अपना नाश मानता है वह मूर्ख जड़ है; उस अर्धचेतना को धिक्कार है। हे रामजी! जैसे रथ, रस्सी और घोड़े का स्नेह से रहित संयोग होता है तैसे ही शरीर और इन्द्रियों का संयोग है। हे रामजी! रथ टूटे से जैसे रथवाहक की हानि नहीं होती तैसे ही देह और इन्द्रियों के नाश हुए आत्मा का नाश नहीं होता। जैसे पृथ्वी और पहाड़ पर जल के प्रवाह का संयोग होता है और वियोग भी होता है

सो एक के नाश हुए से दूसरे का नाश नहीं होता तैसे ही देह और इन्द्रियों का संयोग है पर इनके नाश हुए आत्मा का नाश नहीं होता जैसे स्थाणु में वैताल भासता है और भयवान् होता है तैसे ही देह में अहंभाव से राग, द्वेष, सुख, दुःख पाता है। जैसे एक काष्ठ की अनेक पुतली होती हैं सो काष्ठ से इतर कुछ नहीं हैं तैसे ही जो कुछ शरीर है वह पञ्चभूतों का है, पञ्चभूतों से भिन्न कुछ वस्तु नहीं। जब यह पञ्चभूतों का शरीर पञ्चभूतों में लीन होता है तब उसको मृतक हुआ कहते हैं। यह आश्चर्य है, जो प्रत्यक्ष पञ्चभूतों का शरीर है उसमें आत्मभावना श्वान करते हैं और फिर हर्ष और शोक को प्राप्त होता है इसी से मूर्ख है। हे रामजी! न कोई पुरुष है और न कोई स्त्री है पर इनके निमित्त मूढ़ रुदन करते हैं। जैसे मृत्तिका के हाथी घोड़ा आदिक खिलौने विचित्र रचना होती है और उसकी प्राप्ति में अज्ञानी बालक तुष्टवान् और खेदवान् होता है तैसे ही अज्ञानी पञ्चभौतिक रचना देखकर उसकी प्राप्ति में राग द्वेष करता है ज्ञानवान् को सब भूत पदार्थ भ्रांतिमात्र भासते हैं। जैसे माटी के खिलौनों को आपस में मिलने से रागद्वेष कुछ नहीं होता तैसे ही बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन से आत्मा की जो असंगता है इससे राग द्वेष नहीं रहता। जैसे पाषाण की पुतलियाँ मिलती हैं तो उनको स्नेहबन्धन कुछ नहीं होता तैसे ही देह, इन्द्रियाँ, प्राण और आत्मा का आपस में संग बुद्धि से रहित है। इससे तुम स्नेह से रहित हो रहो; शोक काहे को करते हो। जैसे तृण और जल के तरङ्ग का संयोग होता है तो तृण इधर उधर जाता है और जल को कुछ हर्ष शोक नहीं होता तैसे ही देह और आत्मा का योग है इनके मिलाप और बिछुरे का वास्तव से दुःख सुख कुछ नहीं होता। आत्मा और अनात्मा, देह, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि आदिक विलक्षण हैं और परस्पर इनके क्षय और उदय में हर्ष शोक कुछ नहीं परन्तु चित्त के उदय से अनात्मधर्म आत्मा में प्रतिबिम्बित भासता है। तुम तत्त्वबोध करके चित्त को त्याग करके अपने स्वरूप में स्थित हो—जैसे जल तरङ्गभाव को त्यागकर अपने स्थिर स्वभाव को प्राप्त होता है। जब तुम अपने अक्षोभभाव को प्राप्त होगे तब भौतिक देह से आपको भिन्न जानोगे। जैसे वायुमण्डल को प्राप्त हुआ पक्षी पृथ्वीमण्डल को भी देखता है तैसे ही तुम आत्मपद में स्थित होकर देहादिक भूतों को देखोगे। हे रामजी! तुम देहादिकभूतों को देखके त्याग करो और तुरीयातीत अजन्मा पुरुष हो रहो तब तुम परम प्रकाश को पावोगे। जैसे सूर्यकान्त मणि सूर्य के उदय हुए परम प्रकाश को प्राप्त होता है तैसे ही जब बोध करके द्रष्टा, दर्शन, दृश्यभाव तुम्हारा जाता रहेगा तब तुम अपने भाव को ज्यों का त्यों जानोगे। जैसे मनुष्य मद्य से मत्त हो जाता है और मद्य के उतरे से आपको ज्यों का त्यों जानता है और मद्य को स्मरण करता है तैसे ही स्मरण करोगे। आत्मतत्त्व का जो स्पन्द फुरना हुआ है उसी का नाम चित्त है सो अवस्तुरूप है। जैसे समुद्र में तरङ्ग उदय होते हैं सो कुछ वस्तु नहीं, भ्रान्तरूप हैं। इस प्रकार जानकर महाबुद्धिमान् वीतराग निष्पापरूपी जीवन्मुक्त हुए हैं और महाशान्तपद की प्राप्ति में बिचरते हैं। जैसे रत्नमणि की किञ्चन कुछ वस्तु नहीं तैसे ही चित्तादिक कुछ वस्तु नहीं, भ्रान्तरूप हैं। इस नाना प्रकार की लहर होती है सो मननकलना के सहित यह चमत्कार है तैसे ही मनुष्यों में जो ज्ञानवान् उत्तम पुरुष हैं उनका व्यवहार कलना से रहित होता है जैसे कूप में प्रतिबिम्ब पड़ता है और आकाश में धूलि उड़ती भासती है पर आकाश मलिन नहीं होता तैसे ही ज्ञानवान् पुरुष अपने व्यवहार में कर्तृत्व के अभिमान को नहीं प्राप्त होता जैसे मेघ के आने जाने से समुद्र को रागद्वेष नहीं होता तैसे ही आत्मा ज्ञेय पुरुष को भोगों के आने जाने में राग द्वेष नहीं होता। हे रामजी! जिस मन में जगत् के किसी पदार्थ की मननवासना नहीं फुरती उस चित्त में जो कुछ फुरना भासता है सो विलासस्वरूप जानो वह उसको बन्धन का कारण नहीं होता और जिस चित्त में अहं त्वं आदिक जगत् की भावना है परन्तु हृदय मे उसकी सत्य बुद्धि है उससे वह दृश्य, द्रष्टा और दर्शन सम्बन्ध तीनों कालों संयुक्त जगत् को फैलावेगा। जो कुछ दृश्य है वह असतरूप है और जो सत्य है सो एक अव्यक्तरूप है। उसका आश्रय करके अलेप हो तब हर्ष शोक की दशा कहाँ है? जो कुछ दृश्यजगत्

भासता है वह सब असत्रूप है और जो सत्य है वह सदा ज्यों का त्यों है। असत्रूप दृश्य के निमित्त तुम क्यों वृथा मोह को प्राप्त होते हो असम्यक् दर्शन को त्यागकर सम्यक्दर्शी हो। हे सुलोचन, रामजी ! जो सम्यक्दर्शी हैं वे मोह को नहीं प्राप्त होते दृश्य और दर्शन इन्द्रियों के साक्षित्वसम्बन्ध में अर्थात् विषयेन्द्रिय के साक्षिरूप आनन्द का जिसे सुख है वह परब्रह्म कहाता है और अनुत्तम सुख से जो उस संवित् में स्थित है वह ज्ञानवान् है उसको मोक्ष प्राप्त है। जो दृश्य दर्शन के मिलने में स्थित होता है उस अज्ञानी को वह संवित् संसारभ्रम दिखाती है। दृश्य-दर्शन में जो अनुभवसत्ता है वह सुख आत्मरूप है, जो दृश्य के साथ लगा है वह बन्ध है और जो दृश्य से मुक्त हो चैतन्य संवित् में स्थित है वह मुक्त कहाता है। हे रामजी ! दृश्य-दर्शन के मध्य जो संवित है वह अनुभवरूप है; उस संवित् का आश्रय करके जो दृश्य-दर्शन से मुक्त है वह संसारसमुद्र से तरेगा। यह सुषुप्तिवत् अवस्था है; इसको प्राप्त हुआ परम प्रकाश को प्राप्त होता है और इसी को मुक्त कहते हैं। जो दृश्य दर्शन से मुक्त है वह मुक्त कहाता है और जो दृश्य दर्शन के साथ बँधा है वह बन्ध है। अन्य सबों का अनुभव करनेवाला आत्मा है, वह न स्थूल है, न अणु है; न प्रत्यक्ष है, न अप्रत्यक्ष है; न चेतन है, न जड़ है; न सत्य है, न असत्य है; न अहं है, न त्वं है; न एक है, न अनेक है; न निकट है, न दूर है; न अस्ति है, न नास्ति है; न प्राप्ति है, न अप्राप्ति है; न सर्व है, न असर्व है; न पदार्थ है, न अपदार्थ है; न पञ्चभौतिक है, न अपञ्चभौतिक है; जो कुछ दृश्य जाति है सो मन सहित षट् इन्द्रियों से सिद्ध होती है। जो इनसे अतीत है वह इनका विषय नहीं, क्योंकि निष्किञ्चनरूप है। यह भी सब वही रूप है और ज्यों का त्यों जाने से सब आत्मारूप है। जगत् अनात्मरूप कुछ नहीं असम्यक्ज्ञान से ऐसे भासता है। यह जो कठिनरूप पृथ्वी, द्रवतारूप जल, स्पन्दरूप वायु, उष्णतारूप अग्नि और अवकाशरूप आकाश भासते हैं वे सब आत्मरूप हैं। जो कुछ वस्तु-अवस्तुरूप जगत् भासता है सो आत्मसत्ता से भिन्न नहीं। आत्मा से भिन्न जगत् को मानना उन्मत्त चेष्टा है और मूर्ख

मानते हैं। महात्मा पुरुषों को कालकलनारूप जगत् सब आत्मरूप है। कल्प से आदि लेकर अन्तपर्यन्त सब आत्मा का चमत्कार है; ऐसे जानकर तुम अपने स्वरूप में स्थित हो और संसारसमुद्र से तर जावो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे मोक्षस्वरूपोपदेशो
नाम सप्तषष्टितमस्सर्गः ॥ ६७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह जो मैंने तुझको द्वैत के त्याग की विचारदृष्टि कही है इस विचार से अपना जो आत्मस्वभाव है सो प्राप्त होता है, जैसे बुद्धिमान् को खोजने के अभ्यास से चिन्तामणि प्राप्त होती है। इसके उपरान्त एक और भी परम दृष्टि सुनो जिससे मनुष्य अचल आत्मस्वरूप को देखता है वह यह है कि मैं ही आकाश, दिशा, सूर्य, अधः, ऊर्ध्व, देवता, दैत्य, प्रकाश, तम, मेघ, पर्वत, पृथ्वी, समुद्र, पवन, धूलि, अग्नि आदिक स्थावर जङ्गम जगत् हूँ। हे रामजी ! सर्वजगत् आत्मा ही है तो अहं और त्वं से भिन्न और अनेक और एक कैसे हो। जिसके हृदय में ऐसा निश्चय होता है उसको सब जगत् आत्मरूप भासता है और वह पुरुष हर्षशोक नहीं पाता। सब जगत् मनोमात्र है तो अपना और पराया क्या कहिये ? ज्ञानवान् को आत्मा से भिन्न कुछ नहीं भासता इससे वह हर्ष विषाद को नहीं प्राप्त होता। हे रामजी ! अहंकार भी तीन प्रकार के हैं। दो प्रकार का तो सात्त्विक निर्मल है; तत्त्वज्ञान से प्रवर्त्तता है और मोक्षदायक परमार्थरूप है; और तीसरा संसार दिखाता है। एक तो अहं है जो तुमको कहा है कि सर्व मैं ही हूँ–मुझसे अन्य कुछ नहीं और दूसरा यह है कि परम अणु जो सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म है सो साक्षीभूत अव्यक्तरूप मैं हूँ–ये दोनों मोक्षदायक हैं और तीसरा यह कि आपको नख, शीशपर्यन्त देहरूप जानना सो दुःखदायक और संसार का कारण है शान्तिसुख का कारण नहीं। अथवा इन तीनों को त्यागकर स्थित हो यह सर्वसिद्धान्त का कारण है। जैसे तुम्हारी इच्छा हो तैसे करो पर आत्मा सबसे अतीत और सबसे पर है तो भी अपनी सत्ता से जगत् को पूर्ण कर रहा है और सबका प्रकाशक वही है। वह अपने अनुभव से सदावस्तु उदयरूप है और

किसी प्रमाण का विषय नहीं; अनुमान आदि प्रमाणों से रहित है और सर्वकाल सबको अपने प्रकाश से प्रकाशता है। यह जो दृश्यजगत् है वह सब आत्मा भगवान् है और दृश्य, दर्शन, सत्, असत्, सूक्ष्म, स्थूल सबसे आत्मा रहित है। वही सर्वरूप, सबकी वाणी कहने में भी वही आता है और किसी से कहा भी नहीं जाता। जो नानात्व भासता है वह भी उससे अन्य नहीं। आत्मा आदिक संज्ञा भी शास्त्रों ने उपदेश के निमित्त कल्पी हैं। वह सर्वत्र, तीनों कालों में स्थित और प्रकाशरूप है। सूक्ष्मभाव और स्थूलभाव से वही है और सब ठौर व्यापक अपने फुरने से जीवरूप हो भासता है। जब चित्त संवित् स्फूर्त्तिरूप होती है तब जीवरूप हो भासता है और फुरने से रहित द्वैतकलना मिट जाती है—जैसे आकाश में जब पवन फुरता है तब उष्ण शीत हो भासता है तैसे ही फुरने से जीवादिक भासते हैं। आत्मा चेतन सर्वत्र व्यापकरूप है और कभी किसी भाव को प्राप्त नहीं होता। जैसे पदार्थ अपने भाव में स्थित है तैसे ही परमेश्वर आत्मा अपने स्वभाव में स्थित है परन्तु उसका भासना पुर्यष्टका में होता है। जैसे वायु विना धूलि नहीं उड़ती और अन्धकार में प्रकाश विना पदार्थ नहीं भासता तैसे ही पुर्यष्टका विना आत्मा नहीं भासता पुर्यष्टका में प्रतिबिम्बित भासता है। जैसे सूर्य के उदय हुए सर्वजीवों का व्यवहार होता है सूर्य के अस्त हुए से लीन हो जाता है पर सूर्य दोनों से अलेप है; तैसे ही आत्मा सबका प्रकाशक और निर्लेप है। शरीरों के व्यवहार होने और इष्टता में वह ज्यों का त्यों है; न उपजता है, न विनशता है, न वाञ्छा करता है, न त्यागता है, न मुक्त है, न बन्ध है; सर्वदा सर्वप्रकार ज्यों का त्यों एकरूप है। उसके अज्ञान से जीव अनात्मभाव को प्राप्त होता है—जैसे रस्सी में सर्प भासता है—और केवल दुःखों का कारण होता है। आत्मा आदि-अन्त से रहित और अज-अविनाशी है और अपने आपसे भिन्न नहीं हुआ इससे देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित है बन्ध नहीं और जो बन्ध नहीं तो मुक्त कैसे हो? सर्वकलना से रहित आत्मा सबका अपना आप है पर अविचार से मूढ़ रुदन करते हैं; इससे मैंने जो तुमको उपदेश किया है

उसको आदि से लेकर अन्तपर्यन्त भली प्रकार विचार देखो और इस युक्ति से शोक का त्याग करो—मूर्खों के समान लोगों में शोक मत करो। हे सुमते! बन्ध मोक्ष की कल्पना का त्याग करो। न बन्ध के त्याग की इच्छा करो और न मोक्ष के प्राप्ति की इच्छा करो, यन्त्री की पुतलीवत् अभिमान से रहित चेष्टा करो—इसका नाम आत्ममौन है। हे रामजी! मोक्ष आकाश में नहीं और न पाताल में है; न भूमिलोक में है—चित्त का निर्मल होना ही मोक्ष है। अनात्मा के साथ आपको मिलाना और उसमें आत्माभिमान करना यही मल है और इसका त्याग करना और शुद्ध आत्मा में चित्त का लगाना इसका नाम मोक्ष है। जब चित्त से गुणों में वृत्ति का त्याग हो और सम्यक् आत्मज्ञान हो उसी को तत्त्वदर्शी मोक्ष कहते हैं। हे रामजी! जबतक आत्मबोध नहीं होता तबतक यह दीन दुःखी होता है और जब आत्मा का निर्मल बोध होता है तब दुःखों से मुक्त होता है इससे और उपायों को त्याग भक्ति करके मोक्ष की वाञ्छा करो और चिरकाल से जब इस बोध को साध चित्त विस्तृत पद को प्राप्त हुआ तब दश मोक्ष की भी इच्छा नहीं रहती एक मोक्ष तो क्या है। हे रामजी! जीव को और कोई उपाय मोक्ष का नहीं; आत्मबोध को ही पाकर सुखी होगे। जब चित्त अचित्त होता है तब सब जगत्भ्रम मिट जाता है और जगत् भी कुछ दूसरी वस्तु नहीं, अद्वैत आत्मतत्त्व ही है और जो वही है तो बन्ध किसको कहिये और मोक्ष किसको कहिये? बन्ध मोक्ष की कल्पना तुच्छ है उसका त्याग कर चक्रवर्ती हो पृथ्वी की पालना करो तो तुमको कर्तृत्व का स्पर्श कुछ न होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे आत्मविचारो
नामाष्टषष्टितमस्सर्गः ॥ ६८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! संकल्प से ही जगत् उपजा है। अज्ञान से आपको शरीर जानता है और अपने संकल्प को उपजाके अपना स्वरूप जानता है। जैसे कोई सुन्दर पुरुष हो और उसको देखे विना कुरूप जाने तैसे ही आत्मा के साक्षात्कार विना देहरूप आत्मा को जानता है कि मैं देह हूँ। ज्यों-ज्यों आत्मा का प्रमाद होता है त्यों-त्यों देह में

अधिक अभिमान होता है—जैसे ज्यों-ज्यों मद्यपान करता है त्यों-त्यों उन्मत्त होता है। हे रामजी! यह नाना प्रकार का दृश्य अज्ञान से भासता है। जैसे सूर्य की किरणों से मरुस्थल में जल भासता है तैसे ही असम्यक् ज्ञान से आत्मा में जगत् भासता है। एक कलना के फुरने से मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इन्द्रियाँ और देह भासती है; एक फुरने की ही इतनी संज्ञा है। जैसे एक जल की अनेक संज्ञा होती हैं तैसे ही एक फुरने की अनेक संज्ञा हुई हैं। जो चित्त है सो अहंकार है; जो अहंकार है वही मन है और जो मन है वही बुद्धि है इसमें कुछ भेद नहीं। जैसे बरफ़ और शुक्लता और शीतलता में कुछ भेद नहीं तैसे ही मन, बुद्धि आदिक में कुछ भेद नहीं, एक के नाश हुए दोनों का नाश हो जाता है। इससे मन में जो कुछ कलना है उसका त्याग कर मोक्ष की इच्छा का भी त्याग करो और बन्धनवृत्ति का भी त्याग करो। हे रामजी! वैराग और विवेक का अभ्यास करके मन को निर्मल करो। जब मन निर्मल होगा तब मन का मननभाव नष्ट हो जावेगा। जब यह फुरना फुरता है कि 'मैं मुक्त होऊँ' तब भी मन जग आता है और मन के जागे से मनन भी हो आता है। जब मनन हुआ तब अपने साथ शरीर भी भासि आता है अनेक दुःख भी भासि आते हैं। हे रामजी! आत्मतत्त्व सबसे अतीत है और सर्वरूप भी वही है तब कौन बन्ध है और कौन मोक्ष है? जब मन का मनन निवृत्त हुआ तब न कोई बन्ध है और न कोई मुक्त है—आत्मा सर्वक्रिया से अतीत है। क्रिया भी इस प्रकार होती है कि जैसे वायु के हिलने से वृक्ष के पत्र और फूल हिलते हैं तैसे ही प्राणों के फुरने से हाथ पाँव आदिक इन्द्रियाँ चेष्टा करती हैं। हे रामजी! चैतन्यशक्ति सर्वव्यापी, सूक्ष्म और अचल है; वह न आपही चलती है, न और किसी की प्रेरी हुई चलती है, सदा स्थितरूप है। जैसे मेरु पर्वत न आपही चलता है और न वायु से चलाया चलता है। हे रामजी! जितने पदार्थ भासते हैं सो आत्मरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित भासते हैं। जैसे सर्वपदार्थों को दीपक प्रकाशता है तैसे ही सब पदार्थों को आत्मा प्रकाश करता है। सब पदार्थों में एक आत्मा अनुस्यूत प्रकाशता है और अहं त्वं आदिक कलना से रहित है। जहाँ अहं त्वं आदिक

कलना नहीं फुरती वहाँ सुख दुःख भी नहीं फुरता। जैसे वृक्षों और पहाड़ों से अहं त्वं शब्द नहीं फुरता तैसे ही आत्मा में भी नहीं फुरते; इससे ज्ञानवान् में कर्तृत्व भोक्तृत्व नहीं फुरते। हे रामजी! आत्मा निरहंकार और निराकार उसमें कर्तृत्व भोक्तृत्व कैसे होवे? आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व अज्ञान से भासता है—जैसे मरुस्थल में जल भासता है। हे रामजी! अज्ञानरूपी मदिरा-पान करके मनरूपी मृग मत्त हुआ है उससे वह सत् असत् का विचार नहीं कर सकता—जैसे मृगतृष्णा की नदी असत् ही सत् भासती है और मृग उसको सत् जानकर पान करने के निमित्त दौड़ता है; तैसे ही यह जीव अरूप संसार को रूप जानकर दौड़ता है। जब आत्मसत्ता का सम्यक्बोध होता है तब यह अविद्या नष्ट हो जाती है। जैसे ब्राह्मणों के मध्य चाण्डाली आन बैठे और जब ब्राह्मण उसको पहिंचाने कि यह चाण्डाली है तो वह छिप जाती है तैसे ही जब अविद्या को जाना तब वह नष्ट हो जाती है। हे रामजी! जब अविद्या को ज्यों की त्यों जाना तब अविद्यारूपी जगत् मन को नहीं खैंच सकता—जैसे मृगतृष्णा की नदी को जब जाना तब तृषा हो तो भी मनको वह जल नहीं खैंच सकता। हे रामजी! जब परमार्थसत्ता का बोध होता है तब मूल से वासना नष्ट हो जाती है, जैसे सूर्य के उदय से अन्धकार नष्ट हो जाता है तैसे ही आत्मज्ञान से अविद्या वासनासहित नष्ट हो जाती है। हे रामजी! अविद्या अविचार से सिद्ध है जब सत्शास्त्रों की युक्ति से विचार प्राप्त होता है तब अविद्या नष्ट हो जाती है। जैसे बरफ़ का कणका धूप से गलकर जलमय हो जाता है तैसे ही विचार से अज्ञान नष्ट हो जाता है। हे रामजी! देह जड़ है और आत्मा सदा चेतनरूप है; फिर जड़ देह के निमित्त भोगों की वाञ्छा करनी बड़ी मूर्खता है। जो ज्ञानवान् पुरुष हैं वे इस बन्धन को तोड़ डालते हैं। हे रामजी! आशारूपी फाँसी को हृदय से काटो; जब आशारूपी आवरण दूर होगा तब पूर्णमासी के चन्द्रमावत् हृदय शीतल हो जावेगा। तैसे ही यह पुरुष भी तीन तापों से मुक्त शीतल हो जाता है—जैसे पर्वत में अग्नि लगे और उसके ऊपर जल की बहुत वर्षा हो तो वह तप्तता से मुक्त हो शान्तिमान् होता है।

हे रामजी! जैसे केसरी सिंह पिंजड़े को तोड़कर निकलता है तैसे ही ज्ञानवान् पुरुष भोगवासना के बन्धन को तोड़ डालता है। हे रामजी! जैसे रङ्क को त्रिलोकी का राज्य मिलने से वह आनन्द को प्राप्त हो तैसे ही ज्ञानवान् को आत्मा के साक्षात्कार हुए आनन्द प्राप्त होता है और वह परम निर्मल लक्ष्मी से शोभता है जब हृदय से आशारूपी मैल जाता है तब जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल शोभता है तैसे ही वह शोभता है। हे रामजी! ज्ञानवान् पुरुष अपने आपमें नहीं समाता—जैसे महाकल्प का समुद्र नहीं समाता और जैसे मेघ जल को त्यागकर मौन हो जाता है तैसे ही ज्ञानवान् आशा को त्यागकर आत्ममौन हो जाता है। जैसे अग्नि लकड़ी को जलाकर धुवें से रहित अपने आपमें स्थित हो जाती है तैसे ही चित्त की वृत्ति से रहित हुआ आत्मपद में निर्वाण हो जाता है जैसे दीपक निर्वाण हो जाता है तैसे ही चित्त निर्वाण हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है। जैसे अमृत को पानकर पुरुष आनन्दवान् होता है तैसे ही वह परमानन्द से पूर्ण अपने आप में प्रकाशता है जैसे वायु से रहित दीपक प्रकाशता है और शुद्ध मणि अपने प्रकाश से प्रकाशती है तैसे ही ज्ञानवान् अपने आप से प्रकाशता है। मैं सर्वात्मा, सर्वगत, ईश्वर, सर्वाकार, निराकार, केवल चिदानन्द आत्मा हूँ और सदा अपने आपमें स्थित हूँ। हे रामजी! ज्ञानी अपने आपको ऐसे जानते हैं और पूर्व के व्यतीत हुए दिनको हँसते हैं। मैं तो अनन्त आत्मा हूँ; माया के भ्रम से आपको कर्ता भोक्ता मानता था। ऐसे जानकर जो रागद्वेष से रहित परम शान्ति को प्राप्त होता है उसके सब ताप निवृत्त हो जाते हैं; उसकी सदा आत्मा में प्रीति रहती है; उसका चित्त सब ओर से पूर्ण हो जाता है; वह सबको पवित्र करनेवाला होता है; वह कामरूपी चक्र से मुक्त होकर जन्मों के बन्धन काट डालता है; रागद्वेष आदिक द्वन्द्व और सर्वभय से मुक्त होता है; अविद्यारूपी संसारसमुद्र से तर जाता है; उत्तम लक्ष्मी को प्राप्त होता है अर्थात् परमपद पाता है और फिर संसार के जन्म-मरण को नहीं प्राप्त होता और उसके कर्मों का अन्त हो जाता है। हे रामजी! ज्ञानवान् की क्रिया को देखकर और सब वाञ्छा करते हैं परन्तु औरों की क्रिया को देखकर ज्ञानवान् किसी की वाञ्छा नहीं करता। वह सबको आनन्दवान् करता है और आप किसी से आनन्दवान् नहीं होता। वह न किसी को देता है, न लेता है, न किसी की स्तुति करता, न निन्दा करता है; न किसी उत्तम पदार्थ को पाकर उदय होता है और न अनिष्ट को पाकर नष्ट होता है और हर्ष-शोक से रहित है। उसने सब फल का त्याग किया है और सब उपाधि से रहित है और कर्तृत्व भोक्तृत्व से आपको न्यारा मानता है। ऐसा जो पुरुष है वह जीवन्मुक्त है। हे रामजी! जब तुम सब इच्छा त्यागकर मौन हो तब निर्विशेषभाव को प्राप्त होगे। जैसे मेघ जल का त्यागकर मौनभाव को प्राप्त होता है तैसे ही तू मोक्षभाव को प्राप्त होगा। हे रामजी! जैसे कामी पुरुष स्त्री को कण्ठ में लगाकर आनन्दवान् होता है पर उसको ऐसा आनन्द नहीं होता जैसा आनन्द निर्वासनिक पुरुष को होता है, फूल के गुच्छे से वसन्तऋतु ऐसी नहीं शोभती जैसे उदारबुद्धि आत्ममौनवान् शोभता है; हिमालय पर्वत में प्राप्त हुआ भी ऐसा शीतल नहीं होता जैसा निर्वासनिक पुरुष का मन शीतल होता है; मोतियों की माला से और चन्दनों के पान केले के वन को प्राप्त हुआ भी ऐसा सुख नहीं पाता और चन्दनों के पान करनेवाला भी ऐसा शीतल नहीं होता जैसा शीतल निर्वासनिक मन होता है; और चन्द्रमा के स्पर्श से भी ऐसा शीतल नहीं होता जैसा निर्वासनिक पुरुष शीतल होता है। चन्द्रमा बाहर की तप्तता मिटाता है परन्तु भीतर की तप्तता निवृत्त नहीं करता पर निराशता से हृदय की तप्तता मिट जाती है और परम शान्ति को प्राप्त होता है। जैसी शीतलता निर्वासनिक पुरुष के संग से होती है तैसी और किसी उपाय से नहीं प्राप्त होती। हे रामजी! ऐसा सुख स्वर्ग में नहीं प्राप्त होता और न सुन्दर स्त्रियों के स्पर्श से होता है जैसा सुख निर्वासनिक को प्राप्त होता है। निर्वासनिक पुरुष उस सुख को प्राप्त होता है जिस सुख में त्रिलोकी के सुख तृणवत् भासते हैं। हे रामजी! आशारूपी कञ्ज के वृक्ष के काटने को उपशमरूपी कुल्हाड़ा है। जो पुरुष निर्वासनिक हुआ है उसको सब पृथ्वी गोपद के समान तुच्छ भासती है; मेरु पर्वत एक टूटे वृक्ष के समान भासता है और दिशा डिब्बी के समान भासती हैं, क्योंकि वह उत्तम पद को प्राप्त हुआ है और

त्रिलोकी की विभूति तृण की नाईं तुच्छ देखता है। जो पुरुष निर्वासनिक हुआ है वह जगत् को देखकर हँसता है और कदाचित् उसे जगत् के पदार्थों की कल्पना नहीं फुरती। तृणवत् जानकर उसने जगत् को त्याग दिया है और सदा आत्मतत्त्व में स्थित है उसको किसकी उपमा दीजिये उस पुरुष के उदय, अस्त, अहं त्वं आदिक कलना नष्ट हो गई हैं और केवल आत्मस्वभाव को प्राप्त हुआ है। उस ईश्वर आत्मा को कौन तौल सकता है; जब दूसरा उसके समान हो तब तौले। हे रामजी! वह पुरुष सब सङ्कटों के अन्त को प्राप्त हुआ है। यह जगत् मिथ्या भ्रमरूप है। जैसे आकाश में भ्रम से दूसरा चन्द्रमा; मरुस्थल में नदी और मद्यपान से नगर भ्रमता भासता है; तैसे ही यह मिथ्या जगत् भ्रम से भासता है इसकी आशा मत करो। तुम तो बुद्धिमान् पण्डित हो मूर्खों की नाईं मोह को क्यों प्राप्त होते हो? यह मैं और यह मेरा अज्ञान से भासता है; इस कलना को चित्त से दूर करो। यह वास्तव में कुछ नहीं, सब जगत् आत्मरूप है और नानात्व कुछ नहीं है जो सम्यक्दर्शी पुरुष है वह जगत् को एकरूप जानकर धैर्यवान् रहता है, कदाचित् खेद नहीं पाता। हे रामजी! जो पुरुष निर्वासनिक हुआ है और आत्मविचार से आत्मपद को प्राप्त हुआ है उसको देखकर मोहनेवाली माया भी भाग जाती है और निकट नहीं आती। जैसे सिंह के निकट मृग नहीं आता तैसे ही ज्ञानवान् के निकट माया नहीं आती। सुन्दर स्त्रियाँ, मणि, कञ्चनादिक, धन और पत्थर, काष्ठ सब उसको तुल्य भासता है; भोगों से उसको सुख नहीं होता और आपदा से खेद नहीं होता; वह सदा ज्यों का त्यों रहता है। जैसे पर्वत वायु से चलायमान नहीं होता तैसे ही वह पुरुष सुख दुःख से चलायमान नहीं होता। सुन्दर बाला स्त्री उसके चित्त को खींच नहीं सकती; कामदेव के चलाये बाण उसके ऊपर टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं और रागद्वेष उसको खींच नहीं सकते। वह सदा आपको निराकार, अद्वैत, निष्क्रिय और निर्गुण जानता है और सुन्दर बग़ीचे, ताल, बेल, शय्या, इन्द्रियों के विषयभोग और दुःख देनेवाले उसको तुल्य हैं रागद्वेष को नहीं प्राप्त करते। जैसे ऋतु के अनुसार मीठा और कटु फल होता

है तो उसको किसी में रागद्वेष नहीं होता अकस्मात् जो भोग प्राप्त होता है उसको वह भोगता है परन्तु हर्ष और शोकवान् नहीं होता। हे रामजी! यथार्थदर्शी इष्ट अनिष्ट से चलायमान नहीं होता—जैसे वसन्तऋतु के आने जाने में पर्वत सुख दुःख को प्राप्त नहीं होता। वह कर्मइन्द्रियों से कर्म करता है परन्तु उसमें आसक्त नहीं होता और बाहर दृष्टि से आसक्त भासता है परन्तु भीतर आसक्त नहीं होता। वह जो बाहर आसक्तदृष्टि नहीं आता परन्तु चित्त आसक्त है वह डूबता है—जैसे शुद्ध मणि कीचड़ में दृष्टि आती है तो भी उसको कुछ कलङ्क नहीं और जो बीच से खोटी है वह यदि बाहर से उज्ज्वल भी भासती तो भी सकलङ्क है; तैसे ही जो चित्त से आसक्त है वह आसक्त है और जो चित्त से आसक्त नहीं वह आसक्त नहीं। हे रामजी! आत्मसत्ता सदा प्रकाशरूप, नित्य, शुद्ध और परमानन्द स्वरूप है। जिस पुरुष को अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान है उसको विस्मरण नहीं होता। हे रामजी! जिसके शरीर से अहंभाव उठ गया है और इन्द्रियों से कर्म करता है तो वह करता भी नहीं करता और जिसके देह में अहंभाव है वह नहीं करता भी करता है। जैसे किसी को चिरकाल के उपरान्त बान्धव मिला विस्मरण नहीं होता तैसे ही जिसने अपना स्वरूप जाना है उसको वह फिर विस्मरण नहीं होता। हे रामजी! जिनको शुद्धस्वरूप का सम्यक्ज्ञान होता है उनको भ्रान्तिरूप जगत् नहीं भासता—जैसे रस्सी में भ्रम से सर्प भासता है पर जब भ्रम निवृत्त हुआ तब ज्यों की त्यों रस्सी भासती है सर्प नहीं भासता। जैसे मरुस्थल में जलबुद्धि निवृत्त हुए फिर जलबुद्धि नहीं होती, तैसे ही आत्मा के जाने से देह भाव नहीं होता। जैसे पहाड़ से नदी उतरती है सो फिर पहाड़ पर नहीं चढ़ती और सुवर्ण का खोट अग्नि से जला हुआ चाहे कीचड़ में डालिये फिर खोटा नहीं होता तैसे ही जब हृदय की चिद्ग्रन्थि टूटी तब गुणों के व्यवहार में गाँठ नहीं पड़ती अर्थात् बन्धायमान नहीं होता। जैसे वृक्ष से टूटा फल फिर नहीं लगता तैसे ही जिसका देहाभिमान टूटा है उसको फिर अभिमान नहीं होता। जैसे लोहे के हथौड़े से पारे को चूर्ण किया तो फिर वह नहीं फुरता।

जिस पुरुष ने अविद्या को जाना है वह फिर उसकी संगति नहीं करता और जिस ब्राह्मण ने चाण्डालों की सभा जानी फिर वह उनकी संगति नहीं करता, तैसे ही जब आत्मविचार से मन को चूर्ण किया तब फिर वह नहीं फुरता। जिस पुरुष ने अविद्यारूप जगत् को जाना है वह फिर जगत् के पदार्थों में आसक्त नहीं होता। हे रामजी! विष जो मधुर जल से मिला हो तो जबतक जाना नहीं तब तक उसको कोई पान करता है और जब उसको जाना तब फिर पान नहीं करता तैसे ही जब तक इस संसार को ज्यों का त्यों नहीं जाना तब तक इसके पदार्थों की इच्छा करता है पर जब जाना कि यह मायामात्र है तब इसकी इच्छा नहीं करता। हे रामजी! सुन्दर स्त्री जो नाना प्रकार के वस्त्र और भूषणों सहित दृष्टि आती हैं उनको ज्ञानवान् जानता है कि ये अस्थि, मांस, रुधिर आदिक की पुतलियाँ बनी हैं और कुछ नहीं जो उनकी इच्छा त्यागता है तो वह विरक्त हो जाता है। जैसे मूर्ति पर नील, पीत, श्यामरङ्ग लिखे होते हैं तैसे ही उसके वस्त्र और केश हैं। हे रामजी! जिस पुरुष को आत्मा का साक्षात्कार होता है उसको अवस्तु में वस्तुबुद्धि नहीं होती। अवस्तु में वस्तुबुद्धि तब होती है जब वस्तु का विस्मरण होता है सो ज्ञानवान् को तो सदा स्वरूप का स्मरण है उसको अवस्तु में वस्तुबुद्धि कैसे हो? जिसको आत्मबुद्धि हुई है उसको विस्मरण नहीं होता। जैसे किसी पुरुष ने किसी के पास गुड़ रक्खा हो और वह खा जावे तो उसको वह दण्ड आदि दे सकेगा परन्तु उसका रस दूर नहीं कर सकता, तैसे ही जिसको आत्मा का अनुभव हुआ है उसको कोई कुछ नहीं कर सकता। हे रामजी! जैसे कुलटा नारी का किसी पुरुष से चित्त लगता है तो वह गृह का कार्य भी करती है परन्तु चित्त उसका सदा उसमें ही रहता है; तैसे ही ज्ञानवान् क्रिया करता है परन्तु उसका चित्त सदा आत्मपद में रहता है और जैसे परव्यसनी नारी को उसका भर्ता दण्ड भी देता है पर तौ भी स्पर्श का सुख उसके हृदय से दूर नहीं कर सकता, तैसे ही जिसको आत्मअनुभव हुआ है उसको कोई दूर नहीं कर सकता और जो देवता और दैत्य दूर नहीं कर सकते

तो औरों की क्या वार्त्ता है। जो बड़े सुख अथवा दुःख का प्रवाह आन पड़े तौ भी उनको स्पर्श नहीं कर सकता; कर्ता हुआ भी वह अकर्ता है। जैसे परव्यसनी नारी परपुरुष के संयोग से सुख पाती है परन्तु उसको स्पर्श के सुख का अनुभव हुआ है उसके संकल्प से अखण्ड अनुभव करती है उससे उसको दुःख नहीं भासता; तैसे ही जिसको आत्मसुख हुआ है उसको दुखसुख कुछ नहीं भासते। हे रामजी! सम्यक्ज्ञान से जिसकी अविद्या नष्ट हुई है वह दुःख नहीं देखता। जो उसके अङ्ग काटे जावें तौ भी उसको दुःख नहीं होता और शरीर के नष्ट हुए वह नष्ट नहीं होता सुख दुःख उसके नष्ट हो गये हैं और सदा वह आत्मपद में निश्चय रखता है। संकटवान् भी वह दृष्ट आता है परन्तु उसको संकट कोई नहीं। वह वन में रहे अथवा गृह में रहे; व्यवहार करे अथवा समाधि करे; वह सदा ज्यों का त्यों रहता है, उसको खेद कष्ट किसी प्रकार से नहीं होता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे नीरास्पदमौनविचारो
नामैकोनसप्ततितमस्सर्गः ॥ ६९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! राजा जनक राजव्यवहार करता था परन्तु आत्मपद में स्थित था इससे उसको कलङ्क न हुआ और सदा विगतज्वर ही रहा; तुम्हारा पितामह राजा दिलीप भी सर्व आरम्भों को करता रहा परन्तु रागद्वेष को न प्राप्त हुआ और जीवन्मुक्त होके चिरपर्यन्त पृथ्वी का राज्य करता रहा; राजा अज नाना प्रकार के युद्ध और राजव्यवहार की पालना करता हुआ सदा जीवन्मुक्त स्वभाव में स्थित था; राजा मान्धाता नाना प्रकार की युद्धचेष्टा करता था परन्तु सदा परमपद में निश्चित रहा और कदाचित् मोह को न प्राप्त हुआ; राजा बलि महात्यागी पाताल में राजव्यवहार को करता भी दृष्ट आया परन्तु स्वरूप के ज्ञान से सदा शान्तरूप जीवन्मुक्त होकर बिचरता था; नभचर दैत्यों का राजा सदा नानायुद्ध आदिक क्रिया में रहा करता था और देवताओं के साथ सदा विरोध रखता था परन्तु हृदय में उसके कुछ ताप न था। इन्द्रने युद्ध में वृत्रासुर दैत्य को मारा, परन्तु सदा शीतल रहा कदाचित् क्षोभ को न

प्राप्त हुआ और दैत्यों का राजा प्रह्लाद पाताल में राज्य करता रहा परन्तु हृदय में उसे कुछ क्षोभ न आया। हे रामजी! सम्बर नामक दैत्य अपनी सृष्टि के रचने को उदय हुआ पर रचने में बन्धवान् न था वह सदा साम्बरी मायापरायण रहा और माया से एक मायावीरूप होकर स्थित हुआ। हे रामजी ! यह संसार जो साम्बरी मायारूप है उसको साम्बरीवत् त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो। विष्णु भगवान् सदा दैत्यों को मारते और युद्ध करते रहते हैं पर हृदय में अलेपबुद्धि हैं इससे सदा सुखी जीवन्मुक्त हैं और मुर दैत्य ने विष्णु से युद्ध में शरीर छोड़ा परन्तु हृदय में उसे देह से कुछ सम्बन्ध न था इससे जीवन्मुक्त सुखी रहा और पीड़ा को न प्राप्त हुआ। हे रामजी! सब देवताओं का मुख अग्नि है सो यज्ञलक्ष्मी को चिरकाल पर्यन्त भोगता है परन्तु ज्ञानवान् है इससे क्षोभवान् नहीं होता, सदा शीतल रहता है। देवता सदा चन्द्रमा की किरणों से अमृत पान करते हैं परन्तु चन्द्रमा को कुछ क्षोभ नहीं होता और देवतागुरु बृहस्पति ने स्त्री के लिये चन्द्रमा से युद्ध किये और देवताओं के निमित्त नाना प्रकार के कर्म करते हैं परन्तु रागद्वेष को नहीं प्राप्त होते इससे जीवन्मुक्त हैं। हे रामजी ! दैत्यों के गुरु शुक्रजी दैत्यों के निमित्त सदा यत्न करते रहते हैं और लोभी की नाईं अर्थ चिन्तते हैं परन्तु जीवन्मुक्त हैं। जो हृदय से सदा शीतल रहता है वह कदाचित् खेद नहीं पाता। पवन प्राणियों के अङ्गों को चिरकाल फेरता है और चेष्टा करता है पर खेद को नहीं प्राप्त होता इससे जीवन्मुक्त है। ब्रह्मा सदा लोकों को उत्पन्न करता है और प्रलयपर्यन्त इसी क्रिया में रहता है परन्तु उसे स्वरूप का साक्षात्कार है इससे जीवन्मुक्त है। विष्णु भगवान् युद्धादिक द्वन्द्वों में रहते हैं और जरा मृत्यु आदिक भावों को प्राप्त होते हैं परन्तु सदा मुक्तस्वरूप हैं। सदाशिव त्रिनेत्र अर्धाङ्गधारी हैं परन्तु हृदय में संसक्त नहीं हैं इससे जीवन्मुक्त हैं। गौरी मोतियों की माला कण्ठ में धारती हैं और त्रिनेत्र को सदा मालावत् कण्ठ में रखती हैं परन्तु हृदय से शीतल रहती हैं इससे जीवन्मुक्त हैं। स्वामिकार्त्तिक दैत्यों के साथ युद्ध करते रहे परन्तु ज्ञानरूपी रत्नों के समुद्र थे और हृदय से शीतल थे।

सदाशिव के श्रृङ्गीगण अपना रक्त मांस माता को देते थे परन्तु धैर्य में थे इससे खेद को न प्राप्त हुए और नाना प्रकार की क्रिया करते थे परन्तु जीवन्मुक्त थे इससे सदा सुखी थे। नारद मुनि सदा मुक्तस्वभाव हैं और सदा जगत् की क्रियाजाल में रहते हैं परन्तु क्षोभ नहीं पाते इससे जीवन्मुक्त हैं। मनमौन जो विश्वामित्र हैं वे वेदोक्त कर्म करते फिरते रहते हैं इससे जीवन्मुक्त हैं। सूर्य भगवान् दिन को प्रकाश करते हैं और फिरते रहते हैं परन्तु जीवन्मुक्त और सदासुखी रहते हैं। यम सदा जीवों को दण्ड करते रहते हैं और क्षोभ में रहते हैं परन्तु जीवन्मुक्त हैं। इन्द्र कुबेर से आदि लेकर त्रिलोकी में बहुत जीवन्मुक्त हैं जो व्यवहार में शीतल हैं। कोई मूढ़ शिलावत् हो रहे हैं; कोई परम बोधवान् वन में जा स्थित हुए हैं—जैसे भृगु, भारद्वाज और विश्वामित्र; बहुतेरे चिरकालपर्यन्त राजपालन करते रहते हैं—जैसे जनक, मान्धाता आदि; कोई आकाश में बड़ी कान्ति धारकर बृहस्पति, चन्द्रमा, शुक्र, सप्तर्षि आदिक स्थित हुए हैं; कोई स्वर्ग में अग्नि, वायु, कुबेर, यम, नारदादिक हैं; पाताल में जीवन्मुक्त प्रह्लादादिक हुए हैं। कोई देवतारूप धारकर आकाश में स्थित हैं कोई मनुष्यरूप धारकर मनुष्यलोक में स्थित हैं और कोई तिर्यक्योनि में स्थित हैं उनको सर्वथा, सर्व प्रकार, सर्व में सर्वात्मारूप ही भासता है, कुछ भिन्न नहीं भासता। नाना प्रकार का व्यवहार है सो भी अद्वैत से किया है। हे रामजी ! दिव्य विष्णु, विधाता, सर्व ईश्वर और शिव आदिक सब आत्मा के ही नाम हैं। वस्तुरूप में जो अवस्तु है और अवस्तु में जो वस्तु है सो अवस्तु से वस्तु तब निकलता है जब युक्ति होती है और वस्तु से अवस्तु भी युक्ति से ही दूर होती है। जैसे अवस्तुरूप रेत से सुवर्ण युक्ति से निकलता है और वस्तुरूपी सोने से मैल युक्ति से दूर होता है तैसे ही अवस्तुरूप देहादिकों में वस्तुरूप आत्मा शास्त्रों की युक्ति से पाता है और वस्तुरूप आत्मा से दृश्यरूप अवस्तु भी शास्त्रों की युक्ति से दूर होती है। हे रामजी ! जो पापों से भय करता है वह जब धर्म में प्रवर्तता है तब निर्भय होता है और दुःखों के भय से जीव आत्मपद की ओर प्रवर्तता है तब भावना के वश से असत् से सत् पाता

है। ध्यान और योग भी सूक्ष्म है यत्न के बल से उनसे सत् को पाता है और जो असत् है वह उदय होकर सत् भासता है। जैसे बाजीगर की बाज़ी और शश के सींग भासि आते हैं तैसे ही आत्मा में असद्रूप जो जगत् है सो अज्ञान से दृढ़ हो भासता है परन्तु कल्प के अन्त में यह भी नष्ट हो जाता है। हे रामजी! यह जो सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्रादिक हैं उनके नाम भिन्न-भिन्न रहेंगे और बड़े सुमेरु आदिक पर्वत, समुद्र और भाव पदार्थ जो उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ भासते हैं वे सब नाश हो जावेंगे, क्योंकि सब मायामात्र हैं, कोई न रहेगा। ऐसे विचार करके इनके भाव अभाव में हर्ष शोक मत करो और समताभाव को प्राप्त हो। हे रामजी! जो असत् है वह सत् की नाईं भासता है और जो सत् है सो असत् की नाईं भासता है, इससे यथार्थ विचारकर सत्‌रूप आत्मपद में स्थित हो रहो और असत्‌रूप जगत् की आस्था त्यागके समताभाव को ग्रहण करो। इस लोक में जो अविवेक मार्ग में विचरता है वह मुक्त नहीं होता। इस प्रकार कोटि जीव संसारसमुद्र में डूबते हैं और जो विवेक में प्रवर्तते हैं वे मुक्त होते हैं। हे रामजी! जिसका मन क्षय हुआ है उसको मुक्तरूप जानो और जिसका मन क्षय नहीं हुआ वह बन्धन में है। इससे जिसको सर्व दुःख से मुक्ति की इच्छा हो सो आत्मा का विचार करे उसी से सब दुःख नष्ट हो जावेंगे। हे रामजी! दुःखों का मूल चित्त है और जब तक चित्त है तब तक दुःख है; जब चित्त नष्ट हो जाता है तब दुःख सब मिट जाते हैं। हे रामजी! जब आत्मज्ञान होता है तब चित्त का अभाव हो जाता है; दुःख सब मिट जाता है और राग, इच्छा सब भय मिटकर केवल शान्तरूप होता है। जनक आदिक जो जीवन्मुक्त हुए हैं सो निराग और निस्संदेह होकर महाबोधवान् व्यवहार भी करते रहे परन्तु सदा शीतल चित्त रहे। इससे तुम भी विवेक से चित्त को लीन करो। हे रामजी! मुक्ति भी दो प्रकार की है—एक जीवन्मुक्ति है और दूसरी विदेहमुक्ति। जो पुरुष सब पदार्थों में असंसक्त है और जिसका मन शान्त हुआ है वह मुक्त कहाता है और जिस पुरुष का ज्ञान से सब पदार्थों में स्नेह नष्ट हुआ है और व्यवहार करता दृष्ट आता है तो भी शीतलचित्त है वह जीवन्मुक्त

कहाता है। जो पुरुष सर्वभाव अभाव पदार्थों को त्यागकर केवल अद्वैत तत्त्व को प्राप्त हुआ है और जिसकी शरीर आदि कोई क्रिया दृष्ट नहीं आती वह विदेहमुक्त कहाता है जिसका स्नेह पदार्थों से दूर नहीं हुआ वह मुक्ति के अर्थ भी यत्न करता है तो भी बन्ध कहाता है जो युक्तिपूर्वक यत्न करता है उसको दुस्तर भी सुगम हो जाता है और जो युक्ति से रहित यत्न करता है उसको गोपद भी समुद्र हो जाता है। हे रामजी! जिन्होंने आत्मविचार किया है उनको विस्तृत जगत्समुद्र गोपद हो जाता है और अज्ञानी को गोपद भी दुस्तर हो जाता है उसे कोई इष्ट अनिष्ट अल्प भी प्राप्त होता है तो उसमें डूब जाता है निकल नहीं सकता। उसको गोपद भी समुद्र है। ज्ञानी को अत्यन्त विभूति और ऐश्वर्य मिले अथवा उसका अभाव हो जावे तो भी वह उसमें रागद्वेष करके नहीं डूबता। हे रामजी! अपने प्रयत्न के बल सब होता है; जो कोई प्रधान हुआ है वह प्रयत्नरूपी वृक्ष के फल से ही हुआ है। आत्मपद की प्राप्ति भी प्रयत्नरूपी वृक्ष का फल है। इससे और उपाय त्यागकर आत्मपद की प्राप्ति का प्रयत्न करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे मुक्तामुक्तविचारो
नाम सप्ततितमस्सर्गः ॥ ७० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जो कुछ जगज्जाल है वह सब आत्मब्रह्म का आभासरूप है; अज्ञान से स्थिरता को प्राप्त हुआ है और विवेक से शान्त हो जाता है। ब्रह्मरूपी समुद्र में जगत्‌रूपी आवर्त जो फुरते हैं उनकी संख्या कोई नहीं कर सकता। आत्मरूपी सूर्य के जगत्‌रूपी त्रसरेणु हैं। हे रामजी! असम्यक्‌दर्शन ही जगत् की स्थिति का कारण है और सम्यक्‌दर्शन से शान्त हो जाता है—जैसे मरुस्थल में असम्यक्‌दर्शन से जल भासता है और सम्यक्‌दृष्टि से अभाव हो जाता है। हे रामजी! संसाररूपी अपार समुद्र से युक्ति और आत्मअभ्यास विना तरना कठिन है। मोह-रूपी जल से वह पूर्ण है; मरणरूपी उसमें आवर्त हैं; पापरूपी झाग है; बड़वाग्नि इसके अङ्गों में नरक समान हैं; तृष्णारूपी भँवर हैं; इन्द्रियाँ और मनरूपी तेंदुये और मच्छ हैं; क्रोधरूपी सर्प हैं; जीवरूपी नदियाँ हैं उसमें प्रवेश करती हैं; और जन्म मरणरूपी आवर्त-

चक्र हैं उनसे जो तर जाता है वही पुरुष है। स्त्रियाँ जो सुन्दर लगती हैं उनके महाबलवान् नेत्र हैं जिनसे पहाड़ों को भी खींच सकती हैं और मोतियों की नाईं दाँत इत्यादिक जो सुन्दर अङ्ग हैं वे महादुःख के देनेवाले बड़वाग्नि की नाईं हैं। जो इनसे तर जाता है वही पुरुष है। हे रामजी! जो जहाज़ और मल्लाहों के होते भी इनको नहीं तरते उनको धिक्कार है। जहाज़ और मल्लाह कौन हैं सो सुनो। जिस मनुष्य के शरीर में विचारसहित बुद्धि है वही जहाज़ है और सन्तरूपी मल्लाह हैं। इनको पाकर जो संसारसमुद्र से नहीं तरते उनको धिक्कार है। ऐसे संसारसमुद्र को जो तर गया है उसी को पुरुष कहते हैं। हे रामजी! जिस पुरुष ने आत्मविचार में बुद्धि लगाई है वह तर जाता है अन्यथा कोई नहीं तर सकता। जिसको आत्मअभ्यास दृढ़ हुआ है वह तर सकता है। हे रामजी! प्रथम ज्ञानवान् पुरुषों के साथ विचार और बुद्धि से संसारसमुद्र को देखो। जब तुम इसको ज्यों का त्यों जानोगे तब विलास और क्रीड़ा करने योग्य होगे। हे रामजी! तुम तो भगवान् हो प्रबोध संसारसमुद्र से तर जाओ। तुम तो समर्थ हो तुम्हारे पीछे और तुम्हारे स्वभाव को विचार के और भी संसारसमुद्र से तर जावेंगे। जो इस शुभ मार्ग को त्यागकर विषयमार्ग की ओर जाते हैं वे संसारसमुद्र में डूबे हैं। हे रामजी! ये जो विषयभोग हैं वे विषरूप हैं; जो इनको सेवेगा वह नष्ट होगा परन्तु जिसको ज्ञान प्राप्त हुआ है उसको यह जैसे गारुड़मन्त्र पढ़नेवाले को सर्प दुःख नहीं दे सकता तैसे ही दुःख दे नहीं सकते। जिसका हृदय शुद्ध हुआ है वह विभूतिमान् है बल, वीर्य और तेज यह तीनों तत्त्व के साक्षात्कार से बढ़ते हैं जैसे वसन्त ऋतु के आये से रस, फूल, फल सब प्रकट हो आते हैं। हे रामजी! जिसे ज्ञानलक्ष्मी प्राप्त भई है वह पूर्ण अमृततुल्य शीतल, शुद्ध और सम प्रकाशरूप है। इस लक्ष्मी को पाकर विदितवेद स्थित हो रहते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे संसारसागरयोगोपदेशो नामैकसप्ततितमस्सर्गः ॥ ७१ ॥

रामजी ने पूछा, हे मुनीश्वर! तत्त्ववेत्ता के लक्षण संक्षेप से फिर कहिये और जिनको तत्त्व का चमत्कार हुआ है उनकी वृत्ति उदारवाणी से कहिये। ऐसा कौन है जो आपके वचन सुनके तृप्त हो? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जीवन्मुक्त के लक्षण मैंने तुमको बहुत प्रकार से आगे कहे हैं और अब फिर भी सुनो। हे महाबाहो! संसार को ज्ञानवान् सुषुप्ति की नाईं जानता है और सब एषणा उसकी नष्ट हो जाती हैं। वह सब जगत् को आत्मरूप देखता है और कैवल्यभाव को प्राप्त होता है। संसार उसे सुषुप्तिरूप हो जाता है और आत्मानन्द से घूर्म रहता है वह देता है परन्तु अपने जाने में किसी को नहीं देता। और लोकदृष्टि से प्रत्यक्ष हाथोंहाथ ग्रहण करता है परन्तु अपनी दृष्टि से कुछ नहीं लेता ऐसा जो आत्मदर्शी ज्ञानवान् उदार आत्मा है वह यन्त्र की पुतलीवत् चेष्टा करता है। जैसे यन्त्र की पुतली अभिमान से रहित चेष्टा करती है तैसे ही ज्ञानवान् अभिमान से रहित चेष्टा करता है। देखता, हँसता, लेता, देता है परन्तु हृदय से सदा शीतलबुद्धि रहता है। वह भविष्यत् का कुछ विचार नहीं करता; भूत का चिन्तन नहीं करता और वर्त्तमान में स्थिति नहीं करता। सब कामों में वह अकर्ता है, संसार की ओर से सो रहा है और आत्मा की ओर जाग्रत् है। उसने हृदय से सबका त्याग किया है; बाहर सब कार्यों को करता है और हृदय में किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करता। बाहर जैसे प्रकृत आचार प्राप्त होता है उसे अभिमान से रहित करता है द्वेष किसी में नहीं करता और सुख दुःख में पवन की नाईं होता है। एवम् भ्रम को त्यागकर उदासीन की नाईं सब कार्य करता है; न किसी की वाञ्छा है और न किसी में खेदवान् है। बाहर से सब कुछ करता दृष्ट आता है पर हृदय से सदा असंग है। हे रामजी! वह भोक्ता में भोक्ता है; अभोक्ता में अभोक्ता है; मूर्खों में मूर्खवत् स्थित है; बालकों में बालकवत्; वृद्धों में वृद्धवत्; धैर्यवानों में धैर्यवान्; सुख में सुखी; दुःख में धैर्यवान् है। वह सदा पुण्यकर्ता, बुद्धिमान्, प्रसन्न, मधुरवाणीसंयुक्त और हृदय से तृप्त है उसकी दीनता निवृत्त हुई है, वह सर्वथा कोमलभाव चन्द्रमा की नाईं शीतल और पूर्ण है। शुभ कर्म करने में उसे कुछ अर्थ नहीं और अशुभ में कुछ

पाप नहीं; ग्रहण में ग्रहण नहीं और त्याग में त्याग नहीं, वह न बन्ध है, न मुक्त है और न उसे आकाश में कार्य है, न पाताल में कार्य है, वह यथावस्तु और यथादृष्टि आत्मा को देखता है, उसको द्वैतभाव कुछ नहीं फुरता और न उसको बन्ध मुक्त के निमित्त कुछ कर्तव्य है, क्योंकि सम्यक्ज्ञान से उसके सब संदेह जल गये हैं। जैसे पिंजरे से छूटा पक्षी आकाश में उड़ता है तैसे ही शङ्का से रहित उसका चित्त आत्मआकाश को प्राप्त हुआ है। हे रामजी ! जिसका मन संसारभ्रम से मुक्त हुआ है और जो समरस आत्मभाव में स्थित है उसको इष्ट अनिष्ट में कुछ रागद्वेष नहीं होता; वह आकाश की नाईं सबमें सम रहता है। जैसे पालने में बालक अभिमान से रहित अङ्ग हिलाता है तैसे ही ज्ञानी की चेष्टा अभिमान से रहित होती है और जैसे मद्यपान करनेवाला उन्मत्त हो जाता है तैसे ही आत्मानन्द में ज्ञानी घूर्म हो जाता है और द्वैत की सँभाल उसको कुछ नहीं रहती; हेयोपादेय बुद्धि से रहित होता है। हे रामजी ! वह सबको सर्वप्रकार ग्रहण करता है और त्याग भी करता है परन्तु हृदय से ग्रहण त्याग कुछ नहीं करता। जैसे बालकों को ग्रहण त्याग की बुद्धि नहीं होती तैसे ही ज्ञानी को नहीं होती और न उसको सब कार्यों में रागद्वेष ही फुरता है वह जगत् के पदार्थों को न सत् जानकर ग्रहण करता है और न असत् जानकर त्याग करता है; सबमें एक अनुस्यूत आत्मतत्त्व देखता है, न इष्ट में सुखबुद्धि करता है और न अनिष्ट में द्वेषबुद्धि करता है। हे रामजी ! जो सूर्य शीतल हो जावें; चन्द्रमा उष्ण हो जावें और अग्नि अधो को धावे तो भी ज्ञानी को कुछ आश्चर्य नहीं भासता। वह जानता है कि सब चिदात्मा की शक्ति फुरती है वह न किसी पर दया करता है और न निर्दयता करता है; न लज्जा करता है, न निर्लज्ज है; न दीन होता है, न उदार होता है; न सुखी होता है, न दुःखी होता है; और उसे न हर्ष है, न उद्वेग है; वह सब विकारों से रहित शुद्ध अपने आपमें स्थित है। जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है तैसे ही वह भी निर्मलभाव में स्थित है और जैसे आकाश में अंकुर नहीं उदय होता तैसे ही उसको रागद्वेष उदय नहीं होता। हे रामजी ! ऐसा पुरुष सुख दुःख को

कैसे ग्रहण करे ? उसको जगज्जाल ऐसे भासता है जैसे जल में तरङ्ग। ऐसे जानकर तुम भी अपने स्वभाव में स्थित हो। हे रामजी ! जैसे जाग्रत् के एक निमेष में स्वप्नसृष्टि फुर आती है और एक ही क्षण में नष्ट हो जाती है, तैसे ही जाग्रत् में भी सृष्टि उपज आती है और लीन हो जाती है। जो कुछ इच्छा, अनिच्छा, दुःख, सुख, शोक, मोह आदिक विकार हैं वे सब मन में फुरते हैं; जहाँ मन होता है वहाँ विकार भी होते हैं। जैसे जहाँ समुद्र होता है वहाँ तरङ्ग भी होते हैं तैसे ही जहाँ मन होता है वहाँ विकार भी होते हैं और जहाँ चित्त का अभाव है वहाँ विकारों का भी अभाव है। जबतक चित्त फुरता है तबतक जगत्भ्रम होता है और जब विचाररूपी सूर्य के तेज से मनरूपी बरफ़ का पुतला गल जाता है तब आनन्द होता है। तब सुख दुःख की दशा शान्त हो जाती है और जब सुख दुःख का अभाव हुआ तब ग्रहणत्याग भी मिट जाता है और इष्ट अनिष्ट वाञ्छित नष्ट हो जाते हैं। जब ये नष्ट हो जाते हैं तब शुभ अशुभ भी नहीं रहते और जब शुभ अशुभ न रहे तब रमणीय अरमणीय भी नष्ट हो जाते हैं और भोगों की इच्छा भी नष्ट हो जाती है। जब भोगों की इच्छा नष्ट हो जाती है तब मन भी निराशपद में लीन हो जाता है। हे रामजी ! जब मूल से मन नष्ट हुआ तब मन में जो संसार के संकल्प हैं वे कहाँ रहे ? जैसे तिलों के जले से तेल नहीं रहता तैसे ही मन में संकल्प विकल्प नहीं रहते तब केवल शान्त आत्मा ही शेष रहता है। जैसे मन्दराचल के क्षोभ मिटे से क्षीरसमुद्र शान्तिमान् होता है तैसे ही चित्त शान्त होता है। हे रामजी ! इससे भाव में अभाव की भावना दृढ़ करो और स्वरूप का अभ्यास करो। जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है तैसे ही कलना को त्यागकर महात्मा पुरुष निर्मल हो जाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे जीवन्मुक्तवर्णनं नाम
द्विसप्ततितमस्सर्गः ॥ ७२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जैसे जल में द्रवता से चक्र (आवर्त) होते हैं सो असत् ही सत् होकर भासते हैं तैसे ही चित्त के फुरने से असत् जगत् सत् हो भासता है और जैसे नेत्रों के दुखने से आकाश में तरवरे

मोर के पुच्छवत् मुक्तमाला हो भासते हैं सो असत् ही सत् भासते हैं तैसे ही चित्त के फुरने से जगत् भासता है। जैसे बादलों के चलने से चन्द्रमा चलता दृष्टि आता है तैसे ही चित्त के फुरने से जगत् भासता है। रामजी बोले, हे भगवन्! जिससे चित्त फुरता है और जिससे अफुर होता है वह प्रकार कहिये कि उसका मैं उपाय करूँ। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जैसे बरफ़ में शीतलता; तिलों में तेल, फूलों में सुगन्ध और अग्नि में उष्णता होती है तैसे ही चित्त में फुरना होता है। चित्त और फुरना दोनों एक अभेद वस्तु हैं; दोनों में जब एक नष्ट हो तब दोनों नष्ट हो जाते हैं। जैसे शीतलता और श्वेतता के नष्ट हुए बरफ़ नष्ट हो जाता है तैसे ही एक के नाश हुए दोनों नष्ट होते हैं। इसलिये चित्त के नाश के दो क्रम हैं—योग और ज्ञान। चित्त की वृत्ति के रोकने को योग कहते हैं और सम्यक् विचारने का नाम ज्ञान है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! वृत्ति का निरोध किस युक्ति से होता है और प्राण, अपान पवन क्योंकर रोके जाते हैं कि जिस योग से अनन्त सुख और सम्पदा प्राप्त होती है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस देह में जो नाड़ी हैं उनमें प्राणवायु फिरता है—जैसे पृथ्वी पर नदियों का जल फिरता है। वह प्राणवायु एक ही है पर स्पन्द के वश से नाना प्रकार की विचित्र क्रिया को प्राप्त होता है उससे अपान आदिक संज्ञा पाता है। योगीश्वरों की कल्पना है कि जैसे पुष्प में सुगन्ध और बरफ़ में श्वेतता अभेद है और आधार आधेय एकरूप है तैसे ही प्राण और चित्त अभेदरूप है। जब भीतर प्राणवायु फुरती है तब चित्तकला फुरकर जो संकल्प के सम्मुख होती है उसी का नाम चित्त है। जैसे जल द्रवीभूत होता है और उसमें लहर और चक्र फुर आते हैं तैसे ही प्राणों से चित्त फुर आता है। चित्त के फुरने का कारण प्राणवायु ही है जब प्राणवायु का निरोध होता है तब निश्चय करके मन भी शान्त होता है और मन के लीन हुए संसार भी लीन हो जाता है—जैसे सूर्य के प्रकाश के अभाव हुए रात्रि में मनुष्यों का व्यवहार शान्त हो जाता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! यह जो सूर्य और चन्द्र निरन्तर आगमन करते हैं तो देहरूपी गृह में प्राणवायु का

रोकना किस प्रकार होता है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! सन्तजनों के संग, सत्शास्त्रों के विचार और विषयों के वैराग्य से योगाभ्यास होता है। प्रथम जगत् में असत्बुद्धि करनी चाहिये और वाञ्छित जो अपना इष्टदेव है उसका ध्यान करना चाहिये। जब चिरकाल ध्यान होता है तब एक तत्त्व का अभ्यास होता है उससे प्राणों का स्पन्द रोका जाता है। रेचक, पूरक और कुम्भक जो प्राणायाम हैं उनका जब अखेदचित्त होकर अभ्यास दृढ़ करे और एक ध्यानसंयुक्त हो उससे भी प्राणों का स्पन्द रोका जाता है। ऊकार का उच्चार करने से ऊर्ध्व उसकी जो सूक्ष्मध्वनि होती है तो प्रथम शब्द बड़ी ध्वनि से होता है और फिर सूक्ष्म ध्वनि शेष रहती है उसमें चित्त की वृत्ति लगावे तो सुषुप्तिरूप अवस्था में वृत्ति तद्रूप हो जाती है तभी प्राणस्पन्द रोका जाता है। रेचक प्राणायाम के अभ्यास से विस्तृत प्राणवायु से शून्य भाव आकाश में जाय लीन होता है तब भी प्राण स्पन्द रोका जाता है। कुम्भक के अभ्यास के बल से भी प्राणवायु रोका जाता है। तालुमूल के साथ यत्न से जिह्वा को तालुघण्टा से लगा खेचरीमुद्रा से वायु ऊर्ध्वरन्ध्र को जाती है और ऊर्ध्वरन्ध्र में गये से भी प्राणवायु का स्पन्द रोका जाता है। नासिका के अग्र में जो द्वादश अंगुल पर्यन्त अपानरूपी चन्द्रमा का निर्मल स्थान आकाश में है उसको ज्यों का त्यों देखे तौ भी प्राणस्पन्द रोका जाता है। तालु के द्वादश अंगुल ऊर्ध्वरन्ध्र का अभ्यास हो तो उसके अन्त में जब प्राणों को लगावे तब उस संवित् में प्राणों का फुरना नष्ट हो जाता है। जो भ्रुवमध्य त्रिपुटी में प्रकाश को त्यागकर जहाँ चेतनकला रहती है वहाँ वृत्ति लगावे तो उससे भी प्राणकला रोकी जाती है। जो सब वासनाओं को त्यागकर हृदय आकाश में चेतनसंवित् का ध्यान करे तौ भी चिरकाल के अभ्यास से प्राणस्पन्द रोका जाता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जगत् के भूतों का हृदय क्या कहाता है जिस महाआदर्श में सब पदार्थ प्रतिबिम्बित हो जाता है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जगत् के भूतों के दो हृदय हैं—एक ग्रहण करने योग्य है और दूसरा त्यागने योग्य। नाभि से जो दश अंगुल ऊर्ध्व है वह त्यागने योग्य है परिच्छिन्नभाव से जो देह के एक स्थान में स्थित है

और उसमें जो संवित्मात्र ज्ञान स्वरूप अनुभव से प्रकाशता है वह मनुष्य को ग्रहण करने योग्य है जो भीतर बाहर व्याप रहा है और वास्तव में भीतर बाहर से भी रहित है वही प्रधान हृदय है और सब पदार्थों का प्रतिबिम्ब धारनेवाला आदर्श है। सब सम्पदा का भण्डार और सब जीवों का संवित् हृदय वही है; एक अङ्ग का नाम हृदय नहीं। जैसे जल में एक पुरातन पत्थर पड़ा हो तो वह जल नहीं हो जाता तैसे ही संवित्मात्र के निकट संवित्मात्र तो नहीं होता? यह जड़रूप है और आत्मा चैतन्य आकाश है। इस प्रधान हृदय से बल करके संवित्मात्र की ओर चित्त लगावे तब प्राण स्पन्द भी रोका जावेगा। हे रामजी! यह प्राणों का रोकना मैंने तुमसे कहा है और भी शास्त्रों में अनेक प्रकार से कहा है पर जिस जिस प्रकार गुरु के मुख से सुने उसी प्रकार अभ्यास करे तब प्राणों का निरोध होता है; गुरु के उपदेश से अन्यथा सिद्ध नहीं होता। जिसको अभ्यास करके निरोध सिद्ध हुआ है वह कल्याणमूर्ति है और कोई कल्याणमूर्ति नहीं होता। हे रामजी! अभ्यास करके प्राणायाम होता है और वैराग्य की दृढ़ता से वासना क्षय होती है अर्थात् वासना रोकी जाती है। जब दृढ़ अभ्यास करे तब चित्त अचित्त हो जाता है। हे रामजी! भृकुटी के दश अंगुल पर्यन्त जो वायु जाता है उसका बारम्बार जब अभ्यास करते हैं तब वह क्षीण हो जाता है और खेचरीमुद्रा अर्थात् तालु से जिह्वा लगा करके जो अभ्यास करे तौ भी प्राण रोके जाते हैं। इसके अभ्यास से चित्त की व्याकुलता जाती रहती है, और परम उपशम को प्राप्त होता है। जो यह अभ्यास करता है वह पुरुष आत्मारामी होता है, उसके सब शोक दूर हो जाते हैं और हृदय में आनन्द की प्राप्ति होती है। इससे तुम भी अभ्यास करो। जब प्राणस्पन्द मिट जाता है तब चित्त भी स्थित हो जाता है; उसके पीछे जो पद है सो ही निर्वाणरूप है। हे रामजी! जब प्राणस्पन्द मिट जाते हैं तब चित्त भी स्थित हो जाता है। और जब चित्त स्थित हुआ तब वासना नष्ट हो जाती है; जब वासना नष्ट हो जाती है तब मोक्ष की प्राप्ति होती है। जबतक चित्त वासना से लिपटा है तबतक जन्म मरण देखता है और जब मन वासना से रहित होता है तब मोक्ष होता है। हे रामजी! प्राणवायु को रोककर वासना से रहित हो

जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहाँ बिचरो तो तुमको बन्धन न होगा। जब प्राण फुरता है तब मन उदय होता है और जब मन उदय हुआ तब संसारभ्रम होता है जब मन क्षीण होता है तब संसारभ्रम नष्ट हो जाता है। हे रामजी! जब मन से संसार की वासना मिट जाती है तब अशब्द पद प्राप्त होता है। जिससे यह सर्व है, और जो यह सर्व है, जिससे न सर्व है और जो न सर्व है; जो न सर्व में है और जिसमें न यह सर्व है ऐसा जो निर्गुणतत्त्व है सो सर्वकलना के त्यागे से प्राप्त होता है उसको उपमा किसकी दीजे। आत्मा अविनाशी, निर्विकल्प और निर्गुण है; यह जगत् नाशरूपी संकल्प से रचित गुणरूप है; उसका किस पदार्थ से दृष्टान्त दीजे? अर्थात् दूसरा कुछ नहीं; जितने कुछ स्वाद हैं उनको स्वादकर्ता वही है और जितने प्रकाश हैं उनको प्रकाशकर्ता वही है; सर्वकलना का कलनारूप वही है और जितने पदार्थ हैं उन सबका अधिष्ठानरूप वही है। वह चित्त और आवरण के दूर हुए प्राप्त होता है और सब पदार्थों की सीमा वही है। ऐसा जो आत्मरूप शीतल चन्द्रमा है जब उसमें बुद्धिमान् स्थित होता है तब जीवन्मुक्त कहाता है और उसकी सब इच्छा और आश्चर्य नष्ट हो जाता है, अहं त्वं आदिक कल्पना मिट जाती है, सर्व व्यवहार विस्मरण हो जाता है। ऐसा जो मुक्त मन है सो पुरुषोत्तम होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे जीवन्मुक्तज्ञानबन्धो नाम
त्रिसप्ततितमस्सर्गः ॥ ७३ ॥

रामजी ने पूछा, हे प्रभो! योग की युक्ति तो आपने कही जिससे चित्त उपशम होता है अब सम्यक्ज्ञान का लक्षण भी कृपाकरके कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह तो निश्चय है कि आत्मा आनन्दरूप, आदि-अन्त से रहित, प्रकाशरूप, सर्व, परमात्मा तत्त्व है इसी निश्चय को बुद्धीश्वर सम्यक्ज्ञान कहते हैं। यह जो घट पटादिक अनेक पदार्थ शक्ति है यह सब परमानन्दरूप आत्मा है उससे भिन्न नहीं। यह सम्यक् ज्ञानी की दृष्टि है। और सर्वात्मा नित्य, शुद्ध, परमानन्दस्वरूप, सदा अपने आपमें स्थित है ऐसा निश्चय सम्यक्ज्ञान है और जो इससे भिन्न हो सो असम्यक्ज्ञान है। हे रामजी! सम्यक्दर्शी को मोक्ष है और असम्यक्दर्शी को बन्ध है,

क्योंकि उसको आत्मा जगत्रूप भासता है और सम्यक्दर्शी को केवल आत्मा भासता है। जैसे रस्सी में असम्यक्दर्शी को सर्प भासता है और सम्यक्दर्शी को रस्सी ही भासती है। सर्वसंवेदन और संकल्प से रहित शुद्ध संवित् परमात्मा है उसको जो जानता है वही परमात्मा का जाननेवाला बुद्धीश्वर है। इससे भिन्न अविद्या है। हे रामजी ! आत्मतत्त्व सदा अपने आपमें स्थित है और उसमें द्वैतकलना कोई नहीं। ऐसा जो यथार्थदर्शी है वही सम्यक्दर्शी है। सर्व आत्मा पूर्ण है उसमें भाव, अभाव, बन्ध, मोक्ष कोई नहीं और न एक है, न द्वैत है; ब्रह्म ही अपने आपमें स्थित है जो सब चिदाकाश है तो बन्ध किसे कहिये और मोक्ष कौन हो ? ऐसा जिनको ज्ञान है उनको काष्ठ-पाषाण ब्रह्मा से च्यूंटी पर्यन्त सब सम भासता है अल्पमात्र भी भेद नहीं भासता तो वह कल्पना के सम्मुख कैसे होवे ? हे रामजी ! वस्तु के आदि-अन्त अन्वय व्यतिरेक करके आत्मा सिद्ध होता है अर्थात् पदार्थ हैं सो हैं तौ भी आत्मसत्ता से सिद्ध होता है और जो पदार्थ का अभाव हो जाता है तौ भी आत्मसत्ता शेष रहती है। तुम उसी के परायण हो रहो, वही अनुभवसत्ता जगत्रूप होकर भासती है और जरा-मरण आदिक जो नाना प्रकार के विकार वस्तुरूप भासते हैं वह वस्तु अपने आपमें ही फुरती है। जैसे जल में द्रवता से नाना प्रकार के तरङ्ग बुद्बुदे होते हैं सो वे जलरूप हैं। कुछ भिन्न नहीं; तैसे ही चित्त के फुरने से जो नाना प्रकार के पदार्थ भासते हैं सो आत्मरूप हैं। आत्मतत्त्व ही अपने आपमें स्थित है; जब उसमें स्थित होता है तब फिर दीन नहीं होता जो पुरुष दृढ़ विचारवान् है वह भोगों से चलायमान नहीं होता—जैसे मन्द पवन से सुमेरुपर्वत चलायमान नहीं होता—और जो अज्ञानी है और विचार से रहित मूढ़ है उसको भोग ग्रास कर लेते हैं—जैसे जल से रहित मछली को बगुला खा लेता है। जिसको सर्व आत्मा ही भासता है वह सम्यक्दर्शी पुरुष कहाता है—वही मुक्तरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे सम्यक्ज्ञानवर्णनन्नाम
चतुस्सप्ततितमस्सर्गः ॥ ७४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! विवेकी पुरुष को जो भोग निकट आ प्राप्त
ते हैं तो भी उनकी इच्छा नहीं करता, क्योंकि उसको उन में अर्थबुद्धि
हीं—जैसे चित्र की लिखी हुई सुन्दर कमलिनी के निकट भँवरा आन
स होता है तौ भी उसकी इच्छा नहीं करता। हे रामजी ! सुख दुःख
प्राप्ति और निवृत्ति में इच्छा तबतक होती है जबतक देहाभिमान होता
; जब देहाभिमान निवृत्त हुआ तब कुछ इच्छा नहीं होती। हे रामजी !
मता करके दुःख होता है; जब रूप को नेत्र देखता है तब उसको इष्ट
नकर प्रसन्न होता है और अनिष्ट मानकर द्वेष करता है। जैसे बैल
रवाहक की चेष्टा करता है उसको लाभ और हानि कुछ नहीं और
सको उसमें ममत्व होता है वह लाभ-हानि का हर्ष-शोक करता है;
ही ममत्व से जीव इन्द्रियों के विषयों में हर्ष शोकवान् होता है। जैसे
र्दभ कीचड़ में डूबे और राजा शोक करे कि मेरे नगर का गर्दभ डूबा
; तैसे ही ममत्व करके इन्द्रियों के विषयों में जीव दुःख पाता है; नहीं
गर्दभ कीचड़ में डूबे तो राजा का क्या नष्ट होता है। हे रामजी !
इन्द्रियाँ तो अपने विषयों को ग्रहण करती हैं और इनमें जीव तपाय-
न होता है सो ही आश्चर्य है। जिन विषयों की जीव चेष्टा और इच्छा
ते हैं सो क्षण में नष्ट हो जाते हैं। हे रामजी ! जो मार्ग में किसी के
थ स्नेह हो जाता है तो ममत्व और प्यार से दुःख होता है। जो देह
ममत्व करेगा उसको दुःख क्यों न होगा ? चाहे कैसा ही बुद्धिमान्
वा शूरमा हो तौ भी संग से बन्धवान् होता ही है अर्थात् इन्द्रियों के
षयों का अहंममभाव ग्रहण करेगा तो उनके नाश होने से वह भी
होवेगा। जिन नेत्रों का विषय रूप है सो नेत्र साक्षी होकर रूप को
हण करता है और जीव ऐसा मूर्ख है कि औरों के धर्म आपमें मान
ता है और उनमें तपायमान होता है। जैसे भ्रमदृष्टि से आकाश में
र पुच्छवत् तरुवरे और दूसरा चन्द्रमा भासता है; तैसे ही मूर्खता से
व इन्द्रियों के धर्म अपने में मान लेता है। जैसे इन्द्रियों का साक्षी
कर जीव विषयों को ग्रहण करता है तैसे ही चित्त भी अभिमान से
हित साक्षी होकर ग्रहण करे तो रागद्वेष से तपायमान न हो जैसे जल

में चक्र तरङ्ग फुरते दृष्टि आते हैं तैसे ही इन्द्रियों में और इन्द्रियाँ फुर आती हैं; आधार आधेय से इनका सम्बन्ध होता है और चित्त इनके साथ मिलकर व्याकुल होता है। रूप, इन्द्रिय और मन इनका परस्पर भिन्न भाव है जैसे मुख, दर्पण और प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न असंग है तैसे ही यह भी भिन्न-भिन्न असंग है परन्तु अज्ञान से मिले हुए भासते हैं। जैसे लाख से सोने, रूपे और चीनी का संयोग होता है तैसे ही अज्ञान से रूप, अवलोक और मनस्कार का संयोग होता है। जब ज्ञानअग्नि से अज्ञानरूपी लाख जल जावे तब परस्पर सब भिन्न-भिन्न हो जाते हैं और फिर किसी का दुःख सुख किसी को नहीं लगता। जैसे दो लकड़ी का संयोग लाख से होता है तैसे ही अज्ञान से विषय इन्द्रियों और मन का संयोग होता है और ज्ञानरूपी अग्नि से जब बिछुर जाते हैं तब फिर नहीं मिलते। जैसे माला के भिन्न-भिन्न दाने तागे में इकट्ठे होते हैं तैसे ही देह और इन्द्रियों में अज्ञान से मेल होते हैं और जब विचार करके तागा टूट पड़े तब भिन्न-भिन्न हो जावे फिर न मिले। हे रामजी ! जिन पुरुषों को आत्मविचार हुआ है वे ऐसे विचारते हैं कि हमको दुःख देनेवाला चित्त था और चित्त के नष्ट हुए आनन्द हुआ है। जैसे मन्दिर में दुःख देनेवाला पिशाच रहता है तब दुःख होता है, नहीं तो मन्दिर दुःख नहीं देता, पिशाच ही दुःख देता है; तैसे ही शरीररूपी मन्दिर में दुःख देनेवाला चित्त ही है। हे चित्त ! तूने मिथ्या मुझको दुःख दिया था। अब मैंने आपको जाना है। तू आदि भी तुच्छ है, अन्त भी तुच्छ है और वर्तमान में भी मिथ्या जीवों को दुःख देता है। जैसे मिथ्या परछाहीं बालक को वैताल होकर दुःख देती है—बड़ा आश्चर्य है। हे चित्त ! तू तबतक दुःख देता है जबतक आत्मस्वरूप को नहीं जाना। जब आत्मस्वरूप का ज्ञान होता है तब तू कहीं दृष्टि नहीं आता। तू तो मायामात्र है। स्थिर हो अथवा जा, मैं अब तुझसे मोहित नहीं होता। तू तो मूर्ख जड़ और मृतक है और तेरा आकार अविचार से सिद्ध है। अब मैंने पूर्व का स्वरूप पाया है; तू तत्त्व नहीं, भ्रान्तिमात्र है। जो मूढ़ है वह तुझसे मोहित होता है, विचारवान् मोहित नहीं होता। जैसे दीपक से अन्धकार दृष्टि नहीं आता, तैसे ही ज्ञान से तू

दृष्टि नहीं आता। हे मूर्ख चित्त ! तू बहुत काल इस देहरूपी गृह में रहा है और तू वैतालरूप है। जैसे अपवित्र और श्मशान आदिक स्थानों में वैताल रहता है तैसे ही सत्संग से रहित देहरूपी गृह श्मशान के समान सदा अपवित्र है वहाँ तेरे रहने का स्थान है। जहाँ सन्तों का निवास होता है वहाँ तुझ सरीखे ठौर नहीं पाते सो अब मेरे देहरूपी गृह में सत् विचार सन्तोषादिक सन्तजन आन स्थित हुए हैं तेरे बसने का ठौर नहीं। हे चित्त पिशाच ! तू पूर्वरूपी तृष्णा पिशाचिनी और काम क्रोधादिक गुह्यक अपने साथ लेकर चिरपर्यन्त बिचरा है अब विवेकरूपी मंत्र से मैंने तुझको निकाला है तब कल्याण हुआ। हे चित्त पिशाचरूप ! तू प्रमादरूपी मद्य पानकर मत्त हुआ था और चिरपर्यन्त नृत्य करता था। अब मैंने विवेकरूपी मंत्र से तुझको निकाला है तब देहरूपी कन्दरा शुद्ध हुई है और शुद्धभाव पुरुषों ने निवास किया है। हे चित्त ! मैंने तुझको विवेकरूपी मंत्रद्वारा वश किया है। अब तेरा क्या पराक्रम है ? तू तबतक दुःख देता था जबतक विचाररूपी मंत्र न पाया था। अब तेरा बल कुछ नहीं चलता। अब मैं महाकेवलभाव में स्थित हूँ। आगे भी मैं तुझको जगाता था, आपसे ही तू सब रूप है। जैसे कच्चे मन्त्रवाला सिंह को जगाता है और आप कष्ट पाता है तैसे ही मैं तुझको जगाकर कष्ट पाता था। अब मैंने आत्मविचार से परिपक्क मन्त्र से तुझे वश किया है तब शान्तिमान् हुआ हूँ। अब ममता और मान मेरे कुछ नहीं रहे। मोह, अहंकार सब नष्ट हो गये हैं और इनका कलत्र भी नष्ट हो गया है। मैं निर्मल और चैतन्य आत्मा हूँ। मेरा मुझको नमस्कार है। न मेरे में कोई आशा है, न कर्म है, न संसार है, न कर्तृत्व है, न मन है, न भोक्तृत्व है और न देह है; ऐसा मेरा निर्गुणरूप आत्मा है। मेरा मुझको नमस्कार है। न कोई आत्मा है, न अनात्मा है; न अहं है, न त्वं है; किसी शब्द का वहाँ प्रवेश नहीं ऐसा निराशपद है। प्रकाशरूप, निर्मल आत्मा में अपने आप में स्थित हूँ। ऐसा जो मैं आत्मा हूँ मेरा मुझको नमस्कार है। मैं विकारी नहीं हूँ; मैं तो नित्य हूँ, निराश हूँ, सर्वकार्यों में अनुस्यूत हूँ, और अंशांशीभाव से रहित हूँ। ऐसा सर्वात्मा जो मैं हूँ सो मेरा मुझको

नमस्कार है। मैं सम सर्वगत, सूक्ष्म और अपने स्वभाव में स्थित हूँ और पृथ्वी, पर्वत, समुद्र, आकाश आदिक जगत् में नहीं और मैं हीं सर्व पदार्थ होकर भासता हूँ। ऐसा मैं सर्वात्मा हूँ। अब मैं सर्वभाव को प्राप्त हुआ हूँ और मननभाव मुझसे दूर हुआ है। मेरे प्रकाश से विश्व भासता है; मैं अजर, अमर और अनन्त हूँ और गुणातीत अद्वैत हूँ। मनन जिससे दूर हुआ है ऐसा जो मैं सुन्दररूप हूँ जिसमें विश्व प्रकट है और स्वरूप से अविनाशी हूँ उस अनन्त अजर, अमर, गुणातीत ईश्वररूप को नमस्कार है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे चित्तउपशम-
नाम पञ्चसप्ततितमस्सर्गः ॥ ७५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार विचारकर तत्त्ववेत्ता आत्मा को सम्यक् जानते हैं। तुम भी आत्मविचार का आश्रय करके आत्मपद के आश्रय हो रहो। यह जगत् सब आत्मरूप है; ऐसे जानकर चित्त से जगत् की सत्यता को त्याग करो। जब ऐसे विचार करे तब चित्त कहाँ है? बड़ा आश्चर्य है कि जो चित्त वस्तुरूप दिखाई देता था सो अविदित मायामात्र अस्तरूप था। जैसे आकाश के फूल कहनेमात्र हैं तैसे ही चित्त कहनेमात्र है और अविचार से दिखाई देता है। विचारवान् को चित्त असत् भासता है, क्योंकि अविचार से सिद्ध है। जैसे नौका पर बैठे बालक को तट के वृक्ष चलते भासते हैं पर बुद्धिमान् को चलने में सद्भाव नहीं होता; तैसे ही मूर्ख को चित्त सत्ता भासती है और विचारवान् का चित्त नष्ट हो जाता है। जब मूर्खतारूप भ्रम शान्त होता है तब चित्त कहीं नहीं पाया जाता। जैसे बालक चक्र पर चढ़ा हुआ फिरता है तो पर्वत आदिक पदार्थ उसको भ्रमते भासते हैं और जब चक्र ठहर जाता है तब पर्वत आदि पदार्थ अचल भासते हैं तैसे ही चित्त के ठहरने से द्वैत कुछ नहीं भासता। आगे मुझको द्वैत भासता था इससे चित्त के फुरने से नाना प्रकार की तृष्णा (इच्छा) उठती थीं अब चित्त के नष्ट हुए इन पदार्थों की भावना नष्ट हुई हैं और सब संशय और शोक मेरे नष्ट हो गये हैं। अब मैं विगतज्वर स्थित हूँ जैसे मैं स्थित हूँ, तैसे हूँ; एषणा कोई नहीं। जब चित्त का चैत्यभाव नष्ट हुआ तब इच्छा आदिक गुण कहाँ रहे? जैसे प्रकाश के नष्ट हुए वर्णज्ञान नहीं रहता तैसे ही चित्त के नाश हुए इच्छा आदिक नहीं रहते। अब चित्त नष्ट हुआ, तृष्णा नष्ट हो गई और मोह का पिंजड़ा टूट पड़ा अब मैं निरहंकार बोधवान् हूँ; सब जगत् शान्तरूप आत्मा है और नानात्व कुछ नहीं। मैं निराभास, आदि-अन्त से रहित आनन्दपद को प्राप्त हुआ हूँ। मेरा सर्वगत सूक्ष्म आत्मतत्त्व अपना आप है और उसमें मैं स्थित हूँ। इन विचारों से अब क्या प्रयोजन है? जबतक आपको मैं देह जानता था तबतक ये विचार मूर्ख अवस्था में थे; अब मैं अमित, निराकार और केवल परमानन्द सच्चिदानन्द को प्राप्त हुआ हूँ। आगे मैं चित्तरूपी वैताल को आप ही जगाता था और आप ही दुःखी होता था, अब विचाररूपी मन्त्र से मैंने इसको नष्ट किया है और निर्णय से अपने स्वरूप को प्राप्त हुआ हूँ। मैं शान्तात्मा अपने आपमें स्थित हूँ। हे रामजी! जिसको यह निश्चय प्राप्त हुआ है वह निर्द्वन्द्व रागद्वेष से रहित होकर स्थित होता है और प्रकृत कर्म करता है पर मानमद से रहित आनन्द करके पूर्ण होता है जैसे शरत्काल की रात्रि को पूर्णमासी का चन्द्रमा अमृत से पूर्ण होता है तैसे ही प्रकृत आचार कार्यकर्ता ज्ञानवान् का हृदय शान्त पूर्ण आत्मा है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे चित्तशान्तिप्रतिपादनं
नाम षट्सप्ततितमस्सर्गः ॥ ७६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह विचार वेदविदों ने कहा है। पूर्व मुझसे ब्रह्माजी ने यही विचार विन्ध्याचल पर्वत पर कहा था। इसी विचार से मैं परमपद में स्थित हुआ हूँ। इसी दृष्टि का आश्रय करके आत्मविचार होकर तमरूपी संसारसमुद्र से तर जाओ। हे रामजी! इस पर एक और परम दृष्टि सुनो वह दृष्टि परमपद के प्राप्त करनेवाली है। जिस प्रकार वीतव मुनीश्वर विचार करके निःशङ्क स्थित हुआ है सो सुनो। महातेजवान् वीतव मुनीश्वर ने संसार के आधिव्याधि रोग से वैराग्य किया और नंगा होके पर्वतों की कन्दराओं में बिचरने लगा। जैसे सूर्य सुमेरु पर्वत के चौफेर फिरता है तैसे ही वह बिचरने लगा और संसार की क्रिया को उद्वेगदुःखरूप विचारता था कि यह बड़े भ्रम देनेवाली है। ऐसे जानकर वह

वान् हुआ और निर्विकल्प समाधि की इच्छा कर अपने व्यवहार को त्याग दिया और अपनी गौरकुटी त्यागकर और केले के पत्रों की बनाकर बैठा। जैसे भँवरा कमल को त्यागकर नीलकमल पर जा बैठता है तैसे ही गौरकुटी को त्यागकर वह श्यामकुटी में जा बैठा। नीचे उसने कुश बिछाया, उस पर मृगछाला बिछाया और उस पर पद्मासन कर बैठा और जैसे मेघ जल को त्यागकर शुद्धमौन स्थित होता है तैसे ही और क्रिया को त्यागकर शान्ति के निमित्त मौन स्थित हुआ। हाथों को तले कर मुख ऊपर कर और ग्रीवा को सूधा करके स्थित हुआ और इन्द्रियों की वृत्ति को रोक फिर मन की वृत्ति को भी रोका। जैसे सुमेरु की कन्दरा में सूर्य का प्रकाश बाहर से मिट जाता है तैसे ही इन्द्रियों की रोकी वृत्ति बाहर से भी मिट जाती है और हृदय से भी विषयों की चिन्तना का उसने त्याग किया। इस प्रकार वह क्रम करके स्थित हुआ। जब मन निकल जावे तब वह कहे कि बड़ा आश्चर्य है, मन महाचञ्चल है कि जो मैं स्थित करता हूँ तो फिर निकल जाता है। जैसे सूखा पत्ता तरङ्ग में पड़ा नहीं ठहरता तैसे ही मन एक क्षण भी नहीं ठहरता सर्वदा इन्द्रियों के विषयों की ओर धावता है। जैसे गेंद को ज्यों-ज्यों ताड़ना करते हैं त्यों-त्यों उछलता है तैसे ही इस मूर्ख मन को जिस-जिस ओर से खैंचता हूँ उसी ओर फिर धावता है और उन्मत्त हाथी की नाईं झूमता है; जो गन्ध की ओर से खैंचता हूँ तो रस की ओर निकल जाता है और जो रस की ओर से खैंचता हूँ तो गन्ध की ओर धावता है स्थिर कदाचित् नहीं होता। जैसे वानर कभी किसी डाल पर कभी किसी डाल पर जा बैठता है इसी प्रकार मूर्ख मन भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की ओर धावता है स्थिर नहीं होता। इसके ग्रहण करने के पञ्च स्थान हैं जिन मार्गों से विषयों को ग्रहण करता है सो पञ्चज्ञान इन्द्रियाँ हैं। अरे मूर्ख, मन! तू किस निमित्त विषयों की ओर धावता है यह तो आप जड़ और असत्रूप भ्रान्तिमात्र है तू इनसे शान्ति को कैसे पावेगा? इनमें चपलता से इच्छा करना अनर्थ का कारण है। ज्यों-ज्यों इनके अर्थों को ग्रहण करेगा त्यों-त्यों दुःख के समूह को प्राप्त होगा। ये विषय जड़ और असत्रूप हैं और तू भी जड़ है जैसे

मृगतृष्णा की नदी असत् होती है तैसे ही ये भी असत्रूप हैं। हे मन! ये तो सब असाररूप हैं तू भी इन्द्रियों सहित जड़रूप है; तू कर्तृत्व का अभिमान क्यों करता है? सबका कर्ता चिदानन्द आत्मभगवान् सदा साक्षी है तैसे ही आत्मा भी साक्षी है तू क्यों वृथा तपायमान होता है? जैसे सूर्य सबकी क्रियाओं को कराता साक्षी है तैसे ही आत्मा साक्षी है और सब जगत् भ्रान्तिमात्र है। जैसे अज्ञान से रस्सी में सर्प भासता है तैसे ही अज्ञान से आत्मा में जगत् भासता है। जैसे आकाश और पाताल का सम्बन्ध कुछ नहीं होता, ब्राह्मण और चाण्डाल का संयोग नहीं होता और सूर्य और तम का सम्बन्ध नहीं होता; तैसे ही आत्मा चित्त और इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं होता। आत्मा सत्तामात्र है और ये जड़ और असत्रूप हैं इनका सम्बन्ध कैसे हो? आत्मा सबसे न्यारा साक्षी है। जैसे सूर्य सब जनों से न्यारा रहता है तैसे ही आत्मा सबसे न्यारा साक्षी है। हे चित्त! तू तो मूर्ख है विषयरूपी चबेने में राग करके सब ओर से भक्षण करता भी कदाचित् तृप्त नहीं होता और तू विचार कि मिथ्या कूकर की नाईं चेष्टा करता है। तेरे साथ हमको कुछ प्रयोजन नहीं। हे मूर्ख! तू तो मिथ्या अहं-अहं करता है और तेरी वासना अत्यन्त असत्-रूप है और जिन पदार्थों की तू वासना करता है वे भी असत्रूप हैं। तेरा और आत्मा का सम्बन्ध कैसे हो? आत्मा चैतन्यरूप है और तू मिथ्या जड़रूप है। यह मैंने जाना है कि जन्ममरण आदिक विकार और जीवत्व-भाव को तूने मुझको प्राप्त किया है। मैं तो केवल चैतन्य परब्रह्म हूँ मिथ्या अहंकार करके जीवत्वभाव को प्राप्त हुआ हूँ। और देहमात्र आपको जानता हूँ। मैं तो संवित्मात्र नित्यशुद्ध आदिअन्त से रहित परमानन्द चिदाकाश अनन्त आत्मा हूँ। अब मैं स्वरूप में जागा हूँ और सद्भाव मुझको कुछ नहीं दृष्टि आता। हे मूर्ख मन! जिन भोगों को तू सुखरूप जानकर धावता है वे अविचार से प्रथम तो अमृत की नाईं भासते हैं और पीछे विष की नाईं हो जाते हैं और वियोग से जलाते हैं। आपको तू कर्ता भोक्ता भी मिथ्या मानता है; तू कर्ता भोक्ता नहीं और इन्द्रियाँ कर्ता भोक्ता नहीं, क्योंकि जड़ हैं। जो तुम जड़ हुए तो तुम्हारे साथ मित्र-

भाव कैसे हो और जो तू जड़ और असत्‌रूप है तो कर्ता भोक्ता कैसे हो और जो चेतन और सत्‌रूप है तो भी तेरे में कर्तृत्व भोक्तृत्व नहीं हो सकता, क्योंकि तू मिथ्या है और मैं प्रत्यक्ष चैतन्य हूँ। तू कर्तृत्व भोक्तृत्व मिथ्या अपने में स्थापन करता है; तू मिथ्या है। जब मैं तुझको सिद्ध करता हूँ तब तू होता है तू निश्चय करके जड़ है, तुझको कर्तृत्व भोक्तृत्व कैसे हो ? जैसे पत्थर की शिला नृत्य नहीं कर सकती तैसे ही तुझको कर्तृत्व की सामर्थ्य नहीं। तेरे में जो कर्तृत्व है सो मेरी शक्ति है—जैसे हसुआ घास, तृण आदिक को काटता है सो केवल आपसे नहीं काटता पुरुष की शक्ति से काटता है और खड्ग में जो हनन क्रिया होती है वह भी पुरुष की शक्ति है; तैसे ही तुम्हारे में कर्तृत्व भोक्तृत्व मेरी शक्ति से है। जैसे पात्र से जलपान करते हैं तो पात्र नहीं करता, पान पुरुष ही करता है और पात्र करके पान करता है तैसे ही तुम्हारे में कर्तृत्व भोक्तृत्व मेरी शक्ति करती है और मेरी सत्ता पाकर तुम अपनी चेष्टा में बिचरते हो। जैसे सूर्य का प्रकाश पाकर लोग अपनी-अपनी चेष्टा करते हैं तैसे ही मेरी शक्ति पाकर तुम्हारी चेष्टा होती है। अज्ञान करके तुम जड़ से रहते हो और ज्ञान करके लीन हो जाते हो। जैसे सूर्य के तेज से बरफ़ का पुतला गल जाता है। इससे, हे चित्त ! अब मैंने निश्चय किया है, तू मृतकरूप और मूढ़ है। परमार्थ से न तू है और न इन्द्रियाँ हैं। जैसे इन्द्रजाल की बाज़ी के पदार्थ भासते हैं सो सब मिथ्या हैं। मैं केवल विज्ञानस्वरूप अपने आपमें स्थित निरामय, अजर, अमर, नित्य, शुद्ध, बोध, परमानन्दरूप हूँ और मैं ही नानारूप होकर भासता हूँ, परन्तु कदाचित् द्वैतभाव को नहीं प्राप्त होता सदा अपने आपमें स्थित हूँ। जैसे जल में तरङ्ग बुद्‌बुदे दृष्टि आते हैं सो जलरूप हैं तैसे ही सब पदार्थ मेरे में भासते हैं सो मुझसे भिन्न नहीं। हे चित्त ! तू भी चिन्मात्रभाव को प्राप्त हो; जब तू चिन्मात्रभाव को प्राप्त होगा तब तेरा भिन्नभाव कुछ न रहेगा और शोक से रहित होगा। आत्मतत्त्व सर्वभाव में स्थित और सर्वरूप है; जब तू उसको प्राप्त होगा तब सब कुछ तुझको प्राप्त होगा। न कोई देह है और न जगत् है सब ब्रह्म ही है; ब्रह्म

ही ऐसे भासता है; वास्तव में अहं त्वं कल्पना कोई नहीं। हे चित्त ! आत्मा चैतन्यरूप और सर्वगत है, आत्मा से भिन्न कुछ नहीं तौ भी तुझको संताप नहीं और जो अनात्मा, जड़ और असत्‌रूप है तौ भी तू न रहा। जो कुछ परिच्छिन्न सा तू बनता है सो मिथ्या भ्रम है; आत्मतत्त्व सर्वव्यापकरूप है द्वैत कुछ नहीं और सर्व वही है तो भिन्न अहं त्वं की कल्पना कैसे हो ? असत् से कार्य की सिद्धता कुछ नहीं होती। जैसे शशे के सींग असत् हैं और उनसे मारने का कार्य सिद्ध नहीं होता तैसे ही तुमसे कर्तृत्व भोक्तृत्व कार्य कैसे हो और जो तू कहे कि मैं सत्-असत् और चेतन-जड़ के मध्यभाव में हूँ—जैसे तम और प्रकाश का मध्यभाव छाया है—तो सूर्यरूप परमात्मा निरञ्जन के विद्यमान रहते मन्दभावी छाया कैसे रहे जिससे कर्तृत्व भोक्तृत्व तुझको नहीं होता, क्योंकि तू जड़ है। जैसे हसुआ अपने आप कुछ नहीं काट सकता, जब मनुष्य के हाथ की शक्ति होती है तब कार्य होता है; तैसे ही तुमसे कुछ कार्य नहीं होता जब आत्मसत्ता तुमसे मिलती है तब तुमसे कार्य होता है। तुम क्यों अहंकार करके वृथा तपायमान होते हो ? हे चित्त ! जो तू कहे कि ईश्वर का उपकार है तो ईश्वर जो परमात्मा है उसको करने न करने में कुछ प्रयोजन नहीं। सबका कर्ता भी वही है और अकर्ता भी वही है। जैसे आकाश पोल से सबको वृद्धता देनेवाला है परन्तु स्पर्श किसी से नहीं करता तैसे ही परमात्मा सब सत्ता देनेवाला है और अलेप है। हे मूर्ख, मन ! तू क्यों भोगों की वाञ्छा करता है ? तू तो जड़ और असत्‌रूप है और देह भी जड़ असत्‌रूप है, भोग कैसे भोगोगे और जो परमात्मा के निमित्त इच्छा करते हो तो परमात्मा तो सदा तृप्त है और इच्छा से रहित है। सर्व में वही पूर्ण है और दूसरे से रहित एक अद्वैत प्रकाशरूप अपने आपमें स्थित है—तुझको किसकी चिन्ता है ? इससे वृथा कल्पना को त्यागकर आत्मपद में स्थित हो—जहाँ सर्वक्लेश शान्त हो जाते हैं। जो तू कहे कि परमात्मा के साथ मेरा कर्तृत्व भोक्तृत्व सम्बन्ध है तो भी नहीं बनता—जैसे फूल और पत्थर का सम्बन्ध नहीं होता। तैसे ही परमात्मा के साथ तेरा सम्बन्ध नहीं होता। समान अधि-

करण और द्रव्य का सम्बन्ध होता है—जैसे जल और मृत्तिका का सम्बन्ध होता है; जैसे औषध में चन्द्रमा की सत्ता प्राप्त होती है; जैसे सूर्य की तपन से शिला तप जाती है; जैसे बीज अंकुर का सम्बन्ध होता है; पिता और पुत्र का सम्बन्ध होता है और द्रव्य और गुण का सम्बन्ध होता है। आकार सहित वस्तु का सम्बन्ध निराकार निर्गुण वस्तु से कैसे हो? परमात्मा चैतन्य है, तू जड़ है; वह प्रकाशरूप है, तू तमरूप है; वह सत्रूप है, तू असत्रूप है; इस कारण सम्बन्ध तो किसी के साथ नहीं बनता है तो तू क्यों वृथा जलता है? तू मननरूप है परमात्मा सर्वकलना से रहित है। तेज की एकता तेज से होती है और जल की एकता जल से होती है। तू कलङ्करूप है; परमात्मा निष्कलङ्क है; तेरी एकता उससे कैसे हो? जिसका कुछ अङ्ग होता है उसका सम्बन्ध भी होता है सो सम्बन्ध तीन प्रकार का है—सम, अर्धसम और विलक्षण। जैसे जल से जल की एकता और तेज से तेज की एकता होती है यह सम सम्बन्ध है पर तेरा आत्मा के साथ सम सम्बन्ध नहीं। दूसरा अर्धसम सम्बन्ध यह है कि जैसे स्त्री और पुरुष के अङ्ग समान होते हैं परन्तु कुछ विलक्षणरूप हैं सो अर्धसम सम्बन्ध भी तेरा और आत्मा का नहीं। कुछ अन्य की नाईं भी तेरा सम्बन्ध नहीं—जैसे जल और दूध का सम्बन्ध होता है तैसे भी तेरा सम्बन्ध नहीं—और अत्यन्त जो विलक्षण हैं उनकी नाईं भी तेरा सम्बन्ध नहीं—जैसे काष्ठ और लाख; पुरुष और हाथी, घोड़ा आदिक का सम्बन्ध नहीं। आधार-आधेयवत् भी तेरा सम्बन्ध नहीं—जैसे बीज और अंकुर, पिता और पुत्र आदिक का जो सम्बन्ध है तैसे भी तेरा और आत्मा का सम्बन्ध नहीं, क्योंकि सम्बन्ध उसका होता है जिसके साथ कुछ भी अङ्ग मिलता है; जिसका कोई अङ्ग नहीं मिलता और परस्पर विरोध हो उसका सम्बन्ध कैसे कहिये? जैसे कहिये कि शश के सींग पर अमृत का चन्द्रमा बैठा है वा तम और प्रकाश इकट्ठे हैं तो जैसे यह नहीं बनता तैसे ही आत्मा के साथ देह, मन और इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं बनता, क्योंकि आत्मा सर्वकलना से अतीत, नित्य शुद्ध, अद्वैत और प्रकाशरूप है और मनादिक जड़ असत, मिथ्या और तमरूप हैं इनका सम्बन्ध

नहीं। जिनका परस्पर विरोध हो उनका सम्बन्ध कैसे हो? तुम तो परमात्मा के अज्ञान से मन, इन्द्रियाँ और देहादिक सहित उदय हुए हो और आत्मा के ज्ञान से अभाव हो जाते हो फिर सम्बन्ध कैसे हो? हे मन! जो कुछ जगत् है वह सब ब्रह्मस्वरूप है—द्वैत नहीं और अहं त्वं की कल्पना भी कोई नहीं। ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है; सब कलना तेरे में थी और तू तबतक था जबतक स्वरूप का अज्ञान था। जब स्वरूप का ज्ञान होता है और अज्ञान नष्ट होता है तब तू कहाँ है। जैसे रात्रि के अभाव से निशाचरों का अभाव हो जाता है तैसे ही अज्ञान के नाश हुए तेरा अभाव हो जाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे वीतवोपाख्याने चित्तानुशासनं
नाम सप्तसप्ततितमस्सर्गः ॥ ७७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार वीतव मुनीश्वर विन्ध्याचल पर्वत की कन्दरा में तीक्ष्णबुद्धि से विचारने लगा और और भी जो कुछ उसने कहा सो सुनो। अनात्मा जो देह इन्द्रियाँ मनादिक हैं वे संकल्प से उपजे हैं, जब ज्ञान उदय होता है तब इनका अभाव हो जाता है। हे मन! जैसे सूर्य के उदय हुए तम नष्ट हो जाता है तैसे ही नित्य उदितरूप अनुभवस्वरूप परमात्मज्ञान के उदय हुए तुम्हारा अभाव हो जाता है। वासना से उसका आवरण होता है और जब वासना का अभाव हो जाता है तब आवरण का भी अभाव हो जाता है। जैसे मेघ के नष्ट हुए सूर्य प्रकाशता है तैसे ही वासना के अभाव हुए आत्मतत्त्व प्रकाशता है। वासना का मूल अज्ञान है; जब अज्ञानसहित वासना नष्ट होती है तब चिदानन्द ब्रह्म प्रकाशता है। वासना ही का नाम बन्ध है और वासना की निवृत्ति का नाम मोक्ष है। जब वासनारूपी रस्सी काटोगे तब परमात्मा का साक्षात्कार होगा। जैसे प्रकाश विना अन्धकार का नाश नहीं होता तैसे ही मन, इन्द्रियाँ, देहादिक आत्मविचार विना नाश नहीं होतीं। जब विचार करके आत्मपद प्राप्त हो तब मन सहित षट् इन्द्रियों का अभाव हो जाता है अर्थात् इनका अभिमान नष्ट होता है और इनके धर्म अपने में नहीं भासते। जबतक देह इन्द्रियों के साथ आवरण है तब-

लग आत्मपद नहीं प्राप्त हो सकता; इससे कल्याण के निमित्त आत्मपद पाने का अभ्यास करो। जबतक जीव मन और इन्द्रियों के गुणों के साथ आपको मिला जानता है तबतक अपने स्वरूप की विभुता और सिद्धता नहीं भासती; जब आत्मा का साक्षात्कार हो जावेगा तब राग द्वेषादिक विकार नष्ट होंगे। जैसे सूर्य के उदय हुए निशाचरों का अभाव हो जाता है तैसे ही आत्मा के साक्षात्कार हुए विकारों का अभाव होता है। जिसके देखे से इनका अभाव हो जाता है उसका आत्मा के साथ सम्बन्ध कैसे हो ? जैसे प्रकाश और तम का सम्बन्ध नहीं होता तैसे ही सत् असत् का सम्बन्ध नहीं होता और जैसे जीव से मृतक का सम्बन्ध नहीं होता तैसे ही आत्मा अनात्मा का सम्बन्ध नहीं होता। आत्मा सर्वकल्पना से रहित है और मन आदिक सर्व कल्पनारूप हैं। कहाँ यह मूक, जड़ और अनात्मारूप और कहाँ नित्य, चेतन, प्रकाश, निराकार, आत्मारूप, इनका परस्पर विरोधरूप है तो सम्बन्ध कैसे कहिये—ये तो निश्चय करके अनर्थ के कारण हैं। जबतक इनका अभिमान है तबतक जगत् दुःखरूप है और जब इनका वियोग हो तब जगत् परमात्मरूप होता है। जबतक आत्मा का अज्ञान है तबतक मनुष्य आपको इनमें मिला देखता है और दुःख पाता है और जब आत्मा का ज्ञान होता है तब अपने साथ इनका संयोग नहीं देखता। यह मैंने निश्चय करके जाना है कि इन्द्रियाँ और मन के संयोग से जगत् भासता है और जब इन्द्रियों का ग्राम नष्ट हो जाता है तब जगत् परमात्मरूप हो जाता है। मैं जो आत्मा, मन और इन्द्रियों को इकट्ठा जानता था सो प्रमादरूपी मद्य के पान से मत्त हुआ मन से जानता था। अब आत्मविचार से मन नष्ट हुआ तब सुखी हुआ हूँ। जो विष को पान करके मूर्च्छित हो सो तो बनता है परन्तु पान किये बिना मूर्च्छित हो सो आश्चर्य है। इससे यदि अनात्मा का इसके साथ संयोग होता हो तो सुख दुःख करके राग द्वेषवान् होना भी बनता पर आत्मा तो सुख दुःख का साक्षीभूत है। सुख का संयोग ही जिससे नहीं और रागद्वेष से जलता है तो महामूर्खता है। आत्मा तो सुख दुःख का साक्षीभूत है जैसा उसके आगे अभ्यास होता है तैसा ही भासता है, कदाचित् विपर्ययभाव को

नहीं प्राप्त होता सुख दुःख में मूर्ख मन राग द्वेषवान् होता है, आत्मा तो सदा साक्षीभूत क्षीणवृत्ति है उसके साथ इन्द्रियों का संयोग कैसे हो ? अब जो संयोग का अभाव सिद्ध हुआ तो आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व कैसे कहिये ? जहाँ चित्तकलना होती है वहाँ कर्तृत्व भोक्तृत्व भी होता है और जहाँ चित्तकलना का अभाव है वहाँ कर्तृत्व भोक्तृत्व का भी अभाव है। ऐसा निष्कलङ्क आत्मतत्त्व मैं हूँ कि न कर्ता हूँ, न भोक्ता हूँ न मेरे में बन्ध है, न मोक्ष है, न हन्ता हैं, न अहन्ता हैं; मैं सर्वात्मा अलेपरूप हूँ। हे मन! तू भी मैं हूँ और पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश पाँचों तत्त्व भी मैं ही हूँ। इस प्रकार निर्णय करके जिसने धारा है वह मोह को नहीं प्राप्त होता। जो अहं अभिमान करनेवाला आत्मा से आपको भिन्न जानता है वह दुःखी होता है और जब अपने स्वभाव में स्थित होता है तब परमसुखी होता है। इससे जिसको कल्याण की इच्छा हो उसको एक आत्म (परमात्म) परायण होना योग्य है। जब स्वरूप को त्यागकर संकल्प की ओर धावता है तब दुःखों के समूह को प्राप्त होता है। हे चित्त! जो तू अपने में कर्तृत्व देखता था सो इन्द्रियों सहित जड़रूप पत्थर के समान हैं—जैसे आकाश में पवन नहीं लगता तैसे ही तुमसे कर्तृत्व नहीं होता। जब स्वरूप का प्रमाद होता है तब जीव चित्त आदिक से आपको मिला जानता है और चित्तादिक आत्मा की सत्ता पाकर चेतन होता है। जैसे अग्नि की सत्ता पाकर लोहा भी जला सकता है तैसे ही तुम आत्मा की सत्ता पाकर कर्तृत्व भोक्तृत्व में समर्थ होते हो। जब आत्मविचार करके स्वरूप का साक्षात्कार होता है, अज्ञानवृत्ति निवृत्त हो जाती है और मनादिक का वियोग होता है तब सर्वकलना से रहित हुआ केवल मोक्षरूप आत्मा होता है और कर्तृत्व भोक्तृत्व का अभाव हो जाता है। जैसे आकाश में लाली का अभाव है तैसे ही आत्मा में कर्तृत्व का अभाव है। सब जगत् आत्मस्वरूप भासता है। जैसे समुद्र तरङ्ग आदिक नाना प्रकार से होता है सो सब जलरूप है—भिन्न नहीं; तैसे ही सर्वजगत् आत्मरूप है—आत्मा से भिन्न नहीं। सच्चिदानन्द आत्मा मैं अपने आपमें स्थित हूँ और द्वैतकलना मेरे में

कोई नहीं। जैसे समुद्र उष्णता से रहित है तैसे ही परमात्मा सर्वकलना से रहित है और जैसे आकाश में वन नहीं होता तैसे ही परमात्मा में कलना नहीं होती; वह संवेदन से रहित, संवित्मात्र सर्वात्मा है; जब उसका साक्षात्कार होता है तब अहं त्वं आदिक कलना का अभाव हो जाता है। वह अनादि, अरूप, सर्वगत, सदा अपने आपमें स्थित है; ऐसा जो अद्वैत तत्त्व है उसको द्वैतकलना आरोपने को कौन समर्थ है। ऐसा कौन है जो आकाश में ऋग्वेद लिखे ? नित्य उद्याति; सर्वका सार, अद्वैत आत्मा है उसमें द्वैत कलना का अभाव है और सबमें पूर्ण, निर्मल, नित्य आनन्दरूप है ऐसे आत्मा को अब मैं प्राप्त हुआ हूँ; जगत् का सुख दुःख अब नष्ट हुआ है और सम शान्तरूप हुआ हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे वीतवोपाख्याने अनुशासनयोगोपदेशो नामाष्टसप्ततितमस्सर्गः ॥ ७८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार वीतव मुनि श्रेष्ठ विचार करता था। फिर जो कुछ वह निर्मलबुद्धि से विचारने लगा सो भी सुनो। हे इन्द्रियरूप, मन ! तुम क्यों अपने अर्थों की ओर धावते हो ? तुमको तो विषयों से शान्ति नहीं होती—जैसे मृग मरुस्थल की नदी देखकर दौड़ता है और शान्तिमान् नहीं होता। इससे तुम भी विषयों की ओर तृष्णा करने से शान्तिमान् न होगे। इनकी इच्छा त्यागकर जो परमात्मतत्त्व अविनाशी, सर्व अवस्था में एकरस और सत्य है उसको ग्रहण करो तब सब दुःख तुम्हारे मिट जावेंगे। तुम्हारे साथ में मिला था तब मैंने भी दुःख पाया। तुम अज्ञान से उत्पन्न हुए हो और जो तुम्हारे साथ मिलता है उसको भी दुःख प्राप्त होता है। जैसे तपी हुई लाख जिसके शरीर से स्पर्श करती है उसको जलाती है तैसे ही जिसको तुम्हारा संग हुआ है वह दुःख पाता है। हे मन ! यह जीव तुम्हारे संग से काल के मुख में जा पड़ता है। जैसे नदी जलसहित होती है तब समुद्र की ओर चली जाती है—जल से रहित हो तो क्यों जावे; तैसे ही तुम्हारा संग करके जीव काल के मुख में जा पड़ता है, तुम्हारा संग न हो तो क्यों पड़े ? जैसे मेघ कुहिरे से सूर्य को घेर लेता है; तैसे ही मनरूपी मेघ इच्छारूपी कुहिरे से

आत्मारूपी सूर्य को घेर लेता है और परम्परा दुःखों की वर्षा करनेवाला है। हे मन ! तेरे में चिन्ता उठती है इससे तू मर्कट की नाईं है। जैसे मर्कट वृक्ष को ठहरने नहीं देता, हिलाता है तैसे ही चित्त देह को ठहरने नहीं देता। चित्तरूपी पखेरू के लोभ और लज्जा दो पंख हैं और रागद्वेषरूपी चोंच है जिससे शरीररूपी वृक्ष पर बैठा शुभगुणों को काटकाटकर खाता है। चित्तरूपी महानीच कुत्ता भोगभावनारूपी महाअपवित्र पदार्थों को हृदयरूपी स्थान में इकट्ठा करता है और ऐसी चेष्टा से कदाचित् रहित नहीं होता। चित्तरूपी उलूक अज्ञानरूपी रात्रि में बिचरता है; चेष्टा करके प्रसन्न होता है और शब्द करता है। जैसे श्मशान से वैताल शब्द करता है। जब अज्ञानरूपी रात्रि नष्ट हो तब चित्तरूपी उलूक का भी अभाव हो और सम्पदा आन प्रवेश करे। जैसे सूर्य के उदय हुए सूर्यमुखी कमल उदय होता है तैसे ही सम्पदा प्रफुल्लित होती है। जब मोहरूपी कुहिरा और इच्छारूपी धूलि हृदयरूपी आकाश से निवृत्त होती है तब निर्मल आकाश प्रकट होता है। हे चित्त ! जबतक तू नष्ट नहीं होता तबतक शान्ति नहीं होती। स्वस्थ बैठे हुए जो चिन्ता प्राप्त होती है वह तेरे ही संयोग से होती है। जहाँ चित्त नष्ट होता है तहाँ सर्व आनन्द होकर शीतलता और मित्रता से पावन होता है। जैसे शीतकाल का आकाश निर्मल होता है और मेघ के नष्ट हुए सूर्य प्रकाशता है तैसे ही अज्ञान के नष्ट हुए आत्मा में प्रकाशता और प्रसन्नता, गम्भीरता, महत्त्वता और समता होती है। जैसे वायु और मन्दराचल पर्वत से रहित क्षीरसमुद्र शान्तिमान् होता है और पूर्णमासी का चन्द्रमा शोभता है तैसे ही अज्ञान के नाश हुए आत्मानन्द पाकर यह मनुष्य शोभता है। हे चित्त ! यह स्थावर-जङ्गम जगत् संवित्रूप आकाश में है। उस महत् ब्रह्म को तुम भी प्राप्त हो। जो पुरुष आशारूपी फाँसी को तोड़कर आत्मपद में प्राप्त हुआ है और जिसने संसार का सद्भाव निवृत्त किया है वह जन्म-मरण के बन्धन में नहीं पड़ता। जैसे जला हुआ पत्र फिर हरा नहीं होता तैसे ही चित्त नष्ट हुआ जन्म-मरण नहीं पावता। हे चित्त ! तू सबको भक्षण करनेवाला है। जो तू संसार को सत् मानकर उसकी

ओर धावेगा तो तेरा कल्याण न होगा और जो आत्मा की ओर आवेगा तो तेरा कल्याण होगा। जब तू अपना अभावकर आत्मपद में स्थित होगा तब कल्याणरूप होगा और जो तू अपना सद्भाव करेगा कि आकार को न त्यागेगा तो दुःखी होगा। जो तेरा जीना है वह मृत्यु समान है और जो मृत्यु है सो जीने के समान है। दोनों पक्षों में जो तेरी इच्छा हो सो अङ्गीकार कर। जो तू अबहीं आपको आत्मपद में निर्वाण करेगा तो परमपद को प्राप्त होकर परमसुखी होगा और जो न करेगा तो परम दुःखी होगा जो आत्मपद का त्याग करेगा वह मूढ़ है। तेरा निर्वाण होना आत्मपद में जीने का निमित्त है और आत्मा से भिन्न जो तू जीने की इच्छा करता है सो तेरा जीना मिथ्या है अर्थात् तू आदि भी मिथ्या है और अब भी विचार विना भ्रममात्र है; विचार किये से नष्ट हो जावेगा। जैसे सूर्य के प्रकाश विना अन्धकार होता है और प्रकाश से नष्ट हो जाता है तैसे ही विचार विना चित्त है; विचार से नष्ट हो जाता है। इतने काल में अविवेक से ही जीता था। जैसे बालकों को अपनी परछाहीं में वैताल कल्पना होती है और विचार विना भय पाता है—विचार किये से निर्भय होता है तैसे ही अब मैं तेरे संग से छूट अपने पूर्व स्वरूप को प्राप्त हुआ हूँ और विवेक से तेरा अभाव हुआ है। इससे विवेक को नमस्कार है। हे चित्त! अविवेक से तू मेरा मित्र था अब बोध से तेरा चित्तभाव नष्ट हो गया। तू परमेश्वररूप है। अब वासना नष्ट हुई है। आगे तेरे में नाना प्रकार की वासना थी उससे तू मलिन और दुःखरूप था। अब वासना के नष्ट होने से तेरा परमेश्वररूप हुआ है। तेरे में अज्ञान से चित्तस्वभाव उपजा दुःखों का कारण था सो विवेक से लीन हुआ है। जैसे रात्रि के पदार्थ सूर्य के उदय हुए लीन हो जाते हैं तैसे ही विवेक से चित्तभाव नष्ट हुआ है सो सिद्धान्त का कारण है। तेरे संग से मैं तुच्छ सा हो गया था; अब शास्त्रों की युक्ति से निर्णय किया है कि न तू आगे था, न अब है और न फिर होगा। जबतक मैंने आपको न जाना था तबतक तेरा सद्भाव था; अब मैंने आपको जाना है और अपने आपमें स्थित हुआ हूँ। अब मैं परम निर्वाण और शान्तरूप हूँ; सब ताप मेरे नष्ट हुए हैं और नित्यशुद्ध चिदानन्द परब्रह्मस्वरूप हूँ। जगत् की सत्य-असत्य कलना मेरी नष्ट हुई है, क्योंकि कलना सब चित्त में थी; जब चित्त निर्वाण हो गया तब कलना कहाँ रही? मैं केवल शुद्ध आत्मा हूँ मेरा प्रतियोगी कोई नहीं और न व्यवच्छेद है, क्योंकि दूसरा कोई नहीं केवल चित्त की चेतना फुरती थी सो निर्वाण हो गई है और अब मैं स्वस्थ हुआ हूँ। जैसे तरङ्गों से रहित समुद्र अचल होता है तैसे ही सर्वकलना से रहित मैं वीतराग हूँ और संवेदन से रहित समसत्तामात्र अपने आपमें स्थित हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे वीतवोपाख्याने चित्तोपदेशोनामैकोनाशीतितमस्सर्गः ॥ ७९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इसप्रकार वीतव ने निर्वासनिक हो निर्णय करके विन्ध्याचल पर्वत की कन्दरा में समाधि लगाई और आकाशवत् निर्मलचित्त हो इन्द्रियों की वृत्ति बाहर से खींचकर अचल की और फिर ग्रीवा को शम करके चित्त की वृत्ति अनन्तआत्मा साक्षीभूत में स्थित की। जैसे लकड़ियों को जलाकर अग्नि की ज्वाला शान्त हो जाती है तैसे ही उसके प्राण और मन की वृत्ति का स्पन्द मिट गया और जैसे शिला में खोदी हुई पुतली होती है और मूर्ति की लिखी हुई पुतली होती है तैसे ही स्थित हो गया। मेघों की वर्षा शिर पर हो, मण्डलेश्वर शिकार खेलें, बड़े शब्द हों, रीछ और वानर शब्द करें, बारहसिंगों और हाथियों के शब्द हों, वन में अग्नि लगे, पत्थरों की वर्षा हो, वायु चले और धूप पड़े तौ भी वह समाधि से न जागे और जैसे पहाड़ में शिला दबी होती है तैसे ही उसका शरीर दब गया। जब तीन सौ वर्ष इसी प्रकार व्यतीत हुए तब चित्त फुर आया कि शरीर मेरे साथ है परन्तु प्राण नहीं फुरे और चित्त के फुरने में आपको कैलास पर्वत के ऊपर और कदम्ब के वृक्ष के नीचे देखा। सौ वर्ष पर्यन्त मौन होकर जीवन्मुक्त और निर्मल आत्मा हो बिचरा। सौ वर्ष पर्यन्त विद्याधर होकर विद्याधरों में बिचरा, उसके अनन्तर और पञ्चयुग बीतकर इन्द्र हुआ तब देवता उसे नमस्कार करते थे। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! देश काल और मनादिक प्रतिभा उसको अनियत और अनि-

यम कैसे भासित हुई? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! चित्त सर्वात्मरूप है; जैसा जैसा उसमें फुरना होता है तैसा ही तैसा भासता है। जैसे जैसे देश काल का फुरना होता है तैसे ही तैसे अनुभव होता है। हे रामजी! जितना प्रपञ्च है वह मनोमात्र है। जैसा फुरना तीव्र होता है तैसे ही अनुभवसत्ता में भासित हो वहाँ स्थित होता है। जब और भ्रम में गया तो नियम के अनुसार तैसे ही होता जाता है। जो अज्ञानी होता है उसको वासना से नाना प्रकार का जगत् भासता है और जो ज्ञानवान् होता है वह सब आत्मा को देखता है; उसका फुरना भी अफुरना है और वासना भी अवासना है वीतव मुनीश्वर ने चित्त के फुरने से इतना देखा परन्तु स्वस्थरूप था इससे उसकी वासना भी अवासना थी। जैसे भुना बीज नहीं उगता तैसे ही उसकी वासना भी अवासना थी और भ्रान्ति का कारण न थी। फिर कल्पपर्यन्त वह चन्द्रधार सदाशिवजी का गण हो समस्त विद्या का ज्ञाता और सर्वज्ञ त्रिकालदर्शी जीवन्मुक्त होकर बिचरा। हे रामजी! जैसा किसी का संस्कार दृढ़ होता है तैसा ही उसको अनुभव होता है। जैसे वीतव चित्त को स्पन्द करके जीवन्मुक्ति का अनुभव करता था। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जो ऐसे हैं तो जीवन्मुक्ति के मत में बन्ध मोक्ष हुआ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जीवन्मुक्त को सब ब्रह्मस्वरूप भासता है; बन्ध मोक्ष अवस्था उसमें कहाँ है? ज्ञानमात्र आकाश में जैसा फुरना होता है तैसा हो भासता है। हे अङ्ग! यह सब चिन्मात्रस्वरूप है और जगत् नाना प्रकार का मन से भासता है, वास्तव में न जगत् है; न अजगत् है; केवल ब्रह्मसत्ता स्थित है। जगत् के भूत भविष्यत् केवल ब्रह्मसत्ता भासती है। चिन्मात्र से भिन्न जगत् मन के फुरने से भासता है जिनको ऐसा ज्ञान नहीं उनको जगत् वज्रसार से भी दृढ़ हो भासता है और ज्ञानवान् को आकाशवत् भासता है। हे रामजी! अज्ञान से मन उपजा है और उससे सम्पूर्ण जगत् हुआ है वास्तव में और कुछ नहीं। जैसे समुद्र में तरङ्ग और उल्लास होते हैं तैसे ही चिदाकाश में आकार भासते हैं। जब चित्त अचित्त हो जाता है तब कुछ द्वैत नहीं भासता।

इति श्रीयोग० उपशम० वीतवमनोयज्ञवर्णनं नामाशीतितमस्सर्गः ८०॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! वीतव मुनीश्वर का जो शरीर विन्ध्याचल पर्वत में फँसा था फिर उसकी क्या अवस्था हुई? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! उसके अनन्तर आत्मवेत्ता वीतव मुनीश्वर एक काल में शरीर गणों को मन से विचारने लगा कि कई नष्ट हो गये हैं। उन अनष्टों में पृथ्वी के मध्य जो उसका स्थित था उसको देखा कि कन्दरा की धूलि में वर्षा से फँस गया है और ऊपर तृणजाल जम गया है। उसको देखकर कहने लगा कि इसमें प्रवेश करूँ पर फिर विचार किया कि यह तो जड़ गूँगा और फँसा हुआ है और इसको मैं नहीं निकाल सकता; इससे सूर्यमण्डल को जाऊँ कि सूर्य के सारथी अरुण पंगु इसको निकालेंगे; अथवा इसके साथ मेरा क्या प्रयोजन है? यह नाश हो जावे अथवा रहे इतना यत्न मैं किस निमित्त करूँ? मैं अपने निर्गुण स्वरूप में स्थित होऊँ देह से मेरा क्या है। इस प्रकार विचार वीतव तूष्णी हो गया और एक क्षण के अनन्तर फिर चिन्तन करने लगा कि पृथ्वी में न कुछ त्यागने योग्य है और न कुछ ग्रहण करने योग्य है; इससे देह को त्यागना और रखना समान है तो यह शरीर किस निमित्त दबा रहे। कुछ काल और इसका प्रारब्धवेग है इसलिये आकाश में जो सूर्य स्थित है उसमें प्रवेश करूँ—जैसे आदर्श में प्रतिबिम्ब प्रवेश करता है और उस शरीर को सूर्य के सारथी से निकलवाऊँ। हे रामजी! ऐसे विचारकर मुनीश्वर पुर्यष्टकारूप से आकाशमार्ग में चढ़ा और प्रणाम करके सूर्य के भीतर वायुरूप हो प्रवेश किया—जैसे शस्त्र पिण्ड में अग्नि प्रवेश करती है। सूर्य भगवान् ने जाना कि वीतव मुनीश्वर ने प्रवेश किया है और सर्वज्ञ थे इससे जाना कि पृथ्वी में इसका शरीर कीचड़ और तृणों से दबा हुआ है उसके निकलवाने के निमित्त आया है। ऐसे विचार सूर्य ने अपने सारथी से कहा। हे सारथी! विन्ध्याचल पर्वत की कन्दरा में वीतव मुनीश्वर का शरीर दबा पड़ा है उसको तू जाकर निकाल दे। तब अरुणनामक सारथी ने जिसका शरीर हाथी के समान है विन्ध्याचल पर्वत में आकर नखों से वह शरीर निकाला। उसके नख ऐसे थे जिनसे वह पहाड़ उखाड़ डाले, उन नखों से धरा कोटर में गड़े हुए उस

शरीर को उसने निकाला जैसे समुद्र के तीरे भीह की तन्तु को कीड़ा पाते हैं तैसे ही पर्वत की कन्दरा से उस शरीर को निकाल डाला । तब मुनीश्वर ने पुर्यष्टका से उस शरीर में प्रवेश किया—जैसे पक्षी आकाश मार्ग से उड़ता-उड़ता आलय में आ प्रवेश करे । सावधान होकर अरुण को नमस्कार किया और अरुण ने भी वीतव को नमस्कार किया और अपने-अपने कार्य की ओर हुए । अरुण तो आकाशमार्ग को गया और मुनीश्वर का शरीर कीचड़ से भरा हुआ था इससे उसने तालाब पर जाकर डुबकी मारी और जैसे हाथी मल धोता है तैसे ही स्नान करके संध्यादिक कर्म किये और सूर्य भगवान् का पूजन किया । जैसे प्रथम तप से शरीर शोभता था तैसे ही भूषित किया और मैत्री, समता, सत् मुदिता आदिक गुणों से सम्पन्न होकर ब्रह्मलक्ष्मी से सुशोभित हुआ और सबके संग से रहित भी रहा कि इन गुणों को भी स्वरूप में स्पर्श न करे और आपको शुद्धस्वरूप जाने ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे वीतवसमाधियोगोपदेशो
नामैकाशीतितमस्सर्गः ॥ ८१ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रकार जब कुछ दिन व्यतीत हुए तब समाधि के निमित्त मुनीश्वर का मन उदय हुआ और विन्ध्याचल पर्वत की कन्दरा में जा बैठा । पूर्व जो विचार अभ्यास किया था और परावर परमात्मदृष्टि हुई थी उससे फिर चित्त को कहा कि हे चित्त और इन्द्रियो ! मैंने तुम्हारा पूर्व ही प्रहार कर छोड़ा है । अब तुम्हारे अचित्त में अर्थ अनर्थ कोई नहीं, क्योंकि अस्ति नास्ति कलना मेरी नष्ट हुई है । अस्ति नास्ति के पीछे जो शेष रहता है उसमें स्थित हूँ । जैसे पहाड़ का शृङ्ग अचल होता है तैसे ही अचल हूँ । सदा उदयरूप असत् की नाईं स्थित हूँ और सदा ज्ञानस्वरूप प्रकाशवान् हूँ । असत् की नाईं इस प्रकार कि सदा अक्रियरूप हूँ और असत्रूप उदय की नाईं स्थित हूँ । असत् इस प्रकार से कि मन इन्द्रियों का विषय नहीं और उदय की नाईं इस कारण से कि सबका साक्षीभूत हूँ और सदा समरस प्रकाशरूप अपने आपमें स्थित हूँ । प्रबुद्ध और सुषुप्तिविषय स्थित हूँ । प्रबुद्ध इस कारण कि जो

इन्द्रियों के विषय का उपलब्धि करता हूँ और सुषुप्ति इस कारण कि हर्ष, शोक, इष्ट, अनिष्ट से रहित और जगत् की ओर से सुषुप्तिवत् समाधि में स्थित हूँ और स्वरूप में जाग्रत् हुआ तुरीया पद आत्मतत्त्व में स्थित हूँ। जैसे किसी स्थान में खंभ स्थित होता है तैसे ही स्थितरूप नित्य, शुद्ध, समानसत्ता जो आत्मपद है वहाँ मैं निरामय स्थित हूँ । हे रामजी ! इस प्रकार ध्यान करता हुआ वह मुनीश्वर ध्यान में लगा और छः दिन तक ध्यान में रहा और फिर जब जगा तो उस काल को क्षण के समान जाना जैसे सोया हुआ क्षण में जागे । इसी प्रकार वीतव शुद्धपद को प्राप्त हुआ और जीवन्मुक्त होकर चिरकाल पर्यन्त बिचरता रहा । न कोई वस्तु उसे हर्ष दे और न शोक दे; चलता हुआ भी स्थिर रहे और इन्द्रियों का व्यवहार करता भी इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में सम रहे—कदाचित् किसी से चलायमान न हो । वह चलता बैठता मन और इन्द्रियों से कहे, हे इन्द्रियो ! मरो । हे मन ! अब तू समवान् हुआ है और आत्मा को पाकर अब देख तुझको क्या सुख है । जिस सुख के पाये से और पाने योग्य कुछ नहीं रहता, वह निरोग सुख है । ऐसा जो परमशान्तरूप अचल सुख है तिसको आश्रय करके चञ्चलता को त्याग और हे इन्द्रियो ! तुम्हारा वास्तव में कुछ स्वरूप नहीं और आत्मपद में तुम दृष्टि नहीं आतीं । अपने स्वरूप के जाने विना तुम मुझको दुःख देती थीं; अब मैं अपने स्वरूप को प्राप्त हुआ हूँ और अब तुम मुझे वश नहीं कर सकतीं, क्योंकि तुम अवस्तुरूप हो, आत्मा के प्रमाद से तुम्हारा भान होता है । जैसे रस्सी में सर्प भासता है तैसे ही आत्मा में जो अनात्म भावना और अनात्मा में आत्मभावना होती है सो अविचार से होती है और विचार किये से नहीं होती । अब विचार करके यह भ्रम निवृत्त हुआ है; तुम इन्द्रियाँ गण और हो; अहंकार और है, ब्रह्म और है, कर्तृत्व और है, भोक्तृत्व और है । और का दुःख आपमें मानना यही मूर्खता है । जैसे वन की लकड़ी और है, बाँस और है और चर्म और है जिससे रथ बनता है और लोहा, पीतल और कड़े जिनसे रथ जड़ा जाता है सो सब भिन्न-भिन्न हैं और बैल जो रथ को चलाता है सो भी जुदा है; इन सबसे रथ बनता है और जैसे गृह का

आकार होता है तैसे रथ है उसमें बैठनेवाला पुरुष भी और होता है और रथ की सब सामग्री परस्पर भिन्न-भिन्न होती है तो यदि उसमें बैठनेवाला कहे कि मैं रथ हूँ तो नहीं बनता; तैसे ही शरीररूपी रथ अज्ञान से मिला है। इन्द्रियाँ और हैं और मनादिक और हैं उसमें पुरुष है सो जीव है; यदि जीव कहे कि मैं शरीर हूँ तो बड़ी मूर्खता है। उस शरीर के सुख-दुःख मूर्खता से आपको मानता है जो विचार करके देखो तो रागद्वेष के क्षोभ से मुक्त हो। मैंने अविचार को दूर से त्यागा है और स्वरूप की स्मृति स्पष्ट की है कि आत्मातत्त्व सत् है। उसी को मैंने सत् जाना है और अनात्मा असत् है उसको असत् जाना है। जो सत् है वह स्थित है, जो असत् है वह क्षीण हो जाता है। हे रामजी! इस प्रकार वीतव मुनि विचार करके जीवन्मुक्त हुआ और अपने स्वरूप में बहुत वर्षों को व्यतीत किया। निर्भयपद में चित्तादिक भ्रम सब नष्ट हो जाते हैं। ऐसे शुद्धपद को प्राप्त हुआ वह यथाभूतार्थ आत्मध्यान में स्थित हुआ और ग्रहण और त्याग की कुछ भावना न रही परिपूर्ण आत्मपद को प्राप्त हुआ। अगस्त्य मुनि का पुत्र वीतव मुनि उस पद को पाकर निर्वासनिक हुआ। फिर जिस काल में और जिस प्रकार से वह विदेह मुक्त हुआ है वह भी सुनो। बीस हज़ार और सात सौ वर्ष वह जीवन्मुक्त रहकर फिर विदेह मुक्त हुआ, जो इच्छा अनिच्छा से रहित पद है और जन्म-मरण का जिसमें अन्त है उस रागद्वेष से रहित पद को प्राप्त हुआ। हे रामजी! फिर उसने हिमालय पर्वत की कन्दरा में प्रवेश किया और पद्मासन बाँध हाथ जोड़कर कहा, हे राग! तुम निरागता और निर्द्वेषता को प्राप्त हो। तुम्हारे साथ मैंने चिरपर्यन्त विवेक से रहित क्रीड़ा की है। तुम अब जाओ, मेरा तुमको नमस्कार है। हे भोग! तुम्हारी लालसा से मुझको परमपद का विस्मरण हो गया था। जैसे माता सुख के निमित्त पुत्र की लालसा करती है तैसे ही मैं सुख जानकर तुम्हारी लालसा करता था। अब तुम जाओ तुमको मेरा नमस्कार है। अब मैं निर्वाणपद को प्राप्त होता हूँ। हे दुःख! तुमको भी नमस्कार है। तेरे उपदेश से मैं आत्मपद को प्राप्त हुआ हूँ, क्योंकि मैं सदा भोग और सुख

चाहता था, और जब सुख प्राप्त होता था तब तुझको भी साथ ले आता था। सुख से तेरी उत्पत्ति होती है; सुख की लालसा में तो मैं अनेक जन्म पाता रहा, पर जब सुख आवे तब तुझको भी साथ ले आवे। तुझको देखकर मुझको आत्मपद की इच्छा उपजी और तेरे प्रसाद से मैं परम शीतल पद को प्राप्त हुआ हूँ। हे दुःख! तू तो दुःख था परन्तु मुझको आत्मपद प्राप्त किया इससे तेरा कल्याण हो। तू अब जा। हे मित्र! संसार में जीना असार है; जिसका संयोग होता है उसका वियोग भी होता है। तूने मेरे साथ बड़ा उपकार किया कि अपना नाश किया और मुझको सुख प्राप्त किया, क्योंकि जब तू मुझको प्राप्त न था तो मैं आत्मपद के निमित्त कब यत्न करता था। तू ने अपना नाश करना माना परन्तु मुझको सुख प्राप्त किया। हे मित्र! तू बांधवों की नाईं चिरकाल पर्यन्त मेरे साथ रहा और कदाचित् मुझसे दूर न हुआ। मैंने तेरा नाश नहीं किया पर तूने अपना नाश आप ही किया है। तू मुझको जब प्राप्त हुआ था तब मुझको विवेक उत्पन्न हुआ, उस विवेक ने तेरा नाश किया है इससे तुझको मेरा नमस्कार है। और हे माता तृष्णा[1]! तुझको भी नमस्कार है। तू सदा मेरे साथ रही है और कदाचित् त्याग नहीं किया। जैसे अयाने बालक का त्याग माता नहीं करती तैसे ही तूने मेरा त्याग नहीं किया। अब तू जा। हे कामदेव! तुझने आप ही विपर्यय होकर अपना नाश किया। जब तू बहिर्मुख था तब जीता था और जब अन्तर्मुख हुआ तब तू मिट गया। तुझको नमस्कार है। हे सुकृतो! तुमको नमस्कार है। तुमने भी बड़ा उपकार किया कि नरकों से निकालकर स्वर्गों में डाला, परन्तु अन्त में सबका वियोग होना है इससे तुम भी जाओ। हे दुष्कृतो! तुम भी जाओ। विकर्मरूपी तुम्हारा क्षेत्र है और युवा अवस्था बीज है उससे दुःख फल होता है तुम्हारे साथ भी संयोग हुआ था इससे तुमको भी नमस्कार है, तुम भी जाओ। हे मोह! तुझको भी नमस्कार है, तुझसे चिरकाल मैं बँधा था और नाना प्रकार के स्थानों को प्राप्त होता था और तू भय दिखाता था उससे मैं भय पाता था। इससे तुझको

---

[1] बलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितैरङ्कितं शिरः। गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैकातरुणायते ॥१॥

नमस्कार है, अब तू जा। हे गिरिकन्दरा! तुझको भी नमस्कार है। तुममें मैंने चिरकाल तप किया है। हे बुद्धि! हे विवेक! तुमको भी नमस्कार है। तुमने मेरे साथ उपकार किया है कि संसारबन्धन से मुक्त किया। तुम भी जाओ। हे दण्ड और तूँबा! तुमको भी नमस्कार है। तुम भी जाओ। बहुत काल तुम भी मेरे सम्बन्धी रहे हो। हे देह! रक्तमांस का पिंजर होकर तू मेरे साथ बहुत काल रही है और तूने उपकार किया है। विवेक उपजाने का स्थान तू ही है, तेरे संयोग से मैंने परमपद पाया है तू भी अब जा, तुझको नमस्कार है। हे संसार के व्यवहारो! तुमको भी नमस्कार है, तुम्हारे में मैंने बहुत क्रिया की है। ऐसा पदार्थ जगत् में कोई नहीं जिससे मैंने व्यवहार न किया हो, ऐसा कर्म कोई नहीं जो मैंने न किया होगा और ऐसा देश कोई नहीं जो देखा न होगा। अब सबको नमस्कार है। हे इन्द्रियो, प्राण और मनादिक! तुमको नमस्कार है। तुम्हारा हमारा चिरकाल संयोग था अब वियोग हुआ, क्योंकि जिसका संयोग होता है उसका वियोग भी होता है। इससे तुम्हारा हमारा भी वियोग होता है। नेत्रों की ज्योति सूर्यमण्डल में जा लीन होगी, घ्राणों की गन्ध पृथ्वी में लीन होगी और प्राण त्वचा पवन में, श्रवण आकाश में, मन चन्द्रमा में और जिह्वा रस में लीन होगी। इसी प्रकार सब अपने-अपने अंश में लीन होंगे। जैसे लकड़ियों के जले से अग्नि शान्त हो जाती है; शरत्काल में मेघ शान्त हो जाता है; तेल से रहित दीपक निर्वाण हो जाता है और सूर्य के अस्त हुए प्रकाश शान्त हो जाता है तैसे ही मनादिक शान्त हो जावेंगे। हे रामजी! ऐसे विचार करते करते उसका मन सर्व कार्य से रहित हो प्रणव के ध्यान में लगा और सर्वदृश्य से शान्त और मोहरूपी मल को त्यागकर प्रणव के विचार में लगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे द्वयशीतितमस्सर्गः ॥ ८२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार उसने शब्दब्रह्म प्रणव का उच्चार किया और पञ्चम भूमिका जो चित्त की अवस्था है उसको प्राप्त हुआ। भीतर-बाहर के स्थूल-सूक्ष्म पदार्थों और त्रिलोकी के सब संकल्पों को त्यागकर वह अक्षोभरूप स्थित हुआ जैसे चिन्तामणि अपने प्रकाश में स्थित होती है; जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा अपने आपमें स्थित होता है, जैसे मन्दराचल के निकलने से क्षीरसमुद्र स्थित होता है और मथने से रहित मन्दराचल स्थित होता है, जैसे कुम्हार का चक्र फिरता फिरता ठहर जाता है, जैसे सूर्य के अस्त हुए जीवों की व्यवहार क्रिया ठहर जाती हैं, जैसे मेघ से रहित शरत्काल का आकाश निर्मल होता है और प्रकाश तम से रहित होता है, तैसे ही फुरने से रहित उसका मन शान्ति को प्राप्त हुआ। प्रणव का ध्यान करके फिर उस वृत्ति के अन्त को प्राप्त हुआ और फिर मन्त्र को भी त्याग—जैसे महापुरुष क्रोध को त्यागते हैं तैसे ही वृत्ति को त्यागा। फिर तेज का प्रकाश उदय हुआ उसको भी निमेष में त्यागा। आगे न तेज है, न तम है उसमें अभाववृत्ति रहती है उसको भी निमेष में त्यागा, तब जैसे नूतन बालक की जन्म से पदार्थज्ञान से रहित अवस्था होती है तैसे ही अवस्था प्राप्त हुई। तब जो सत्तामात्र आत्मतत्त्व सुषुप्तपद है उसका आश्रय किया और महाचल जो सुमेरु की नाईं स्थिर अवस्था है उसको प्राप्त हुआ। फिर केवल अचेतन चिन्मात्र तुरीया निरानन्द आनन्दपद में जिसमें स्वरूप से भिन्न और आनन्द नहीं प्राप्त हुआ। वह असत् और सत्‌रूप है। सर्वक्रिया से अतीत है, इस कारण असत् है और अनुभवरूप है इस कारण सत्यरूप है। ऐसे अशब्दपद को वह प्राप्त हुआ जो परमशुद्ध पावन और सर्वभाव के भीतर प्राप्त है और सर्वभाव शब्द से रहित है। जिसको शून्यवादी-शून्य, ब्रह्मवादी-ब्रह्म; विज्ञानवादी-विज्ञान, सांख्यमतवाले-पुरुष; ईश्वर; शैवी-शिव; वैष्णव-विष्णु; शाक्त-परमशक्ति; कालवादी-काल; आत्मवादी-आत्मा और माध्यमिक-माध्यम इत्यादिक जो शास्त्रोंवाले कहते हैं। सो एक परब्रह्म को ही कहते हैं, जो सर्वदा, सर्वकाल, सर्वप्रकार, सर्व में सर्वरूप है। ऐसे सर्वात्मा को वह मुनीश्वर प्राप्त हुआ। जिस आनन्द समुद्र के बल से सबको आनन्द होता है ऐसे आत्मतत्त्व अनुभवरूप अपने आनन्द को वह प्राप्त हुआ और वही रूप हो गया। जो अन्य और निरन्य, निरञ्जन, सर्व, असर्व, अजर-अमर सबके आदि सकलङ्क-निष्कलङ्क

है ऐसे आकाश से निर्मल पद को वीतव मुनीश्वर प्राप्त हुआ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे वीतवनिर्वाणयोगोपदेशो
नाम त्र्यशीतितमस्सर्गः ॥ ८३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! दुःखरूप संसारसमुद्र के पार हो वीतव मुनीश्वर उस परमपद को प्राप्त हुआ जिस पद के प्राप्त हुए जीव फिर जन्ममरण को नहीं पाता और जिस पद में स्थित हुआ परमशान्त उपशम आनन्द को प्राप्त होता है—जैसे समुद्र में पड़ी हुई बुन्द समुद्र हो जाती है तैसे ही ब्रह्मसमुद्र में वह ब्रह्म हो गया और शरीर जो था वह विरस होकर गिर पड़ा जैसे शीतकाल में वृक्षों के सूखे पत्र गिर पड़ते हैं। शरीररूपी वृक्ष में हृदयरूपी आलय था और उसमें प्राणरूपी पक्षी रहता था सो चिदाकाश में प्राप्त हुआ जैसे गोफन से पत्थर धावता है तैसे ही जा प्राप्त हुआ और अपने स्वरूप में स्थित हुआ। हे रामजी! यह मैंने वीतव की कथा तुझको सुनाई है सो अनन्त विचारकर युक्त है। इस प्रकार विचारकर वीतव विश्रामवान् हुआ है। तुम भी उसको विचारकर सिद्धता के सार को प्राप्त हो और दृश्य की चिन्तना को त्यागके सावधान हो। हे रामजी! जो कुछ मैंने तुझसे पूर्व कहा है कि उस पद में प्राप्त हुआ फिर कुछ पाने योग्य नहीं रहता और अब जो कुछ कहता हूँ और जो कुछ पीछे कहूँगा उसको विचारो। मुक्ति ज्ञान ही से होती है और ज्ञान ही से सब दुःख नष्ट होते हैं; ज्ञान ही से अज्ञान निवृत्त होता और ज्ञान ही से परम सिद्धता को प्राप्त होता है। पाने योग्य यही वस्तु है, और कोई दुःखों का नाश नहीं कर सकता। यह निश्चय है कि ज्ञान से सब फाँसी कट जाती हैं और ज्ञान ही से वीतव ने मन को चूर्ण किया। हे रामजी! वीतव की संवित् जगत् के अतीत हो गई। जो कुछ दुःख है वह मन से होता है और मन के उपशम हुए सब जगत् अनुभवरूप हो जाता है। वीतव भी मनोमात्र था, मैं भी मनोमात्र हूँ, तू भी मनोमात्र है और पृथ्वी आदि जगत् भी सब मनोमात्र है, मन से भिन्न कुछ नहीं। जहाँ मन होता है वहाँ जगत् होता है, मन ही जगत्रूप है और जगत् ही मनरूप है। जो ज्ञानवान् पुरुष है वह मन की दशा को त्यागके केवल चिदानन्द आत्मतत्त्व में स्थित होता है और रागद्वेष आदि विकार उसके मिट जाते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे वीतवविश्रान्तिसमाप्ति-
र्नाम चतुरशीतितमस्सर्गः ॥ ८४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! वीतव की नाईं विदितवेद होकर तुम भी रागद्वेष से रहित स्थित हो। जैसे तीस सहस्र वर्ष वीतव वीतशोक और जीवन्मुक्त होकर बिचरा है तैसे ही तुम भी बिचरो। और भी बोधवान् राजा और मुनीश्वर हुए हैं, जैसे वे उस पद में प्राप्त हुए राज्यादिक व्यवहार में रहे हैं तैसे ही तुम भी जीवन्मुक्त होकर रहो। हे रामजी! सुख दुःख कर्म आत्मा को स्पर्श नहीं करते, आत्मा सर्वज्ञ है; तुम किस निमित्त शोक करते हो? बहुत विदितवेद पृथ्वी में बिचरते हैं परन्तु शोक को कदाचित् नहीं प्राप्त होते—जैसे तुम अब शोक नहीं करते हो। हे रामजी! तुम अब स्वस्थ, उदार, शम और सर्वज्ञ हो; अब तुमको फिर हर्षजन्म न होगा। जीवन्मुक्त पुरुष जो अपने स्वरूप में स्थित है वह हर्षशोक को प्राप्त नहीं होता है। जैसे सिंह, वानर और शृगाल आदिक के वश नहीं होता तैसे ही जीवन्मुक्त विकारों से रहित होता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! इस प्रसंग में मुझको संदेह हुआ है उसको जैसे शरत्काल में मेघ नष्ट हो जाता है तैसे ही नाश करो। हे तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ! जीवन्मुक्त के शरीर में शक्ति क्यों नहीं दृष्टि आती कि आकाश में उड़ता फिरे और सूक्ष्म रूप से और शरीर में प्रवेश कर जावे इत्यादिक? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! आकाशगमनादिक जो सिद्धि हैं सो तपादिक कर्मों की शक्ति हैं। जो कुछ जगत् विचित्र दिखाई देना और फिर गुप्त हो जाना इत्यादिक हैं वे वस्तु द्रव्य, क्रिया के स्वभाव हैं; आत्मज्ञान के नहीं। हे रामजी! कोई द्रव्य, क्रिया और काल को यथाक्रम साधता है उसको ही शक्ति प्राप्त होती है और ज्ञानी साधे अथवा अज्ञानी साधे उसको शक्ति प्राप्त होती है परन्तु वह शक्ति आत्मज्ञान का फल नहीं। आत्मज्ञानी को आत्मज्ञान की ही सिद्धता होती है; वह आत्मा से ही तृप्त होता है और सिद्धि जो अविद्यारूप हैं उनकी ओर नहीं धावता। जो कुछ जगत् है वह उसने अविद्यारूप जाना है इससे

वह पदार्थों में नहीं डूबता। जो अज्ञानी है वह सिद्धता के निमित्त इन पदार्थों को साधता है और जो ज्ञानवान् है वह इन पदार्थों के वास्ते यत्न नहीं करता। यत्न करने से ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी हो इन्द्रादिकों के ऐश्वर्य को पाता है। और वह ज्ञान की शक्ति नहीं, द्रव्य आदि की शक्ति है सो अविद्यारूप है। अज्ञानी इनकी ओर धावते हैं ज्ञानवान् नहीं धावते, क्योंकि वे सबसे अतीत हैं। जिसने सब इच्छा का त्याग किया है और आत्मपद में संतोष पाया है वह इनकी इच्छा नहीं करते। इनकी इच्छा भोगों अथवा बड़ाई के निमित्त होती है अथवा मान और जीने और सिद्धि के निमित्त होती है। आत्मज्ञानी को भोगों की, सिद्धता की और मान की इच्छा नहीं होती, क्योंकि ये सब अनात्म धर्म हैं और वह नित्य तृप्त, परमशान्तरूप, वीतराग, निर्वासनिक पुरुष है और आकाश की नाईं सदा अपने आपमें स्थित है। जैसे सुख स्वाभाविक आता है तैसे ही दुःख भी स्वाभाविक आता है। शरीर के सुख दुःख की अवस्था में वह चलायमान नहीं होता; नित्य तृप्त और असंग होता है और जीवन-मरण की वृत्ति उसको नहीं फुरती सबमें सम रहता है। जैसे समुद्र में नदियाँ प्रवेश करती हैं और समुद्र अपनी मर्यादा में स्थित रहता है तैसे ही ज्ञानवान् को क्षोभ नहीं प्राप्त होता। हे रामजी! जो कुछ ज्ञानवान् को प्राप्त होता है उसे वह आत्मा में अर्चन करता है; उसको करने में कुछ अर्थ नहीं और न करने में कुछ प्रत्यवाय है। उसको किसी का आश्रय नहीं, सदा अपने स्वरूप में स्थित है और यह मन्त्रसिद्धि कालकर्म से होती है। एक योगक्रिया ऐसी है कि उसके साधने से उड़ने की शक्ति हो आती है, एक मन्त्रों से शक्ति होती है और एक गुटका मुख में रखने से उड़ने इत्यादिक की शक्ति होती है; शक्ति की नीति प्रथम ही हो रहती है। उससे अन्यथा नहीं होती। हे रामजी! जैसी शक्ति जिस साधन से नियत हुई है उसको सदाशिव भी अन्यथा नहीं कर सकते, क्योंकि वह स्वाभाविक स्वतःसिद्ध है—जैसे चन्द्रमा में शीतलता और अग्नि में उष्णता है इत्यादिक आदि नीति है उसको कोई दूर नहीं कर सकता और सर्वज्ञ जो विष्णु भगवान् हैं वे भी अन्यथा नहीं कर

सकते। हे रामजी! जिस द्रव्य में मारने की सत्ता है वह मारता है और मद्य में मत्त करने की शक्ति है तैसे ही द्रव्य, योग, काल आदिक में सिद्धता शक्ति नियत हुई है। जैसे एक औषध में क्लेश करने की शक्ति है तो उसके खाने से क्लेश होता है तैसे ही इनमें अपनी-अपनी शक्ति है। जो इनको साधता है उसको ये प्राप्त होती हैं। आत्मज्ञानी जो उसका साधन करे तो वह कर्ता में भी अकर्ता है। आत्मज्ञान के पाने में सिद्धि कुछ उपकार नहीं कर सकती परन्तु जो इनकी वाञ्छा करे तो यत्न करके पाता है—यत्न विना नहीं पाता। आत्मज्ञानी को इच्छा भी नहीं होती, क्योंकि आत्मलाभ से उसकी सब इच्छा शान्त हो जाती हैं। हे रामजी! जितने लाभ हैं उनसे परम उत्तम आत्मलाभ है। आत्मा को पाकर फिर किसी की इच्छा नहीं होती। जैसे अमृत के पान किये और जल की इच्छा नहीं होती तैसे ही आत्मा के लाभ से और इच्छा नहीं होती। ऐसा आत्मलाभ जिसने पाया है उसको इन सिद्धियों की इच्छा कैसे हो? जैसी-जैसी किसी की इच्छा होती है उसको तैसा ही प्राप्त होता है। ज्ञानी हो अथवा ज्ञान से रहित हो इच्छा और प्रयत्न के अनुसार ही प्राप्त होती है। यह जो वीतव था उसको इच्छा कुछ न थी और प्रथम जो सूर्य के पास जाने की शक्ति दृष्टि आई थी सो क्रिया के साधने से थी; पीछे जब ज्ञान उपजा तब इच्छा कुछ न रही। हे रामजी! जो कुछ किसी को फल प्राप्त होता है सो अपने प्रयत्न से प्राप्त होता है। जो ज्ञानवान् है वह सदा तृप्त रहता है उसको इष्ट-अनिष्ट की इच्छा कुछ नहीं फुरती। फिर रामजी ने पूछा, हे भगवन्! तीनसौ वर्ष वीतव मुनीश्वर समाधि में रहा तो उसका शरीर पृथ्वी में पृथ्वी क्यों न हो गया और सिंह, भेड़िये, सियार आदिक उसको क्यों न भोजन कर गये? पीछे विदेहमुक्त हुआ, प्रथम क्यों न हुआ? पृथ्वी में दबे हुए शरीर को निकालने के निमित्त बड़ा यत्न क्यों किया, इन संशयों को निवारण करो। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! संवित् वासना के साथ बँधी हुई सुख दुःख को भोगती है और मलीनभाव से घिरी हुई है; जो वासना से रहित शुद्ध समता रूप है और जो सुख दुःख के भोग से रहित है और किसी

कारण छेदी नहीं जाती । हे रामजी ! जिस-जिस पदार्थ में चित्त लगता है वही-वही पदार्थ स्वरूप में भासते हैं, यह पदार्थ की शक्ति है । जैसी पदार्थों में शक्ति होती है तैसे ही भासती है; इस कारण बहुत वर्ष व्यतीत होते हैं तौ भी समाधि के बल से उसका शरीर ज्यों का त्यों रहता है, क्योंकि चित्त जिस पदार्थ में लगता है उसका रूप हो जाता है । जैसे मित्र को मित्रभाव से देखता है तो स्वाभाविक ही प्रसन्न होता है और शत्रु को देखकर चित्त में स्वाभाविक ही अप्रसन्नता फुर आती है; मीठी वस्तु को देखकर चित्त स्वाभाविक ही लोलुप हो जाता है और कटुक में विरसता को प्राप्त होता है; मार्ग चलनेवाले का चित्त मार्ग के पर्वत और वृक्षों के राग से बन्धायमान नहीं होता; चन्द्रमा के निकट गये से शीतलता होती है और सूर्य के निकट उष्णता प्राप्त होती है सो पदार्थ की शक्ति है । जिस पदार्थ के साथ वृत्ति का स्पर्श होता है उसका स्वाभाविक आरम्भ सफल होता है । तैसे ही योगी जब देह और इन्द्रियों की वासना और ममत्वभाव को त्याग करके समभाव में प्राप्त होता है तब उसको समभाव का अनुभव होता है अर्थात् सबमें एक ही भासता है । इस कारण शरीर को सिंहादिक कोई भोजन नहीं कर सकते और जो जीव उसके घात करने को आते हैं वे हिंसाभाव को त्याग अहिंसक हो जाते हैं । वीतव का शरीर जो छेद को न प्राप्त हुआ और न पृथ्वी में पृथ्वी हो गया उसका यह कारण है कि सर्वत्र समता आकाश एक ही स्थित है और काष्ठ, लोष्ट, पत्थर ब्रह्मादि तृणपर्यन्त सबमें एक अनुस्यूत है; जहाँ पुर्यष्टका होती है वहाँ भासता है और जहाँ पुर्यष्टका नहीं होती वहाँ नहीं भासता, जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब सब ठौर में पूर्ण है परन्तु जहाँ स्वच्छ ठौर, दर्पण, जल आदि होते हैं वहाँ भासता है और जहाँ उज्ज्वल ठौर नहीं होता वहाँ प्रतिबिम्ब नहीं भासता तैसे ही जहाँ पुर्यष्टका है वहाँ संवित् भासती है, अन्यथा नहीं भासती। इस कारण वीतव की संवित् जो समभाव में स्थित है उसको किसी तत्त्व और जीव का क्षोभ नहीं होता । पञ्चतत्त्वों का क्षोभ तब होता है जब प्राण फुरते हैं और जब प्राण फुरने से रहित होते हैं तब तत्त्वों का क्षोभ

नहीं होता; वीतव की प्राणों के भीतर और बाहर की स्पन्दकला शान्त हो गई थी और प्राण और चित्तकला दोनों फुरने से रहित थीं, इससे उसका हृदय भी क्षोभित न हुआ । हे रामजी ! देहरूपी गृह में जब चित्त और वायु का स्पन्द शान्त हो जाता है तब शरीर नष्ट हो जाता है और सब सुमेरु की नाईं स्थित हो जाता है; तब किसी की सामर्थ्य नहीं होती कि इसको क्षोभ करे और नाश करे । योगीश्वर का चित्त और प्राण निस्पन्द हो जाते हैं । वह इनको वश करके लगाता है तब उसको न तत्त्वों का क्षोभ होता है, न वात, पित्त, कफ का क्षोभ होता है और न और कुछ क्षोभ होता है । इस कारण योगी का शरीर सहस्र वर्ष पर्यन्त भी ज्यों का त्यों रहता है, नष्ट नहीं होता । जैसे वज्र को कोई चूर्ण नहीं कर सकता तैसे ही उसके शरीर को कोई नष्ट नहीं कर सकता– सबकी शक्ति उस पर कुण्ठित हो जाती है । इस कारण वीतव का शरीर ज्यों का त्यों रहा । पहले वह विदेहमुक्त क्यों न हुआ सो भी सुनो । हे रामजी ! जो तत्त्वज्ञ और विदितवेद, वीतराग महाबुद्धिमान् हैं जिनकी अभिमानरूपी गाँठि टूट पड़ी है वे पुरुष स्वतन्त्र स्थित होते हैं, उनका न कोई प्रारब्धकर्म है, न संचितकर्म है और न वर्त्तमान का कर्म है । तत्त्ववेत्ता सबसे मुक्त, स्वतन्त्र और स्वेच्छित बिचरता है और जैसी इच्छा करे तैसी शीघ्र ही होती है । हे रामजी ! वीतव को जब अकस्मात् से जीने का स्पन्द फुर आया तब वह कुछ काल जीता रहा और जब उसकी संवित् में विदेहमुक्त होने का स्पन्द फुरा तब विदेहमुक्त हो गया। ज्ञानवानों की स्थिति स्वाभाविक स्वतन्त्र होती है; जिसकी वे वाञ्छा करते हैं सो तत्काल ही हो जाता है और मन आत्मपद में स्थित होता है; उनको कुछ कृत और कर्तव्य नहीं ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे सिद्धिलाभविचारो
नाम पञ्चाशीतितमस्सर्गः ॥ ८५ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! आपने कहा कि जब विचार से वीतव का चित्त शान्त हो गया तब उसको मैत्री, करुणादिक गुण प्राप्त हुए, परन्तु जब विवेक से उसका चित्त नष्ट हो गया तो फिर मैत्री आदिक

गुण कहाँ आन प्राप्त हुए ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! चित्त का नाश दो प्रकार का है। जीवन्मुक्त का चित्त अचित्तरूप हो जाता है और विदेहमुक्त का चित्त स्वरूप से नष्ट हो जाता है। जैसे भुना दाना होता है तैसे ही जीवन्मुक्त का चित्त देखने में चित्तरूप है सार्थक नहीं और जैसे दाना नष्ट हो जावे तैसे ही विदेहमुक्त का चित्त देखनेमात्र भी नहीं रहता। हे रामजी ! चित्त की सत्यता ही दुःखों का कारण है और चित्त की असत्यता ही सुखों का कारण है। जिस चित्त में विषयों की वासना फुरती है सो चित्त जन्मों का देनेवाला है और दुःखों का कारण है। गुणों के संग से अहंममभाव में रहता है और चित्त की सत्यता से जीव कहाता है। हे रामजी ! जब तक चित्त विद्यमान है तब तक अनन्त दुःख होता है। दुःखरूपी वृक्ष का बीज चित्त ही है। जब चित्त नष्ट होता है तब कल्याण होता है। रामजी ने पूछा, हे ब्राह्मण ! मन किसका नाम है ? कैसे नष्ट होता है और कैसे अस्त होता है सो कहिये ? वशिष्ठजी ने कहा, हे प्रश्नकर्त्ताओं में श्रेष्ठ ! चित्तसत्ता का लक्षण मैंने तुमसे कहा है; अब चित्त मृतक का लक्षण सुनो। जिसको सुख और दुःख की दशा स्वरूप से चला नहीं सकती। जैसे सुमेरु को पवन चला नहीं सकता तैसे ही जिसके चित्त को दुःख चला नहीं सकता तिसका चित्त मृतक जानो; अर्थात् जो चित्त सत्पद को प्राप्त हुआ है उस चित्त से मिथ्या चिन्ता नष्ट हो जाती है। जैसे भुने दाने में अंकुर नष्ट हो जाता है तैसे ही उसका चित्त नष्ट हो जाता है। जिसको आत्मा से भिन्न कुछ नहीं फुरता वह चित्त मृतक हुआ है। हे रामजी ! जिसके चित्त को अहंइच्छा द्वेषादिक विकार तुच्छ न कर सके उसका चित्त मृतक जानो और जिसको इन्द्रियों के विषय इष्ट-अनिष्ट न कर सके और रागद्वेष और ग्रहण त्याग की द्वैतभावना न उपजे ज्यों का त्यों रहे उसी पुरुष का चित्त मृतक जानो। जिसका चित्त नष्ट हुआ है उसे जीवन्मुक्त जानो। जिसको संसार के इष्ट पदार्थों में राग होता है वह ग्रहण की इच्छा करता है और अनिष्ट की प्राप्ति में द्वेष करके त्यागने की इच्छा करता है। अहं मम भावसंयुक्त देह में जो अभिमान है उससे आपको सुखी दुःखी मानता है यदि वासना संयुक्त है सो चित्त जीता है—यह चित्त-

सत्यता है जब चित्त संसार से विरक्त हो और सत्संग और सत्शास्त्रों का श्रवण और मनन और स्वरूप का अभ्यास करे तब चित्त अचित्त हो जाता है और परमानन्द की प्राप्ति होती है और तभी जीवन्मुक्त होकर बिचरता है। जिस प्रकार मैत्री आदिक गुण जीवन्मुक्त में होते हैं सो भी सुनो। हे रामजी ! चित्त में जो संसार की सत्यतारूपी मैल है यही चित्त भाव है। वह जब आत्मज्ञान से नष्ट हो जाता है तब मैत्री आदिक गुण आन प्राप्त होते हैं। जैसे सूर्य के उदय हुए तम नष्ट हो जाता है और प्रकाश उदय होता है और जैसे भूने दाने का अंकुर जल जाता है तैसे ही ज्ञान से चित्त का चित्तत्वभाव नष्ट हो जाता है और मैत्री आदिक गुण उदय होते हैं। तब देखनेमात्र चित्त दीखता है ब्रह्मवेत्ता अज्ञानी की नाईं यत्न करता भासता है परन्तु अज्ञानी का चित्त जन्म का कारण है ज्ञानी का चित्त जन्म का कारण नहीं। जैसे कच्चा दाना उगता है, भुना नहीं उगता; तैसे ही अज्ञानी जन्मता है, ज्ञानी नहीं जन्मता। जैसे चन्द्रमा राहु से छूटता है तब चित्त में मैत्री, करुणा आदिक गुण उदय होते हैं और जैसे बसन्त ऋतु के आये बेलें सब प्रफुल्लित हो आती हैं तैसे ही चित्तभाव मिटे से मैत्री आदिक गुण स्वाभाविक फुरते हैं। जो विदेहमुक्त होता है उसका चित्त स्वरूप से भी नष्ट हो जाता है और वहाँ गुण कोई नहीं रहता, वह अवस्था और कोई नहीं जानता, विदेहमुक्त ही जानता है। उसमें द्वैतकल्पना कुछ नहीं फुरती और निर्मल पावन पद है। हे रामजी ! जीवन्मुक्त का चित्त स्वरूप में अचित्त होकर रहता है और विदेहमुक्त में चित्त स्वरूप से नष्ट हो जाता है, इस कारण जीवन्मुक्त में मैत्री आदिक गुण पाये जाते हैं। आत्मा जो निर्मल और निष्कलङ्क है सो चित्त के नष्ट हुए विदेहमुक्त में रहता है; उसमें गुणों की कल्पना कोई नहीं फुरती वह परमपावन निर्मल पद में स्थित होता है और शान्ति आदिक गुण भी नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि चित्त स्वरूप से नष्ट हो जाता है। चित्त के नष्ट हुए चित्त की अवस्था कहाँ रही। तब न कोई गुण रहता है, न अवगुण रहता है; न वह गुणों से उत्पन्न हुआ सार कहाता है और न अवगुणों से उत्पन्न हुआ असार कहाता है; न लोलुप

हैं; न लक्ष्मी है, न अलक्ष्मी है; न उदय है, न अस्त है; न हर्ष है, न शोक है; न तेज है, न तम है; न दिन है, न रात्रि है; न संध्या है, न दिशा है; न आकाश है; न अर्थ है, न अनर्थ है; न वासना है, न अवासना है; न अञ्जन है, न निरञ्जन है; न सत्य है, न असत्य है; न चन्द्रमा है, न तारे हैं और न सूर्य है। ऐसा जो सर्वकलना से रहित शरत्काल के आकाश की नाईं निर्मल और बुद्धि से परे पद है उसमें और की गम नहीं। जैसे आकाश के स्थान को पवन जानता है तैसे ही उसकी अवस्था को वही जाने। वहाँ स्थित हुए सब दुःख शान्त हो जाते हैं और ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है। ज्ञानवान् आकाश की नाईं निर्मलपद को प्राप्त होता है जिसके पाये से और पाना कुछ नहीं रहता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे ज्ञानविचारो नाम
षडशीतितमस्सर्गः ॥ ८६ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! परमाकाश के कोश में एकपहाड़ है उस पर जगत्‌रूपी एक वृक्ष है; तारे उसके फूल हैं; मेघ पत्र हैं; सूर्य, चन्द्रमा स्कन्ध हैं, और देवता, दैत्य, मनुष्यादिक सब जीव उस पर पखेरू हैं। सातो समुद्र उस पहाड़ पर बावलियाँ हैं और अनन्त नदियाँ उसमें प्रवेश करती हैं। चतुर्दश प्रकार के भूतजात उसमें उत्पन्न होते हैं और सुखदुःखरूपी फलों से पूर्ण है, और मोहरूपी जल से वह सींचा जाता है सो दृढ़ होकर स्थित हुआ है। उसका बीज कौन है? बोध की वृद्धि के निमित्त यह ज्ञानरूपी सार मुझसे संक्षेप से कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस संसार का बड़ा बीज चित्त (अहंता) है; जिसके भीतर आरम्भ की घनता है। जब शुभ अशुभ का आरम्भ शरीर का अंकुर होता है तब शुभ अशुभ करता है, इससे संसार का बीज चित्त ही है; और शरीर का बीज भी चित्त ही है; राजस, सात्त्विक और तामस वृत्ति उसकी टहनियाँ हैं। वही जन्ममरण का भंडार है और सुख दुःखरूपी रत्नों का डब्बा है। ऐसा जो चित्त है वह इस शरीर का कारण है। हे रामजी! जो कुछ जगज्जाल दृष्टि आता है वह सब असत्‌रूप है। चित्त के फुरने से नाना प्रकार के आडम्बर भासते हैं। जैसे गन्धर्वनगर नाना प्रकार के आरम्भ सहित भ्रम से भासता है और संकल्पपुर भासता है सो असत् है तैसे ही यह जगत् असत् है। जैसे मृत्तिका में घटभाव होता है तैसे चित्त में जगत् का सद्भाव होता है। चित्तरूपी अंकुर के वृत्तिरूपी दो टास होते हैं-एक प्राणों का फुरना और दूसरा दृढ़भावना। जब प्राणस्पन्द होता है और हृदयमात्र में जो एकसौ एक नाड़ी हैं उनकी ओर संवेदनरूप चित्त उदय होता है तब प्राणस्पन्द फुरता है। जब प्राण फुरता है तब शुद्ध सात्त्विक चित्त उपजता है और उसमें जगत् भासता है। जैसे आकाश में नीलता भासती है तैसे ही प्राणों में नीलता भासती है। जब प्राणस्पन्द होता है तब चित्त संवित् उछलती है—जैसे हाथ से ताड़ना किया गेंद उछलता है। जैसे प्राणस्पन्द में सर्वगत संवित् उपलब्धरूप होती है और वहाँ प्रतिबिम्बरूप होकर सात्त्विकभाग में स्थित होती है और महासूक्ष्म से सूक्ष्म है—जैसे वायु में गन्ध रहती है। वही संवित्‌रूप को त्यागकर जब बहिर्मुख धावती है तब उससे नाना प्रकार के जगत् भासते हैं और नाना प्रकार की वासना उठती हैं और उनसे अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। इससे, हे रामजी! संवित् को अन्तर्मुख रोकना ही कल्याण का कारण है। जब संवित् स्वरूप में स्थित होती है तब क्षोभ मिट जाता है और जब शुद्ध संवित् में अहं उल्लेख फुरता है तब वेदनरूप होती है सो ही चित्त है; चित्त से अनेक दुःख होते हैं और चित्त का होना अनर्थ का कारण है। जब चित्त न उपजे तब शान्ति हो जाती है और चित्त तब निवृत्त होता है जब प्राणस्पन्द रोकिये अथवा वासना नष्ट हो। ध्यान और प्राणायाम से योगीश्वर प्राणों को रोकता है तब चित्त स्थित हो जाता है। यह योग से अनुभव करता है। ज्ञान से जो अनुभव होता है सो भी सुनो। हे रामजी! चित्त वासना से उत्पन्न होता है और वासना विचार से रहित फुरती है। जैसे बालकों को जन्म से ही स्तनों से दूध पीने की वृत्ति फुरती है तैसे ही अकस्मात् भावना की दृढ़ता से वासना फुर आती है। हे रामजी! जिसमें पुरुष की तीव्र भावना होती है वही रूप पुरुष का होता है। स्वरूप के प्रमाद से जो भासित होता है उसमें दृढ़ प्रतीति हो जाती है तब उसकी भावना करता है और जगत् की वासना से मोह प्राप्त होता है

स्वतःसिद्ध जो अनुभवरूप आत्मा है उसको जान नहीं सकता। वासना की प्रबलता से स्वरूप का त्याग करता है और भ्रान्तिरूप जगत् को सत्य देखता है—जैसे मद्य से मत्त को पदार्थ और के और भासते हैं तैसे ही मूर्खों को वासना के बल से जगत् के पदार्थ सत्य भासते हैं। हे रामजी! असम्यक्ज्ञान से जीव दुःखी होता है; शान्ति को नहीं प्राप्त होता और मन की चिन्ता से जलता है। मन किसका नाम है सो सुनो। जो असम्यक्ज्ञान से अनात्मा में आत्मभावना हो और वस्तु आत्मा में अवस्तु अनात्मभावना हो उसका नाम मन है। वह मन ऐसे उत्पन्न होता है कि प्रथम चेतन संवित् में पदार्थों की चिंतना होती है फिर तीव्र पदार्थों की दृढ़भावना होती है तब वही चेतन संवित् चित्तरूप हो जाती है। उस चित्त में फिर जन्ममरणादिक विकार उपजते हैं और फिर किसी का ग्रहण और किसी का त्याग करता है। जब ग्रहण और त्याग का संकल्प हृदय से निवृत्त हो तब चित्त भी मृतक हो जावे। जब वासना नष्ट हो जाती है तब मन अमनपद को प्राप्त होता है। मन का अमन होना ही परम उपशम का कारण है। हे रामजी! जो कुछ जगत् के पदार्थ हैं उनकी अभावना कीजिये और सब अवस्तुभूत जगत् का त्याग कीजिये तब हृदय आकाश में चित्त शान्त होगा। हे रामजी! चित्त का स्वरूप इतना है। जब पदार्थों से रस उठ जावे तब चित्त फिर नहीं उपजता। जबतक पदार्थों का रस फुरता है तबतक स्थूल रहता है और असम्यक्ज्ञान से अनात्मा में जो आत्मभावना है ज्यों ज्यों यह दृढ़ होती है त्यों त्यों चित्तरूपी वृक्ष अनर्थ के निमित्त बढ़ता जाता है और ज्यों ज्यों अनात्मा से आत्मबुद्धि निवृत्त हो जाती है अर्थात् अवस्तु में वस्तुबुद्धि नहीं होती त्यों त्यों चित्तरूपी वृक्ष क्षीण होता जाता है सो कल्याण के निमित्त है। जब चित्त यथार्थ देखता है तब चित्त अचित्त हो जाता है, सब आशा निवृत्त हो जाती हैं और परम शान्ति और शीतलता हृदय में स्थित होती है तब पदार्थों को ग्रहण भी करता है परन्तु हृदय से रागसंयुक्त वासना निवृत्त होती है तो उससे चित्त शान्ति को प्राप्त होता है। हे रामजी! जीवन्मुक्त में भी चेष्टा दृष्ट आती है परन्तु जन्म का

कारण नहीं होती क्योंकि मन में मन का सद्भाव नहीं होता। जैसे नटुवा अभिमान से रहित अनेक प्रकार के स्वाँग धरता है तैसे ही वह अभिमान से रहित चेष्टा करता है और जैसे कुम्हार का चक्र भ्रमता भ्रमता ताड़ना से रहित हुआ शनैः शनैः स्थिर हो जाता है तैसे ही ज्ञानवान् का चित्त चेष्टा करता दृष्ट भी आता है परन्तु जन्म का कारण नहीं होता और जब प्रारब्धभोग समाप्त होता है तब स्वाभाविक ठहर जाता है। जैसे भुना बीज नहीं उगता तैसे ही राग से रहित ज्ञानी की चेष्टा जन्म का कारण नहीं होती, देखनेमात्र ज्ञानी और अज्ञानी की चेष्टा तुल्य होती है। जैसे भुना और कच्चा बीज एक समान भासता है परन्तु कच्चा उगता है और भुना नहीं उगता तैसे ही ज्ञानी की चेष्टा जन्म का कारण नहीं होती, क्योंकि उसका चित्त शान्त हो जाता है। हे रामजी! जिसकी चेष्टा अभिमान से रहित है वह जीवन्मुक्त कहाता है। उसका चित्त केवल चिन्मात्र को प्राप्त हुआ है और वह जब शरीर को त्यागता है तब अचित्तरूप चिदाकाश होता है। हे रामजी! चित्त के दो बीज हैं—एक प्राणों का फुरना और दूसरा वासना का फुरना। जब दोनों में एक का अभाव हो जाता है तब दोनों नष्ट हो जाते हैं—ये परस्पर कारणरूप हैं। जैसे ताल से मेघ जल पान करके फिर वर्षा से ताल को पुष्ट करता है सो परस्पर कारणरूप है; तैसे ही प्राणस्पन्द और वासना परस्पर कारणरूप हैं। जैसे बीज से अंकुर होते हैं और अंकुर से बीज होते हैं तैसे ही प्राणस्पन्द से वासना होती है और वासना से प्राणस्पन्द होता है। ये दोनों चित्त के कारण हैं। जैसे फूल विना सुगन्ध नहीं और सुगन्ध विना फूल नहीं होता तैसे ही वासना विना प्राण नहीं होते और प्राण विना वासना नहीं होती। हे रामजी! जब वासना फुरती है तब संवित् में क्षोभ होता है और वह प्राणों को जगाती है तब उससे जगत् उपजता है। जब हृदय में प्राणस्पन्द के धर्म होते हैं तब संवित् क्षोभवान् होता है और चित्तरूपी बालक उपजता है। इस प्रकार वासना और प्राण दोनों चित्त के कारण हैं। जब दोनों में एक का नाश हो जावे तब दोनों नाश हो जावें और चित्त का भी नाश हो जावे। हे रामजी! चित्तरूपी एक वृक्ष

हैं; सुख दुःखरूपी उसके स्कन्ध हैं; चिन्तारूपी फल हैं; कार्यरूपी पत्र हैं; वृत्तिरूपी बेल से वेष्टित हुआ है और रागद्वेषरूपी दो बगले उस पर आन बैठे हैं; तृष्णारूपी काली सर्पिणी से वेष्टित है और इन्द्रियाँरूपी पक्षी उस पर आन बैठे हैं; इच्छादिक रोगों से पुष्ट होता है और अज्ञान इसका मूल है। जब अवासनारूपी खड्ग से शीघ्र ही काटा जाता है तब संसार की अभावना और स्वरूप की भावना से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। जैसे तीक्ष्ण पवन से पका हुआ फल वृक्ष से शीघ्र ही गिर पड़ता है तैसे ही आत्मभाव से फल गिर पड़ता है। हे रामजी! चित्तरूपी आँधी ने सब दिशा मलीन करके प्रकाश को घेर लिया है और तृष्णारूपी तृण उसमें उड़ते हैं। शरीररूपी स्तम्भाकार बायगोला अज्ञानरूपी कुण्ड से उपजा हुआ बड़े क्षोभ को प्राप्त करता है। जब हृदय में प्रकाश हो तब तम को दूर करे और जब स्पन्द रोकिये तब धूलि शान्त हो जाती है। आत्मविचार से जब वासना रहित हो तब शरीररूपी धुवाँ शान्त हो जावे। हे रामजी! प्राणों के रोकने से शान्ति होती है और वासना के न उदय होने से चित्त स्थिर हो जाता है। प्राणस्पन्द और वासना का बीज संवेदन है, जब शुद्ध संवित्मात्र से संवेदन का त्याग करे तब वासना और प्राण दोनों न फुरें। जैसे वृक्ष का बीज और मूल काट डालिये तो फिर नहीं उगता, तैसे ही इनका मूल संवेदन है। जब संवेदन का अभाव हो तब दोनों नहीं बनते। संवेदन का बीज आत्मसत्ता है, संवित्सत्ता से संवेदन प्रकट हुआ है उससे भिन्न नहीं। जैसे तिलों में तेल के सिवा और कुछ नहीं होता तैसे ही संवित्सत्ता के सिवा हृदय में और कुछ नहीं पाया जाता—वही संकल्प द्वारा संवेदन को देखता है। जैसे स्वप्न में मनुष्य अपनी मृत्यु देखता है और देशान्तर को प्राप्त होता है तैसे ही आत्मसत्ता संवेदनरूप होती है अर्थात् चिन्मात्र संवित् में संवेदन का उत्थान होता है कि 'अहं अस्मि' तब संवेदन जगत्जाल दिखाती है। अपना ही संवेदन उठकर आपको भ्रम दिखाता है—जैसे बालक को अपने संकल्प से उपजा वैताल सत्य भासता है और जैसे स्थाणु में पुरुष भासता है तैसे ही संवित् में संवेदन भासता है। हे रामजी! असम्यक्ज्ञान से संवेदनरूप हो जाता

है तो उसमें आत्मबुद्धि होती है और सम्यक्ज्ञान से लीन हो जाता है। जैसे रस्सी में असम्यक्ज्ञान से सर्प भासता है तैसे ही आत्मा में संवेदन भासता है। तीनों जगत् ब्रह्म संवित्रूप हैं, संवेदन भी कुछ भिन्न नहीं। जिनको यह निश्चय दृढ़ होता है उनको बुद्धीश्वर सम्यक्ज्ञानी कहते हैं। प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष जो जगत् है उसमें वस्तुबुद्धि त्याग करने से भी संसार के पार होता है और जो अवस्तु रूप जानकर न त्यागेगा तो जगत् बड़े विस्तार को पावेगा। हे रामजी! संवेदन का जो उत्थान होता है सो बड़े दुःखों का देनेवाला है और संवेदन जो जड़वत् अजड़ है वह परम सुख सम्पदा का कारण है सो उत्थान से रहित आनन्द स्वरूप है। जिसको संवेदन उत्थान से रहित असंवेदन संवित् आत्मा की बुद्धि हुई है वह संसारसमुद्र से पार होता है। रामजी ने पूछा, हे प्रभो! जड़ता से रहित असंवेदन कैसे होता है और असंवेदन से जड़ता कैसे निवृत्त होती है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जो सब ठौर में आसक्त नहीं होता और कहीं चित्त की वृत्ति नहीं लगाता और जिसमें जीवत्त्व का कुछ ज्ञान न रहे वह असंवेदन जड़ता से रहित है संवेदन स्पन्दरूप है, जिससे दृश्य भासता है सो दृश्य की ओर से जड़ है और स्वरूप में चेतन है वह अजड़ कहाता है। हे रामजी! हृदयाकाश जो चेतन संवित् है उससे संवेदन का स्पर्श कुछ न हो ऐसा संवित् अजड़ है। देवता, नाग, दैत्य, राक्षस, हाथी, मनुष्य आदिक स्थावर जङ्गमरूप सब वही धारती है। हे रामजी! अपनी चेष्टा से संवित् आपको आप ही बँधाती है। जैसे कुसवारी आप ही आपको गृह में बँधाती है तैसे ही संवित् आपको बँधाती है। जब अपनी ओर आती है तब आप ही आपको प्राप्त होती है। हे रामजी! जगत् जाग्रत्रूपी समुद्र है उसमें संवित्रूपी जल है जिससे सब स्थान पूर्ण हो गये हैं। अन्तरिक्ष, पृथ्वी, आकाश, पर्वत, नदी आदिक सब संवित्रूपी जल की लहरें हैं इससे सब जगत् संवित्मात्र है और उसमें द्वैतकलना का अभाव है। यह सम्यक्ज्ञान है। इस संवित् का बीज चिन्मात्र है उसमें द्वैतकलना का अभाव है। यह सम्यक्ज्ञान है। इस संवित् का बीज चिन्मात्र है और चिन्मात्रसत्ता से संवित् उदय हुआ है—जैसे प्रकाश से ज्योति

उदय होती है। इस सत्ता के दो रूप हैं—एकरूप नाना प्रकार हो भासता है और दूसरा एक ही रूप है। घट, पट, तत्त्व आदिक एकसत्ता के नाना प्रकार के विभाग स्थित हैं और विभाग से रहित एक सत्ता स्थित है—वह सत्ता समान अद्वैतरूप परमार्थ है। हे रामजी ! विषय को त्यागकर जो चिन्मात्र है वह अलेप एकरूप है सो ही महासत्ता है। उसको ज्ञानवान् परमसत्ता कहते हैं। नाना आकार भी वह सत्ता कभी नहीं धारती। यह संवेदन से हुए हैं, इस कारण अवस्तुरूप हैं। एकरूप जो परम सत्ता निर्मल अविनाशी है वह न कभी नष्ट होता है और न विस्मरण होता है, क्योंकि अनुभव-रूप है। हे रामजी ! एक कालसत्ता है और एक आकाशसत्ता है सो यह सत्ता अवस्तुरूप हैं। इस विभागसत्ता को त्यागकर चिन्मात्रसत्ता के परायण हो। कालसत्ता और आकाशसत्ता यद्यपि उत्तम हैं परन्तु वास्तव नहीं। जहाँ नाना विभागकलना, आकार और नाना कारण हैं वह पवित्रकर्ता पावन नहीं। इसी से कहा है कि आकाश काल आदिक सत्ता वास्तव नहीं और सत्तासमान जो संवित्मात्र है वह सबका बीज है उसी से सबकी प्रवृत्ति होती है। हे रामजी ! जो कुछ पदार्थ हैं उनकी कलना सत्तासमान में हुई है। उस अनन्त, अनादि, बीजरूप परमपद का बीज और कोई नहीं। जब उसका भान हो तब यह निर्विकार होकर स्थित हो। जीवन्मुक्त उसी को कहते हैं जिसे दृश्य की भावना कुछ न फुरे। जैसे बालक मूक, और अभिमान से रहित होता है तैसे ही ज्ञान से जीव निर्वासनिक हो तब जड़ता से मुक्त होता है और सर्व आत्मभाव को प्राप्त होता है। जिस संवित् में दृश्य का स्पर्श होता है वह संवित् जड़ है, क्योंकि शुद्धस्वरूप में मलीन का स्पर्श होता है। जो संवित् द्वैत फुरने से रहित है वह शुद्ध और अजड़ है और जो द्वैतभाव को ग्रहण करती है वह स्वरूप की ओर से जड़ है। हे रामजी! जिसकी स्वरूप की ओर स्थिति हुई है और दृश्यभाव का लेप नहीं होता है वह सर्ववासना को त्यागकर निर्विकल्प समाधि में लगता है। जैसे आकाश में नीलता स्वाभाविक बर्तती है तैसे ही योगी आनन्द में बर्तता है और निस्संवेदन संवित् में प्रविष्ट होकर वही रूप हो जाता है जिसके मन की वृत्ति वहाँ स्थिर हो जाती है और बैठते, चलते, स्पर्श करते, सुगन्ध लेते, देखते, सुनते और सब इन्द्रियों की क्रिया करते भी मन स्थिर रहता है दृश्य का अभिमान नहीं फुरता वह अजड़ कहाता है और संवेदन से रहित सुखी होता है। हे रामजी ! ऐसी दृष्टि प्रथम तो कष्टरूप भासती है परन्तु पीछे सब दुःखों का नाशकर्ता होती है, इससे इसी दृष्टि का आश्रय करके दुःखरूप जो संसारसमुद्र है उससे तर जाओ। जैसे वट का बीज सूक्ष्म होता है पर विस्तार को पाकर आकाश को स्पर्श करने लगता है तैसे ही सूक्ष्म संवेदन से जब संकल्प फैलता है तब वही बड़े जगत् के विस्तार को धारता है और जन्म के जाल को प्राप्त होता है। बीजरूप से आपही अपने को जन्मों में डालता है और फिर फिर मोह में गिरता है। जब संवित् अपनी ओर होती है तब मोक्ष को प्राप्त होता है और जैसी भावना स्वरूप में दृढ़ होती है वही सिद्ध होती है। जैसे नटुआ अनेक स्वाँग को धारता है तैसे ही संवित् अनेक आकारों को धारती है। जब नट भूमिका को त्यागता है तब अपने स्वरूप में प्राप्त होता है। हे रामजी! संवित्रूपी नटनी जगत्रूप धारकर नृत्य करती है। जो दुःखरूप संसारसमुद्र में न गिरे सो सत्ता सब कारणों की कारण है और उसका कारण कोई नहीं और वही सब सारों का सार है उसका सार कोई नहीं। उसी चेतनरूपी बड़े दर्पण में समस्त जगत् प्रतिबिम्बित होता है। जैसे ताल में किनारे के वृक्ष प्रतिबिम्बित होते हैं तैसे ही सब वस्तु चिद्दर्पण में प्रतिबिम्बित होती हैं। हे रामजी ! जो कुछ पदार्थ हैं वे सब आत्मसत्ता से सिद्ध होते हैं और उसी अनुभव में सबका अनुभव होता है। जैसे षट्रसों का स्वाद जिह्वा से सिद्ध होता है तैसे ही सब पदार्थ चिदाकाश के आश्रय सिद्ध होते हैं। सब जगत्गण उसी से उपजे हैं; उसी में बर्तते और बढ़ते हैं; उसी में स्थित दिखते हैं और उसी में लय होते हैं। सबका अधिष्ठान वही सत्ता है और गुरु का गुरु; लघु की लघुता; स्थूल की स्थूलता; सूक्ष्म की सूक्ष्मता; द्रव्यों का द्रव्य; कष्टों में कष्ट; बड़े में बड़ाई; तेज का तेज; तम का तम; वस्तुकी वस्तु; द्रष्टा का द्रष्टा; किंचन में किंचन; निष्किंचन में निष्किंचन; तत्त्वों का तत्त्व; असत्य का असत्य; सत्य का सत्य; आश्रम में आश्रम और

अनाश्रम में आनश्रम वही है। हे रामजी ! ऐसी जो परमपावन सत्ता है उसमें प्रयत्न करके स्थित हो; फिर जैसे इच्छा हो तैसे करो। वह आत्मतत्त्व निर्मल, अजर, अमर, शान्तरूप और चित्त के क्षोभ से रहित है; उसमें भव (संसार) से मुक्ति के निमित्त स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणे स्मृतिबीजविचारो नाम
सप्ताशीतितमस्सर्गः ॥ ८७ ॥

रामजी ने पूछा, हे महानन्द के देनेवाले ! यह जो बीजों का बीज आपने कहा है सो किस प्रकार प्राप्त हो ? जिस प्रकार उस पद की शीघ्र प्राप्ति हो वह उपाय कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इन सबके बीज का जो उत्तर दिया है उस उपाय से परम पद की प्राप्ति होती है। अब और भी जो तुमने पूछा है वह सुनो। सत्तासमान में स्थित होने के निमित्त यत्न कर्तव्य है। जो कुछ संसार की वासना है बल करके उसको त्याग करिये और शुद्ध आत्मा में तीव्र अभ्यास करिये तब शीघ्र ही अविघ्न आत्म-स्वरूप की प्राप्ति होगी। हे तत्त्ववेत्ता ! उस पद में एक क्षण भी स्थित होगे तो अक्षयभाव को प्राप्त होगे। हे रामजी ! सत्तासमान संवित्-मात्र तत्त्व है उसमें स्थित होके जो इच्छा हो सो करो तब उसके सिवा और कुछ सिद्ध न होगा—सब वही भासेगा। ऐसा जो अनुभवतत्त्व है वह तुम्हारा स्वरूप है उसके ध्यान में स्थित हुए तुमको कुछ खेद न होगा। संवेदन के साथ ऐसा ध्यान नहीं होता और वह ऊँचा पद है पुरुष प्रयत्न से उस पद को प्राप्त हो। हे रामजी! केवल संवेदन के साथ ध्यान नहीं होता, क्योंकि सर्वत्र सम्भव संवित् तत्त्व है। संवित् सर्वदा सर्वकाल सहायक होती है और सबसे मिली हुई है जो कुछ चितवे, जो इच्छित हो, जो कुछ करे सो सब संवित् से सिद्ध होता है। हे रामजी ! आत्मतत्त्व प्रत्यक्ष है पर उसका भान नहीं होता और जो कुछ भासता है वही अविद्या आवरण है सो इसको दुःख होता है। स्वरूप के प्रमाद से जो दृश्य की वासना करता है उसकी दृढ़ता से अन्तःकरण दुःख पाता है। जब यत्न करके वासना का त्याग करिये तब मन और शरीर के दुःख सब नाश हो जावेंगे। पूर्व जो मोह दृढ़ हो रहा है—जैसे मेरु को मूल

से उखाड़ना कठिन है तैसे ही वासना का त्याग कठिन है। वह वासना मन से होती है; जबतक मन क्षय नहीं होता तबतक वासना भी क्षय नहीं होती। तत्त्वज्ञान विना मन का नाश नहीं होता। वासना और मन का आवरण एक साथ दूर होता है। यह परस्पर कारणरूप है। इससे हे रामजी ! तुम पुरुष प्रयत्न करके मन के संकल्प विकल्प को निवृत्त करो और अभ्यास और विचार करके विवेक का उपाय करो और भोगों की वासना दूर से त्यागो—इसी से तुम शान्तिमान् होगे। इन तीनों के सम अभ्यास से तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय का वारंवार अभ्यास करो। जबतक इनको न साधोगे तबतक अनेक उपायों से भी शान्ति को न प्राप्त होगे। हे रामजी ! वासना क्षय हो और मनोनाश और तत्त्वज्ञान का अभ्यास न करे तो कार्य सिद्ध नहीं होता और जो मनोनाश करे और तत्त्वज्ञान से वासना क्षय न करे तब भी कल्याण न होगा और तत्त्वज्ञान का विचार करे और वासना क्षय न हो तो भी कुशल न होगी। जब इन तीनों का सम अभ्यास हो तब फल की प्राप्ति हो। हे रामजी ! एक के सेवन से सिद्धता नहीं प्राप्त होती—जैसे मन्त्र को कोई प्रतिबन्ध लय करे तो मन्त्र फलदायक नहीं होता और एक-एक चरण पढ़े तो भी फलदायक नहीं होता। जबतक सब मन्त्र संध्यादिक एक ठौर नहीं होते तबतक मन्त्र नहीं फुरते; तैसे ही अकेले से कार्य सिद्ध नहीं होता। जब चिरकाल इनको इकट्ठा सेवे तब कार्य हो। जैसे सेनासंयुक्त बड़ा शत्रु हो और उसके मारने को एक शूरमा जावे तो शत्रु को मार नहीं सकता और यदि इकट्ठे सेना पर जा पड़ें तब उसको जीत लेवें; तैसे ही संसाररूपी शत्रु के नाश के लिये जब तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय का इकट्ठा अभ्यास हो तब संसाररूपी शत्रु का नाश हो। हे रामजी ! जब तीनों का अभ्यास करोगे तब हृदय की अहं मम ग्रन्थि टूट पड़ेगी। अनेक जन्मों की संसारसत्यता जो इसके हृदय में स्थित हो रही है सो अभ्यासयोग से टूट पड़ेगी इससे चलते, बैठते, खाते, पीते, सुनते, सूँघते, स्पर्श करते और जागते इन तीनों का अभ्यास करो। हे रामजी ! वासना के त्याग से प्राणस्पन्द रोका जाता है। जब प्राणों

का स्पन्द रोका तब चित्त अचित्त हो जाता है। एक प्राणों के रोकने से ही वासना क्षय हो जाती है, तब भी चित्त अचित्त हो जाता है। आत्मयोग से अथवा वासना के त्याग से आत्मतत्त्व प्रकाशेगा। इनमें जो तुम्हारी इच्छा हो वही करो; चाहे प्राणों को योग से रोको और चाहे वासना का त्याग करो। प्राणायाम तब होता है जब गुरु की दी हुई युक्ति स्थित होती है और आसन और आहार के संयम से प्राणों का स्पन्द रोका जाता है। जब सम्यक्ज्ञान से जगत् को अवास्तव जानता है तब वासना नहीं प्रवर्तती। जो जगत् के आदि और अन्त में स्थित है उसमें मन जब स्थित होता है तब वासना नहीं उपजती। हे रामजी! जब व्यवहार में निःसंग और संसार की भावना से विवर्जित होता है और शरीर में असत् बुद्धि होती है तब भी वासना नहीं प्रवर्तती और जब विचार करके वासना क्षय हो तब चित्त भी नष्ट हो जावेगा जैसे वायु के ठहरने से धूल नहीं उड़ती तैसे ही वासना के क्षय हुए चित्त नहीं उपजता। जो प्राणस्पन्द है वही चित्तस्पन्द है; जब वासना फुरती है तब जगत्भ्रम उपजता है। जैसे पवन से धूल उपजती है तैसे ही चित्त से वासना उपजती है जब प्राणस्पन्द ठहरता है तब चित्त भी ठहर जाता है; इससे यत्न करके प्राणस्पन्द अथवा वासना के जीतने का अभ्यास करो तब शान्तिमान् होगे और जो यह उपाय न करोगे और दूसरे यत्न से चित्त वश करने का उपाय करोगे तो बहुत काल में आत्मपद को पावोगे। हे रामजी! इस युकि के विना मन के जीतने का और कोई उपाय नहीं है। जैसे मतवाले हाथी को अंकुश विना वश करने का उपाय और कोई नहीं तैसे ही मन भी युक्ति विना वश नहीं होता। वह युक्ति यह है कि सन्तों की संगति और शत्शास्त्रों का विचार करना। इस उपाय से तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय और प्राणों का स्पन्द रोकना होता है। चित्त वश करने की यह परमयुक्ति है—इससे चित्त शीघ्र ही जीता जाता है। जो इन उपायों का त्यागकर हठ से मन वश किया चाहते हैं वे क्या करते हैं? जैसे तम के नाश करने को दीपक जलावे तो नाश हो जाता है और शस्त्रों से तम को काटे तो तम नाश न

तो काष्ठ का सुवर्ण न होता। यह सर्व विश्व संकल्परूप है; जैसा संकल्प दृढ़ होता है, तैसा ही हो भासता है। जैसे तू अपने मनोराज में संकल्प करे है कि, यह ऐसे रहे और जो उससे और प्रकार करे तो भी हो जावे सो होता है; तैसे ही वर और शाप भी और प्रकार हो जाते हैं। न और कोई जगत् है, न कार्य है और न कारण है वही आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है; जैसा संकल्प जिसमें फुरता है तैसा हो भासता है तू पूछता है कि असत्य से फिर जगत् कैसे उत्पन्न होता है जो आप ही न हो तो उसमें जगत् कैसे प्रकटे? हे राजन्! असत्य इसी का नाम है कि जो जगत् असत्य था इसलिये श्रुति ने उसे असत्य कहा। जो आदि असत्य था इसलिये असत्यता जगत् की कही है पर आत्मा तो असत्य नहीं होता? सबका शेषभूत आत्मा है; जब उसमें संवेदन फुरती है तब ब्रह्म अलक्ष्यरूप हो जाता है परन्तु उस संवेदन के फुरने और मिटने में ब्रह्म ज्यों का त्यों है उसका अभाव नहीं होता। जैसे जल में तरङ्ग उपजता है और फिर लीन हो जाता है परन्तु उसके उपजने और मिटने में जल ज्यों का त्यों है और तरङ्ग उसके आभास फुरते हैं। जैसे तू मनोराज से एक नगर कल्पे और फिर संकल्प छोड़दे तब संकल्परूप नगर का अभाव हो जाता है परन्तु सदा अविनाशी रहता है। जैसे स्वप्ने की सृष्टि उपजती भी है और लीन भी हो जाती है परन्तु अधिष्ठान ज्यों का त्यों है और जैसे रत्नों का प्रकाश उठता है और लीन भी हो जाता है परन्तु रत्न ज्यों का त्यों होता है; तैसे ही आत्मा विश्व के भाव अभाव में ज्यों का त्यों रहता है पर उसका आभास जगत् उपजता मिटता भासता है। उपजता है तब उत्पत्ति भासती है और जब मिटता है तब प्रलय हो जाती है परन्तु उभय आभास हैं। जैसे वायु फुरती है तब भासती है और ठहर जाती है तब नहीं भासती परन्तु वायु एक है; तैसे ही आत्मा एक ही है फुरने का नाम उत्पत्ति है और न फुरने का नाम जगत् की प्रलय है सो सर्व किंचनरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाण॰ द्विशताधिकपञ्चाशीतितमस्सर्गः॥२८५॥

वशिष्ठजी बोले कि हे राजन्! तूने प्रयाग के जो दो पुरुषों का प्रश्न किया है उसका उत्तर सुन। जो उसका शत्रु बन गया था सो तो उसका पाप था और जो उसका मित्र बन गया था सो उसका पुण्य था। प्रयाग-तीर्थ धर्मक्षेत्र था। हे राजन्! पापरूप वासना के अनुसार मृत्यु भासती है पर पुण्यरूपी जो मित्र है सो पापरूपी शत्रु को रोंकता है और पुण्यरूपी तीर्थ के बल से हृदय से अल्परूपी पाप वेग से भासता है। जब मृत्यु आती है तब वह आपको मरता जानता है और भाईजन कुटुम्बी रुदन करते हैं पर जब अपनी ओर देखता है तब जानता है कि मैं तो मुआ नहीं। जब मृतक सर्ग की ओर देखता है तब आपको मुआ जानता है और भाईजन रुदन करते हैं। इस प्रकार उसको मरना भासता है और यह देखता है कि भाईजन जलाने चले हैं; उन्होंने अग्नि में मुझको डाला है और मैं जलता हूँ। जब फिर पुण्य की ओर देखता है तब जानता है कि मैं मुआ नहीं जीता हूँ और जब फिर पाप की ओर देखता है तब जानता है कि मैं मुआ हूँ और मुझको यमदूत ले चले हैं; यह परलोक है और यहाँ मैं सुख दुःख भोगता हूँ। जब फिर पुण्य की ओर देखता है तब जानता है कि मैं मुआ नहीं; जीता हूँ; यह मेरे भाईजन बैठे हैं और वहाँ मेरा व्यवहार चेष्टा है। इस प्रकार उभय अवस्था को पुरुष देखता है। जैसे संकल्पपुर और स्वप्ननगर में उभय अवस्था देखे और एकही पुरुष नाना प्रकार की चेष्टा देखता है। कहीं जीता देखता है, कहीं मृतक देखता है; कहीं व्यवहार देखता है और कहीं निर्व्यापार इत्यादिक नाना प्रकार की चेष्टा एक ही पुरुष में होती है; तैसे ही एक ही पुरुष को पुण्य पाप की वासना से जीना मरना भासता है। हे राजन्! यह सम्पूर्ण जगत् संकल्पमात्र है; जैसा संकल्प दृढ़ होता है तैसा ही रूप हो भासता है। परलोक जानना भी अपने वासना के अनुसार भासता है और जो कुछ उसके निमित्त पुत्र बान्धव देते हैं सो पुत्र बान्धव भी उसकी पुण्य पाप वासना में स्थित हुए हैं। वे जो कुछ इसके निमित्त करते हैं उनसे यह सुख, दुःख, नरक, स्वर्ग भोगता है पर वास्तव में कोई बान्धव और पुत्र नहीं; उसकी वासना ही नाना प्रकार के आकार को धारकर स्थित हुई है। हे राजन्! सहस्र चन्द्रमा का जो तूने प्रश्न किया है उसका उत्तर सुन। सहस्र भी इसी आकाश में स्थित होते हैं और अपनी अपनी वासना से कलासंयुक्त चन्द्रमा हो विराजते हैं परन्तु एक को दूसरा नहीं जानता परस्पर अज्ञात हैं—जो अन्तवाहक दृष्टि से देखे उसको भासते हैं। हे राजन्! जो कोई ऐसी भावना करे कि मैं उनके मण्डल को प्राप्त होऊँ तो तत्काल ही जा प्राप्त होता है। जैसे एकही मन्दिर में बहुत मनुष्य सोये हों तो उनको अपने अपने स्वप्ने की सृष्टि भासती है और अन्योन्य बिलक्षण है—एक की सृष्टि को दूसरा नहीं जानता; तैसे ही एक आकाश में सहस्र चन्द्रमा बनते हैं। जैसे इन्द्र ब्राह्मण के दशपुत्र दशब्रह्मा हो बैठे थे तैसे ही जिसकी कोई तीव्र भावना करता है वही हो जाता है। जो कोई भावना करे कि हम इसी मन्दिर में सप्तद्वीप का राज्य करें तो वैसा ही हो जाता है, क्योंकि अनुभवरूपी कल्पवृक्ष है उसमें जैसी तीव्रभावना होती है, तैसे ही हो भासती है। वर के वश से उस पुरुष को सप्तद्वीप का राज्य प्राप्त हुआ और शाप के वश से उसका जीव उसी मन्दिर में रहकर द्वीप का राज्य करता रहा। जैसे स्वप्ने में राज्य करे हैं तैसे ही अपने मन्दिर में अपनी संवेदन ही सृष्टिरूप होकर भासती है। इसी प्रकार जो एक स्त्री की भावना करके सहस्र पुरुष ध्यान लगाये बैठे थे कि हम उसके भर्ता हों सो भी हो जाते हैं। हे राजन्! उनकी जो तीव्रभावना है वही स्त्री का रूप धारकर उनको प्राप्त होगी वे जानेंगे कि वही स्त्री हमको प्राप्त हुई है। यह जगत् केवल संकल्पमात्र है, संकल्प से भिन्न कुछ वस्तु नहीं और सब चिदाकाशरूप है अपने ही अनुभव से प्रकाशता है और जैसे उसमें संकल्प फुरता है तैसे ही हो भासता है। पृथ्वी, जल, तेज आदिक तत्त्व कोई नहीं आत्मसत्ता ही इस प्रकार स्थित है जो परम शान्त, निराकार, निर्विकार और अद्वैतरूप है। राजा बोले; हे मुनीश्वर! जगत् के आदि जो आत्मसत्ता थी सो किस आकाररूप देह में स्थित थी; देह विना तो स्थित नहीं होती? जैसे आधार विना दीपक नहीं रहता आधार होता है तो उसमें जागता

है तैसे ही आत्मसत्ता किसमें स्थित थी ? वशिष्ठजी ने कहा, हे राजन् ! जितने आकार तुझको भासते हैं और जिनको देखकर तूने प्रश्न उठाया है सो है नहीं; ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। जिन भूतों से बना देह भासता है सो भूत भी मृगतृष्णा के जलवत् हैं। जैसे रस्सी में सर्प; सीपी में रूपा; आकाश में दूसरा चन्द्रमा भ्रममात्र है, क्योंकि इनका अत्यन्त अभाव है; तैसे ही यह भूताकार ब्रह्म में भ्रम से भासते हैं—ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। तूने पूछा था कि जो स्वयंभू अपने आपसे उपजता है तो अब क्यों नहीं होता सो हे राजन् ! कई उसके सदृश उत्पन्न होते हैं पर वास्तव में कुछ उपजा नहीं और नाना प्रकार भासता है परन्तु नाना प्रकार नहीं हुआ। जैसे स्वप्न में सदा तू देखता है कि अद्वैत अपना आप ही नानारूप हो भासता है और पर्वत पर दौड़ता फिरता है सो किस शरीर से दौड़ता है और क्या रूप होता है ? जैसे वह पर्वत और शरीर आकाशरूप होता है और भ्रम से पिण्डाकार भासता है; तैसे ही यह जगत् भी आकाशरूप है भ्रम से पिण्डाकार भासता है। हे राजन् ! तू अपने स्वभाव में स्थित होकर देख कि यह सब जगत् तेरा अनुभव आकाश है स्वप्न का दृष्टान्त भी मैंने तुमसे चेतने के निमित्त कहा है। स्वप्न भी कुछ हुआ नहीं, सदा आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है; जब उसमें आभास संवेदन फुरती है तब वही जगत्रूप हो भासती है और जब आभास संकल्प मिट जाता है तब प्रलयकाल भासता है। वास्तव में न कोई उत्पन्न होता है और न प्रलय होता है ज्यों की त्यों आत्मसत्ता स्थित है। जैसे एक निद्रा के दो रूप होते हैं—एक स्वप्न और दूसरा सुषुप्ति पर जाग्रत् में यह दोनों आकाशमात्र होती हैं; तैसे ही आभास की दो संज्ञा होती हैं—एक जगत् और दूसरी महाप्रलय पर आत्मरूपी जाग्रत् में दोनों का अभाव हो जाता है। हे राजन् ! तू स्वरूप में जागकर और कलना को त्यागकर देख कि सब आत्मरूप है—और कुछ नहीं। हे रामजी ! इस प्रकार मैं राजा को कहकर उठ खड़ा हुआ तब उसने भली प्रकार प्रीतिसंयुक्त मेरा पूजन किया और जब वह पूजन कर चुका तब मैं जिस कार्य के लिये आया था सो कार्य करके स्वर्ग को चला गया।

इतिश्रीयो० राजप्रश्नो० वर्णनं नाम द्विशताधिकषडशीतितमस्सर्गः २८६

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह जगत् सब चिदाकाशरूप है और दूसरा कुछ बना नहीं। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! तुम कहते हो कि सब चिदाकाश है बना कुछ नहीं तो सिद्ध, साधु, विद्याधर, लोकपाल, देवता इत्यादिक जो भासते हैं; कुछ बने क्यों नहीं ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! ये जो सिद्ध, साधु, विद्याधर, देवता, लोक और लोकपाल हैं सो वास्तव में कुछ उपजे नहीं; ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है और ये जो प्रत्यक्ष भासते हैं सो शुद्ध संकल्प से रचे हुए हैं परन्तु वास्तव में कुछ बने नहीं, भ्रम से इनकी सत्यता भासती है। जैसे मृगतृष्णा की नदी, रस्सी में सर्प, सीपी में रूपा और संकल्पनगर हैं; तैसे ही आत्मा में यह जगत् है। हे रामजी ! जैसे स्वप्न में नाना प्रकार की रचना भासती है परन्तु कुछ हुआ नहीं; तैसे ही यह जगत् है। जो पुरुष इसको देखकर सत्य मानता है वह असम्यक्दर्शी है और जो आत्मा को देखता है वही देखता है और वही सम्यक्दर्शी है। हे रामजी ! ये लोक और लोकपाल जगत्सत्ता में ज्यों के त्यों हैं और जैसे स्थित हैं तैसे ही हैं परन्तु परमार्थ से कुछ उपजे नहीं, अनुभवसत्ता ही संवेदन से दृश्यरूप हो भासती है और द्रष्टा ही दृश्यरूप हो भासता है परन्तु स्वरूप से भिन्न कुछ नहीं हुआ। जैसे आकाश और शून्यता और अग्नि और उष्णता में भेद नहीं; तैसे ही ब्रह्म और जगत् में भेद नहीं। हे रामजी ! अब एक और वृत्तान्त तुम सुनो। स्वप्न में जैसे अब हम हैं तैसे ही एक आगे भी चित्त प्रतिमा हुई थी। पूर्व एक कल्प में तुम और हम हुए थे। तुम मेरे शिष्य थे और मैं तुम्हारा गुरु था। तूने एक वन में मुझसे प्रश्न किया था कि हे भगवन् ! एक मुझको संशय है सो नाश करो। महाप्रलय में नाश क्या होता है और अविनाशी क्या रहता है ? तब मैंने कहा था, हे तात ! जितना शेष विशेषरूप जगत् है सो सब नाश हो जाता है—जैसे स्वप्न का नगर सुषुप्ति में लीन हो जाता है और निर्विशेष ब्रह्मसत्ता शेष रहती है। क्रिया, काल, कर्म, आकाश, पृथ्वी, अप, तेज, वायु, पहाड़, नदियाँ और इनसे लेकर जो कुछ जगत् क्रिया, काल और द्रव्य संयुक्त है वह सब नाश हो जाता है और ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र,

इन्द्र ये जो कार्य के कारण हैं उनका नाम भी नहीं रहता। संवेदन शक्ति जो चैतन्य का लक्षणरूप है सो भी नहीं रहती, केवल अचेत चिन्मात्र एक चिदाकाश ही शेष रहता है। शिष्य बोले, हे मुनीश्वर! जो वस्तु सत्य होती है उसका नाश नहीं होता और जो असत्य होती है सो आभासरूप है पर यह जगत् तो विद्यमान भासता है सो महाप्रलय में कहाँ जावेगा? गुरु बोले, हे तात! जो सत्य है उसका नाश कदाचित् नहीं होता और जो असत्य है उसका भाव नहीं; इसलिये जितना कुछ जगत् तुझको भासता है सो सब भ्रममात्र है इसमें कोई वस्तु भी सत्य नहीं भासती है परन्तु जैसे मृगतृष्णा का जल स्थित नहीं होता और दूसरा चन्द्रमा व आकाश में तरुवर भ्रममात्र हैं; तैसे ही यह जगत् भी जो भासता है सो भ्रममात्र है। जैसे स्वप्ने का नगर प्रत्यक्ष भी भासता है परन्तु भ्रममात्र है; तैसे ही यह जगत् भी भ्रमरूप जानो। हे तात! आत्मसत्ता सर्वदाकाल सर्वत्र अपने आपमें स्थित है। जैसे स्वप्ने में जाग्रत् का अभाव होता है और जाग्रत् में स्वप्ने का अभाव होता है तो सृष्टि कहाँ जाती है? जैसे जाग्रत् में स्वप्ने की सृष्टि का अभाव हो जाता है; तैसे ही महाप्रलय में इसका अभाव हो जाता है। शिष्य बोले; हे भगवन्! यह जो भासता है सो क्या है और जो नहीं भासता सो क्या है? इसका रूप क्या है और चिदाकाश से कैसे हुआ है? गुरु बोले; हे शिष्य! जब शुद्ध चिदाकाश में किञ्चन संवेदन फुरती है तब जगत्रूप हो भासती है इससे इसका रूप भी चिदाकाश ही है—चिदाकाश से भिन्न कुछ नहीं सृष्टि और प्रलय दोनों उसी के रूप हैं जब संवेदन फुरती है तब सृष्टि हो भासती है और जब अफुर होती है तब प्रलयरूप हो भासती है पर दोनों उसके रूप हैं। जैसे एक ही वपु में दो स्वरूप हैं—दन्तों से शुक्ल लगता है और केशों से कृष्ण लगता है; तैसे ही आत्मा में सर्ग और प्रलय दो रूप होते हैं पर दोनों आत्मरूप हैं। जैसे एक ही निद्रा की दो अवस्था होती हैं—एक स्वप्ना और दूसरी सुषुप्ति, पर जाग्रत् में उभय नहीं; तैसे ही निद्रारूप संवेदन में सर्ग और प्रलय भासती है पर जाग्रत्रूप आत्मा में दोनों का अभाव है। हे तात! जो कुछ तुमको भासता है सो सब चिदाकाशरूप है—और कुछ नहीं ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। जैसे स्वप्ने में अपना अनुभव ही जगत्रूप हो भासता है; तैसे ही आत्मा में जगत् भासता है। शिष्य बोले; हे भगवन्! जो इसी प्रकार है कि द्रष्टा ही दृश्यरूप हो भासता है तो और जगत् तो कुछ न हुआ सब वही है? गुरु बोले; हे तात! इसी प्रकार है। जगत् कुछ वस्तु नहीं चिदाकाश ही जगत्रूप हो भासता है और आत्मसत्ता ही इस प्रकार भासती है और कुछ नहीं, क्योंकि सब उसी का किञ्चन है और सर्व में सर्वदाकाल सर्वप्रकार वही सृष्टि होकर फुरती है और किसी में किसी काल किसी प्रकार कुछ हुआ नहीं आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है और जो कुछ जगत् भासता है उसे वही रूप जानो। जिसको तू सर्ग और प्रलय कहता है सो सब आत्मसत्ता के नाम हैं वही सर्व में सर्वदाकाल सर्वप्रकार स्थित है। एक ही जो परमदेव है वही घट पटरूप हुआ है। पर्वत, पट, जल, तृण, अग्नि, पृथ्वी, आकाश, स्थावर, जङ्गम, अस्ति, नास्ति, शून्य, अशून्य, क्रिया, काल, मूर्त्ति, अमूर्ति, बन्ध और मोक्ष आदि सर्व शब्द अर्थ से जो पदार्थ सिद्ध होते हैं सो सर्व आत्मरूप हैं और सर्व में सर्वदाकाल सर्व प्रकार आत्मा ही है और जिसमें सर्वदाकाल सर्व प्रकार नहीं वह भी आत्मा ही है जो सदा ज्यों का त्यों ही है। जैसे स्वप्ने में जो कुछ भासता है सो सब आत्मसत्ता ही है और दूसरा कुछ बना नहीं। हे तात! तृण ही कर्ता है; तृण ही भोक्ता है और तृण ही सर्वेश्वर है, घट कर्ता है, घट भोक्ता है और घट ही सर्व ईश्वर है। पट कर्ता है; पट भोक्ता है और पट ही परमेश्वर है। नर कर्ता है; नर भोक्ता है और नर ही सर्व का ईश्वर है। इसी प्रकार एक-एक वस्तु नाम से जो वस्तु है सो कर्ता भोक्ता सर्व ब्रह्मरूप है। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त जो कुछ जगत् भासता है सो सर्व आत्मरूप है और क्षय, उदय, भीतर, बाहर, कर्ता, भोक्ता सब ईश्वर है सो विज्ञानमात्र है। कर्ता-भोक्ता वही है और न कर्ता है, न भोक्ता भी वही है। विधिमुख करके भी वही है और निषेध भी वही है। शुद्ध दृष्टि से सब चिदात्मा ही भासता है जो सर्व दुःख से रहित है। जिनको आत्मदृष्टि

नहीं प्राप्त हुई उनको भिन्न-भिन्न जगत् भासता है जो अनुभव से भिन्न नहीं है। ऐसे जानकर अपने स्वरूप में स्थित हो रहो। हे रामजी! इस प्रकार मैंने तुमसे कहा था परन्तु उससे तुमको अभ्यास की न्यूनता से बोध न हुआ इसलिये वही संस्कार अब तुमको प्राप्त हुआ है और इसी कारण से अब तुम जागे हो। हे रामजी! अब तुम अपने स्वरूप में स्थित होकर कृतकृत्य हुए हो इसलिये अपनी राजलक्ष्मी को भोगो; प्रजा की पालना करो और हृदय से आकाशवत् निर्लेप रहो।

इतिश्रीयोगवाशिष्ठेनिर्वाणप्रकरणेद्विशताधिकसप्ताशीतितमस्सर्गः२८७

बाल्मीकिजी बोले, हे भरद्वाज! जब वशिष्ठजी इस प्रकार रामजी से कह चुके तब आकाश में जो सिद्ध और देवता स्थित थे फूलों की वर्षा करने लगे—मानों मेघ बरफ़ की वर्षा करते हैं अथवा आकाश कम्पायमान हुआ है उससे तारे गिरते हैं—जब वे पुष्पों की वर्षा कर चुके तब राजा दशरथ उठ खड़े हुए और अर्घ्य पाद्य दे और पूजन कर हाथ जोड़ के कहने लगे कि हे मुनीश्वर! बड़ा कल्याण और बड़ा हर्ष हुआ जो तुम्हारे प्रसाद से हम आत्मपद को प्राप्त होकर कृतकृत्य हुए। चित्त का वियोग हुआ है इससे दृश्य फुरने का भी अभाव हुआ है और हम अचित; चिन्मात्र हैं। अब हम परमपद को प्राप्त हुए हैं और हमारे सब सन्ताप मिट गये हैं। संसाररूपी जो अन्धमार्ग था उससे थके हुए अब हम विश्रान्ति को प्राप्त हुए हैं। अब मैं पहाड़ की नाईं अचल हुआ हूँ; सब आपदा से तर गया हूँ और जो कुछ जानना था सो जान रहा हूँ। हे मुनीश्वर! तुमने बहुत युक्ति से दृष्टान्त देकर जगाया है अर्थात् शून्य के दृष्टान्त, सीपी में रूपा; मृगतृष्णा का जल; रस्सी में सर्प; आकाश में दूसरा चन्द्रमा और नाव पर नदी के किनारों का चलते भासना; जल में तरङ्ग; स्वर्ण में भूषण; वायु का फुरना; गन्धर्बनगर; संकल्पपुर आदि दृष्टान्त कहे हैं जिनसे हमने तुम्हारी कृपा से जाना है कि आत्मसत्ता से भिन्न कुछ नहीं। बाल्मीकिजी बोले कि जब इस प्रकार दशरथ कह चुके तब रामजी उठे और हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगे कि हे मुनीश्वर! तुम्हारी कृपा से मेरा मोह नष्ट हुआ है। अब मैं परमपद को प्राप्त हुआ हूँ; किसी में मुझको न राग है और न द्वेष है और परमशान्ति को प्राप्त हुआ हूँ। न अब मुझे किसी के करने से अर्थ है और न करने में कुछ अनर्थ है—मैं परमशान्तपद को प्राप्त हुआ हूँ। हे मुनीश्वर! तुम्हारे वचनों को स्मरण करके मैं आश्चर्य को प्राप्त होकर हर्षित होता हूँ। मेरे सब सन्देह नष्ट हो गये हैं और अब मुझको और नहीं भासता सर्व ब्रह्म ही भासता है। लक्ष्मण बोले, हे भगवन्! मैं सन्तों के वचन इकट्ठे करता रहा था और सम्पूर्ण जो मेरे पुण्य थे सो अब इकट्ठे हुए थे जिन सबका फल अब उदय हुआ है। तुम्हारी कृपा से अब मैं सर्वसंशयों से रहित होकर परम पद को प्राप्त हुआ हूँ। तुम्हारे वचन चन्द्रमा की किरणों के समान शीतल हैं किन्तु उनसे भी अधिक हैं इससे मैंने परम शान्ति पाई है और मेरे दुःख सन्ताप सब नष्ट हुए हैं। शत्रुघ्न बोले, हे मुनीश्वर! जगत् और मृत्यु का जो भय था वह तुमने दूर किया है और अपने अमृतरूपी वचनों का सुधापान कराया है। अब हमारे संशय सब नष्ट हुए हैं और हम आत्मपद को प्राप्त हुए हैं। हमारे जो चिरकाल के पुण्य थे उनका फल आज पाया है। विश्वामित्र बोले, हे मुनीश्वर! सर्व तीर्थों के स्नान करने और दूसरे कर्मों से भी मनुष्य ऐसा पवित्र नहीं होता जैसे तुम्हारे वचनों से हम पवित्र हुए हैं। आज हमारे श्रवण पवित्र हुए हैं। नारदजी बोले, हे मुनीश्वर! ऐसा मोक्ष उपाय मैंने देवताओं और सिद्धों के स्थान में भी नहीं सुना और ब्रह्मा के मुख से भी नहीं सुना जैसा कि तुमने उपदेश किया है। इसके श्रवण किये से फिर संशय नहीं रहता। फिर दशरथ बोले, हे मुनीश्वर! आत्मज्ञान ऐसी सम्पदा कोई नहीं; इससे तुमने परम सम्पदा हमको दी है जिसके पाये से फिर किसी पदार्थ की इच्छा नहीं रही। अब तो हम अपने स्वभाव में स्थित हुए हैं और सम्पूर्ण कर्म हमको छोड़ गये हैं। हमारे बहुत जन्मों के पुण्य इकट्ठे हुए थे उनके फल से ये तुम्हारे पावन वचन सुने हैं। रामजी बोले; हे मुनीश्वर! बड़ा हर्ष हुआ कि सर्वसम्पदा का अधिष्ठान प्राप्त हुआ है और सर्व आपदा का अन्त हुआ है। ज्ञान से रहित जो अज्ञानी हैं वे बड़े अभागी हैं। जो आत्मपद को

त्यागकर अनात्मपदार्थ की ओर धावते हैं वे भी यत्न करके प्राप्त होते हैं पर उनसे विमुख हो तब आत्मपद प्राप्त होता है उसी आत्मपद को पाकर मैं शान्तिमान् होकर हर्षशोक से रहित हुआ हूँ और मैंने अचलपद पाया है और अजित अविनाशी सदा अपने आप में स्थित हूँ। तुम्हारी कृपा से आपको ऐसा जानता हूँ। लक्ष्मण बोले; हे मुनीश्वर! सहस्र सूर्य एकत्र उदय हों तो भी हृदय के तम को दूर नहीं कर सकते पर वह तम तुमने दूर किया है; और सहस्र चन्द्रमा इकट्ठे उदय हों तो भी हृदय की तपन निवृत्त नहीं कर सकते पर तुमने सम्पूर्ण तपन निवृत्त की है। हम निःसंताप पद को प्राप्त हुए हैं। बाल्मीकिजी बोले; हे साधो! जब इस प्रकार सब कह चुके तब वशिष्ठजी ने कहा। हे रामजी! इस मोक्षउपाय कथा को सुनकर सर्वब्राह्मणों का यथायोग्य पूजन करो और दान करो और जो इतर जीव हैं वे भी यथायोग्य यथाशक्ति पूजन करते हैं। तुम तो राजा हो। जब इस प्रकार वशिष्ठजी ने कहा तब राजा दशरथ ने उठकर सहस्र मथुरावासी विद्यावान् ब्राह्मणों को भोजन कराया और दक्षिणा, वस्त्र, भूषण, घोड़े, गाँव आदिक दिये और यथायोग्य पूजन किया। निदान बड़ा उत्साह हुआ; अङ्गना नृत्य करने लगीं और नगाड़े, सहनाई आदि बाजन बजने लगे और चक्रवर्ती राजा होकर दशरथ ने उत्साह किया। इस प्रकार सात दिन तक ब्राह्मणों, अतिथियों और निर्धनों को द्रव्य देकर राजा ने पूजन किया और अन्न और वस्त्र आदिक से सबको प्रसन्न किया।

इति श्रीयो० नि० द्विशताधिकाष्टाशीतितमस्सर्गः ॥ २८८ ॥

बाल्मीकिजी बोले कि हे भरद्वाज! इस प्रकार वशिष्ठमुनि के वचन सुनकर सब रघुवंशी कृतकृत्य हुए। जैसे रामजी सुनकर संशयरहित जीवन्मुक्त होकर बिचरे हैं; तैसे ही तुम भी बिचरो। यह मोक्ष उपाय ऐसा है कि जो अज्ञानी श्रवण करे तो वह भी परमपद को प्राप्त हो। तुम्हारी क्या बात है तुम तो आगे से भी बुद्धिमान् हो। जिस प्रकार मुझसे ब्रह्माजी ने कहा था सो मैंने तुमको सुनाया है। जैसे रामजी आदिक कुमार और दशरथ आदिक राजा जीवन्मुक्त होकर बिचरे हैं; तैसे ही तुम भी

बिचरो। उनमें मोह भी दृष्टि आता था परन्तु वे स्वरूप से चलायमान नहीं हुए। ज्ञान जैसा सुख और कोई नहीं और अज्ञान जैसा दुःख भी कोई नहीं। इससे अधिक कैसे कहिये। यह जो मोक्ष उपाय मैंने तुमसे कहा है सो परमपावन है; संसारसमुद्र से पार करनेवाला है; दुःखरूपी अन्धकार को नाशकर्ता सूर्यरूप है और सुखरूपी कमल की खानि का ताल है। जो पुरुष इसका बारम्बार विचार करे वह यदि महामूर्ख हो तो भी शान्तपद को प्राप्त हो। जो कोई इस मोक्ष उपाय को पढ़ेगा; कहेगा; सुनेगा; लिखेगा अथवा लिखकर पुस्तक देगा उसके हृदय में जो कामना होगी वह पूर्ण होगी; ब्रह्मलोक को प्राप्त होगा और वह राजसूययज्ञ का फल पावेगा और फिर विचारकर ज्ञान पाकर मुक्त होगा। हे अङ्ग! यह जो मोक्षउपाय है सो बड़ा शास्त्र है; इसमें बड़ी कथा है और नाना प्रकार की युक्ति हैं जिन कथाओं और युक्तियों से वशिष्ठजी ने रामजी को जगाया था सो मैंने तुझको सुनाया है। अपने उपदेश से उन्होंने उनको जीवन्मुक्त किया था और कहा था कि तुम राजलक्ष्मी भोगो। वही मैंने भी तुमसे कहा है कि जीवन्मुक्त होकर अपने तपकर्म में सावधान हो रहो और निश्चय आत्मसत्ता में रखना। जिस उपदेश से रघुवंशी कृतकृत्य हुए हैं सो मैंने तुमसे ज्यों का त्यों कहा है। इस निश्चय को धारकर कृतकृत्य हो रहो। इसमें जितने इतिहास और कथा हैं उनके भिन्न भिन्न नाम सुनो। वैराग्यप्रकरण में सम्पूर्ण रामजी के प्रश्न हैं; मुमुक्षुप्रकरण में शुकनिर्वाण ही कहा है; उत्पत्तिप्रकरण में ये आठ आख्यान कहे हैं; एक आकाशज का; दूसरा लीला का; तीसरा सूची का; चतुर्थ इन्द्र ब्राह्मण के पुत्रों का; पञ्चम कृत्रिम इन्द्र और अहल्या का; षष्ठ चितोपाख्यान; सप्तम बाल्मीकि की कथा और अष्टम साम्बर का आख्यान; स्थितिप्रकरण में चार आख्यान हैं; एक भृगु के सुत का; दूसरा दामव्याल और कट का; तीसरा भीम, भास, दटका और चतुर्थ दासुर का। उपशमप्रकरण में एकादश आख्यान कहे हैं; एक जनक की सिद्धगीता; दूसरा पुण्यपावन; तीसरा बलि को विज्ञान की प्राप्ति का वृत्तान्त; चतुर्थ प्रह्लादविश्रान्ति; पञ्चम गाधि का वृत्तान्त; षष्ठ उद्दालकनिर्वाण; सप्तम

स्वर्गनिश्चय; अष्टम परिघनिश्चय; नवम भास; दशम विलाससंवाद और एकादश वीतव । निर्वाणप्रकरण में सप्तविंशति आख्यान कहे हैं; भुशुण्डि और वशिष्ठ का; महेश और वशिष्ठ का; शिलाकोश का; उपदेश अर्जुनगीता; स्वप्नसत्यरुद्र; वैताल का; भगीरथ का; गङ्गा अवतार; शिखरध्वज का; बृहस्पतिकचप्रबोध; मिथ्यापुरुष का; भृङ्गीगण का; इक्ष्वाकु; निर्वाण; मृगव्याध दृष्टान्त; बलबृहस्पति; मङ्कीनिर्वाण; विद्याधर का; हरिणोपाख्यान; आख्यानोपाख्यान; विपश्चित की कथा; शिबिका; शिला का; इन्द्र ब्राह्मण के पुत्रों का; कुन्ददन्त का; महाप्रश्न उत्तरवाक्य; शिष्य गुरु; महोत्सव और ग्रन्थप्रशंसाफल चतुष्टयप्रकरणों में सब पचास आख्यान वर्णन किये गये हैं ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे महारामायणे वशिष्ठरामचन्द्रसंवादे निर्वाणप्रकरणे मोक्षोपायवर्णनं नाम द्विशताधिकैकोननवतितमस्सर्गः ॥ २८९ ॥

समाप्तोयं श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्द्धः ।

इति ।

वेदान्त और योग-संबंधी पुस्तकें

नाम पुस्तक	मूल्य
भगवद्गीता पंचरत्न मूल	॥)
भगवद्गीता सटीक बाबू ज़ालिमसिंह	२)
भगवद्गीता सटीक पं० सूर्यदीन	१)
भगवद्गीता स०मुं० हरिवंशलाल	।=)
भगवद्गीता स०पं०गिरिजाप्रसाद	।॥)
अवतार-सिद्धि	=)
ईश्वर-दीपिका सटीक	≡)॥
पञ्चदशी (भा० टी० स०)	२॥=)
पञ्चदशी (सं० टी० स०)	१)
सिद्धान्त-प्रकाश	।≡)॥
ज्ञान-प्रकाश	।=)
जपग्रन्थ (साधुसिंह)	१)
पारसभाग	३)
सांख्यकारिका तत्त्वबोधिनी	।=)
प्रश्नोत्तरमाला	)।॥

नाम पुस्तक	मूल्य
विहार-वृंदावन	१=)
वैराग्यप्रकाश	।)
सांख्यतत्त्वसुबोधिनी सटीक	।-)
अष्टावक्रगीता (सं०टी०स०)	।)
रामगीता सटीक	॥=)
बीजक कबीरदास सटीक	२)
भक्तिसागर (सजिल्द)	२॥)
भगवद्गीता भाषा हरिवल्लभ	।)
भ्रमनाशक	=)
ईश्वरदीपिका भाषा-टीका	≡)॥
ज्ञानस्वरोदय	-)
भक्तमाल नाभादास	२)
भक्तमाल सटीक श्रीसीताराम-शरण भगवानप्रसाद-कृत	३॥)
मुक्तिमार्ग	१॥=)
सुन्दर-विलास	।-)

मिलने का पताः—

मुंशी रामकुमार भार्गव,

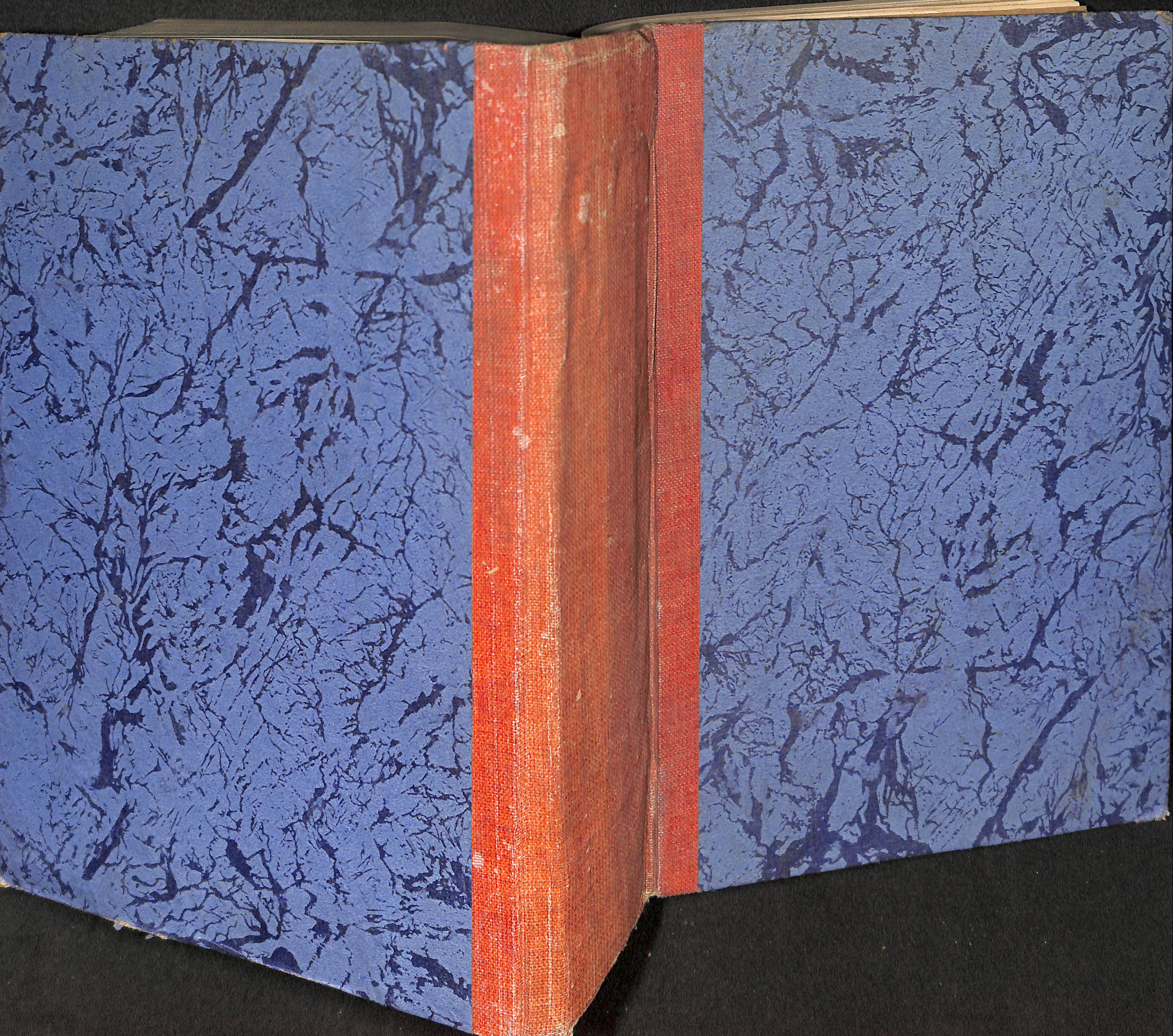मालिक—नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ.